3593

ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास

प्रथम भाग

१. ब्रज संस्कृति की भूमिका
२. ब्रज का इतिहास

रचयिता

प्रभुदयाल मीतल

प्रस्तावना लेखक

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ ★ पटना-६

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली द्वारा
साहित्य संस्थान, मथुरा के लिए प्रकाशित ।

© १९६६, साहित्य संस्थान, मथुरा ।

प्रथम संस्करण
प्रथम श्रावण कृ० १२ सं० २०२३ वि०
शुक्रवार, १५ जुलाई सन् १९६६ ई०

901.9542
म ब

राज्य संग्रहालय ... लखनऊ
क्र० 3593
प्रा० ति० 4 3/68
State Museum, Library, Lko.

मूल्य ३२ रुपये

मुद्रक :
त्रिलोकीनाथ मीतल, अग्रवाल प्रेस, अग्रवाल भवन, **मथुरा** ।

प्राक्कथन

परम हर्ष और आनंद की बात है कि जिस ग्रंथ की रचना में मैं विगत कई वर्षों से दिन-रात लगा हुआ था, वह अब पूर्ण होकर प्रकाशित हो रहा है। कोई व्यक्ति किसी काम को आरंभ तो कर सकता है, किंतु उसकी पूर्ति होना भगवान् की इच्छा पर निर्भर है। बड़े-बड़े सिद्ध महापुरुषों और धुरंधर विद्वानों के ग्रंथ भी कभी-कभी अधूरे रह जाते हैं। महाप्रभु बल्लभाचार्य जी कृत श्रीमद्भागवत की 'सुबोधिनी' टीका और पंडितराज जगन्नाथ कृत 'रस गंगाधर' जैसे अनुपम ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। श्री कृष्णदास कविराज ने जब 'श्री चैतन्य चरितामृत' की रचना आरंभ की थी, तब वे अत्यंत वृद्ध और अशक्त हो चुके थे। अपनी उस अवस्था के कारण उन्हें चिंता थी कि उनके द्वारा वह ग्रंथ पूरा हो सकेगा या नहीं[1]। किंतु भगवान् के भरोसे वे अपनी रचना में लगे रहे और अंत में उन्होंने उस महान् ग्रंथ को पूर्ण करके ही दम लिया। श्री ईशानचंद्र घोष जब बौद्ध जातक कथाओं के विशाल वाङ्मय का बंगला भाषा में अनुवाद कर रहे थे, तब वे भी उसकी पूर्ति के संबंध में बड़े शंकित थे। अंत में कई वर्षों के कठिन परिश्रम के उपरांत जब वह कार्य पूरा हुआ, तब उन्होंने संतोष की श्वास ली थी। मेरा व्यक्तित्व और मेरी यह रचना उन यशस्वी महापुरुषों और उनके विख्यात ग्रंथों की तुलना में तुच्छ एवं नगण्य हैं; किंतु फिर भी मैं अपने दीर्घकालीन परिश्रम की इस सुखद परिणति पर प्रसन्नतापूर्वक भगवान् को धन्यवाद देता हूँ। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि जब मैं इस ग्रंथ की रचना में प्रवृत्त था, तब अपने भग्न स्वास्थ्य और अपनी जीर्ण-शीर्ण काया के कारण मुझे सदैव आशंका रहती थी कि मेरे द्वारा यह बड़ा काम पूरा हो सकेगा या नहीं! किंतु जिन भगवान् श्री कृष्ण के पावन प्रदेश की गौरव-गाथा इस ग्रंथ में वर्णित है, उन्हीं के परम अनुग्रह से मैं इसे पूर्ण करने में समर्थ हुआ हूँ। जैसा सूरदास जी ने कहा है,—'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अँधरे कों सब कछु दरसाई।'—भगवान् की कृपा के बल पर सब कुछ किया जा सकता है!

212

श्री कृष्ण ने अपनी आनंदमयी सरस लीलाओं और लोकोपकारी कार्य-कलाप से भारत के जन-जीवन को जितना प्रभावित किया है, उतना किसी अन्य महापुरुष ने नहीं। इसीलिए उन्हें 'पुरुषोत्तम' ही नहीं, 'परब्रह्म' तक कहा गया है। उन्होंने अपने आरंभिक जीवन में ही एक ओर अपने स्नेह-स्निग्ध सरल स्वभाव से माधुर्य की धारा प्रवाहित की थी; तो दूसरी ओर अपने प्रचंड बल-विक्रम की धाक जमायी थी! फिर अपने उत्तर जीवन में उन्होंने एक ओर अपने अनुपम राजसी वैभव के बल पर 'राजाधिराज' की पदवी प्राप्त की थी, तो दूसरी ओर वे अपने अपूर्व तत्वज्ञान के कारण 'जगत्गुरु' के गौरवपूर्ण पद पर आसीन हुए थे! उनकी उस बहुरंगी जीवन-चर्या से उनके लीला-धाम ब्रजमंडल अर्थात् प्राचीन शूरसेन जनपद में जिस संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, वह 'ब्रज संस्कृति' के नाम से लोक में प्रसिद्ध है। श्री कृष्ण ने भोग और त्याग, युद्ध और शांति, कर्म और ज्ञान, प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा इहलोक और परलोक में अद्भुत संतुलन और

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, द्वितीय परिच्छेद (७९–८१) में कविराज महोदय ने अपनी चिंता बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त की है।

सामंजस्य स्थापित कर ब्रज संस्कृति को जन्म दिया था। यह मूलतः धार्मिक संस्कृति है, इसी लिए इसके प्रत्येक अंग पर धर्मोपासना का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसके प्रमुख तत्व स्नेह-सौहार्द्र, सेवा-समर्पण और समन्वय-सामंजस्य हैं; जो कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में पल्लवित होकर फूले-फले हैं। ब्रज संस्कृति 'सत्यं—शिवं—सुंदरम्' की भावना से ओत-प्रोत है। इसीलिए इसे अखिल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत इसका सर्वोत्तम स्वरूप कहा जा सकता है।

ब्रज संस्कृति का पावन प्रदेश यह ब्रजमंडल जहाँ श्री कृष्ण के जन्म और उनकी लीलाओं के कारण सौभाग्यशाली है, वहाँ इसका यह बड़ा दुर्भाग्य है कि विगत पाँच सहस्र वर्षों के विविध युगों में यह अनेक बार भीषण विपत्तियों और दुर्घटनाओं से ग्रसित होता रहा है। उसके कारण ब्रज संस्कृति भी अनेक बार बनती-बिगड़ती रही है; किंतु उसका सर्वथा लोप कभी नहीं हुआ! यद्यपि 'ब्रज' और 'ब्रज संस्कृति' नाम अधिक प्राचीन नहीं हैं, तथापि इनकी सत्ता और महत्ता कृष्ण-काल से ही विद्यमान रही हैं। विगत पाँच सहस्र वर्षों के सुदीर्घ काल में 'ब्रज' और 'ब्रज-संस्कृति' ने विविध नाम—रूपों से आत्म प्रकाश करते हुए अनेक भले-बुरे दिन देखे हैं। इसके दीर्घकालीन इतिहास की लंबी गाथा के सूत्र अनेक ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं। उनके अन्वेषण और अध्ययन से ब्रज का जो रूप सामने आता है; वह बड़ा शिक्षाप्रद, प्रेरणादायक और विचारोत्तेजक है। उससे ज्ञात होता है कि विविध युगों में किस प्रकार ब्रज तथा ब्रज संस्कृति की उन्नति, अवनति एवं पुनरुन्नति हुई थी; और अब इनकी क्या स्थिति है तथा भविष्य की क्या संभावनाएँ हैं।

शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रजमंडल पर एक बड़ी विपत्ति श्री कृष्ण की विद्यमानता में ही उस समय आई थी, जब मगध के शक्तिशाली सम्राट जरासंध ने अपनी विशाल सेना के साथ इस प्रदेश पर भीषण आक्रमण किया था। श्री कृष्ण ने अपनी अपेक्षाकृत छोटी सेना द्वारा उस आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया था; किंतु व्यर्थ के जन-संहार को रोकने के लिए वे ब्रज से निष्क्रमण कर द्वारका चले गये थे। उनके साथ बहुसंख्यक यादव और गोप गण भी ब्रज को छोड़ गये। इस प्रकार उस समय ब्रजमंडल प्रायः सूना और निर्जन हो गया था। उसके बाद यादव गण जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ ब्रज संस्कृति का विस्तार होता गया; किंतु अपने जन्म-स्थान ब्रज में वह उस समय शिथिल हो गई थी। महाभारत के पश्चात् जब श्री कृष्ण का तिरोधान और द्वारका का शोचनीय अंत हुआ, तब कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने ब्रजमंडल में आकर यादव राज्य की पुनः प्रतिष्ठा के साथ ब्रज संस्कृति को भी बल प्रदान किया था। उस समय गोपों के पुरोहित महर्षि शांडिल्य ने श्री कृष्ण के वे लीला-स्थल बतलाये थे, जो थोड़े ही समय की निर्जनता के कारण जंगली लता-गुल्मों से आच्छादित होकर वीहड़ बनों में लुप्तप्राय हो गये थे! वज्र ने कृष्ण-लीला के अनुसार उन स्थानों का नामकरण किया और उन पर स्मृति-चिन्ह बनवाये तथा कुछ प्रमुख लीला-स्थलों पर बस्तियाँ बसायी थीं। इस प्रकार श्री कृष्ण के पश्चात् वज्रनाभ ने सर्वप्रथम प्राचीन ब्रज और ब्रज संस्कृति के उच्छिन्न गौरव की परंपरा को पुनः स्थापित किया था।

जब काल के प्रवाह से प्राचीन ब्रज में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढ़ गया, तब कृष्णोपासना और ब्रज संस्कृति का महत्व कुछ कम हो गया था। उस काल में श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन और उनके लीला-स्थलों की अपेक्षा जैन-बौद्ध धर्मों के सिद्धांतों और उनके स्तूप-चैत्य-संघारामों आदि के प्रति लोगों की आस्था बढ़ गई थी। उस काल के ग्रंथों और चीनी यात्रियों के विवरणों में ब्रज के गौरव और ब्रज संस्कृति की महत्ता के उल्लेख कम मिलते हैं।

वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार काल में जब कृष्णोपासना और कृष्ण-भक्ति का पुनः प्रचार हुआ, तब ब्रज और ब्रज संस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना का भी प्रयास किया गया था। किंतु उस काल में वह कार्य बड़ा कठिन था। कारण यह है, एक तो शताब्दियों की उपेक्षा से ब्रज और ब्रज संस्कृति की गौरवशाली परंपरा लुप्तप्राय हो गई थी; दूसरे उस काल के नव स्थापित मुसलमानी राज्य का उनके प्रति बड़ा विरोधी दृष्टिकोण था। फिर भी विक्रम की १२वीं से लेकर १६वीं शताब्दी तक के काल में कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों और उनके अनुयायी भक्तजनों ने नाना प्रकार की कठिनाइयों एवं विपत्तियों को सहन कर बड़े साहस और आत्म बल का परिचय दिया था। भगवान् श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित और उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर सर्वश्री निंबार्क, केशव काश्मीरी, माधवेन्द्र, बल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, विट्ठल, रूप-सनातन और सूरदास प्रभृति धर्माचार्यों और संत-महात्माओं के कारण ब्रज संस्कृति के एक ऐसे रूप का उदय हुआ, जिसने समस्त देश में नव जीवन का संचार किया था। उन धर्मप्राण महानुभावों का रहन-सहन जहाँ अतिशय त्याग और वैराग्यपूर्ण था, वहाँ उनके उपदेश और उनकी रचनाओं में माधुर्य भक्ति का समावेश था ! इस प्रकार उन्होंने श्री कृष्ण के अनुकरण पर भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य का आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्होंने अपने तप-त्याग और आत्म-बल तथा अपनी विद्वत्ता, माधुर्य–भावना और कला-प्रियता से ब्रज के विस्मृत गौरव और ब्रज संस्कृति की उच्छिन्न परंपरा को कृष्ण-भक्ति के सुदृढ़ धरातल पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया था।

श्री बल्लभाचार्य अपनी प्रथम देशव्यापी यात्रा करते हुए जब सं० १५५० के लगभग पहिली बार ब्रज में आये थे, तब यह पुरातन प्रदेश दिल्ली के सुलतानों की मज़हबी कट्टरता के उत्पीड़न से त्रस्त था। उन असहिष्णु सुलतानों ने यहाँ पर बने हुए जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्म-संप्रदायों के प्रायः सभी मंदिर-देवालय नष्ट-भ्रष्ट कर दिये थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा करने और नये मंदिर बनवाने पर कड़ी पाबंदी लगा दी थी। इस प्रकार यहाँ के धर्मप्राण निवासी अपने उपास्य देव की सेवा-पूजा करने से वंचित हो जाने के कारण बड़े दुखी थे। श्री बल्लभाचार्य ने गोबर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित कर और उनके मंदिर-निर्माण का आयोजन कर अपने अदम्य साहस और अपूर्व आत्म-बल का परिचय दिया था। उनके कारण उस काल में मथुरा, गोबर्धन और गोकुल की धार्मिक स्थिति में कुछ परिवर्तन होने के साथ ब्रज संस्कृति ने भी अपनी करबट बदली थी। ब्रज के अन्य लीला-स्थलों के पुनरुद्धार और ब्रज संस्कृति के व्यापक प्रचार के लिए उन्हें अपने व्यस्त और थोड़े जीवन में अवकाश नहीं मिला था।

चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किये जाने से वंगीय भक्तों का ब्रज और ब्रज-संस्कृति के प्रति अपूर्व आकर्षण हुआ था। श्री माधवेन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी की प्रेरणा से चैतन्य देव ने ब्रज के लीला-स्थलों के अनुसंधान करने का आयोजन किया। उसके लिए उन्होंने सं० १५६८ में अपने दो अनुचर सर्वश्री लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने को भेजा था। वे दोनों भक्तजन कुछ काल तक ब्रज के बीहड़ बनों में भटक कर वापिस चले गये। उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। सं० १५७३ में चैतन्य महाप्रभु स्वयं ब्रज में आये थे। उस समय उन्होंने यहाँ के प्रमुख बनों की यात्रा, तीर्थों में स्नान और कतिपय लीला-स्थलों एवं देवालयों के दर्शन करने के अतिरिक्त गोबर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड नामक

लुप्त तीर्थ का उद्धार किया था । अंत में जब वे वृंदाबन गये, तब राधा-कृष्ण की रासादि लीलाओं का स्मरण कर वे प्रेमावेश में बार-बार विह्वल होने लगे ! उनकी वह दशा देख कर उनके अनुचर उन्हें ब्रज से वापिस ले गये थे । इस प्रकार ब्रज में अधिक समय तक न रहने के कारण चैतन्य महाप्रभु स्वयं यहाँ के लुप्त लीला-स्थलों का उद्धार नहीं कर सके । उक्त कार्य के लिए उन्होंने अपने विद्वान पार्षद सर्वश्री रूप-सनातन गोस्वामियों को ब्रज में जाने का आदेश दिया था। उन महानुभावों ने ब्रज में स्थायी रूप से निवास कर प्राचीन अनुश्रुतियों और पौराणिक उल्लेखों के आधार पर ब्रज के अनेक लीला-स्थलों का अन्वेषण किया । उसके साथ ही उन्होंने कृष्ण-भक्ति के प्रचार और ब्रज-संस्कृति के महत्व की स्थापना के लिए अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना की थी । रूप गोस्वामी कृत ग्रंथों में ब्रज के लीला-स्थलों का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए 'मथुरा माहात्म्य' उल्लेखनीय है, जिसे उन्होंने विविध पुराणों के गंभीर मनन के उपरांत सं० १६०० के लगभग रचा था। चैतन्य संप्रदाय के एक अन्य विद्वान श्री नारायण भट्ट ने ब्रज के समग्र रूप को प्रकट करने का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया था । उन्होंने ब्रज के समस्त बन, उपबन, तीर्थ और लीला-स्थलों का व्यापक अन्वेषण किया; ब्रज-यात्रा और रास-लीला का प्रचार किया तथा कृष्ण-भक्ति और ब्रज-संस्कृति की महत्ता के स्थापनार्थ अनेक ग्रंथों की रचना की थी । उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रज भक्ति विलास' की रचना सं० १६०९ में हुई थी । चैतन्य संप्रदायी सर्वश्री सनातन गोस्वामी, गोपाल भट्ट, कृष्णदास कविराज प्रभृत्ति विशिष्ट विद्वानों की रचनाएँ भी भक्ति क्षेत्र में बड़ी महत्वपूर्ण हैं । किंतु सर्वश्री रूप गोस्वामी और नारायण भट्ट के ग्रंथ ब्रज संस्कृति की महत्ता सूचक आधारभूत रचनाएँ हैं ।

सर्वश्री हित हरिवंश, हरिदास स्वामी, प्रबोधानंद और हरिराम व्यास प्रभृत्ति महात्माओं ने वृंदाबन के गौरव की वृद्धि की तथा गोसाईं विट्ठलनाथ ने गोबर्धन का माहात्म्य बढ़ाया और गोकुल का नव निर्माण किया था । मुगल सम्राट अकबर का उदार शासन ब्रज संस्कृति के लिए वरदान सिद्ध हुआ । उस काल में ब्रज के लीला-स्थलों में कई शताब्दी के पश्चात् मंदिर एवं देव-स्थान बनवाये गये और कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में विविध कलाओं का व्यापक प्रचार हुआ था । उस समय ब्रज-संस्कृति के सभी अंगों की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी ।

बल्लभ संप्रदायी गोसाईं विट्ठलनाथ जी के वंशज सर्वश्री गोकुलनाथ जी और हरिराय जी ने ब्रजभाषा गद्य में 'वार्ता' साहित्य की रचना द्वारा कृष्ण-भक्ति की पुष्टि और ब्रज-संस्कृति के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया था । इसी संप्रदाय के एक भक्त जन जगतनंद ने अपनी रचनाओं द्वारा ब्रज के स्वरूप का स्पष्टीकरण और ब्रज-यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया था । उसकी ब्रज-भाषा पद्य की रचनाएँ ब्रज वस्तु वर्णन, ब्रज ग्राम वर्णन और श्री गुसाईं जी की बन-यात्रा सं० १७३० के लगभग लिखी गई थीं । चैतन्य संप्रदायी गोपाल कवि ने सं० १९०० में 'श्री वृंदाबन धामानुरागावली' ग्रंथ की रचना की थी । इस पद्यात्मक ग्रंथ में तत्कालीन वृंदाबन के प्रायः सभी दर्शनीय स्थल, मंदिर-देवालय, देव-विग्रह और संत-महात्माओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है ।

अंगरेजी शासन काल में सं० १९२९ से १९३४ तक मथुरा का ज़िलाधीश श्री ग्राउस नामक एक विद्वान् अंगरेज था । वह विदेशी होते हुए भी ब्रज-संस्कृति के पुनरुद्धार में बड़ा सहायक हुआ था । उसने वृंदाबन के ध्वंसप्राय गोविंददेव जी के प्राचीन मंदिर का जीर्णोद्धार कराया,

वहाँ के घाटों की मरम्मत कराई और गोकुल की पुरानी बस्ती के गली-बाज़ारों को दुरुस्त कराया था । उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय की आरंभिक व्यवस्था और ब्रज की प्राचीन परंपरा का अन्वेषण करना था । प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी उसने बड़े परिश्रम और लगन के साथ ब्रज का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अनुसंधान कर जो बहुमूल्य तथ्य एकत्र किये थे, वे अंगरेजी भाषा में 'मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर' नामक ग्रंथ में प्रकाशित किये गये । उससे पहिले ब्रज के परिचायक जो ग्रंथ उपलब्ध थे, वे या तो संस्कृत में रचे हुए पुराण थे और पौराणिक शैली की अन्य कृतियाँ थीं, अथवा ब्रजभाषा में लिखी हुई उसी शैली की पद्यात्मक रचनाएँ थीं । श्री ग्राउस का उक्त ग्रंथ नवीन दृष्टिकोण से ब्रज के इतिहास के लेखन और प्रकाशन का आरंभिक प्रयत्न था । उसका प्रथम संस्करण सं० १९३१ में, द्वितीय संशोधित संस्करण सं० १९३७ में और तृतीय परिवर्धित संस्करण सं० १९४० में प्रकाशित हुआ था । यद्यपि इस ग्रंथ की अनेक बातें अब अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण जान पड़ती हैं, तथापि इनका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है । अब तक ब्रज के संबंध में जितनी रचनाएँ निकली हैं, उनमें ग्राउस के ग्रंथ का थोड़ा-बहुत उपयोग अवश्य किया गया है । यदि यह ग्रंथ न होता, तो ब्रज से संबंधित बहुत सी बातें अज्ञात ही रह जातीं !

मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय की बहुमूल्य सामग्री और इसके सुयोग्य संग्रहाध्यक्षों की सेवाओं द्वारा ब्रज के सांस्कृतिक अनुसंधान में बड़ा योग मिला है । विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल जब मथुरा के संग्रहाध्यक्ष थे, तब उन्होंने ब्रज के ऐतिहासिक, पुरातात्विक और सांस्कृतिक अन्वेषण का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया था । उनके विविध कार्यों में श्री कृष्ण-जन्मस्थान का अन्वेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उक्त स्थल की प्राचीन अनुश्रुति को उन्होंने पुरातत्व की सामग्री से संपुष्ट कर सं० १९९४ में उसके इतिहास पर एक गवेषणापूर्ण निबंध प्रकाशित किया था । आज मथुरा के श्री कृष्ण-जन्मस्थान का जो निर्विवाद महत्व है, उसका श्रेय डा० अग्रवाल जी की स्थापना को ही है । डा० सत्येन्द्र जी जब मथुरा में अध्यापक थे, तब उन्होंने ब्रज की साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रगति में बड़ा योग दिया था । श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी और श्री हरिशंकर जी शर्मा की प्रेरणा तथा सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार, डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल और डा० सत्येन्द्र जी के प्रयत्न से कार्तिक कृ० ५ सं० १९९७ (दिनांक २० अक्टूबर सन् १९४०, रविवार) को मथुरा में जिस 'ब्रज साहित्य मंडल' की स्थापना हुई, उसने ब्रज की गौरव-वृद्धि का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है । उसकी मुख पत्रिका 'ब्रज भारती' में ब्रज की बहुमूल्य साहित्यिक सामग्री प्रकाशित हुई है ।

ब्रज के संबंध में अब तक जो कई छोटी-बड़ी परिचयात्मक और इतिहास–परक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी कृत 'मथुरा-महिमा' (सं० १९९१) डा० वासुदेव शरण जी के प्रधान संपादकत्व में प्रस्तुत विशाल 'पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ' (सं० २०१०) और श्री कृष्णदत्त वाजपेयी कृत 'ब्रज का इतिहास' (भाग १–सं० २०११, भाग २–सं० २०१५) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । डा० सत्येन्द्र जी ने अपने विद्वतापूर्ण ग्रंथों के अतिरिक्त लोक संस्कृति के अध्ययन संबंधी कई गवेषणापूर्ण रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। उनमें ब्रज लोक संस्कृति (सं० २००५), ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन (सं० २०१४), मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन (सं० २०१७) और लोक साहित्य विज्ञान (सं० २०१९) अपने विषय की अनुपम रचनाएँ हैं । इनसे ब्रज की लोक संस्कृति विषयक बहुमूल्य सामग्री प्रकाश में आई है । इन सभी रचनाओं की

आवश्यक सामग्री का इस ग्रंथ के विविध खंडों में यथा स्थान उपयोग किया गया है। इस प्रकार सर्वश्री रूप गोस्वामी, नारायण भट्ट, जगतनंद, गोपाल कवि, ग्राउस, वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्येन्द्र और कृष्णदत्त वाजपेयी जैसे विद्वानों ने समय-समय पर ब्रज-संस्कृति के अध्ययन का जो राज मार्ग निर्मित किया. उसी पर चलते हुए मैंने इस ग्रंथ की रचना की है। यदि मेरे द्वारा उन अग्रगामियों के मार्ग को कुछ भी प्रशस्त किया जा सका, तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूँगा।

× × ×

श्री कृष्ण द्वारा प्रवर्तित और अगणित महानुभावों द्वारा विकसित ब्रज की महान् संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत विशाल है और इसका इतिहास बड़ा लंबा है। इसने विविध कालों में भारतीय धर्म, कला, साहित्य और लोक जीवन को समृद्ध करने में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया है। उस गौरवपूर्ण योग-दान के यथार्थ स्वरूप का यथावत् दर्शन शब्दों द्वारा कराना बड़ा कठिन है। इस ग्रंथ में तो उसके विशद और भव्य रूप की एक झाँकी मात्र ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। यह ग्रंथ ६ खंडों में पूरा हुआ है, जिनके नाम हैं—१. ब्रज–संस्कृति की भूमिका, २. ब्रज का इतिहास, ३. ब्रज के धर्म-संप्रदाय, ४. ब्रज की कलाएँ, ५. ब्रज का साहित्य और ६. ब्रज की लोक संस्कृति। इस ग्रंथ के प्रथम दो खंड इस भाग में प्रकाशित किये गये हैं। शेष चार खंड अन्य भागों म प्रकाशित होंगे। यहाँ पर प्रथम दो खंडों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। शेष खंडों का परिचय अन्य भागों के प्राक्कथन में दिया जावेगा।

प्रथम खंड **'ब्रज संस्कृति की भूमिका'** में सात अध्याय हैं—१. ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व, २. ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन, ३. ब्रज के पशु-पक्षी और जीव-जंतु, ३. ब्रज की मानव जातियाँ, ५. ब्रज संस्कृति के उपकरण—ब्रज की सांस्कृतिक यात्रा, ६. ब्रज की रासलीला, ७. ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले। इस प्रकार इस खंड में ब्रज संस्कृति के प्रमुख अंगों का सर्वेक्षण करते हुए उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय 'ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व' में ब्रज के नामकरण, ब्रज के विस्तार, ब्रज के विविध रूप और ब्रज के प्राचीन गौरव का विशद विवेचन किया गया है। इसमें ब्रज के विस्तार और उसके रूपों के संबंध में अधिकतर मौलिक सामग्री है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए कई मानचित्र भी दिये गये हैं। इन मानचित्रों को प्रचुर अन्वेषण और पर्याप्त अर्थ-व्यय के उपरांत तैयार कराया गया है। ब्रज की दीर्घकालीन परंपरा में इसके कई रूप उभर कर आये हैं,जो विविध युगों में अपना-अपना महत्व प्रदर्शित करते रहे हैं। इनमें ब्रज का राजनैतिक रूप तो कभी स्थिर नहीं रहा; किंतु इसके धार्मिक स्वरूप की सत्ता और महत्ता स्थायी रही हैं। इसी के अंतर्गत 'सांप्रदायिक ब्रज' के रूप में चौरासी कोस की परिधि का वह भू-भाग है, जो वास्तविक ब्रज माना जाता है। इसके दर्शन और परिभ्रमण के लिए ही 'ब्रज-यात्रा' की परंपरा प्रचलित हुई है। इसके सांस्कृतिक और भाषायी रूप वृहत्तर ब्रज और ब्रजभाषा क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। ब्रज का अधिकांश भाग उत्तर प्रदेश में और शेष भाग राजस्थान एवं हरियाना में है; इसलिए यह एक राजनैतिक इकाई के रूप में संगठित नहीं है। फिर भी इसका सांस्कृतिक रूप एक ऐसा स्वायत्त संगठन है, जो यह सिद्ध करता है कि राजनैतिक एकता की अपेक्षा सांस्कृतिक ऐक्य अधिक अविचल और स्थायी होता है!

द्वितीय अध्याय 'ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन' ब्रज के उस नैसर्गिक रूप की झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसके लिए समस्त भारत से लाखों यात्री प्रति वर्ष आते हैं और दिव्य सुख का अनुभव करते हैं। यद्यपि ब्रज के पहाड़ी-टीले, नदी-नाले, कुंड-सरोवर, बन-उपबन, कुंज-कदमखंडी आदि का प्राकृतिक सौन्दर्य पूर्ववत् नहीं रहा; तथापि इसकी महत्ता और पवित्रता की छाप यात्रियों के हृदयों में ऐसी दृढ़ता से जमी होती है कि वे इसके शोभा विहीन भग्न रूप पर ही मुग्ध हो जाते हैं! काल के कुटिल प्रभाव से ब्रज की पावन पहाड़ियाँ खंडित होकर रोड़ियों और गिट्टियों के रूप में सड़कों पर बिछ गईं, ब्रज की सदानीरा गंभीर यमुना बरसाती नदी बन गई और सदैव जल से भरे रहने वाले कुंड-सरोवर सूख गये, ब्रज के सघन बन-उपबनों को काट कर उनमें बस्तियाँ बसा दी गईं और ब्रज की मनोरम कुंजों के प्राकृतिक स्वरूप को नष्ट कर उन्हें भद्दे आवासों में परिवर्तित कर दिया गया, राजस्थानी रेगिस्तान ने भीषण आक्रमण कर ब्रज की हरियाली को धूल में मिला दिया; फिर भी ब्रज में अभी कुछ ऐसे स्थल शेष हैं, जहाँ का स्वाभाविक सौन्दर्य दर्शकों के मन को बरवस मोह लेता है। नंदगाँव, बरसाना और कामबन के अंचलों में वे स्थल ब्रज के पुरातन स्वरूप को अपने में संजोए हुए हैं।

तृतीय अध्याय 'ब्रज के पशु-पक्षी और जीव-जंतु' से संबंधित है। जब ब्रज में बन-उपबनों की बहुलता थी, तब यहाँ विविध प्रकार के पशु-पक्षियों और जीव-जंतुओं का भी बड़ा आधिक्य था। ब्रज के इतिहास और ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में इनके पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। इस अध्याय में तत्संबंधी रोचक सामग्री प्रस्तुत की गई है, जिसे ब्रजभाषा कवियों की सरस उक्तियों से संपुष्ट किया गया है। ब्रज संस्कृति में पशुओं में गाय और पक्षियों में मोर का बड़ा महत्व माना गया है। वर्तमान काल की भौतिक सभ्यता भी गाय को देश की आर्थिक समृद्धि का आधार मानती है और मोर तो सरकारी आदेश से राष्ट्रीय पक्षी ही घोषित किया गया है। ऐसी दशा में ब्रज के इन परंपरागत पशु-पक्षियों का संरक्षण करना सर्वथा वांछनीय है।

चतुर्थ अध्याय 'ब्रज की मानव जातियाँ' विषयक है। इसमें ब्रज की लुप्तप्राय यक्ष, नाग और आभीर जातियों का खोजपूर्ण वर्णन है और कुछ प्राचीन जातियों से संबंधित महत्वपूर्ण सामग्री है। वर्तमान जातियों में यादवों का महत्व अधिक है; क्यों कि इनकी परंपरा श्री कृष्ण से संबंधित मानी जाती है। जाट मूलतः एक कृषिजीवी जाति है, जो बहुत बड़ी संख्या में ब्रज में बसी हुई है। विदेशी शासन के अत्याचारों ने इसे सैनिक शक्ति बना दिया है। इस जाति के वीर पुरुषों ने मुसलमानी शासन काल में अनेक कष्टों को सहते हुए भी अत्याचारों का विरोध किया था और फिर ब्रज में स्वतंत्र हिंदू राज्य की स्थापना की थी। डीग और भरतपुर के जाट राजाओं ने 'ब्रजेन्द्र' अथवा 'ब्रजराज' के विरुद धारण कर ब्रज के प्रति अपने अधिकारपूर्ण ममत्त्व का परिचय दिया है। ब्रज की इस ऐतिहासिक जाति की गौरव-गाथा इस अध्याय में और अन्यत्र कुछ विस्तार से लिखी गई है।

पंचम अध्याय में 'ब्रज संस्कृति के उपकरण' का उल्लेख करते हुए 'ब्रज की सांस्कृतिक यात्रा' का विशद वर्णन किया गया है। ब्रज के बन-उपबन, कुंज-कदमखंडी, कुंड-सरोवर, लीला स्थल और ऐतिहासिक स्थान तथा मंदिर-देवालय और महात्माओं के निवास-स्थल आदि के एक साथ दर्शन करने का सुगम साधन ब्रज की 'यात्रा' है, जिसका आयोजन प्रति वर्ष बड़े ठाट से किया

जाता है। इस अध्याय में इस यात्रा की परंपरा और इसके इतिहास, यात्रा संबंधी विविध ग्रंथ तथा यात्रा के समस्त स्थलों और दर्शनीय वस्तुओं का खोजपूर्ण विशद वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह अध्याय ब्रज के सांस्कृतिक स्वरूप की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करने के कारण अत्यंत उपयोगी है

छठे अध्याय में 'ब्रज की रास-लीला' का अनुसंधानात्मक विस्तृत वर्णन है। 'रास' ब्रज। का लोक-प्रसिद्ध और धर्म-प्रधान 'संगीत रूपक' है। इसमें नृत्य, नाट्य, गायन, वादन और काव्यादि कलाओं का धर्मोपासना के साथ ऐसा समन्वय किया गया है कि यह ब्रज संस्कृति का सर्वाधिक समर्थ उपकरण ही नहीं, वरन् इसके सामूहिक स्वरूप का प्रतीक बन गया हैं। इस अध्याय में रास के प्रादुर्भाव और इसकी परंपरा का शोधपूर्ण वर्णन करने के अनंतर वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा इसके पुनरुद्धार किये जाने का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में विस्तृत समीक्षा के बाद यह बतलाया गया है कि सर्वश्री बल्लभाचार्य, हरिदास स्वामी, घमंडदेव, नारायण भट्ट, हित हरिवंश और विट्ठलनाथ आदि महानुभावों में से रास के प्रारंभकर्त्ता होने का श्रेय किसको दिया जा सकता है। इसके बाद रास-रसिक महात्माओं और इसकी प्रचारक रास-मंडलियों का खोजपूर्ण वर्णन है तथा रास के रूप-विधान का कलात्मक विवेचन है। अंत में रास के विशाल ब्रजभाषा साहित्य का परिचय और उसके कुछ सरस पदों का संकलन है। इस प्रकार इस अध्याय में ब्रज संस्कृति के इस आकर्षक अंग से संबंधित बड़ी बहुमूल्य सामग्री है।

सातवाँ अध्याय 'ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेलों' से संबंधित है। जहाँ 'सात बार, नौ त्यौहार' की कहावत प्रचलित हो, वहाँ इस प्रकार के आयोजनों की अधिकता होना स्वाभाविक है। ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले अपनी प्राचीन परंपरा तथा अपने भव्य रूप के कारण समस्त देश में प्रसिद्ध हैं। इसीलिए इनका आनंद प्राप्त करने के लिए प्रति वर्ष लाखों यात्री भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों से ब्रज में आते हैं। इस अध्याय में ऋतुओं और महीनों के क्रम से ब्रज के प्राय: सभी उत्सव, त्यौहार और मेलों का बड़ा रोचक और खोजपूर्ण वर्णन किया गया है। ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में भी अनेक उत्सव-त्यौहारों का सरस कथन मिलता है। उनके कतिपय उद्धरण इसी प्रसंग में दिये गये हैं। 'होली' ब्रज का सर्वप्रधान उत्सव-त्यौहार है। उसके पश्चात् श्रावण के झूलनोत्सव का महत्व माना जाता है। इन प्रधान उत्सवों का इस अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के अनंतर प्रथम खंड की समाप्ति हुई है।

× × ×

द्वितीय खंड में **'ब्रज का इतिहास'** वर्णित है। इसके विविध अध्यायों में ब्रज के राजनैतिक विकास और ह्रास की कथा काल-क्रमानुसार लिखी गई है। किसी भी प्रदेश की संस्कृति पर वहाँ की राजनैतिक स्थिति का बहुत प्रभाव पड़ता है। ब्रज की दीर्घकालीन सांस्कृतिक परंपरा भी यहाँ के विविध युगों की राजनैतिक घटनाओं से प्रभावित रही है। इसलिए ब्रज के सांस्कृतिक विकास का भली भाँति अध्ययन करने के लिए 'ब्रज संस्कृति की भूमिका' के पश्चात् इस खंड में 'ब्रज का इतिहास' लिखा गया है। असल में इन दोनों खंडों में उस पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है, जिस पर आगामी खंडों में ब्रज संस्कृति के विभिन्न अंगों के भव्य भवन को खड़ा करने की चेष्टा की गई है।

इस खंड का प्रथम अध्याय 'आदि काल' से संबंधित है। इसमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर शुंग काल अर्थात् विक्रमपूर्व सं० ४३ तक की घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है। यह अध्याय जितनी लंबी कालावधि को समेटे हुए है, उतना ही अधिक महत्वपूर्ण भी है। इसमें वैदिक काल, कृष्ण काल, बुद्ध-महावीर काल और मौर्य-शुंग काल की प्रमुख घटनाएँ क्रमानुसार वर्णित हैं। उस युग में ब्रजमंडल शूरसेन जनपद कहलाता था। श्री कृष्ण ब्रज संस्कृति के निर्माता थे और उन्हीं के परिकर गोपों और सत्वत वंशीय यादवों में इसका सर्वप्रथम प्रचार हुआ था। इस लिए श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन और उनके काल की घटनाओं पर विस्तार से विचार करना आवश्यक समझा गया है। उन घटनाओं को पौराणिक शैली के अलौकिक आवरण से निकाल कर उन्हें ऐतिहासिक धरातल पर लौकिक और बुद्धिगम्य रूप में ही प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयत्न किया है। मगध सम्राट जरासंध के लगातार आक्रमणों के कारण श्री कृष्ण के साथ बहुसंख्यक यादव गण प्राचीन ब्रज को छोड़ कर द्वारका चले गये थे और वहाँ से उनका समस्त भारत में विस्तार हुआ था। फलत: उनके साथ ब्रज संस्कृति के तत्व भी सर्वत्र व्याप्त हो गये थे। बुद्ध-महावीर काल की धार्मिक क्रांति के अवरोध से ब्रज संस्कृति की गतिशील धारा एक बार मंद पड़ गई थी; किंतु कालांतर में वह फिर प्रवल वेग से प्रवाहित होने लगी थी। बौद्ध काल की घटनाओं में भगवान् बुद्ध के मथुरा-आगमन और उनके द्वारा यहाँ के दुर्दमनीय यक्षों के आतंक को दूर करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। किंतु बुद्ध के आवागमन वाले मार्ग के कतिपय स्थलों की पहिचान के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इस अध्याय में भगवान् बुद्ध के मार्ग के दो स्थल 'वेरंज' और 'ओतला' पर प्रथम बार निर्णयात्मक प्रकाश डाला गया है। जैन तीर्थंकरों और विशेष कर अंतिम केवली जम्बू स्वामी का मथुरा से जो संबंध था, उसने उस काल के ब्रज के इतिहास को गौरव प्रदान किया है। मौर्य काल में मथुरा में एक बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त हुआ था। उसने मथुरा की नगर-बधू वासवदत्ता को सन्मार्ग पर आरूढ़ कर और सम्राट अशोक को बौद्ध धर्म के विस्तार की प्रेरणा देकर बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। शुंग काल में ब्रज संस्कृति के प्राण भागवत धर्म की बड़ी उन्नति हुई थी। उस काल में भारतीयों के अतिरिक्त विदेशी भी इससे प्रभावित हुए थे। यूनानी राजदूत होलियोदोर द्वारा भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए गरुड़ध्वज की स्थापना करना ब्रज संस्कृति के तत्कालीन व्यापक प्रभाव का सूचक है। इस अध्याय में उपर्युक्त सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करने के उपरांत अंत में इस दीर्घ काल की उल्लेखनीय उपलब्धियों की विस्तृत समीक्षा की गई है।

द्वितीय अध्याय 'पूर्व मध्य काल' में विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ६०० तक की घटनाएँ वर्णित हैं। उस काल में ब्रजमंडल शूरसेन प्रदेश की अपेक्षा 'मथुरामंडल' अथवा 'मथुरा राज्य' कहा जाने लगा था। इस अध्याय के आरंभ में शक और कुषाण जैसी विदेशी जातियों के आक्रमण और उनके द्वारा यहाँ राज्य स्थापन करने का उल्लेख किया गया है। उन विदेशी जातियों ने पहिले ब्रज संस्कृति को कुछ क्षति पहुँचाई थी; किंतु बाद में उसके आकर्षक प्रभाव से वे ऐसे पराभूत हुए कि उन्होंने भारतीयों से भी अधिक इसकी प्रगति में योग दिया था। शक राजमहिषी कुमुइअ (कंबोजिका) ने मथुरा में धार्मिक कार्यों के लिए स्तूप और बिहार का निर्माण कराया और उसके पुत्र शोडास (सुदास) के शासन-काल में भागवत धर्म के अनुयायी किसी वसु नामक धार्मिक जन ने कृष्ण-जन्मस्थान पर भगवान् वासुदेव के चतु:शाला महा स्थान (मंदिर) में

तोरण और वेदिका की व्यवस्था की थी। कुषाण काल में निर्मित कृष्ण-लीला का एक शिला-खंड भी मिला है, जिसे अब तक उपलब्ध श्री कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति कहा जा सकता है। मथुरा-मंडल में वासुदेव कृष्ण के मंदिर और उनकी मूर्ति की विद्यमानता के ये सबसे प्राचीन प्रमाण हैं; जो इतिहास और पुरातत्त्व के साक्ष्य से अब से प्राय: दो हजार वर्ष पहिले के सिद्ध होते हैं। कुषाण काल में और विशेष कर सम्राट कनिष्क के शासन में प्राचीन ब्रज अर्थात् मथुरामंडल की बड़ी सांस्कृतिक प्रगति हुई थी। उस काल में यहाँ व्यापार–वाणिज्य के साथ ही साथ धर्मोपासना और विद्या-कला की भी बड़ी उन्नत अवस्था थी। मूर्ति कला के लिए तो मथुरा नगर भारतवर्ष में सब से बड़ा केन्द्र माना जाता था। उस काल के मथुरामंडल की सांस्कृतिक समृद्धि ने समस्त देश को चमत्कृत कर दिया था! कुषाणों का विदेशी शासन भारत के नाग राजाओं द्वारा समाप्त किया गया। यादव गण के पश्चात् कदाचित नागों ने ही मथुरामंडल में स्वाधीन राज्य की स्थापना की थी; अतः उनका शासन काल प्राचीन ब्रज के इतिहास के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। नागों के पश्चात् गुप्तों का गौरवशाली शासन आरंभ हुआ। गुप्त काल भारतवर्ष के इतिहास में 'स्वर्ण युग' के नाम से प्रसिद्ध है; क्यों कि गुप्त सम्राटों के शासन में इस देश की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, विद्या विषयक और कला संबंधी उन्नति चरमसीमा पर पहुँच गई थी। उनकी राजधानी प्राचीन मगध का प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) थी। परम भागवत गुप्त सम्राटों द्वारा ब्रज की प्राचीन संस्कृति की प्रगति को भी बड़ा बल मिला था। महान् गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर एक भव्य मंदिर बनवाया था; जो ५ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण की उपासना का प्रमुख केन्द्र रहा था और जिसने ब्रज की प्राचीन संस्कृति और धार्मिक भावना के प्रसार में बड़ा योग दिया था। दिल्ली में कुतुब मीनार के निकट मेहरौली नामक स्थल पर एक प्राचीन लौह स्तंभ है, जिस पर किसी 'चंद्र' राजा की प्रशस्ति अंकित है। यह निश्चित् है कि वह स्तंभ किसी अन्य स्थल से हटा कर वहाँ लगाया गया है; किंतु वह पहले किस स्थान पर था, इसके संबंध में विद्वानों में बड़ा विवाद है। हमारा अनुमान है, वह लौह स्तंभ वास्तव में 'विष्णुध्वज' है, जिसे चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने यशस्वी पिता समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के साथ मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान वाले अपने मंदिर में लगवाया था। इस विषय पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। गुप्त शासन के अंतिम काल में विदेशी बर्बर हूणों ने मथुरामंडल पर भीषण आक्रमण किया था, जिससे यहाँ की बड़ी सांस्कृतिक हानि हुई थी। हूण लोग पश्चिमोत्तर सीमांत और पंचनद प्रदेश में धूँआधार करते हुए तूफान की सी तेज़ी से मथुरामंडल में आये थे और यहाँ भीषण लूट-मार कर मध्य भारत तक बढ़ गये थे। अंत में मंडसर (मालवा) के वैश्य जातीय वीरश्रेष्ठ यशोधर्मन ने उन्हें पराजित किया था। उसके बाद हूण लोग भारतीय धर्म और संस्कृति को स्वीकार कर यहाँ बस गये और यहाँ की विभिन्न जातियों में घुल-मिल गये थे। हूणों की एक बहुत बड़ी संख्या ब्रज संस्कृति को स्वीकार कर मथुरा मंडल में भी बस गई थी। मथुरा नगर के 'मिहारपुरा' मुहल्ला में संभवतः पहले हूणों की ही बस्ती थी और हूण नेता 'मिहिर कुल' के नाम पर उस मुहल्ला का नामकरण हुआ होगा। हूणों को पराजित करने वाला वीरवर यशोधर्मन भारत के गौरवशाली विक्रमादित्यों की परंपरा में अंतिम था। उपर्युक्त इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं के विशद वर्णन के अनंतर इस अध्याय के अंत में उस काल की कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियों की समीक्षा की गई है।

तृतीय अध्याय 'मध्य काल' में विक्रम सं० ६०० से १२६३ तक की घटनाएँ लिखी गई हैं। इस काल में भारत की राजनैतिक गति-विधियों का केन्द्र पाटलिपुत्र (पटना) की अपेक्षा गंगा-यमुना के दोआब स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) हो गया था और वहाँ का यशस्वी शासक हर्षवर्धन अंतिम भारतीय सम्राट था। उस काल में चीन का बौद्ध यात्री हुएनसांग भारत-भ्रमण के लिए आया था। उसका लिखा हुआ यात्रा-वृत्तांत उस काल की भारतीय स्थिति को जानने के लिए बड़ा उपयोगी है। वह विदेशी यात्री सं० ६९२ में मथुरा भी आया था। उसने मथुरामंडल की तत्कालीन स्थिति के संबंध में जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी में 'मथुरा राज्य' एक बड़ी राजनैतिक इकाई था। उसकी सीमाएँ प्रायः वही थीं; जो आजकल के 'सांस्कृतिक ब्रज' अथवा 'ब्रजभाषा क्षेत्र' के अधिकांश भाग की हैं। उस समय का मथुरा राज्य हर्ष के साम्राज्य का एक भाग था, अथवा स्वाधीन राज्य; इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। हर्षबर्धन के पश्चात् इस देश में जो अनेक युगांतरकारी घटनाएँ हुई थीं, उनमें तीन ऐसी हैं; जिन्होंने मथुरामंडल को भी बड़ा प्रभावित किया था। वे घटनाएँ थीं—१. बौद्ध धर्म का पतन और उसकी भारत में समाप्ति, २. राजपूत राजाओं का उदय और उनके विभिन्न राज्यों की स्थापना, ३. इस्लाम मज़हब का प्रसार और मुसलमानों का भारत पर आक्रमण। बौद्धधर्म का पतन होने पर पौराणिक (हिंदू) धर्म का उत्थान हुआ था और मथुरा उसका प्रमुख केन्द्र बन गया था। राजपूतों के विविध राज्यों की स्थापना से मथुरामंडल का राजनैतिक महत्व तो कम हो गया; किंतु उसका धार्मिक महत्व बहुत बढ़ गया था। उसका कारण यह था कि उस काल के राजपूत राजा गण प्रायः उसी पौराणिक धर्म के अनुयायी थे; जिसका मथुरामंडल एक बड़ा केन्द्र था। मुसलमानों के आक्रमण से इस देश की जो भीषण आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षति हुई थी, उसका कुफल मथुरामंडल को सबसे अधिक भोगना पड़ा था। मुसलमान आक्रमणकारियों में महमूद ग़ज़नवी पहिला व्यक्ति था, जिसने अपनी भयंकर लूट-मार से सं० १०७४ में मथुरामंडल का सर्वनाश कर दिया था। उस बर्बर लुटेरे ने अपने मज़हबी तास्सुब और लूट के लालच से मथुरा के सैकड़ों समृद्धिशाली मंदिर-देवालयों के साथ कृष्ण-जन्मस्थान वाला वह प्रसिद्ध मंदिर भी नष्ट कर दिया था, जिसे प्रायः ६ शताब्दियों पूर्व चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने बनवाया था। उन मंदिरों में भेंट से प्राप्त जो विपुल संपत्ति कई शताब्दियों से एकत्र होती आ रही थी, उस सबको उस विदेशी आक्रमणकारी ने एक ही झपाटे में लूट लिया और उसे वह सैकड़ों ऊँटों पर लाद कर ग़ज़नी ले गया! महमूद ग़ज़नबी के घुँआधार आक्रमण और उसकी भीषण लूट का वर्णन जिन मुसलमान इतिहास-लेखकों ने किया है, उनमें से एक अल-उत्वी ने मथुरा के तत्कालीन वीर सेनानायक कूलचंद (कुलचंद्र) का बड़ा आश्चर्यजनक वृत्तांत लिखा है। उसके कथन से ज्ञात होता है कि कुलचंद्र एक बड़े राज्य का स्वामी था। उसके अधिकार में विशाल सेना थी और सुदृढ़ दुर्ग था, जो वर्तमान महाबन के निकट बना हुआ था। उस समय महाबन में बड़े-बड़े भवन एवं मंदिर थे और मथुरा नगर तो सैकड़ों समृद्धिशाली भवनों एवं मंदिर-देवालयों का एक विशाल केन्द्र ही था। कुलचंद्र ने मथुरामंडल की प्रतिरक्षा के लिए महमूद ग़ज़नबी से बड़ा भीषण युद्ध किया, जिसमें उस वीर-पुंगव का बलिदान हुआ था। कुलचंद्र के विषय में अल-उत्वी के उक्त कथन के अतिरिक्त कोई अन्य ऐतिहासिक उल्लेख अथवा पुरातात्विक प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा अनुमान होता है, वह मथुरामंडल के प्राचीन यादव वंश का कोई वीर पुरुष था, जिसने उस काल में अपने स्वाधीन राज्य की स्थापना

की थी । कुलचंद्र के विषय में पूरी तरह अनुसंधान होना आवश्यक है; क्यों कि मथुरामंडल के राजनैतिक इतिहास के लिए उसका बड़ा महत्व है । यहाँ के इतिहास में कृष्ण कालीन अथवा परवर्ती यादवों और नागों के स्वाधीन राज्यों के पश्चात् कुलचंद्र की स्वायत्त सत्ता का ही उल्लेख मिलता है । महमूद के आक्रमण के पश्चात् मथुरामंडल पर कन्नौज के गाहड़वाल वंशीय राजाओं का अधिकार रहा था । उस वंश के राजा विजयपाल ने मथुरा के श्रीकृष्ण–जन्मस्थान में महमूद ग़ज़नबी द्वारा तोड़े हुए मंदिर के ध्वंसावशेषों पर एक नये मंदिर का निर्माण सं० १२१२ में कराया था । विजयपाल के पश्चात् जयचंद्र कन्नौज का राजा हुआ था । उसका समकालीन दिल्ली का विख्यात राजा पृथ्वीराज था । उस काल में वे दोनों बड़े वीर और शक्तिशाली राजा थे; किंतु दुर्भाग्य से आपस में ही लड़ते रहते थे । उनके शासन काल में मुहम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण हुआ । उसका प्रतिरोध पृथ्वीराज़ और जयचंद जैसे प्रबल राजपूत राजाओं ने किया था; किंतु पारस्परिक द्वेष और अन्य कारणों से वे एक-एक कर पराजित हो गये । उसके फल स्वरूप उत्तर भारत के अधिकांश भाग के साथ मथुरामंडल में भी मुसलमानी राज्य की स्थापना का मार्ग साफ हो गया । उपर्युक्त सभी प्रमुख घटनाओं के उल्लेख के अनंतर इस अध्याय के अंत में कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियों की समीक्षा की गई है । उसमें इस विषय पर विस्तार से बतलाया गया है कि अनेक शक्तिशाली राजपूत राजाओं के होते हुए भी विदेश से आये हुए मुसलमान आक्रमणकारी यहाँ किस प्रकार अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे ।

चतुर्थ अध्याय 'उत्तर मध्य काल' से संबंधित है, जिसमें सं० १२६३ से सं० १८८३ तक की घटनाओं का उल्लेख किया गया है । इस अध्याय के आरंभ में मुसलमानी राज्य की स्थापना और उसके विस्तार का वर्णन है । मुसलमानी राज्य के आरंभकर्त्ता दिल्ली के सुलतानों का शासन एक प्रकार से 'फौजी और मज़हबी तानाशाही' का था, जो तलबार के बल पर शरीयत के अनुसार किया जाता था । सुलतानों का उद्देश्य भारत को इस्लामी राज्य बनाना और यहाँ की हिंदू जनता को बलपूर्वक मुसलमान करना था । मथुरामंडल उस काल में हिंदू धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था, अतः इस धार्मिक भू-भाग पर उनकी सदा ही क्रूर दृष्टि रही थी । यह बड़े सुयोग और सौभाग्य की बात हुई कि दक्षिण के कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों ने उसी काल में कृष्ण–भक्ति का व्यापक प्रचार करने के लिए श्री कृष्ण के लीला-धाम मथुरामंडल में ही अपने केन्द्र बनाये थे । इस प्रकार सुलतानों के कठोर शासन की परवाह न कर उनकी नाक के नीचे ही उन्होंने अपना भक्ति-अभियान चलाया था । उस समय मथुरामंडल का नया नाम 'ब्रज' अथवा 'ब्रजमंडल' हो गया था, जो अभी तक प्रचलित है । उस काल में यहाँ पर विविध धर्मों के अनेक मंदिर–देवालय थे, जिन्हें सुलतानों ने एक-एक कर नष्ट कर दिया था और नये मंदिरों के निर्माण पर रोक लगा दी थी । ब्रज के विख्यात कामबन की पहाड़ी पर भगवान् विष्णु का एक अत्यंत कलापूर्ण मंदिर था, जिसे यादव राजा पर्जन्यदामा ने सं० १२५० के लगभग बनवाया था । उस सुंदर देवालय को सुलतान इल्तमश ने क्षतिग्रस्त कर भ्रष्ट किया और फिर फीरोज़ तुगलक ने उसे धराशायी कर उसके मसाले से एक मस्जिद बनवाई थी ! मथुरा के असिकुंडा घाट पर बने हुए प्राचीन मंदिर को अलाउद्दीन खिलज़ी की आज्ञा से सं० १३५४ में तोड़ा गया और उसके स्थान पर भी एक मसजिद बनवा दी गई ! मथुरा के श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर कन्नौज के राजा विजयपाल ने संवत्

१२१२ में जो मंदिर बनवाया था, उसे फीरोज तुगलक ने खंडित किया और फिर सिकंदर लोदी ने सं० १५७३ में उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया था। दिल्ली के सुलतानों में सिकंदर लोदी का मजहबी अत्याचार सबसे बढ़ा हुआ था। उसने ब्रज के हिंदुओं के सभी धार्मिक कृत्यों पर पाबंदी लगा दी थी; यहाँ तक कि उसकी आज्ञा से हिंदुओं का यमुना-स्नान करना और वहाँ के घाटों पर बाल बनवाना तक वर्जित था! मथुरा का काज़ी अपने क्रूर सैनिकों के साथ विश्रामघाट पर डटा रहता था। वह स्नानार्थियों को रोक कर उन्हें मुसलान बनने के लिए बाध्य करता था। उसके उत्पीड़न के कारण ब्रज के हिंदुओं में बड़ा असंतोष था। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' के अनुसार निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने और बल्लभ संप्रदायी 'वार्ता' के अनुसार श्री बल्लभाचार्य ने सिकंदर लोदी की उस मज़हबी तानाशाही के विरोध करने का साहस किया और अपने अपूर्व आत्म बल से उसमें सफलता प्राप्त की थी। ऐसा ज्ञात होता है, उन दोनों महात्माओं के सम्मिलित प्रयास से उस काल में ब्रज के हिंदुओं का वह कष्ट दूर हुआ था। सिकंदर लोदी के शासन काल में ही श्री बल्लभाचार्य जी ने ब्रज की गिरिराज पहाड़ी पर श्रीनाथ जी का नया मंदिर बनवाने का उपक्रम किया, जो उस काल की भयावह स्थिति में बड़े साहस का काम था। सुलतानों के कठोर शासन के पश्चात् सूर पठानों और मुगलों का उदार शासन आरंभ हुआ था। उस समय दिल्ली की अपेक्षा आगरा में राजधानी कायम की गई, जिससे ब्रजमंडल के धार्मिक महत्व के साथ ही साथ उसका राजनैतिक महत्व भी बढ़ गया था। मुगल सम्राट अकबर ने हिंदुओं पर लगी हुई सुलतानी काल की सभी मज़हबी पाबंदियाँ समाप्त कर दी थीं। उसने ब्रज की जनता को अपने विश्वास के अनुसार धर्म-कर्म करने की पूरी स्वाधीनता प्रदान की और गो-बध को बंद कर दिया। उसके शासन काल में ब्रज में कई शताब्दी पश्चात् नये मंदिर-देवालय बनवाये गये थे। उसने यहाँ की विद्याओं और कलाओं की उन्नति में भी बड़ा योग दिया था। इस प्रकार अकबर का शासन काल ब्रज संस्कृति के लिए स्वर्ण काल सिद्ध हुआ था। उसकी बुद्धिमत्तापूर्ण उदार नीति ने हिंदुओं के मन को ऐसा मोह लिया था कि वे मुगल साम्राज्य के निर्माण में मुसलमानों से भी अधिक सहायक सिद्ध हुए थे। जहाँ राजा मानसिंह ने अपने बल-विक्रम से अकबर के साम्राज्य का विस्तार किया, वहाँ टोडरमल के बुद्धि-कौशल ने उसे प्रशासनिक सुदृढ़ता प्रदान की थी। अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल में कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रायः अकबर की नीति का ही पालन किया गया था, जिससे ब्रज संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। जब औरंगजेब मुगल सम्राट हुआ, तब उसने अपनी मजहबी कट्टरता के कारण अपने पूर्वजों की उदार नीति के सर्वथा विरुद्ध आचरण किया था। उसके शासन काल में ब्रज में फिर मजहबी अत्याचार होने लगे और यहाँ की हिंदू जनता को सताया जाने लगा। औरंगजेब ने सिकंदर लोदी की भाँति ब्रज के हिंदुओं पर कड़ी पाबंदियाँ लगा कर उन्हें अपनी इच्छानुसार धर्म-कर्म करने से बंचित कर दिया था। उसने गो-बध करने की खुली छूट देदी, गैर मुसलमानों पर अमानवीय ज़ज़िया कर लगा दिया और मंदिर-देवालयों को नष्ट करने का फरमान जारी किया! उसके आदेश से ब्रज के सभी विख्यात मंदिर-देवालय नष्ट-भ्रष्ट किये जाने लगे। उन भीषण अत्याचारों से दुखी होकर ब्रज के अनेक धर्माचार्य अपने देव-विग्रह और परिकर के साथ ब्रज को छोड़ कर हिंदू राजाओं के राज्यों में जा कर बस गये थे। उसी काल में बल्लभ संप्रदाय के उपास्य श्रीनाथ जी तथा अन्य देव स्वरूप गोबर्धन और गोकुल से हटाये गये, जिससे ब्रज के वे समृद्धिशाली सांस्कृतिक केन्द्र प्रायः ऊजड़ और

सुनसान हो गये थे ! औरंगजेबी शासन में ब्रज संस्कृति की ऐसी भारी क्षति हुई कि फिर उसका उत्तरोत्तर ह्रास ही होता गया। परवर्ती मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के शासन काल में जब जयपुर का सवाई राजा जयसिंह सं० १७७७ से सं० १७८३ तक आगरा प्रांत का सूबेदार रहा था, तब उसके राजकीय प्रभाव से ब्रज की बिगड़ी हुई सांस्कृतिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। उसके उपरांत सं० १८१३–१४ में अहमदशाह अब्दाली नामक एक अफगान आक्रमणकारी ने ब्रज में भयंकर लूट-मार कर यहाँ पुनः सर्वनाश का वातावरण उपस्थित कर दिया था। उसका ऐसा दुष्परिणाम हुआ कि ह्रासोन्मुखी ब्रज संस्कृति फिर नहीं पनप सकी। मुसलमानी शासन के अत्याचारों ने ब्रज की कृषिजीवी जाट जाति को एक सैनिक संगठन में परिवर्तित कर दिया था। इस जाति ने सूरजमल और जवाहरसिंह जैसे वीर-पुंगवों को जन्म दिया, जिन्होंने ब्रज में स्वाधीन राज्य के संचालन के साथ ही साथ मुगलों की राजधानी दिल्ली पर आक्रमण कर अपने वीरत्व का डंका बजाया था ! जाट राजाओं में असाधारण वीरता तो थी, किंतु उनमें राजनैतिक सूझ-बूझ और उदात्त सांस्कृतिक चेतना की कमी थी; जिससे वे ब्रज के सर्वांगीण निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके थे। फिर भी उन्होंने डीग, भरतपुर और गोबर्धन में जो सुंदर भवन बनवाये और ब्रजभाषा कवियों का संरक्षण किया; उनसे ब्रज के स्थापत्य और काव्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला था। ब्रज की तत्कालीन स्थिति पर जाटों के अतिरिक्त मरहठों का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। सुप्रसिद्ध मरहठा सेनापति महादजी सिंधिया कृष्णोपासक होने के साथ ही साथ ब्रज संस्कृति का भी बड़ा प्रेमी था। उसने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से मुगल सम्राट शाह आलम को अपने संरक्षण में लेकर दिल्ली के लाल किले पर मरहठों का भगवा झंडा फहरा दिया था ! किंतु पेशवा की अदूरदर्शिता और प्रधान मरहठा सरदारों की पारस्परिक ईर्ष्या से वह न तो मरहठा राज्य का कोई बड़ा हित-साधन कर सका और न ब्रज संस्कृति के पुनरुद्धार में ही सहायक हो सका। मुसलमानी शासन के शक्तिहीन हो जाने पर उस काल की प्रबलतम मरहठा शक्ति को छत्रपति शिवाजी के आदर्शानुसार भारत में 'हिंदू पातशाही' की स्थापना करने का स्वर्ण सुयोग मिला था। किंतु मरहठा सरदारों की फूट से विदेशी अंगरेजों को भारत में जम जाने का अवसर मिल गया और यह देश फिर पराधीनता के बंधन में बँधने को विवश हुआ था। उस काल की बहु-संख्यक उपलब्धियों के कारण जहाँ ब्रज संस्कृति का चरम विकास हुआ, वहाँ कतिपय अभावों के कारण उसका शोचनीय ह्रास भी होने लगा था। ब्रजवासियों में धर्म, साहित्य और कला के प्रति असीम अनुराग था; किंतु जाटों के अतिरिक्त यहाँ के अन्य लोगों में वीरत्व की भावना का प्रायः अभाव रहा था। ब्रज के धर्माचार्यों और भक्त कवियों ने लोगों में उच्चकोटि की धार्मिक चेतना और कलाभिरुचि जागृत करने में जितना उत्साह दिखलाया था; उसका शतांश भी यदि वे अत्याचारियों का विरोध करने की प्रेरणा देने में दिखलाते, तो ब्रज संस्कृति का वैसा भीषण ह्रास न होता। ऐसा जान पड़ता है, उस काल के धार्मिक नेता 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते'—अर्थात् शस्त्रों से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्रों का चिंतन संभव है—जैसे प्राचीन नीति-वाक्य को भूल गये थे। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उस काल में निर्मित ब्रजभाषा के विशाल वाङ्मय में आततायियों के अमानुषिक अत्याचारों के विरोध की भावना तो दूर रही, उनके प्रति आक्रोश तक का अभाव दिखलाई देता है ! इस अध्याय में उस काल की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं के विवेचन के साथ उनकी उपलब्धियों और उनके अभावों की भी समीक्षा की गई है।

पंचम अध्याय 'आधुनिक काल' में सं० १८८३ से सं० २०२२ तक की घटनाओं का उल्लेख किया गया है । इसमें पहले अंगरेजी कंपनी द्वारा ब्रजमंडल पर अधिकार कर यहाँ शासन कायम करने, अंगरेजी सत्ता के विरुद्ध भारतीयों के प्रथम विद्रोह में ब्रजवासियों का योग देने और कंपनी राज्य के समाप्त होने पर वृटिश शासन की स्थापना होने का सामान्य उल्लेख है। फिर ब्रज के जन-जीवन पर उन घटनाओं की जो भली-बुरी प्रतिक्रिया हुई, उसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है । उसके उपरांत उस काल की ब्रज की धार्मिक दुर्दशा और सांस्कृतिक अवनति का कारण बतलाते हुए उन समृद्धिशाली भक्तजनों, सांस्कृतिक एवं धार्मिक महापुरुषों तथा धर्म-प्राण विद्वानों का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने ब्रज की तत्कालीन स्थिति को सुधारने का भारी प्रयत्न किया था । वृटिश काल में जब यहाँ शांति स्थापित हो गई, तब विभिन्न स्थानों के समृद्धिशाली धार्मिक जन ब्रज की पावन भूमि में निवास करने के लिए उसी प्रकार आये थे, जिस प्रकार वे कुछ शताब्दियों पूर्व के शांति-काल में आते रहे थे। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री गोकुलदास पारिख, लाला बाबू, नंदकुमार वसु, शाह कुंदनलाल (ललित किशोरी), राजा पटनीमल, सेठ जयनारायण–लक्ष्मीनारायण पोद्दार, राजर्षि बनमाली बाबू और भैया बलवंतराव सिंधिया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । उनके द्वारा निर्मित मंदिर-देवालयों तथा उनके विविध धार्मिक कार्यों ने ब्रज के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में बड़ा योग दिया है । श्री गोकुलदास पारिख द्वारा मथुरा के जिन सेठों की परंपरा प्रचलित हुई, उनके द्वारा निर्मित श्री रंग जी और श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर ब्रज की धार्मिक भावना के प्रमुख केन्द्र हैं । ब्रज के अन्य सांस्कृतिक महापुरुष ज्यो० अमरलाल–माधवलाल, दंडी स्वामी विरजानंद, गो० मधुसूदन जी–राधाचरण जी तथा गोपाललाल गोस्वामी ने ब्रज संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में अपना महत्वपूर्ण योग दिया था । अंगरेजी कंपनी और वृटिश राज्य के शासन काल में ब्रज में जो अंगरेज अफसर रहे, उन्हें ब्रज संस्कृति से कोई प्रेम नहीं था; अत: वे इसकी प्रगति के लिए प्रयत्नशील नहीं हुए । उनमें एक श्री ग्राउस ही अपवाद है, जो ब्रज के सौभाग्य से यहाँ का जिलाधीश होकर आया था । वह निश्चय ही ब्रज संस्कृति के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था । इस अध्याय के अंत में वृटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलन की गति-विधि और महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्ति के उल्लेख के साथ ब्रज के सांस्कृतिक निर्माण की वर्तमान स्थिति और भविष्यत् संभावना पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है। स्वाधीन भारत के वर्तमान शासकों का जितना ध्यान देश के आर्थिक पुनर्निर्माण की ओर है, उतना सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर नहीं है; फिर भी हमें आशा है कि वे ब्रज संस्कृति के महत्व को समझ कर यहाँ की सांस्कृतिक प्रगति की भी समुचित व्यवस्था करेंगे । कारण यह है कि किसी भी देश का पुनर्निर्माण उसके सांस्कृतिक अभ्युदय के बिना अधूरा ही माना जाता है और इस संबंध में ब्रज संस्कृति बड़ा महत्वपूर्ण योग दे सकती है । इस अध्याय में वर्णित यहाँ की महत्वपूर्ण घटनाओं के उल्लेख के साथ 'ब्रज का इतिहास' नामक यह दूसरा खंड समाप्त हुआ ।

इस भाग के अंत में विस्तृत अनुक्रमणिका है, जिसमें 'ब्रज संस्कृति की भूमिका' और 'ब्रज का इतिहास' नामक दोनों खंडों की पृथक्-पृथक् नामानुक्रमणिकाएँ और ग्रंथानुक्रमणिकाएँ हैं । इन्हें संदर्भ की सुविधा के लिए बड़े परिश्रम से प्रस्तुत किया गया है । दोनों खंडों में यथा स्थान अनेक चित्र हैं, जिनसे इस भाग की उपयोगिता बढ़ गई है ।

× × ×

इस भाग की रचना में मैंने जिन ग्रंथों से सहायता ली है, उनके नाम का उल्लेख यथा स्थान और अंत में दी हुई सहायक ग्रंथों की सूची में किया गया है। मैं उनके विद्वान लेखकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। भारत कला भवन वाराणसी और पुरातत्त्व संग्रहालय मथुरा से मुझे ब्लाक बनवाने के लिए चित्र, छापने के लिए ब्लाक और अध्ययन के लिए अनेक ग्रंथ प्राप्त हुए हैं, जिनके लिए मैं उनके अध्यक्ष आदरणीय राय कृष्णदास जी और डा० नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी का अत्यंत आभारी हूँ। इस ग्रंथ में मुद्रित कुछ चित्रों के ब्लाक गो० ब्रजरमण जी मथुरा, गो० माधवराय जी पोरबंदर, अधिकारी ब्रजवल्लभ शरण जी वृंदाबन, श्री गोपालदास जी झालानी इंदौर, वैद्य गोपालप्रसाद जी कौशिक गोवर्धन, गो० ललिताचरण जी वृंदाबन और कन्हैयालाल जी मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इनके लिए मैं उक्त सज्जनों का अत्यंत आभार मानता हूँ। श्री उदयशंकर जी शास्त्री से ग्राउस के दुर्लभ ग्रंथ 'मथुरा—ए—डिस्ट्रक्ट मेमोअर' (तृ. सं.) की सुंदर प्रति और श्री बालमुकुंद चतुर्वेदी से ब्रजयात्रा संबंधी कुछ पुस्तकें एवं उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त हुईं, जिनके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं। मैं सबसे अधिक आभारी विद्वद्वर डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल और पद्मभूषण राय कृष्णदास जी का हूँ; जिन्होंने इस ग्रंथ के लिए 'प्रस्तावना' और 'दो शब्द' लिखने की कृपा की है। डा० अग्रवाल जी ने तो अपनी रुग्णावस्था में शैया पर लेटे हुए ही अपने वक्तव्य को लिखवाया था! उनके प्रति समुचित कृतज्ञता प्रकट करना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। जिन अन्य सज्जनों से मुझे इस भाग की रचना में किसी भी प्रकार की सहायता मिली है और जिनके नामों का स्मरण इस समय मुझे नहीं हो रहा है, उन सबके लिए मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। असल में यह ग्रंथ बहुसंख्यक विद्वानों की विद्वत्ता का ही प्रसाद है, जिसे वितरण करने भर का काम मैंने किया है। अपने कथन के आरंभ में मैंने इस ग्रंथ की रचना के पूर्ण हो जाने पर आत्म संतोष व्यक्त किया है; किंतु वह तब तक अधूरा है, जब तक इस ग्रंथ के सभी खंड छप कर प्रकाशित नहीं जाते हैं। किसी भी बड़े ग्रंथ के मुद्रण और प्रकाशन का कार्य उसकी रचना से कम श्रम-साध्य नहीं होता है। यह हर्ष की बात है कि शेष खंडों की छपाई का काम भी तेज़ी से हो रहा है और भगवान् की कृपा से वे शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

साहित्य संस्थान, मथुरा।
आषाढ़ शु० १५ (व्यास पूर्णिमा), सं० २०२३

—प्रभुदयाल मीतल

प्रस्तावना

मेरे अभिन्न मित्र श्री प्रभुदयाल जी मीतल सच्चे अर्थों में ब्रजवासी हैं। उनका जन्म मथुरा पुरी में हुआ है और उनके श्वास–प्रश्वास में ब्रजभूमि का आदर्श बसा हुआ है। उन्होंने ब्रज के वृहत् सांस्कृतिक इतिहास की रचना का शुभ संकल्प किया और कई वर्षों के अथक परिश्रम से इसे पूरा कर डाला। यह कार्य बहुत बड़ा था और अब तक किसी भी व्यक्ति ने इसे करने का साहस नहीं किया था। मुझे हर्ष है, मीतलजी ने अकेले ही इस महान् कार्य को पूरा कर लिया ! ब्रज संस्कृति से संबंधित यह ग्रंथ कई खंडों में समाप्त हुआ है। इसमें हमें ब्रज का ऐतिहासिक, धार्मिक, कला विषयक, साहित्यिक और लोक जीवन संबंधी विशद विवेचन मिलता है। इस प्रकार यह ग्रंथ ब्रज का विश्वकोश ही बन गया है। इस वृहत् ग्रंथ के प्रथम दो खंड—ब्रज संस्कृति की भूमिका और ब्रज का इतिहास—इस भाग में प्रकाशित हो रहे हैं। शेष चार खंड—ब्रज के धर्म-संप्रदाय, ब्रज की कलाएँ, ब्रज का साहित्य और ब्रज की लोक संस्कृति भी अन्य भागों में यथा समय प्रकाशित होंगे।

ब्रज संस्कृति के अनुपम महत्व की अत्यंत दीर्घ कालीन परंपरा रही है। ब्रजभूमि और मथुरा पुरी का किसी समय जो दिव्य रूप था, उसका लगभग ढाई सहस्र वर्षों का इतिहास भी पुरातत्व और साहित्य की सम्मिलित साक्षी से उपलब्ध है। ऐसा सौभाग्य और गौरव भारत के किसी अन्य स्थान को प्राप्त नहीं है। ऐसी दशा में ब्रजभूमि के सर्वांगीण परिचय के लिए भारतीय जनता का उत्सुक होना स्वाभाविक है। यह उत्सुकता विगत वर्षों में उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। ब्रज के इतिहास में विकास और ह्रास तथा उन्नति एवं अवनति के अनेक काल हुए हैं; किंतु इधर इसकी बहुमुखी उन्नति का युग पुनः आया है। ब्रज संस्कृति के भव्य रूप और ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के प्रति लोगों की जिज्ञासा में वृद्धि हुई है। मथुरा के संग्रहालय का जो विकास और विस्तार हुआ है, उसका यश देश–विदेश में निरंतर बढ़ रहा है। कटरा केशवदेव या कृष्ण–जन्मभूमि के उद्धार का भी प्रचुर प्रयत्न हो रहा है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के विशिष्ट ग्रंथ की भी नितांत आवश्यकता थी। ईश्वर की कृपा से इसकी सामयिक पूर्ति मीतल जी के सत्प्रयास द्वारा हुई है।

प्राचीन परिभाषा के अनुसार जनपद के दो भाग होते थे—एक नगर या पुर और दूसरा उसके चारों ओर ग्रामों का मंडल या राष्ट्र। इस प्रकार मथुरा पुरी शूरसेन जनपद (प्राचीन ब्रजमंडल) की राजधानी थी। उसकी जनपदीय सीमा चौरासी कोस की कही जाती है, जो आज तक बड़ी यात्रा के अंतर्गत है। मथुरा पुरी की अंतरगृही यात्रा छोटी परिक्रमा के रूप में प्रचलित है।

मथुरा का ग्रादि कालीन सन्निवेश यमुना के दक्षिण तट पर हुग्रा था। कहते हैं, उससे पूर्व मधु बन (वर्तमान महोली) में लवण नामक ग्रसुर ने कुछ गुफाएँ बनाई थीं ग्रौर वहीं वह निवास करता था। देवों की प्रार्थना पर राम ने ग्रपने छोटे भाई शत्रुघ्न को लवणासुर का उपद्रव शांत करने के लिए वहाँ भेजा ग्रौर उन्होंने उसको परास्त कर मथुरा नगरी का सन्निवेश किया, जो 'देव निर्मिता पुरी' कही गई। वाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख हुग्रा है। मथुरा सन्निवेश की एक भौगोलिक विशेषता है; ग्रौर वह यह कि मथुरापुरी प्राच्य ग्रौर उदीच्य के बीच का देहली–द्वार थी। मध्य देश के सार्थवाह ग्रौर व्यापारी पूर्व से पश्चिम की ग्रोर यात्रा करते समय मथुरा के भांडागारिकों से संपर्क करते हुए आते–जाते थे। उससे मथुरा नगरी का वाह्य प्रभाव बढ़ गया था। किंतु मथुरा की जन्म-कुंडली में सबसे बड़ा प्रभावोत्पादक योग यह था कि यहाँ भगवान् श्री कृष्ण का जन्म हुआ। वह महाभारत के युग की घटना है। उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कृष्ण-जन्म के कारण मथुरा का यश उत्तर भारत में सर्वत्र फैल गया था। सच तो यह है कि काल–क्रम से मथुरा पुरी भागवत धर्म का महान् केन्द्र बन गई ग्रौर तब इसका यश न केवल उत्तर भारत में, वरन् दक्षिण के पल्लव वंशीय राजाग्रों के राज्य में भी व्याप्त हो गया। वहाँ तमिल भाषा के संगम साहित्य में भगवान् कृष्ण और गोपियों के साथ उनके नृत्य–गान के उल्लेख पाये जाते हैं। तमिल भाषा के 'शिलप्पाधिकारम्' ग्रंथ में इस विषय का बहुत ग्रच्छा वर्णन हुग्रा है।

उत्तर भारत में मथुरा के वैष्णव धर्म का प्रभाव कई सौ मील के घेरे में व्याप्त था। पश्चिम की ग्रोर दक्षिण–पूर्वी राजस्थान की मध्यमिका नगरी में वासुदेव ग्रौर संकर्षण ग्रर्थात् कृष्ण–बलराम की पूजा का एक केन्द्र स्थापित हुग्रा, जिसे 'नारायण वाटक' ग्रर्थात् नारायण का बाड़ा नाम दिया गया। सौभाग्य से वह स्थान ग्राज भी सुरक्षित है। उसके बीच में ईंटों के मंच पर पत्थर की पूजा–शिला ग्रौर चारों ग्रोर बड़े–बड़े पत्थरों को जोड़ कर बनाई हुई एक प्राकार या दीवार थी, जो ग्राज भी है। ऐसे ही मथुरा से दक्षिणा पथ को जाने वाले मार्ग पर प्राचीन राजधानी विदिशा के निकट भगवान् विष्णु के मंदिर और गरुड़ध्वज स्थापित किये गये, जिनके ग्रवशेष ग्रब भी विद्यमान हैं। इस प्रकार विक्रम से दो शती पूर्व के काल में मथुरा का प्रभाव बाल सूर्य की भाँति निरंतर बढ़ रहा था। उसी समय जैन ग्रौर बौद्ध धर्मों के ग्रनुयायियों ने भी मथुरामंडल में ग्रपने केन्द्र बनाये थे, जहाँ उन्होंने स्तूपों एवं प्रासादों का निर्माण किया था। उनके ग्रांदोलन का प्राण भी भक्ति धर्म था; किंतु उसका मूर्त रूप पत्थर की प्रतिमाग्रों द्वारा प्रकट किया गया। पाषाण शिल्प का वरदान पाकर मथुरा का वैभव नये रूप में जगमगाने लगा! उस समय की बनाई हुई सहस्रों मूर्तियाँ ग्राज तक सुरक्षित हैं। इन शिला पट्टों पर मथुरा के इतिहास की ग्रमर कहानी ग्रंकित है, जिसका उद्‌घाटन इस सांस्कृतिक इतिहास के कला खंड में किया गया है।

भगवान् कृष्ण समस्त विश्व को प्रकाश देने वाले दिव्य दीपक हैं। उन्हें ज्ञान–सूर्य कहना भी उपयुक्त होगा। उनका गीता शास्त्र मानव के लिए कर्म का ग्रमर संदेश देता है। भगवान् बुद्ध भी एशिया खंड में ज्ञान–ज्योति का विस्तार करने वाले महापुरुष थे। उनकी मूर्ति की कल्पना भी सर्वप्रथम मथुरा में ही हुई ग्रौर यहाँ से वह एशिया के ग्रनेक देशों में फैल गई। मथुरा के शिल्पियों ने बौद्ध, जैन ग्रौर ब्राह्मण धर्मों की दिव्य मूर्तियों का निर्माण कर भारतीय

कला को एक नया मोड़ दिया था। मथुरा के बौद्ध अभिलेख इस बात के साक्षी हैं कि विक्रम की आरंभिक दो शतियों के महान् धार्मिक आंदोलन के अंतर्गत सर्वास्तिवादी और महासंघिक आचार्यों ने मथुरा की धार्मिक प्रेरणा को अपनी शक्ति से भर दिया था। इसी प्रकार जैन संघ ने भी अपने गण, कुल और शाखाओं के रूप में मथुरा को अपना विशिष्ट कार्यक्षेत्र बनाया था। उसका ब्यौरा मथुरा में उपलब्ध जैन मूर्तियों की चरण–चौकियों के लेखों में मिलता है। ब्राह्मण धर्म के भागवत आंदोलन का तो शिरोमणि केन्द्र ही मथुरा में बना था; जहाँ भक्ति धर्म के वे बीज अंकुरित हुए, जिनसे गुप्त युग का धार्मिक स्वरूप प्रकट होकर लहलहाने लगा। उसे अंगीकार कर मध्यदेश के चंद्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे गुप्त सम्राट अपने को 'परम भागवत' कह कर गौरवान्वित हुए थे। मथुरा के कृष्ण--जन्मस्थान पर चंद्रगुप्त ने विष्णु का एक महाप्रासाद बनवा कर भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। विक्रम की प्रथम शती के लगभग पाशुपत संप्रदाय के आचार्यों ने भी मथुरा को शैव धर्म का एक बड़ा क्षेत्र बना कर यहाँ शैव मूर्तियों और मंदिरों की स्थापना की थी। वह आंदोलन गुप्त काल में और भी बलशाली हो गया था।

इस प्रकार मथुरा की पुरातत्व सामग्री से यह भली भाँति प्रकट होता है कि भारत के धार्मिक क्षेत्र में ब्रज ने मौलिक निर्माण का कितना बड़ा काम किया है। यहाँ के चारों धार्मिक संप्रदाय—जैन, बौद्ध, वैष्णव और शैव—ब्रज के सांस्कृतिक स्वस्तिक की चार भुजाएँ थीं। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ब्रज के धार्मिक महा सुमेरु की जल–धाराओं का स्रोत मथुरा के धर्मप्राण नागरिकों का हृदय था; जिसकी परंपरा ब्रज में सदैव बनी रही। वही धर्मप्राण हृदय वैष्णव भक्ति के रूप में विकसित हुआ था। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में वैष्णव धर्म के अनेक आचार्यों और संतों ने ब्रजभूमि में अपने केन्द्र बना कर कृष्णोपासना के जिस नवीन भक्ति–धर्म का उपदेश दिया, उसकी कथा बहुत विशाल है। भगवान् श्रीकृष्ण की गोकुल–वृंदाबन की विविध लीलाओं को केन्द्र में रख कर उनके दिव्य लीलामय वपु का विकास श्रीमद्भागवत में पहिले ही पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। फिर उसके साथ भक्तिरस का संयोग भी पूर्ण मात्रा में आ गया था। मध्यकालीन आचार्यों और संतों ने उस भागवतीय भक्ति को नये रूप में इतना अधिक विकसित किया कि ब्रज की महिमा समस्त भारतवर्ष के जन–मानस में व्यापक रूप से बस गई। श्री बल्लभाचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण–भक्ति के उस स्वरूप का सर्वाधिक साक्षात्कार किया था। श्री बल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित सूरदास और परमानंददास ने तथा श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रेषित सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी ने साहित्य और जीवन के माध्यम से ब्रज में हरि–भक्ति की अमृत--धारा का प्रादुर्भाव किया। फिर तो उनके अन्य सहयोगियों के साथ ही साथ निंबार्कीय, माध्व, राधाबल्लभीय और हरिदासी आचार्यों एवं भक्त महानुभावों ने धर्मोपासना और भक्ति–साहित्य का दिव्य स्रोत ही बहा दिया। उस काल में देशज भाषाओं का पूरा विकास हो चुका था। उनके माध्यम से एक ओर चंडीदास और विद्यापति ने, दूसरी ओर नरसी मेहता और मीराबाई ने तथा बीच में तुलसीदास ने भक्ति धर्म की धारा को लोक के धरातल पर प्रबल वेग से प्रवाहित कर दिया था। उसके कारण वंगभूमि से लेकर राजस्थान–गुजरात तक की जनता भक्ति रस में शराबोर हो गई थी! उसका अधिकांश श्रेय ब्रज के धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन को है।

यद्यपि यमुना और गोबर्धन वाली ब्रज की सीमा परिमित है, तथापि भक्तों के आदर्श ब्रज लोक की सीमा का कोई अंत नहीं है। उन्होंने तो एक नया स्वर्ग ही रच दिया है, जिसे 'गोलोक' कहा जाता है। जिनके हृदय में भक्ति का रस है और जो उसकी सरसता का अनुभव करते हैं, उनके लिए ही ब्रज की वास्तविक सत्ता है—उनके लिए ही ब्रज का सच्चा माधुर्य है। जिस प्रकार भगवान् कृष्ण के लीला-वपु के अनेक रूप हैं, जिनका रसास्वादन प्रत्येक भक्त अपनी भावना के अनुसार करता है, उसी प्रकार भगवान् के गोलोक की कल्पना भी अनंत है। मथुरा, वृंदाबन, गोकुल और गोबर्धन सहित समस्त ब्रजभूमि इस लोक में उसका स्थूल प्रतीक है। कृष्ण मानव थे—ऐसा मान कर उनके ऐतिहासिक चरित् की छानबीन करने वाले लोगों का एक दृष्टिकोण है। वैष्णव धर्म के विविध आचार्यों का उनके संबंध में दूसरा दृष्टिकोण है। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं; किंतु कृष्ण ही नहीं, बुद्ध के भी लोकोत्तरवादी स्वरूप में ही सच्ची सरसता है। ऐतिहासिक घटना विजड़ित होती है; किंतु लोकोत्तर लीला का कोई अंत नहीं होता है। वह नित्य प्रबर्धमान् रहती है और मानव का हृदय उसे भक्ति-रस से सींचता रहता है। गोबर्धन-धारण एक लीला है, इंद्र का दर्प-भंग भी एक लीला है। इन्हें इतिहास की घटनाएँ मान कर इनका अन्वेषण करना बुद्धि का पराभव होगा।

ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास का सांगोपांग अनुसंधान जिज्ञासु पाठक के हृदय में एक विशेष प्रकार की तैयारी की अपेक्षा रखता है। उसके स्थूल और सूक्ष्म, प्रत्यक्ष और परोक्ष—दोनों ही संदेशों को सुनने की क्षमता चाहिए। कृष्ण मानव हैं—यह सत्य है और 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' यह भी सत्य है। किसी पक्ष को माना जाय, किंतु उसमें रस का अभाव नहीं होना चाहिए। तभी पाठकों के अन्तःकरण को उसका लाभ मिल सकता है। इस युक्ति की संप्राप्ति ही ब्रज संस्कृति के मर्म को खोलने की कुंजी है, या उसे जानने का दृष्टिकोण है।

अंत में मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि लेखक में हृदय-बल और बाहु-बल की वह शक्ति अक्षुण्ण रहे, जिससे इस सांस्कृतिक इतिहास का समस्त कार्य पूर्णतया सिद्ध हो सके!

—वासुदेवशरण

काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
चैत्र शु० ९ (रामनवमी), २०२३ वि०

दो शब्द

यदि आधुनिक भाषा में कहें तो संसार के महान्‌तम पुरुष, और यदि पारंपरीण भाषा में कहें तो पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌ श्री कृष्ण की जन्म–भूमि होने के कारण मथुरा (जिसमें समूची ब्रज भूमि का अंतर्भाव है) संसार की पुण्यतम भूमि है। भगवान्‌ ने जो प्रवंतन किया, जिसका सबसे प्रामाणिक रूप हमें श्रीमद्‌ भगवद्‌गीता में मिलता है, उसकी विशेषता यह है कि उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का ऐसा अपूर्व समन्वय है, जो अन्य किसी भी प्रवर्तन में नहीं पाया जाता। भगवान्‌ ने उस धर्म-संस्थापन द्वारा प्राणी को सत्‌–असत्‌ का विवेक, अपने अपने 'स्वकर्म' में अभिरति और उस अभिरति के रूप में भगवान्‌ की अभ्यर्चना करके संसिद्धि की—मोक्ष की—प्राप्ति तो वर्णनिष्ठ गृहस्थों के लिए, और सांसारिक विषयों में अनासक्ति पूर्वक भगवद्‌–भक्ति द्वारा निर्वाण–प्राप्ति निवृत्ति–मार्गियों के लिए उपदिष्ट किया। उन्होंने युधिष्ठिर द्वारा कुरु–राज्य में इसी धर्म की प्रतिष्ठा करा कर इसका प्रवर्तन वहाँ भी किया, जिसकी चर्चा जातकों में कुरु–धर्म नाम से पाई जाती हैं; जहाँ राजा से लेकर वेश्या तक—समाज की उच्चतम स्तर वाली प्रजा से लेकर निम्नतम स्तर की प्रजा तक—अपने अपने 'स्वधर्म' में निरत है और उसके द्वारा अभ्युदय (ऐहिक संसिद्धि) और निश्रेयस्‌ (पारमार्थिक संसिद्धि) प्राप्त करती है।

स्वयं कृष्ण के अपने जत्थे ने अर्थात्‌ यादवों की सात्वत नामक खाँप ने भी उनका यह धर्म ग्रहण किया, इसी कारण इसका नाम 'सात्वत धर्म' भी मिलता है। जब, कृष्ण के लीला–विस्तार के उपरांत यादव, द्वारका से पुनः मथुरा लौट आये, तो मथुरा इस धर्म का केन्द्र हुआ। यूनानी लेखकों वाले वृतांतों के जो छिन्न–भिन्न अंश प्राप्त हैं, उनसे पता चलता है कि ई० पूर्व ५–४ शती में मथुरा नगरी ही इस धर्म का केन्द्र थी। फिर तो जैन और बौद्ध धर्मों ने भी मथुरा को अपना केन्द्र बनाया। भारतीय आर्य धर्म के विभिन्न संप्रदायों की यही समन्वयात्मक प्रवृत्ति रही है कि उनके केन्द्र बहुधा एकत्र रहे हैं; ,काशी, प्रयाग, अयोध्या, गया आदि इनके उदाहरण हैं; वायु पुराण के एकसौ ग्यारहवें अध्याय में उन्मुक्त उल्लेख है कि वहाँ का अश्वत्थ वृक्ष ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बोधि–वृक्ष इन चारों रूपों में पूजित होता था।

निदान, कनिष्क के समय में मथुरा में बौद्ध धर्म का अभूतपूर्व अभ्युदय हुआ। विजेता शक राज को भारतीय धर्म ने विजित बना लिया और राजधर्म होने के कारण उसने मथुरा में उत्कृष्ट कलात्मक रूप धारण किया; किंतु कृष्ण–धर्म भी अटल बना रहा। कनिष्क के पौत्र का नाम वासुदेव इस बात का साक्षी है कि वैष्णव धर्म की छाप शकों पर लग चुकी थी। कृष्ण का धर्म सदा से इस विषय में उन्मुक्त और उदार रहा है। उसके बाद वाली शतियों में क्या गुप्त काल में क्या पूर्व–मध्य काल में मथुरा की श्री ज्यों की त्यों बनी रही और सुलतान काल में अनेक सर्दी–गर्मियों का सामना करते हुए उसने कभी अपना मस्तक नत नहीं किया!

पंद्रहवीं शती से तो मथुरा में वैष्णव धर्म के जागरण की पूरी लहर आ गई। यही क्यों, कहना यह चाहिए कि उस लहर की चूड़ामणि मथुरा रही। सर्वश्री बल्लभ, चैतन्य, हित हरिवंश आदि सभी आचार्यों ने ब्रज–रज रमा कर ही अपने प्रवर्तन किए। साथ ही संगीत-साहित्य मुख्यतः ब्रज भाषा के गेय पदों का जो कुवेर–भंडार उन महानुभावों के अनुग्रह से हमें प्राप्त हुआ, वह भारत की ही नहीं, संसार की एक अपूर्व और अमर निधि है। वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत के युग–पुरुष तानसेन ब्रज भूमि के स्वामी हरिदास की ही देन हैं।

भगवान् की भावपूर्ण सेवा–पूजा और उसके कारण समस्त ललित कलाओं एवं सुकुमार शिल्पों की जो उन्नति मथुरा में हुई, उसी का प्रभाव हम राजस्थानी और पहाड़ी चित्र कला तथा अन्य कलाओं और सभी प्रकार की सुरुचि में पाते हैं। समस्त भारतीय कला का मेरु–दंड भगवान् का लीलावपु ही है। क्या साहित्य, क्या संगीत, क्या चित्र कला, क्या मूर्ति कला, क्या अन्य ललित कला—सभी लीला वपुधारी कृष्ण पर आधृत हैं। फलतः इन सभी सुकुमार शिल्पों का उत्स मथुरा एवं ब्रज भूमि है।

ऐसी मथुरा नगरी, ब्रज भूमि सुतरां शूरसेन जनपद के विषय में ज्ञानकोशात्मक साहित्य की अत्यंत वांछा और अपेक्षा है। स्वनाम–धन्य ग्राउस महोदय ने १९वीं शती में इस कार्य का आरंभ किया; किंतु उनका वह कार्य एक तो पहला प्रयत्न था दूसरे विदेशी भाषा में; फलतः उसके लाभ से जनता वंचित ही रही।

अब हमारे प्रिय बंधु श्री प्रभुदयाल जी मीतल बद्ध–परिकर होकर इस महत् प्रयास में जुट गए और अनेक वर्षों के सतत परिश्रम से उन्होंने कई खंडों में जो 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' प्रस्तुत किया, वह निस्संदेह अनुपम है और अपूर्व है। मथुरा निवासी होने के कारण, वैष्णव होने के कारण, मर्मज्ञ होने के कारण और साथ ही सुरुचि–संपन्न होने के कारण यह काम उन्हीं के बूते का था और उन्होंने इसे रूप–स्वरूप के साथ पूरा किया है। इसके लिए वे हम सबके बधाई और साधुवाद के पात्र हैं।

मुझे विश्वास है, उनके इस श्लाध्य परिश्रम का समुचित आदर होगा। इतना ही नहीं, इस कृति के अनुकरण पर काशी, अयोध्या, हरद्वार और तीर्थराज प्रयाग पर भी ज्ञानकोशात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की जावेंगी। उत्तर प्रदेश का यह अहोभाग्य है कि सप्त महापुरियों में से चार यहीं हैं। स्वयं तीर्थराज प्रयाग अपने ही प्रदेश में विराजते हैं, और भारत का मुकुटमणि वदरी विशाल भी यहीं का पुण्य धाम है।

मुझे यह भी विश्वास है कि मीतल जी के इस ग्रंथ–रत्न का समुचित समादर तो होगा ही, साथ ही उनके इस पथ का अनुसरण हमारे लेखकों की उदीयमान पीढ़ी अवश्य करेगी और ऐसी परिश्रम–साध्य कृतियों से ही हिंदी साहित्य के भंडार को समृद्ध बनावेगी।

भारत कला भवन,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, —राय कृष्णदास
वैशाख कृ० ११ (श्री वल्लभ जयंती), २०२३ वि०

विषय-सूची

ब्रज संस्कृति की भूमिका

★

प्रथम अध्याय

ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व

विषय … पृष्ठ

ब्रज-नामकरण और उसका अभिप्राय— … १
  - व्युत्पत्ति और अर्थ … १
  - अर्थ-विकास … ३

ब्रज का विस्तार— … ४
  - पौराणिक आधार … ४

ब्रज के विविध रूप— … ७
  - १. राजनैतिक ब्रज … ७
  - २. धार्मिक ब्रज … ८
    - सांप्रदायिक ब्रज … ९
    - आध्यात्मिक ब्रज … १०
  - ३. सांस्कृतिक ब्रज … १४
  - ४. भाषायी ब्रज … १६

विषय … पृष्ठ

ब्रज का प्राचीन गौरव— … १९
  - हिंदू ग्रंथों के उल्लेख और अनुश्रुतियाँ … १९
  - जैन-बौद्ध ग्रंथों के उल्लेख और अनुश्रुतियाँ … २०
  - यमुना और गोबर्धन की महत्ता … २१
  - सप्तपुरियों में मथुरा की गणना … २२
  - चार धामों का ब्रज से संबंध … २३
  - ब्रज प्रदेश के आदर्श आचार-विचार … २३
  - ब्रज की आध्यात्मिकता के सूत्र … २३
  - ब्रज-प्रशस्ति … २४

द्वितीय अध्याय

ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन

  - उल्लेख और सूचनाएँ … २६
  - ब्रजभूमि की रचना … २६

पर्वत— … २७
  - १. गोबर्धन पहाड़ी … २७
  - २. नंदगाँव की पहाड़ी … २८
  - ३. बरसाना की पहाड़ी … २९
  - ४. कामबन की पहाड़ी … २९
  - ५. चरण पहाड़ी … २९
    - टीले … २९

नदी— … ३०
  - यमुना … ३०
    - उद्गम … ३१
    - प्राचीन प्रवाह … ३१
    - आधुनिक प्रवाह … ३३
    - ब्रज में यमुना का प्रवाह और उसके तटवर्ती स्थान … ३३
  - अन्य नदियाँ … ३५
    - पटवाह … ३५
    - करबन … ३५
    - सेंगर और सिरसा … ३५
    - बानगंगा और गंभीर … ३५
  - लुप्त नदियाँ … ३५
    - सरस्वती नदी … ३५
    - कृष्ण गंगा … ३६
    - तथाकथित गंगाएँ … ३६
    - मानसीगंगा, अलखगंगा, चरणगंगा ३६

विषय ··· पृष्ठ

विविध जलाशय— ··· ··· ३६
- झील ··· ··· ३६
  - १. नौहझील, २. मोतीझील, ३ कीठमझील, ४. मोतीझील (दूसरी), ५ केवलाझील ··· ३६
- सरोवर ··· ··· ३६
  - १. पान सरोवर, २. मान सरोवर, ३. चंद्र सरोवर, ४. प्रेम सरोवर ३६
- कुंड ··· ··· ३७
- ताल ··· ··· ३७
- पोखर ··· ··· ३७
- बावड़ी ··· ··· ३८
- कूप ··· ··· ३८
- घाट ··· ··· ३८

बन— ··· ··· ३९
- ब्रज के १२ बन ··· ··· ३९
- ब्रज के २४ उपबन ··· ४२
- अन्य बन ··· ··· ४२
- बनों की वर्तमान स्थिति ··· ४२
- बनों के अवशेष ··· ··· ४२
  - निधुबन ··· ··· ४३
  - सेवाकुंज ··· ··· ४३
  - कदमखंडी ··· ··· ४३
- अन्य रमणीक स्थान ··· ४३
  - पिसायौ ··· ··· ४४
  - बंध बारैठा ··· ··· ४४

विषय ··· पृष्ठ

बन—वैभव— ··· ··· ४४
- वृक्ष ··· ··· ४४
  - धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व के वृक्ष ··· ४५
  - फलदार वृक्ष ··· ··· ४६
  - फूलदार वृक्ष ··· ··· ४७
  - तरकारी के वृक्ष और बेलें ··· ४७
  - अन्य प्रकार के वृक्ष और झाड़ ··· ४८
  - वृक्षारोपण योजना ··· ४८

जलवायु— ··· ··· ४९
- ऋतुओं का प्रभाव ··· ४९
  - ऋतुओं की विषमता ··· ४९

सिंचाई के साधन— ··· ··· ५०
- १. यमुना (आगरा) नहर ··· ५०
- ३. गंगा (मांट शाखा) नहर ··· ५१
- ३. गंगा (हाथरस शाखा) नहर ··· ५१

उपज— ··· ··· ५१
- खेती ··· ··· ५१
- खनिज पदार्थ ··· ··· ५१

यातायात के साधन— ··· ५२
- रेल मार्ग ··· ··· ५२
  - मध्य रेलवे ··· ··· ५२
  - पश्चिम रेलवे ··· ··· ५२
  - पूर्वोत्तर रेलवे ··· ··· ५२
  - उत्तर रेलवे ··· ··· ५२
- सड़क मार्ग, जल मार्ग ··· ५२

तृतीय अध्याय

ब्रज के पशु-पक्षी और जीव-जंतु

जंगली पशु ··· ··· ५३

पालतू पशु ··· ··· ५४
- गाय ··· ··· ५४
- अन्य पालतू पशु ··· ५६

पक्षी ··· ··· ५६
- पालतू और लोकप्रिय पक्षी ··· ५६
- मोर ··· ··· ५७
- अन्य प्रिय पक्षी ··· ५७
- प्रिय पक्षियों का उल्लेख ··· ५७
- जंगली और अप्रिय पक्षी ··· ५८
- पक्षी और लोक विश्वास ··· ५८
- पक्षियों की उपयोगिता ··· ५८
- जलचर जीव ··· ··· ५८

कीट—पतंग ··· ··· ५९

चतुर्थ अध्याय

ब्रज की मानव जातियाँ

विषय … पृष्ठ
वर्ण और जातियाँ … ६०
ब्रज की जातियाँ और उनका वर्गीकरण … ६०
लुप्तप्राय प्राचीन जातियाँ— … ६१
  यक्ष … … ६१
  नाग … … ६३
  आभीर … … ६५
वर्तमान प्राचीन जातियाँ— … ६७
  यादव … … ६७
  अहीर … … ६८
  गूजर … … ७०
  जाट … … ७०
द्विजातियाँ— … … ७४
  ब्राह्मण … … ७४
    'चतुर्वेदी' या 'चौवे' … ७५
विषय … पृष्ठ
  भार्गव … … ७६
  अहिवासी … … ७६
  मैथिल … … ७७
  ब्राह्मण वृति की अन्य जातियाँ … ७७
क्षत्रिय … … ७७
  खत्री … … ७८
वैश्य … … ७८
  अग्रवाल … … ७८
अन्य जातियाँ— … … ८०
  शूद्र … … ७९
  अन्त्यज या दस्यु … … ८१
    चमार … … ८२
  मुसलमान … … ८२
  घुमंतू जातियाँ … … ८२

पंचम अध्याय

ब्रज संस्कृति के उपकरण

'संस्कृति' और उसका अभिप्राय … ८३
  सभ्यता और संस्कृति में भेद … ८३
भारतीय संस्कृति में ब्रज संस्कृति का स्थान … ८४
ब्रज संस्कृति का निर्माण और उसकी विशेषता … ८४
उपकरणों की उद्भावना … ८५

ब्रज की सांस्कृतिक यात्रा

महत्व और परंपरा— … … ८६
  आकर्षण और कठिनाइयाँ … ८७
ऐतिहासिक पृष्ठभूमि— … … ८७
  निंवार्क और माध्व संप्रदायों की प्रेरणा … … ८७
  बल्लभ संप्रदायी आचार्यों का आरंभिक योग … ८८
  चैतन्य संप्रदाय का प्रयास … ८८
  नागा जी और केशवजी का नियम … ८९
  गो० विट्ठलनाथ जी की ब्रज–यात्रा … … ८९
  यात्रा का विस्तार … ९०
  औरंगजेब की दमन–नीति का दुष्परिणाम … … ९१
  ब्रज–यात्रा का पुनः प्रचलन … ९१
ब्रज–यात्रा संबंधी ग्रंथ— … ९१
  चीनी यात्रियों के विवरण … ९१
  मथुरा कल्प … … ९२

विषय पृष्ठ

श्री ब्रज–यात्रा खंड ··· ९२
ब्रज–मथुरा प्रकाश ··· ९२
ब्रज–यात्रा श्लोक ··· ९३
श्री चैतन्य–चरितामृत ··· ९३
ब्रज–भक्ति–विलास ··· ९४
वृहत्–ब्रज–गुणोत्सव ··· ९४
श्री गुसाईं जी की ब्रज–यात्रा सं० १६०० की ··· ९४
श्री गुसाईं जी की बज–यात्रा सं० १६२४ की ··· ९५
श्री गुसाईं जी की यात्रा सं० १६२८ की ··· ··· ९५
बीकानेरी यात्रा विवरण ··· ९५
श्री वृंदाबन धामानुरागावली ··· ९६
ब्रज–परिक्रमा ··· ··· ९६
श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव ··· ९६
ब्रज–यात्रा किंवा बन–यात्रा— ··· ९७
ब्रज–यात्रा ··· ··· ९७
बन–यात्रा ··· ··· ९७
यात्रा के बन–उपबन ··· ९७
ब्रज–यात्रा के प्रकार ··· ··· ९७
प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा ··· ९८
प्रदक्षिणा परिमाण ··· ९८
दंडौती परिक्रमा ··· ··· ९९
बड़ी यात्रा— ··· ··· ९९
यात्रा की तैयारी ··· ··· ९९
प्रबंध व्यवस्था ··· ··· ९९
यात्रा का नियम ··· ··· १००
अंतरगृही परिक्रमा ··· १०१
१. मधुवन (भाद्रपद शु० १३)— ··· १०१
तालबन, कुमुदबन ··· १०२
२. सतोहा–शांतनुकुंड (भाद्रपद शु० १४–१५) ··· १०२
३ बहुलाबन (आश्विन कृ० १–२) ··· १०२
४. कुसुमसरोवर (आश्विन कृ० ३)— १०३
कुसुमसरोवर, ··· ··· १०४
मुखराई ··· ··· १०५
ग्वालियर वाला मंदिर ··· १०६
५. गोबर्धन–चंद्रसरोवर (आश्विन कृ० ४–५)— ··· १०६
मानसीगंगा, श्री हरिदेव जी ··· १०७
श्री लक्ष्मीनारायण जी ··· १०८
श्री चक्रेश्वर महादेव ··· १०८
मनसादेवी, नंददास का स्थल ··· १०९
नीमगाँव, दानघाटी ··· १०९
चंद्रसरोवर ··· ··· १०९
परासोली, जमुनावतौ, पैंठा, ··· १०९
आन्यौर ··· ··· १०९
संकर्षणकुंड, गोविंदकुंड, ··· ११०
नागाजी की समाधि ··· १११
पूँछरी ··· ··· १११
अप्सराकुंड, पूँछरीकौ लौठा ··· १११
कृष्णदास का कूआ, ··· १११
सुरभीकुंड ··· ··· १११
६ जतीपुरा (आश्विन कृ० ६–१२)— १११
श्रीनाथ जी का मंदिर, ··· ११२
मुखारविंद, तुलसी क्यार ··· ११२
सात स्वरूपों के मंदिर, ··· ११३
श्यामढाक, हरजीकुंड ··· ११३
गोस्वामियों की समाधियाँ ··· ११३
ताज का चबूतरा, कदमखंडी ··· ११३
रुद्रकुंड, बिलछूकुंड ··· ११३
अष्टछाप के पुण्य स्थल ··· ११४
गुलालकुंड, गांठोली ··· ११५
टोड़ का घना ··· ··· ११५
७. डीग (आश्विन कृ० १३–१४)— ११५
८. घाटा (आश्विन कृ० ३०)— ११६
९. कामबन (आश्विन शु० १–३)— ··· ११६
कामबन और उसके दर्शनीय स्थल ··· ··· ११६

विषय पृष्ठ
कामेश्वर मंदिर,चौरासीखंभा ११७
व्योमासुर गुफा,पंच पांडव ··· ११७
विविध देवमूर्तियाँ और देव स्थान ··· ११७
श्री गोकुलाचंद्रमा जी ··· ११७
श्री मदनमोहन जी ··· ११७
कुंड, सरोवर, कूपादि ··· ११८
विमला कुंड, धर्म कुंड ··· ११८
चरण पहाड़ी ··· ११८
१०. बरसाना (आश्विन शु० ३–५)— ११८
बरसाना और उसका मंदिर ··· ११८
लाड़िली जी का मंदिर ··· ११९
बरसाने के निकटवर्ती स्थल ··· ११९
विलासगढ़, दानगढ़, मानगढ़ ··· १२०
मोरकुटी, सांकरीखोर, गह्वरबन १२०
जयपुरवाला मंदिर,भानोखर ··· १२०
सुनहरा की कदमखंडी, ऊंचागाँव १२१
कमई, करहला ··· १२१
बरसाने के उत्सव ··· १२१
११. संकेत (आश्विन शु० ६)— ··· १२२
प्रेम सरोवर ··· ··· १२२
१२. नंदगाँव (आश्विन शु० ७–९)— १२२
नंदगाँव और उसके दर्शनीय स्थल ··· १२२
नंदराय जी का मंदिर, बूढ़ेबाबू १२२
एक प्राण दो देह, नंदीश्वर ··· १२३
हाऊ–बिलाऊ, दधिमंथन मांट १२४
खिरक, पावन सरोवर ··· १२४
रीठौरा, आंजनोख, पिसाया ··· १२४
खदिरबन, उद्धव क्यारी ··· १२४
१३. बड़ी बठैन (आश्विन शु० १०)— १२५
जाव, कोकिलाबन ··· १२५
छोटी बठैन ··· ··· १२५
१४. कोटबन (आश्विन शु० ११)— १२५
कामर, दुर्वासा आश्रम ··· १२६
दहगाँव, रासौली ··· १२६

विषय पृष्ठ
१५. कोसी (आश्विन शु० १२)— ··· १२६
चमेलीवन, शेषशायी ··· १२७
१६. पैंगाम (आश्विन शु० १३)— ··· १२७
फालैन ··· ··· १२७
१७. शेरगढ़ (आश्विन शु० १४)— ··· १२७
१८. चीरघाट (आश्विन शु० १५)— ··· १२८
रामघाट ··· ··· १२८
१९. बच्छवन–सेई (कार्तिक कृ० १)— १२८
प्रथम मार्ग के प्रमुख स्थल ··· १२९
भद्रबन, मुंजबन, भांडीरबन ··· १२९
मांट, बेलबन ··· ··· १२९
द्वितीय मार्ग के प्रमुख स्थल ··· १३०
सेई, नरी–सेंमरी, ··· १३०
चौमुहा–आझई, जैत, ··· १३०
छटीकरा–गरुड़गोविंद ··· १३०
२०. वृंदाबन (कार्तिक कृ० २–४)— १३०
वृंदाबन और उसका महत्व ··· १३०
नाम का अभिप्राय ··· १३१
वर्तमान वृंदाबन,अधिष्ठात्रीदेवी १३२
वृंदाबन के दर्शनीय स्थल ··· १३३
केशीघाट, चीरघाट,कालीदह १३३
दावानल कुंड, शृंगारबट ··· १३३
वंशीवट, निधुबन, सेवाकुंज ··· १३४
रासमंडल, ज्ञानगूदड़ी, ब्रह्मकुंड १३४
वृंदाबन के मंदिर-देवालय ··· १३५
श्री गोविंददेव जी ··· १३५
श्रीमदनमोहन जी ··· १३५
श्री गोपीनाथ जी ··· १३६
श्री युगलकिशोर जी ··· १३६
श्री राधाबल्लभ जी ··· १३७
श्री राधादामोदर जी ··· १३७
श्री राधारमण जी ··· १३७
श्री राधाविनोद जी ··· १३७
श्री राधामदनमोहन जी ··· १३७
श्री श्यामसुंदर जी ··· १३७

विषय पृष्ठ
श्री बांकेविहारी जी ··· १३७
श्री रसिकविहारी जी ··· १३८
श्री गोरेलाल जी ··· १३८
टट्टी संस्थान के ठाकुर ··· १३८
श्री गोपेश्वर महादेव ··· १३८
श्री बनखंडी महादेव ··· १३८
मीराबाई का मंदिर ··· १३८
श्री रामजी का मंदिर ··· १३९
लालाबाबू का मंदिर ··· १३९
रंगजी का मंदिर ··· १३९
ब्रह्मचारी जी का मंदिर ··· १४०
शाहजी का मंदिर ··· १४०
अन्य मंदिर, अन्य दर्शनीय स्थल १४०
भतरौड़—अक्रूर घाट ··· १४१
मानसरोवर, पानीगाँव ··· १४१
२१. लोहबन (कार्तिक कृ० ६)— ··· १४१
आनंदी और वंदी ··· १४२
२२. बलदेव (कार्तिक कृ० ७)— ··· १४२
२३. गोकुल (कार्तिक कृ० ८)— ··· १४२
महाबन और उसके दर्शनीय स्थल १४२
श्यामलला मंदिर, छटी पालना १४३
योगमाया मंदिर, तृणावर्तारि १४३
महामल्लराय, मथुरानाथ जी १४३
चिंताहरण, ब्रह्मांड घाट ··· १४४
यमलार्जुन, पूतनाखार ··· १४४
रमणरेती ··· ··· १४४
महाबन के उत्सव—मेले ··· १४५
गोकुल और उसके दर्शनीय स्थल १४५
श्री गोकुलनाथ जी का मंदिर ··· १४७
श्री राजाठाकुर का मंदिर ··· १४७
श्री गोपाललाल जी मंदिर ··· १४७
मोरवाला मंदिर ··· १४७
घाट, बैठकें, उत्सव—मेले ··· १४८
कर्णावल, कोइला ··· १४८
रावल ··· ··· १४८

विषय पृष्ठ
मथुरा की परिक्रमा— ··· १४९
मथुरा के घाट ··· ··· १४९
विश्रामघाट, ··· ··· १४९
सतीबुर्ज, दुर्वासा आश्रम ··· १५१
घाटों के मंदिर—देवालय ··· १५१
चर्चिकादेवी, बटुक भैरव ··· १५१
श्री दाऊजी—मदनमोहन जी १५२
श्री गोकुलनाथ जी ··· १५२
ध्रुव टीला, नारद टीला, ··· १५२
नाग टीला, बलि टीला ··· १५२
सप्तर्षि टीला ··· ··· १५२
परिक्रमा के दर्शनीय स्थल ··· १५३
रंगभूमि, रंगेश्वर महादेव ··· १५३
सप्तसमुद्री कूप, नसवारा कूआ १५३
बनखंडेश्वर हनुमान, गायत्री टीला १५३
शिवताल, कंकाली टीला ··· १५४
बलभद्रकुंड, भूतेश्वर महादेव ··· १५४
पोतराकुंड ··· ··· १५४
मल्हपुरा ··· ··· १५५
श्री केशवदेव जी का मंदिर ··· १५५
महाविद्या, रामलीला मैदान ··· १५६
सरस्वती नाला, सरस्वतीकुंड ··· १५६
चामुंडदेवी, गोकर्णेश्वर ··· १५६
गणेशघाट, दशाश्वमेधघाट ··· १५७
सरस्वती संगम घाट ··· १५८
अंबरीषटीला, चक्रतीर्थघाट ··· १५८
सोमतीर्थ घाट, वैकुंठघाट ··· १५८
कृष्णगंगा घाट ··· १५८
धारापत्तन घाट, घंटाभरणघाट १५८
कंस किला ··· ··· १५८
संयमनघाट, संतघाट ··· १५९
असिकुंडा घाट ··· १५९
श्री द्वारिकाधीश जी का मंदिर १५९
श्री गतश्रमनारायण जी
का मंदिर ··· ··· १६०

षष्ट अध्याय

ब्रज की रास लीला

विषय ... पृष्ठ

- रास की रूपरेखा— १६१
  - स्वरूप और उद्देश्य ... १६१
  - परिभाषा और पर्याय ... १६१
  - नृत्य और लीला १६२
    - नृत्य १६२
    - लीला १६२
    - लीलानुकरण १६३
- रास का प्रादुर्भाव— ... १६३
  - रूप और अर्थ का विस्तार ... १६४
  - उल्लेख और परंपरा ... १६४
- संस्कृत साहित्य में रास— ... १६४
  - हरिवंश १६५
  - विविध–पुराण १६५
  - श्रीमद्भागवत १६६
    - रास पंचाध्यायी ... १६६
  - ब्रह्मवैवर्त पुराण १६८
  - गर्ग संहिता १६८
  - नाटक और काव्य ... १६८
- जैन धर्म और साहित्य में रास— १६९
- प्रेरणा और प्रचलन— ... १७०
- वैष्णव संप्रदायों में रास के आरंभकर्त्ता—१७०
  - 'रास सर्वस्व' का कथन ... १७१
    - श्री लाडलीशरण रासधारी का कथन १७४
    - उक्त कथनों की समीक्षा ... १७५
  - श्री बल्लभाचार्य जी ... १७६
  - स्वामी हरिदास जी ... १७९
  - श्री घमंडदेव जी १८०
  - श्री नारायण भट्ट १८२
  - श्री हित हरिवंश जी ... १८५
  - रासलीलानुकरण का वातावरण १८९
- रासलीला का व्यापक प्रचार— ... १९०

विषय ... पृष्ठ

- रास–रसिक भक्तजन— ... १९१
  - श्री हरिराम जी व्यास ... १९१
  - श्री प्रबोधानंद जी १९२
  - श्री विट्ठलविपुल जी ... १९२
  - नरवाहन जी १९३
  - विट्ठलदास जी १९३
  - अलि भगवान १९३
  - भगवानदास तँवर १९३
  - राजा रामरयन १९३
  - श्रीनाथ भट्ट १९३
  - प्रयागदास १९३
  - गिरिधर ग्वाल १९३
  - खड़गसेन जी १९३
  - जयमल जी १९४
  - सुलखान जी १९४
- रासधारी और रास–मंडलियाँ— ... १९४
  - व्यवसायी रास मंडलियाँ ... १९४
    - मोहनदास की मंडली ... १९५
    - किशोरीदास की मंडली ... १९६
  - भक्तों की रास–मंडलियाँ ... १९७
    - बालकृष्ण–तुलाराम और बालकृष्ण स्वामी ... १९७
    - बालकृष्ण स्वामी की रास मंडली १९७
    - चंदसखी की रास–मंडली ... १९७
    - उदयकरण–खेमकरण की रास–मंडली १९८
  - ब्रज के अन्य स्थानों की रास मंडलियाँ १९८
- रासलीला के प्रदर्शन— ... १९८
  - जेम्स टाड का उल्लेख ... १९९
  - टामस डुएट ब्रोटन का उल्लेख ... १९९
  - ग्राउस का उल्लेख ... १९९

विषय पृष्ठ

रास और नैतिकता— ... २००
नैतिकता के प्रति शंका और उसका समाधान २००
रास की धार्मिक भावना ... २००
वर्तमान विद्वानों का दृष्टिकोण २०१
रास का प्राचीन रूप–विधान— ... २०२
हल्लीशक और रास ... २०२
जैनियों का रास २०२
रूप–विधान की प्रेरणा और उसके मध्यकालीन उल्लेख— ... २०३
नरसी मेहता का उल्लेख ... २०३
विदेशी दर्शकों के उल्लेख ... २०३
जेम्स टाड का कथन ... २०३
टामस डुएट ब्रोटन का कथन ... २०४
ग्राउस का कथन ... २०५
नारविन हवेन का कथन ... २०६
रासलीला का वर्तमान रूप–विधान— २०६
'नित्य रास' का नृत्य–विधान ... २०६
'लीला' का नाट्य–विधान ... २०९
लीलाओं का साहित्य ... २११
रास का संगीत २११
रास के वाद्य यंत्र ... २१२
ब्रजभाषा का रास–साहित्य— ... २१२
रास साहित्य का प्रेरणा–स्रोत ... २१२
कुंभनदास २१३
सूरदास २१३
कृष्णदास २१४
परमानंददास २१४
नंददास २१४
गोविंदस्वामी २१६
छीतस्वामी २१६
चतुर्भुजदास २१६
विष्णुदास २१६
आसकरन २१६
गदाधर मिश्र २१७

विषय पृष्ठ

धोंधी २१७
गंगाबाई (विट्ठल गिरिधरन) ... २१७
गो० हरिराय जी (रसिक प्रीतम) २१७
हित हरिवंश जी २१७
हरिराम व्यास जी ... २१८
दामोदर स्वामी २१९
चंदसखी २१९
विजय सखी २२०
चाचा वृंदाबनदास ... २२०
ध्रुवदास २२१
नागरीदास २२१
गो० दामोदरचंद्र ... २२२
गो० रूपलाल २२२
वंशी अलि २२२
श्रीभट्ट जी २२३
हरिव्यास जी २२३
रूपरसिक जी २२३
वृंदावनदेव जी २२३
गोविंदशरण जी २२४
स्वामी हरिदास जी ... २२४
बिहारिनदास जी २२४
नागरीदास जी २२५
सरसदास जी २२५
नरहरिदास जी २२५
भगवत रसिक जी ... २२५
आनंदघन जी २२६
रामराय जी २२६
सूरदास मदनमोहन जी ... २२६
गदाधर भट्ट जी २२६
माधुरी जी २२७
ललितकिशोरी जी ... २२७
ब्रजवासी दास २२८
नारायण स्वामी २२८

सप्तम अध्याय

ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले

विषय पृष्ठ
उद्भावना और आधार ··· २२९
सांस्कृतिक एकीकरण के सूचक ··· २२९
प्रकृति-परिवर्तन के प्रतीक ··· २२९
ब्रज में उत्सवों का आधिक्य ··· २३०
ब्रज के उत्सवों की धार्मिक भावना २३०
बसंत ऋतु (फाल्गुन-चैत्र) के उत्सव-त्यौहार ··· ··· २३०
बसंतोत्सव ··· ··· २३०
शिव चौदस ··· ··· २३१
होलिकोत्सव ··· ··· २३२
होली की परंपरा ··· २३२
होली का वातावरण ··· २३४
होली की धूमधाम ··· २३४
मंदिरों की होली ··· २३५
'होली-धमार' का गायन ··· २३६
गाँवों की होली ··· २३७
बरसाने की होली ··· २३७
नंदगाँव की होली ··· २३८
फालैन की होली ··· २३९
दाऊजी की होली ··· २३९
जाब-बठैन की होली ··· २४०
जतीपुरा की होली ··· २४०
आन्यौर की होली ··· २४०
ऊमरी-रामपुर का चिरकला नृत्य २४०
फूलडोल ··· ··· २४१
चौपई ··· ··· २४१
ब्रह्मोत्सव ··· ··· २४१
माता-पूजन ··· ··· २४१
गणगौर ··· ··· २४२
नववर्ष ··· ··· २४३
देवी-पूजन ··· ··· २४३
लांगुरिया ··· ··· २४३
नरी-सेंमरी की देवी ··· २४४

विषय पृष्ठ
साँचौली देवी ··· ··· २४४
कैला देवी ··· ··· २४४
यमुना छठ ··· ··· २४५
देवी अष्टमी ··· ··· २४५
रामनवमी ··· ··· २४५
महावीर जयंती ··· २४५
हनुमान जन्मोत्सव ··· २४५
वैशाख तथा ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ़) के उत्सव-त्यौहार ··· ··· २४६
अक्षय तृतीया ··· ··· २४६
जानकी नवमी ··· ··· २४६
नृसिंह चतुर्दशी ··· ··· २४६
वैशाखी पूर्णिमा ··· ··· २४७
बन-विहार ··· ··· २४७
जल-विहार ··· ··· २४७
गंगा दशहरा ··· ··· २४७
निर्जला एकादशी ··· ··· २४७
बट-पूजन ··· ··· २४८
शीतला का मेला ··· ··· २४८
रथ-यात्रा ··· ··· २४८
भड़रिया नौमी ··· ··· २४८
देवशयनी एकादशी ··· २४८
व्यास पूर्णिमा ··· ··· २४९
वर्षा ऋतु (श्रावण-भाद्रपद) के उत्सव-त्यौहार ··· ··· २४९
मंदिरों के झूले और घटाएँ ··· २५०
रास और कीर्तन ··· २५१
लोक जीवन में झूलोत्सव ··· २५२
हरियाली अमावस ··· २५३
हरियाली तीज ··· ··· २५३
बलदेव-जन्मोत्सव ··· २५३
पंचतीर्थी ··· ··· २५३
नाग पंचमी ··· ··· २५३

विषय पृष्ठ

ब्रह्मकुंड का मेला ··· २५४
पवित्रा एकादशी ··· २५४
श्रावणी अथवा सलूना ··· २५४
जन्माष्टमी ··· ··· २५५
नंदोत्सव ··· ··· २५६
हरतालिका तीज ··· ··· २५६
गणेश चौथ ··· ··· २५६
ऋषि पंचमी ··· ··· २५६
बलदेव छट ··· ··· २५६
राधाष्टमी ··· ··· २५७
वामन द्वादशी ··· ··· २५७
ब्रज–यात्रा ··· ··· २५७
मटुकी लीला ··· ··· २५७
अनंत चौदस ··· ··· २५७
तैराकी का मेला ··· ··· २५८
स्वाधीनता दिवस ··· २५८
शरद ऋतु (आश्विन–कार्तिक) के उत्सव–त्यौहार ··· ··· २५८
पितृ पक्ष ··· ··· २५९
साँझी ··· ··· २५९
मंदिरों में साँझी–प्रदर्शन ··· २५९
भक्ति काव्य में साँझी–कथन २५९
साँझी का लोकोत्सव ··· २६०
टेसू तथा झाँझी ··· ··· २६१
नवरात्रि व्रत ··· ··· २६२
न्यौरता ··· ··· २६२
विजयादशमी अथवा दशहरा ··· २६३
रामलीला ··· ··· २६३
ओली पर्व ··· ··· २६४
शरद पूर्णिमा ··· ··· २६४
करुवा चौथ ··· ··· २६४
अहोई आठैं ··· ··· २६५

विषय पृष्ठ

धन तेरस ··· ··· २६६
रूप चौदस ··· ··· २६६
दीपावली ··· ··· २६७
दीपावली की परंपरा ··· २६७
लोक जीवन में दीवाली ··· २६९
धर्म–स्थानों में दीवाली ··· २६९
गोबर्धन–पूजा और अन्नकूट ··· २७०
गोबर्धन की लोक–पूजा ··· २७१
यमद्वितीया अथवा भैयादोज ··· २७२
गोपाष्टमी ··· ··· २७२
अक्षय नवमी ··· ··· २७३
कंस का मेला ··· ··· २७३
प्रबोधिनी अथवा 'देवोठान' ··· २७३
तुलसी विवाह ··· ··· २७४
गंगा पूर्णिमा ··· ··· २७४
स्वामी का मेला ··· ··· २७४
कार्तिक न्हान ··· ··· २७४
हेमंत–शिशिर ऋतु (अगहन–पौष–माघ) के उत्सव–त्यौहार ··· ··· २७४
भैरव जयंती ··· ··· २७५
विहार पंचमी ··· ··· २७५
गीता जयंती ··· ··· २७५
व्यंजन द्वादशी ··· ··· २७५
मार्गशीर्ष पूर्णिमा ··· ··· २७५
धनुर्मास ··· ··· २७५
मकर संक्रांति ··· ··· २७५
माघ स्नान ··· ··· २७६
गणेश चतुर्थी ··· ··· २७६
षट् तिला एकादशी ··· २७६
मौनी मावस ··· ··· २७६
दुर्वासा का मेला ··· ··· २७६
जखैया का मेला ··· ··· २७६

विषय-सूची

●

प्रथम अध्याय

आदि काल

विषय पृष्ठ
प्राक्कथन— १
परिभाषा १
साधन— १
सामग्री १

१. प्रागैतिहासिक काल

वैदिक संस्कृति और शूरसेन प्रदेश २
स्वायंभुव मनु और सरस्वती नदी ३
ध्रुव का तपस्या स्थल ... ३
ऋषभदेव का स्थान ... ३
जैन अनुश्रुति ४
बौद्ध अनुश्रुति ४
वैवस्वत मनु और उनके वंशज ... ४
ययाति और चंद्रवंश ... ५
शूरसेन प्रदेश के प्राचीन शासक ... ५
मधुबन और लवण ... ५
मथुरा की स्थापना ... ६
'शूरसेन' का नामकरण ... ६
यादवों के वंशज और उनके राज्य का विस्तार ७
अंधक वंश और वृष्णि वंश ... ८

२. कृष्ण काल

काल के संबंध में ऊहा-पोह— ... १०
ज्योतिष का प्रमाण ... १०
पुरातत्त्व का प्रमाण ... ११
इतिहास का प्रमाण ... १२
कृष्ण-चरित्र के विविध स्रोत— ... १२
प्राचीनतम संस्कृत साहित्य ... १२
जैन साहित्य १३
बौद्ध साहित्य १४
घट जातक की कृष्ण-कथा ... १४
घट जातक के कथन से श्री कृष्ण के चरित्र का अंतर १६
यूनानी लेखकों के उल्लेख ... १६
कृष्ण-चरित्र के प्रमुख ग्रंथ— ... १७
महाभारत १७
महाभारत का रचना-काल ... १९
हरिवंश १९
विविध-पुराण २०
अग्नि पुराण २१
पद्मपुराण २१
विष्णु पुराण और ब्रह्म पुराण २१
भागवत पुराण २२
ब्रह्मवैवर्त पुराण २२
ब्रह्मवैवर्त की रचना और उसका रचयिता ... २३
पुराणेतर ग्रंथ २४
देवी भागवत २४
गोपालतापनी उपनिषद् ... २४
गर्ग संहिता २४
निष्कर्ष २६
श्री कृष्ण के संबंध में भ्रम और ... उसका निवारण— ... २७
कई कृष्णों की कल्पना ... २७
कृष्ण और क्राइस्ट ... २७
कृष्ण की ऐतिहासिकता ... २७

विषय पृष्ठ
कृष्ण–जन्म की पृष्ठभूमि— ... २८
अवतारवाद की मान्यता ... २८
तत्कालीन स्थिति ... २९
श्री कृष्ण के जीवन के कुछ तिथि–संवत् ३०
राधा का अनुसंधान ... ३२
श्री कृष्ण का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत ३५
जन्म-स्थान ३५
जन्म और आरंभिक जीवन ... ३५
गोकुल का शैशव काल ... ३६
गोकुल से वृंदाबन को ... ३७
वृंदाबन का निवास और बाल लीलाएँ ३७
बाल नटखटी ३८
गोचारण ३८
कालिय नाग का दमन ... ३८
चीर हरण ३९
गोवर्धन पूजा ३९
दान ४०
केलि–क्रीडा और रास ... ४०
कंस की कूट नीति ... ४१
वृंदाबन से प्रस्थान ... ४१

विषय पृष्ठ
मथुरा–आगमन ४२
कुब्जा–मिलन ४३
हाथी और मल्लों का बध ... ४३
कंस–बध ४३
गोपों की विदा ४४
मथुरा का संघर्षपूर्ण जीवन ... ४४
जरासंध से युद्ध ... ४५
मथुरा से निष्क्रमण ... ४५
जरासंध के आक्रमण के उपरांत मथुरा की स्थिति ... ४७
द्वारका का राजकीय जीवन ... ४७
श्री कृष्ण की रानियाँ और उनका वंश ४७
पांडव–कौरव ४९
महाभारत का भीषण युद्ध और उसका दुष्परिणाम ... ५०
कृष्ण का अंतिम काल और यादवों की दुर्दशा ... ५०
श्री कृष्ण का तिरोधान ... ५१
द्वारका का अंत ... ५१
पांडवों का महाप्रस्थान ... ५२
श्री कृष्ण का अनुपम महत्व ... ५२

३. कृष्णोत्तर और बुद्धपूर्व काल

(कलियुग के आरंभ से विक्रमपूर्व सं० ५६६ तक)

परीक्षित का शासन और नागों की प्रबलता ५३
जनमेजय का शासन और नाग-यज्ञ ५३
नाग यज्ञ का स्थल ... ५३
जनमेजय के उत्तराधिकारी ... ५३
मथुरा पर वज्रनाभ का शासन ... ५४
श्री कृष्ण के लीला-स्थलों की खोज ५४
वज्रनाभ के परवर्ती राजागण ... ५४
यदुवंशियों का राज्य विस्तार ... ५५
पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण में फैलाव ... ५५
अगस्त्य मुनि और दक्षिण के यादव राज्य ५५
जैन धर्म की अनुश्रुति ... ५६
यादवों के अन्य राज्य ... ५६

४. बुद्ध काल से मौर्यपूर्व काल तक

(विक्रमपूर्व सं० ५६६ से विक्रमपूर्व सं० २६८ तक)

विषय … पृष्ठ

युगांतरकारी धार्मिक क्रांति … ५७

उस काल के विभिन्न राज्य … ५७

शूरसेन तथा मथुरा के तत्कालीन राजा … … ५८

अवंतिपुत्र … … ५८

  अवंति और मथुरा के राज्यों का पारस्परिक संवंध … ५९

भगवान बुद्ध और शूरसेन प्रदेश— … ६०

  बुद्ध का जीवन–वृत्तांत और धर्मोपदेश … … ६०

  बुद्ध का मथुरा–आगमन … ६०

  मथुरा-आगमन का मार्ग … ६२

  वेरंजा की स्थिति … … ६२

  वेरंजा की पहिचान … ६२

  ओतला और उरुमुंड की पहिचान ६४

  बुद्ध की पहली मथुरा–यात्रा और उसका काल … ६६

  बुद्ध की दूसरी मथुरा-यात्रा और उसका काल … ६७

  मथुरा का बुद्ध तीर्थ … ६७

भगवान महावीर और शूरसेन प्रदेश— ७६

  महावीर का जीवन–वृतांत और जैन धर्म … … ६७

  जैन तीर्थंकरों का मथुरा से संबंध ६८

  पार्श्वनाथ और मथुरा … ६८

  भगवान महावीर और मथुरा … ६९

  जम्बू स्वामी और मथुरा का सिद्ध क्षेत्र … … ६९

मगध साम्राज्य का शूरसेन पर प्रभाव— ७०

  शिशुनाग वंशीय सम्राट … ७०

  नंदवंशीय सम्राट … … ७०

  सिकंदर का आक्रमण … ७०

  नंद वंश का पतन और मौर्य वंश का उदय … ७०

५. मौर्य-शुंग काल

(विक्रमपूर्व सं० २६८ से विक्रमपूर्व सं० ४३ तक)

चंद्रगुप्त और चाणक्य … ७१

मैगस्थनीज का शूरसेन संबंधी … उल्लेख— … … ७१

  'मेथोरा' और 'क्लीसोवोरा' की पहिचान … … ७१

अशोक … … ७२

  शूरसेन में बौद्ध स्तूपों का निर्माण ७३

उपगुप्त … … ७३

  वासवदत्ता का आख्यान … ७३

मौर्य साम्राज्य की समाप्ति और शुंग सम्राटों का उदय … ७३

शुंग सम्राट पुष्यमित्र … ७४

  शुंगवंशीय सम्राटों का शासन काल … … ७४

  शूरसेन का महत्व … ७४

  यूनानियों की स्थिति … ७५

  होलियोदोर और गरुडध्वज … ७५

मिनेंडर … … ७५

कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ— … ७६

  राष्ट्र, राज्य और साम्राज्य … ७६

  राज्य प्रशासन … … ७७

  राजा और उसके कर्तव्य … ७७

  युवराज … … ७८

  मंत्री–मंडल … … ७८

  समिति और सभा … ७८

  निर्वाचन और मतदान … ७९

  राष्ट्र–रक्षा और सैनिक प्रबंध … ७९

  युद्ध के देवता और उनके शस्त्रास्त्र ७९

विषय … पृष्ठ
युद्ध कला … … ८०
बारूदी अस्त्र … … ८०
सेना और उसके चार अंग … ८१
जलपोत और नौसेना … ८१
वायु यान … … ८२
सामाजिक व्यवस्था … ८२
वस्त्राभूषण … … ८३
विषय … पृष्ठ
शिक्षा … … ८३
आर्थिक अवस्था … … ८३
पशु पालन … … ८३
कृषि … … ८३
व्यापार–वाणिज्य … … ८४
स्थानीय स्वशासन … … ८४

द्वितीय अध्याय

पूर्व मध्य काल

(विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ६०० तक)

१. शक काल

(विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ९७ तक)

शक जाति … … ८५
शकों का निवास स्थान … ८५
शकों के भारतीय राज्य … ८६
शकों के राज्य विस्तार की जैन अनुश्रुति … ८६
शकों का 'मथुरा राज्य' और उसके 'महाक्षत्रप'— … … ८७
राजुवुल … … ८७
शोडास … … ८७
शकों की पराजय … … ८८
मालव गण का विजयोत्सव … ८८
विक्रमादित्य और विक्रम संवत् … ८८
क्या विक्रमादित्य कल्पित व्यक्ति थे ? … … ८९
विक्रमादित्य और विक्रम संबंधी समस्या और उसका समाधान ९०
मथुरा में शक शासक की समाप्ति ९०
दत्त राजवंश का उदय और अंत ९०

२. कुषाण काल

(विक्रम सं० ९७ से सं० २३३ तक)

कुषाण जाति और उसके राजा— … ९१
विम तक्षम … … ९१
कनिष्क … … ९२
शक संवत् … … ९२
परवर्ती कुषाण राजा … ९४
कुषाण शासन में मथुरा राज्य की स्थिति … … ९४
कुषाण शासन की समाप्ति … ९५

३. नाग काल

(सं० २३३ से सं० ४०० के लगभग तक)

नाग जाति और भारशिव नाग— … ९५
भारशिव नागों के राज्य और उनके राजा … ९५
मथुरा के नाग राजा … ९६
वीरसेन नाग … … ९६
परवर्ती नाग राजा और नाग-शासन की समाप्ति … ९७
नाग शासन में मथुरा राज्य की स्थिति ९७

४. गुप्त काल

(सं० ४०० से सं० ६०० तक)

विषय पृष्ठ

गुप्त राजवंश का उदय और गुप्त सम्राट— ९८
- समुद्र गुप्त ··· ··· ९८
  - दिग्विजय ··· ··· ९९
  - राज्य शासन ··· ··· ९९
- रामगुप्त ··· ··· १००
- चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ··· १००
  - शकों की पूर्ण पराजय ··· १०१
  - राज्य शासन ··· ··· १०१
    - मथुरा की स्थिति ··· १०१
  - चंद्रगुप्त द्वारा निर्मित कृष्ण—जन्मस्थान का मंदिर ··· १०१
  - विष्णुपद गिरि का विष्णुध्वज १०२
- कुमार गुप्त ··· ··· १०३
- स्कंद गुप्त ··· ··· १०४

विषय पृष्ठ

- परवर्ती गुप्त सम्राट ··· १०४
- गुप्त साम्राज्य की समाप्ति ··· १०४
- हूण और उनके आक्रमण ··· १०४
  - हूणों द्वारा मथुरा की लूट ··· १०५
- यशोधर्मन का प्रादुर्भाव और हूणों की पराजय ··· ··· १०६
- विक्रमादित्यों की परंपरा ··· १०७

कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ— ··· १०८
- राष्ट्र रक्षा और धर्मोन्नति ··· १०८
- प्रशासनिक और सैनिक व्यवस्था १०९
- आर्थिक अवस्था और समृद्धि ··· ११०
- रहन—सहन ··· ··· ११०
- वस्त्राभूषण और साज—शृंगार ··· ११०
- आमोद—प्रमोद ··· ··· ११०

तृतीय अध्याय

मध्य काल

(विक्रम सं० ६०० से १२६३ तक)

मौखरी—बर्धन राज्य और कन्नौज की महत्व—वृद्धि— ··· ··· १११
- मौखरी राजवश ··· ··· १११
- बर्धन राजवंश ··· ··· १११
  - कन्नौज का महत्व ··· १११

१. बर्धन काल

(विक्रम सं० ६४० से ७०४ तक)

प्रभाकरबर्धन ··· ··· ११२
- प्रभाकरबर्धन की मृत्यु और थानेश्वर की स्थिति ··· ११२
- कन्नौज का संकट ··· ११३

हर्षबर्धन ··· ··· ११३
- थानेश्वर और कन्नौज दोनों का राज्याधिकार ··· ११४
- योग्यता और शासन ··· ११४
- मृत्यु और महत्व ··· ११५

हुएनसांग और उसकी भारत-यात्रा ११५
- सम्राट हर्षबर्धन से भेंट ··· ११५
- यात्रा-वृत्तांत ··· ··· ११६
- मथुरा—आगमन ··· ११६
- मथुरा राज्य और मथुरा नगर संबंधी उल्लेख ··· ११६

२. हर्षोत्तर काल

(विक्रम सं० ७०४ से सं० ८१० तक)

विषय पृष्ठ
युगांतरकारी घटनाएँ ··· ११८
हर्ष के उत्तराधिकारी ··· ११८
विषय पृष्ठ
अर्जुन ··· ··· ११८
यशोवर्मन ··· ··· ११८

३. राजपूत काल

(विक्रम सं० ८१० से सं० १२६३ तक)

राजपूत जातियाँ और उनके राज्य— ११९
- राजपूतों की विभिन्न जातियाँ ··· ११९
- राजपूतों के विविध राज्य ··· १२०
- कनौज के प्रतिहार वंशी राजा ··· १२०
  - नाग भट्ट ··· ··· १२०
  - मिहिरभोज, महेन्द्रपाल, महिपाल १२१
- प्रतिहार राज्य का ह्रास और अंत १२१
- मथुरा राज्य की तत्कालीन स्थिति १२१

मुसलमानी आक्रमण— ··· १२२
- इस्लाम का उदय और प्रचार ··· १२२
- सिंध पर आक्रमण ··· १२२
- पश्चिमोत्तर सीमांत से आक्रमण ··· १२३
  - 'हिंदूशाही' राजाओं की परंपरा और मुसलमानों से संघर्ष ··· १२३
  - 'हिंदूशाही' राजाओं की पराजय १२४
- महमूद ग़ज़नबी ··· ··· १२४
  - गज़नवी–आक्रमणों के लेखक और उनके ग्रंथ ··· १२५
  - गज़नबी के आक्रमण ··· १२६
  - महाबन का युद्ध ··· १२६
  - मथुरा नगर की भीषण लूट ··· १२७
  - कृष्ण–जन्म स्थान के मंदिर का ध्वंस ··· ··· १२८
- कुलचंद्र ··· ··· १२८
  - कुलचंद्र के अस्तित्व का अनुसंधान १२९

मथुरा के ध्वंस की प्रतिक्रिया ··· १३०
- गंडदेव का प्रतिरोध ··· १३१
- सोमनाथ के मंदिर का ध्वंस ··· १३१

महमूद के परवर्ती राजपूत राज्य और उनके राजा ··· १३१
- गोविंदचंद्र, विजयपाल ··· १३२
- वासुदेव कृष्ण का मंदिर ··· १३२

जयचंद्र और पृथ्वीराज ··· १३२
- 'पृथ्वीराज रासो' और जयचंद–पृथ्वीराज की कलह ··· १३३
- 'आल्हखंड' और महोबा का युद्ध १३५
- 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हखंड' १३५

मुहम्मद गोरी ··· ··· १३५
- गोरी के आक्रमण ··· १३६
- गोरी और पृथ्वीराज का युद्ध १३६
- पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु १३७
- जयचंद्र की पराजय और वीरगति १३७
- गोरी के अन्य आक्रमण ··· १३८
- गोरी की मृत्यु और मुसलमानी राज्य की स्थापना ··· १३८

कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ— ··· १३९
- राजनैतिक स्थिति ··· ··· १३९
- धार्मिक स्थिति ··· ··· १४०
- राजपूतों की पराजय और मुसलमानों की सफलता का कारण १४०

चतुर्थ अध्याय

उत्तर मध्य काल

(विक्रम सं० १२६३ से सं० १८८३ तक)

विषय पृष्ठ
मुसलमानी राज्य की स्थापना ··· १४३
विषय पृष्ठ
दिल्ली की राजकीय परंपरा ··· १४३

१. सल्तनत काल

(विक्रम सं० १२६३ से १५८३ तक)

१. गुलाम वंश [सं० १२६३-१३४७]— १४४
कुतुबुद्दीन ··· ··· १४४
इल्तमश ··· ··· १४४
२. खिलज़ी वंश [सं० १३४७-१३७६]– १४५
अलाउद्दीन ··· ··· १४५
अमीर खुशरू ··· ··· १४५
३. तुग़लक वंश [सं० १३७७-१४७०]– १४६
मुहम्मद तुग़लक ··· १४६
फीरोज़ तुग़लक ··· १४६
तैमूर का आक्रमण ··· १४६
४. सैयद वंश [सं० १४७१-१५०८]– १४७
५. लोदी वंश [सं० १५०८-१५८३]– १४७
सिकंदर लोदी ··· ··· १४७
कृष्ण-जन्म स्थान के मंदिर का ध्वंस ··· ··· १४७
इब्राहीम लोदी ··· ··· १४८
सुलतानी शासन में मथुरामंडल (ब्रज) की स्थिति— ... ··· १४८
ब्रज या ब्रजमंडल नाम का प्रचलन १४८
सुलतानों द्वारा ब्रज का उत्पीड़न १४८
धर्म-स्थानों का ध्वंस ··· १४८
ग़ैर मुस्लिमों पर अत्याचार ··· १४९
वैष्णव धर्माचार्यों का साहसपूर्ण अभियान— ··· ··· १५०
धर्माचार्यों का ब्रज–आगमन ··· १५०
केशव काश्मीरी भट्ट ··· १५०
माधवेन्द्र पुरी ··· ··· १५०
महाप्रभु बल्लभाचार्य ··· १५१
चैतन्य महाप्रभु ··· ··· १५१
मथुरा के विश्रामघाट की यंत्र–बाधा ··· ··· १५१
श्रीनाथ जी की सेवा और उनका मंदिर ··· ··· १५४
श्रीनाथ जी को टोड़ के घने में छिपाना ··· ··· १५६

२. मुगल काल

(सं०१५८३ से १८०५ तक)

इस काल का सिंहावलोकन ··· १५७
मुगल राजवंश ··· ··· १५७
बाबर ··· ··· १५७
पानीपत का युद्ध और इब्राहीम की पराजय ··· ··· १५८
राणा सांगा और बाबर का युद्ध १५८
मुगल राज्य की स्थापना और बाबर की मृत्यु ··· १५९
हुमायू ··· ··· १६०
शेरशाह सूर ··· ··· १६०
शेरशाह के उत्तराधिकारी ··· १६१
हेमचंद्र ··· ··· १६२
हिंदू राज्य की स्थापना का विफल प्रयास ··· १६२
ब्रजमंडल का आकर्षण— ··· १६३
कृष्णोपासक भक्तों की अभिलाषा ··· १६३

विषय पृष्ठ
बल्लभ सम्प्रदायी भक्तों का ब्रज-वास १६४
'अष्टछाप' की स्थापना ··· १६४
चैतन्य संप्रदायी भक्तों द्वारा ब्रज का अनुसंधान ··· १६४
हित हरिवंश जी का वृंदाबन-निवास १६५
अन्य भक्तों का ब्रज–वास ··· १६६
अकबर (शासन सं० १६१३-१६६२)— १६६
आरंभिक जीवन ··· ··· १६६
हिंदुओं से सद्व्यवहार और राजपूतों से वैवाहिक संबंध ··· १६७
आगरा में राजधानी का निर्माण १६७
आगरा का किला ··· १६९
सीकरी में राजधानी का स्थानान्तरण १६९
दरबारी नवरत्न ··· ··· १७०
१. महाराजा मानसिंह ··· १७०
२. राजा टोडरमल ··· १७२
३. राजा बीरबल ··· १७५
४. रहीम ख़ानख़ाना ··· १७५
५. तानसेन ··· ··· १७९
धार्मिक नीति ··· ··· १८०
इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण ··· १८१
ब्रज के हिंदुओं के साथ उदारता १८१
तीर्थ-कर और जज़िया बंद ··· १८१
धर्म स्थानों के निर्माण की आज्ञा १८२
गो–बध पर रोक ··· १८३
धार्मिक विद्वानों और संतों का सत्संग ··· ··· १८४
गो० विट्ठलनाथ जी का सन्मान ··· १८४
ब्रज के महात्माओं की उपेक्षा-वृत्ति १८६
हिंदू धर्म का प्रभाव ··· १८७
दीन इलाही ··· ··· १८८
विद्या, साहित्य और कलाओं का संरक्षण ··· ··· १९०
आमोद–प्रमोद और मनोरंजन ··· १९१
शराब और तंबाकू ··· १९१

विषय पृष्ठ
प्रशासन व्यवस्था ··· ··· १९१
आर्थिक स्थिति ··· ··· १९२
अंतिम काल और मृत्यु ··· १९२
जहाँगीर (शासन सं० १६६२–१६८४)— १९४
आरंभिक जीवन ··· ··· १९४
जनता में घबराहट ··· १९४
खुसरो का विद्रोह ··· ··· १९४
शाही परिवार ··· ··· १९६
प्रशासन ··· ··· १९६
न्याय ··· ··· १९६
राजधानी की स्थिति ··· १९७
प्लेग का प्रकोप ··· ··· १९७
व्यक्तित्व और चरित्र ··· १९८
मदिरा–पान की लत ··· १९८
शराबबंदी की आज्ञा ··· १९८
साहित्य और कला के प्रति अभिरुचि ··· ··· १९८
ब्रजमंडल की दशा ··· ··· १९९
मथुरा की लूट ··· ··· १९९
ग्रामीणों का विद्रोह ··· १९९
ब्रज के जंगलों में शिकार ··· २००
माला–तिलक पर रोक ··· २००
गो० गोकुलनाथ जी का का सफल प्रयास ··· ··· २००
गोसाईं जदरूप की प्रेरणा ··· २०२
राजा वीरसिंह और मथुरा में मंदिर निर्माण ··· ··· २०३
श्री केशवराय जी का मंदिर ··· २०३
अंतिम काल और मृत्यु ··· २०६
शाहजहाँ (शासन सं० १६८४–१७१५)—२०६
प्रारंभिक काल और प्रशासन ··· २०६
निर्माण कार्य ··· ··· २०७
ताजमहल ··· ··· २०७
तख़्त ताऊस ··· ··· २०९
कलाभिरुचि ··· ··· २१०

विषय पृष्ठ

राजधानी का स्थानान्तरण ... २१०

धार्मिक नीति २१०

ब्रज की स्थिति २११

दारा शिकोह २११

शाहजहाँ की बीमारी और उनके पुत्रों का संघर्ष ... २१२

अंतिम काल और मृत्यु ... २१२

औरंगजेब (शासन सं० १७१५-१७६४) — २१३

प्रशासनिक नीति २१३

महाराज यशवंतसिंह ... २१४

यशवंतसिंह की छतरी ... २१५

मिर्जा राजा जयसिंह ... २१५

शिवाजी २१६

हिंदुओं का दमन २१९

अब्दुलनबी का कठोर शासन ... २१९

ब्रज में विद्रोह २२०

ब्रज के मंदिरों का ध्वंस २२१

देव–मूर्तियों का स्थानान्तरण २२१

विषय पृष्ठ

जजिया का पुनर्प्रचलन ... २२१

ब्रज के नामों का परिवर्तन ... २२२

साहित्य, संगीत और कला संबंधी दृष्टिकोण २२२

औरंगजेब की मृत्यु और उसकी नीति का दुष्परिणाम ... २२३

परवर्ती मुगल सम्राट (शासन सं० १७६४–१८०५) — २२४

राज्याधिकार के लिए संघर्ष ... २२४

आज़मशाह २२४

बहादुरशाह (सं० १७६४–१७६९) २२४

मुहम्मदशाह (सं० १७७६–१८०५) २२५

सवाई राजा जयसिंह ... २२५

नादिरशाह का आक्रमण ... २२७

नादिरशाही और ब्रज ... २२८

मुहम्मदशाह की मृत्यु ... २२८

अंतिम मुगल सम्राट ... २२८

३. जाट-मरहठा काल

(सं० १८०५ से सं० १८८३ तक)

जाट–मरहठा राज–शक्तियाँ ... २२९

जाटों का राजनैतिक महत्व ... २२९

जाट शासन की पृष्ठभूमि ... २२९

राजाराम की हलचलें ... २३०

जाट–मुगल संघर्ष ... २३१

चूड़ामन द्वारा जाटों का संघटन २३२

बदनसिंह (शासन सं० १७७९–१८१२) — २३३

सूरजमल (शासन सं० १८१२-१८२०) — २३३

दिल्ली की लूट २३४

मरहठों की हलचलें ... २३५

अब्दाली के आक्रमण ... २३५

ब्रज की भीषण लूट ... २३६

लूट के पश्चात २३९

पानीपत का युद्ध ... २३९

जाटों की शक्ति का विस्तार ... २४०

सूरजमल का अंतिम युद्ध और उसकी मृत्यु... ... २४१

सूरजमल का महत्व और मूल्यांकन २४२

जवाहरसिंह (शासन सं० १८२०-१८२५)–२४३

दिल्ली अभियान... ... २४५

जाट राज्य की गौरव–वृद्धि ... २४६

पुष्कर–यात्रा और मृत्यु ... २४७

जवाहरसिंह का मूल्यांकन ... २४७

जाट राज्य का ह्रास (सं० १८२५-१८६२) २४८

जाट–मुगल संघर्ष ... २४९

रणजीतसिंह (सं० १८३२-१८६२)— २४९

ब्रज की दुर्दशा २५०

माधवजी (महादजी) सिंधिया ... २५१

विषय पृष्ठ
माधव जी की ब्रज को देन ... २५३
हिम्मत बहादुर ... २५३
ब्रज में अंगरेजों की सैनिक हलचलें २५४
जाट–अंगरेज युद्ध ... २५५
रणजीतसिंह के उत्तराधिकारी ... २५५
भरतपुर की पराजय और ब्रज पर अंगरेजों का अधिकार ... २५६

विषय पृष्ठ
परवर्ती जाट राजा ... २५६
जाट राजाओं का वंश-वृक्ष ... २५७
उपलब्धियाँ और अभाव— ... २५८
इस काल का महत्व ... २५८
राजनैतिक स्थिति का सिंहावलोकन २५८
धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति की समीक्षा २६१

पंचम अध्याय

आधुनिक काल

(विक्रम सं० १८८३ से सं० २०२२ तक)

अंगरेजी कंपनी का शासन— ... २६२
भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना २६३
ब्रज पर अंगरेजों का अधिकार ... २६३
अंगरेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह ... २६४
ब्रज में विद्रोही हलचलें ... २६५
कंपनी शासन की समाप्ति ... २६६

१. बृटिश काल

(विक्रम सं० १९१५ से सं० २००४ तक)

बृटिश शासन में ब्रज की स्थिति— ... २६७
प्रशासनिक परिवर्तन ... २६७
जन–जीवन पर भला-बुरा प्रभाव २६७
धार्मिक दुर्दशा और सांस्कृतिक अवनति २६८
ब्रज संस्कृति के सहायक महानुभाव— २६८
मथुरा का सेठ घराना २६८
गोकुलदास पारिख ... २६८
द्वारकाधीश का मंदिर ... २६९
सेठ मनीराम २७०
चौरासी का जैन मंदिर ... २७०
सेठ लक्ष्मीचंद २७०
सांस्कृतिक और जनोपयोगी कार्य २७१
श्री रंगजी का मंदिर ... २७१
हवेली और उद्यान ... २७१
विविध कार्य २७२
लक्ष्मीचंद के उत्तराधिकारी ... २७२
राजा लक्ष्मणदास २७२
लक्ष्मणदास के वंशज ... २७३
मुनीम मंगीलाल ... २७३
लाला नारायणदास ... २७३
लाला श्रीनिवासदास ... २७३
सेठ घराने का वंशवृक्ष ... २७४
ब्रज के समृद्धिशाली भक्त जन— ... २७५
कृष्णचंद्र सिंह (लाला बाबू) ... २७५
नंदकुमार वसु २७६
शाह कुंदनलाल (ललित किशोरी) २७७
शाहजी का मंदिर ... २७७
राजा पटनीमल २७८
शिवताल २७८
वीरभद्र का मंदिर ... २७८
दीर्घविष्णु का मंदिर ... २७९
पोद्दार परिवार २७९
सेठ जयनारायण—
लक्ष्मीनारायण... ... २७९
गोविंददेव जी का मंदिर ... २८०
प्रेम सरोवर का मंदिर ... २८०
सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ... २८०

विषय पृष्ठ

ब्रज के सांस्कृतिक और धार्मिक महापुरुष— ... २८०
ज्यो० अमरलाल २८१
ज्यो० माधवलाल २८१
ज्यो० शिवप्रकाश २८१
दंडी विरजानंद २८२
स्वामी दयानंद २८३
दंडी जी के अन्य शिष्य ... २८६
श्री ग्राउस २८६
नारायण स्वामी २८७
बलवंतराव सिंधिया ... २८७
गणपतिराव सिंधिया ... २८७
मधुसूदन गोस्वामी ... २८७
राधाचरण गोस्वामी ... २८८
गोपाललाल गोस्वामी ... २८८
सेठ हरप्रसाद (डीग वाला) ... २८९
बनमाली बाबू (तराश वाला) ... २८९
ब्रज के कतिपय भक्तजन— ... २९०
श्यामदास जी २९०
रामदास जी (काठिया बाबा) ... २९०
संतदास जी (काठिया बाबा) ... २९०
ग्वारिया बाबा २९१

विषय पृष्ठ

अवधदास जी २९२
बाबा रामकृष्णदास जी ... २९२
आनंदीबाई जी २९२
उड़िया बाबा २९२
ब्रज के कतिपय विद्वत् जन— ... २९३
पं० कृष्ण शास्त्री २९३
पं० दुर्गादत्त जी २९३
दुलारेप्रसाद जी शास्त्री ... २९३
किशोरीलाल गोस्वामी ... २९४
अमोलकराम जी शास्त्री ... २९४
पं० किशोरदास जी ... २९४
सुदर्शनाचार्य जी २९४
धरणीधर जी २९४
जन-जागरण और राष्ट्रीय आंदोलन— २९५
नव जागृति के अग्रदूत ... २९५
ब्रज में नव जागरण ... २९५
नेशनल कांग्रेस की स्थापना और उसके आरंभिक अधिवेशन ... २९५
देश सेवकों की उग्र नीति और सरकारी दमन ... २९५
महात्मा गांधी का नेतृत्व और बृटिश शासन की समाप्ति ... २९६

२. स्वाधीनता काल

(विक्रम सं० २००४ से सं० २०२२ तक)

स्वाधीनता-प्राप्ति की प्रतिक्रिया— ... २९६
हर्ष और विषाद २९६
शासन का संचालन और देश का निर्माण— ... २९७
जटिल समस्याएँ और उनका समाधान ... २९७
ब्रज की राजनैतिक स्थिति ... २९७
ब्रज का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण— ... २९८

अनुक्रमणिका

१. ब्रज संस्कृति की भूमिका— ... १
नामानुक्रमणिका १
ग्रंथानुक्रमणिका १३
२. ब्रज का इतिहास— ... १
नामानुक्रमणिका १
ग्रंथानुक्रमणिका १२
सहायक ग्रंथ— i

चित्र-सूची

ब्रज संस्कृति की भूमिका

सं० चित्र पृष्ठांक
१. सांप्रदायिक
(ब्रजयात्रा क्षेत्र का मानचित्र) ... ९
२. आध्यात्मिक ब्रज
(ब्रज कमल का रेखाचित्र) ... १०
३. सांस्कृतिक ब्रज
(ब्रजमंडल का मानचित्र) ... १२
४. भाषायी ब्रज
(ब्रजभाषा क्षेत्र का मानचित्र) ... १७
५. गोसाईं विट्ठलनाथ जी ... ८८
६. श्री नागा जी ८९
७. राधाकुंड १०४
८. मानसी गंगा १०४
९. गोबर्धनधारी मूर्ति ... १०६
१०. गोवर्धनधारी चित्र ... १०७
११. श्रीनाथ जी का स्वरूप ... ११२
१२. श्रीनाथ जी के रूप में
गिरिराज जी का 'कुनवाड़ा' ... ११३
१३. बरसाना १२०
१४. बरसाना में लाड़िली जी का मंदिर १२०
१५. नंदगाँव १२१
१६ नंदगाँव पहाड़ी पर नंदराय जी
का मंदिर १२१
१७. वृंदाबन १३४
१८. निधुबन १३४
१९. श्री गोविंददेव जी का प्राचीन मंदिर १३५
२०. श्री मदनमोहन जी का प्राचीन मंदिर १३५
२१. श्री बाँकेबिहारी जी का मंदिर ... १३८
२२. शाह जी का मंदिर ... १३८
२३. श्री रंगजी का मंदिर ... १३९
२४. श्री रंगजी के मंदिर का रथ ... १३९

सं० चित्र पृष्ठांक
२५. मथुरा नगर १५०
२६. मथुरा नगर का तिलकद्वार ... १५०
२७. विश्रामघाट १५१
२८. सती का बुर्ज १५१
२९. कंस का किला १५८
३०. श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर ... १५८
३१. श्री द्वारकाधीश जी का स्वरूप ... १५९
३२. श्री द्वारकाधीश जी का हिंडोला १५९
३३. बाघ की गुफा में 'हल्लीसक' का
रेखाचित्र १६४
३४. रासलीला का आधुनिक चित्र ... १६४
३५. श्री वल्लभाचार्य जी ... १७६
३६. स्वामी हरिदास जी ... १७६
३७. हित हरिवंश जी १९०
३८. वृंदाबन का रासमंडल ... १९१
३९. श्री हरिराम जी व्यास ... १९१
४०. अष्टछाप
(गो० विट्ठलनाथ जी सहित) ... २१२
४१. सूरदास (भावावेश की मुद्रा में) ... २१३
४२. कुंभनदास (चतुर्भुजदास को
कीर्तन की शिक्षा देते हुए) ... २१६
४३. गोविंदस्वामी (तानसेन को
कीर्तन की शिक्षा देते हुए) ... २१६
४४. गो० हरिराय जी २१७
४५. श्री विट्ठलविपुल जी ... २२४
४६. राजा नागरीदास २२४
४७. श्री बिहारिनदास जी ... २२४
४८. श्री गदाधर भट्ट २२५
४९. मथुरा के मंदिर में
श्रावण के झूले और घटाएँ ... २५०

चित्र-सूची

ब्रज का इतिहास

सं० चित्र पृष्ठांक
१. भगवान् ऋषभदेव ... ४
२. भगवान बुद्ध (खड़े हुए) ... ५
३. भगवान बुद्ध (बैठे हुए) ... ६६
४. हुएनसांग ६६
५. जैन तीर्थंकर ६७
६. कुषाण राज पुरुष... ... ९४
७. मानवाकार नाग मूर्ति ... ९५
८. श्री केशव काश्मीरी भट्ट
(यंत्र-बाधा दूर करते हुए) ... १५०
९. यंत्र-बाधा का स्थल विश्रामघाट १५०
१०. महाप्रभु बल्लभाचार्य ... १५१
११. चैतन्य महाप्रभु और नित्यानंद प्रभु १५१
१२. सम्राट अकबर १७०
१३. महाराजा मानसिंह ... १७०
१४. राजा टोडरमल १७१
१५. राजा बीरबल १७१
१६. मुंशी अबुलफज़ल... ... १७१
१७. संगीत-सम्राट तानसेन ... १८०
१८. गोसाईं विट्ठलनाथ जी
(न्यायाधीश के वेश में) ... १८६
१९. अकबर-हरिदास भेंट
(स्वामी हरिदास जी के समक्ष
तानसेन बैठे हैं, अकबर खड़े हैं)... १८७
२०. गोसाईं गोकुलनाथ जी ... २००
२१. संत जदरूप २००

सं० चित्र पृष्ठांक
२२. ओरछा-नरेश वीरसिंह देव ... २०१
२३. शाहजहाँ का दरबार ... २०८
२४. ताजमहल २०९
२५. दारा शिकोह २०९
२६. मिर्ज़ा राजा जयसिंह ... २१६
२७. छत्रपति शिवाजी २१६
२८. सवाई राजा जयसिंह ... २१७
२९. चूड़ामन २३२
३०. बदनसिंह २३२
३१. सूरजमल २३३
३२. भरतपुर का किला ... २३३
३३. जवाहरसिंह २४८
३४. जवाहरसिंह द्वारा निर्मित
कुसुम सरोवर पर सूरजमल की छतरी २४८
३५. रणजीत सिंह २४९
३६. माधव जी (महादजी) सिंधिया ... २४९
३७. भरतपुर के किले पर अंगरेजों की
मोर्चाबंदी (मानचित्र) ... २५४
३८. यशवंतराव होल्कर ... २५४
३९. रणधीरसिंह २५५
४०. रणधीरसिंह की रानी लक्ष्मी
द्वारा निर्मित लक्ष्मीघाट और
लक्ष्मीरानी कुंज.... ... २५५
४१. भरतपुर किले का द्वार ... २५६
४२. जाट राजाओं का सम्मिलित चित्र २५७

प्रथम खंड

ब्रज संस्कृति की भूमिका

प्रथम अध्याय

ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व

●

ब्रज–नामकरण और उसका अभिप्राय—

व्युत्पत्ति और अर्थ—व्रज अथवा व्रज शब्द संस्कृत धातु 'व्रज्' से बना है, जिसका अर्थ 'गतिशीलता' है। **'व्रजन्ति गावो यस्मिन्निति व्रजः'**—जहाँ गायें नित्य चलती अथवा चरती हैं, वह स्थान भी 'व्रज' कहा गया है। कोशकारों ने व्रज के तीन अर्थ बतलाये हैं—गोष्ठ (गायों का खिरक), मार्ग और वृंद (झुंड)[१]। इनसे भी गायों से संबंधित स्थान का ही बोध होता है। इसी संस्कृत शब्द 'व्रज' से हिंदी रूप 'ब्रज' बना है।

वैदिक संहिताओं तथा रामायण, महाभारत आदि संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में 'व्रज' शब्द गोशाला, गो-स्थान, गोचर-भूमि के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में यह शब्द गोशाला अथवा गायों के खिरक (बाड़ा) के अर्थ में आया है[२]। यजुर्वेद में गायों के चरने के स्थान को 'व्रज' और गो-शाला को 'गोष्ठ' कहा गया है[३]। शुक्ल यजुर्वेद में सुंदर सींगों वाली गायों के विचरण–स्थान से व्रज का संकेत मिलता है[४]। अथर्ववेद में गोशालाओं से संबंधित पूरा सूक्त ही है[५]। हरिवंश तथा भागवतादि पुराणों में यह शब्द गोप–बस्ती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[६]। स्कंद पुराण में महर्षि शांडिल्य ने व्रज शब्द का अर्थ 'व्याप्ति' बतलाते हुए इसे व्यापक ब्रह्म का रूप कहा गया है[७]; किंतु यह अर्थ ब्रज की आध्यात्मिकता से संबंधित है।

कुछ विद्वानों ने ब्रज के नामकरण की निम्न संभावनाएँ भी प्रकट की हैं—

(१) बौद्ध काल में मथुरा के निकट 'वेरंज' नामक एक स्थान था। कुछ विद्वानों की प्रार्थना पर गौतम बुद्ध वहाँ पधारे थे। वह स्थान वेरंज ही कदाचित कालांतर में 'विरज' या 'व्रज' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

(२) यमुना को 'विरजा' भी कहते हैं। विरजा का क्षेत्र होने से मथुरामंडल 'विरज' या 'व्रज' कहा जाने लगा।

---

(१) **गोष्ठाध्वनिवहा व्रजः** (अमरकोश, ३–३–३०)

(२) **१. गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः** (ऋक्० १–१०–७)
२. यं त्वां जनासो अभिसंचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ (ऋक्० १०–४–२)

(३) **व्रजं गच्छ गोष्ठान्** (यजु० १–२५)

(४) **याते धामान्युश्मसि गमध्यै, यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः** (६–३)

(५) **अथर्ववेद** (२–२६–१)

(६) **१. तद् व्रजस्थानमधिकम् शुशुभे काननावृतम्।** (हरिवंश, विष्णु पर्व, ९–३०)
२. व्रजे वसन् किमकरोन् मधुपर्यां च केशवः॥ (भागवत, १०–१–१०)

(७) **वैष्णव खंड, भागवत माहात्म्य** (१–१९, २०)

(३) महाभारत के युद्धोपरांत जब द्वारिका नष्ट हो गई, तब श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्र मथुरा के राजा हुए थे। उनके नाम पर मथुरामंडल भी 'वज्र प्रदेश' या 'ब्रज प्रदेश' कहा जाने लगा।

ब्रज-नामकरण से संबंधित उक्त संभावनाओं का भाषा विज्ञान आदि की दृष्टि से कोई प्रामाणिक आधार नहीं है, अतः उनमें से किसी को भी स्वीकार करना संभव नहीं है। वेदों से लेकर पुराणों तक ब्रज का संबंध गायों से रहा है; चाहें वह गायों के बाँधने का बाड़ा हो, चाहें गोशाला हो, चाहें गोचर-भूमि हो और चाहें गोप–बस्ती हो। भागवतकार की दृष्टि में गोष्ठ, गोकुल और ब्रज समानार्थक शब्द हैं। भागवत के आधार पर सूरदासादि कवियों की रचनाओं में भी ब्रज इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; इसलिए 'वेरंज', 'विरजा' और 'वज्र' से ब्रज का संबंध जोड़ना समीचीन नहीं है।

मथुरा और उसका निकटवर्ती भू-भाग प्राचीनतम काल से ही अपने सघन बनों, विस्तृत चारागाहों, गोष्ठों और सुंदर गायों के लिए प्रसिद्ध रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म यद्यपि मथुरा नगर में हुआ था, तथापि राजनैतिक कारणों से उन्हें जन्म लेते ही यमुना पार की गोप-बस्ती में भेज दिया गया था। उनकी बाल्यावस्था एक बड़े गोपालक के घर में गोप, गोपी और गो-वृंद के साथ बीती थी। उस काल में उनके पालक नंदादि गोप गण अपनी सुरक्षा और गोचर-भूमि की सुविधा के लिए अपने 'गोकुल' के साथ मथुरा के निकटवर्ती विस्तृत बन-खंडों में घूमा करते थे। श्रीकृष्ण के कारण उन गोप-गोपियों, गायों और गोचर-भूमियों का महत्व बढ़ गया था।

पौराणिक काल से लेकर वैष्णव संप्रदायों के आविर्भाव काल तक जैसे-जैसे कृष्णोपासना का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे श्रीकृष्ण के उक्त परिकरों तथा उनके लीला-स्थलों के गौरव की भी वृद्धि होती गई। उस काल में यहाँ पर गो-पालन की प्रचुरता थी, जिसके कारण ब्रज-खंडों की भी वहुलता हो गई थी। इसलिए श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा और उनकी लीलाओं से संबंधित मथुरा के आोर-पास का समस्त प्रदेश ही 'ब्रज' अथवा 'ब्रजमंडल' कहा जाने लगा था।

सूरदासादि ब्रजभाषा के भक्त-कवियों और वार्ताकारों ने भागवतादि पुराणों के अनुकरण पर मथुरा के निकटवर्ती बन्य प्रदेश की गोप-बस्ती को ब्रज कहा है[1] और उसे सर्वत्र मथुरा,

---

(१) १. बका बिदारि चले 'ब्रज' कों हरि। (सूरसागर, पद सं० १०४७)
२. दावानल 'ब्रज'-जन पर छायौ। (सूरसागर, पद सं० १२१०)
३. नटवर वेष धरें, 'ब्रज' आवत। (सूरसागर, पद सं० १९८६)
४. वृंदाबन ग्वालनि सँग, गइयाँ हरि चारें।
अपने जन हेत काज, 'ब्रज' कों पगु धारें॥ (सूरसागर, पद सं० ३५६९)
५. 'ब्रज' में बाजति आज बधाई। (परमानंद सागर, पद सं० १७)
६. 'ब्रज' तें बन को चलत कन्हैया। (परमानंद सागर, पद सं० २७४)
७. पाछे एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु आप 'ब्रज' में पाँउ धारे।
(चौरासी वैष्णव की वार्ता, पृष्ठ ६)
८. सो अलीखान 'ब्रज' देखिकै बोहोत प्रसन्न भए।
(दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता प्रथमखंड, पृष्ठ २९९)

मधुपुरी या मधुबन से पृथक् बतलाया है[1]। आजकल मथुरा नगर सहित वह भू-भाग, जो श्रीकृष्ण के जन्म और उनकी विविध लीलाओं से संबंधित है, ब्रज कहलाता है। इस प्रकार 'ब्रज' वर्तमान मथुरामंडल और प्राचीन शूरसेन प्रदेश का अपर नाम और उसका एक छोटा रूप है। इसमें मथुरा, वृंदावन, गोवर्धन, गोकुल, महावन, बलदेव, नंदगाँव, बरसाना, डीग और कामवनादि श्रीकृष्ण के सभी लीला-स्थल सम्मिलित हैं। इस ब्रज को चौरासी कोस का माना जाता है।

अर्थ-विकास—इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ब्रज' शब्द का काल-क्रमानुसार अर्थ-विकास हुआ है। वेदों और रामायण–महाभारत के काल में जहाँ इसका प्रयोग 'गोष्ठ'-'गो-स्थान' जैसे लघु स्थल के लिए होता था, वहाँ पौराणिक काल में 'गोप-बस्ती' जैसे कुछ बड़े स्थान के लिए किया जाने लगा। उस समय तक यह शब्द प्रदेशवाची न होकर क्षेत्रवाची ही था।

भागवत में 'ब्रज' क्षेत्रवाची अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है[2]। वहाँ इसे एक छोटे ग्राम की संज्ञा दी गई है। उसमें 'पुर' से छोटा 'ग्राम' और उससे भी छोटी बस्ती को 'ब्रज' कहा गया है[3]। १६ वीं शताब्दी में 'ब्रज' प्रदेशवाची होकर 'ब्रजमंडल' हो गया और तब इसका आकार ८४ कोस का माना जाने लगा था[4]। उस समय मथुरा नगर ब्रज में सम्मिलित नहीं माना जाता था। सूरदासादि ब्रजभाषा कवियों ने ब्रज और मथुरा का पृथक् रूप में ही कथन किया है, जैसा पहिले लिखा जा चुका है।

फिर कृष्णोपासक संप्रदायों और ब्रजभाषा कवियों के कारण जब ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा का क्षेत्र बढ़ा, तब ब्रज का आकार भी सुविस्तृत हो गया था। उस समय मथुरा नगर ही नहीं, बल्कि उससे दूर-दूर के भू-भाग, जो ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा से प्रभावित थे, ब्रज में मान लिये गये थे। वर्तमान काल में मथुरा नगर सहित मथुरा जिले का अधिकांश भाग तथा राजस्थान के डीग और कामबन का कुछ भाग, जहाँ होकर 'ब्रज-यात्रा' जाती है, 'ब्रज' कहा जाता है। ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा का क्षेत्र और भी बड़ा है।

इस समस्त भू-भाग के प्राचीन नाम मधुबन, शूरसेन, मधुरा, मधुपुरी, मथुरा और मथुरामंडल थे तथा आधुनिक नाम ब्रज या ब्रजमंडल हैं। यद्यपि इनके अर्थ-बोध और आकार-प्रकार में समय-समय पर अंतर होता रहा है। इस भू-भाग की धार्मिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक और संस्कृतिक परंपरा अत्यंत गौरवपूर्ण रही है।

---

(१) १. **आतुर रथ हांक्यौ मधुबन कों, 'ब्रज'-जन भए अनाथ।**

(सूरसागर, पद सं० ३६११)

२. **सूरदास प्रभु आइ मधुपुरी, ऊधौ कों 'ब्रज' दियौ पठाई।**

(सूरसागर, पद सं० ४०२६)

(२) **श्रीमद् भागवत** (१०–१–८ और ६)

(३) **शिशूश्चकार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु** (भागवत, १०–६–२)

(४) **आइ जुरे सब ब्रज के बासी। डेरा परे कोस चौरासी ॥१५२३॥**
डेरा परे कोस चौरासी। इतने लोग जुरे ब्रजवासी ॥१५३७॥

—सूरसागर (ना० प्र० सभा)

ब्रज का विस्तार--

पौराणिक आधार और अनुश्रुति—जिन पुराणों में ब्रज के महत्व के साथ इसके विस्तार का भी वर्णन हुआ है, उनमें 'बाराह पुराण' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें माथुरमंडल का विविध रूप से इतना अधिक उल्लेख किया गया है कि वाराह पुराण को यदि माथुरमंडल (ब्रजमंडल) से संबंधित पुराण ही कहा जाय तो कोई अयुक्त कथन न होगा। उसी पुराण का एक अंश "मथुरा माहात्म्य" के नाम से प्रसिद्ध है।

'वाराह पुराण' में माथुरमंडल का विस्तार २० योजन बतलाया गया है और कई प्रसंगों पर इसकी विज्ञप्ति करते हुए कई प्रकार से इसके महत्व का वर्णन किया है[1]। 'वायुपुराण' में माथुरमंडल का विस्तार ४० योजन कहा गया है[2]; किंतु उसका कथन वाराह पुराण के उल्लेख के समान मान्यता और प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सका है। एक योजन साधारणतया ४ कोस अथवा ७ मील का होता है, इसलिए मोटे हिसाब से ब्रजमंडल का विस्तार ८४ कोस का समझा जाने लगा।

चौरासी कोस के इस ब्रजमंडल का आकार कहाँ से कहाँ तक है, इसे बतलाने के लिए ब्रज में कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। ऐसी ही एक दोहाबद्ध अनुश्रुति ब्रज के सुप्रसिद्ध शोधकर्ता श्री ग्राउस ने इलियट की ग्लौसरी से उद्धृत की है, जिसका पाठ उन्होंने इस प्रकार दिया है—

इत बरहद इत सोनहद, उत सूरसेन का गांव।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरामंडल मांह[3]॥

उक्त दोहा में आये हुए स्थलों की पहिचान के लिए श्री ग्राउस ने ब्रज की सीमाओं पर स्थित बनों का नामोल्लेख करने वाले एक श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसका पाठ उन्होंने इस प्रकार लिखा है—

पूर्व हास्यवनं नीय पश्चिमस्यापहारिकं।
दक्षिणे जन्हु संज्ञाकं भुवनाख्यं तथोत्तरे॥

श्री ग्राउस का कथन है कि जब उन्होंने पंडितों से उक्त श्लोक में आये हुए बनों के नामों का मिलान पूर्वोक्त हिंदी दोहा के नामों से करने को कहा, तो उन्होंने बतलाया—'पूर्व का हास्य बन ही बरहद है, जो अलीगढ़ जिला में है। पश्चिम का उपहार बन गुड़गाँवा जिले का सोनहद

---

(१) १. **विंशतिर्योजनानान्तु माथुरं मम मण्डलम्।**
यत्र तत्र नरः स्नातो मुच्यते सर्वकिल्विषैः॥ (अध्याय १५८, श्लोक १)
२. **विंशतिर्योजनानान्तु माथुरं मम मण्डलम्।**
इदं पृक्षं महाभागे सर्वेषां मुक्तिदायि च॥ (अध्याय १६३, श्लोक १५)
३. **विंशतिर्योजनानां हि माथुरं मम मण्डलम्।**
पदे पदे अश्वमेधानां फलं नात्र विचारणा॥ (अध्याय १६८, श्लोक १०)

(२) **चत्वारिंशं योजनानां ततस्तु मथुरा स्मृता।**

(३) **मथुरा—ए—डिस्ट्रिक्ट मेमाअर** (तृ० सं०), पृ० ७८

है, दक्षिण का जन्हु वन सूरसेन का गाँव अर्थात् बटेश्वर है और उत्तर का भुवन वन शेरगढ़ के निकट का भूषण वन है[1] ।

ग्राउस महोदय का स्पष्ट कथन है कि वे पूर्वोक्त दोहा को किसी ऐतिहासिक शोध का सूचक नहीं मानते हैं[2] और उक्त श्लोक में आये हुए वनों की पहिचान को कल्पना से अधिक महत्व नहीं देते हैं; इसीलिए उनकी अधिक छानबीन करने की आवश्यकता भी उन्होंने नहीं समझी है[3] । फिर भी ब्रज के विस्तार और इसकी सीमा के संवंध में लिखने वाले कई विद्वानों ने ग्राउस के कथन को महत्वपूर्ण मानकर प्रमाण रूप में उद्धृत किया है[4] ।

हमारे मतानुसार श्री ग्राउस द्वारा उद्धृत किंवदंती के उक्त दोहा को और उसके नामों की पहिचान को अधिक महत्व देना उचित नहीं है । दोहा में जहाँ तुकांत का पाठ अशुद्ध है, वहाँ इसमें ब्रज की सीमा भी तीन ओर की ही वतलाई गई है । उस दोहा का पाठ लोक में इस प्रकार भी प्रचलित है, जो ब्रज संबंधी पुस्तकों में मिलता है—

इत बरहद उत सोनहद, सूरसेन उत ग्राम ।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरामंडल धाम[5] ।।

ब्रज–विस्तार विषयक उक्त दोहा का मूलाधार क्या है, इसका अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि 'गर्ग संहिता' का निम्नोक्त कथन कदाचित इसका आधार है—

प्रागुदीव्यां वर्हिषदो दक्षिणस्यां यदोःपुरात ।
पश्चिमायां शोणपुरान्माथुरंमंडलं विदुः ।।
विशंद्योजन विस्तीर्णं सार्द्धयद्योजने नवै ।
माथुरंमंडलं दिव्यं ब्रजमाहुर्मनीषिणः[6] ।।

नंदराय जी के पूछने पर सन्नंद जी ने ब्रज का परिचय देते हुए कहा था,—"जिसके पूर्व–उत्तर में वर्हिषद (बरहद) है, दक्षिण में यदुपुर (सूरसेन ग्राम) है, पश्चिम में शोणपुर (सोनहद) है, उस बीस योजन विस्तृत दिव्य माथुरमंडल को मनीषी 'ब्रज' कहते हैं ।"

श्री ग्राउस ने जो श्लोक दिया है, वह श्री नारायणभट्ट कृत 'ब्रज भक्ति विलास' का है । इस ग्रंथ का एक संस्करण गौड़ीय विद्वान बावा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है । उसमें उक्त श्लोक का पाठ इस प्रकार मिलता है—

---

(१) **मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमाअर,** (तृ० सं०), पृ० ६१
(२) **वही** ,, ,, पृ० ७६
(३) **वही** ,, ,, पृ० ६१
(४) १. **डा० दीनदयाल गुप्त** (अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, सं० २००४, पृ० २-३)
२. **डा० सत्येन्द्र** (ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, सं० २००५, पृ० ४५-४६)
३. **श्री कृष्णदत्त वाजपेयी** (ब्रज का इतिहास, प्रथम भाग, सं० २०११, पृ० ३)
(५) **श्री हरलाल चतुर्वेदी कृत 'ब्रजयात्रा'**
(६) **गर्ग संहिता,** (वृंदाबन खंड, अध्याय १, श्लोक ११–१२)

पूर्व हास्यवनं नाम पश्चिमस्यापहारिकम् ।
दक्षिणे जन्हु संज्ञकं सोनहदाख्यं तथोत्तरे[1] ।।

अनुश्रुति के दोहा में जहाँ तीन ओर की हद बतलाई है, वहाँ 'गर्ग संहिता' के उद्धरण में वर्हिषद (बरहद) को पूर्व–उत्तर में स्थित बतलाकर चारों ओर की हद देने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार 'ब्रज भक्ति विलास' के उद्धरण विषयक दोनों पाठों में भी थोड़ा सा अंतर है। बाबा कृष्णदास के पाठ में उत्तरी सीमा के बन का नाम सोनहद बतलाया गया है, जब कि ग्राउस के पाठ में इसका नाम भुवन बन है। श्री ग्राउस ने पश्चिम के अपहारि बन या उपहार बन की पहिचान करते हुए उसे गुड़गाँवा जिले का सोन बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि सोन गुड़गाँवा में गंधक के गर्म सोतों के लिए प्रसिद्ध है[2]। डा० दीनदयाल गुप्त ने सोन को 'गुड़गाँवा जिले की छोटी बरसाती नदी' बतलाया है[3]।

सोनहद गुड़गाँवा ज़िला में होडल के निकट एक छोटा गाँव है। संभव है, वहाँ कोई बरसाती नदी भी हो; किंतु उसे ब्रज की पश्चिमी सीमा के उपहार वन में मानना श्री ग्राउस का भ्रमात्मक कथन है। गुड़गाँवा जिला और सोनहद माथुरमंडल के प्रायः उत्तर में है, न कि पश्चिम में। ब्रज की उत्तरी सीमा के बन को 'ब्रज भक्ति विलास' में एक स्थान पर सोनहद बन और दूसरे स्थान पर सूर्यपत्तन वन लिखा गया है। 'ब्रज भक्ति विलास' के संपादक और प्रकाशक बाबा कृष्णदास ने सूर्यपत्तन बन को वर्तमान काल का साँमई खेड़ा बतलाया है, जो भरतपुर जिला में वहज के निकट है[4]। यह वहज और साँमई खेड़ा ब्रज के पश्चिम में हैं, न कि उत्तर में। इसलिए सूर्यपत्तन बन को सोनहद का अपर नाम समझ कर उसे गुड़गाँवा जिले की सीमा पर स्थित कोटबन और शेषशायी तक मानने से ही श्री नारायण भट्ट के कथन की सार्थकता हो सकती है। फिर भी न तो अनुश्रुति के दोहा से और न 'गर्ग संहिता' एवं 'ब्रज भक्ति विलास' के श्लोकों से माथुरमंडल की चतुर्दिक् सीमाओं का पूरा तो क्या अधूरा भी बोध नहीं होता है। इनमें उल्लिखित सोनहद और बरहद को यदि क्रमशः ब्रज की उत्तरी और पूर्वी सीमाओं के सूचक स्थान मान भी लिये जाँय, तब भी दक्षिणी और पश्चिमी सीमाओं की यथार्थ स्थिति अज्ञात ही रहती है। बटेश्वर (सूरसेन का गाँव) माथुरमंडल के ठीक दक्षिण में न होकर सुदूर अग्निकोण में है और पश्चिमी सीमा की स्थिति का सूचक कोई भी स्थान है ही नहीं।

डा० दीनदयाल गुप्त ने 'अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय' नामक अपने शोध प्रबंध के आरंभ में ही ब्रज के भूगोलिक विस्तार का विवेचन करते हुए श्री ग्राउस के कथन पर अपना अभिमत प्रकट किया है। उन्होंने ब्रज की सीमा के नामों की उपर्युक्त पहिचान को पूर्णतया स्वीकार न करते हुए भी पूर्वी सीमा के हास्यबन को अलीगढ़ जिले का हसायन समझ कर मान लिया है। उत्तर के भुवन बन या भूषण बन को वे गुड़गांवा जिले की हद पर स्थित कोटबन के निकट मानते

---

(१) **श्री व्रजभक्तिविलास** (२–१६), पृ० ३४

(२) **मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोअर** (तृ० सं०), पृ० ७६

(३) **अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय** (प्रथम खंड), पृ० ४

(४) **व्रजमंडल दर्शन**, पृ० ५१

हैं । पश्चिम के अपहारि बन को वे गुड़गाँवा जिले में सोन नदी के किनारे न मान कर भरतपुर राज्य के कामबन तथा उसके निकटवर्ती चरण पहाड़ी तक बतलाते हैं । दक्षिण के जन्हु बन को बटेश्वर तक मानने में उन्हें विशेष आपत्ति है; क्यों कि इससे उनके मतानुसार ब्रज का आकार बेडौल हो जाता है । उनका अनुमान है, ब्रज की दक्षिणी सीमा आगरा तक है । श्री नंदलाल दे के मतानुसार उन्होंने आगरा का प्राचीन नाम 'अग्रबन' लिखा है और वे इसे ब्रज के ८४ बनों में मानते हैं [1] । इस प्रकार डा० गुप्त ने भी पूर्वोक्त दोहा और श्लोकों की सीमाओं को स्वीकार नहीं किया है ।

ब्रज के विविध रूप——

ब्रज के विस्तार और उसकी सीमाओं का निश्चय करने से पूर्व हमें उसके स्वरूप का बोध होना आवश्यक है । हमारे मतानुसार ब्रज के कई रूप हैं, जो समय-समय पर बनते और परिवर्तित होते रहे हैं । इसी प्रकार उनके विस्तार और उनकी सीमाओं में भी परिवर्तन होता रहा है । ब्रज के उक्त रूपों का नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) राजनैतिक ब्रज, (२) धार्मिक ब्रज, (३) सांस्कृतिक ब्रज और (४) भाषायी ब्रज । हम यहाँ पर इनके संबंध में विस्तार पूर्वक अपने विचार व्यक्त करना चाहते हैं—

राजनैतिक ब्रज—प्राचीन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि ब्रज प्रदेश का पुराना नाम 'शूरसेन' था । शूरसेन जनपद एक राजनैतिक इकाई था, जिसका अस्तित्व गौतम बुद्ध से भी पहिले अर्थात् अब से प्रायः तीन हजार वर्ष पूर्व विद्यमान था । राजनैतिक कारणों से इसके आकार-प्रकार में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं । अब से दो हजार पूर्व शक-कुषाण काल में इसका नाम 'मथुरा राज्य' हो गया था । शकों के काल में मथुरा नगरी उनके साम्राज्य के पूर्वी भाग की राजधानी थी । कुषाणों के काल में मथुरा राज्य की और भी अधिक उन्नति हुई थी । कुषाण सम्राट कनिष्क के समय में मथुरा सुप्रसिद्ध राजनैतिक स्थल होने के साथ ही साथ धर्म, कला, साहित्य और व्यापार का भी एक बड़ा केन्द्र हो गया था ।

कुषाणों के बाद नाग राजाओं के शासन-काल में भी मथुरा का राजनैतिक महत्व था । चौथी शताब्दी के अंत में जब समुद्रगुप्त ने साम्राज्य-विस्तार के लिए मथुरा राज्य पर आक्रमण किया, तब यहाँ का राजा नागसेन था । उक्त नाग राजा की पराजय होने से मथुरा राज्य को गुप्तों के विशाल साम्राज्य में मिला लिया गया था । तभी से राजनैतिक केन्द्र के रूप में इसका महत्व कम होने लगा । छटी शताब्दी में बर्बर हूणों के आक्रमण से मथुरा की भीषण बरबादी हुई थी । उसके फल स्वरूप इसका राजनैतिक महत्व भी समाप्तप्राय हो गया था ।

सातवीं शताब्दी के अंत में हर्षवर्धन ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी । उसकी सीमाएँ पंजाब से बंगाल तक थीं । ऐसा समझा जा सकता है कि मथुरा राज्य भी उसी के आधीन था; किंतु उसी काल में भारत आने वाले चीनी यात्री हुएनसांग के वर्णन से अनुमानित होता है कि यह राज्य कदाचित अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता था । हुएनसांग ने तत्कालीन मथुरा राज्य का क्षेत्रफल ५००० ली (८३३ मील के लगभग) बतलाया है । उसकी सीमाओं के संबंध में भी

---

(१) अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय, पृ० ४

श्री कनिंघम का अनुमान है कि वे पश्चिम में भरतपुर और धौलपुर तक, पूर्व में जिझौती (प्राचीन बुंदेलखंड राज्य) तक तथा दक्षिण में ग्वालियर तक होंगी। इस प्रकार उस समय भी मथुरा एक बड़ा राज्य रहा होगा[1]।

ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में एक विदेशी आक्रमणकारी महमूद गजनबी ने मथुरा पर आक्रमण कर इसे बुरी तरह से लूटा था। उसके बर्बर अभियान का रोमांचकारी वर्णन अलउत्वी कृत 'तारीखे यमीनी' में मिलता है। उसमें लिखा गया है, उस काल में मथुरामंडल का अधिपति कूलचंद (कुलचंद्र) था; जिसकी राजधानी महावन में थी। उसके विवरण से यह ज्ञात नहीं होता है कि कुलचंद्र के राज्य की क्या सीमाएँ थीं; किंतु यह स्पष्ट है कि वह अत्यंत शक्तिशाली नरेश था और उसके अधिकार में सुदृढ़ दुर्ग तथा तथा विशाल सेना थी। उसने महमूद के दुर्दम्य बर्बर सैनिकों का बड़ी वीरता पूर्वक सामना किया था; किंतु दुर्भाग्य से उसकी पराजय हुई थी। अलउत्वी ने लिखा है, उस भयानक युद्ध में कुलचंद्र के ५० हजार सैनिक मारे गये थे !

मथुरा राज्य के राजनैतिक रंगमंच का वह अंतिम पटाक्षेप था। उसके बाद मुसलमानों के शासन-काल में मथुरा का राजनैतिक महत्व शून्यवत् हो गया था। अठारहवीं शताब्दी में जब जाट शक्ति का उदय हुआ, तब एक बार फिर कुछ समय के लिए मथुरामंडल का राजनैतिक महत्व बढ़ गया था। उस समय इसे 'ब्रज' या 'ब्रजमंडल' कहा जाता था और जाट राजाओं को 'ब्रजेन्द्र' या 'ब्रजराज'। जाटों के विख्यात राजा सूरजमल के अधिकार में जो प्रदेश था, उसकी सीमाएँ उत्तर में रोहतक-मेरठ से दक्षिण में चंबल नदी तक तथा पश्चिम में आगरा-धौलपुर से पूर्व में गंगा नदी तक थीं। यदि इस देश में अंगरेजों का शासन न हुआ होगा, तब संभवतः जाटों के शासन से ब्रज के राजनैतिक महत्व की और भी अधिक वृद्धि हुई होती।

(२) धार्मिक ब्रज—ब्रज अर्थात् मथुरा राज्य का राजनैतिक रूप तो एक प्रकार से ११ वीं शताब्दी तक ही रहा; किंतु कृष्ण-भक्ति की नूतन धारा के कारण इसका जो धार्मिक रूप बना, वह अधिक व्यापक और स्थायी रहा है। यह पूर्ववर्ती राजनैतिक रूप से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसके कारण श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा रखने वाले भक्त जनों के लिए वे सभी स्थल तीर्थ स्वरूप हो गये, जहाँ उनके उपास्य देव ने जन्म लिया था तथा अपनी बाल-लीलाएँ की थीं। उन स्थलों के साथ ही साथ वे वन भी परम पावन और पुण्यप्रद माने जाने लगे, जहाँ श्रीकृष्ण ने गोप-बालकों के साथ गायें चराई थीं, अथवा गोप-बालाओं के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ की थीं। वे पुण्य स्थल और पावन बन समस्त कृष्ण भक्तों के आकर्षण-केन्द्र बन गये हैं।

श्रीकृष्ण से संबंधित विविध पुराणों तथा अन्य धर्म-ग्रंथों में उन लीला स्थलों और बनों के पुण्य प्रदेश को 'ब्रज', 'ब्रजमंडल' अथवा 'माथुरमंडल' कहा गया है और इसे २० योजन अथवा ८४ कोस का बतलाया गया है। पुराणादि ग्रंथों में इन बनों की संख्या और इनके नामों का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। यद्यपि उनमें इनके नाम और विवरण में मतभेद है, तथापि बनों की संख्या १२ प्रायः सभी में बताई गई है और साथ ही ब्रज का परिमाण भी सब में ८४ कोस का ही लिखा गया है।

---

(१) **ऐंटश्येंट ज्यागरफी आफ इंडिया,** पृ० ४२७-४२८

'पद्मपुराण' (११–१७) में ब्रज के १२ वनों के नाम इस प्रकार लिखे गये हैं— १. मधुबन, २. तालवन, ३. कुमुदवन, ४. बहुलाबन, ५. कामवन, ६. खदिरवन, ७. वृंदावन, ८. भद्रबन, ९. भांडीरबन, १०. बेलबन, ११. लोहबन और १२. महावन। इनमें से आरंभ के ७ यमुना नदी के पश्चिम में और अंत के ५ इसके पूर्व में बतलाये गये हैं। हमने ८४ कोस परिमाण वाले और विविध वन-उपवनों के इस ब्रज या ब्रजमंडल को 'धार्मिक ब्रज' की संज्ञा दी है। हमारे मतानुसार इसके भी दो उप रूप हैं,—१. सांप्रदायिक ब्रज और २. आध्यात्मिक ब्रज। इन दोनों उप रूपों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

सांप्रदायिक ब्रज—कृष्णोपासक विविध संप्रदायों के कारण श्रीकृष्ण–लीला के उक्त वनों और स्थलों का महत्व इतना बढ़ गया था कि समस्त भारत के भक्तगण उनके दर्शन और भ्रमण के लिए लालायित होने लगे। तभी 'वनयात्रा' या 'ब्रजयात्रा' का प्रचार हुआ और उसका एक निश्चित क्रम बाँधा गया। जिन वनों और स्थलों में होकर यात्रा जाने लगी, उनकी परिधि के क्षेत्र को सांप्रदायिक आधार पर 'ब्रज' कहा जाने लगा और उसका विस्तार ८४ कोस का समझा गया। हमारे मतानुसार 'बन–यात्रा' या 'ब्रज–यात्रा' की परिधि में मथुरा मंडल का जितना भू-भाग आता है, चाहें वह ८४ कोस परिमाण का है या नहीं, 'सांप्रदायिक ब्रज' है। वर्तमान काल में इसी को ब्रज या ब्रजमंडल कहते हैं। इसकी परिधि में श्रीकृष्ण की लीलाओं के समस्त स्थान और उनके गो-चारण के सभी बन–उपबन आ जाते हैं।

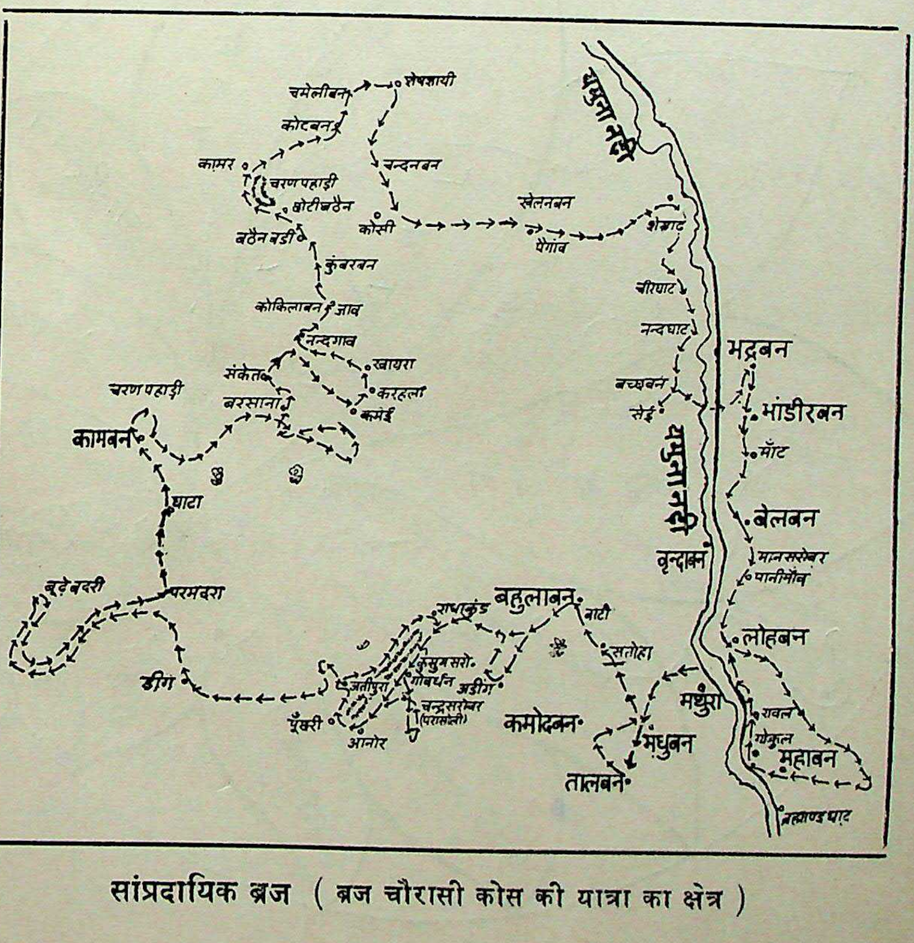
चमेलीबन
शेषशायी
कोटबन
कामर
चरण पहाड़ी
छोटीबठैन
बठैन बड़ी
कोसी
नन्दनबन
खेलनबन
पैगाँव
शेरगढ़
यमुना नदी
चीरघाट
नन्दघाट
कुंबरबन
कोकिलाबन
जाव
नन्दगाव
खायरा
संकेत
करहला
बरसाना
कमई
चरण पहाड़ी
कामबन
घाटा
बच्छबन
सेई
भद्रबन
भांडीरबन
मॉट
यमुना नदी
बेलबन
वृन्दाबन
मानसरोवर
पानीगाँव
बूढ़े बदरी
परमदरा
राधाकुंड
बहुलाबन
नाटी
लोहबन
सतोहा
कुसुमसरो.
गोबर्धन
जतीपुरा
अड़ींग
डीग
चन्द्रसरोवर
(परासोली)
पूँछरी
आनोर
कमोदबन
मथुरा
रावल
गोकुल
मधुबन
महावन
तालबन
ब्रह्माण्ड घाट

सांप्रदायिक ब्रज (ब्रज चौरासी कोस की यात्रा का क्षेत्र)

पूर्वोक्त सांप्रदायिक व्रज की यात्रा मथुरा से आरंभ होकर मथुरा में ही समाप्त होती है; किंतु यह नगर इसके केन्द्र में न होकर दक्षिणी किनारे पर स्थित है। यात्रा का अधिकांश मार्ग मथुरा के पश्चिम, पश्चिमोत्तर और उत्तर में तथा कुछ मार्ग पूर्व एवं दक्षिण-पूर्व में होता हुआ जाता है। इसके ठीक दक्षिण में यात्रा नहीं जाती है। इस व्रज की उत्तरी सीमा शेषशायी तक है तथा इसकी पश्चिमी सीमा कामबन और इसके निकट की चरण पहाड़ी तक। इसकी पूर्वी सीमा मथुरा जिला के मांट ग्राम से लोहबन तक है। इसके दक्षिण-पूर्व की सीमा पर बलदेव और दक्षिण-पश्चिम की सीमा पर तालबन-कुमुदबन हैं। इस प्रकार यह सांप्रदायिक व्रज का रूप हुआ।

आध्यात्मिक व्रज—राधा-कृष्णोपासक भावुक भक्तों ने अपनी उपासना और मानसी ध्यान के लिए व्रज के एक आध्यात्मिक रूप की भी कल्पना की है। उन कल्पनाशील भावुक भक्तों ने इस महिमा मंडित दिव्य व्रज को गोलोक का प्रतीक माना है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' और 'गर्ग संहिता' जैसे कृष्णलीला के परवर्ती ग्रंथों में गोलोक का अत्यंत अलौकिक और रहस्यपूर्ण वर्णन किया गया है। वह महत्तम ऐश्वर्यपूर्ण दिव्य गोलोक धाम सहस्रदल कमल के समान मंडलाकार माना गया है।

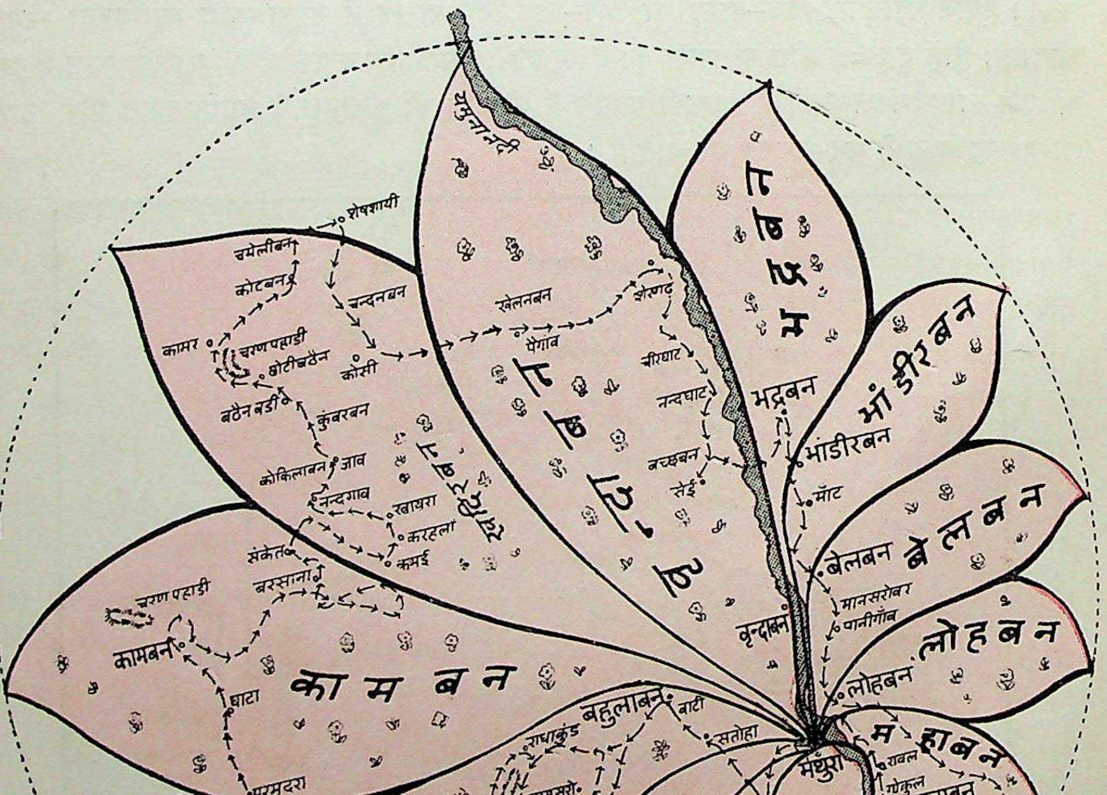
यमुना नदी
शेषशायी
चमेलीबन
कोटबन
चन्दनबन
कामर
चरण पहाड़ी
छोटीबठैन
कोसी
बठैन बड़ी
कुंवरबन
कोकिलाबन
जाव
नन्दगाव
खायरा
करहला
कमई
वृहद्बन
खेलनबन
पैगाव
शेरगढ़
चीरघाट
नन्दघाट
बच्छबन
सेई
खदिरबन
भद्रबन
भद्रबन
भांडीरबन
भांडीरबन
मॉट
बेलबन
बेलबन
मानसरोवर
पानीगाँव
वृन्दाबन
लोहबन
लोहबन
संकेत
बरसाना
चरण पहाड़ी
कामबन
काम बन
घाटा
परमदरा
बूढ़े बदरी
डीग
बहुलाबन
बाटी
सतोहा
राधाकुंड
कुसुमसरो
गोवर्धन
अड़ींग
जतीपुरा
चन्द्रसरोवर (परासोली)
पूंछरी
आनोर
कमोदबन
कमोदबन
तालबन
तालबन
मधुबन
मधुबन
मथुरा
रावल
गोकुल
महाबन
महाबन
ब्रह्माण्ड घाट
यमुना नदी

आध्यात्मिक व्रज (द्वादश दल का व्रज कमल)

यह आध्यात्मिक ब्रज भी गोलोक का प्रतीक होने के कारण विविध दल (पंखड़ियों) वाले खिले हुए कमल पुष्प के समान गोलाकार माना गया है। इसके दलों की संख्या १२, २४, ३२ अथवा और भी अधिक कल्पित की गई है और उन्हें विविध वन–उपवनों का रूप माना गया है। मथुरा नगरी उक्त ब्रज कमल की कर्णिका बतलाई गई है। साधारणतया ब्रज कमल के १२ दल माने गये हैं, जो यहाँ के प्रमुख १२ वनों के प्रतीक हैं।

यह आध्यात्मिक भावना की बात हुई; किंतु भौतिक दृष्टि से उक्त कथन की संगति नहीं बैठती है। धार्मिक ब्रजमंडल और ब्रज–यात्रा के मार्ग को देखते हुए न तो इसका रूप गोलाकार है और न इसके मध्य में मथुरा पुरी ही स्थित है। ब्रज–यात्रा का मार्ग टेढ़ा–मेढ़ा है और मथुरा इसके केन्द्र में न होकर दक्षिणी किनारे पर है। मथुरा के केन्द्रस्थ होने का इतना ही अभिप्राय हो सकता है कि ब्रज के विभिन्न स्थानों को जाने के लिए मथुरा से प्रस्थान करने में ही सुविधा रहती है।

ब्रज को ८४ कोस परिमाण का मंडलाकार और उसके केन्द्र में मथुरा की स्थिति होने की बात बराबर दोहराई जाती रही है। औरंगजेब के पुत्र आजमशाह को ब्रजभाषा से परिचित कराने के लिए मिरजा खां ने १७ वीं शती में जिस 'तोफ़ह–उल–हिंद' नामक फारसी ग्रंथ की रचना की थी, उसमें लिखा है—"ब्रज भारत के उस प्रदेश का नाम है, जो मथुरा को केन्द्र मान कर ८४ कोस के बीच मंडलाकार स्थित है[1]।"

डा० दीनदयाल गुप्त ने ब्रज के साथ लगे हुए मंडल शब्द के कारण इसके गोलाकार स्वरूप पर विशेष बल दिया है। उन्होंने अपनी मान्यता के ब्रज का मानचित्र देते हुए लिखा है— "यदि मथुरा को केन्द्र मानकर उक्त स्थानों को स्पर्श करता हुआ एक गोला खींचें, तो ८४ कोस की परिधि का मंडल बनता है और उसके अंतर्गत ब्रज के सभी प्रसिद्ध स्थान आ जाते हैं। ब्रज की दक्षिणी सीमा के जन्हुबन को शूरसेन ग्राम (वर्तमान बटेश्वर) तक मानने में उन्होंने विशेष आपत्ति की है। उनका कथन है—"ब्रज की हद को बटेश्वर तक लाने में ब्रजमंडल का आकार बेडौल हो जाता है और उसकी एक हद आगरे को बाह तहसील में दक्षिण-पूर्वी कोने की ओर सुदूर निकल जाती है। इस प्रकार ब्रजमंडल का गोलाकार रूप नहीं रहता। 'मंडल' शब्द से गोलाकार का ही बोध होता है। ब्रज के धार्मिक स्वरूप की धारणा भी गोलाकार रूप की है[2]।

ब्रज का यह गोलाकार रूप आध्यात्मिक दृष्टि से ही माना गया है, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं। इसके धार्मिक अथवा सांस्कृतिक रूप से उसकी संगति बैठाना कठिन है। इस रूप में मंडल का अर्थ केवल गोलाकार करना भी उचित नहीं है, जैसा डा० गुप्त ने पाद–टिप्पणी में स्वयं लिखा है—"राजनैतिक क्षेत्र में मंडल का बोध 'जनपद' रूप में भी होता है।" वास्तव में ब्रजमंडल का अर्थ ब्रज जनपद अथवा ब्रज प्रदेश करना ही समीचीन है।"

डा० गुप्त ने ब्रज की दक्षिणी सीमा आगरा तक मानने का जो सुझाव दिया है, उसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं दिया गया। हमारे मतानुसार इस सीमा को आगरा से आगे बटेश्वर तक मानना ही समीचीन है; किंतु वह ब्रज के सांस्कृतिक रूप की है, जिसका उल्लेख आगे हुआ है।

---

(१) **पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ,** पृष्ठ ५२६

(२) **अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय,** पृष्ठ ४

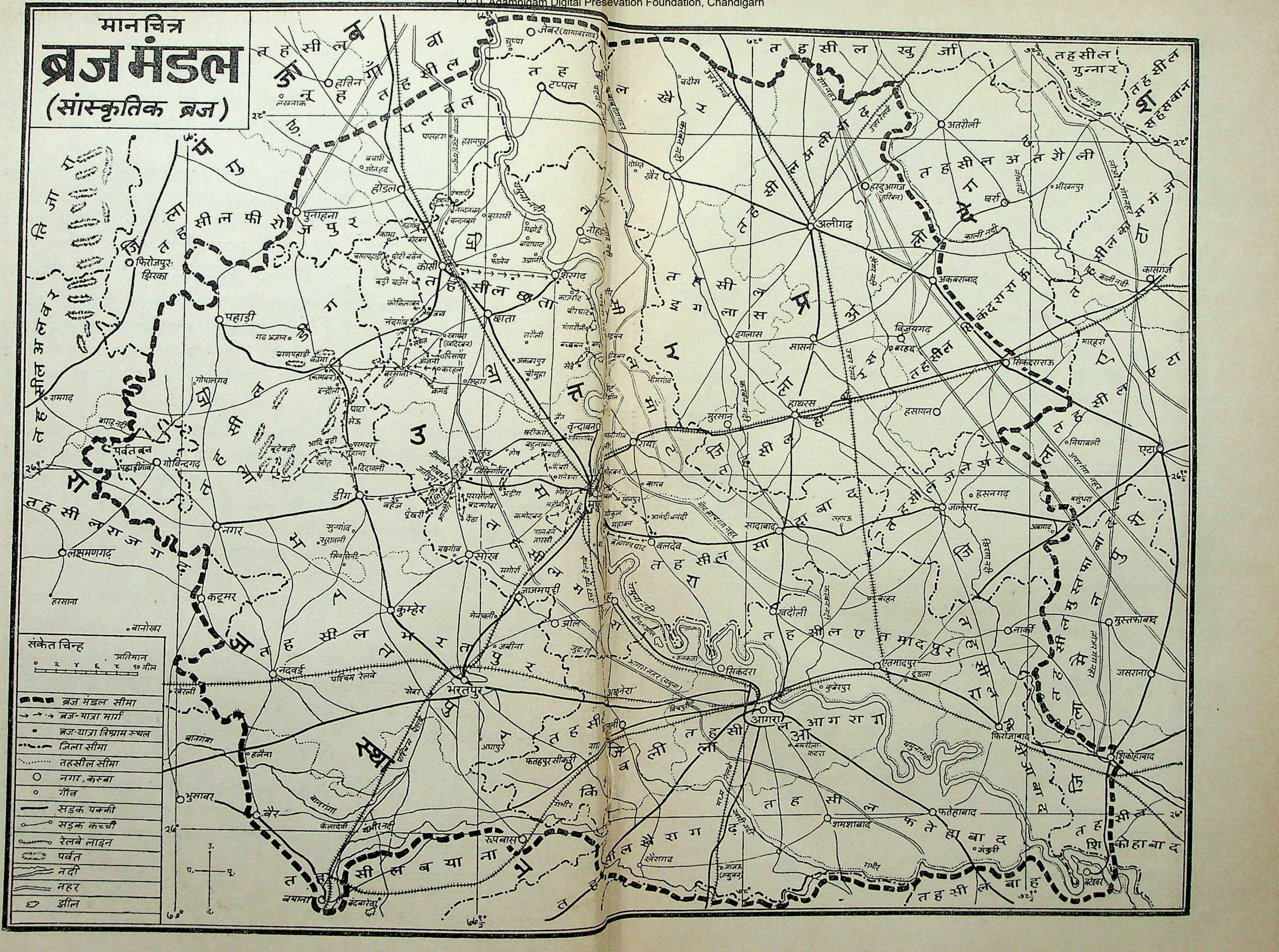
मानचित्र
ब्रज मंडल
(सांस्कृतिक ब्रज)
संकेत चिन्ह
प्रतिमान
० २ ४ ६ ८ १० मील
ब्रज मंडल सीमा
ब्रज-यात्रा मार्ग
ब्रज-यात्रा विश्राम स्थल
जिला सीमा
तहसील सीमा
नगर, कस्बा
गाँव
सड़क पक्की
सड़क कच्ची
रेलवे लाइन
पर्वत
नदी
नहर
झील
उ.
प.
पू.
द.
२८°
२७°
७७°
७८°
तहसील बल्लभगढ़
तहसील पलवल
तहसील फीरोजपुर
तहसील नूह
तहसील छाता
तहसील मथुरा
तहसील खैर
तहसील इगलास
तहसील हाथरस
तहसील सादाबाद
तहसील अतरौली
तहसील सिकंदराराऊ
तहसील खुर्जा
तहसील गुन्नार
तहसील सहसवान
तहसील कासगंज
तहसील जलेसर
तहसील एटा
तहसील मुस्तफाबाद
तहसील शिकोहाबाद
तहसील फिरोजाबाद
तहसील एतमादपुर
तहसील आगरा
तहसील किरावली
तहसील फतेहाबाद
तहसील बाह
तहसील खैरागढ़
तहसील बयाना
तहसील भरतपुर
तहसील नगर
तहसील कामा
तहसील डीग
तहसील अलवर
तहसील रामगढ़
तहसील राजगढ़
तहसील लक्ष्मणगढ़
जेवर
हतिन
टप्पल
होडल
पुनाहना
नोहझील
कोसी
शेरगढ़
छाता
नंदगांव
बरसाना
कामा
पहाड़ी
फिरोजपुर झिरका
गोविन्दगढ़
गोपालगढ़
रामगढ़
लक्ष्मणगढ़
हरसाना
बानोखर
नगर
डीग
गोवर्धन
कुम्हेर
सोंख
वृन्दावन
मथुरा
गोकुल
महावन
बलदेव
राया
सादाबाद
हाथरस
मुरसान
सासनी
इगलास
अलीगढ़
खैर
अतरौली
हरदुआगंज
छर्रा
अकबराबाद
विजयगढ़
सिकंदराराऊ
हसायन
कासगंज
मारहरा
एटा
निधावली
जलेसर
अवागढ़
हसनगढ़
मुस्तफाबाद
जसराना
नारखी
फिरोजाबाद
शिकोहाबाद
एतमादपुर
टूंडला
आगरा
सिकंदरा
अछनेरा
किरावली
फतेहपुर सीकरी
खेरागढ़
शमशाबाद
फतेहाबाद
बटेश्वर
भरतपुर
नदबई
कठूमर
खेरली
हलैना
भुसावर
वैर
रूपबास
बयाना
फतेहपुर
यमुना नदी
काली नदी
गंगा नदी
बाणगंगा
गंभीर नदी
उत्तर रेलवे
पश्चिम रेलवे
आगरा नहर (यमुना)

३. सांस्कृतिक ब्रज—१६ वीं शती के गौड़ीय विद्वानों ने विविध पुराणों में आये हुए श्रीकृष्ण के लीला स्थलों का अनुसंधान कर ब्रज की सीमाएँ और उनके विस्तार को बतलाने का प्रयास किया है। उन विद्वानों में सर्वश्री रूप गोस्वामी और नारायण भट्ट अग्रणी हैं। श्री रूप गोस्वामी कृत 'मथुरा महिमा' (माहात्म्य) और श्री नारायण भट्ट कृत 'ब्रज भक्ति विलास' में ब्रज के जिस धार्मिक स्वरूप का कथन किया गया है, वह उसके सांप्रदायिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सभी रूपों का परिचायक है।

'ब्रज भक्ति विलास' की रचना सं० १६०६ में ब्रज के राधाकुंड के तट पर हुई थी। इसमें ब्रज के समस्त बन, उपबन, तीर्थस्थल और उनके देवी-देवताओं का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसी ग्रंथ में भट्ट जी की अन्य महान् कृति 'वृहत् ब्रज गुणोत्सव' का भी नामोल्लेख मिलता है। उस २६ हजार श्लोक परिमाण के विशाल ग्रंथ में इन्हीं विषयों का, विशेष कर ब्रज-यात्रा के समस्त स्थानों का, विशद वर्णन होना बतलाया गया है[1]। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है[2]।

गौड़ीय विद्वानों के प्रयास के फल स्वरूप ही ब्रज के उस वृहत् स्वरूप का निश्चय होता है, जिसे हमने 'सांस्कृतिक ब्रज' का नाम दिया है। श्री रूप गोस्वामी ने समस्त पुराणों में दिए हुए माथुर मंडल संबंधी कथनों का मंथन कर और अपने समय में किये गये समस्त अनुसंधानों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि—"**यायावर से शौकरी बटेश्वर पर्यन्त मथुरामंडल की स्थिति है**[3]।" यायावर को हमने मथुरामंडल (ब्रजमंडल) की उत्तरी सीमा का जेबर ग्राम समझा है। इस प्रकार जेबर से बटेश्वर तक सांस्कृतिक ब्रज का विस्तार हुआ।

जेबर बुलंदशहर जिला में खुर्जा तहसील का दक्षिणवर्ती एक छोटा गाँव है और बटेश्वर आगरा जिला में एक प्राचीन धार्मिक स्थल है। बटेश्वर का पुराना नाम शौरपुर था, जिसकी स्थापना भगवान् श्रीकृष्ण के पितामह शूर अथवा शूरसेन द्वारा की हुई कही जाती है। इसके आस-पास श्रीकृष्ण के पूर्वजों और वंशजों के अनेक चिन्ह बतलाये जाते हैं, जिनमें पदमखेड़ा और औधखेड़ा कदाचित श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध के नामों पर बसाये गये हैं। इसका एक घाट 'कंस कगार' कहलाता है, जो श्रीकृष्ण के अत्याचारी मामा कंस के नाम से संबंधित है। जैन और बौद्ध धर्मों के प्राचीन ग्रंथों में भी शौरपुर का नामोल्लेख मिलता है।

प्राचीन काल में तो यह स्थान शूरसेन जनपद में था ही, १८ वीं शती तक भी इसे भदावर सहित मथुरामंडल में ही माना जाता था। इसका उल्लेख छत्र कवि कृत 'विजय मुक्तावली' (सं० १७५७) और 'सुधा सार' (सं० १७७६) ग्रंथों में हुआ है। 'सुधा सार' भागवत दशम स्कंध का अनुवाद है, जिसकी रचना छत्र कवि ने अपने आश्रयदाता भदावर नरेश की आज्ञा से की थी। उसमें बटेश्वर की स्थिति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

मथुरामंडल में बसै, देस भदावर ग्राम।
ऊखल तहाँ प्रसिद्ध महि, क्षेत्र बटेश्वर नाम।।

---

(१) ब्रज भक्ति विलास, पृ० १७७

(२) लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृ० ६३

(३) मथुरा माहात्म्य, श्लोक १५५

रूप गोस्वामी ने जहाँ उत्तर से दक्षिण-पूर्वी कोण तक के विस्तार का कथन किया है, वहाँ नारायण भट्ट ने चारों दिशाओं की परिधि में आने वाले विस्तार का उल्लेख कर रूप गोस्वामी के कथन की पूर्ति की है। उन्होंने मथुरा से २१–२१ कोसों पर स्थित ४ कोण बतलाते हुए उनके निकटवर्ती बनों का नामोल्लेख किया है। इस प्रकार मथुरामंडल का विस्तार उन्होंने दूसरे ढंग से ८४ कोस बतलाया है। जहाँ धार्मिक ब्रज का समस्त विस्तार ८४ कोस का माना गया है, वहाँ भट्ट जी के मतानुसार सांस्कृतिक ब्रज का भी ८४ कोस विस्तार होने का केवल यही अभिप्राय है कि उसकी चारों दिशाओं के प्रत्येक छोर केन्द्र स्थल मथुरा से २१–२१ कोस पर स्थित हैं।

नारायण भट्ट का उक्त उल्लेख इस प्रकार है—

चतुरशीति क्रोशाढ्यां चतुर्दिक्षु विराजिता ।
मथुरा मण्डल त्क्रोशमेकविंशतिकं भजेत् ।।
चतुर्दिक्षु प्रयाणेन पूर्वादिक्रमो गणात् ।
पूर्व भागे स्थितं कोणं वनं हास्याभिधानकं ।।
भागे च दक्षिणे कोणं शुभं जन्हुवनं स्थितं ।
भागे च पश्चिमे कोणे पर्वताख्यवनं स्थितं ।।
भागेह्युत्तर कोणस्थं सूर्यपत्तन संज्ञकं ।
इत्येता व्रज मर्यादा चतुष्कोणाभिधायिनी[1] ।।

उपर्युक्त श्लोकों में मथुरा मंडल की चारों सीमाओं के चार बनों का नामोल्लेख हुआ है। इनमें पूर्वी सीमा का हास्य बन और दक्षिणी सीमा का जन्हु बन तो सभी उद्धरणों में समान हैं। इसमें पश्चिम और उत्तर के कोणों पर स्थित बनों के नाम क्रमशः पर्वत बन और सूर्यपत्तन बन लिखे गये हैं, जब कि नारायण भट्ट के ही अन्य उद्धरण में वे नाम क्रमशः अपहारि बन और सोनहद बन हैं[2], तथा ग्राउस के उद्धरण में क्रमशः उपहार बन और भुवन बन हैं[3]। इन समस्त बनों की पहिचान करना इस समय बहुत कठिन है; क्यों कि वे सभी बन कट चुके हैं और उनके स्थान पर परिवर्तित नामों के गाँव बस गये हैं।

हमने सर्वश्री रूपगोस्वामी और नारायण भट्ट की मान्यता के आधार पर सांस्कृतिक ब्रज की सीमाएँ निश्चित करने की चेष्टा की है। हमारे मतानुसार इसकी उत्तरी सीमा जेबर ग्राम तक है, जिसे हमने रूपगोस्वामी द्वारा उल्लिखित यायावर का परिवर्तित नाम समझा है। नारायण भट्ट ने उत्तर के जिस सूर्यपत्तन बन का उल्लेख किया है, उसकी यथार्थ स्थिति बतलाना संभव नहीं है। पूर्वी सीमावर्ती हास्यबन के परिवर्तित नाम वर्तमान हसायन और हसनगढ़ गाँव हैं, जो अलीगढ़ जिला की सिकंदराराऊ और जलेसर तहसीलों में हैं। इसकी दक्षिणी सीमा का विस्तार रूपगोस्वामी के मतानुसार बटेश्वर तक है। बटेश्वर ब्रजमंडल के दक्षिण में न होकर सुदूर दक्षिण–पूर्वी अग्निकोण में है। नारायण भट्ट ने दक्षिण सीमावर्ती बन का नाम जन्हुबन लिखा है, जिसकी ठीक पहिचान करना संभव नहीं है। आगरा नगर के दक्षिण में आगरा जिला की खैरागढ़ तहसील का

---

(१) **ब्रज भक्ति विलास,** छटे अध्याय का आरंभिक अंश
(२) **इस ग्रंथ में किया हुआ 'ब्रज-विस्तार' का वर्णन,** पृ० ६
(३) „ „ „ पृ० ४

एक गाँव जाजऊ है, जो मध्य रेलवे का स्टेशन भी है। इसे जन्हुबन का परिवर्तित नाम समझा जा सकता है। इस प्रकार सांस्कृतिक ब्रज की दक्षिणी सीमा जाजऊ से बटेश्वर तक मानी जा सकती है। पश्चिमी सीमा के पर्वत बन की पहिचान हमने राजस्थान के पहाड़ी गाँव से की है। राजस्थान में इस नाम के दो गाँव हैं। एक पहाड़ी गाँव कामबन के पश्चिम में है और दूसरा डीग के पश्चिम में गोविंदगढ़ के पास। प्रथम पहाड़ी गाँव बड़ा है, किंतु दूसरा पहाड़ी गाँव छोटा होते हुए भी धार्मिक स्थान है। यद्यपि ये दोनों स्थान ब्रजमंडल के पश्चिम में हैं; तथापि दूसरे पहाड़ी गाँव को पर्वत बन का प्रतिनिधि मानना उपयुक्त जान पड़ता है। इस प्रकार सांस्कृतिक ब्रज का विस्तार उत्तर में जेवर से लेकर दक्षिण में जाजऊ से बटेश्वर तक है, तथा पूर्व में हसायन या हसनगढ़ से लेकर पश्चिम में पहाड़ी तक है।

(४) भाषायी ब्रज—इसे ब्रजभाषा प्रदेश अथवा ब्रजभाषा क्षेत्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। जिस प्रकार प्राचीन शूरसेन जनपद रूपांतर से मथुरा राज्य और फिर ब्रज या ब्रजमंडल नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार प्राचीन शौरसेनी भाषा ही नामांतर से शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश और फिर ब्रजभाषा कहलाई है। जिस प्रकार शूरसेन जनपद और मथुरा राज्य की भूगोलिक सीमाओं से शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के समझने–बोलने एवं लिखने–पढ़ने वालों का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत था; उसी प्रकार मथुरामंडल अथवा ब्रजमंडल की सीमाओं के क्षेत्र से ब्रजभाषा के समझने–बोलने एवं लिखने–पढ़ने वालों का क्षेत्र भी कहीं अधिक बड़ा है। इसमें इतना अंतर अवश्य है कि शूरसेन या मथुरा राज्य का वास्तविक प्रतिनिधि तो 'ब्रजमंडल' ही है; किंतु शौरसेनी भाषा के प्रतिनिधित्व का दाबा 'ब्रजभाषा' के अतिरिक्त हिंदी की सभी बोलियाँ, बल्कि उत्तर भारत की अन्य कई भाषाएँ भी कर सकती हैं।

शौरसेनी अपभ्रंश छठी शताब्दी में प्रचलित हो गया था। जिस समय चीनी यात्री हुएनसांग मथुरा आया था, उस समय इस क्षेत्र में शौरसेनी अपभ्रंश ही प्रचलित रहा होगा। उसी शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा का प्रादुर्भाव विक्रम की १० वीं शताब्दी के उपरांत हुआ था। उस समय ब्रज (मथुरा राज्य) का राजनैतिक प्रभाव तो समाप्त हो चुका था, किंतु कृष्ण-भक्ति के प्रसार के कारण जैसे-जैसे ब्रज का धार्मिक प्रभाव बढ़ता रहा, वैसे-वैसे ब्रजभाषा का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। बाद में साहित्यिक कारणों से उसका विस्तार और भी अधिक हो गया था। ब्रजभाषा के क्षेत्रीय नाम **'ग्वालियरी'** और **'पिंगल'** भी रहे हैं[1], तथा इसे **'भाषा'** अथवा **'भाखा'** भी कहा गया है[2]। इसमें रचना करने वाले कृतविद्य कवियों ने कई सौ वर्षों की साहित्य-साधना से ऐसा विशाल वाङ्मय निर्मित किया कि जो हिंदी भाषा को इतना गौरवपूर्ण बना सका है।

---

(१) १. **देस भेद सों होत है, 'भाषा' विविध प्रकार।**
बरनत हैं तिन सबन में, 'ग्वारयरी' रस सार॥
'ब्रजभाषा' भावत सकल, सुर–बानी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महा रस-मूल॥ (छंदप्रभाकर की भूमिका)

२. **पुर दिल्ली और ग्वालपुर, बीच ब्रजादिक देस।**
'पिंगल' उपनामक गिरा तिनकी कथा विसेस॥ (सूरजमल चारण)

(२) **'भाषा' कवि भौ मंदमति, तिहिं कुल केसौदास।** (केशवदास)
ताहीं तें यह कथा जथा मति', 'भाखा' कीनी॥ (नंददास)

भाषायी ब्रज का क्षेत्रफल ३८००० वर्ग मील है। इसमें निवास करने वाले और मातृभाषा के समान ब्रजभाषा बोलने वालों की संख्या सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार लगभग १ करोड़ २३ लाख थी; जो अब २ करोड़ के लगभग होगी। यह घनी आबादी वाला विस्तृत क्षेत्र उत्तरी भारत के चार हिंदीभाषी राज्यों में बँटा हुआ है। इसका अधिकांश भाग पश्चिमी उत्तर प्रदेश में है और शेष भाग पंजाब के दक्षिण-पूर्व में, राजस्थान के पूर्व में तथा मध्य प्रदेश के उत्तर-पश्चिम में फैला हुआ है।

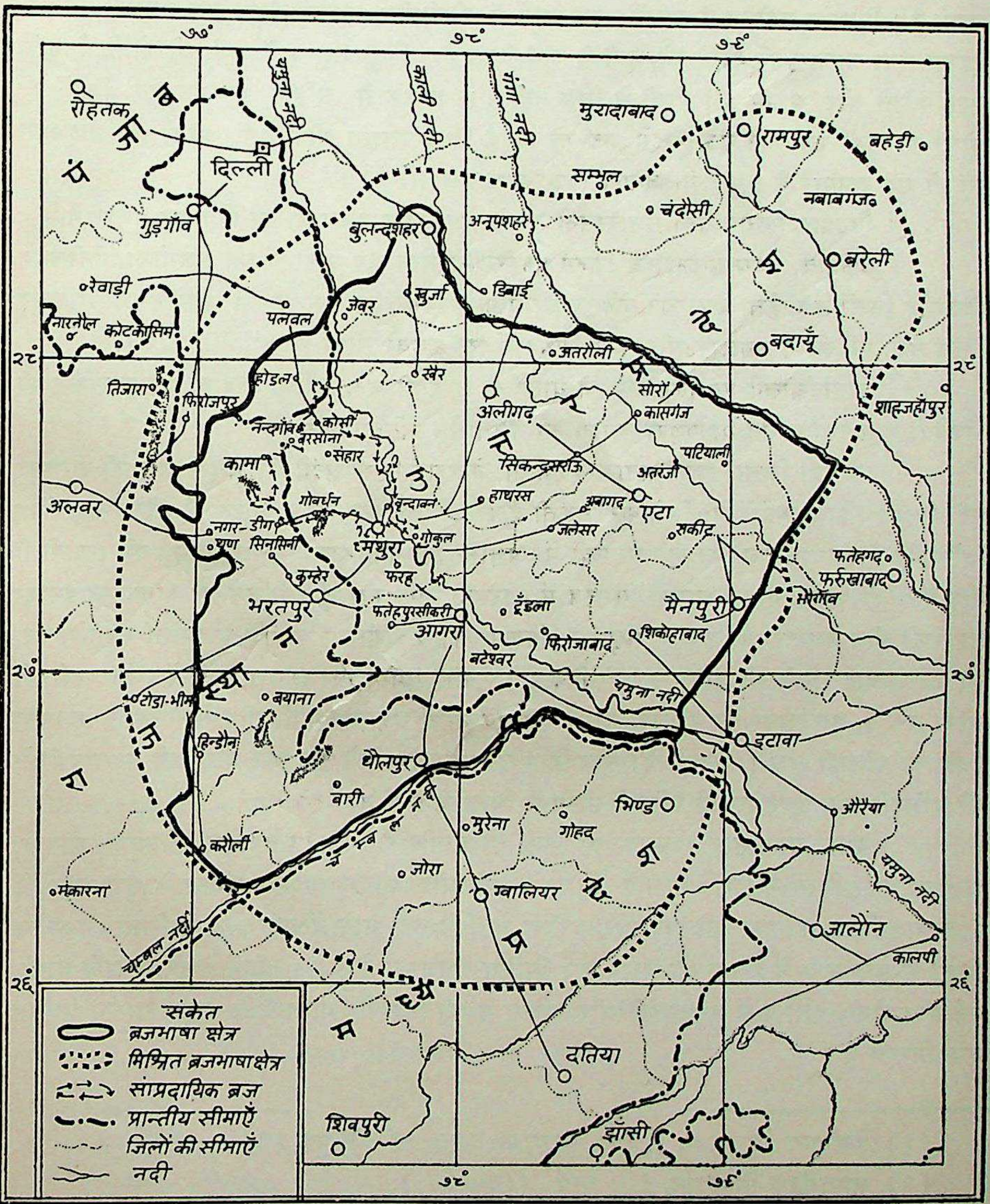
७७°
७८°
७९°
२८°
२७°
२६°
पंजाब
उत्तर प्रदेश
राजस्थान
मध्य प्रदेश
रोहतक
दिल्ली
गुड़गाँव
रेवाड़ी
नारनौल
कोटकासिम
तिजारा
फिरोजपुर
पलवल
होडल
जेवर
खुर्जा
बुलन्दशहर
अनूपशहर
डिबाई
यमुना नदी
काली नदी
गंगा नदी
मुरादाबाद
सम्भल
चंदौसी
रामपुर
बहेड़ी
नबाबगंज
बरेली
बदायूँ
अतरौली
खैर
अलीगढ़
सोरों
कासगंज
पटियाली
शाहजहाँपुर
सिकन्दराराऊ
अतरंजी
हाथरस
अवागढ़
एटा
जलेसर
सकीट
नन्दगाँव
कोसी
बरसाना
संहार
कामा
गोवर्धन
वृन्दावन
अलवर
नगर-डीग
वैर
सिनसिनी
मथुरा
गोकुल
कुम्हेर
फरह
भरतपुर
फतेहपुरसीकरी
आगरा
टूँडला
फिरोजाबाद
बटेश्वर
शिकोहाबाद
मैनपुरी
भोगाँव
फतेहगढ़
फर्रुखाबाद
टोडा-भीम
बयाना
हिन्डौन
धौलपुर
बारी
करौली
मुरेना
जोरा
गोहद
भिण्ड
इटावा
औरैया
ग्वालियर
जालौन
कालपी
मकारना
चम्बल नदी
दतिया
शिवपुरी
झाँसी
संकेत
ब्रजभाषा क्षेत्र
मिश्रित ब्रजभाषा क्षेत्र
सांप्रदायिक ब्रज
प्रान्तीय सीमाएँ
जिलों की सीमाएँ
नदी

भाषायी ब्रज (ब्रजभाषा क्षेत्र)

भाषायी ब्रज के विस्तार और इसकी सीमाओं के संबंध में अनेक विद्वानों ने समय-समय पर जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें से कुछ यहाँ पर दिये जाते हैं। सुप्रसिद्ध भाषाविद् विद्वान डा० धीरेन्द्र जी वर्मा ने बहुत पहिले लिखा था—

"ब्रजभाषा विशुद्ध रूप में मथुरा, अलीगढ़ और आगरा जिलों तथा भरतपुर और धौलपुर के देशी राज्यों में बोली जाती है। ब्रजभाषा का पड़ौस की बोलियों से कुछ मिश्रित रूप जयपुर राज्य के पूर्वी भाग तथा बुलंदशहर, मैनपुरी, एटा, बदायूं और बरेली जिलों तक बोला जाता है। ग्रियर्सन महोदय ने अपनी भाषा सर्वे में पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा तथा कानपुर की बोली को कनौजी नाम दिया है; किंतु वास्तव में यहाँ की बोली मैनपुरी, एटा, बरेली और बदायूं की बोली से भिन्न नहीं है। अधिक से अधिक हम इन सब जिलों की बोली को 'पूर्वी ब्रज' कह सकते हैं। सच तो यह है कि बुंदेलखंड की बुंदेली बोली भी ब्रजभाषा का ही एक रूपांतर है। बुंदेली 'दक्षिणी ब्रज' कहला सकती है[1]।"

विख्यात विद्वान डा० गुलाबराय जी के मतानुसार ब्रजभाषा का क्षेत्र इस प्रकार है—

"मथुरा, आगरा, अलीगढ़ जिलों को केन्द्रीय मान कर उत्तर में यह अलमोड़ा, नैनीताल, बिजनौर जिलों तक फैला हुआ है। दक्षिण में धौलपुर, ग्वालियर तक, पूर्व में कन्नोज और कानपुर जिलों तक, पश्चिम में भरतपुर और गुड़गाँव जिलों तक इसकी सीमा है[2]।"

भाषायी सर्वेक्षण तथा अन्य अन्वेषणों के आधार पर सुप्रसिद्ध विद्वान श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी ने ब्रजभाषा भाषी क्षेत्र निम्न लिखित माना है—

"मथुरा जिला, राजस्थान का भरतपुर जिला तथा करौली का उत्तरी अंश जो भरतपुर एवं धौलपुर की सीमाओं से मिला-जुला है, धौलपुर जिला कुल, मध्य भारत में मुरेना तथा भिंड जिले और गिर्द–ग्वालियर का लगभग २६ अक्षांश से ऊपर का उत्तरी भाग (यहाँ की ब्रज बोली में बुंदेली की झलक है), आगरा जिला कुल, इटावा जिले का पश्चिमी टुकड़ा (लगभग इटावा शहर की सीध देशांतर ७९ तक), मैनपुरी जिला तथा एटा जिला (पूर्व के कुछ अंशों को छोड़कर, जो फर्रुखाबाद जिले की सीमा से मिले-जुले हैं), अलीगढ़ जिला (उत्तर पूर्व में गंगा नदी की सीमा तक), बुलंदशहर का दक्षिणी आधा भाग (पूर्व में अनूपशहर की सीध से लेकर), गुड़गाँव जिले का दक्षिणी अंश (पलवल की सीध से) तथा अलवर जिले का पूर्वी भाग जो गुड़गांव जिले की दक्षिणी तथा भरतपुर की पश्चिमी सीमा से मिला जुला है[3]।"

हमारे मतानुसार ब्रजभाषा का निजी क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश स्थिति मथुरा, आगरा, अलीगढ़, एटा जिलों में तथा मैनपुरी जिला के अधिकांश और बुलंदशहर जिला के कुछ भाग में; राजस्थान स्थित भरतपुर, धौलपुर और करौली क्षेत्रों के कुछ भाग में तथा पंजाब स्थित गुड़गाँवा जिला के कुछ भाग में है। इसके चारों ओर मिश्रित ब्रजभाषा क्षेत्र है। इसमें उत्तर में खड़ी बोली, पूर्व में कन्नौजी, दक्षिण में बुंदेलखंडी और पश्चिम में राजस्थानी बोलियों से ब्रजभाषा का मिश्रित रूप मिलता है।

---

(१) **ब्रजभाषा व्याकरण,** (प्रथम संस्करण, १९३७ ई०), पृष्ठ १३

(२) **साप्ताहिक हिंदुस्तान,** (३ मार्च, १९५७ ई०),

(३) **ब्रज का इतिहास, प्रथम भाग** (प्रथम संस्करण, १९५५ ई०), पृष्ठ ३–४

ब्रज के पूर्वोक्त सभी स्वरूप इस समय समाप्त प्राय हैं। राजनैतिक ब्रज का तो अस्तित्व ही नहीं है, भाषायी ब्रज भी उत्तर प्रदेश और राजस्थान राज्यों में विभाजित होने से खंडित हो गया है। धार्मिक ब्रज और सांस्कृतिक ब्रज आपस में मिल कर एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में विद्यमान हैं। जब तक लोगों की श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा–भक्ति रहेगी, तब तक ब्रज का यह रूप भी विद्यमान रहेगा; चाहें इसका अस्तित्व कृष्ण–भक्तों के भाव-जगत् में ही रहे।

ब्रज का प्राचीन गौरव--

पुण्यतोया यमुना नदी की पावन धारा के तट का यह भू-भाग, जिसे आजकल ब्रज, ब्रजमंडल या मथुरामंडल कहते हैं और जो पहिले मध्य देश अथवा ब्रह्मर्षि देश के अंतर्गत शूरसेन जनपद के नाम से प्रसिद्ध था; भारतवर्ष का अत्यंत प्राचीन और महत्वपूर्ण प्रदेश माना गया है। अत्यंत पुरातन काल से ही इसकी गौरव-गाथा के सूत्र मिलते हैं। हिंदू, जैन, बौद्धों की धार्मिक अनुश्रुतियों तथा संस्कृत, पालि, प्राकृत के प्राचीन ग्रंथों में इस पवित्र भू-खंड का विशद वर्णन मिलता है।

हिंदू ग्रंथों के उल्लेख और अनुश्रुतियाँ—संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में यमुना तट की इस मनोरम भूमि और इस पर चरने वाली लंबे सींगों की सुंदर गायों के उल्लेख के साथ ही साथ, कतिपय भाष्यकारों के मतानुसार, कुछ ब्रज-लीलाओं का भी संकेत मिलता है[1]। अथर्ववेद, शतपथादि ब्राह्मण ग्रंथ, रामायण, महाभारत, हरिवंश और पुराणादि में इस भू-भाग का विविध प्रकार से वर्णन हुआ है[2]।

आर्य ग्रंथों के अनुसार मानव जाति के आदि पिता स्वायम्भुव मनु थे, जो मनुओं की परंपरा में प्रथम माने जाते हैं। उनके समय में यमुना तट का यह प्रदेश विशाल सघन बन से आच्छादित था। कालांतर में यह बन्य प्रदेश ऋषि-मुनियों की तपोभूमि बन गया, जहाँ अनेक सिद्ध पुरुष यमुना तट के आश्रमों में तपस्या करते हुए ब्रह्म का चिंतन-मनन किया करते थे। उस बन को 'मधुबन' कहा गया है। वेदों में ब्रह्मविद्या अथवा आत्मविद्या की संज्ञा 'मधुविद्या' है। कदाचित इसीलिए उस सिद्ध बन को 'मधुबन' का नाम प्राप्त हुआ था।

मधुबन के महत्व की प्राचीनतम स्वीकृति उस पौराणिक उल्लेख में है, जिसमें कहा गया है कि स्वायंभुव मनु के पौत्र ध्रुव ने नारद मुनि के उपदेश से उसी बन में तपस्या की थी। नारद जी ने ध्रुव को बतलाया था कि मधुबन की पुण्य भूमि को भगवान् श्रीहरिः का नित्य सान्निध्य प्राप्त है[3], अतः यहाँ पर तप-आराधना करने से इच्छित फल की शीघ्र उपलब्धि होती है। राजा अंबरीष को भी विष्णु के चक्र द्वारा इसी भूमि पर अभय प्रदान किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। पौराणिक जगत् के उन प्राचीन भक्तों की स्मृति रक्षार्थ ब्रज के वर्तमान मधुबन गाँव में ध्रुव आश्रम और ध्रुव गुफा तथा मथुरा नगर में ध्रुव टीला, अंबरीष टीला और चक्रतीर्थ जैसे पुण्य स्थल विद्यमान हैं, जो ब्रज की प्राचीनता और पवित्रता के साक्षी हैं।

---

(१) **वेदों में ब्रजलीला** (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ६४५)

(२) **पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ**, पृष्ठ ६४१, ८४७

(३) **पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः।** (भागवत, ४–८)

मथुरा-गोबर्धन मार्ग पर शांतनु कुंड नामक एक प्राचीन सरोवर है, जो पौरव वंश के प्रतापी महाराज शांतनु का स्मृति-स्थल माना जाता है। शांतनु के पुत्र भीष्म थे, जो श्रीकृष्ण के संबंधी और कृपा पात्र पांडवों के पितामह थे। शांतनु ने अपनी वृद्धावस्था में एक केवट कन्या सत्यवती से विवाह किया था। शांतनु कुंड के समीप का सतोहा गाँव उक्त सत्यवती के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ कहा जाता है।

मथुरा में यमुना नदी के जो प्राचीन घाट हैं, उनमें सोम (वर्तमान गोघाट), वैकुंठघाट और कृष्णगंगा नामक घाट उल्लेखनीय हैं। वाराह पुराण में कृष्णगंगा घाट की स्थिति सोमघाट और वैकुंठघाट के बीच में बतलाई गई है और उसे महर्षि व्यास का तप-स्थल कहा गया है[1]। उक्त स्थल पर किसी काल में कृष्णगंगा नामक एक नदी यमुना में मिलती थी। व्यास जी का नाम द्वैपायन कृष्ण था। उनके नाम पर 'कृष्णगंगा' और यमुना के संगम का वह घाट 'कृष्णगंगा घाट' कहा जाने लगा था। ब्रज में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि व्यास जी ने इसी स्थल पर पुराणों की रचना की थी। वर्तमान काल में कृष्णगंगा नदी तो नहीं है; किंतु इस नाम का घाट अब भी विद्यमान है। इन परंपरागत अनुश्रुतियों और पौराणिक उल्लेखों से ब्रज की प्राचीनता के महत्व पर प्रकाश पड़ता है।

प्रागैतिहासिक कालीन मधुबन के विशिष्ट भाग में यमुना नदी के तट पर एक सुंदर नगरी का निर्माण किया गया। वह नगरी पहिले मधुपुरी अथवा मधुरा और बाद में मथुरा के नाम से विख्यात हुई। उसके एक ओर यमुना पुलिन और उसके तट की सघन कुंजों का मनोरम दृश्य था तथा तीन ओर बन-उपबनों एवं लता-गुल्मों का प्राकृतिक वैभव था। उसके पश्चिम में कुछ दूर गोवर्धन पहाड़ी का नैसर्गिक सौन्दर्य था। इस प्रकार यमुना नदी और गोबर्धन पहाड़ी से परिवेष्टित वह रमणीक पुरी 'मथुरा' के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई[2]। इसके निर्माण और विकास के लिए मधु और उसके पुत्र लवण, रामानुज शत्रुघ्न और उनके पुत्र सुवाहु—शूरसेन तथा सत्वत से लेकर उग्रसेन और उनके पुत्र कंस तक क्रमशः दैत्यवंशी, सूर्यवंशी और चंद्रवंशी कई राजा-महाराजाओं के नाम पुराण प्रसिद्ध हैं।

वैसे तो हिंदू धर्म के अनेक ग्रंथों में मथुरा मंडल की महिमा का बखान हुआ है, तथापि विष्णु, स्कंद, पद्म, भागवत, वराह आदि पुराणों में तथा गोपालतापिनी और गर्ग संहिता में मथुरा-मंडल का सर्वाधिक वर्णन मिलता है। वराह पुराण तो एक प्रकार मथुरा से ही संबंधित पुराण है।

जैन-बौद्ध ग्रंथों के उल्लेख और अनुश्रुतियाँ— भारतवर्ष के अवैदिक धर्मों में जैन धर्म सबसे प्राचीन माना जाता है। इसके तीर्थंकरों की बहुत पुरानी परंपरा है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव सहित कई तीर्थंकरों का प्राचीन ब्रज अर्थात् शूरसेन प्रदेश से घनिष्ट संबंध रहा है।

---

(१) **सोमवैकुंठयोर्मध्ये कृष्णगंगेति कथ्यते।**
तत्रा तप्यत्तपो व्यासो मथुरायां स्थितोऽमलः॥ (वाराह)

(२) **गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च महानदी।**
तयोर्मध्ये पुरी रम्या मथुरा लोकविश्रुता॥ (वाराह)

जिनसेनाचार्य कृत 'महापुराण' में लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव के आदेश से इंद्र ने इस भूतल पर जिन ५२ देशों का निर्माण किया था, उनमें एक शूरसेन देश भी था, जिसकी राजधानी मथुरा थी[1]। जैन मान्यता के अनुसार बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ श्रीकृष्ण के भाई थे, इसलिए जैन धर्मावलंबियों को भी श्रीकृष्ण के जन्म स्थान मथुरा और ब्रज का सदा ही महत्व स्वीकृत रहा है।

सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का विहार भी मथुरा में हुआ था[2], तथा अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर जी भी मथुरा पधारे थे। अंतिम केवलि जम्बूस्वामी के तप और निर्वाण की भूमि होने से मथुरा जैनियों के लिए विशेष रूप से तीर्थ स्थान रहा है। मथुरा का चौरासी नामक स्थल जम्बूस्वामी की तपोभूमि होने के साथ ही साथ उनका निर्वाण-स्थल भी कहा जाता है। इस प्रकार ब्रज प्रदेश और मथुरा कई तीर्थंकरों की विहार भूमि, विविध मुनियों की तपोभूमि एवं अनेक सिद्ध पुरुषों की निर्वाण भूमि होने के साथ ही साथ जैन धर्म के सुप्रसिद्ध स्तूपों, मंदिरों और कला कृतियों के कारण अत्यंत प्राचीन काल से ही सिद्ध क्षेत्र तथा उत्तरापथ का प्रमुख तीर्थ स्थान माना गया है।

बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय की मान्यता है कि इस भू-तल के मानव समाज ने सर्व सम्मति से अपना जो नेता अर्थात् राजा निर्वाचित किया था, वह 'महा सम्मत' कहलाता था। उसने मथुरा के निकटवर्ती भू-भाग में अपना प्रथम राज्य स्थापित किया था। इसीलिए 'विनय पिटक' में मथुरा को इस भू-तल का 'आदि राज्य' कहा गया है[3]। भगवान् बुद्ध के जन्म से पहिले भारतवर्ष में १६ बड़े और अनेक छोटे जनपद थे। शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रज की गणना आरंभ से ही महा जनपदों में हुई है। पालि ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' में उन १६ महा जनपदों का नामोल्लेख मिलता है और उनमें पहिला नाम 'शूरसेन' जनपद का है। इस प्रकार बौद्ध धर्म के ग्रंथों में भी प्राचीन ब्रज प्रदेश की महत्ता मानी गई है।

यमुना और गोबर्धन की महत्ता—ब्रजमंडल के प्राचीन गौरव की वृद्धि में यमुना और गोबर्धन की महत्ता का अनुपम योग रहा है। पुरातत्व की दृष्टि से ये दोनों कृष्ण-काल से भी पूर्व के अवशेष हैं; अतः कृष्ण कालीन निश्चित चिन्हों के रूप में इनका असाधारण महत्व माना गया है। यमुना उत्तर भारत की पुण्यतोया नदियों में गंगा के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यमुना और गंगा के मध्यवर्ती पुरातन प्रदेश में आर्य संस्कृति का सर्वोत्तम रूप सँभारा—सजाया गया था। उनके संगम पर ही आर्य सभ्यता के आदिम केन्द्र प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग के समीप का वर्तमान झूसी) की स्थापना हुई थी। यमुना के तट पर प्रागैतिहासिक काल में मधुपुरी अथवा मधुरा (वर्तमान मथुरा) बसायी गई थी, जहाँ द्वापर युग में भगवान् कृष्ण ने जन्म लिया था। इसी के तट पर महाभारत कालीन इंद्रप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली) और जैन साहित्य के प्राचीन नगर सौरिपुर (वर्तमान बटेश्वर) की प्रतिष्ठा की गई थी। बौद्ध साहित्य की प्राचीन नगरी कौशांबी भी इसी के तट पर स्थित थी।

---

(१) महापुराण (पर्व १६, श्लोक १५५)

(२) जिनप्रभ सूरि कृत 'विविध तीर्थकल्प' का 'मथुरापुरी कल्प' प्रकरण

(३) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ ३०

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यमुना धर्मराज यम की बहिन है, अतः इसे यमी भी कहा जाता है। बहिन की पूजा के साथ भाई अर्थात् मृत्यु के देवता यम की पूजा भी ब्रज में प्रचलित हो गई है। मथुरा इस देश में यम–पूजा का कदाचित एक मात्र स्थान है। कार्तिक शुक्ला द्वितीया को यह पूजा मथुरा में प्रति वर्ष एक महान् पर्व के रूप में की जाती है। उस अवसर पर भारत के कौने–कौने से लाखों नर–नारी मथुरा आकर यमुना में स्नान करते हैं। उन स्नानार्थियों में अनेक भाई–बहिन होते हैं, जो उक्त अवसर पर स्नान करने के लिए ही मथुरा आते हैं। भाई–बहिन के स्नेह–संबर्धन का यह अनुपम त्यौहार यमुना नदी और मथुरामंडल के महत्व को बढ़ा रहा है। संस्कृत और ब्रजभाषा के अनेक कवियों ने यमुना की प्रशस्ति के छंदों की रचना द्वारा अपनी वाणी को पवित्र किया है।

गोवर्धन ब्रज की एक छोटी पहाड़ी है; किंतु इसे गिरिराज (पर्वतों का राजा) कहा जाता है। इसे यह महत्व इसलिए प्राप्त हुआ है कि कृष्ण-काल का यह एक मात्र स्थिर अवशेष है। उस काल की यमुना नदी जहाँ समय–समय पर अपनी धारा बदलती रही है, वहाँ गोबर्धन अपने मूल स्थान पर ही अविचल रूप में विद्यमान है। इसे कृष्ण का स्वरूप और उनका प्रतीक भी माना जाता है और इसी रूप में इसकी पूजा की जाती है। बल्लभ संप्रदाय के उपास्य देव श्रीनाथ जी का प्राकट्य स्थल होने के कारण इसकी धार्मिक महत्ता में चार चाँद लग गये हैं। 'गर्ग संहिता' में इसके महत्व का कथन करते हुए कहा गया है, – 'गोबर्धन पर्वतों का राजा और हरि का प्यारा है। इसके समान पृथ्वी या स्वर्ग में कोई दूसरा तीर्थ नहीं है[१]।' यद्यपि वर्तमान काल में इसका आकार-प्रकार और प्राकृतिक सौन्दर्य पहिले की अपेक्षा कम हो गया है, फिर भी इसका महत्व कम नहीं हुआ है।

सप्त पुरियों में मथुरा की गणना—भारतवर्ष के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव की आधार-शिलाएँ इसकी सात महापुरियाँ हैं। 'गरुड़पुराण' में इनके नाम इस क्रम से बतलाये गये हैं—१. अयोध्या, २. मथुरा, ३. माया, ४. काशी, ५, कांची, ६. अवंतिका और ७. द्वारिका[२]। इनमें मथुरा का स्थान अयोध्या के पश्चात् अन्य पुरियों में सबसे पहिले रखा गया है। पद्मपुराण में मथुरा का महत्व सर्वोपरि मानते हुए कहा गया है कि यद्यपि काशी आदि सभी पुरियाँ मोक्ष-दायिनी हैं, तथापि मथुरा पुरी धन्य है। यह पुरी देवताओं के लिये भी दुर्लभ है[३]। इसी का समर्थन 'गर्ग संहिता' में करते हुए बतलाया है कि पुरियों की रानी कृष्णपुरी मथुरा ब्रजेश्वरी है, तीर्थेश्वरी है, यज्ञ-तपोनिधियों की ईश्वरी है। यह मोक्षप्रदायिनी धर्मपुरी मथुरा नमस्कार योग्य है[४]।

---

१. अहो गोबर्धनः साक्षात् गिरिराजो हरिप्रियः।
तत्समानं न तीर्थंहि विद्यते भूतलेदिवि ॥ (गर्गसंहिता, गिरिराज खंड, अध्याय ६)

२. अयोघ्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवंतिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिका ॥ (गरुड़ पुराण)

३. काश्यात्यो यद्यपि सन्ति पुर्यस्तासां हु मध्ये मथुरैव धन्या।
तां पुरी प्राप्य मथुरांमदीयां सुर दुर्लभाम् ॥ (पद्मपुराण ७३–४४, ४५)

४. काश्यादि सर्गायदिसंति लोके तासातु मध्ये मथुरैव धन्या ॥३३॥
पुरीश्वरीं कृष्णपुरीं व्रजेश्वरीं तीर्थेश्वरीं यज्ञतपोनिधीश्वरीम्।
मोक्षप्रदी धर्मधुरंधरां परां मधोर्वने श्रीमथुरां नमाम्यहम् ॥३४॥ (गर्ग संहिता)

चार धामों का ब्रज से संबंध—भारतवर्ष के चारों कोनों पर स्थित चार पवित्र धाम भी सप्त महापुरियों की भाँति अपना अनुपम सांस्कृतिक महत्व रखते हैं। इनमें से उत्तर, पूर्व और पश्चिम के तीन—बदरीनाथ, जगन्नाथ और द्वारिका—श्रीकृष्ण के धाम होने से ब्रज अर्थात् मथुरामंडल से घनिष्ट संबंध रखते हैं। केवल दक्षिण का चौथा धाम रामेश्वर ही श्रीराम के सेतु-बंध की स्मृति में निर्मित हुआ है।

ब्रज-भक्तों की भावना के अनुसार वैसे इन चारों धामों के मूल स्रोत ब्रज में ही माने गये हैं। यहाँ के आदिबदरी नामक स्थान में बदरीनाथ और अलकनंदादि उत्तर के तीर्थ हैं, राधा-कुंड के निकट गिरिराज की सघन कुंजों में पूर्व के जगन्नाथ विराजमान हैं, कोसी के अंचल में पश्चिम के द्वारिकाधीश तथा कामबन में दक्षिण के रामेश्वर की विद्यमानता है। इस प्रकार चारों धामों के कारण भी ब्रज की अपूर्व महिमा मानी गई है।

ब्रज प्रदेश के आदर्श आचार-विचार—मनुस्मृति में भारतवर्ष के हृदय-स्थल के रूप में ब्रह्मर्षि देश का उल्लेख हुआ है। इसी ब्रह्मर्षि देश के अंतर्गत कुरु, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन प्रदेशों की स्थिति मानी गई है। मनु ने यहाँ के निवासियों के आचार-विचार समस्त पृथ्वी के मानवों के लिए आदर्श बतलाये हैं[1]। मनु का यह भी आदेश है कि राजा को इसी भू-भाग के छोटे-बड़े वीरों से अपनी सेना का संयोजन करना चाहिये[2]। इस प्रकार शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रज प्रदेश के निवासियों के आदर्श चरित्र और अनुपम वीरत्व की यह पुरातन स्वीकारोक्ति है।

ब्रज की आध्यात्मिकता के सूत्र—भगवान् श्रीकृष्ण की चिदानंदमयी लीला ब्रज की आध्यात्मिकता की आधार है, जिसके रहस्यात्मक पाँच सूत्र हैं—गोष्ठ (ब्रज), गो, गोपाल, गोप और गोपी। उपनिषदों तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रंथों में इनके रहस्यात्मक अर्थ बतलाये गये हैं। विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण जी ने इनका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

"यह शरीर ब्रज भूमि है, इंद्रियाँ गौएँ हैं, निर्लेप आत्मा गोपाल है, जीव गोप और वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। वैदिक साहित्य में भी सहस्रों स्थानों पर इंद्रियों को 'गो' की संज्ञा दी गई है। ये गौएँ जहाँ अमृतमय दुग्ध का प्रस्रवण कर गोपाल को अर्पण करती हैं, वह ब्रजभूमि धन्य है[3]।

गोपों के पुरोहित शांडिल्य ऋषि ने वज्रनाभ को ब्रज का महत्व बतलाते हुए इसे साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप कहा है। उन्होंने बतलाया कि 'ब्रज' शब्द का अर्थ व्याप्ति है। व्यापक होने के कारण ही इसका नाम 'ब्रज' है। सत्व, रज, तम, गुणों से अतीत होने के कारण परब्रह्म ही व्यापक है, अतः 'ब्रज' परब्रह्म स्वरूप है। वह सदानंद और परम ज्योतिर्मय है[4]। ब्रज के महत्व की इससे बढ़ कर और व्याख्या नहीं हो सकती है।

---

[1] कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षि देशोवै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥
एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वे मानवः॥
(मनुस्मृति, २-१९, २०)

[2] कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाः शूरसेनजान्।
दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत्॥ (मनुस्मृति, ७-१९३)

[3] ब्रज का आध्यात्मिक रहस्य (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ६४०)

[4] भागवत माहात्म्य, (१-१९, २०)

ब्रज प्रशस्ति—आध्यात्मिक महिमामंडित, प्राकृतिक सौन्दर्यसम्पन्न तथा भौतिक वैभवशालिनी ब्रज की इस पावन भूमि में श्रीकृष्ण ने जन्म लिया था और इसके निकटवर्ती बन्य प्रदेश के विविध स्थलों में उन्होंने अनेक लीलाएँ की थीं । इससे इस प्रदेश को जो असाधारण महत्व प्राप्त हुआ, वह इसकी पूर्व परंपराओं से भी कहीं अधिक गरिमापूर्ण है । श्रीकृष्ण से संबंधित पुराणों में तथा कृष्णोपासना के अन्य ग्रंथों में ब्रज की इस अलौकिक गौरव-गाथा का विशद वर्णन किया गया है । ये सभी ग्रंथ ब्रज की प्रशस्ति के कथनों से भरे पड़े हैं ।

श्रीमद् भागवत में ब्रज के इस अलौकिक महत्व के कारण जगतपिता ब्रह्मा जी द्वारा ब्रजवासियों की सराहना कराते हुए कहा गया है,—"इनका अहोभाग्य है, धन्य भाग्य है कि जिनके सुहृद् स्वयं परमानंद स्वरूप सनातन परब्रह्म हैं ।" इसी ग्रंथ में परम भागवत उद्धव जी द्वारा यह कामना कराई गई है कि वे ब्रज-वृंदावन की लता-गुल्म अथवा रूखड़ी हो जाँय, ताकि ब्रज-रज का वे निरंतर स्पर्श कर सकें—

अहोभाग्य महोभाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम् ।
यन्मित्र परमानन्दं पूर्णब्रह्म सनातनम् ।।
आसामहो चरण रेणु जुषामहं स्यां ।
वृन्दावने किमपि लतौषधीनाम् ।।

संस्कृत ग्रंथों से भी अधिक ब्रजभाषा के भक्त-कवियों की रचनाओं में ब्रज-प्रशस्ति मिलती है । यहाँ पर कतिपय प्रमुख कवियों के तत्संबंधी हृदयोद्गार उद्धृत किये जाते हैं—

सूरदास (सं० १५३५–१६४०)

कहाँ सुख ब्रज कौसौ संसार !
कहाँ सुखद बंसीबट जमुना, यह मन सदा बिचार ।।
कहाँ बन धाम, कहाँ राधा संग, कहाँ संग ब्रज - बाम ।
कहँ रस - रास बीच अंतर सुख, कहाँ नारि तन ताम ।।
कहाँ लता तरु-तरुप्रति झूलन, कुंज-कुंज नव धाम ।
कहाँ बिरह सुख बिन गोपिन संग, 'सूर' स्याम मन काम ।।

परमानंददास (१५५०–१६४१)

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहाँ नहिं नंद जसोदा गोपी, जहाँ नहिं ग्वाल - बाल और गाय ।।
जहाँ न जल जमुना कौ निर्मल, और नहीं कदमनि की छाय ।
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज-रज तजि मेरी जाइ बलाय ।।

कृष्णदास (सं० १५५३–१६३९)

जो वन बसौं तो बसौं वृंदाबन, गाँव बसौं तो बसौं नंदगाम ।
नगर बसौं तो बसौं मधुपुरी, यमुना तट कीजै विस्राम ।।
गिरि जो बसौं तौ बसौं गोवर्धन, अद्भुत भूतल कीजै ठाम ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिध[illegible]र मेरौ, जन्म करौ इहि पूरन काम ।।

चतुर्भुजदास (सं० १५८७–१६४२)

ललित ब्रज देस गिरिराज राजें ।
घोष-सीमंतिनी संग गिरिवरधरन, करति नित केलि तहँ काम लाजें ।।
त्रिविधि पौन संचरें, सुखद झरना झरें, ललित सौरभ सरस मधुप गाजें ।
ललित तरु फूल-फल फलित खट रितु सदा, 'चतुर्भुजदास' गिरिधर समाजें ।।

नंददास (सं० १५९०–१६४०)

प्रेम-धुजा रसरूपिनी, उपजावन सुख पुंज ।
सुंदर स्याम विलासिनी, नव वृंदावन कुंज ।।

रसखान (सं० १५९०–१६७५)

मानुष हौं तो वही रसखान, वसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ।।
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ, जु धर्यौ कर छत्र पुरंदर कारन ।
जो खग हौं तौ बसेरौ करौं नित, कालिंदी-कूल कदंब की डारन ।।

बिहारीलाल (सं० १६५२–१७२१)

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ।।

गो० हरिराय (सं० १६४७–१७७२)

श्री ब्रज, ब्रज-रज, ब्रज-वधू, ब्रज के जन समुदाय ।
ब्रज-कानन, ब्रज-गिरिन कों, वंदौं सदा सत भाय ।।

नागरीदास (सं० १७५६–१८२१)

ब्रज-वृंदावन स्याम पियारी भूमि है । तहँ फूल-फूलनि भार रह द्रुम भूमि हैं ।।
नव दंपति पद अंकनि लोट लुटाइयै । ब्रज-नागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइयै ।।
नंदीस्वर बरसानौ गोकुल गाँवरौ । बंसीबट संकेत रमत तहँ साँवरौ ।।
गोबर्धन राधाकुंड सु जमुना जाइयै । ब्रज-नागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइयै ।।

ललित किशोरी (सं० १८८२–१९३०)

जमुना पुलिन कुंज गहबर की, कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊं ।
पद-पंकज प्रिया–लाल मधुप ह्वै, मधुरे-मधुरे गूंज सुनाऊं ।।
कूकर ह्वै ब्रज बीथिन डोलौं, बचे सीथ संतन के पाऊं ।
'ललितकिसोरी' आस यही मन, ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊं ।।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र (सं० १९०७–१९४१)

श्री पद अंकित ब्रज मही, छवि न कही कछु जाइ ।
क्यों न रमा हू कौ हियौ, या सुख कों ललचाइ ।।
परम प्रेम गुन रूप रस, ब्रज संपदा अपार ।
जै - जै - जै श्री गोपिका, जै - जै नंद–कुमार ।।

द्वितीय अध्याय

ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन

उल्लेख और सूचनाएँ—किसी भी क्षेत्र की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए वहाँ की प्राकृतिक और भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। संस्कृत और ब्रजभाषा के विविध ग्रंथों में ब्रज के धार्मिक महत्व पर अधिक प्रकाश डाला गया है; किंतु उनमें कुछ उल्लेख इसकी प्राकृतिक और भौगोलिक स्थिति से संबंधित भी मिल जाते हैं। ये उल्लेख अधिकतर ब्रज के उन भक्त महानुभावों की कृत्तियों में हैं, जिन्होंने १६ वीं शती के बाद यहाँ निवास कर अपनी रचनाएँ की थीं। उनमें से कुछ महानुभावों ने ब्रज के लुप्त स्थलों और भूले हुए उपकरणों का अन्वेषण कर उनके महत्व को फिर से स्थापित करने का प्रयास किया था। ऐसे मनीषियों में सर्वश्री रूपगोस्वामी, नारायण भट्ट, गंगग्वाल और जगतनंद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रूपगोस्वामी कृत 'मथुरा माहात्म्य', नारायण भट्ट कृत 'ब्रज भक्ति विलास' और जगतनंद कृत 'ब्रज वस्तु वर्णन' में इस विषय की कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं।

ब्रज भूमि की रचना—किसी प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति का आधार अधिकतर उसकी भू-रचना पर निर्भर होता है। ब्रज प्रदेश यमुना नदी के मैदानी भाग में स्थित है, अतः यहाँ की भूमि प्रायः समतल है। इसकी औसतन ऊँचाई समुद्र की सतह से लगभग ६०० फीट है। इसका उत्तरी भाग छहसौ फीट से कुछ ऊँचा है और दक्षिणी भाग छहसौ से कुछ नीचा; अतः यहाँ की भूमि का ढलाव अधिकतर उत्तर से दक्षिण की ओर है। इसके प्रायः बीच में होकर यमुना नदी की धारा उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर प्रवाहित होती है।

भू-रचना की दृष्टि से ब्रज को तीन प्राकृतिक भागों में विभाजित किया जाता है; जिन्हें १. मैदानी भाग, २. पथरीला किंवा पहाड़ी भाग और ३. खादर का भाग कहते हैं। मैदानी भाग बहुत बड़ा है, जो यमुना के दोनों ओर पूर्व और पश्चिम दिशाओं में फैला हुआ है। प्राचीन काल में इस भाग में यमुना के दोनों ओर बड़े-बड़े बन थे, जिनके कारण ब्रज में खूब वर्षा होती थी। उस समय यह भाग बड़ा रमणीक और उपजाऊ था। प्राचीन बनों के निरंतर काटे जाने से वर्षा कम होने लगी है और राजस्थानी रेगिस्तान का फैलाव इधर को बढ़ने लगा है, जिससे इस क्षेत्र की जलवायु और उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। फिर भी यमुना से पूर्व दिशा वाला मैदानी भाग अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ है; क्यों कि यह दोमट मिट्टी से बना है। पश्चिम दिशा वाले मैदानी भाग की भूमि बालूदार और मटियार है; अतः यह पूर्वी भाग की दोमट भूमि की अपेक्षा कम उपजाऊ है।

पथरीला और पहाड़ी भाग ब्रज की उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी दिशाओं में है। इस भाग में कई छोटी पहाड़ियाँ हैं, जिनका धार्मिक महत्व बहुत अधिक है। वैसे ये नाम मात्र की पहाड़ी हैं, क्यों कि इनकी औसतन ऊँचाई सौ फीट से भी अधिक नहीं है।

खादर का भाग यमुना नदी के दोनों ओर की भूमि पर है। यह भू–भाग यमुना तट पर स्थित दो पतली पट्टियों जैसा है और यह अधिकतर नदी की बाढ़ से लाई हुई मिट्टी से बना है। यह भाग भी उपजाऊ है; किंतु प्रति वर्ष बरसात में इसके जल मग्न होने की आशंका रहती है, अतः इसमें अधिक खेती नहीं हो पाती है।

पर्वत—

ब्रज का अधिकांश भाग यमुना नदी के मैदानी भाग में होने के कारण, यहाँ कोई पर्वत या पहाड़ नहीं हैं। जैसा पहिले कहा गया है, इसके पश्चिमी भाग में कुछ नीची पहाड़ियाँ हैं, जो अरवली पहाड़ी की टूटी हुई शृंखला के रूप में विद्यमान हैं। इन नीची और छोटी पहाड़ियों को इनके धार्मिक महत्व के कारण ही 'गिरि' या 'पर्वत' कहा जाता है।

कवि जगतनंद के मतानुसार ब्रज में ५ पर्वत या पहाड़ियाँ हैं, जिनके नाम १. गोबर्धन पहाड़ी, २. नंदगाँव की पहाड़ी, ३. बरसाना की पहाड़ी, ४. कामबन की पहाड़ी और ५. चरण पहाड़ी हैं[1]। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. गोबर्धन पहाड़ी—मथुरा नगर से प्रायः १३ मील दूर ब्रज के गोबर्धन गाँव की यह एक छोटी पहाड़ी है; किंतु इसके अनुपम धार्मिक महत्व के कारण इसे 'गिरिराज' (पर्वतों का राजा) कहा जाता है। इसकी ऊँचाई प्रायः १०० फीट और लंबाई ५ मील के लगभग है। ऐसी अनुश्रुति है, इसकी ऊँचाई पहिले बहुत अधिक थी; किंतु वह घटते–घटते इतनी कम रह गई है। प्राचीन वृंदावन का विस्तार भी पहिले गोबर्धन तक था और इसके समीप ही यमुना नदी प्रवाहित होती थी। 'गर्ग संहिता' में गोबर्धन पर्वत की वंदना करते हुए इसे वृंदाबन में विराजमान और वृंदाबन की गोद में निवास करने वाला गोलोक का मुकुटमणि कहा गया है[2]।

पौराणिक उल्लेखों के अनुसार कृष्ण–काल में यह अत्यंत हरा-भरा रमणीक पर्वत था। इसमें अनेक कंदराएँ थीं और उनसे शीतल जल के अनेक झरने झरा करते थे। उस काल के ब्रजवासी गण उसके निकट अपनी गायें चराया करते थे, अतः वे उक्त पर्वत को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। श्रीकृष्ण ने इंद्र की परंपरागत पूजा बंद कर गोबर्धन की पूजा प्रचलित की थी, जो उसकी उपयोगिता के लिए उनकी श्रद्धांजलि थी।

ब्रज के भक्त महानुभावों ने, विशेष कर वल्लभ संप्रदायी कवियों ने, गोबर्धन के प्रति अत्यंत श्रद्धा व्यक्त की है। अष्टछाप के भक्त कवियों ने गिरिराज-गोबर्धन को राधा–कृष्ण की केलि–क्रीड़ाओं का केन्द्र बतलाते हुए उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का भी बड़ा भव्य वर्णन किया है। चतुर्भुजदास ने कहा है—"वहाँ शीतल, मंद, सुगंधित पवन चलती है; सुंदर झरना झरते हैं;

---

(१) गोबर्धन नंदगाँव में, अरु बरसाना, काम।
चरन पहाड़ी पाँच ये, 'जगतनंद' अभिराम॥ (ब्रज वस्तु वर्णन)

(२) त्वंहि गोबर्धनोनाम वृन्दारण्ये विराजसे॥१४॥
नमो वृन्दावनांकाय तुभ्यं गोलोक मौलिने॥१५॥ (गर्ग संहिता, वृंदावन खंड)

भ्रमर गण गुंजार करते हैं और षट् ऋतुओं के सुंदर फूल—फल वहाँ सदैव विद्यमान रहते हैं[१] ।" छीतस्वामी का कथन है,—"गोबर्धन के सुंदर शिखरों पर नवीन वनस्पति मनोरम दल, फूल, फल सहित शोभायमान है और उनसे जहाँ-तहाँ झरने झर रहे हैं[२] ।

कृष्ण—काल में इंद्र के प्रकोप से एक बार ब्रज में भयंकर वर्षा हुई थी । उस समय ब्रजभूमि के जल मग्न होने की आशंका उत्पन्न हो गई थी । श्रीकृष्ण ने गोबर्धन द्वारा उस समय ब्रजवासियों की जीवन—रक्षा की थी । भक्तों का विश्वास है, श्रीकृष्ण ने उस समय गोबर्धन पर्वत को छाता के समान धारण कर उसके नीचे ब्रजवासियों को एकत्र कर लिया था । उस अलौकिक घटना का उल्लेख अत्यंत प्राचीन काल से ही पुराणादि धार्मिक ग्रंथों में और कला-कृतियों में होता रहा है[३] । ब्रज के भक्त कवियों ने उसका बड़ा उल्लासपूर्ण कथन किया है[४] । आज-कल के वैज्ञानिक युग में उस अलौकिक घटना को उसी रूप में मानना संभव नहीं है । उसका बुद्धिगम्य अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के आदेशानुसार उस समय ब्रजवासियों ने गोबर्धन की कंदराओं में आश्रय लेकर वर्षा से अपनी रक्षा की थी ।

गोबर्धन के महत्व की सबसे बड़ी बात यह है कि यह कृष्ण-काल का एक मात्र स्थायी और स्थिर चिन्ह है । उस काल का दूसरा चिन्ह यमुना नदी भी है, किंतु उसका प्रवाह लगातार बदलने से उसे स्थायी चिन्ह नहीं कहा जा सकता है । समस्त भारतवर्ष से लाखों नर—नारी प्रतिवर्ष गोबर्धन के दर्शन और इसकी परिक्रमा करने के लिए आते हैं । ब्रज—यात्रा के अवसर पर यहाँ यात्री गण कई दिनों तक ठहरते हैं । उस समय यहाँ पर अनेक उत्सव होते हैं । भक्तों की मान्यता के अनुसार गोबर्धन भगवान् श्रीकृष्ण का प्रतिरूप ही है[५] ।

२. **नंदगाँव की पहाड़ी**—इसे 'नंदीश्वर' अथवा 'रुद्रगिरि' भी कहा जाता है । यह ब्रज के नंदगाँव नामक गाँव में है, जो कृष्ण—काल में श्रीकृष्ण के पालक—पिता नंद गोप की

---

(१) ललित ब्रज देस गिरिराज राजें ।
घोष—सीमंतिनी संग गिरिवरधरन, करति नित केलि तहँ काम लाजें ।।
त्रिविध पौन संचरें, सुखद झरना झरें, ललित सौरभ सरस मधुप गाजें ।
ललित तरु फूल-फल फलित षट रितु सदा, 'चतुर्भुजदास' गिरिधर समाजें ।।

(२) गोबर्धन के सिखर चारु पर, फूली नव माधुरी जाई ।
मुकुलित फल दल सघन मंजरी, सुमनस सोभा बहुतै भाई ।।
कुसुमित कुंज पुंज द्रोणी द्रुम, निर्झर झरत अनेकै ठांई ।
'छीतस्वामि' ब्रज जुवति जूथ में बिहरत तहँ गोकुल के राई ।।

(३) हरिवंश (७२–७६), पद्मपुराण (३७२, १८१–२१७), ब्रह्मपुराण (१८७), विष्णुपुराण (१०, १–१२, ५६), भागवत (१०–३७)

(४) १. गोबर्धन धरनी धर्यौ, मेरे बारे कन्हैया । (परमानंददास)
२. नंदलाल गोबर्धन कर धार्यौ । (कुंभनदास)

(५) गिरिवर कृष्ण की अनुहारि । (सूरदास)

राजधानी थी। इस पहाड़ी की लंबाई आधी मील और ऊँचाई प्रायः १५० फीट है। इसके सबसे ऊँचे भाग पर नंदराय जी का मंदिर है। पहाड़ी के चारों ओर ढलाव पर और उसके नीचे नंदगाँव की बस्ती है। ब्रज के भक्त कवियों ने इस पहाड़ी का उल्लेख 'नंदीश्वर' के नाम से किया है[1]।

३. बरसाना की पहाड़ी—इसे 'ब्रह्मगिरि' भी कहते हैं। यह ब्रज के बरसाना नामक गाँव में है, जो नंदगाँव से प्रायः ४ मील दक्षिण में है। कृष्ण-काल में यह राधा जी के पिता वृषभानु गोप का निवास-स्थल था। बरसाना की पहाड़ी नंदगाँव पहाड़ी से कुछ बड़ी है और इसमें कई धार्मिक स्थल हैं, जो प्राकृतिक दृष्टि से भी बड़े रमणीक हैं। इस पहाड़ी के एक ऊँचे स्थल पर श्री लाड़िली जी का सुंदर मंदिर है तथा दूसरे स्थलों पर अन्य मंदिर बने हुए हैं। इसके चारों ओर बरसाना गाँव की बस्ती है। ब्रज के भक्त कवियों ने बरसाना का भी उल्लेख राधा-कृष्ण की लीलाओं के प्रसंग में किया है[2]।

४. कामबन की पहाड़ी—यह राजस्थान के 'कामवन' नामक स्थान में है, जो ब्रज के अंतर्गत है। इस पहाड़ी को 'कामगिरि' भी कहा जाता है। यह प्रायः चारसौ गज लंबी है।

५. चरण पहाड़ी—यह छोटी पहाड़ी नंदगाँव और बरसाना की पहाड़ियों की भाँति मथुरा जिले की छाता तहसील में है। नंदगाँव से प्रायः ६ मील उत्तर-पूर्व की ओर यह ब्रज के 'छोटी बठैन' नामक गाँव में है। यह चारसौ गज लंबा और केवल दस फीट ऊँचा पत्थरों का एक ढेर मात्र है; किंतु इसके धार्मिक महत्व के कारण इसे 'चरण पहाड़ी' कहा जाता है। भक्तों की मान्यता है कि यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-चिन्ह हैं। ब्रज में एक दूसरी 'चरण पहाड़ी' भी है, जो कामवन के निकट है। वहाँ भी श्रीकृष्ण के चरण चिन्ह बतलाये जाते हैं।

उपर्युक्त पाँचों पहाड़ियों के अतिरिक्त बरसाने के निकटवर्ती ऊँचागाँव में भी एक छोटी पहाड़ी है, जिसे 'सखी गिरि' कहा जाता है। उसी के समीप रनकौली गाँव में भी एक छोटी पहाड़ी है। ब्रज के भक्त कवियों की रचनाओं में इन पहाड़ियों का नामोल्लेख नहीं मिलता है। परमानंददास के एक पद में केवल चरण पहाड़ी का उल्लेख हुआ है[3]।

टीले—ब्रज में उपर्युक्त पक्की पहाड़ियों के अतिरिक्त कच्चे टीले भी बहुत बड़ी संख्या में हैं। मथुरा नगर का अधिकाँश भाग इन टीलों पर बसा हुआ है और नगर के चारों ओर भी दूर-दूर तक अनेक टीले फैले हुए हैं। अधिकांश टीले मथुरा नगर के बार-बार बसने और उजड़ने के अवशेष हैं। इनमें कंकाली टीला, भूतेश्वर टीला, कटरा केशवदेव, गोकर्णेश्वर टीला, सप्तर्षि टीला, जेल टीला, चौबारा टीला आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी खुदाई में जो बहु संख्यक प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनका पुरातात्विक और ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है।

---

(१) नंदीश्वर तें नंद जसोदा गोपिनि न्यौत बुलाए। (कुंभनदास)

(२) १. बरसाने वृषभान गोप कें लाल की भई सगैया। (परमानंददास)
२. चले कुँवर लै बरसाने कों, प्रफुलित मन व्रजराज। (कुंभनदास)

(३) लुकि लुकि खेलत आँख मिचौनी 'चरन पहाड़ी' ऊपर। (परमानंददास)

नदी—

यमुना—भारतवर्ष की सर्वोपरि पवित्र और प्राचीन नदियों में यमुना की गणना गंगा के साथ की जाती है। यमुना–गंगा के दोआब की पुण्यभूमि में ही आर्यों की पुरातन संस्कृति का गौरवशाली रूप बना था। ब्रजमंडल की तो यमुना एक मात्र महत्वपूर्ण नदी है। जहाँ तक ब्रज संस्कृति का संबंध है, यमुना को केवल नदी कहना ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः यह ब्रज संस्कृति की सहायक, इसकी दीर्घकालीन परंपरा की प्रेरक और यहाँ की धार्मिक भावना की प्रमुख आधार रही है।

पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार यह देवस्वरूपा है। भुवनभास्कर सूर्य इसके पिता, मृत्यु के देवता यम इसके भाई और श्री कृष्ण इसके पति माने गये हैं। जहाँ भगवान् कृष्ण ब्रज संस्कृति के जनक कहे जाते हैं, वहाँ यमुना इसकी जननी मानी जाती है। इस प्रकार यह सच्चे अर्थों में ब्रजवासियों की माता है; अतः ब्रज में इसे 'यमुना मैया' कहना सर्वथा सार्थक है। 'पद्मपुराण' में यमुना के आध्यात्मिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है,—'जो सृष्टि का आधार है और जिसे लक्षणों से सच्चिदानंद स्वरूप कहा जाता है, उपनिषदों ने जिसका ब्रह्म रूप से गायन किया है, वही परम तत्व साक्षात् यमुना है[1]।' गौड़ीय विद्वान श्री रूप गोस्वामी ने यमुना को साक्षात् चिदानंद मयी बतलाया है[2]। 'गर्ग संहिता' में यमुना के पंचांग—१. पटल, २. पद्धति, ३. कवच, ४. स्तोत्र और ५. सहस्रनाम का उल्लेख है। 'यमुना सहस्रनाम' में यमुना जी के एक हजार नामों से उसकी प्रशस्ति का गायन किया गया है[3]। यमुना के परम भक्त इसका प्रति दिन पाठ करते हैं। इस सहस्रनाम के आरंभिक और अंतिम अंश इस प्रकार हैं—

आरंभ—**ओम् कालिन्दी यमुना कृष्णरूपा सनातनी।**
कृष्ण वामांश संभूता परमानन्द रूपिणी॥ ४॥
गोलोक वासिनी श्यामा वृंदाबन विनोदनी।
राधा सखी रासलीला रासमंडल मंडनी॥ ५॥

अंत—**वर्द्धिनी तत्रेसां साक्षाद् गर्भ वासिनि कृंतनी।**
गोलोक धाम धामिनी निकुंज निज मंजरी॥ २७॥
सर्वोत्तम मास सर्वपुण्या सर्व सौन्दर्य श्रृंखला।
सर्वतीर्थोपरिगता सर्वतीर्थाधिदेवता॥ २८॥

ब्रजभाषा के भक्त कवियों और विशेषतया बल्लभ संप्रदायी कवियों ने गिरिराज गोबर्धन की तरह यमुना के प्रति भी अतिशय श्रद्धा व्यक्त की है। इस संप्रदाय का शायद ही कोई कवि हो, जिसने यमुना के प्रति अपनी काव्य–श्रद्धांजलि अर्पित न की हो। उनका यमुना-स्तुति संबंधी साहित्य ब्रजभाषा भक्ति काव्य का एक उल्लेखनीय अंग है। यहाँ कुछ प्रमुख कवियों के यमुना संबंधी पदों की केवल एक-एक पंक्ति उद्धृत की जाती हैं —

---

(१) **रमोयः परमाधारः सच्चिदानंद लक्षणः।**
ब्रह्मेत्युपनिषद् गतिः एव यमुना स्वयं॥ (पद्मपुराण, पाताल खंड, मरीचि सर्ग)

(२) **चिदानंदमयी साक्षात् यमुना यम भीतिनत** । (मथुरा माहात्म्य)

(३) **गर्ग संहिता** (माधुर्य खंड, अध्याय १९)

(१) **भक्त कों सुगम श्री यमुने, अगम औरें।** (सूरदास)
(२) **श्री यमुने पर तन-मन-धन-प्राण वारौं।** (कुंभनदास)
(३) **जो जमुना कौ दरसन पावै अरु जमुना-जल पान करै।** (परमानंददास)
(४) **श्री यमुना के नाम, अघ दूर भाजें।** (कृष्णदास)
(५) **श्री यमुना अधम उधारन मैं जानी।** (गोविंदस्वामी)
(६) **चित्त में यमुना निसि–दिन जो राखौं।** (चतुर्भुजदास)
(७) **धन्य श्री यमुने, निधि दैन हारी।** (छीत स्वामी)
(८) **भक्त पर करी कृपा, श्री यमुने जो ऐसी।** (नंददास)
(९) **रास-रस सागर श्री यमुने जु जानी।** (गंगाबाई)
(१०) **नैन भरि देखि अब, भानुतनया।** (हरिराय)

उद्गम—यमुना का उद्गम स्थान हिमालय के हिमाच्छादित शृंग बंदरपुच्छ (ऊँचाई २०, ७३१ फीट) से ८ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित कलिंद पर्वत है; जिसके नाम पर इसे कलिंदजा अथवा कालिंदी कहा जाता है। अपने उद्गम से आगे कई मील तक विशाल हिमागारों और हिममंडित कदराओं में अप्रकट रूप से बहती हुई तथा पहाड़ी ढलानों पर से बड़ी तीव्रता पूर्वक उतरती हुई इसकी धारा यमुनोत्तरी पर्वत (ऊँचाई १०, ८४९ फीट) से प्रकट होती है। वहाँ इसके दर्शनार्थ हजारों यात्री प्रति वर्ष इस देश के कौने-कौने से बड़ी श्रद्धा पूर्वक पहुँचते हैं।

यमुनोत्तरी पर्वत से निकल कर यह नदी अनेक पहाड़ी दर्रों और घाटियों में गर्जन-तर्जन के साथ बहती हुई तथा वदियर, कमलाद, वदरी, अस्लौर जैसी छोटी और टोंस जैसी बड़ी पहाड़ी नदियों को अपने अंचल में समेंटती हुई आगे बढ़ती है। उसके बाद यह हिमालय का दामन छोड़ कर दून की घाटी में प्रवेश करती है। वहाँ से कई मील तक दक्षिण - पश्चिम की ओर बहती हुई तथा गिरि, सिरमौर और आशा नामक छोटी नदियों को अपनी गोद में लेती हुई यह अपने उद्गम से प्रायः ९५ मील दूर वर्तमान सहारनपुर जिला के फैजाबाद गाँव के समीप मैदान में आती है। उस समय इसके तट की ऊँचाई समुद्र सतह से केवल १२७६ फीट रह जाती है।

प्राचीन प्रवाह—मैदान में जहाँ इस समय यमुना का प्रवाह है, वहाँ वह सदा से प्रवाहित नहीं होती रही है। पौराणिक अनुश्रुतियों और ऐतिहासिक उल्लेखों से ज्ञात होता है, यद्यपि यमुना पिछले हजारों वर्षों से विद्यमान है, तथापि इसका प्रवाह समय-समय पर बदलता रहा है। अपने सुदीर्घ जीवन-काल में इसने जितने स्थान बदले हैं, उनमें से बहुत कम की ही जानकारी हो सकी है।

प्रागैतिहासिक काल में यमुना मधुबन के निकट बहती थी; जहाँ उसके तट पर शत्रुघ्नजी ने सर्व प्रथम मथुरा नगरी की स्थापना की थी। वाल्मीकि रामायण और विष्णुपुराण में इसका उल्लेख मिलता है[१]। कृष्ण-काल में यमुना का प्रवाह कटरा केशवदेव के निकट था। १७ वीं शताब्दी में भारत आने वाले यूरोपीय विद्वान टेवर्नियर ने कटरा के समीप की भूमि को देखकर यह अनुमानित किया था कि वहाँ किसी समय यमुना की धारा थी। इस पर श्री ग्राउस का मत है, ऐतिहासिक

---

(१) **१. वाल्मीकि रामायण, (उत्तर कांड ७०, ८)**
२. विष्णुपुराण (६–१२–४)

काल में कटरा के समीप यमुना के प्रवाहित होने की संभावना कम है; किंतु अत्यंत प्राचीन काल में वहाँ यमुना अवश्य थी[1]। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कृष्ण-काल में यमुना का प्रवाह कटरा के समीप ही था।

श्री कनिंघम का अनुमान है, यूनानी लेखकों के समय में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बड़ी शाखा कटरा केशवदेव की पूर्वी दीवाल के नीचे बहती होगी[2]। जब मथुरा में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हो गया और यहाँ यमुना के दोनों ओर अनेक संघाराम बनाये गये, तब यमुना की मुख्य धारा कटरा से हट कर प्रायः उसी स्थान पर बहती होगी, जहाँ वह अब है; किंतु उसकी कोई शाखा अथवा सहायक नदी कटरा के निकट भी विद्यमान थी। ऐसा अनुमान है, यमुना की वह शाखा बौद्ध काल के बहुत बाद तक, संभवतः १६ वीं शताब्दी तक केशवदेव मंदिर के नीचे बहती रही थी। पहिले दो बरसाती नदियाँ 'सरस्वती' और 'कृष्णगंगा' मथुरा के पश्चिमी भाग में बह कर यमुना में गिरती थीं; जिनकी स्मृति में यमुना के सरस्वती संगम और कृष्णगंगा नामक घाट हैं। संभव है, यमुना की उन सहायक नदियों में से ही कोई कटरा के पास बहती हो।

पुराणों से ज्ञात होता है, प्राचीन वृंदाबन में यमुना गोवर्धन के निकट प्रवाहित होती थी[3]; जब कि इस समय वह गोबर्धन से प्रायः १४ मील दूर हो गई है। गोबर्धन के निकटवर्ती दो छोटे गाँव जमुनावतौ और परासौली हैं। वहाँ किसी काल में यमुना के प्रवाहित होने के उल्लेख मिलते हैं।

बल्लभ संप्रदाय के वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि सारस्वत कल्प में यमुना नदी जमुनावतौ गाँव के निकट बहती थी। उस काल में यमुना नदी की दो धाराएँ थीं। एक धारा नंदगाँव, बरसाना, संकेत के निकट बहती हुई गोबर्धन में जमुनावतौ पर आती थी और दूसरी धारा चीरघाट से होकर गोकुल को चली जाती थी। आगे दोनों धाराएँ एक होकर वर्तमान आगरा की ओर बढ़ जाती थीं[4]।

परासौली में यमुना की धारा के प्रवाहित होने का प्रमाण सं० १७१७ तक मिलता है; यद्यपि इस पर विश्वास होना कठिन है। श्री गंगाप्रसाद कमठान ने ब्रजभाषा के एक मुसलमान भक्त-कवि कारवेग उपनाम 'कारे' का वृत्तांत प्रकाशित किया है। कारवेग के कथनानुसार वह यमुना के तटवर्ती परासौली गाँव का निवासी था और उसने अपनी रचना सं० १७१७ में की थी[5]।

---

(१) मथुरा—ए—डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० सं०), पृ० १२९—१३०

(२) विदेशी लेखकों का मथुरा वर्णन (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ८२८)

(३) भागवत-दशम स्कंध तथा स्कंद पुराण

(४) अष्टछाप—कुंभनदास की वार्ता, (पृष्ठ २००, २०२)

(५) जमुनावतौ के तीर परासौली कौ बसइया हौं,
भारत के सखा की प्रीति—रीति कछु जानी नहीं।
सतरहसौ सतरह (सं० १७१७) कवि 'कारे' कवित्त कीन्हे,
नैनन तें नैकहु हरि—दरसन की ठानी नहीं॥
—ब्रज भारती (वर्ष १३, अंक १)

आधुनिक प्रवाह—वर्तमान काल में सहारनपुर जिला के फैजाबाद गाँव के समीप मैदान में आने पर यह आगे ६५ मील तक बहती हुई पंजाब और उत्तर प्रदेश राज्यों की सीमा बनाती है। उस समय यह पंजाब के अम्बाला और करनाल जिलों को उत्तर प्रदेश के सहारनपुर और मुजफ्फरनगर जिलों से अलग करती है। इस भू–भाग में इसमें मस्कर्रा, कठ, हिंडन और सवी नामक नदियाँ मिलती हैं; जिनके कारण इसका आकार बहुत बढ़ जाता है। मैदान में आते ही इससे पूर्वी यमुना नहर और पश्चिमी यमुना नहर निकाली जाती हैं। ये दोनों नहरें यमुना से पानी लेकर इस भू–भाग की सैकड़ों मील धरती को हरी–भरी और उपजाऊ बना देती हैं।

इस भू–भाग में यमुना की धारा के दोनों ओर पंजाब और उत्तरप्रदेश के कई छोटे-बड़े नगरों की सीमाएँ हैं; किंतु इसके ठीक तट पर बसा हुआ सबसे पहला बड़ा नगर दिल्ली है, जो भारतवर्ष की राजधानी है। दिल्ली के लाखों नर–नारियों की आवश्यकता की पूर्ति करती हुई और वहाँ की ढेरों गंदगी को बहाती हुई यह ओखला नामक स्थान पर आती है। उस स्थल पर इस पर एक बड़ा बांध बाँधा गया है, जिससे नदी की धारा पूरी तरह नियंत्रित कर ली गई है। इसी बांध से आगरा नहर निकलती है, जो पंजाब और दिल्ली राज्यों की सैकड़ों मील भूमि में सिंचाई करती है। दिल्ली से आगे यह पंजाब और उत्तरप्रदेश की सीमा बनाती हुई तथा पंजाब के गुड़गाँवा जिला को उत्तरप्रदेश के बुलंदशहर जिला से अलग करती हुई यह ब्रज प्रदेश में प्रवाहित होने लगती है।

ब्रज में यमुना का प्रवाह और उसके तटवर्ती स्थान—ब्रज प्रदेश की सांस्कृतिक सीमा में यमुना नदी का प्रथम प्रवेश बुलंदशहर जिला की खुरजा तहसील के 'जेबर' नामक गाँव के निकट होता है। वहाँ से यह दक्षिण की ओर बहती हुई गुड़गाँवा (पंजाब) जिला की पलबल तहसील और अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश) जिला की खैर तहसील की सीमा बनाती है। फिर छाता तहसील के शाहपुर गाँव के निकट यह मथुरा जिला में प्रवाहित होने लगती है और छाता तथा माँट तहसीलों की सीमा बनाती है। जेबर से शेरगढ़ तक यह दक्षिणाभिमुख बहती है; फिर कुछ पूर्व की ओर मुड़ जाती है। ब्रज क्षेत्र में यमुना के तट पर बसा हुआ पहिला उल्लेखनीय स्थान शेरगढ़ है।

शेरगढ़ से कुछ दूर तक पूर्व की दिशा में बह कर, फिर यह मथुरा तक दक्षिण दिशा में ही बहती है। मार्ग में इसके दोनों ओर पुराण प्रसिद्ध बन, उपबन और लीलास्थल विद्यमान हैं। यहाँ पर यह मांट से वृंदाबन तक बल खाती हुई बहती है और वृंदाबन को तीन ओर से घेर लेती है। पुराणों से ज्ञात होता है, प्राचीन वृंदाबन में यमुना की कई धाराएँ थीं, जिनके कारण वह प्रायद्वीप सा बन गया था। उसमें अनेक सुंदर बनखंड और घास के मैदान थे, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और उनके साथी गोप–बालक अपनी गायें चराया करते थे।

वर्तमान काल में यमुना की एक ही धारा है और उसी के तट पर वृंदाबन बसा हुआ है। वहाँ मध्य काल में अनेक धर्माचार्यों और भक्त कवियों ने निवास कर कृष्णोपासना और कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया था। वृंदाबन में यमुना के किनारों पर बड़े सुंदर घाट बने हुए हैं और उन पर अनेक मंदिर-देवालय, छतरियाँ और धर्मशालाएँ हैं। इनसे यमुना के तट की शोभा बहुत बढ़ गई है। वृंदावन से आगे दक्षिण की ओर बह कर यह नदी मथुरा नगर में आती है।

मथुरा यमुना के तट पर बसा हुआ एक ऐसा ऐतिहासिक और धार्मिक स्थान है, जिसकी दीर्घ कालीन गौरव–गाथा प्रसिद्ध है। यहाँ पर श्रीकृष्ण ने जन्म लिया था, जिससे इसके महत्व की

वृद्धि हुई है। यहाँ भी यमुना के तट पर बड़े सुंदर घाट बने हुए हैं। यमुना में नाव से अथवा पुल से देखने पर मथुरा नगर और उसके घाटों का बड़ा सुंदर दृश्य दिखाई देता है। मथुरा में यमुना पर दो पक्के पुल बने हुए हैं; जिनमें से एक पर रेल-गाड़ी चलती है और दूसरा मोटर, बैलगाड़ी, इक्का, तांगे तथा पैदल चलने वालों के उपयोग में आता है। विगत काल में यमुना मथुरा—वृंदावन में एक विशाल नदी के रूप में बहती थी; किंतु जब से इसमें से नहरें निकाली गई हैं, तब से इसका आकार छोटा हो गया है। केवल वर्षा ऋतु में यह अब भी अपना पूर्ववर्ती रूप धारण कर लेती है। उस समय मीलों तक इसका पानी फैल जाता है।

मथुरा से आगे यमुना के बाँये तट पर गोकुल और महाबन जैसे धार्मिक स्थल हैं तथा दाँये तट पर पहिले औरंगाबाद और फिर फरह जैसे छोटे गाँव हैं। यहाँ तक यमुना के किनारे रेतीले हैं; किंतु आगे पथरीले और चट्टानी किनारे आते हैं; जिनसे धारा बल खाती हुई बहने लगती है।

सादाबाद तहसील के गाँव अकोस के पास यमुना मथुरा जिला की सीमा से बाहर निकलती है और फिर कुछ दूर तक मथुरा और आगरा जिलों की सीमा बनाती है। सादाबाद तहसील के संदौर गाँव के पास यह आगरा जिला में प्रवेश करती है। वहाँ इसमें करबन और गंभीर नामक नदियाँ आकर मिलती हैं।

आगरा जिला में प्रवेश करने पर नगला अकोस के पास इसके पानी से बनी हुई कीठम झील है, जो सैलानियों के लिए बड़ी आकर्षक है। कीठम से रुनकुता तक यमुना के किनारे एक संरक्षित बनखंड का निर्माण किया गया है, जो 'सूरदास वन' कहलाता है। रुनकुता के निकट ही यमुना के तट पर 'गोघाट' का वह पुराना धार्मिक स्थल है, जहाँ महात्मा सूरदास ने १२ वर्ष तक निवास किया था और जहाँ उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी।

यमुना के तटवर्ती स्थानों में दिल्ली के बाद सबसे बड़ा नगर आगरा ही है। यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक और व्यापारिक स्थान है, जो मुगल सम्राटों की राजधानी भी रह चुका है। यह यमुना तट से काफी ऊँचाई पर बसा हुआ है। यहाँ भी यमुना पर दो पुल बने हुए हैं। आगरा में इसके तट पर जो इमारतें हैं, उनमें किला और ताजमहल सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

आगरा नगर से आगे यमुना के एक ओर फीरोजाबाद और दूसरी ओर फतेहाबाद जैसे बड़े कस्बे हैं। उनके बाद बटेश्वर का सुप्रसिद्ध धार्मिक और ऐतिहासिक स्थल आता है; जहाँ ब्रज की सांस्कृतिक सीमा समाप्त होती है।

बटेश्वर का प्राचीन नाम शौरपुर है, जी श्रीकृष्ण के पितामह शूर की राजधानी थी। यहाँ पर यमुना ने बल खाते हुए बड़ा मोड़ लिया है, जिससे बटेश्वर एक द्वीप के समान ज्ञात होता है। इस स्थान पर कार्तिक पूर्णिमा को यमुना स्नान का बड़ा मेला लगता है।

इटावा यमुना के तट पर बसा हुआ बटेश्वर से आगे एक बड़ा नगर है। यह भी आगरा और बटेश्वर की भाँति ऊँचाई पर बसा हुआ है। यमुना के तट पर जितने ऊँचे कगार आगरा और इटावा जिलों में हैं, उतने मैदान में अन्यत्र नहीं हैं। इटावा से आगे मध्य प्रदेश की प्रसिद्ध चम्बल नदी यमुना में आकर मिलती है, जिससे इसका आकार बहुत बढ़ जाता है। अपने उद्गम से लेकर चम्बल के संगम तक यमुना नदी गंगा नदी के समानान्तर बहती है। इसके आगे उन दोनों के बीच का अंतर कम होता जाता है और अंत में प्रयाग में जाकर वे दोनों मिल जाती हैं।

चम्बल के पश्चात् यमुना में मिलने वाली नदियों में सेंगर, छोटी सिंध, बेतवा और केन उल्लेखनीय हैं। इटावा के पश्चात् यमुना के तटवर्ती नगरों में काल्पी, हमीरपुर और प्रयाग मुख्य हैं। प्रयाग में यमुना एक विशाल नद के रूप में आती है और वहाँ के इतिहास-प्रसिद्ध किले के नीचे गंगा में मिल जाती है। प्रयाग में यमुना पर एक विशाल पुल बनाया गया है; जो दो मंजिला है। यह उत्तरप्रदेश का सबसे बड़ा पुल है। यमुना और गंगा के संगम के कारण ही प्रयाग को तीर्थराज का महत्व प्राप्त हुआ है। यमुना नदी की कुल लंबाई उद्गम से लेकर संगम तक ८६० मील के लगभग है।

अन्य नदियाँ—ब्रजमंडल में यमुना के अतिरिक्त कोई दूसरी स्वतंत्र नदी नहीं है। यहाँ पर यमुना की कुछ सहायक नदियाँ अवश्य बहती हैं; जिनमें पटवाह, करवन, सेंगर, सिरसा, बानगंगा और गंभीर के नाम उल्लेखनीय हैं।

पटवाह—यह एक छोटी बरसाती नदी है, जो मेरठ जिला से निकल कर अलीगढ़ जिला की खैर एवं मथुरा जिला की मांट तहसीलों में बहती है। इसके तट का एक मात्र उल्लेखनीय गाँव बाजना है, जहाँ से आगे यह नौहझील के निकट यमुना में मिल जाती है। इससे मांट तहसील में सिंचाई होती है।

करवन—इसे कारों भी कहते हैं। यह भी एक प्रकार से बरसाती नदी है, जो गर्मी में प्रायः सूख जाती है; किंतु वर्षा ऋतु में इसका आकार बहुत बढ़ जाता है। यह बुलंदशहर जिला की खुरजा तहसील से आकर अलीगढ़ जिला की खैर, इगलास और हाथरस तहसीलों में बहती है। फिर मथुरा जिला की सादाबाद और आगरा जिला की एतमादपुर तहसीलों में प्रवाहित होती है। उसके बाद यह नदी आगरा नगर से कुछ आगे यमुना में मिल जाती है। इससे ब्रज की कई तहसीलों में सिंचाई होती है। इसके तटवर्ती गाँवों में चंदौस, खैर, इगलास और सादाबाद के नाम उल्लेखनीय हैं।

सेंगर और सिरसा—ये यमुना की छोटी सहायक नदियाँ हैं; जो अलीगढ़, जलेसर, फीरोजाबाद और शिकोहाबाद तहसीलों में बहती हैं। इनके तट के समीप बरहद, जलेसर और शिकोहाबाद नामक स्थान बसे हुए हैं।

बानगंगा और गंभीर—ये छोटी नदियाँ राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र में तथा आगरा जिला की खैरागढ़ और फतेहाबाद तहसीलों में बहती हैं। इन्हें उटंगन भी कहा जाता है। बानगंगा भरतपुर क्षेत्र की कई नहरों तथा बंधों को पानी देकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देती है और गंभीर नदी बटेश्वर के उत्तर-पश्चिम में यमुना से मिल जाती है। इसकी सहायक नदी खारी है।

लुप्त नदियाँ—उपर्युक्त छोटी बरसाती नदियों के अतिरिक्त यमुना की दो सहायक नदियाँ और थीं, जिनके नाम 'सरस्वती' और 'कृष्णगंगा' कहे जाते हैं। वे दोनों किसी काल में मथुरा के पश्चिमी भाग में बह कर यमुना में मिला करती थीं। वर्तमान काल में ये नदियों के रूप में प्रवाहित नहीं होती हैं; किंतु इनके अवशिष्ट रूप अब भी ब्रज में विद्यमान हैं। ब्रजमंडल की इन लुप्त नदियों का जो वृत्तांत उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है—

सरस्वती नदी प्राचीन काल में मथुरा के निकटवर्ती अंबिकाबन में बहती थी और यमुना में उस स्थान पर मिलती थी, जहाँ आजकल गोकर्णेश्वर महादेव का घाट है। इस घाट को अभी

तक सरस्वती संगम घाट कहा जाता है। सूरदास ने अपने एक पद में सरस्वती तट पर स्थित शिव-अंबिका की पूजा का उल्लेख किया है[1]। इस समय उक्त नदी के स्थान पर एक बरसाती नाला है, जो रामलीला मैदान में बहता है।

कृष्णगंगा नदी प्राचीन काल में श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान के निकटवर्ती भाग में बह कर यमुना में उस स्थान पर मिलती थी, जहाँ आजकल कृष्णगंगा घाट, धारापत्तन घाट और घंटाभरण घाट हैं। ये घाट उक्त नदी के नाम तथा कुछ ऊँचाई से यमुना में गिरने के कारण उसके तुमुल घोष के सूचक हैं। इस समय उक्त नदी के अस्तित्व के बजाय एक नाला है, जो बरसात में बहता है। मथुरा नगर के नवीन निर्माण के कारण उसका पुराना मार्ग बदल गया है। अब वह श्रीकृष्ण जन्म-स्थान, मंडी रामदास और चौक बाजार के बरसाती जल को समेटता हुआ स्वामीघाट के पास यमुना में मिलता है।

तथाकथित गंगाएँ—ब्रज में कतिपय बरसाती नदियों तथा सरोबरों को भी 'गंगा' कहते हैं, जो उनके निकटवर्ती स्थानों के धार्मिक महत्व का सूचक है। ऐसे जलाशयों के नाम इस प्रकार हैं—

१. कृष्ण गंगा (मथुरा), २. मानसी गंगा (गोबर्धन), ३. अलख गंगा (आदि बदरी-कामबन), ४. पांडव गंगा (कामबन), ५. चरण गंगा (चरण पहाड़ी—छोटी बठैन)।

विविध जलाशय—

झील—ब्रज की सांस्कृतिक सीमा में कई छोटी-बड़ी झील हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. नोहझील—यह मथुरा जिला की मांट तहसील में इसी नाम के गाँव के पास है।

२. मोती झील—यह भी मांट तहसील में मांट गाँव के पास है। यह अब यमुना नदी की धारा में सँमा गई है।

३. कीठम झील—यह मथुरा—आगरा सड़क पर रुनकुता गाँव के समीप है। ब्रज की यह सुरम्य स्थली सैलानियों के लिए भी उपयोगी है।

४. मोती झील (दूसरी)—यह भरतपुर के निकट का एक जलाशय है, जो वहाँ की रूपारेल नामक एक छोटी नदी के पानी से भरा जाता है।

५. केवला झील—यह अत्यंत सुंदर झील भरतपुर के समीप है, जो अजानबंध के जल से भरी जाती है। शरद ऋतु में इस झील के किनारे काश्मीर आदि प्रदेशों के अगणित जल-पक्षी आ जाते हैं। सैलानी उन पक्षियों का शिकार किया करते हैं।

सरोवर—कवि जगतनंद के अनुसार ब्रज में चार सरोवर हैं, जिनके नाम १. पानसरोवर, २. मान सरोवर. ३. चंद्र सरोवर और ४. प्रेम सरोवर हैं[2]।

---

(१) **नंद सब गोपी-ग्वाल समेत।**
गए सरस्वती तट इक दिन, सिव-अंबिका पूजा हेत॥ (सूरसागर, पद संख्या १८०२)

(२) **पान सरोवर, मान सर, और सरोवर चंद।**
प्रेम सरोवर चार ये, ब्रज में कहि 'जगनंद'॥ (ब्रज वस्तु वर्णन)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१. **पान सरोवर**—ब्रज के नंदगाँव का यह एक छोटा जलाशय है।

२. **मान सरोवर**—वृंदाबन के समीप यमुना के उस पार है। यह हित हरिवंश जी का प्रिय स्थल है। यहाँ फाल्गुन कृ० ११ को मेला होता है।

३. **चंद्र सरोवर**—यह गोबर्धन के समीप परासौली गाँव में है। इसके निकट वल्लभ संप्रदायी आचार्यों की बैठकें हैं और सूरदास जी का निवास स्थल है।

४. **प्रेम सरोवर**—यह बरसाना के समीप है। इसके तट पर एक मंदिर है। भाद्रपद मास में इस सरोवर पर नौका लीला का मेला होता है।

कुंड—ब्रज में अनेक कुंड हैं, जिनका बड़ा धार्मिक महत्व माना गया है। आज-कल इनमें से अधिकांश जीर्ण–शीर्ण और अरक्षित अवस्था में हैं, जो प्रायः सूखे और गंदे पड़े हैं। इनके जीर्णोद्धार और संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है। कवि जगतनंद के मतानुसार ब्रज में पुराने कुंडों की संख्या १५९ है तथा बहुत से नये कुंड भी हैं। उसने लिखा है, पुराने १५९ कुंडों में से ८४ तो केवल कामबन में हैं, शेष ७५ ब्रज के अन्य स्थानों में हैं[1]। इनमें से अधिक प्रसिद्ध कुंड इस प्रकार हैं—

मथुरा में—पोतरा कुंड, सरस्वती कुंड और बलभद्र कुंड।

गोबर्धन में—मानसीगंगा कुंड, गोविंद कुंड, अप्सरा कुंड, सुरभी कुंड, उद्धव कुंड, नारद कुंड आदि।

राधाकुंड में—राधा कुंड और कृष्ण कुंड।

कामबन में—विमल कुंड, यशोदा कुंड, कृष्ण कुंड आदि।

बलदेव में—क्षीरसमुद्र कुंड और ब्रह्म कुंड।

इनके अतिरिक्त सतोहा में शांतनु कुंड, दधिवन में ललिता कुंड, जाब में ललिता कुंड और लोहवन में कृष्ण कुंड हैं।

ताल—ब्रज में कई प्रसिद्ध तालाब हैं। कवि जगतनंद ने केवल दो तालाब–१. राम ताल और २. मुखारी ताल का नामोल्लेख किया है[2]। उनके अतिरिक्त और भी कई तालाब हैं, जिनमें मथुरा का शिव ताल उल्लेखनीय है।

पोखर—ब्रज में अनेक पोखर अर्थात् बरसाती कुंड हैं। कवि जगतनंद ने उनमें से ६ का नामोल्लेख किया है। वे पोखर १. कुसुमोखर (गोबर्धन), २. हरजी ग्वाल की पोखर (जतीपुरा), ३. अंजनोखर (आंजनौ गाँव), ४. पीरी पोखर और ५. भानोखर (बरसाना) तथा

---

(१) **उनसठ ऊपर एक सौ, सिगरे ब्रज में कुंड।**
चौरासी कामा लखौ, पचहत्तर ब्रज झुंड॥
औरहिं कुंड अनेक हैं, ते सब नूतन जान।
कुंड पुरातन एकसौ उनसठ ऊपर मान॥ (ब्रज वस्तु वर्णन)

(२) **दोइ ताल ब्रज बीच हैं, राम ताल लखि लेहु।**
और मुखारी ताल है, 'जगतनंद' करि नेहु॥ (ब्रज वस्तु वर्णन)

६. ईसुरा जाट की पोखर (नंदगाँव) हैं[1] । उनमें कुसुम सरोवर को ब्रज के जाट राजाओं ने पक्के विशाल कुंड के रूप में निर्मित किया था ।

बावड़ी—ब्रज में कई सुंदर बावड़ी हैं, किंतु ये भी जीर्णावस्था में पड़ी हैं । इनके नाम ज्ञानवापी (कृष्ण जन्म-स्थान, मथुरा), अमृत वापी (दुर्वासा आश्रम, मथुरा) ब्रह्म बावड़ी (बच्छबन), राधा बावड़ी (वृंदाबन) और कात्यायिनी बावड़ी (चीरघाट) हैं ।

कूप—ब्रज में सैकड़ों कूए हैं, जो ग्रामीण जनता के उपयोग में आते हैं । उनमें से कई कूओं का धार्मिक महत्व भी माना गया है । कवि जगतनंद के समय में १० कूए अपनी धार्मिक महत्ता के कारण अधिक प्रसिद्ध थे । उनके नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं—

१. सप्तसमुद्री कूप, २, कृष्ण कूप और ३. कुब्जा कूप (मथुरा), ४. नंद कूप (गोकुल और महाबन), ४. चंद्र कूप (चंद्रसरोवर–गोवर्धन), ६. गोप कूप (राधाकुंड) ७. इंद्र कूप (इंदरौली गाँव–कामबन), ८. भांडीर कूप (भांडीरवन) ९. कर्णवेध कूप (करनावल) और १०. वेणु कूप (चरण पहाड़ी–कामबन)[2] ।

इधर राज्य सरकार ने ग्रामीण जनता को अनुदान देकर उन्हें कूए बनाने के लिए उत्साहित किया है । इससे ब्रज में बहु संख्यक नये कूए बन गये हैं—

घाट—ब्रज में मथुरा, वृंदाबन, गोकुल और महाबन आदि स्थानों में यमुना नदी पर अनेक घाट बने हुए हैं । इनसे स्नानार्थियों को सुविधा होने के साथ ही साथ यमुना तट के सौन्दर्य की भी वृद्धि होती है । बर्तमान काल में यहाँ बहुसंख्यक घाट बने हुए हैं, किंतु पहिले इनकी संख्या बहुत कम थी । कवि जगतनंद ने ब्रज के १६ पुराने घाटों का नामोल्लेख किया है । उसके समय में अर्थात् १७ वीं शताब्दी में यहाँ पर नये घाट भी बनाये गये थे; जिनकी संख्या कालांतर में क्रमशः बढ़ती रही है । कवि जगतनंद द्वारा उल्लिखित पुराने घाटों के नाम इस प्रकार हैं—

१. ब्रह्मांड घाट (महाबन), २. गो घाट, ३. गोविंद घाट, २. ठकुरानी घाट, ३. यशोदा घाट, ६. उतरेश्वर घाट (गोकुल), ७. वैकुंठ घाट, ८. विश्रांत घाट, ९. प्रयाग घाट, १०. बंगाली घाट, (मथुरा), ११ राम घाट, १२. केशी घाट, १३. विहार घाट, १४. चीर घाट, १५. नंद घाट और १६. गोपी घाट (वृंदाबन)[3] ।

---

(१) पोखर षट् अब देखिलै, कुसुमोखर जिय जान । हरजी पोखर, आंजनौ, पीरीपोखर मान ।।
भानोखर अरु ईसुरा पोखर कहि 'जगनंद' । ब्रज चौरासी कोस में, ब्रज कौ पूरनचंद ।।

(२) ब्रज में लख दस कूप हैं, सप्त समुद्रहि जान । नंदकूप अरु इंद्रकूप, चंद्रकूप करि मान ।।
एक कूप भांडीर कौ, करणबेध कौ कूप । कृष्णकूप आनंदनिधि, बेनकूप सुखरूप ।।
एक जु कुब्जाकूप है, गोपकूप लखि लेहु । 'जगतनंद' बरनन करत, ब्रज सों करौ सनेह ।।

(३) ब्रज में सोलह घाट हैं, लखो घाट ब्रह्मांड । गऊघाट, गोविंद कौ घाट जु बन्यौ प्रचंड ।।
अरु ठकुरानी घाट है, घाट जसोदा देखि । उतरेश्वर घाट है, घाट वैकुंठ कौ पेखि ।।
घाट एक विसरांत कौ, अरु प्रयाग कौ घाट । घाट बंगाली देखियै, रामघाट कौ पाट ।।
केसीघाट, बिहारि लखि, चीरघाट, नंदघाट । गोपीघाट विचारि लै 'जगतनंद' इहि बाट ।।
औरहु घाट अनेक हैं, सो सब नूतन जान । घाट पुरातन सोलहै, 'जगतनंद' मन मान ।।
—ब्रज वस्तु वर्णन

इस समय मथुरा के घाटों की संख्या विश्राम घाट सहित २५ है। इनमें से १२ विश्रामघाट के उत्तर में हैं और १२ उसके दक्षिण में हैं। वृंदावन में कालियदह से केशीघाट तक अनेक प्रसिद्ध घाट हैं, जिनकी संख्या ३५ के लगभग है। इसी प्रकार गोकुल और महाबन में भी कई प्राचीन और प्रसिद्ध घाट बने हुए हैं। ये सब घाट सुंदर लाल पत्थर के हैं। इनमें से बहुतों पर कलापूर्ण बुर्जियां और छतरियाँ भी हैं, जिन्हें समय-समय पर अनेक श्रद्धालु राजा-महाराजाओं और समृद्ध व्यक्तियों ने अपार धन व्यय कर बनवाया था। पिछले अनेक वर्षों से यमुना नदी ने बहुत से घाटों को छोड़ दिया है, जिससे वे शोभाहीन होकर भग्नावस्था में उपेक्षित पड़े हुए हैं। अब भी जब वर्षा ऋतु में यमुना का फैलाव बढ़ जाता है, तब उसका प्रवाह इन सभी घाटों पर होने लगता है। उस समय यमुना तट की जो अनुपम शोभा होती है, उससे दर्शकों का मन मुग्ध हो जाता है।

बन--

ब्रज सदा से अपने सुंदर और सुविशाल बनों के लिए प्रसिद्ध रहा है। पुराणादि संस्कृत ग्रंथों में उनके नाम और विवरण मिलते हैं। उक्त ग्रंथों में ब्रज के १२ बन, २४ उपबन तथा बहु संख्यक अन्य प्रकार के बनों का विशद वर्णन हुआ है। विविध पुराणों में इनके नाम और संख्या के संबंध में कुछ मत भेद भी है; किंतु पद्मपुराण में उल्लिखित नाम और संख्या अधिक प्रचलित है। ब्रज की समस्त महत्वपूर्ण वस्तुओं का नामोल्लेख करने वाले कवि जगतनंद ने भी इन्हीं नामों को स्वीकार किया है[1]। यहाँ पर ब्रज के उन बन-उपबनादि का वर्णन किया जाता है।

ब्रज के १२ बन—ब्रज के सुप्रसिद्ध १२ बनों के नाम १. मधुबन, २, तालबन, ३. कुमुदबन, ४. बहुलाबन, ५. कामबन, ६. खिदिरबन, ७. वृंदाबन, ८. भद्रबन, ९. भांडीरबन, १०. बेलबन, ११. लोहबन और १२. महाबन हैं। इनमें से आरंभ के ७ बन यमुना नदी के पश्चिम में हैं और अंत के ५ बन उसके पूर्व में हैं। इनका संक्षिप्त वृतांत इस प्रकार है—

१. मधुबन—यह ब्रज का सबसे प्राचीन बन खंड है। इसका नामोल्लेख प्रागैतिहासिक काल से ही मिलता है। राजकुमार ध्रुव ने इसी बन में तपस्या की थी। शत्रुघ्न जी ने राम-राज्य में यहाँ के अत्याचारी शासक लवणासुर को मार कर इसी बन के एक भाग में मथुरा पुरी की स्थापना की थी। वर्तमान काल में उक्त विशाल बन के स्थान पर एक छोटी सी कदमखंडी शेष रह गई है और प्राचीन मथुरा के स्थान पर महोली नामक एक छोटा गाँव बसा हुआ है। यह गाँव मथुरा तहसील में है।

२. तालबन—प्राचीन काल में ताल के वृक्षों का यह एक बड़ा बन था और इसमें जंगली गधों का बड़ा उपद्रव रहा करता था। भागवत में लिखा है, बलराम ने उन गधों का संहार कर उनके उत्पात को शांत किया था। कालांतर में उक्त बन उजड़ गया और शताब्दियों के पश्चात् वहाँ तारसी नामक एक गाँव बस गया, जो इस समय मथुरा तहसील के अंतर्गत है।

३. कुमुदबन—प्राचीन काल में इस बन में कुमुद पुष्पों की बहुलता थी, जिनके कारण इस बन का नाम 'कुमुदबन' पड़ गया था। वर्तमान काल में इसके निकट एक पुरानी कदमखंडी है, जो इस बन की प्राचीन पुष्प-समृद्धि का स्मरण दिलाती है।

---

(१) **ब्रज वस्तु वर्णन।**

४. **बहुलाबन**—इस बन का नामकरण यहाँ की एक बहुला गाय के नाम पर हुआ है। इस गाय की कथा 'पद्मपुराण' में मिलती है। वर्तमान काल में इस स्थान पर झाड़ियों से घिरी हुई एक कदमखंडी है, जो यहाँ के प्राचीन बन-वैभव की सूचक है। इस बन का अधिकांश भाग कट गया है और आजकल यहाँ बाटी नामक एक गाँव बसा हुआ है।

५. **कामबन**—यह ब्रज का अत्यंत प्राचीन और रमणीक बन था; जो पुरातन वृंदाबन का एक भाग था। कालांतर में वहाँ बस्ती बस गई थी। इस समय यह राजस्थान के भरतपुर जिला की डीग तहसील का एक बड़ा कस्वा है। इसके पथरीले भाग में दो 'चरण पहाड़ियाँ' हैं, जो धार्मिक स्थली मानी जाती हैं।

६. **खिदिरबन**—यह प्राचीन बन भी अब समाप्त हो गया है और इसके स्थान पर खायरा नामक गाँव बस गया है। यहाँ पक्का कुंड और मंदिर है।

७. **वृंदाबन**—प्राचीन काल में यह एक विस्तृत बन था, जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और रमणीक बन-श्री के लिए विख्यात था। जब मथुरा के अत्याचारी राजा कंस के आतंक से नंदादि गोपों को वृहद्वन (महाबन) स्थित गोप-बस्ती (गोकुल) में रहना असंभव हो गया, तब वे सामूहिक रूप में वहाँ से हट कर अपने गो-समूह के साथ वृंदाबन में जाकर रहे थे। भागवतादि पुराणों से और उनके आधार पर सूरदासादि ब्रजभाषा-कवियों की रचनाओं से ज्ञात होता है कि उस वृंदाबन में गोवर्धन पहाड़ी थी और उसके निकट ही यमुना प्रवाहित होती थी। यमुना के तटवर्ती सघन कुंजों और विस्तृत चरागाहों में तथा हरी-भरी गोबर्धन पहाड़ी पर वे अपनी गायें चराया करते थे[1]।

वह वृंदाबन पंच योजन अर्थात् बीस कोस परिधि का तथा ऋषि-मुनियों के आश्रमों से युक्त एक सघन और सुविशाल बन था[2]। वहाँ गोप-समाज के सुरक्षित रूप से निवास करने की तथा उनकी गायों के लिए चारे-घास की पर्याप्त सुविधा थी[3]। उस बन में गोपों ने दूर-दूर तक अनेक बस्तियाँ बसाई थीं, जो विविध गोप-सरदारों के नाम पर नंदग्राम, वृषभानुपुर (बरसाना) आदि नामों से प्रसिद्ध हुई थीं। उस काल का वृंदावन गोवर्धन-राधाकुंड से लेकर नंदगाँव-बरसाना और कामवन तक विस्तृत था।

---

(१) १. वृंदाबन गोबर्धनं यमुना पुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयेर्नृप ॥ (भागवत्, दशम स्कंध)
२. अहो वृन्दावनं रम्यं यत्र गोबर्धनो गिरिः। (स्कन्द पुराण)
३. जमुना उतर आय वृंदाबन, जहाँ सुखद द्रुम राजें।
गोबर्धन-वृंदाबन-जमुना, सघन कुंज अति छाजें ॥
अचल राज गोबर्धन मेरौ, वृंदाविपिन मँझार ॥ (सूरसागर)

(२) पंच योजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्। (वृहद् गौमती तंत्र)
वृंदाबनं तु गहनं विशालं विस्तृतं वहु मुनीनामाश्रयै पूर्णं बन्यवृन्द समन्वितम् ॥ (स्कंद)

(३) बनं वृन्दाबनं नाम पशव्यं नव काननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुष्पादि तृण वीरुधम् ॥ (भागवत् दशम स्कंध)

संस्कृत साहित्य में प्राचीन वृंदाबन के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं, जिनमें उसके धार्मिक महत्व के साथ ही साथ उसकी प्राकृतिक शोभा का भी कथन किया गया है। महाकवि कालिदास ने उसके बन–वैभव और वहाँ के सुंदर फूलों से लदे लता–वृक्षों की प्रशंसा की है। उन्होंने वृंदाबन को कुवेर के चैत्ररथ नामक दिव्य उद्यान के सदृश बतलाया है[1]। पुराणों में वृंदाबन के महत्व सूचक प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं।

वृंदाबन का महत्व सदा से श्रीकृष्ण के प्रमुख लीला–स्थल तथा ब्रज के एक रमणीक बन और एकांत तपोभूमि होने के कारण रहा है। मुसलमानी शासन के समय प्राचीन काल का वह सुरम्य वृंदाबन उपेक्षित और अरक्षित होकर एक बीहड़ बन हो गया था। पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण–लीला के विविध स्थल उस विशाल बन में कहाँ थे, इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को था। जब वैष्णव संप्रदायों द्वारा राधा–कृष्णोपासना का प्रचार हुआ, तब उनके अनुयायी भक्तों का ध्यान वृंदाबन और उसके लीला स्थलों की महत्व–वृद्धि की ओर गया था। वे लोग भारत के विविध भागों से वहाँ आने लगे और शनैः-शनैः वहाँ स्थायी रूप से बसने लगे।

इस प्रकार वृंदाबन का वह बीहड़ वन्य प्रदेश एक नागरिक बस्ती के रूप में परिणत होने लगा। वहाँ अनेक मंदिर–देवालय बनाये जाने लगे। बन को साफ कर वहाँ गली–मुहल्लों और भवनों का निर्माण हुआ तथा हजारों व्यक्ति आकर रहने लगे। इससे वृंदाबन का धार्मिक महत्व तो बढ़ गया; किंतु उसका प्राचीन बन–वैभव लुप्तप्राय हो गया।

उपर्युक्त सातों बन यमुना नदी की दाहिनी ओर अर्थात् पश्चिम दिशा में हैं। निम्नोक्त पाँच बन यमुना की वांयी ओर अर्थात् पूर्व दिशा में स्थित हैं—

८. भद्रबन, ९. भांडीरबन और १०. बेलबन—ये तीनों प्राचीन बन यमुना की वांयी ओर ब्रज की उत्तरी सीमा से लेकर वर्तमान वृंदाबन के सामने तक थे। वर्तमान काल में उनका अधिकांश भाग कट गया है और वहाँ पर छोटे–बड़े गाँव बस गये हैं। उन गाँवों में टप्पल, खैर, बाजना, नोहझील, सुरीर, मांट, पानीगाँव उल्लेखनीय हैं।

११. लोहबन—यह प्राचीन बन वर्तमान मथुरा नगर के सामने यमुना के उस पार था। वर्तमान काल में वहाँ इसी नाम का एक छोटा गाँव बसा हुआ है।

१२. महाबन—प्राचीन काल में यह एक विशाल सघन बन था; जो वर्तमान मथुरा के सामने यमुना के उस पार वाले दुर्वासा आश्रम से लेकर सुदूर दक्षिण तक विस्तृत था। पुराणों में इसका उल्लेख वृहद्वन, महाबन, नंद-कानन, गोकुल, गो–ब्रज आदि नामों से हुआ है। उस बन में नंदादि गोपों का निवास था; जो अपने परिवार के साथ अपनी गायों को चराते हुए विचरण किया करते थे। उसी बन की एक गोप–बस्ती (गोकुल) में कंस के भय से बालक कृष्ण को छिपाया गया था। श्रीकृष्ण के शैशव–काल की पुराण प्रसिद्ध घटनाएँ—पूतना बध, तृणावर्त बध, शकट भंजन, यमलार्जुन पतन आदि इसी बन के किसी भाग में हुई थीं।

वर्तमान काल में इस बन का अधिकांश भाग कट गया है और वहाँ छोटे–बड़े कई गाँव बस गये हैं। उन गाँवों में बलदेव, महाबन, गोकुल और रावल के नाम उल्लेखनीय हैं।

---

(१) रघुवंश, ६–५०

ब्रज के २४ उपबन—ब्रज के पुराण प्रसिद्ध २४ उपबनों के नाम कवि जगतनंद ने इस प्रकार लिखे हैं—१. अराट (अरिष्टबन), २, सतोहा (शांतनु कुंड). ३. गोबर्धन, ४. बरसाना, ५. परमदरा, ६. नंदगाँव, ७. संकेत, ८. मानसरोवर, ९. शेषशायी, १०. बेलबन, ११. गोकुल, १२. गोपालपुर, १३. परासोली, १४. आन्यौर, १५. आदि बदरी, १६. विलासगढ़, १७. पिसायौ, १८. अंजनखोर, १९. करहला, २०. कोकिलाबन, २१. दधिबन (दहगाँव), २२. रावल, २३. बच्छबन और २४. कौरवबन[1] ।

अन्य बन—उक्त १२ बन और २४ उपबनों के अतिरिक्त श्री नारायण भट्ट जी ने बाराह पुराण के आधार पर १२ प्रतिबन और १२ तपोबन तथा विष्णु पुराण के आधार पर १२ अधि बन के नाम लिखे हैं[2] । इनके अतिरिक्त आदि पुराण में १२ मोक्ष बन, भविष्य पुराण में १२ काम वन, स्कंद पुराण में १२ अर्थ बन, स्मृति सार में १२ धर्म बन और विष्णु पुराण में १२ सिद्ध बन के नाम लिखे हैं[3] । श्री नारायण भट्ट जी ने उन समस्त बनों के अधिपति देवताओं का नामोल्लेख करते हुए उनके ध्यान के मंत्र भी लिखे हैं। भट्ट जी के मतानुसार इन समस्त बनों में से ९२ यमुना नदी के दाहिनी ओर तथा ४२ वायीं ओर हैं[4] ।

प्राचीन काल से लेकर मध्य काल तक ब्रज के ये समस्त बन–उपबनादि जहाँ गोचर-भूमि, कृषि, फल-फूल, इमारती लकड़ी और ईंधन द्वारा यहाँ की आर्थिक समृद्धि में सहायक थे, वहाँ अपनी प्राकृतिक सुषुमा से इसके सौन्दर्य की भी वृद्धि करते थे। इनमें कतिपय हिंसक जीवों के होने का भी उल्लेख मिलता है। मुसलमानी शासन–काल में बादशाह और उनके प्रमुख सरदार इन बनों में सिंहादि हिंसक जीवों का आखेट किया करते थे।

वर्तमान स्थिति—इस समय उक्त बनों में से अधिकांश कट चुके हैं और उनके स्थानों पर छोटी–बड़ी बस्तियाँ बस गई हैं। वर्तमान काल में ब्रज के तथाकथित अनेक बन वास्तव में गाँव हैं। बन ही क्यों, 'महाबन' तक ने गाँव का रूप धारण कर लिया है। प्राचीन काल का रमणीक किंतु निर्जन 'वृंदाबन' इस समय ब्रज का एक उपनगर है और 'मधुबन' मथुरा नगर है। प्राचीन काल का 'अग्रबन' भी आज का महानगर आगरा हो गया है। इन बनों के कट जाने से एक बड़ी हानि यह हुई कि ब्रज में अब पहिले की भाँति वर्षा नहीं होती है और यहाँ की उपजाऊ भूमि अब रेगिस्तान होती जा रही है। इस संकट को दूर करने के लिए अब फिर से बनों का विस्तार किया जा रहा है।

बनों के अवशेष—यद्यपि प्राचीन बनों में से अधिकांश कट गये हैं और उनके स्थान पर बस्तियाँ बस गई हैं, तथापि उनके अवशेषों के रूप में कुछ वन खंड और कदमखंडियाँ विद्यमान हैं, जो ब्रज के प्राचीन बनों की स्मृति को बनाये हुए हैं।

---

(१) **ब्रज वस्तु वर्णन**

(२) **ब्रज भक्ति विलास,** पृष्ठ २–३

(३) ,, ,, पृष्ठ ३०–३१

(४) ,, ,, पृष्ठ ३५–३६

वर्तमान वृंदावन में 'निधिवन' और सेवाकुंज' दो ऐसे स्थल हैं, जिन्हें प्राचीन वृंदावन के अवशेष कहा जा सकता है। ये संरक्षित बनखंडों के रूप में वर्तमान वृंदावन नगर के प्रायः मध्य में स्थित हैं। इनमें सघन लता–कुंज विद्यमान हैं, जिनमें बंदर - मोर तथा अन्य पशु–पक्षियों का स्थायी आवास है। इन स्थलों में प्रवेश करते ही प्राचीन वृंदावन की झाँकी मिलती है, किंतु वह अधिक मनोरम नहीं है। कहने को यह संरक्षित धार्मिक स्थल हैं, किंतु वास्तव में इनके संरक्षण और संबर्धन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। यदि इनकी उचित रूप में देख-भाल की जाय, तो ये दर्शकों को मुग्ध करने वाले अत्यंत रमणीक वनखंड बन सकते हैं।

निधिबन—यह स्वामी हरिदास जी का पावन स्थल है। स्वामी जी ने वृंदावन आने पर यहाँ जीवन पर्यंत निवास किया और इसी स्थान पर उनका देहावसान भी हुआ था। मुगल सम्राट अकबर ने तानसेन के साथ इसी स्थान पर स्वामी जी के दर्शन किये थे और उनके दिव्य संगीत का रसास्वादन किया था। स्वामी जी के उपरांत उनकी शिष्य–परंपरा के आचार्य ललित किशोरी जी तक इसी स्थल में निवास करते रहे थे। इस प्रकार यह हरिदासी संप्रदाय का प्रधान स्थान है। यहाँ पर श्री बिहारी जी का प्राकट्य स्थल, रंगमहल और स्वामी जी सहित अनेक आचार्यों की समाधियाँ हैं।

सेवाकुंज—यह श्री हित हरिवंश जी का पुण्य स्थल है। हित जी ने वृंदावन आने पर अपने उपास्य श्री राधाबल्लभ जी का प्रथम पाटोत्सव इसी स्थान पर सं० १५९१ में किया था। बाद में मंदिर बन जाने पर उन्हें वहाँ विराजमान किया गया था। इस समय इसके बीचों बीच श्रीजी का छोटा सा संगमर का मंदिर है, जिसमें नाम-सेवा होती है। इसके निकट ललिताकुंड है। भक्तों का विश्वास है कि इस स्थान पर अब भी श्री राधा–कृष्ण का रास–विलास होता है; अतः रात्रि को यहाँ कोई नहीं रहता है। कांधला निवासी पुहकरदास वैश्य ने सं० १६६० में यहाँ श्रीजी के शैया-मंदिर का निर्माण कराया था और अयोध्या नरेश प्रतापनारायण सिंह की छोटी रानी ने सं० १९६२ में इसके चारों ओर पक्की दीवाल बनवाई थी।

कदंबखंडी—ब्रज में संरक्षित बनखंडों के रूप में कुछ कदंबखंडियाँ थीं, जहाँ बहुत बड़ी संख्या में कदंब के वृक्ष लगाये गये थे। उन रमणीक और सुरभित उपवनों में ब्रज के कतिपय महात्माओं का निवास था। कवि जगतनंद ने अपने काल की चार कदंबखंडियों का नामोल्लेख किया है। वे सुनहरा गाँव की कदंबखंडी, गिरिराज के पास जतीपुरा में गोविंदस्वामी की कदंबखंडी, जलविहार (मानसरोवर) की कदंबखंडी और नंदगाँव (उद्धव क्यार) की कदंबखंडी थीं[1]। उनके अतिरिक्त जो और हैं, उनके नाम कुमुदवन, बहुलाबन, पेंठा, श्याम ढाक (गोबर्धन) पिसाया, दोमिलबन, कोटबन और करहला नामक स्थानों की बनखंडियाँ हैं। वर्तमान काल में इनकी अवस्था शोचनीय है। ब्रज के इन ऐतिहासिक और धार्मिक बनखंडों के संरक्षण की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है।

कतिपय रमणीक स्थल—ब्रज का प्राचीन प्राकृतिक सौन्दर्य चाहे कितना ही नष्ट हो गया है, फिर भी यहाँ कुछ ऐसे रमणीक स्थल विद्यमान हैं, जिनके दर्शन मात्र से ही अतीव आनंद

---

(१) देखि सुनहरा, पास गिरि, जलबिहार नंदगाँव।
कदमखंडि ब्रज चार हैं, 'जगतनंद' इहि ठाँव॥ (ब्रज–वस्तु–वर्णन)

की अनुभूति होती है । वर्षा ऋतु में इनका रूप और भी अधिक सुहावना हो जाता है । ऐसे रमणीक स्थलों में बहुलाबन (बाटी गाँव), घाटा (कामबन), मोरकुटी और सांकरीखोर (बरसाना), पिसायौ, कोटबन, चमेलीबन, पैगाँव, चीरघाट (वृंदाबन के उत्तर में) मानसरोवर, पानीगाँव, निधिबन और सेवाकुंज (वृंदाबन), ब्रह्मांडघाट (महाबन) के नाम उल्लेखनीय हैं । इनमें भी पिसायौ और बंध बारेठा की ख्याति अधिक है ।

पिसायौ—इस रमणीक स्थल को 'ब्रज भक्ति विलास' में 'पिपासा बन' कहा गया है । इसके प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए श्री ग्राउस ने लिखा है—"यह मथुरा जिला का सबसे सुंदर स्थल है, जो काफी बड़ा भी है । इसमें प्राकृतिक चौकों की कई पंक्तियाँ हैं, जिनके चारों ओर कदंब के वृक्षों की कतारें हैं । इनके साथ कहीं-कहीं पर कुछ छोटे वृक्ष पापड़ी, पसेंदू, ढाक और सहोड़ के भी हैं । ये चौक ऐसे नियमित रूप में बन गये हैं कि इन्हें प्राकृतिक कहना कठिन है । इन्हें 'बावन चौक' कहा जाता है; किंतु वास्तव में इनकी संख्या कम है । इनमें बंदर बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं । इसके पूर्व की ओर जो जंगल है, उसमें पीलू, रेमजा और करील की झाड़ियाँ हैं । पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर बरसाने का मंदिर दिखलाई देता है । यहाँ पर अरनी के पौधे भी हैं, जिनके फूलों की सुगंध से समस्त बन का वातावरण महकता रहता है । पिसायौ गाँव के निकट किशोरी कुंड है और दो मंदिर हैं[१]। "

बंध बारेठा—राजस्थान के भरतपुर जिले का यह बड़ा रमणीक स्थल है । भरतपुर नगर से यह २३ मील दूर है और वहाँ तक मोटर का रास्ता है । इस स्थल पर छोटी पहाड़ियों के बीच में एक बंध बनाया गया है, जिसके पानी से वहाँ एक रमणीक झील बन गई है । इसमें कई स्थलों पर चट्टानों जैसी सीढ़ियों पर से पानी गिरता है, जिससे झरनों का सा दृश्य दिखाई देता है । पानी की धाराएँ कल रव करती हुई और झाग उठाती हुई बड़ी सुहावनी जान पड़ती हैं । झील में भाँति-भाँति की मछलियाँ हैं, जंगल में अनेक प्रकार के शिकार हैं और निकटस्थ दलदल में मुरगाबियाँ हैं । इन सबके कारण यह सैलानियों और भ्रमणार्थियों का स्वर्ग सा बन गया है । इसके ऊपर पहाड़ी की चोटी पर भरतपुर के राजमहल हैं और नीचे राजा का नाव घर है, जहाँ सैर के लिए मोटर नावें रखी जाती हैं ।

बन–वैभव—

वृक्ष—ब्रज के बन-वैभव के आधार वे वृक्ष हैं, जो वहाँ विविध जातियों और नाना प्रकारों के मिलते हैं । उनके नाम अकारादि क्रम से इस प्रकार हैं,—अकोल, अगस्त, अनार, अमरूद, अमलताश, अरनी, अरुआ, अशोक, आम, आंवला, इमली, इंद्रजौ, कचनार, कटहल, कटियारी, कटैया, कदंब, कनेर, कमरख, करील, केला, कैंत, खजूर, खिरनी, गूलर, गोंदी, छोंकर, जामुन, झाऊ, ढाक, तमाल, धौ, नारंगी, नीबू, नीम, नीमचमेली (विलायती बकायन), पपीता, पसेंदू, पापड़ी, पारस पीपर, पिलखन, पीपर, पीलू, फरास, फालसेव, बकायन, बड़, बबूल, बरना, बहेड़ा, बेर, बेल, बायबिडंग, महुआ, मौलश्री, रीठा, रेमजा, लबेड़ा, लिसौड़ा, शहतूत, श्रीफल, सहजना, सहोड़, सिरस, सीसम, सेंमर, हिंगोट, और हींस । ये सब वृक्ष ब्रज के नैसर्गिक सौन्दर्य की वृद्धि करने के साथ ही साथ अपने विविध उपयोगों द्वारा इसकी भौतिक समृद्धि में भी सहायक रहे हैं ।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोग्रर (तृ० सं०)

धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व के वृक्ष—ब्रज के कुछ वृक्षों का धार्मिक महत्व माना गया है। ऐसे वृक्षों में आमलक (आंवला), न्यग्रोध (बड़), अश्वत्थ (पीपल), शमी (छोंकर) और तमाल के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्रज में विविध अवसरों पर इन वृक्षों को पूजा होती है। बड़ अर्थात् वट का वृक्ष अत्यंत विशाल और दीर्घायु का होता है। ब्रज में कई स्थानों पर दो–दो तीन-तीन सौ वर्षों के पुराने वट वृक्ष मिलते हैं। ब्रज में कई वट वृक्षों की परंपरागत प्रसिद्धि भी रही है। श्री जगतनंद ने अपने काल के १० सुप्रसिद्ध वट वृक्षों का नामोल्लेख किया है। वे पिपरोली, जाव, रासौली, संकेत, परासोली, भांडीरबन स्थित वटों के अतिरिक्त अक्षय वट, वंशी वट, विशाल वट और श्याम वट थे[१]। श्री कृष्ण ने जिन स्थानों में विशिष्ट लीलाएँ की थीं; उनकी स्मृति में वहाँ वे वट वृक्ष लगाये गये थे।

शमी अर्थात् छोंकर के वृक्षों का महत्व वल्लभ संप्रदाय में अधिक माना गया है। सर्व श्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी ने ब्रज में जो धार्मिक प्रवचन किये थे, वे प्रायः इन्हीं वृक्षों के नीचे बैठ कर हुए थे। उनकी अधिकांश बैठकें भी इन्हीं वृक्षों के नीचे बनी हुई हैं। तमाल के वृक्ष भी ब्रज के अनेक लीला–स्थलों में मिलते हैं। इसका उल्लेख ब्रज के भक्त कवियों ने कृष्ण-लीला के विविध प्रसंगों में किया है। उन्होंने श्री कृष्ण के सांवले रंग की उपमा श्याम तमाल से देकर इस वृक्ष का और भी महत्व बढ़ा दिया है[२]।

सांस्कृतिक महत्व के वृक्षों का चित्रण ब्रज के प्राचीन कलावशेषों में मिलता है। ऐसे वृक्षों में पीपल, अशोक, कदंब, चम्पा, नागकेसर आदि हैं। ब्रज में पीपल की एक दुर्लभ जाति का वृक्ष भी मिलता है, जिसे 'पारस पीपर' (परसियन पीपल) कहते हैं। ग्राउस ने ब्रज के दो स्थान— मथुरा के ध्रुवटीला और महाबन के निकटवर्ती खेलन बन में इस वृक्ष के होने का उल्लेख किया है।

कदंब ब्रज का सुप्रसिद्ध फूलदार वृक्ष है। वर्षा ऋतु में जब यह फूलता है, तब पूरा वृक्ष अपने हल्के पीले रंग के गोलाकार फूलों से भर जाता है। उस समय इसके फूलों की मादक गंध से ब्रज के समस्त वन–उपवन महकने लगते हैं। ब्रज में इसकी कई जातियाँ मिलती हैं; जिनमें श्वेत–पीत, लाल और द्रोण जाति के कदंब उल्लेखनीय हैं। साधारणतया यहाँ श्वेत–पीत रंग के फूलदार कदंब ही मिलते हैं; किंतु कुमुद बन की कदमखंडी में लाल रंग के फूल वाले कदंब भी पाये जाते हैं। श्याम ढाक आदि कुछ स्थानों में ऐसी जाति के कदंब हैं, जिनमें प्राकृतिक रूप से दोना की तरह मुड़े हुए पत्ते निकलते हैं। इन्हें 'द्रोण कदंब' कहा जाता है। गोबर्धन क्षेत्र में जो

---

(१) **पिपरौली वट, जाव वट, रासौली वट जानि।**
अक्षय वट, संकेत वट, परासोलि वट मानि॥
बंसी वट, भांडीर वट, विसाल वट अरु श्याम।
ये दस वट ब्रजभूमि में, 'जगतनंद' के धाम॥ (ब्रज वस्तु वर्णन)

(२) १. **हेमलता 'तमाल' अवलंवित, सीस मल्लिका फूली हो।**
कुंचित केस बीच अरुझाने, जनु अलि-माला भूली हो॥ (परमानंददास)
२. **तरनि-तनया तीर मरकत मनि, जु स्याम 'तमाल'।**
ब्रज की नारि–समूह मंडल बनी कंचन–माल॥ (चतुर्भुजदास)

नवीन वृक्ष लगाये गये हैं, उनमें एक नये प्रकार का कदंब भी बहुत बड़ी संख्या में है । ब्रज के साधारण कदंब से इसके पत्ते भिन्न प्रकार के हैं और इसके फूल बड़े होते हैं; किंतु उनमें सुगंध नहीं होती है । वैसे इसके फूल–पत्तों के रूप–रंग बड़े सुंदर और सुहावने लगते हैं । ब्रज में कदंब का वृक्ष सदा से बड़ा लोक प्रिय रहा है । राधा–कृष्ण की अनेक लीलाएँ इसी वृक्ष के सुगंधित वातावरण में हुई थीं । मध्य काल में ब्रज के लीला–स्थलों के अनेक उपबनों में इसे बहुत बड़ी संख्या में लगाया गया था । वे उपबन 'कदमखंडी' कहलाते हैं । ब्रज के अनेक महात्मा और भक्त जन यहाँ निवास कर अपनी भक्ति–साधना में लीन रहे हैं ।

फलदार वृक्ष—ब्रज में मीठे और खट्टे दोनों प्रकार के फलदार वृक्ष होते हैं । मीठे फल वाले वृक्षों में अमरूद, आम, केला, कैत, खजूर, खिरनी, बेर, बेल, शहतूत, श्रीफल आदि हैं । खट्टे फल वाले वृक्षों में आँवला, इमली, कमरख, करोंदा, जामुन, नारंगी, नीबू आदि उल्लेखनीय हैं । कच्चा आम खट्टा और पका हुआ मीठा होता है तथा कच्ची इमली खट्टी और पकी हुई खट-मिट्ठी होती है । इसी प्रकार कमरख और नारंगी भी खट-मिट्ठे फल हैं । इनमें जामुन और नारंगी को छोड़ कर शेष फलों का उपयोग चटनी, अचार और मुरब्बा आदि के लिए किया जाता है ।

भारतीय फलों में आम सबसे अधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय है, जो इस देश के विभिन्न भागों में पचासों किस्म का होता है । ब्रज में अति प्राचीन काल से ही इसकी कई जातियों के वृक्ष रहे हैं, जिनका उल्लेख संस्कृत और ब्रजभाषा साहित्य में मिलता है । चीनी यात्री हुएनसांग जब मथुरा आया था, तब उसने इस क्षेत्र में होने वाले आमों की बहुतायत का उल्लेख किया है । उसने लिखा है—"यहाँ पर आमों के पेड़ इतनी अधिकता से पाये जाते हैं कि कहीं-कहीं पर उनके जंगल हो गये हैं । यहाँ दो प्रकार के आम होते हैं । एक का फल छोटा होता है, जो कच्चा होने पर हरा और पकने पर पीला हो जाता है । दूसरे का फल बड़ा होता है, जो पकने पर भी हरा ही रहता है[1] ।" इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ पर प्राचीन काल में चूसवाँ और कलमी दोनों प्रकार के आम पर्याप्त परिमाण में होते थे । पिछली कई शताब्दियों से ब्रज में वर्षा कम होने से यहाँ रेगिस्तानी प्रभाव बढ़ गया है । इसके कारण यहाँ पर आमों की उपज कम हो गई है । आज-कल यमुना नदी से पूर्व दिशा वाले क्षेत्र में ही आमों के कुछ अधिक वृक्ष हैं; जब कि पश्चिमी दिशा वाले भाग में बहुत कम होते हैं ।

ब्रज के भक्त कवियों ने विविध प्रसंगों पर आम का प्रचुरता से कथन किया है । सूरदास ने बालक कृष्ण के भोज्य पदार्थों की लंबी सूचियाँ दी हैं । उनमें आम और आम के अचार का भी उल्लेख हुआ है[2] । परमानंददास ने आम बेचने वाली एक काछनि का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसकी आवाज़ सुनते ही बाल कृष्ण उसे भवन के अंदर ले जाते हैं और वहाँ अपनी माता से आम खरीदने का आग्रह करते हैं[3] । ब्रज साहित्य में अनार और श्रीफल का उल्लेख भोज्य पदार्थों की अपेक्षा दांतों और उरोजों के उपमान रूप में अधिक किया गया है ।

---

(१) आन ह्वेनसांग्स ट्रेविल्स इन इंडिया, जिल्द १, पृष्ठ ३०१

(२) सूरसागर (ना० प्र० सभा), दशम स्कंध, पद संख्या २११, २४१

(३) परमानंद सागर (कांकरोली), पद सं० १४४

तरकारी के वृक्ष

फूलदार वृक्ष—ब्रज में कदंब के अतिरिक्त मौलश्री और कनेर के फूलदार वृक्ष भी प्रचुरता से पाये जाते हैं। केतकी, केवड़ा, कुंद, गुलाव, चमेली, चंपा, जुही, वेला, मोतिया, रातरानी आदि के फूल छोटे वृक्षों और झाड़ियों में तथा कमल, कुमुद, कुमुदिनी आदि कुंड–सरोवरों में होते हैं। ये सभी फूल अधिकतर वसंत, वर्षा और शरद ऋतुओं में खिलते हैं। उस समय उनकी सुगंध से ब्रज के सभी बन–उपबन और बाग-बगीचे महकने लगते हैं।

बसंत ऋतु में खिलने वाले पुष्पों में गुलाब और वेला (मल्लिका) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अमलताश और गुलमुहर ग्रीष्म ऋतु में फूलने वाले प्रमुख वृक्ष हैं। उनमें पीले और लाल रंग के फूलों के झुर्रे लगते हैं। यद्यपि उनमें सुगंध नहीं होती है, तथापि वे अपने मन-मोहक रंगों के कारण बड़े सुहावने दिखलाई देते हैं। सिरस (शिरीष) के पुष्प भी ग्रीष्म ऋतु में खिलते हैं। वर्षा ऋतु के फूलों में कदंब के पश्चात् मौलश्री (वकुल) उल्लेखनीय है। इस छोटे पुष्प की सुगंध बड़ी भीनी और मादक होती है। मरुआ की छोटी झाड़ी भी वर्षा ऋतु में फूलती है, जो बड़ी सुगंध देती है। वर्षा ऋतु में फूलने वाला वृक्ष कनेर भी है, जिसके फूल पीले, सफेद और गुलाबी रंगों के होते हैं। इनमें सुगंध तो नहीं होती है; किंतु इनकी सुंदरता दर्शनीय है। शरद ऋतु के फूलों में चमेली (मालती) और रातरानी (शेफालिका अथवा पारिजात) छोटे वृक्षों पर तथा कमल, कुमुद और कुमुदनी सरोवरों में खिलते हैं। इसी ऋतु में भोंरे सुगंधित पुष्पों पर मँडराते हैं और श्वेत हंस सरोवरों के तट पर क्रीड़ा करते हैं।

ब्रज में फूलों का उपयोग लोक–रंजन के अतिरिक्त ठाकुर-सेवा आदि धार्मिक कार्यों में विशेष रूप से होता है। भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में जिन पुष्पों का अधिक वर्णन किया है, उनमें कदंव, कुंद, कमल, कुमुद, कुमुदनी, कनेर, केतकी आदि उल्लेखनीय हैं। सूरदास ने अपनी रचनाओं में पुष्पों का प्रचुरता से कथन किया है। उनके पदों में अशोक, कदंम, कुंद, कर्णिकार, कंज (कमल), कुमुदनी, वकुल (मौलश्री), चम्पक (चंपा), चमेली (मालती), लवंगलता, मोगरा, सेवती आदि का उल्लेख मिलता है[1]।

तरकारी के वृक्ष और बेलें—जिन वृक्षों के फल ब्रज में शाक-तरकारी आदि के काम में आते हैं, उनमें करील, कचनार, महुआ और सहजना उल्लेखनीय हैं। करील के फल 'टेंटी' कहलाते हैं, जिनका शाक और अचार बनता है[2]। सूरदास ने श्री कृष्ण के भोजन संबंधी एक बड़े पद में

---

(१) १. पुनि आयौ सीता जहँ बैठी, बन 'असोक' के माँहि। (पद सं० ५१६)
२. कुटज, कुंद, कदंब कोविद, करनिकार, सु कंज। (पद सं० ३३१४)
३. कहिधौं कुंद, कदंब, वकुल, बट, चंपक, ताल तमाल। (पद सं० १०६१)
४. कमल पुहुप मालूर पत्र फल, नाना सुमन सुबास। (पद सं० ७६६)
५. फूले चंपक चमेलि, फूली लवंगलता बेलि, सरस रसहिं फूल डोल।
फूले निवारी एलि, मोगरौ सेवति सुबेलि, संतन हित फूल डोल।।
(पद सं०३५३५)

(२) फूल करील, कली पाकर नम। फरी अगस्त करी अमृत सम।
पोई परबर फांग फरी चुनि। 'टेंटी' ढेंढस छोलि कियौ पुनि।। (पद सं० १८३१)

विविध खाद्य पदार्थों के साथ भटा (बेंगन), चना, चौराई, सोवा, सरसों, बथुआ, परवल, टेंटी, ढेंढ़स, कुनरू, ककोरा, कचरी, चिचींड़ा, करेला, सहजना, करील, पाकर, अगस्त की फली ,अरबी, इमली, पेठा, खीरा, रामतोरई, रतालू, ककड़ी, कचनार, केला, करोंदा आदि तरकारी के पेड़ और बेलों का नामोल्लेख किया है। तरकारी के फल और फलियों की उत्पत्ति अधिकतर छोटे पौधों और बेलों में होती है। सूरदास ने इस प्रकार के फलों में खरबूजा, तरबूजा, ककड़ी और खीरा का भी उल्लेख किया है[1]। ये सभी खाद्य पदार्थ ब्रज में पर्याप्त परिमाण में होते हैं।

अन्य प्रकार के वृक्ष और झाड़—ब्रज में कुछ वृक्षों का उपयोग ओषधि के लिए किया जाता है। ऐसे वृक्षों में अमलताश, आंवला, इन्द्रजौ, कटियार, नीम, बायबिडंग, बहेड़ा और रीठा उल्लेखनीय हैं। कुछ वृक्षों की लकड़ी इमारती काम में और कुछ की ईंधन के काम में ली जाती है। इमारती काम में आने वाले वृक्षों में आम, नीम और सीसम उल्लेखनीय हैं। ईंधन के रूप में जलाने की लकड़ी बबूल, छोंकर, फरास, नीम, पापड़ी, धौ, रेमजा, हींस आदि वृक्षों से मिलती है। जंगली वृक्षों में तमाल, अरुआ, ढाक, धौ, झाऊ, करील, पसेंदू, पीलू, पिलूखन, हिंगोट, हींस और रेमजा उल्लेखनीय हैं। ढाक के पत्तों से पत्तलें और झाऊ की लकड़ी से डलियाँ बनाई जाती हैं। शेष वृक्षों और झाड़ों का ईंधन आदि में उपयोग किया जाता है।

वृक्षारोपण योजना—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, प्राचीन काल में ब्रज में अनेक बन और उपबन थे, जिनके कारण यह भू-भाग सघन वृक्षों से आच्छादित अत्यंत हरा-भरा और रमणीक प्रदेश था। विगत शताब्दी में और विशेषतया पिछले महायुद्ध के काल में लकड़ी की आवश्यकता की पूर्ति के लिए यहाँ के प्रायः सभी बनोपबन काट डाले गये थे। फलतः प्राचीन वृक्षावली समाप्त हो गई और भूमि के बनस्पति रहित हो जाने से राजस्थान के रेगिस्तान का फैलाव ब्रजमंडल की ओर बढ़ गया था। इससे यह सुरम्य प्रदेश बड़ी तेजी से रेगिस्तान होने लगा था। इस बात की आशंका थी, यदि इसका शीघ्र उपाय नहीं किया गया तो यह समस्त प्रदेश ही उजाड़ मरुस्थल हो जावेगा।

इस संबंध में सरकारी जाँच किये जाने पर पता चला कि राजस्थान के रेगिस्तान का विस्तार उत्तरप्रदेश के मथुरा, आगरा और इटावा जिलों की ओर बढ़ रहा है। सरकारी आंकड़ों से यह भी ज्ञात हुआ कि यह रेगिस्तान प्रति वर्ष ३२ हजार एकड़ भूमि को रेतीला और उजाड़ बनाता जा रहा है। अब तक ३० लाख एकड़ उपजाऊ भूमि इसके मुख में पड़ कर सूखे मरुस्थल में परिवर्तित हो चुकी है तथा ६० लाख एकड़ भूमि की अन्नोत्पादक शक्ति २५ से ५० प्रति शत तक कम हो गई है। ये अत्यंत चौंका देने वाले आंकड़े थे। उनके कारण सरकार इस दिशा में योजनाबद्ध रीति से काम करने के लिए प्रयत्नशील हुई।

ब्रज में गोवर्धन-गिरिराज का भू-भाग ही सबसे अधिक रमणीक और बनश्री सम्पन्न था, जो रेगिस्तानी प्रभाव के बढ़ने से मरु दानव के पेट में विलीन होने लगा था। सरकारी योजना

---

(१) १. छोलि धरे 'खरबूजा' केरा। सीतल बास करत अति घेरा।
बन कोरा पिंडीक चिंचिडी। सीप पिंडारू कोमल भिंडी॥ (पद सं० १०१४)
२. सफरी, सेब, छुहारे, पिस्ता, जो 'तरबूजा' नाम॥ (पद सं० ८३०)

के अनुसार पहिले यही क्षेत्र हरा-भरा किया जाने लगा। इसके लिए यहाँ बन-महोत्सव किये गये और वृक्षों को बड़ी संख्या में लगाया गया। स्थान-स्थान पर बनखंड बना कर और भूमि को संरक्षित कर उसमें वृक्षों को व्यवस्थित ढंग से रोपा गया। गोबर्धन क्षेत्र में पूंछरी गाँव से लेकर राधा-कुंड तक गिरिराज के दोनों ओर सुरम्य उद्यान बनाये गये तथा पंक्तिबद्ध चौराहों के रूप में बन-कुंजों और बन-मार्गों की व्यवस्था की गई। इस विस्तृत उपवन में विविध जाति के फलदार, फूलदार और सदावहार के वृक्षों को बहुत सुंदर क्रम से लगाया गया था। अब ये वृक्ष अपनी किशोर अवस्था को पार कर गये हैं और जवानी के गर्व से मुस्कराते हुए गिरिराज पहाड़ी की शोभा-वृद्धि कर रहे हैं।

इस योजना के अंतर्गत गिरिराज की तलहटी में पूंछरी के पास ४० एकड़ में १९४६, गोविंदकुंड के पास ५ एकड़ में २४६, आन्योर के पास २० एकड़ में ८८७ वृक्ष लगाये गये हैं। इन वृक्षों में अमरूद, आंवला, कागजी नीबू, लिसौड़ा, खिरनी, आम, जामुन और कमरख के फलदार वृक्ष हैं। इनके अतिरिक्त अमलताश, गुलमुहर और कदंब के छायादार वृक्ष भी हैं।

गिरिराज की तलहटी के अतिरिक्त नीचे लिखे मार्गों के आस-पास भी राजकीय उद्यान और बन खंड बनाये गये हैं—

१—मथुरा-वृंदावन मार्ग (सुंदर उद्यान तथा बन खंड)
२—मथुरा-आगरा मार्ग (सूर बन तथा अन्य बन क्षेत्र)
३—मथुरा-देहली मार्ग (बन खंड)
४—नंदगाँव-बरसाना के आस पास के क्षेत्र में (बन वृक्ष)

जल-वायु--

ऋतुओं का प्रभाव—किसी भी क्षेत्र की संस्कृति वहाँ की जल-वायु से बहुत कुछ प्रभावित होती है। जल-वायु का आधार ऋतुएँ हैं, अतः क्षेत्रीय जल-वायु का अभिप्राय भी वहाँ की गर्मी, सर्दी और वर्षा से होता है। इनका प्रभाव वहाँ के जन-जीवन पर और अंततोगत्वा वहाँ की संस्कृति पर पड़ता है। वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं, जिनमें से प्रत्येक को दो-दो महीनों की माना गया है; किंतु साधारणतया तीन ऋतुएँ ही मानी जाती हैं। ये तीनों गर्मी, वर्षा और सर्दी की वस्तुएँ हैं और प्रत्येक चार-चार महीनों की होती हैं। ब्रज में पहिले ये ऋतुएँ नियमित रूप से होती थीं; जिनके कारण गर्मी, वर्षा और सर्दी के मौसम भी ठीक समय पर हुआ करते थे। किंतु जब से ब्रज में बनों की कमी हुई है और राजस्थानी रेगिस्तान का विस्तार इधर की ओर बढ़ा है; तब से यहाँ वर्षा कम होने लगी है और गर्मी-सर्दी की ऋतुएँ लंबी तथा कठिन हो गई हैं। इस समय ब्रज में गर्मियों में अधिक गर्मी पड़ती है और सर्दियों में अधिक सर्दी होती है। इस प्राकृतिक परिवर्तन का प्रभाव ब्रज के जन-जीवन अर्थात् यहाँ की संस्कृति पर प्रतिकूल पड़ा है।

ऋतुओं की विषमता—ब्रज में गर्म ऋतु का प्रभाव फाल्गुन से लेकर आषाढ़ तक रहता है। उस समय दिन में बड़ी तेज धूप पड़ती है और लू चलती है। दिन का तापमान ११९–१२० फ० डिग्री तक पहुँच जाता है; किंतु रात प्रायः ठंडी रहती हैं। वर्षा श्रावण से क्वार तक होती है; किंतु इन तीन महीनों में भी उसका औसत २६ इंच से अधिक नहीं होता है। इस पर भी वह नियमित रूप से नहीं होती है। कभी बहुत अधिक पानी पड़ता है, जिससे बाढ़ आती है और गर्की हो जाती है। कभी

इतनी कम वर्षा होती है कि खेती सूखने लगती है और अकाल की सी स्थिति बन जाती है । ब्रज की जो विशेषता यहाँ पर बनों की अधिकता तथा गोचर-भूमि एवं गायों की प्रचुरता के रूप में थी; वह अब विगत युग की बात हो गई है । यहाँ सर्दी में बहुत ठंड पड़ती है और कभी-कभी पाला भी पड़ जाता है । उस समय न्यूनतम ताप-मान ४० फ० डिग्री तक हो जाता है । जब कभी उत्तर से शीत की लहर आ जाती है, तब तो और भी भयंकर ठंड पड़ने लगती है; किंतु उसका प्रभाव ५–७ दिनों तक ही रहता है । ब्रज में कहावत है,—'धन के पंद्रह, मकर के पच्चीस । चिल्ला जाड़े दिन चालीस' । अर्थात् धन की संक्रांति के १५ दिन और मकर की संक्रांति के २५ दिन कुल ४० दिनों तक जाड़े का 'चिल्ला' रहता है । इस प्रकार ३१ दिसंबर से १० फरवरी तक ब्रज में खूब सर्दी पड़ती है ।

जैसा पहिले कहा गया है, मौसम की इस विषमता और अनियमितता का कारण वर्षा की कमी और रेगिस्तान का फैलाव है; जिसे दूर करने के लिए यहाँ पर वृक्षारोपण की योजना द्वारा फिर से बनों का विस्तार किया जा रहा है । इसमें सफलता प्राप्त होने पर ही ब्रज अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर सकता है ।

सिंचाई के साधन—

ब्रज में सिंचाई के मुख्य साधन कूए और नहरें हैं । कूए प्रत्येक गाँव में हैं, जो पक्के और कच्चे दोनों प्रकार के हैं । कहीं-कहीं पर ट्यूब वैलों का भी उपयोग किया जाने लगा है; परंतु अधिकतर सिंचाई नहरों से होती है । यमुना की खादर में ढेकली द्वारा भी सिंचाई की जाती है । नहरें यमुना और गंगा द्वारा निकाली गई हैं । ब्रज के राजस्थानी भाग में बानगंगा और रूपारेल के बंधों से निकाली गई नहरों द्वारा सिंचाई होती है । ब्रज की मुख्य नहरों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है—

१. यमुना (आगरा) नहर— यह ब्रज की सबसे प्रसिद्ध नहर है, जो दिल्ली से आगे ओखला बंध पर यमुना नदी से निकाली गई है और आगरा के निकट यमुना की शाखा उटंगन में मिल जाती है । इसकी लंबाई ओखला से उटंगन तक १४० मील है । इसका उद्घाटन सं० १९३१ (५ मार्च सन् १८७४) में सर विलियम म्यूर द्वारा हुआ था और अगले वर्ष के अंत तक यह सिंचाई के उपयोग में आने लगी थी । यह पंजाब के गुड़गाँवा जिले के कुछ भाग को, मथुरा जिला की छाता और मथुरा तहसीलों को तथा आगरा की फतेहाबाद तहसील को सींचती है । इससे सींची जाने वाली भूमि का परिमाण प्रायः ढाईलाख एकड़ है ।

इस नहर से सिंचाई के अतिरिक्त नावों द्वारा व्यापारिक यातायात किये जाने की योजना भी थी । उसके लिए मथुरा तहसील के अडींग गाँव के समीप इस नहर से एक धारा निकाली गई थी; जो मथुरा नगर में भूतेश्वर के निकट लाल डिग्गी तक आती थी । उसके द्वारा आगरा, मथुरा और दिल्ली के माल को नावों में लाया ले जाया जाता था । वह योजना सफल नहीं हुई; अतः व्यापारिक यातायात बंद कर दिया गया । फलतः लाल डिग्गी को भी भर देना पड़ा । इस समय व्यापारिक माल रेलों, मोटरों और बैलगाड़ियों से ढोया जाता है ।

यह नहर अपने बंबों और कूलों के द्वारा ब्रज के बहुत बड़े भाग को सींचती है । यद्यपि इसके निकलने से यमुना नदी में पानी बहुत कम रह गया है, तथापि इससे ब्रज की उपज बढ़ गई है ।

२. गंगानहर (मांट शाखा)—यह भी ब्रज की उपयोगी नहर है। इसके निर्माण की योजना यमुना नहर के साथ ही साथ सं० १९३१ से चल रही थी; किंतु अनेक कारणों से वह स्थगित होती रही। इसके निर्माण का प्रारंभ सं० १९५९ के अंत में हुआ और तीन वर्ष बाद सं० १९६३ के प्रारंभ में यह बन कर तैयार हुई थी। इसे मेरठ जिला की गाजियाबाद तहसील के देहरा नामक स्थान पर गंगा की मुख्य नहर से निकाला गया और मथुरा जिला की सादाबाद तहसील में यमुना की सहायक नदी करबन से मिलाया गया है। इसके द्वारा ब्रज में अलीगढ़ जिला की खैर तथा मथुरा जिला की मांट और सादाबाद तहसीलों में सिंचाई होती है।

३. गंगानहर (हाथरस शाखा)—यह गंगा नहर की शाखा है। इसके द्वारा अलीगढ़ जिला की इगलास और हाथरस तथा मथुरा जिला की सादाबाद तहसीलों में सिंचाई होती है।

उपज—

खेती—अच्छी खेती के लिए अच्छी वर्षा का ठीक समय पर होना आवश्यक है। ब्रज में वर्षा उन मौसमी हवाओं (मानसून) से होती है, जो अरब सागर और बंगाल की खाड़ी से श्रावण-भाद्रपद के महीनों में आती हैं। उनसे 'खरीफ़' की फसल में मोटा अनाज; जैसे ज्वार, बाजरा, मक्का, मूंग, उड़द आदि के साथ कपास और गन्ने की उपज होती है। पहिले सर्दी की ऋतु में वर्षा (माहौट) खूब होती थी; जिससे 'रबी' की फसल में गेहूँ, जौ, मटर, सरसों, दुआँ आदि की अच्छी पैदावार हुआ करती थी। विगत अनेक वर्षों में 'माहौट' कम हो जाने से रबी की फसल भी कम होती है।

यमुना की खादर के रेतीले भाग में ककड़ी, खरबूजे, तरबूजे, काशीफल आदि पैदा होते हैं और शेष भाग में झाऊ, कांस, करील, झरबेरी आदि झाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। झाऊ से टोकरी, डले आदि बनते हैं और कांस का उपयोग छप्पर बनाने में किया जाता है। पहिले ब्रज में नील की बहुत उपज होती थी, और उसे बनाने के यहाँ कई कारखाने थे। जब से नील की अपेक्षा अन्य पदार्थों से नकली रंग बनने लगे हैं, तब से नील की आवश्यकता कम हो गई है। फलतः यहाँ के नील के कारखाने भी बंद हो गये हैं। इससे किसानों ने नील की बजाय दूसरी वस्तुओं की उपज बढ़ाने की ओर अपना ध्यान लगा दिया है।

खनिज पदार्थ—ब्रज में खनिज पदार्थ अधिक नहीं मिलते हैं। चीनी यात्री हुएनसांग ने लिखा है कि उसके काल (विक्रम की ७ वीं शती) में यहाँ की खानों से सोना निकलता था। आज-कल यहाँ सोना तो क्या, कोई भी धातु नहीं निकलती है। यहाँ का उल्लेखनीय खनिज पदार्थ लाल रंग का बलुआ पत्थर है, जो भरतपुर और आगरा जिलों की खानों से निकलता है। यह पत्थर प्राचीन काल से ही यहाँ की इमारतों और मूर्तियों को बनाने के काम में लाया जाता रहा है। छाता और कामबन की पहाड़ियों से मटमैला पत्थर निकलता है। उसकी रोड़ियाँ बना कर उनसे सड़कों का निर्माण किया जाता है।

छाता तहसील और भरतपुर जिला की बहुत सी भूमि नमकीन है, जिससे नमक और शोरा निकलता है। पहिले यहाँ पर नमक बनाने के बहुत कारखाने थे; किंतु सरकारी नियम के अनुसार अब वे प्रायः बंद कर दिये गये हैं। शोरा अब भी अत्यधिक परिमाण में निकाला जाता है। इसके यहाँ बड़े-बड़े कारखाने हैं। यमुना नदी से कंकड़ भी बहुत निकलता है, जिसे फूंक कर चूना बनाया जाता है। यह चूना मकान बनाने के उपयोग में आता है।

यातायात के साधन––

ब्रज में व्यक्तियों के ग्राने–जाने तथा सामान के लाने ले जाने के लिए रेल, मोटर, बैलगाड़ी, ऊँटगाड़ी, तांगा, इक्का ग्रौर रिक्शा ग्रादि का उपयोग किया जाता है। यातायात के इन साधनों के लिए रेल मार्ग ग्रौर सड़क मार्ग का बड़ा महत्व है। प्राचीन काल में ये मार्ग ग्रधिक विकसित नहीं थे; किंतु ग्रब इनके विकास ग्रौर विस्तार के लिए निरंतर प्रयत्न किया जा रहा है। कहना नहीं होगा, इन साधनों पर ब्रज की समृद्धि ग्रधिकांश में निर्भर है।

रेल मार्ग— ब्रज में कई रेल मार्ग हैं; जिनके नाम मध्य रेलवे, पश्चिमी रेलवे, पूर्वोत्तर रेलवे ग्रौर उत्तर रेलवे हैं। इन रेल मार्गों द्वारा व्यक्तियों के ग्राने-जाने तथा माल के ढोने का महत्वपूर्ण कार्य होता है।

मध्य रेलवे—यह मार्ग दिल्ली से ग्राकर कोसी, मथुरा, ग्रागरा, धौलपुर होता हुग्रा बंबई तथा मदरास जाता है।

पश्चिमी रेलवे—इसका एक मार्ग दिल्ली से ग्राकर कोसी, मथुरा, भरतपुर, बयाना होता हुग्रा बंबई जाता है। दूसरा मार्ग ग्रागरा, ग्रछनेरा, भरतपुर होता हुग्रा ग्रहमदाबाद चला जाता है।

पूर्वोत्तर रेलवे—इसकी एक शाखा ग्रागरा, ग्रछनेरा, मथुरा, हाथरस, कासगंज होती हुई काठगोदाम जाती है ग्रौर दूसरी शाखा कासगंज से कानपुर जाती है।

उत्तर रेलवे—इसकी एक शाखा दिल्ली से मथुरा, ग्रागरा, टूंडला होती हुई कलकत्ता जाती है ग्रौर दूसरी शाखा दिल्ली से खुर्जा, ग्रलीगढ़, हाथरस जंकशन, टूंडला, फीरोजाबाद, शिकोहाबाद, इटावा होती हुई कलकत्ता चली जाती है।

मथुरा से वृंदावन तक, हाथरस नगर से हाथरस जंकशन तक, ग्रागरा से टूंडला तक तथा ग्रागरा से फतेहपुर सीकरी तक प्रधान रेलों के उपमार्ग भी हैं।

सड़क मार्ग—ब्रज में सड़कों के पक्के ग्रौर कच्चे दोनों प्रकार के मार्ग हैं। पक्के मार्ग प्रधान नगरों में होकर जाते हैं तथा कच्चे मार्ग कस्बों ग्रौर गाँवों में हैं। प्रधान पक्के मार्ग मथुरा–बरेली, मथुरा-ग्रलीगढ़, मथुरा-डीग, मथुरा-भरतपुर, दिल्ली-ग्रागरा, ग्रलीगढ़-एटा ग्रादि हैं।

मथुरा–बरेली सड़क १२० मील लंबी है। यह मथुरा से राया, मुरसान, हाथरस, सिकंदराराऊ, कासगंज, सोरों होती हुई बरेली जाती है। मथुरा–ग्रलीगढ़ सड़क ५० मील लंबी है। यह मथुरा, राया से सासनी होती हुई ग्रलीगढ़ जाती है। मथुरा–डीग सड़क २३ मील लंबी है। यह मथुरा से गोवर्धन होकर डीग जाती है। मथुरा–भरतपुर सड़क २४ मील लंबी है। यह मथुरा से भरतपुर जाती है। दिल्ली-ग्रागरा सड़क १२७ मील लंबी है। यह वास्तव में दिल्ली–बंबई सड़क का भाग है, जो दिल्ली से पलबल, होड़ल, कोसी, छाता, मथुरा, फरह, रुनकता होता हुग्रा ग्रागरा जाता हैं। ग्रलीगढ़–एटा सड़क सुप्रसिद्ध ग्रांट ट्रंक रोड का भाग है, जो दिल्ली, बुलंदशहर, खुर्जा, ग्रलीगढ़ से सिकंदराराऊ, एटा, कन्नौज होता हुग्रा ग्रागे चला जाता है।

जल मार्ग—पहिले जब रेल ग्रौर बड़ी-बड़ी पक्की सड़कें नहीं थीं, तब यमुना नदी में नावों द्वारा यातायात होता था। उस समय यमुना में बहुत गहरा जल था, जिसके कारण उसमें बड़ी-बड़ी नावें चला करती थीं। उन नावों से यात्री ग्रौर सामान को ग्रागरा–मथुरा से दिल्ली तक लाया ले जाया जाता था। छोटी नावें छोटी नदियों ग्रौर नहरों में चला करती थीं। जब से यमुना नदी से नहरें निकाली गई हैं, तब से इसमें बहुत कम जल रहता है; ग्रतः प्रत्येक ऋतु में नावों से यातायात करने में सुविधा नहीं है। फिर रेल ग्रौर सड़कों से यातायात बढ़ जाने से जल-मार्ग वैसे भी सुविधाजनक नहीं रह गया है; ग्रतः यह मार्ग ग्रब प्रायः बंद हो गया है।

तृतीय अध्याय

ब्रज के पशु-पक्षी और जीव-जंतु

ब्रज में बनों का वाहुल्य होने से यहाँ स्वभावतया ही पशु-पक्षियों और जीव-जंतुओं की प्रचुरता रही है। पशु-पक्षी दो प्रकार के होते हैं—१. जंगली और २. पालतू। जंगली पशु-पक्षी स्वच्छंद रूप से बनों में विचरण करते हुए कभी–कभी मानव–समाज के कष्ट का कारण बनते हैं; किंतु पालतू पशु–पक्षी सदैव घरेलू जीवन विताते हुए मानवों को सुख, सुविधा और समृद्धि प्रदान करते रहते हैं।

जंगली पशु—ब्रज के जंगली पशुओं में मांसाहारी और निरामिष भोजी दोनों प्रकार के हैं। मांसाहारी पशुओं में सिंह, बघेर्रा, भेड़िया, शूकर, लोमड़ी और स्यार हैं। सिंह, बघेर्रा, भेड़िया और शूकर मांसाहारी होने के साथ ही साथ हिंसक भी हैं। वे अवसर मिलते ही मनुष्यों और पशुओं पर घातक आमक्रण करते हैं। ब्रज साहित्य में इनके उत्पात का वर्णन मिलता है। परमानंददास ने बाघ द्वारा गायों को मारने तथा भेड़ियों द्वारा बछड़ों को काटने का उल्लेख किया है[1]। 'वार्ता' का कथन है, कुंभनदास का पुत्र कृष्णदास श्रीनाथ जी की गायों की रखवाली करता था। एक दिन जब गायें बन से चर कर वापिस आ रही थीं; तब उनमें से एक गाय कुछ पीछे रह गई थी। उस पर एक सिंह ने आक्रमण कर दिया। कृष्णदास गाय को बचाने के लिए दौड़ा। गाय तो लपक कर खिरक में घुस गई; किंतु कृष्णदास सिंह की पकड़ में आ गया और मारा गया[2]।

ब्रज के निवासी सदा से अहिंसा प्रिय होने के कारण जंगल के हिंसक पशुओं को मारने में भी पाप समझते रहे हैं; किंतु राजा–महाराजा और मुसलमान शासक ब्रज के बनों में सिंहादि हिंसक पशुओं की शिकार किया करते थे। मुगल सम्राटों में बाबर से लेकर जहाँगीर तक ने ब्रज के बनों में शिकार किया था। इसके उल्लेख उस काल की तवारीखों में मिलते हैं। जब से ब्रज में जंगलों की सफाई हुई है, तब से जंगली पशुओं की कमी हो गई हैं। सिंह–बघेर्रा जैसे हिंसक पशुओं का तो यहाँ प्रायः अभाव ही हो गया है।

निरामिष भोजी जंगली पशुओं में मृग, नील गाय और बंदर उल्लेखनीय हैं। वे मानवों पर घातक आक्रमण तो नहीं करते; किंतु खेतों और बाग–बगीचों को बहुत हानि पहुँचाते हैं। जब ब्रज में हिंसक पशुओं को भी नहीं मारा जाता है, तब इन जंगली अहिंसक पशुओं के मारने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। मृग अर्थात् हरिण और नील गाय के झुंड के झुंड ब्रज के बनों

---

(१) **बैर परस्पर उपज्यौ है, बन 'बाघ' गाय कों मारत।**
घर घर तें बछरा 'बृक' काटत, सब प्रानी अति आरत॥ (परमानंद सागर, पद ११४०)

(२) **कुंभनदास की वार्ता,** (अष्टछाप, पृष्ठ २७४–२७५)

और यमुना की खादरों में विचरण करते हुए खेतों को हानि पहुँचाते रहते हैं। नील गाय को प्रायः 'गाय' समझ पर उसकी रक्षा की जाती है; किंतु वह वास्तव में हरिण की जाति का जंगली पशु है। इसलिए उसके साथ हरिण की भाँति ही व्यवहार करना उचित है। बंदर ब्रज के बन, उपबन और बस्तियों में बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। वे बन-उपबनों के फलों को प्रचुर परिमाण में नष्ट करते हैं और बस्तियों में भी बहुत हानि पहुँचाते हैं। फिर भी उन्हें कष्ट देने की बात कभी नहीं सोची जा सकती। ब्रज में बंदरों की रक्षा की जाती है और उनके भोजन के लिए चना आदि डाले जाते हैं। नगरों में जब बंदरों का उत्पात बहुत बढ़ गया था, तब भावुक जनता के विरोध करने पर भी नगर पालिकाओं द्वारा उन्हें पकड़वा कर जंगलों में छोड़ दिया गया था।

पालतू पशु—ब्रज के पालतू पशुओं में गाय, बैल, भेंस, बकरी, घोड़ा, गधा, कुत्ता, ऊंट और हाथी के नाम लिये जा सकते हैं। उनको पालतू बना कर मानव समाज ने उन्हें अपनी सुख-समृद्धि के साधन बना लिया है। ब्रज में साधारणतया इन सभी पालतू पशुओं से काम लिया जाता है; किंतु विशेष रूप से यहाँ गाय की उपयोगिता मानी गई है।

गाय—ब्रज के जन-जीवन में गाय का जैसा स्थान है, वैसा किसी अन्य पालतू पशु का नहीं है। गाय एक उपयोगी पशु मात्र ही नहीं है, वरन् ब्रज संस्कृति का एक प्रकार से प्रमुख आधार ही है। भगवान् श्री कृष्ण गायों की सेवा करने के कारण ही 'गोपाल' और 'गोविंद' कहे जाते थे। ब्रज में इस पशु को जो अनुपम गौरव दिया गया है, उसका कारण वस्तुतः इसकी अतिशय उपयोगिता ही है।

ब्रज में बहुत बड़ी संख्या में गायों को पाला जाता था। प्राचीन काल में उनके चारे-घास के लिए यहाँ बड़े-बड़े बन थे। गिरिराज पहाड़ी भी गो-चारण का प्रमुख केन्द्र थी। इसी लिए इसे 'गो-बर्धन' की संज्ञा प्राप्त हुई है। ब्रजवासी गोपों का समस्त जीवन ही गो-वंश पर आधारित था। वे उससे दूध, दही, मक्खन जैसे पौष्टिक पदार्थों को प्राप्त करते थे। उसके गोवर और मूत्र से जो खाद बनाते थे, वह उनके खेतों की उपज को बढ़ाने में सहायता होता था। गाय से उत्पन्न बैल खेत जोतते थे और माल ढोते थे। इस प्रकार गाय ब्रजवासियों के जीवन का आवश्यक अंग ही नहीं, उनके परिवार का एक प्रमुख सदस्य ही बन गई थी।

गाय की इस अनुपम उपयोगिता ने ही इसे धर्म में स्थान दिया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह समस्त भू मंडल ही गाय के सींग पर टिका हुआ है। इसका बुद्धिगम्य अर्थ यह हुआ कि सांसारिक जीवन का बहुत कुछ आधार गाय पर है। हमारी संस्कृति की यह विशेषता है कि जो बातें मानव-जीवन के लिए हितकर ज्ञात हुईं, उन्हें धार्मिक रूप प्रदान कर दिया गया। इससे उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना भी जुड़ गई है।

ब्रज के जन-जीवन में गाय का जो महत्वपूर्ण स्थान रहा है, उसके कारण वह यहाँ की धार्मिक भावना से अत्यंत निकट का संबंध रखती है। ब्रज के धर्माचार्यों और भक्त जनों ने गाय के प्रति अपनी भक्ति-भावना को बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। साधारण मुसलमानों का गाय के प्रति ऐसा दृष्टिकोण नहीं है; किंतु जिन सहृदयों मुसलमानों ने ब्रज की भक्ति-भावना को स्वीकार कर लिया था, वे गाय के प्रति हिंदुओं से कम श्रद्धावान् नहीं थे। भक्तवर रसखान की कामना थी कि यदि आगामी योनि में उन्हें मानव की देह प्राप्त हो, तो ब्रज में गोकुल के ग्वालाओं

के साथ रहने का ही उन्हें सुयोग मिले । यदि किसी प्रकार पशु होना पड़े, तो फिर नंद की गायों के साथ चरने का सौभाग्य प्राप्त हो । उन्होंने कहा है—

मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं मिल गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरौ, चरौ नित नंद की धेनु मँझारन[1] ।।

भगवान् श्री कृष्ण की बाल कीड़ाओं में 'गोचारण' का बड़ा महत्व है और इसका कथन ब्रज के भक्त कवियों ने बड़े उल्लास के साथ किया है । उन्होंने रंगों के अनुसार गायों को धौरी, धूमरि, राती, पियरी, गोरी, कजरी, भूरी, श्यामा, कपिला आदि अनेक नामों से संबोधित करते हुए उनके प्रति बाल कृष्ण के प्यार-दुलार का मनोहर कथन किया है । उनका कहना है—

धौरी, धूमरि, राती, रौंछी, बोल बुलाइ चिन्होरी ।।
पियरी, मौरी, गोरी, गैनी, खैरी कजरी जेती ।
दुलही, फुलही, भौंरी, भूरी, हाँकि ठिकाई तेती[2] ।।
गोबिंद गिरि चढ़ि टेरत गाइ ।
गांग बुलाई धूमरि धौरी, टेरत बेनु बजाइ[3] ।।

मांगलिक अवसरों पर ब्रज में गो-दान करने का परंपरागत प्रचलन रहा है । श्री कृष्ण के जन्म के समय नंद जी ने अनेक सुंदर गायों को विविध धातुओं से मंडित कर उनका दान ब्राह्मणों को किया था । इसका उल्लेख करते हुए सूरदास ने कहा है—

खुर तांवे, रूपे पीठि, सोने सींग मढ़ीं ।
ते दीन्हीं द्विजन अनेक, हरषि असीस पढ़ीं[4] ।।

केवल ब्रजवासी अथवा हिंदू ही नहीं, वरन् भारतीय मात्र के लिए गाय सदा से श्रद्धा और भक्ति का भाजन रही है । उसकी सेवा करना, उसकी रक्षा करना और उसे बचाने के लिए अपनी जान तक दे देना यहाँ की गौरवपूर्ण परंपरा है । भारत के हिंदू राजा-महाराजा ही नहीं, वरन् बुद्धिमान मुसलमान बादशाह भी गोरक्षा की व्यवस्था करते रहे हैं । मुगल सम्राट अकबर गो-मांस से बड़ा परहेज करता था । उसने अपने राज्य में गो-हत्या का निषेध कर गो-मांस की बिक्री पर प्रतिबंध लगा दिया था । अंगरेजों ने जहाँ अकबर की अनेक बातों को अपने प्रशासन में स्वीकार कर लिया था, वहाँ गो-हत्या करने पर उन्होंने कोई रुकावट नहीं डाली थी; बल्कि अंगरेजी शासन में गो-मांस के लिए जैसा गो-बध किया गया, वैसा मुसलमानी शासन में भी नहीं हुआ था । इधर प्राकृतिक तथा अन्य कारणों से ब्रज में गोचर-भूमि और बनों की भी बड़ी कमी हो गई है । फलतः ब्रज में जहाँ अपार संख्या में गायें रहा करती थीं और जिनके दूध-दही की यहाँ बेहद वहुलता थी, वहां गायों की संख्या में बहुत कमी हो गई है और दूध, दही एवं मक्खन का तो अकाल ही पड़ गया है । इस प्रकार ब्रज की यह विशेषता अब नहीं रही । यहाँ की गायों की नस्ल

---

(१) रसखान रत्नावली, पृष्ठ ७३
(२) सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० १०६३
(३) चतुर्भुजदास (काँकरौली) पद सं० २१५
(४) सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ६४२

बिगड़ गई है और उनके दूध का परिमाण भी बहुत कम हो गया है। आजकल ब्रज में केवल कोसीकलाँ के निकटवर्ती भाग में ही कुछ अच्छी जाति की दुधारू गायें मिलती हैं; वरना अन्य स्थानों में उनका अभाव ही दिखलाई देता है। इस अवांछनीय स्थिति से तभी बचा जा सकता है; जब हम ब्रज में पुनः गो-सेवा का प्रचलन करें, गो वंश का सुधार करें और उनके चरने के लिए पर्याप्त गोचर भूमि की व्यवस्था करें।

अन्य पालतू पशु—ब्रज के अन्य पालतू पशुओं में बैल और भेंस का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रज में कृषि की कल्पना बैल के बिना की ही नहीं जा सकती है। गाय का यह बलिष्ठ पुत्र ब्रज में अन्नोत्पादन करने और माल ढोने का बड़ा उपयोगी काम करता है। बैलों की तरह भेंसे भी खेत जोतने और माल ढोने का काम करते हैं। बकरी दूध के लिए, भेड़ ऊन और दूध के लिए, घोड़े सवारी के लिए और कुत्ते घर की रखवाली के लिए पाले जाते हैं। गधा, ऊँट और हाथी के भी विविध उपयोग हैं। ये सभी पालतू पशु ब्रज के जन–जीवन में आवश्यक और उपयोगी भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

पक्षी—पशुओं की तरह पक्षी भी पालतू और जंगली होते हैं। पालतू पक्षियों में तोता, मैना, कबूतर, मुर्गे, मुर्गी, तीतर, बटेर आदि है। जंगली पक्षियों में मोर, कोयल, पपीहा, नीलकंठ, चकोर, चकवा, खंजन, बगुला, गौरैया, कौवा, चील,उल्लू, गृद्ध आदि हैं। इनमें से कुछ पक्षी अपने रूप–रंग और अपनी बोली–आदत आदि के कारण जनता में अत्यंत प्रिय हैं और कुछ इनके अभाव के कारण लोगों में अप्रिय हैं। प्रिय पक्षियों को ही प्रायः पालतू बनाया जाता है; किंतु कुछ जंगली पक्षी भी अत्यंत लोकप्रिय होते हैं। इस प्रकार प्रियता–अप्रियता की दृष्टि से भी पक्षियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। लोकप्रिय पक्षियों में तोता, मैना, मोर, कोयल, पपीहा, नीलकंठ, कबूतर, चकोर, चकवा, खंजन आदि हैं। अप्रिय पक्षियों में कौवा, चील, उल्लू, गृद्ध आदि हैं। ये सभी प्रकार के पक्षी ब्रज में प्रचुरता से मिलते हैं।

पालतू और लोकप्रिय पक्षी—ब्रज संस्कृति और ब्रज साहित्य से पालतू और लोकप्रिय पक्षियों का घनिष्ट संबंध रहा है। ऐसे पक्षियों में तोता-मैना सबसे पहिले उल्लेखनीय हैं। ये दोनों पक्षी अपनी बोली–वाणी के कारण ब्रज में सदा से बड़े लोकप्रिय रहे हैं। साधारण घरों से लेकर राज महलों तक में इन्हें परंपरा से पाले जाने के उल्लेख मिलते हैं। ये पक्षी सिखाये जाने पर मनुष्यों की तरह बोलने लगते हैं। उनकी रटी हुई बातें सुन कर बड़ा मनोरंजन होता है। तोता अपने रूप-रंग में भी बड़ा सुंदर पक्षी है; किंतु मैना का रंग काला होता है। इन दोनों पक्षियों से संबंधित अनेक मनोरंजक बातें और किस्से–कहानियाँ ब्रज में प्रचुरता से प्रचलित हैं।

कबूतर अपने सुंदर रूप, प्रेमी स्वभाव और अपनी उड़ान के लिए सदा से लोकप्रिय रहा है। यह पक्षी अपने स्थान को कभी नहीं भूलता है। इसे चाहें जहाँ उड़ा दिया जाय, किंतु यह अपने स्थान पर ही वापिस आ जाता है। इसकी और तोता की आदतों में यह बड़ा अंतर है कि तोता को चाहें जितने दिनों पाला जाय; किंतु उसे उड़ा देने पर वह फिर अपने स्थान पर प्रायः वापिस नहीं आता है। लोक-रंजन के अतिरिक्त कबूतरों का सैनिक कार्यों में भी उपयोग होता रहा है। प्राचीन काल से कबूतरों द्वारा महत्वपूर्ण संदेश भेजे जाने की परंपरा रही है। मुर्गे-मुर्गी और तीतर-बटेर के पालने का रिवाज अधिकतर मुसलमानी काल से हुआ है। मुर्गे-मुर्गियों का उपयोग उनके अंडों के लिए होता है और तीतर-बटेर को लड़ा कर उनसे मनोरंजन किया जाता है।

मोर—ब्रज के लोकप्रिय पक्षियों में मोर का स्थान सर्वोपरि है। यह बड़ा सुंदर पक्षी है और इसकी बोली भी बड़ी तेज़ तथा मीठी होती है। इसका गहरा नीला रंग और इसके पंखों की बनावट बड़ी आकर्षक है। इसका नृत्य तो एक दम अनोखा और अद्भुत होता है। जब यह पक्षी अपने लंबे और सुंदर पंखों को फैला कर नाँचता है; तब का दृश्य देखते ही बनता है। वर्षा ऋतु में इस पक्षी की मधुर कूक ब्रज के बन-उपबनों, बाग-बगीचों तथा अन्य स्थानों में प्रायः सुनी जा सकती है तथा इसका नृत्य देखा जा सकता है। ब्रज में कृष्ण-काल से ही इस पक्षी की प्रसिद्धि रही है। श्री कृष्ण ने इसके पंखों का मुकुट धारण कर इसे अनुपम गौरव प्रदान किया था। भारत सरकार ने इसे राष्ट्रीय पक्षी घोषित कर इसके परंपरागत महत्व में वृद्धि की है।

अन्य प्रिय पक्षी—कोयल अपनी सुरीली मीठी बोली के कारण बड़ी लोकप्रिय है। इसी प्रकार पपीहा की बोली भी बड़ी अच्छी मालूम होती है। इन दोनों पक्षियों की मधुर बोलियाँ वर्षा ऋतु में सर्वत्र सुनी जा सकती हैं। नीलकंठ अत्यंत सुंदर पक्षी होता है और उसका दर्शन बड़ा शुभ माना जाता है। चकोर, चकवी-चकवा और खंजन आदि पक्षी यद्यपि लोक में अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं; तथापि वे कवियों को सदा से अत्यंत प्रिय रहे हैं।

प्रिय पक्षियों का साहित्य में उल्लेख—ब्रज के साहित्यकारों को कुछ पक्षी इतने प्रिय रहे हैं कि उन्होंने अपनी रचनाओं में उनका बड़ी प्रचुरता से उल्लेख किया है। ऐसे पक्षियों में मोर, कोयल, पपीहा, चकोर, चकवा-चकवी तोता-मैना, हंस और कबूतर आदि उल्लेखनीय हैं। इनसे संबंधित कतिपय रचनाओं की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

१. स्याम भए राधा बस ऐसें।
'चातक' स्वाँति, 'चकोर' चंद ज्यों, 'चक्रवाक' रवि जैसें[1]॥
२. 'हंस', 'सुक', 'पिक', 'सारिका', अलि-गुंज नाना नाद[2]॥
३. कैधों 'मोर' सोर तजि, गए री अनत भाजि, कैधों उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधों 'पिक', 'चातक' बधिक काहू मारि डारे, कैधों 'बग'-पाँति उत अंत गति ह्वै गई[3]॥
४. कूजत कहुँ कल 'हंस', कहूँ मज्जत 'पारावत'।
कहुँ 'कारंडव' उड़त, कहूँ 'जल कुक्कुट' धावत॥
'चक्रवाक' कहुँ बसत, कहूँ 'बक' ध्यान लगावत।
'सुक' 'पिक' जल कहुँ पिवत, कहूँ भ्रमरावलि धावत॥
कहुँ तट पर नाँचत 'मोर' बहु, रोर विविध पच्छी करत।
जल-पान न्हान करि सुख भरे, तट सोभा सब जिय धरत[4]॥
५. 'चातक' चलि, 'कोयल' ललिल, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि 'केकी' कलित, कुंजन करत किलोल॥ निरखि घन की घटा[5]॥
६. 'कोकिल' हरि कों बोल सुनाव[6]। ७. बहुत दिन जियौ 'पपीहा' प्यारे[7]।
८. 'खंजन' नैन रूप-रस माँते[8]। ९. 'कीर' पढ़ावत गनिका तारी[9]।

---

(१) और (२) सूरदास; (३) आलम; (४) भारतेन्दु हरिश्चंद्र
(५) सत्यनारायण; (६) (७) (८) और (९) सूरदास

जंगली और अप्रिय पक्षी —ब्रज के जंगली पक्षियों में कौवा अपने काले रूप, सर्व भक्षी स्वभाव और तीखी कर्कश बोली के कारण सबसे अधिक बदनाम है। यद्यपि यह पक्षी किसी का अहित नहीं करता है; फिर भी यह सबसे अधिक अप्रिय है। इसी प्रकार चील, उल्लू और गृद्ध पक्षी भी अपने कुरूप, कर्णकटु बोली और बुरे स्वभाव के कारण किसी को अच्छे नहीं लगते हैं।

पक्षियों से संबंधित लोक–विश्वास—ब्रज के रूढ़िग्रस्त अपढ़ लोगों में तथा साधारण ग्रामीण जनता में पक्षियों से संबंधित कुछ लोक-विश्वास भी प्रचलित हैं। इनका क्या आधार है, इसे कोई नहीं जानता; केवल परंपरागत अंध-विश्वास ही चला आता है। कौवा जहाँ अपने कुरूप और अपनी कर्कश वाणी के कारण अत्यंत अप्रिय है, वहाँ जन साधारण में उसकी बोली को शुभ शकुन का सूचक माना जाता है। ऐसा लोक–विश्वास है, यदि प्रातःकाल घर के दरवाजे अथवा मुंडेर पर कौवा काँव-काँव करे, तो किसी प्रिय व्यक्ति का आगमन होता है। कविरत्न सत्यनारायण ने इसी लोक-विश्वास को अपनी कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है—

कहु रे कागा परम प्रिय, पिय आवन की बात।
तिन्ह आऐं हौं देंउगी, तोहि दूध और भात॥

नीलकंठ पक्षी के संबंध में लोक-विश्वास है कि प्रातःकाल उसके दर्शन करने वाले व्यक्ति का सारा दिन आनंदपूर्वक व्यतीत होगा। 'सोन चिड़िया' के विषय में लोगों का विश्वास है, यदि किसी कार्य से जाने वाले व्यक्ति के दाहिनी ओर इस पक्षी की बोली सुनाई दे, तो उसे अवश्य सफलता प्राप्त होगी। चील, उल्लू और गृद्ध की बोली और उनका आवास बड़ा अशुभ माना जाता है। यदि वे किसी घर में आकर बैठने लगें, अथवा अपना आवास बना लें, तो लोक–विश्वास के अनुसार वहाँ अनिष्टकर घटना होने की आशंका होती है।

पक्षियों की उपयोगिता–जहाँ तक उपयोगिता और अनुपयोगिता की बात है, अनेक अप्रिय और अशुभ माने जाने वाले पक्षी उपयोगी ज्ञात होते हैं, जबकि लोकप्रिय पक्षी अनुपयोगी और हानिप्रद सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ तोता और गोरैया आदि पक्षी खाद्यान्न को नष्ट कर खेती और बागों को हानि पहुँचाते हैं; जब कि चील, उल्लू गृद्धादि अप्रिय पक्षी खेती को हानि पहुँचाने वाले कीड़ाओं को खाकर खाद्यान्न की वृद्धि में सहायक होते हैं। इस प्रकार बंदर, गाय, तोता, गोरैया आदि पशु-पक्षी किसानों और मालियों के शत्रु हैं; जब कि गोह, चील, उल्लू और गृद्ध आदि उनके मित्र सिद्ध होते हैं।

जलचर जीव—ब्रज में जलचर जीव अधिकतर यमुना नदी में तथा कुछ सरोवरों में, तालाबों और कुंडों में पाये जाते हैं। ऐसे जीवों में कछुआ, मछली और मेंढक उल्लेखनीय हैं। यमुना में कहीं-कहीं पर मगर भी मिलते हैं; किंतु उनकी संख्या बहुत कम है। मथुरा-वृंदाबन के घाटों पर कछुए बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। वे घाटों पर सामूहिक रूप में एकत्र हो जाते हैं; क्यों कि वहाँ उनको यात्रिओं और भक्तजनों द्वारा आटे की गोलियाँ खाने को डाली जाती हैं। कछुए हिंसक होते हैं। वे अवसर मिलते ही लोगों पर घातक आक्रमण करते हैं। मुर्दे जलाने के घाटों पर हिंसक कछुए बड़ी संख्या में रहते हैं; किंतु जो कछुए स्नान के घाटों पर होते हैं, वे प्रायः किसी पर घातक चोट नहीं करते हैं।

यमुना नदी और कुंड-सरोवरों में मछलियाँ भी बहुत हैं; जिनके लिए यात्री और भक्तजन आटे की गोलियाँ डालते हैं। ब्रज में मछलियों को मारना वर्जित है। कुछ आमिष भोजी चोरी-

छिपे एकांत स्थानों में जाकर उनका शिकार करते हैं; किंतु साधारणतया इसे जघन्य कार्य माना जाता है। आजकल खाद्य समस्या के लिए मछली-पालन उद्योग को प्रोत्साहन दिया जा रहा है; किंतु ब्रज की जनता पर इसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा है। ब्रज के कुंड-सरोवरों पर जो अन्य जल-जीव निवास करते हैं, उन्हें मारना भी वर्जित है; किंतु सैलानी लोग लुक-छिप कर उनका भी शिकार करते हैं। मेंढक (दादुर) जलचर जीव हैं; किंतु मछली की तरह उसे निरंतर पानी में रहना आवश्यक नहीं है। वर्षा ऋतु में मेंढकों का वाहुल्य होता है। उस समय उन्हें ब्रज में जलाशयों के साथ ही साथ उनके निकटवर्ती भू-भागों पर भी प्रचुरता से देखा जा सकता है। वर्षा ऋतु में रात्रि के समय मेंढकों की तीव्र ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती है।

ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में मछली और मेंढकों का उल्लेख हुआ है। मछलियों की चंचलता के कारण उन्हें नेत्रों के उपमान रूप में कथित किया गया है[1]। इसके साथ ही उनका जल के साथ अनिवार्य संबंध आदर्श प्रेम का सूचक भी माना गया है[2]। मेंढकों के वर्षा में बोलने के कारण कवियों ने उनका उल्लेख उन पक्षियों के साथ किया है, जिनका मोहक रव वर्षा ऋतु में ही सुनाई देता है[3]।

कीट-पतंग--ब्रज के कीट-पतंगों में सांप, छिपकिली, भौंरा, झींगुर, मधुमक्खी, चेंटा, चींटी, मच्छर उल्लेखनीय हैं। ये ग्रामों और नगरों में सर्वत्र पाये जाते हैं। सांप की अनेक जातियाँ ब्रज के बन्य भागों में मिलती हैं। मधुमक्खियों के छत्ते भी बनों में पाये जाते हैं; किंतु शहद के लिए मधु मक्खी पालन उद्योग की यहाँ पर अभी कोई नियमित व्यवस्था नहीं हुई है।

भौंरा एक ऐसा पतंगा है, जिसका उल्लेख ब्रज साहित्य में बहुत हुआ है। इसे भ्रमर, मधुकर, अलि, चंचरीक, छपद, शिलीमुख आदि विविध नामों से ब्रज के भक्त कवियों ने अपने काव्य का आलंवन बनाया है। ब्रज की विरहिणी गोपियों ने इसी को लक्ष्य कर अपने हृदय की आंतरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति की है[4]। ब्रज के कवियों की तत्संबंधी रचनाएँ 'भ्रमर गीत' कहलाती हैं, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध सूरदास और नंददास के 'भ्रमर गीत' हैं।

●

---

(१) देखिरी हरि के चंचल नैन।
खंजन 'मीन' मृगज चपलाई, नहिं पटतर इक सैन॥ (सूरसागर, पद २४३१)

(२) सूर स्याम के रंगहि राँची, टरति नहीं जल तें ज्यों 'मीन'। (सू० सा० २४७६)

(३) 'दादुर' मोर कोकिला कल रव, करत कोलाहल भारी (परमानंददास, पद ७६३)

(४) १. 'मधुकर' कहा सिखावन आयौ। (सूरसागर, पद सं ४२२६)
२. तुम 'अलि' कासौं कहत बनाइ। (सूरसागर, पद सं ४२३५)
३. ताही छिन एक भ्रमर कहूँ तें उड़ि तहँ आयौ।
ब्रज बनितन के पुंज माँहि गुंजत छवि छायौ॥
बैठ्यौ चाहत पाँय पर, अरुन कमल दल जानि।
मनु मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहिं प्रगट्यौ आनि॥
मधुप कौ भेस धरि॥ (नंददास, सं० ४५)

चतुर्थ अध्याय

ब्रज की मानव जातियाँ

वर्ण और जातियाँ—भारत की विभिन्न जातियों का मूलाधार यहाँ की वर्ण-व्यवस्था है; जिसकी योजना सामाजिक संगठन के लिए की गई थी। उक्त व्यवस्था के अनुसार मानव समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया; जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है। ऋग्वेद (१०—९०—१२) के एक रूपक में मानव समाज को पुरुष मान कर ब्राह्मण को उसका मुख, क्षत्रिय को उसकी भुजा, वैश्य को जंघा और शूद्र को उसके पाँव बतलाये गये हैं। इस रूपक का अभिप्राय है, ब्राह्मण मानव समाज के प्रवक्ता, क्षत्रिय उसके रक्षक, वैश्य आधार-स्तंभ और शूद्र उसके धरातल हैं। उक्त व्यवस्था में किसी वर्ण के बड़े-छोटे अथवा ऊँच-नीच होने की बात नहीं थी; वरन् सभी वर्णों के लोग भारतीय समाज के लिए समान रूप से उपयोगी और आवश्यक समझे गये थे।

आरंभ में यह वर्ण व्यवस्था जन्ममूलक न होकर प्रायः कर्ममूलक थी; अतः एक वर्ण वाले इच्छानुसार दूसरे वर्ण को स्वीकार कर सकते थे। वैदिक संस्कृति के शिथिल हो जाने पर वर्ण व्यवस्था रूढिग्रस्त और विकृत हो गई थी। फलतः उसके अंतर्गत अनेक जातियों की उत्पत्ति हुई और उन्हें जन्ममूलक माना जाने लगा। तभी से ऊँच–नीच की भावना भी पैदा हो गई। 'जाति' का अर्थ ही 'जन्म से' है; अतः उसमें जन्म–मूलकता को अनिवार्य माना गया है। कालांतर में जातियों से अनेक उपजातियाँ बन गईं, जिनके कारण भारत के प्राचीन सामाजिक संगठन का मूल स्वरूप ही बदल गया था।

वर्णों से जातियों और उपजातियों के निर्माण में दो-चार शताब्दियाँ नहीं, वरन् अनेक शताब्दियों का सुदीर्घ काल लगा था। इसके संबंध में डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल का कथन है,—"पाणिनि ने वैदिक शब्द 'वर्ण' के साथ बाद में प्रचलित 'जाति' शब्द का अधिक उल्लेख किया है[1]।" इस प्रकार विक्रमपूर्व की छटी शताब्दी में भारत में जातियों का व्यापक रूप से प्रचार हो गया था।

ब्रज की जातियाँ और उनका वर्गीकरण—जब से ब्रज संस्कृति के ऐतिहासिक युग का आरंभ हुआ है, तभी से इस प्रदेश में विविध जातियों की विद्यमानता दिखलाई देती है। इस काल में यहाँ पर अनेक विदेशी जातियाँ भी आकर बसी थीं, जो शनैः शनैः यहाँ की मूल जातियों में समाँ गईं। उनके मिश्रण से अनेक उपजातियों और थोकों की उत्पत्ति हुई थी। इस समय ब्रज में ८३ विभिन्न प्रकार की जातियाँ और उपजातियाँ हैं। इनमें संख्या की दृष्टि से ब्राह्मण, जाट, जाटव (चमार), राजपूत और वैश्य सब से अधिक हैं। धर्म की दृष्टि से हिंदू जातियाँ सबसे अधिक अर्थात् प्रायः ८९ प्रति शत है। मुसलमान जातियाँ प्रायः ९ प्रति शत और अन्य धर्मों से संबंधित जातियाँ प्रायः २ प्रति शत हैं।

---

(१) इंडिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृष्ठ ७५

ब्रज की समस्त जातियों को पहिले प्राचीन और अर्वाचांन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्राचीन जातियों के भी दो उपवर्ग हैं। पहिला उपवर्ग उन जातियों का है, जो अब नहीं रही हैं और दूसरा उनका है, जो परिवर्तित रूप में अब भी विद्यमान हैं। अर्वाचीन जातियाँ अपने मूल नामों को कायम रखे हुए हैं, किंतु उनके संगठन में समय–समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। हम यहाँ पर ब्रज की कुछ प्रमुख जातियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं।

लुप्तप्राय प्राचीन जातियाँ––

ब्रजमंडल की अत्यंत प्राचीन परंपरा होने के कारण यहाँ अनेक पुरातन जातियों का निवास रहा है। भारत की प्राचीनतम जातियों में देव, किन्नर, गंधर्व, सिद्ध, यक्ष, नाग, राक्षस और भूत–प्रेतादि भी थे। उनमें से कई जातियाँ शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रजमंडल में भी निवास करती थीं। कालांतर में वे जातियाँ समाप्त हो गईं और उन्हें देव कोटि में मान कर पूजा जाने लगा। जिन व्यक्तियों की जैसी वृत्ति और रुचि थी, वे वैसी ही प्रकृति के देवादि की पूजा करने लगे। श्री कृष्ण ने कहा है,—"सात्विक वृत्ति के व्यक्ति देवों को, राजसी वृत्ति के यक्ष–राक्षसों को तथा तामसी वृत्ति के भूत–प्रेतों को पूजते हैं[1]।" जिन पुरातन जातियों और उनके पूजकों का प्राचीन ब्रज प्रदेश से संबंध रहा है, उनमें यक्ष और नाग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनका संक्षिप्त विवरण लिखा जाता है।

यक्ष—ब्रजमंडल की लुप्तप्राय प्राचीनतम जातियों में यक्ष गण सर्व प्रथम उल्लेखनीय हैं। यक्षों की आदिम बस्ती उत्तर दिशा में अलकापुरी थी। जब वे अपने मूल निवास स्थल से हट कर अन्य स्थानों में भी बसने लगे, तब प्राचीन ब्रजमंडल उनका एक प्रमुख केन्द्र हो गया था। यक्ष गण अपनी उग्र और भयावह प्रवृति के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। पौराणिक अनुश्रुतियों और ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राचीन ब्रजमंडल यक्षों के उत्पात और उत्पीडन से आतंकित रहा था।

मानव जाति के आदि पिता स्वायंभुव मनु के पौत्र जिन ध्रुव जी ने ब्रज के मधुबन में तपस्या की थी; उन्हीं के भाई उत्तम को यक्षों ने मार डाला था। यह यक्षों के आतंक की प्रागैतिहासिक अनुश्रुति है। महाभारत से ज्ञात होता है, जब पाँचों पांडव बन-वास में थे, तब उन्हें एक यक्ष ने बड़ा आतंकित किया था। भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव तो उससे हतसंज्ञक भी हो गये थे; किंतु युधिष्ठिर ने अपनी वाक्-चातुरी से उसे प्रसन्न कर लिया था।

जैन और बौद्ध साहित्य यक्षों के विवरणों से भरे पड़े हैं। उनमें उस काल के अनेक यक्ष-यक्षिणियों के नाम भी मिलते हैं। मथुरामंडल के सुप्रसिद्ध यक्षों में माणिभद्र, भंडीर और गर्दभ तथा यहाँ की विख्यात यक्षिणियों में आलिका, बेंदा, मघा और तिमिसिका के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ के निवासी उनसे बड़े भयभीत रहते थे। जब भगवान् बुद्ध मथुरा आये थे, तब उन्होंने अपने प्रभाव से यक्षों को विनीत बना कर यहाँ के निवासियों को उनके आतंक से मुक्त किया था।

कालांतर में यक्षों और यक्षिणियों की पूजा होने लगी थी और उनके पूजकों का एक बड़ा समुदाय बन गया था। उस समय उन्हें भयप्रद होने के साथ ही साथ कल्याणप्रद भी माना जाने लगा था। प्राचीन साहित्य में उनके दोनों रूपों का उल्लेख मिलता है। एक ओर जहाँ उन्हें

---

(१) श्रीमद् भगवत गीता, १७–२

भयावह और पराक्रमी मान कर उनके प्रति भयजनित श्रद्धा व्यक्त की गई है; वहाँ दूसरी ओर उन्हें सुंदर, मोहक और कल्याणप्रद मान कर उनके प्रति भक्ति–भावना भी प्रकट की गई है। सपत्नीक कुबेर और उनके गण माणिभद्र-भंडीर आदि की पूजा मथुरामंडल में इसी रूप में होने लगी थी। अनेक यक्षिणियों को भी यहाँ इसी प्रकार पूजनीय माना जाता था।

जैन धर्म में यक्ष–यक्षिणियों की पूजा को विशेष महत्व दिया गया है। इस धर्म के २४ तीर्थंकरों के साथ २४ यक्ष और २४ यक्षिणियाँ भी मानी गई हैं। तीर्थंकरों की मूर्तियों में उनके दायें–वायें प्रायः यक्ष-यक्षिणियों की आकृतियाँ भी उत्कीर्ण की जाती हैं। इस प्रकार की अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

मथुरा संग्रहालय की सबसे प्राचीन मूर्ति माणिभद्र यक्ष की है; जो मथुरा जिले के परखम गाँव से प्राप्त हुई है। इस विशाल मूर्ति को प्राचीन काल में लोक-पूजा के लिए स्थापित किया गया था और वह बहुत समय तक वहाँ पूजनीय भी रही थी। भंडीर यक्ष का निवास-स्थान ब्रज में भांडीर बन के नाम से प्रसिद्ध है। जैन ग्रंथ 'आवश्यक चूर्णी' से ज्ञात होता है कि जैन धर्मावलंवी भंडीर यक्ष की यात्रा के लिए मथुरा आते थे। ब्रज का सुप्रसिद्ध वृंदावन किसी समय बेंदा यक्षिणी का निवास-स्थल था। कुछ विद्वानों का अनुमान है, उसी के नाम पर उस प्राचीन बन का नामकरण भी हुआ है।

वैदिक साहित्य में यक्षों के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग मिलता है और परवर्ती साहित्य में उन्हें 'वीर' कहा गया है। दीपावली का पूजन मूलतः यक्षों की जन्म-रात्रि के उत्सव के रूप में आरंभ हुआ था; किंतु कालांतर में उसके साथ और भी कई परंपराएँ तथा मान्यताएँ जुड़ती गई हैं। जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के संबंध में डा० वासुदेवशरण जी का मत है, "वे भी मूल रूप में यक्ष ही थे। 'वीर' के रूप में उनकी पिंडी का पूजन पूर्वी जिलों में अभी तक होता है। दीपावली ही महावीर का जन्म-दिन है[१]।"

कालांतर में सुप्रसिद्ध यक्षों की संख्या ५२ मानी जाने लगी थी। मध्य-कालीन साहित्य में '५२ वीरों' का उल्लेख मिलता है। लोक साहित्य में ५२ वीरों से संबंधित अनेक उपाख्यान उपलब्ध हैं। ब्रज साहित्य में ब्रह्म, बरम या बरमदेव अथवा वीर, जाख और जखैया के नामों से यक्षों का उल्लेख हुआ है। ब्रज के एक ग्राम का नाम 'जखन गाँव' है; जो प्राचीन काल में यक्षों का निवास स्थान रहा होगा। सूरदास की रचनाओं में 'जाख' अथवा 'जखैया' के नाम से यक्षों का उल्लेख हुआ है। उन्होंने प्राचीन ब्रज के लोक-जीवन में यक्ष-पूजन का प्रचलन बतलाते हुए श्रीकृष्ण के विद्यमान होने पर उसकी इस प्रकार भर्त्सना की है—

कोरी मटुकी दही जमायौ, 'जाख' न पूजन पायौ।
तेहि घर देव–पितर काहे कों, जेहि घर कान्हर जायौ॥

ब्रज मंडल में यक्ष जाति तो प्राचीन काल में ही लुप्त हो गई थी; किंतु यक्षों की पूजा वहाँ बहुत समय तक प्रचलित रही थी। वर्तमान काल में ब्रज की कुछ तथाकथित शूद्र जातियों में यक्ष-पूजकों के अवशेष विद्यमान हैं और ब्रज के लोक-जीवन में यक्ष-पूजा के कुछ तत्व अब भी मिलते हैं।

---

(१) हिंदी साहित्य (भारतीय हिंदी परिषद्), प्रथम खंड, पृष्ठ १९

नाग—यह भी भारतवर्ष की एक प्रमुख आदिम जाति है, और इसकी इस देश में अत्यंत प्राचीन परंपरा मिलती है। साधारणतया नागों को सर्प समझा जाता है; किंतु वे दोनों भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं[1]। नाग हमारे ही समान मानव थे। उनमें से अधिकांश सर्प-पूजक थे और वे सर्पों को अपने कुलदेव एवं रक्षक मानते थे। प्राचीन ग्रंथों की अलंकृत शैली में तथा लोक कथाओं में नागों को सर्पों के रूप में कथित किया गया है; किंतु उन दोनों का भेद उनकी उत्पत्ति विषयक अनुश्रुति से स्पष्ट होता है। पद्मपुराण (सृष्टि खंड) में नागों की उत्पत्ति कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रू से और सर्पों की सुरसा से बतलाई गई है। नागों की जो मूर्तियाँ मिलती हैं, वे मानव और सर्प दोनों आकृतियों की हैं; किंतु उनमें मानव आकृति की मूर्तियाँ प्राचीन हैं। उनसे भी यही सिद्ध होता है कि नागों को पहिले मानव माना जाता था; किंतु बाद में उन्हें सर्प समझा जाने लगा था।

नाग आर्य थे अथवा अनार्य, और वे सभ्य थे अथवा असभ्य; इसके विषय में बड़ा मतभेद है। प्राचीन उल्लेखों से वे अनार्य और असभ्य जान पड़ते हैं; किंतु बाद के विवरणों में उन्हें आर्य और सभ्य बतलाया गया है। ऐसा मालूम होता है, उनके जो थोक असभ्य और असंस्कृत थे, उन्हें अनार्य माना गया; किंतु जो सभ्य और सुसंस्कृत हो गये थे, उन्हें आर्यों में सम्मिलित कर लिया गया था। असभ्य नाग बीहड़ बनों में, गिरि-कंदराओं में तथा नदी तट के एकांत स्थानों में छोटी बस्तियाँ बसा कर रहते थे और वे प्राय: सुसंस्कृत आर्यों से वैर-भाव रखते थे। सभ्य और सुसंस्कृत नाग जातियाँ आर्यों के साथ नगरों और गाँवों में निवास करती थीं। उनका आर्यों से संपर्क और सद्भाव था। नाग जाति का एक विशिष्ट वर्ग भारतीय इतिहास में 'भारशिव नाग' के नाम से प्रसिद्ध है। वे लोग अत्यंत सभ्य और सुसंस्कृत थे। उन्होंने कई शक्तिशाली राज्य कायम किये थे, जिनमें पद्मापुरी और मथुरा के राज्य विशेष प्रसिद्ध थे।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने बौद्ध ग्रंथ 'मंजुश्री मूल कल्प' (श्लोक ७४-५२) के आधार पर नागों को वैश्य बतलाया है[2]। वैश्यों में अग्रवालों की उत्पत्ति नाग माताओं से होने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इन बातों से भी यही सिद्ध होता है कि नाग जाति के कुछ वर्ग निश्चय ही सभ्य एवं सुसंस्कृत थे और उन्हें आर्य माना जाता था।

भारत के प्राचीन ग्रंथों में नाग जाति के अनेक प्रमुख व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। ऋग्वेद में नागों के एक नेता अहरणक का नामोल्लेख हुआ है, जो वासुदेव कृष्ण के समान इंद्र का विरोधी था। काले वर्ण का होने से वह 'कृष्ण' भी कहा जाता था; किंतु वह द्वापर युग के वासुदेव कृष्ण से भिन्न व्यक्ति था। 'विष्णु पुराण' में १२ प्रधान नागों का उल्लेख है; जिनके नाम १. शेष, २. वासुकि, ३. तक्षक, ४. शंख, ५. श्वेत, ६. महापद्म, ७. कम्बल, ८. अश्वतर, ९. एलापत्र, १०. नाग, ११, कर्कोटक और १२. धनंजय बतलाये गये हैं[3]। 'पद्म पुराण' में

---

(१) **गीता में भगवान् की विभूतियों का उल्लेख करते हुए नागों और सर्पों में भेद किया गया है श्री कृष्ण ने कहा है—"मैं नागों में शेष और सर्पों में वासुकि हूँ।"** (गीता,१०-२८-२९)

(२) **अग्रवाल जाति का विकास, पृष्ठ १४७**

(३) **विष्णु पुराण, अंक १, अध्याय २१**

अनंत, वासुकि, तक्षक, महाबल, कर्कोटक, नागेन्द्र, पद्म, महापद्म, शंख, कुलिक, अपराजित आदि प्रमुख नागों के नाम लिखे गये हैं[१] । साधारणतया अष्ट नाग प्रसिद्ध हैं; जिनके नाम १. एलापत्र, २. अनंत (शेष), ३. पद्म, ४. शंकु, ५. शुकंबल, ६. वासुकि, ७. कर्कोटक और ८. तक्षक मिलते हैं। छंदशास्त्र का आदिम आचार्य पिंगल भी नाग जाति का माना गया है।

इस देश के विविध धर्मों से नागों का प्राचीन संबंध सिद्ध होता है। आर्य धर्म के प्रमुख देव और क्षीरसागर में निवास करने वाले भगवान् विष्णु की शैया शेष नाग की बतलाई गई है। इसका कदाचित यह अभिप्राय है कि शेष नाग विष्णु भगवान् का सेवक और अंग रक्षक था। समुद्र मंथन के समय वासुकि नाग ने देवताओं और असुरों की बड़ी सहायता की थी। जैन धर्म के तीर्थंकर सुपार्श्व और पार्श्वनाथ नाग-चिन्ह धारण करते थे। संभव है, वे नाग जाति के रहे हों। बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार नंद और उपनंद नागों ने गौतम के जन्म के समय उन्हें स्नान कराया था। मुचुलिंद नाग ने बुद्ध पर छाया कर धूप और वर्षा से उनकी रक्षा की थी। बुद्ध का देहावसान होने पर उनकी अस्थियों पर निर्मित रामग्राम स्तूप की रक्षा नागों ने ही की थी। शैव धर्मावलंवियों के उपासक भगवान् शंकर को नाग अत्यंत प्रिय थे। वैसे भी नाग जाति की शैव धर्म में अधिक आस्था रही है।

नाग कन्याएँ अत्यंत सुंदरी एवं लावण्यवती होती थीं और उनका स्वरूप मोहक तथा आकर्षक होता था। अनेक राजाओं और विशिष्ट पुरुषों के विवाह नाग कन्याओं से होने के उदाहरण मिलते हैं। रावण के पुत्र मेघनाद की पत्नी सुलोचना नाग महिला थी। राम के पुत्र कुश का विवाह भी एक नाग सुंदरी से हुआ था। शूरसेन प्रदेश के अधिपति शूर की माता और उग्रसेन की रानी नाग महिलाएँ थीं। अर्जुन की दो पत्नियाँ चित्रांगदा और उलूपी भी नाग रमणियाँ बतलाई गई हैं। ऐतिहासिक काल में भी अनेक आर्य राजाओं द्वारा नाग कन्याओं से विवाह किये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

शूरसेन प्रदेश का नाग जाति से संबंध कृष्ण-काल से ही ज्ञात होता है। उस काल के नाग सरदारों के नाम अनंत, कालिय, तक्षक आदि मिलते हैं; जो सभ्य और असभ्य दोनों प्रकार के थे। जब वसुदेव अपने तत्काल पैदा हुए बालक कृष्ण को कंस से बचाने के लिए उन्हें गोकुल ले गये थे, तब उस आपत्काल में अनंत नाग ने उनकी बड़ी सहायता की थी। जब बालक कृष्ण वृंदाबन में थे, तब वहाँ एक क्रूर और हिंसक प्रकृति के नाग सरदार कालिय ने बड़ा उपद्रव कर रखा था। उसका निवास स्थान यमुना तटवर्ती एक दह पर था, जो उसके नाम से 'कालिय दह' कहलाता था। ब्रज की जो गायें और गोप—बालक उधर निकल जाते थे, वे कालिय द्वारा मार डाले जाते थे। कृष्ण ने उसे पराजित कर वहाँ से भगा दिया था। कृष्ण के बड़े भाई बलराम शेष नाग के अवतार माने जाते हैं। उसका शायद यह अभिप्राय है कि बलराम की नागों से अत्यंत घनिष्ठता थी।

महाभारत से ज्ञात होता है, कुरूक्षेत्र के निकटवर्ती खांडव बन में तक्षक नामक एक नाग सरदार अपने परिवार सहित रहता था। जब श्रीकृष्ण और अर्जुन ने बस्ती बसाने के लिए उस

---

(१) **पद्मपुराण, सृष्टिखंड**, अध्याय ३१

बन को जलाया था; तब उसमें रहने वाले बहुत से प्राणी भी जल कर मर गये थे । तक्षक का घर-बार भी तब नष्ट हो गया था; किंतु वह स्वयं वहाँ उपस्थित न होने से बच गया था । उस दुर्घटना के उपरांत तक्षक पांडवों का बैरी बन गया था । कालांतर में जब अर्जुन का पौत्र परीक्षित राजा हुआ, तब तक्षक ने उसे छद्म वेश में मार डाला था । परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नाग-यज्ञ द्वारा उसका बदला लिया, जिसमें नाग जाति का भीषण संहार हुआ था ।

आभीर—यह भी प्राचीन ब्रजमंडल की एक आदिम जाति थी । 'हरिवंश' से ज्ञात होता है, मधुबन के अधिपति मधुदैत्य की पुत्री मधुमती का विवाह सूर्यवंश के राजकुमार हर्यस्व के साथ हुआ था । जब मधुमती के पुत्र यदु का जन्म हुआ, तब मधुबन(प्राचीन मथुरा)के ओर-पास आभीरगण निवास करत थे[१] । कालांतर में जब मथुरा के अत्याचारी राजा कंस के भय से बालक कृष्ण को गो-गोपों को जिस समुदाय में छिपा कर रखा गया था, वह आभीरों की ही बस्ती थी । उसे हरिवंश में 'घोष' और 'आभीर पल्ली' तथा भागवतादि पुराणों में 'गोकुल' कहा गया है[२] ।

महाभारत के समय आभीरगण बुंदेलखंड के पश्चिमी भाग अर्थात् उत्तरी मालवा और पूर्वी राजस्थान में निवास करते थे । महाभारतीय युद्ध के पश्चात् द्वारका का अंत होने पर जब अर्जुन वृष्णि वंशियों के अनाथ स्त्री-बच्चों को लेकर हस्तिनापुर जा रहा था, तब मार्ग में पंचनद प्रदेश के जिन जंगली लुटेरों ने उन्हें लूटा था, वे भी आभीर ही थे[३] । उक्त घटना से पंजाब के उस भाग में असभ्य आभीरों के निवास का प्रमाण मिलता है । विष्णु पुराण के अनुसार आभीर कोंकण और सौराष्ट्र के निवासी थे । हरिवंश में आभीरों का विस्तार मधुबन-मथुरा से लेकर द्वारका के ओर-पास अनूप और आनर्त प्रदेशों तक बतलाया गया है[४] । समुद्र गुप्त के लेख में उन्हें राजस्थान, मालवा तथा दक्षिण-पश्चिम तट के निवासी कहा गया है । इस प्रकार इन सब उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आभीर गण मथुरामंडल के अतिरिक्त पंजाब, राजस्थान, मालवा, सौराष्ट्र, अनूप, आनर्त, कोंकण आदि प्रदेशों के विस्तृत भू-भाग में फैले हुए थे ।

श्री कृष्ण के बाल्य काल में जो आभीर गण मथुरामंडल के ग्रामीण क्षेत्र में थे, वे गो-पालन का धंधा करते थे । वे अपने पशुओं को चराने के लिए मथुरा के निकटवर्ती बनों और घास के मैदानों में घूमा करते थे । आभीर बालाएँ बड़ी सुंदरी होती थीं । श्री कृष्ण की बाल-सहचरी और परम रूपवती राधा भी एक आभीर कन्या थी, जो बाल्यावस्था से ही कृष्ण से स्नेह करने लगी थी । मथुरामंडल की अन्य आभीर बालिकाओं और महिलाओं का भी श्री कृष्ण के प्रति अनुपम

---

(१) हरिवंश, सृष्टि खंड, अध्याय १७

(२) सूरदास ने गोप-बस्ती के लिए 'गोकुल' के साथ ही साथ 'घोष' शब्द का भी इस प्रकार प्रयोग किया है—

हम तौ नंद-'घोष' के बासी ।
नाम गुपाल, जाति-कुल गोपक, गोप गुपाल उपासी ।। (सूरसागर, पद ४५४५)

(३) महाभारत, मौसल पर्व, अध्याय ७

(४) हरिवंश, श्लोक सं० ५१६१—५१६३

अनुराग था । डा० भंडारकर का कथन है, घुमंतू आभीरों में स्वच्छंद आहार-विहार का प्रचलन था; अतः उनसे चारित्रिक शुद्धि के इतने ऊँचे स्तर की आशा नहीं की जा सकती, जितना कि उनके पड़ौसी सुसंस्कृत आर्यों में था[१] ।

आभीर गण अनार्य होने के साथ ही साथ विदेशी भी थे या नहीं, इसके विषय में विद्वानों के विभिन्न विचार हैं । भागवत के एक प्रसिद्ध श्लोक में जिन किरात, हूण, आंध्र, पुलिंद, पुल्कस, कंक, यवन, खस आदि हीन जातियों के लोगों की शुद्धि विष्णु रूप भगवान् कृष्ण का आश्रय ग्रहण करने से बतलाई है, उनमें आभीरों की भी गणना की गई है[२] । इससे आभीरों के अनार्य और विदेशी होने का संकेत मिलता है ।

डा० भंडारकर का मत है, आभीर गण भारत में बहुत बड़ी संख्या में आये थे । वे पहिले पंजाब से मथुरा तक और फिर मथुरा से सौराष्ट्र-काठियाबाड़ तक फैल गये थे । आरंभ में उनका जीवन घुमंतू खानाबदोशों की तरह का था । वे अपने पशुओं को लेकर घूमते-फिरते थे । फिर वे उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग में बस गये । कालांतर में उन्होंने महाराष्ट्र के उत्तरी भाग में एक साम्राज्य की स्थापना की थी । वायुपुराण में आभीरों के दस राजाओं का उल्लेख मिलता है । नासिक में आभीर नरेश शिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन का एक अभिलेख मिला है, जो तीसरी शताब्दी का जान पड़ता है । काठियावाड़ के गुंदा नामक स्थान से प्राप्त आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का अभिलेख उससे भी पुराना हैं । इससे समझा जा सकता है कि आभीर गण भारत में प्रथम शताब्दी के लगभग आये थे[3] ।

यदि डा० भंडारकर का उक्त मत प्रामाणिक माना जाय, तब मथुरामंडल में निवास करने वाले कृष्ण-काल के पुराने आभीरों को विदेशी न मान कर भारतीय अनार्य ही कहा जावेगा । वे पहिले घुमंतू गो-पालक मात्र थे । श्री कृष्ण ने उन्हें युद्ध कला की ओर प्रेरित कर एक लड़ाकू जाति बना दिया था । महाभारत में दुर्योधन के पक्ष में लड़ने वाले जिन संशप्तक गण का अर्जुन से बड़ा भीषण युद्ध हुआ था, वे शूरसेन जनपद के आभीर ही थे । वे भी जरासंध के आक्रमण-काल में मथुरामंडल के यादवों के साथ मथुरा से निष्क्रमण कर द्वारका के निकटवर्ती प्रदेश में बस गये थे । कालांतर में आभीरों ने यादवों की भाँति ही भारत के पश्चिमी और दक्षिण–पश्चिमी भागों में अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित किये थे ।

मथुरामंडल के उक्त अभीरों को पंचनद प्रदेश के जंगली लुटेरों से मिलाना असंगत मालूम होता है । उन्हीं के जैसे असभ्य लोग प्रथम शताब्दी के लगभग भी भारत में आये होंगे, जिनका उल्लेख डा० भंडारकर ने किया है । इस प्रकार भारत की उस घुमंतू गोपालक जाति के कई वर्ग और थोक थे; जो विविध कालों में विभिन्न स्थानों में बसे हुए थे । उन सबको सामूहिक रूप से 'आभीर' कहने से उनकी विद्यमानता का काल संदेहास्पद हो गया है ।

---

(१) **वैष्णविज़्म, शैविज़्म आदि, पृष्ठ ५३**

(२) **किरात हूणांध्र पुलिंद पुल्कसा, आभीर कंका यवना खशादयः ।**
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।। (भागवत, २-४-१८)

(३) **वैष्णविज़्म, शैविज़्म आदि, पृष्ठ ५२–५३**

इस समय आभीर जाति अपने मूल रूप में तो नहीं है, किंतु परिवर्तित रूप में विद्यमान है । उसका परिवर्तित रूप जिन जातियों में मिलता है; उनमें 'अहीर' जाति का नाम उल्लेखनीय है । 'गूजर' और 'जाट' जातियाँ भी संभवतः आभीरों के परिवर्तित रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं; यद्यपि इसके विषय में निश्चय पूर्वक कहना संभव नहीं है ।

वर्तमान प्राचीन जातियाँ––

यादव—ब्रज की इस प्राचीन जाति के लोग चंद्रवंशी क्षत्रिय हैं । इनका मूल पुरुष यदु था, जिसके नाम पर इस जाति के लोग यदुवंशी, यादव अथवा जादों कहे जाते हैं । यदु चंद्रवंश के विख्यात राजा ययाति का ज्येष्ठ पुत्र था । जब ययाति ने अपने विशाल साम्राज्य को अपने पुत्रों में विभाजित किया, तब भारत का दक्षिण–पश्चिमी भाग यदु को प्राप्त हुआ था । इस प्रकार यदुवंशियों का आरंभिक निवास–स्थल भारत का वह भाग था, जहाँ उन्होंने दशार्ण, माहिष्मती, अवंती और चेदि के प्रसिद्ध राज्य स्थापित किये थे । यदुवंशियों के एक प्राचीन राजा का नाम कार्तवीर्य अर्जुन या सहस्रार्जुन था । उसके राज्य का विस्तार नर्मदा से लेकर हिमालय की तराई तक हो गया था । उसके वंशज हैहयवंशी कहलाये और उनकी राजधानी माहिष्मती थी ।

सहस्रार्जुन के सौ पुत्र थे, जिनमें से एक का नाम शूर या शूरसेन था । 'लिंग पुराण' में लिखा है, उक्त शूरसेन के नाम पर ही यमुना तट का यह प्रदेश, जिसे अब ब्रज कहते हैं, प्राचीन काल में शूरसेन कहलाता था । इस प्रकार यादव जाति का ब्रज से अत्यंत प्राचीन संबंध रहा है । यादवों की कई शाखाएँ थीं; जिनमें उक्त हैहयवंशियों के अतिरिक्त वृष्णि, अंधक, कुकुर और भोज विशेष प्रसिद्ध थे । इनके कई राज्य थे, जिनमें अधिकांश में राज्यतंत्र न होकर गणतंत्र प्रचलित था । उनका अधिपति कोई परंपरागत राजा न होकर उक्त राज्यों के निवासियों द्वारा निर्वाचित होता था ।

श्रीकृष्ण के जन्म से पहिले शूरसेन प्रदेश के कई यादव राज्यों ने अपना संघ बना रखा था; जो 'अंधक–वृष्णि संघ' कहलाता था । अंधक संघ के अधिपति उग्रसेन उस संघीय गण राज्य के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए थे और मथुरा उनकी राजधानी थी । उग्रसेन की भतीजी देवकी का विवाह वृष्णि संघ के अधिपति वसुदेव के साथ हुआ था । उनके पुत्र भगवान् श्री कृष्ण थे । उग्रसेन के पुत्र का नाम कंस था, जिसका विवाह उस काल के सर्वाधिक शक्तिशाली मगध सम्राट जरासंध की दो पुत्रियों के साथ हुआ था ।

कंस बड़ा शूरवीर और महत्वाकांक्षी युवक था । उसने अपने श्वसुर जरासंध की सहायता से अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और उन्हें राष्ट्रपति के पद से हटा कर आप अंधक-वृष्णि राज्य का स्वेच्छाचारी सम्राट बन गया था । अंत में श्री कृष्ण द्वारा उसका अंत हुआ । उसका बदला लेने के लिए मगध–सम्राट जरासंध ने यादवों के विरुद्ध अनेक बार भीषण आक्रमण किये थे । यद्यपि उनमें जरासंध को पूरी तरह सफलता प्राप्त नहीं हुई; तथापि उनसे यादवों की शक्ति का भी बड़ा ह्रास हुआ था । अंत में उन आक्रमणों से बचने के लिए यादवों ने मथुरा छोड़ कर सुदूर पश्चिम की ओर जाने का निश्चय किया था ।

मथुरा से निष्क्रमण करने वाले यादवों को राजस्थान के पथरीले और रेतीले भाग में बसना उचित ज्ञात नहीं हुआ । वे और भी पश्चिम की ओर बढ़ते हुए आनर्त (उत्तरी गुजरात) और

सौराष्ट्र की समतल एवं उपजाऊ भूमि में जाकर बस गये। आनर्त का राजा श्री कृष्ण के बड़े भाई बलराम का श्वसुर था; अतः उन लोगों को वैसे भी वहाँ बसने में सुविधा थी। उन्होंने उस भू-भाग में समुद्र के तट पर द्वारका नामक एक रमणीक पुरी बसाई और उसे अपनी राजधानी बनाया था।

महाभारत के युद्ध में इस देश के अनेक राज्यों और वहाँ निवास करने वाली अनेक जातियों का सर्वनाश हुआ था; किंतु द्वारका का यादव राज्य तब भी बड़ा शक्तिशाली था। उसका कारण श्री कृष्ण जैसे युगांतरकारी महापुरुष का कुशल नेतृत्व था। जब श्री कृष्ण के तिरोधान का समय आया; तब दुर्दैव से द्वारका के यादवों में भीषण गृह–कलह हुआ; जिसके कारण उनमें से अधिकांश आपस में ही लड़ कर मर गये। उस समय वहाँ वृद्ध जन, विधवा स्त्रियाँ और बालक गण ही शेष रहे थे।

जब अर्जुन को द्वारका के यादवों के उस सर्वनाश का समाचार मिला, तब वह द्वारका जाकर वहाँ के शेष यादवों को हस्तिनापुर लिवा लाया और उन्हें पंजाब, इंद्रप्रस्थ तथा मथुरामंडल में बसा दिया। इस प्रकार इस क्षेत्र में फिर से यादवों की बस्तियाँ बस गईं।

जब सं० १०७४ में महमूद गजनवी ने मथुरा पर आक्रमण किया; तब वहाँ के राजा कूलचंद (कुलचंद्र) से उसका भीषण युद्ध हुआ था। यद्यपि उक्त कूलचंद की वंशावली उपलब्ध नहीं हुई है, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि वह वहाँ का कोई यादव राजा था। उस युद्ध में कूलचंद की मृत्यु हुई थी और उसका विशाल सैन्य दल एवं राज्य नष्ट हो गया था। जो यादव उस भीषण विनाश के बाद भी बच गये थे, उन्होंने विजयपाल के नेतृत्व में मथुरा से हट कर श्रीप्रस्थ (वर्तमान बयाना) में एक नये यादव राज्य की स्थापना की थी। विजयपाल संभवतः कूलचंद का भाई था।

उक्त विजयपाल के वंशजों ने ही कालांतर में कामबन तथा करौली में भी यादव राज्यों की स्थापना की थी और वहाँ अनेक दुर्ग और देवालय बनवाये थे। मुगल शासन के अंतिम काल में बयाना और कामबन पर जाटों ने अधिकार कर लिया था; किंतु करौली में यादवों का ही राज्य बना रहा। अंगरेजी शासन–काल तक ब्रज में करौली ही यादवों का एक मात्र प्रसिद्ध राज्य था; जिसकी परंपरा भगवान् श्री कृष्ण तक जाती थी। देश के स्वाधीन होने पर अन्य राज्यों के साथ करौली भी राजस्थान में विलीन हो गया।

इस समय यादवों को जादों ठाकुर कहा जाता है, जिनकी अधिक संख्या करौली के आस–पास ही है; किंतु वे ब्रज के अन्य स्थानों में भी थोड़ी-बहुत संख्या में बसे हुए हैं।

अहीर—यह ब्रजमंडल की एक गो-पालक जाति है; जिसे कुछ विद्वान प्राचीन आभीरों से अभिन्न मानते हैं। इस प्रकार इस जाति का भी ब्रजमंडल से पुराना संबंध रहा है। वैसे जाट और गूजरों की तरह अहीरों की उत्पत्ति के संबंध में भी कोई सुनिश्चित मत नहीं मिलता है। भारत के प्राचीन ग्रंथों के साथ ही साथ वर्तमान काल के देशी–विदेशी विद्वानों की रचनाओं में उनसे संबंधित विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं।

'मनुस्मृति' में अहीरों को ब्राह्मण पिता और अम्बष्ठ माता से तथा 'ब्रह्म पुराण' में उन्हें क्षत्रिय पिता और वैश्य माता से उत्पन्न लिखा गया है। 'वायु पुराण' में उन्हें म्लेच्छ बताया गया है,

ग्रौर पतंजलि ने उनका संबंध शूद्रों से जोड़ा है। ग्राधुनिक काल के इतिहासज्ञ विद्वान जाट-गूजरों की तरह ग्रहीरों को भी भारत में बाहर से ग्राई हुई जाति मानते हैं[१]।

श्री कृष्ण के समय में प्राचीन व्रज की जो गो-पालक जाति थी, उसे 'ग्रहीर' कहा गया है। श्री कृष्ण के पालक–पिता नंद जी ग्रौर उनके साथी ग्रहीर बतलाये गये हैं। व्रजभाषा कवियों की रचनाग्रों में इसका उल्लेख हुग्रा है[२]। सूरदास ने व्रज में ग्रौर मथुरा में श्रीकृष्ण का परिचय नंद ग्रहीर के पुत्र के रूप में कराया है[३]। उन्होंने ग्रौर कुंभनदास ने व्रज की गोपियों को ग्रहीर बतलाते हुए उन्हें दही–माखन बेचने वाली लिखा हैं[४]।

उक्त प्राचीन ग्राधार पर ग्रहीर लोग ग्रपना उत्पत्ति स्थान मथुरामंडल मानते हैं। उनकी मान्यता है, श्री कृष्ण के समय में वे व्रज के ग्रामीण भाग में निवास करते हुए गो-पालन का धंधा करते थे। उनमें दो वंश मुख्य हैं, जिन्हें 'नंद वंश' ग्रौर 'ग्वाल वंश' कहा जाता है। इनका नामकरण इस ग्राधार पर पड़ा हुग्रा माना गया है कि जिनके पास एक हजार से ग्रधिक गायें होती थीं, वे नंदवंशीय ग्रौर जिनके पास कम गायें होती थीं, उन्हें ग्वाल वंशीय कहते थे[५]।

कृष्ण के समय में जो ग्रहीर लोग मथुरामंडल के ग्रामीण भाग में रहते हुए गायों को पालने का काम करते थे, वे बाद में उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गये थे। उनकी ग्रनेक बस्तियाँ गूजरों के साथ बस गई थीं; जहाँ वे गो-पालन का धंधा करते थे ग्रौर 'गोपाल' कहलाते थे। ग्वालियर के ग्रास-पास ग्रहीरों ग्रौर गूजरों के गाँव के गाँव बसे हुए हैं। वहाँ वे सभी गोपाल ग्रथवा ग्वाले कहलाते हैं। ग्वालियर का पुराना नाम 'गोपाचल' ग्रथवा 'ग्वालपुर' उन्हीं के नाम पर पड़ा है। श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने लिखा है,—"पेशवाग्रों के काल तक जटवारा, भदावर, कछवाह धार, तँवर धार, शिकरवारा, गूजर धार ग्रर्थात् समस्त ग्वालियर–नरवर क्षेत्र 'ग्रहीरवाड़ा' कहलाता था[६]।"

जब ग्रहीर लोग विभिन्न स्थानों में बस गये, तब वे गो-पालन के ग्रतिरिक्त ग्रन्य काम भी करने लगे थे। यहाँ तक कि उन्होंने ग्रनेक राज्यों की स्थापना भी की थी। ग्राठवीं शताब्दी के बाद गुजरात तथा बंगाल में ग्रौर किसी समय नेपाल में भी ग्रहीरों का राज्य था[७]।

इस समय ग्रहीर जाति के जो लोग व्रज में बसे हुए हैं, वे पशु-पालन के साथ ही साथ ग्रन्य धंधे-रोजगार भी करते हैं। उनकी संख्या ग्रामीण बस्तियों की ग्रपेक्षा नगरों में ग्रधिक है।

---

(१) **ब्रज का इतिहास, दूसरा भाग,** पृष्ठ ४१२ ग्रौर ४१४–४१५

(२) **ग्रौर 'ग्रहिर' सब कहाँ तुम्हारे, हरि सों धेनु दुहाई।** (सूरसागर, पद सं० १३५)

(३) **१. वासुदेव घर भीतर ग्राए, मैं 'ग्रहीर' करि जाने।** (सूरसागर, पद सं० ४०९०)
२. एई सुत नंद 'ग्रहीर' के। (सूरसागर, पद सं० ३६८१)

(४) **१. हम 'ग्रहीर' माखन-दधि बेचैं सगुन टेक पकरी।** (सूरसागर, पद सं ४२८१)
२. हम हैं जाति 'ग्रहीर', दह्यौ नित बेचन ग्रावें। (कुंभनदास, पद सं० २३)

(५) **ब्रज का इतिहास, दूसरा भाग,** पृष्ठ सं० १८९

(६) **मध्य देशीय भाषा (ग्वालियरी)** पृष्ठ ८७ की पाद–टिप्पणी

(७) **ब्रज का इतिहास, दूसरा भाग,** पृष्ठ ४१४

गूजर—इस जाति का प्राचीन नाम 'गुर्जर' है और इसका आरंभिक निवास-स्थल भारत में पंचनद प्रदेश (पंजाब) है। वहाँ का गुजरानवाला नामक स्थान उन्हीं के नाम पर प्रसिद्ध हुआ जान पड़ता है। जब विदेशी आक्रमणकारियों ने उन्हें पंजाब से खदेड़ दिया, तब वे उत्तरी राजस्थान में जाकर टिक गये थे। उनके नाम पर ही मारवाड़ पहिले 'गुर्जत्रा' कहलाता था। बाद में वे गुजरात में जाकर रहे थे। यह प्रदेश भी उनके नाम से प्रसिद्ध हुआ है। कुछ लोग गुजरात का पुराना नाम 'गुर्जत्रा' समझते हैं, किंतु यह उनका भ्रम है[1]। प्राचीन काल में उत्तरी गुजरात को 'आनर्त' और दक्षिणी गुजरात को 'लाट' या 'लाड़' कहते थे। बाद में गुर्जरों के कारण उसे 'गुजरात' कहा जाने लगा था।

गूजरों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में विवाद है। स्मिथ आदि अनेक विदेशी विद्वानों ने गूजरों को भारत में बाहर से आने वाली जाति कहा है। डा० भंडारकर भी गूजरों को विदेशी मानते हैं; किन्तु श्री वैद्य के मतानुसार वे भारतीय आर्यों के वंशज हैं[2]। इस जाति की अपनी एक बोली रही है, जिसे प्राचीन ग्रंथों में 'गौर्ज्जरी' कहा गया है। इस बोली ने अपभ्रंश भाषा को बहुत प्रभावित किया है।

मुसलमानों के आक्रमण-काल में जब राजपूतों की अनेक जातियाँ राजस्थान के अनेक राज्यों में बसने लगी थीं, तब मारवाड़ के गूजर वहाँ से हट कर अन्य स्थानों में भी बस गये थे। उसी काल में कदाचित उनकी अधिक संख्या ब्रज में आकर बसी थी; वैसे आभीरों के साथ ही साथ गूजरों का भी ब्रज से अत्यंत प्राचीन संबंध ज्ञात होता है। श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं में योग देने वाली ब्रज की गोपियों में गूजरियों का भी उल्लेख मिलता है। ब्रज के संगीत और लोक नृत्यों से गूजरियों का विशेष संबंध रहा है। वर्तमान काल में भी ब्रज की गूजरियाँ नृत्य कला में बड़ी कुशल होती हैं। जो गूजर ब्रज में रहते हैं, उनका प्राचीन आभीरों से कुछ संबंध था या नहीं, इसे निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। वे लोग डीग, कामबन आदि के ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं। वे मुख्य रूप से खेती का काम करते हैं; किंतु आवश्यकता होने पर शस्त्र भी धारण कर लेते हैं। गूजर लोग पशु-पालन के काम में भी बड़े चतुर समझे जाते हैं।

जाट—यह जाति भारत में ब्रजमंडल के अतिरिक्त राजस्थान और पंजाब आदि राज्यों में बसी हुई है। पाकिस्तान में इस जाति के लोग सिंध और पश्चिमी पंजाब में रहते हैं। इसकी कुल संख्या एक करोड़ से भी अधिक है। इसमें आधे से अधिक हिंदू हैं और आधे से कम सिक्ख एवं मुसलमान। जाट चाहें भारत के निवासी हों और चाहे पाकिस्तान के, फिर चाहें वे हिंदू हों और चाहें सिक्ख एवं मुसलमान; वे सभी अपने रहन-सहन, आचार-विचार तथा रीति-रिवाज में प्रायः एक जैसे हैं। इस प्रकार जाटों की अपनी एक सांस्कृतिक इकाई है, और वे विगत एक हजार वर्ष से अपनी जातीय विशिष्टता बनाये हुए हैं। इस जाति का खोजपूर्ण इतिहास श्री कालिकारंजन कानूनगो ने 'हिस्ट्री आफ दी जाट्स' के नाम से अंगरेजी भाषा में लिखा है। जाटों के संबंध में कुछ भी लिखने के लिए इस विद्वतापूर्ण पुस्तक का उपयोग करना अनिवार्य है।

---

(१) राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास, पृष्ठ १५५

(२) „ „ , पृष्ठ १००

जाट जाति की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई—यह एक ऐसी जटिल समस्या है, जिसका समाधान अनेक विद्वानों ने प्रयत्न करने पर भी नहीं कर पाया है। जहाँ जाट अपनी उत्पत्ति यादव क्षत्रियों से मानते हुए अपने को शुद्ध भारतीय कहते हैं; वहाँ यूरोपीय विद्वान उन्हें इंडो–सीथियन मूल का मान कर विदेशी बतलाते हैं। बेसवां जिला अलीगढ़ के एक संस्कृतज्ञ जाट श्री गिरिधर प्रसाद ने, जो अपने को पंडित कहते थे, जाटों की उत्पत्ति जाठर क्षत्रियों से बतलाई है। उन्होंने पद्मपुराण की एक अनुश्रुति के आधार पर अपने मत का समर्थन करते हुए 'जाठरोत्पत्ति' नामक एक पुस्तिका संस्कृत भाषा में लिखी थी। पद्मपुराण की वह अनुश्रुति इस प्रकार है—

'जब भार्गव परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रियों से शून्य कर दिया, तब क्षत्रियों की हजारों विधवाओं और कन्याओं ने पुत्रोत्पादन की लालसा से ब्राह्मणों से संसर्ग किया था। इस प्रकार उन्होंने अपने 'जठर' में जो गर्भ धारण किये; वे 'जाठर क्षत्रिय' कहलाये[1]।'

श्री ग्राउस ने 'जाठरोत्पत्ति' के उक्त कथन की समीक्षा करते हुए लिखा है—"जाठर से जाट शब्द बनने की कल्पना में कोई अधिक असंगति नहीं है; किंतु यदि वास्तव में जाट जाति की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई है, तब उसका पहिले कहीं उल्लेख होना चाहिए था। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि जाट अधिकतर अशिक्षित रहे हैं; अतः वे अपनी उत्पत्ति से संबंधित अनुश्रुति को लेखबद्ध नहीं कर सके और दूसरों ने इसके अनुसंधान में पर्याप्त रुचि नहीं ली। यदि इसे मान भी लें, तब भी जाठरों के निवास स्थान विषयक दूसरी शंका का समाधान करना संभव नहीं है। इसे स्वयं बेसवाँ के पंडित ने भी वृहत् संहिता (१४–८) से उद्धृत किया है। उसके अनुसार जाठरों का निवास स्थान भारत का दक्षिण–पूर्वी भाग है, जब कि यह निश्चित है कि जाट भारत के पश्चिमी भाग के निवासी रहे हैं। जाट जाति के नेता भी जाठरों को अपना पूर्व पुरुष स्वीकार नहीं करेंगे, क्यों कि भरतपुर के राजा गण अपने को यादव क्षत्रियों की परंपरा में मानते हैं[2]।

जाट–इतिहास के संशोधक विद्वान श्री कानूनगो ने भी जाठरों से जाटों के किसी प्रकार का संबंध होना अस्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है, यदि इस समय जाठरों का अस्तित्व क़तई न होता, तब भी कदाचित 'जाठरोत्पत्ति' की भ्रमात्मक बात को मान लिया जाता। किंतु जाठर जाति अब भी दक्षिणी भारत में बसी हुई है और वह दक्षिणी मरहठा ब्राह्मणों की एक उपजाति है। उसका जाटों से कोई संबंध नहीं है[3]।

---

(१) क्षत्रशून्ये पुरालोके भार्गवेन यदाकृते।
विलोक्या क्षत्रियां धात्रीं कन्यास्तेषां सहस्रशः॥
ब्राह्मणान् जगृहुस्तस्मिन् पुत्रोत्पादन लिप्सया।
जठरे धारितं गर्भं संरक्ष्य विधिवत् पुरा।
पुत्रान् सुषुविरे कन्या जाठरान् क्षत्रवंशजान्॥ (History of the Jats, पृष्ठ १५)

(२) मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोअर (सन् १८७४), पृष्ठ २१–२२

(३) हिस्ट्री आव दि जाट्स, पृष्ठ १७

यादवों से जाटों की उत्पत्ति होने की बात भी कठिनता से मानी जा सकती है, क्यों कि इसका कोई स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। विष्णु पुराण से ज्ञात होता है कि विख्यात वीर कार्तवीर्य अर्जुन के सौ पुत्रों में से एक जयध्वज भी था। उससे हैहयवंशियों की पाँच बड़ी शाखाएँ प्रचलित हुईं; जिनमें से एक शाखा का नाम 'जाता' अथवा 'सुजाता' था। यदि 'जाता' से 'जात' या 'जाट' शब्द की उत्पत्ति मानी जा सके; तब यादवों से भी जाटों का संबंध सिद्ध किया जा सकता है। किंतु इसके संबंध में भी वही कठिनाई हैं, जो जाठरों के विषय में बतलाई जा चुकी है। हैहयवंशियों का निवास–स्थल दक्षिण में नर्मदा के किनारे था। उन्हें वर्तमान जाटों का पूर्व पुरुष मानना कठिन है, क्यों कि जाट सदा से पश्चिमी भारत के निवासी रहे हैं।

जाटों की उत्पत्ति की सभी संभावनाओं पर विचार करने के उपरांत श्री कानूनगो ने लिखा है—"जाटों को यह समझाना कठिन है कि वे प्राचीन यादवों की परंपरा में नहीं हैं; चाहें अपने दावे को सिद्ध करने के लिए उनके पास कोई प्रमाण नहीं है[१]।" इस प्रकार जाटों की मान्यता के अनुसार ही उन्हें यादवों की परंपरा में माना जाता है। जाटों के मुख्य गोत्र ये हैं—बर्ह, संगेरिया, खूटैल, लथौर, बाचारने, भाग्गर, सिसिनवार, सकरवार, थेंवर, मैनी, गोधी, छोंकर, गाडर तथा रावत[२]।

जहाँ तक ब्रजमंडल की जाट जाति का संबंध है; यह इस भू-भाग में जन–संख्या और ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से किसी भी जाति से कम नहीं है। जाटों का रंग गोरा या गेंहुआ, कद लंबा और शरीर पुष्ट होता है। वे अधिकतर खेती–बाड़ी का काम करते हैं; किंतु उनकी एक अच्छी संख्या सेना में भी है। हल और तलवार दोनों के चलाने में ब्रज की अन्य जातियों के लोगों से वे अधिक चतुर हैं। उनमें बौद्धिक प्रतिभा, धार्मिक शुचिता और सामाजिक चेतना की कमी है; किंतु वे बड़े परिश्रमी और साहसी होते हैं।

ब्रज के जाट अधिकतर हिंदू धर्म के अनुयायी हैं; किंतु उनमें सवर्ण हिंदुओं की तरह सभी संस्कार नहीं होते हैं। यज्ञोपवीत संस्कार उनमें प्रायः नहीं होता; केवल विवाह संस्कार होता है। विवाह के अवसर पर ही पुरोहित जाट वर को यज्ञोपवीत पहिना देता है, जो बाद में उतार दिया जाता है। अन्य हिंदुओं की तरह उनमें भी विवाह गोत्र बचा कर किया जाता है; किंतु विधवा–विवाह प्रचलित है। जाटों में अपने बड़े भाई की विधवा से भी विवाह कर लिया जाता है। उनकी यह प्रथा उन्हें अन्य हिंदुओं से पृथक् कर देती है; क्यों कि परंपरा से हिंदुओं में बड़े भाई की स्त्री को माता के समान माना जाता है।

दूसरी जाति के लोगों को अपने में खपाने की जैसी क्षमता जाट जाति में है, वैसी ब्रज की अन्य हिंदू जातियों में नहीं है। यही कारण है कि जाटों की जन संख्या बराबर बढ़ती रही है। जाट किसी भी जाति की महिला को अपनी पत्नी बना कर घर में रख सकते हैं। उक्त महिला से उत्पन्न संतान को जाट मानने में किसी को आपत्ति नहीं होती।

---

(१) **हिस्ट्री आफ दि जाट्स**, पृष्ठ १८

(२) **ब्रज का इतिहास (दूसरा भाग)**, पृष्ठ १८७

जाटों में पारिवारिक राग–द्वेष की परंपरा प्रचलित है। इसके कारण जाटों का एक घराना दूसरे घराने से वैसे ही भले–बुरे संबंध क़ायम रखेगा; जैसे कि पहिले से चले आ रहे हैं। इस आदिम जातीय प्रथा से उनमें प्रायः लड़ाई–झगड़े होते रहते हैं, जिनके कारण उन्हें बड़ी हानि उठानी पड़ती है। फिर भी वे अपने परंपरागत संबंधों में सुधार करने की आवश्यकता नहीं समझते हैं। जाटों की उक्त पृथाओं और रीति–रिवाजों के कारण १६ वीं शताब्दी में संभवतः उन्हें हीन जातियों में समझा जाने लगा था। सूरदास के एक पद में इसका संकेत मिलता है[1]। इस जाति के लोगों में रूढ़ियाँ और अंध विश्वास इस प्रकार व्याप्त हैं कि पढ़े–लिखे और आधुनिक विचार-धारा के व्यक्ति भी उनसे मुक्त नहीं हो पाते हैं। इसीलिए उनके संबंध में यह कहावत प्रचलित हो गई है, "लाख जाट पिंगल पढ़ै, एक भुच लागी रहै !"

जाटों की एक बड़ी विशेषता उनका जन्म-भूमि के प्रति अनुपम अनुराग है। यही कारण है कि जिन विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया; उनसे जाटों ने सदैव टक्कर ली है। ब्रजमंडल पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों से भी यदि ब्रज की किसी जाति ने जम कर मोर्चा लिया है, तो केवल जाट जाति ने। मुसलमान आक्रमणकारी सदा से जाटों के प्रति रोष एवं घृणा के भाव प्रकट करते रहे हैं और जाट भी सदा से उन्हें मार-काट और लूट–खसोंट से पूरी तरह परेशान करते रहे हैं। इसके लिए जाटों को बड़े–बड़े वलिदान करने पड़े हैं; किंतु वे कभी हताश नहीं हुए।

विदेशी आक्रमणकारियों की जाटों के प्रति किस प्रकार की भावना रही है, यह उनके द्वारा फारसी भाषा में लिखे हुए विवरणों से प्रकट है। 'मलफ़ुज़ाते तिमूरी' (इलियट, भाग ३, पृष्ठ ४२९) में लिखा है, जब तेमूर ने आक्रमण किया था, तब उसने जाटों को दबाने के उपरांत ही संतोष की सांस ली थी। उसने जाटों के विषय में लिखा है—"वह एक लड़ाकू क़ौम है, जो आकृति में दैत्यों के समान और संख्या में चींटी दल अथवा टीड़ी-दल की भाँति है। व्यापारियों और राहगीरों के लिए तो वह सचमुच प्लेग की तरह है[2]।" बाबर ने अपने संस्करण (बेवेरिज, पृष्ठ ३८७) में लिखा है—"जब कोई (मुसलमान आक्रमणकारी) हिंदुस्तान में जाता है, तब जाटों और गूजरों के असंख्य दल सदैव पहाड़ों और मैदानों से निकल पड़ते हैं। वे लूट-मार कर अपनी लूट को बैलों और भैंसों पर लाद कर ले जाते हैं। ये बदशकुन लोग बड़े बुद्धिहीन आक्रांता हैं[3]।"

मुगल सम्राट अकबर से शाहजहाँ तक के काल में ब्रजमंडल पर कोई आक्रमण नहीं हुआ था; अतः यहाँ के जाट भी शांति पूर्वक अपनी खेती–क्यारी के काम में लगे रहे थे। औरंगजेब ने अपने पूर्व पुरुषों की नीति के विरुद्ध ब्रज के हिंदुओं पर मज़हबी अत्याचार करना आरंभ किया।

---

(१) हरिजू, हौं यातें दुख–पात्र।
सुद्धासुद्ध बोझ ढोयौ सिर, कृषि जु करी लै दात्र॥
ऐसे कुमति 'जाट' सूरज कों, प्रभु बिन कोउ न धात्र॥ (सूरसागर, पद २१६)

(२) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ ३३

(३) वही , पृष्ठ ३३

उसने यहाँ के मंदिर–देवालयों को तोड़ने ग्रौर हिंदुग्रों को बलात् मुसलमान बनाने के ग्रहक़ाम जारी किये। इससे ब्रजमंडल के जाटों में क्रांति की लहर दौड़ गई थी। उसका यह यह परिणाम हुग्रा कि सीधे–सादे जाट किसानों ने हल को छोड़ कर तलवार पकड़ ली ग्रौर शक्तिशाली मुगल सेना का सामना करने को तैयार हो गये।

ब्रज में ग्रौरंगजेब के ग्रत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने वाली एक मात्र जाट जाति थी। ग्रौरंगजेब ने ग्रपनी ग्रसंख्य सैन्य शक्ति के द्वारा इस जाति पर बड़े-बड़े ग्रत्याचार किये; किंतु जाट वीरों ने उससे कभी हार नहीं मानी। उसके ग्रमानुषिक ग्रत्याचारों ने उनमें प्रतिहिंसा की ज्वाला प्रज्वलित कर दी थी। फलतः शांति पूर्वक खेती करने वाली जाट जाति सैनिकों ग्रौर लुटेरों की जाति बन गई। उस काल में ब्रज के जाटों का प्रमुख धंधा छापा-मार रणनीति द्वारा मुगल सेना को परेशान करना ग्रौर शाही खजाने को लूटना हो गया था।

ग्रपने शासन–काल के उत्तरार्ध में ग्रौरंगजेब दक्षिण में मरहठों के विरुद्ध युद्ध ग्रभियान में इतना फँस गया था कि वह लाख चेष्टा करने पर भी उत्तर की ग्रोर नहीं ग्रा सका था। उस काल में ब्रज के जाटों की हिंसात्मक हलचलें बहुत बढ़ गई थीं। ग्रौरंगजेब उनसे बड़ा परेशान हो गया था। वह बार-बार ग्रपने ग्रफसरों के नाम हुक्मनामा भेजता था कि जाटों को नेश्त–नामूद कर दो; किंतु उनके किये कुछ नहीं होता था। उस काल के 'ग्रख़बारात दरबारे मुग्रल्ला'—शाही सूचना-पत्रों में जाटों को 'जाट–ए–बदज़ात' लिखा गया है। इससे मुगल शासन का उनके प्रति तीव्र रोष प्रकट होता है।

मुगल शासन के ग्रंतिम काल में ब्रज के जाटों के विख्यात नेता सूरजमल ग्रौर जवाहरसिंह ने दिल्ली पर चढ़ाई कर उसे लूटा था। इस प्रकार ग्रौरंगजेब द्वारा ब्रज पर किये गये ग्रत्याचारों का उन्होंने ग्रपने ढंग से बदला लिया था। सूरजमल ने ब्रज में स्वतंत्र हिंदू राज्य की स्थापना की थी ग्रौर उसके वंशज भरतपुर के जाट राजाग्रों ने 'ब्रजेन्द्र' ग्रथवा 'ब्रजराज' की उपाधि धारण करने में गर्व का ग्रनुभव किया था।

ग्रंगरेजी शासन के ग्रारंभिक काल में ब्रज के जाटों ने सुसज्जित ब्रिटिश सेना से भी सफल मोर्चा लिया। जब ग्रंगरेजों ने डीग ग्रौर भरतपुर पर चढ़ाई की थी, तब जाटों ने उनके दांत खट्टे कर दिये थे। ग्रंगरेजी शासन कायम होने पर जब ब्रज में शांति हो गई, तब जाटों ने भी ग्रपनी क्रांतिकारी हलचलें समाप्त कर दी थीं ग्रौर वे पूर्ववत् ग्रपने कृषि–कार्य में लग गये थे। इस समय जाट जाति का मुख्य धंधा खेती करना ही है। इस जाति के बहुत से युवक सेना में भी हैं, जहाँ उन्होंने ग्रपनी वीरता की छाप लगाई हुई है।

द्विजातियाँ—

ब्राह्मण—ब्रज की ग्रर्वाचीन जातियों में संख्या ग्रौर महत्व दोनों दृष्टियों से ब्राह्मणों का उल्लेख सर्व प्रथम किया जा सकता है। प्राचीन काल में समाज के उस विशिष्ट वर्ण के व्यक्तियों को ब्राह्मण कहते थे; जो विद्याविद्, तपस्वी, त्यागी ग्रौर कर्मकांडी होते थे। उनकी उक्त विशेषताग्रों के कारण उन्हें समाज में शिरमौर माना जाता था। जो व्यक्ति उक्त विशेषताग्रों से रहित होते थे; उन्हें ब्राह्मण कहलाने का ग्रधिकार न था। कालांतर में जब वर्ण ग्रौर जातियों को जन्म के ग्राधार पर माना जाने लगा; तब ग्रपढ़ ग्रौर मूर्ख व्यक्ति भी ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ग्रपने बढ़प्पन का दावा करने लगे ग्रौर समाज में भी उनका वह दावा प्रायः मान लिया गया था। ऐसी दशा में

ब्राह्मणों को विद्वान, तपस्वी ग्रौर त्यागी होने की ग्रावश्यकता ही नहीं रही। फलतः उनमें मूर्खों की संख्या ग्रधिक होने लगी। इससे समाज में ज्ञान, विज्ञान ग्रौर विद्या की उन्नति रुक गई थी।

धार्मिक क्षेत्र होने के कारण ब्रज में ब्राह्मणों का महत्व सदा बना रहा; चाहें उनमें ग्रपने पूर्व पुरुषों की भाँति गुण नहीं रहे थे। ब्रज के धार्मिक स्थलों में ब्राह्मणों का मुख्य धंधा पुरोहिताई, पंडागीरी ग्रौर यजवान–वृत्ति है; जो उन्हें वंश–परंपरा से प्राप्त होता है। ब्राह्मणों में सबसे ग्रधिक संख्या सनाढ्यों की ग्रौर उनके बाद गौड़ों की है। गौतम, सारस्वत ग्रादि ग्रन्य जातियों के ब्राह्मण भी ब्रज में थोड़ी-बहुत संख्या में बसे हुए हैं।

'चतुर्वेदी या चौबे'—ब्रज की यह जाति ब्राह्मणों के ग्रंतर्गत मानी जाती है। इसकी ग्रपनी बोली है ग्रौर विशिष्ट रीति–रिवाजें हैं। इस जाति के दो वर्ग हैं, जो 'कड़वे' ग्रौर 'मीठे' कहलाते हैं। कड़वे चौबों में 'मथुरिया' ग्रौर 'कुलीन' नामक दो उपवर्ग हैं। मथुरिया चौबे सामूहिक रूप से मथुरा में रहते हैं ग्रौर ग्रधिकतर पंडागीरी करते हैं। कुलीन चौबे ग्रागरा, मैनपुरी, इटावा ग्रादि नगरों में बसे हुए हैं। वे प्रायः पढ़े-लिखे हैं ग्रौर ग्रधिकतर नौकरीपेशा हैं। मीठे चौबे विशेष रूप से ब्रज के ग्रामीण भागों में रहते हैं ग्रौर उन्हें कड़वे चौबों से कुछ नीचा माना जाता है।

श्री भगवान्‌दत्त चतुर्वेदी ने 'मथुरा के चौबे' शीर्षक के ग्रपने निबंध में लिखा है—"इनकी उत्पत्ति तथा प्राचीन इतिहास विवादग्रस्त है ग्रौर इनके कुछ ग्राचारों में वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। इनका वैवाहिक संबंध मथुरा में ही होता है। 'मथुरा की बेटी, गोकुल की गाय। करम फूटै तो बाहर जाय।' वाली लोकोक्ति इसी समाज पर फिट बैठती है। एक ही स्थान तथा संकुचित दायरे में विवाह संबंध होने के कारण इनमें बाल विवाह तथा बदले के विवाह की कुप्रथाएँ प्रचलित हैं। ग्रब समाज का शिक्षित वर्ग इन कुप्रथाग्रों को समाप्त करना चाहता है ग्रौर इसमें काफी सफलता प्राप्त कर चुका है। विवाहिता स्त्रियाँ मध्यान्होत्तर ग्रपने मायके (मातृ गृह) जाती हैं ग्रौर वहीं पर सांध्य भोजन करने के बाद फिर रात्रि को पति गृह में वापिस ग्रा जाती हैं। प्रायः यह दैनिक कार्यक्रम रहता है।

विविध संस्कारों के ग्रवसर पर पेड़ा, गिंदौड़ा ग्रादि मिठाई वायने में बाँटी जाती है। ब्रह्मभोजों में पर्याप्त धन व्यय होता है। मृतक भोज में भी सैकड़ों लोगों को दावत दी जाती है। मृतक के शोक में इनके यहाँ एक साल तक स्त्रियाँ 'स्यापा' करती हैं। भंग के ग्रतिरिक्त ग्रन्य नशीली वस्तुएँ जैसे धूम्र पान, हुक्का, बीड़ी, सिगरेट, प्याज, लहसुन ग्रादि वर्जित हैं। इनकी वेशभूषा में प्राचीनता की छाप मिलती है[२]।"

ग्रौरंगजेब के शासन–काल में जब ब्रज के हिंदुग्रों को उसकी दमन–नीति का शिकार होना पड़ा था, तब मथुरा के चौबों ने भी बड़ा कष्ट उठाया था। ऐसा कहा जाता है, उनसे मुसलमानों की कब्रें खुदवाई जाती थीं! उस ग्रापत्ति–काल में जब ब्रज के ग्रनेक लोग या तो यहाँ से भाग कर ग्रन्यत्र चले गये थे या मुसलमान हो गये थे; तब मथुरा के चौबे नाना प्रकार की कठिनाईयों को सहन करते हुए भी मथुरा में ही बने रहे थे। यही कारण है, मथुरा की कई ग्रन्य जातियों की ग्रपेक्षा चौबे यहाँ के पुराने निवासी हैं। उनकी संख्या भी इस नगर में पर्याप्त है।

---

(२) **ब्रज का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ ४८७–४८९**

भार्गव—इस जाति का मूल निवास-स्थल अलबर के निकटवर्ती नारनौल के समीप की धूसी या धौसी पहाड़ी माना जाता है। उक्त पहाड़ी के नाम पर पहिले इस जाति को 'धूसर' अथवा 'ढूसर' कहते थे; किंतु अब 'भार्गव' कहा जाता है। अब से कुछ वर्ष पहिले तक इसे वैश्यों की एक उप जाति माना जाता था; किंतु अब इस जाति के लोग अपनी उत्पत्ति महर्षि भृगु से बतलाते हुए अपने को ब्राह्मणों की उपजाति मानते हैं। यह जाति जिन कतिपय स्थानों में बसी हुई है, उनमें मथुरा भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर इनकी सामूहिक वस्ती है। यद्यपि इनकी संख्या मथुरा की अन्य जातियों की अपेक्षा कम है; तथापि इनका यहाँ पर अच्छा प्रभाव है।

इस जाति के दो महापुरुष—१. हेमू या हेमचंद्र और २. नवलदास का ब्रज से कुछ संबंध रहा है। हेमू शेरशाह सूरी का वीर सेनापति था। मुगल शासन के आरंभिक काल में सूरियों का पतन होने पर, हेमू ने स्वतंत्र हिंदू राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया था; किंतु उसे सफलता नहीं मिल सकी थी। नवलदास रेवाड़ी का रहने वाला और राधावल्लभ संप्रदाय का एक विरक्त साधु था। उन दोनों को 'धूसर' अथवा 'ढूसर' वैश्य लिखा गया है[1]।

इधर कुछ वर्षों से इस जाति के ब्राह्मण होने के दावे को मान लिया गया है। फलतः इसे महर्षि भृगु की परंपरा में 'भार्गव' कहा जाता है, किंतु इस जाति के लोग ब्राह्मण वृत्ति न कर अन्य कामों में लगे हुए हैं। यह एक प्रगतिशील जाति है।

अहिवासी—इस जाति के लोग भी अपने को ब्राह्मणों की एक उपजाति मानते हैं। इस जाति का मूल स्थान कालियदह-वृंदाबन के निकट का सेमरख गाँव कहा जाता है। कालियदह कालिय नाग का निवास स्थल था और अपने 'अहिवासी' नाम से भी इस जाति का संबंध नाग जाति अथवा सर्प (अहि) पूजा से सिद्ध होता है, किंतु फिर भी इसकी उत्पत्ति के विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है।

इस जाति के लोगों की मान्यता है कि उनके आदि पुरुष महर्षि सौभरि जी थे, जो वृंदाबन में यमुना जल के अंदर तपस्या किया करते थे। उन्होंने अहिराज कालिय को अपने निकट बसा लिया था; अतः उनकी तपस्या का स्थल 'अहिवास' कहा जाने लगा। कालांतर में सौभरि ऋषि ने सूर्यवंशी महाराज मान्धाता की कन्याओं से विवाह कर गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था। उनसे जो संतान हुईं, वे 'अहिवासी' कहलाते हैं[2]। इस मान्यता में कितनी प्रामाणिकता है, इसका निर्णय करना कठिन है।

ब्राह्मणों के मूल वंशधर और गोत्रकार सप्तर्षि (१. मरीचि, २. अत्रि, ३. अंगिरा, ४. भृगु, ५. वसिष्ठ, ६. पुलस्त्य और ७. अथर्वा) हैं; जिनमें भृगु और अंगिरा के वंशजों का अधिक विस्तार हुआ है। जहाँ 'धूसर' अपना संबंध भृगु से सिद्ध कर 'भार्गव' हुए हैं; वहाँ 'अहिवासी' अपनी परंपरा अंगिरा से बतलाते हैं। अहिवासियों के मूल पुरुष सौभरि जी महर्षि अंगिरा के प्रपौत्र थे; अर्थात् अंगिरा के पुत्र घोर, घोर के पुत्र कण्व और कण्व के पुत्र सौभरि जी थे।

---

(१) १. आजाद कृत 'अकबरी दरबार', प्रथम भाग पृष्ठ २६७
२. श्री नवलदास की परचई (रसिक अनन्यमाल), पृष्ठ १५-१६

(२) श्री राघवाचार्य कृत पुस्तिका,—"महर्षि सौभरि जी और उनका वंश"।

१७ वीं शताब्दी में अहिवासी जाति के एक प्रसिद्ध पुरुष कल्याण जी हुए थे, जो ब्रज के रीढ़ा (वर्तमान बलदेव) गाँव के निवासी थे। उक्त गाँव के एक प्राचीन कुंड से उस समय श्री दाऊजी की अत्यंत सुंदर मूर्ति उपलब्ध हुई थी। गोसाईं गोकुलनाथ जी उस मूर्ति को गोकुल ले जाना चाहते थे; किंतु गाँव वालों के आग्रह से उन्होंने उसे रीढ़ा गाँव में ही विराजमान कर दिया और कल्याण जी को उनका पुजारी नियुक्त किया था[1]। उस मूर्ति के कारण वह गाँव 'दाऊजी' अथवा 'बलदेव' कहलाने लगा और वहाँ का कुंड 'क्षीरसागर' अथवा 'बलभद्र कुंड' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कल्याण जी के वंशज अहिवासी गण दाऊजी के पुजारी और वहाँ के पंडा हैं; जो बलदेव में पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं। अहिवासी जाति के लोग ब्रज के अन्य गाँवों में भी रहते हैं; किंतु वहाँ वे ब्राह्मण–वृत्ति न कर खेती का धंधा करते हैं।

मैथिल—बढ़ईगीरी के काम करने वालों का एक थोक अपने को ब्राह्मण जाति के अंतर्गत मानता है। इस थोक को 'श्रोत्रीय' अथवा 'ब्रजस्थ मैथिल' कहा जाता है। इस जाति के अनेक लोगों ने अब बढ़ईगीरी का काम छोड़ कर अन्य धंधे अपना लिये हैं; किंतु वे ब्राह्मण वृत्ति नहीं करते हैं।

ब्राह्मण वृत्ति की अन्य जातियाँ—ब्रजमंडल की कुछ भिक्षाजीवी जातियाँ वैरागी, बाबाजी, गुसाईं, जोगी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि ये जातियाँ ब्राह्मण होने का दावा नहीं करती हैं, तथापि इनकी जीविका ब्राह्मण वृत्ति पर आधारित है। जोगी जाति का संबंध प्राचीन नाथ संप्रदाय से ज्ञात होता है। इस जाति के लोग गोरखनाथ को अपना आदि गुरु और शिवजी को अपना उपास्य देव मानते हैं।

क्षत्रिय—प्राचीन वर्ण व्यवस्था के अनुसार क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों के बाद था और उनको समाज की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सोंपा गया था। क्षत्रियों के प्राचीन वंश सूर्यवंश, चंद्रवंश और अग्निवंश थे; जिनकी वंश–परंपरा का इस देश में काफ़ी विस्तार हुआ था। अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए क्षत्रियों को शस्त्र विद्या और रण कौशल में निपुण होना आवश्यक था। उन्हें शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भी सदैव तत्पर रहना पड़ता था; अतः अहिंसा के प्रति उनकी अरुचि होना स्वाभाविक था। जैन और बौद्ध धर्मों के उत्थान काल में जब आर्यों की प्राचीन वर्ण व्यवस्था भंग हो गई, तब क्षत्रियों का भी विघटन हो गया था। फिर जैन और बौद्ध धर्मों ने अहिंसा पर अधिक बल दिया था; जिसका प्रभाव क्षत्रियों के कर्त्तव्य कर्म पर सबसे अधिक पड़ा था। फलतः उनमें से बहुतों ने अन्य वर्णों के कर्मों को अपना लिया था।

कालांतर में जब वर्णों से जातियों की उत्पत्ति हुई, तब क्षत्रियों की भी अनेक जातियाँ और उप जातियाँ बन गई थीं। इस समय क्षत्रियों के प्राचीन वंश अपने मूल रूप में बहुत कम मिलते हैं; किंतु उनकी परंपरा में राजपूतों और ठाकुरों की अनेक जातियाँ हैं। इनमें से कई जातियाँ ब्रज के विभिन्न स्थानों में भी बसी हुई हैं।

प्राचीन क्षत्रियों की चंद्रवंशी शाखा के अंतर्गत ब्रज के प्राचीन 'यादव' थे, जिनका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। उनकी परंपरा में वर्तमान 'जादों' ठाकुर हैं, जो ब्रज के कई स्थानों में निवास करते हैं। उनके अतिरिक्त क्षत्रिय अथवा राजपूतों की जो जातियाँ ब्रज में

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोग्रर (तृ० सं०), पृष्ठ २९२

बसी हुई हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं,––१, चौहान, २. कछवाहे, ३. बाछल, ४. जाइसवार, ५. गौरवा, ६. भदौरिया, ७. गहलोत, ८. बड़गूजर, ९. पँवार, १०. राठौड़, ११. सोलंकी, १२. खगार, १३. बघेल, १४. चंदेल, १५. गहरवार, १६. तोमर आदि । इनमें से जादों अधिकतर करौली और इसके निकटस्थ गाँवों में; कछवाहे मथुरा तहसील के महोली, सतोहा, गिरिधरपुर, पालीखेड़ा, नरौली और जैंत आदि गाँवों में; बाछल छाता तहसील के बच्छबन, सेही, दानेरा आदि गाँवों में; गौरवा गोबर्धन और उसके निकटस्थ गाँवों में तथा भदौरिया आगरा जिला के भदावर क्षेत्र में बसे हुए हैं ।

खत्री—इस जाति की उत्पत्ति क्षत्रियों से मानी जाती है । मुसलमानी शासन काल में इस जाति ने राजकीय सेवा में योग देकर बड़ी उन्नति की थी । खत्री जाति के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति मुसलमानी शासन में उच्च पदस्थ राज कर्मचारी रह चुके हैं । मुगल सम्राट अकबर के विख्यात अर्थ मंत्री टोडरमल खत्री थे । इस समय इस जाति के लोग नौकरीपेशा हैं, अथवा व्यवसायी हैं ।

वैश्य—आर्यों की वर्ण व्यवस्था में वैश्यों का तीसरा स्थान था और उन्हें समाज की अर्थ व्यवस्था को समुन्नत करने का दायित्व सोंपा गया था । मनु के मतानुसार वैश्यों के स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य हैं,—"कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम् ।" कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तीनों बातें किसी भी समाज की आर्थिक समृद्धि की मूलाधार हैं । इनके कारण ही वैश्यों को सदा से समाज में महत्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है ।

प्राचीन काल में वैश्य लोग मनु की व्यवस्था के अनुसार कृषि, गो–पालन और वाणिज्य आदि कर्मों को समान रुचि से किया करते थे । कालांतर में कृषि और गो-पालन के कर्म उच्च वर्णों के लिए अशोभनीय माने जाने लगे; तब वैश्यों ने उनसे अपना हाथ खींच लिया और वे केवल वाणिज्य–व्यापार ही करने लगे थे ।

जब भारत में जाति व्यवस्था प्रचलित हो गई, तब वैश्य वर्ण के अंतर्गत भी अनेक जातियाँ बन गई थीं । जैसा पहिले लिखा जा चुका है, जैन और बौद्ध धर्मों के उत्थान-काल में आर्यों की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था भंग हो गई थी । चूँकि उक्त धर्मों ने अहिंसा पर अधिक बल दिया था; अतः क्षत्रिय वर्ण के अनेक लोगों ने भी उक्त धर्मों से प्रभावित होकर वैश्यों का कर्म स्वीकार कर लिया । फलतः उन्होंने वैश्यों के अंतर्गत कई नवीन जातियों को जन्म दिया था । ऐसी जातियों में 'अग्रवाल' और उसकी उपजाति 'राजवंशी' के नाम उल्लेखनीय हैं । उनकी प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि ये जातियाँ पहिले क्षत्रियोचित कर्म करती थीं ।

ब्रज में वैश्यों की जो जातियाँ हैं, उनमें अग्रवाल, खंडेलवाल, माहेश्वरी, माहौर, बारहसैनी, चौसैनी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । अग्रवाल समस्त ब्रजमंडल में सबसे अधिक संख्या में बसे हुए हैं । बारहसनी अधिकतर अलीगढ़–हाथरस में हैं । अन्य वैश्य जातियाँ थोड़ी-बहुत संख्या में ब्रज के प्रायः सभी स्थानों में मिलती हैं ।

अग्रवाल—वैश्यों की समस्त जातियों और उपजातियों में संख्या और महत्व दोनों ही दृष्टियों से अग्रवाल जाति का स्थान सर्वोपरि है । इस जाति की उत्पत्ति किस प्रकार और किस काल में हुई, इसका यथार्थ विवरण भी अन्य कई प्रमुख जातियों की भाँति पूर्णतया प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं है । इसके संबंध में जो परंपरागत अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उनमें कितनी ही बातें अप्रमाणिक ज्ञात होती हैं; अतः उन सब को आज के वैज्ञानिक युग में स्वीकार करना संभव नहीं है ।

अग्रवाल जाति की उत्पत्ति और उसके इतिहास से संबंधित कई छोटी-बड़ी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं; जिनके लेखक भारतेन्दु बा० हरिश्चंद्र जी से लेकर वर्तमान काल के कई विशिष्ट विद्वान हैं। उनकी अधिकांश बातें पौराणिक गाथाओं, परंपरागत अनुश्रुतियों और राय–भाटों की किंवदंतियों पर आधारित हैं; अतः वे सब की सब विश्वसनीय नहीं हैं। इन पुस्तकों में डा० सत्यकेतु विद्यालंकार कृत 'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास' और डा० परमेश्वरीलाल गुप्त कृत 'अग्रवाल जाति का विकास' नामक रचनाएँ अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण हैं; क्यों कि इनमें इतिहास और पुरातत्व की प्रामाणिक सामग्री का भी उपयोग किया गया है। फिर भी इनसे अग्रवाल जाति की उत्पत्ति और उसके इतिहास से संबंधित सभी समस्याओं का पूर्णतया समाधान नहीं होता है।

इस जाति के मूल पुरुष महाराज अग्रसेन माने जाते हैं, जिनकी राजधानी 'अगरोहा' थी। यह स्थान पंजाब राज्य में हिसार नगर से १३ मील दूर दिल्ली–सिरसा सड़क पर स्थित है। इस समय यह एक छोटा सा उजड़ा हुआ गाँव है; किंतु प्राचीन काल में यह अत्यंत विशाल और समृद्धिशाली नगर था। इसका प्रमाण वे भग्नावशेष हैं, जो इस स्थान के निकटवर्ती प्रायः सात सौ एकड़ भूमि में फैले हुए हैं। इनकी खुदाई से जो पुरातात्विक सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे इसके प्राचीन गौरव पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

भारत के प्राचीन साहित्य में कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं, जो अगरोहा राज्य के अस्तित्व–काल का निर्णय करने में सहायक होते हैं। इन्हें विद्वानों ने बड़ा महत्व दिया है। महाभारत में कर्ण की दिग्विजय का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि पश्चिम दिशा में उसने जिन राज्यों को पराजित किया था, उनमें एक 'आग्रेय' भी था; जिसकी स्थिति भद्र राज्य से आगे रोहितक और मालव गण राज्यों के बीच में थी[1]। महाभारत की कुछ मुद्रित प्रतियों में 'आग्रेय' के स्थान पर 'आग्नेय' पाठ मिलता है, जो ठीक नहीं है[2]। महाभारत का जो संस्करण भंडारकर प्राच्य संस्थान पूना से प्रकाशित हुआ है, उसमें कर्ण की दिग्विजय का वह प्रकरण प्रक्षिप्त मान कर नहीं दिया गया। वह प्रकरण चाहें प्रक्षिप्त ही हो; किंतु उससे 'आग्रेय' गण राज्य की भौगोलिक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। संसार के सर्वप्राचीन वैयाकरण पाणिनि (विक्रम पूर्व की पाँचवीं शती) के गोत्रापत्य सूत्रों में अग्र और इससे बने हुए आग्रेय, आग्रायण आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है। यूनान के राजा सिकंदर ने भारत के पश्चिमी भाग पर आक्रमण कर वहाँ के जिन राज्यों को जीता था, उनमें एक 'अगलस्सि' भी था।

इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों ने प्राचीन 'आग्रेय' और 'अगलस्सि' को अगरोहा से मिलाते हुए उसे भारत का अत्यंत प्राचीन गण राज्य माना है। वही राज्य अग्रवाल जाति का मूल निवास स्थल था। वहाँ के देशभक्त और वीर अग्रवालों ने यूनानी, शक, कुषाण, हूण एवं मुसलमान आदि विदेशी आक्रमणकारियों से अनेक शताब्दियों तक जम कर लोहा लिया था। अंत में मुहम्मद गोरी के आक्रमण–काल सं० १२५१ में वह प्राचीन राज्य पूर्णतया नष्ट हो गया। तभी वहाँ के निवासी अग्रवाल लोग राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों में जाकर बस गये थे।

---

(१) भद्रान रोहितकांश्चैव आग्रेयान् मालवान् अपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहन्निव॥ (महाभारत, बनपर्व, २५५–२०)

(२) अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु विद्यालंकार), पृष्ठ ५८ की पाद-टिप्पणी

आग्नेय गण राज्य से संबंधित होने के कारण अग्रवालों के प्राचीन नाम 'अग्र' अथवा 'अग्रवंशी' थे, जिनका उल्लेख १७वीं–१८वीं शताब्दियों तक होता रहा है[१]। संस्कृत शब्द 'अग्र' के साथ हिंदी का 'वाल' प्रत्यय बाद में लगाया जाने लगा था। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने बतलाया है कि 'अग्रवाल' नाम का उल्लेख १४ वीं शताब्दी से पहिले नहीं मिलता हैं। इसका प्राचीनतम उल्लेख मौलाना दाऊद कृत अवधी काव्य 'चंदायन' (रचना-काल सन् १३७९ ई०) में हुआ है[२]।

इस समय यह जाति 'अग्रवाल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस जाति के लोग वैसे तो भारत के सभी उद्योग–व्यवसाय प्रधान नगरों में बसे हुए हैं; तथापि इनकी सर्वाधिक आबादी दक्षिणी पंजाब, पूर्वी राजस्थान और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के प्रमुख स्थानों में है। इनकी कुल संख्या २५ लाख के लगभग मानी जाती है।

अग्रवाल जाति के कई भेद हैं; जो धर्म, निवास–स्थान और रक्त–शुद्धि के आधार पर बने हुए ज्ञात होते हैं। धर्म-भेद के कारण इस जाति के लोग जैन, सनातनी (वैष्णव, शैव, शाक्तादि) और आर्य समाजी हैं। निवास–स्थान के भेद से वे देशी और मारवाड़ी कहे जाते हैं। धर्म और निवास–स्थान के भेद ऐसे नहीं हैं, जो विवाहादि में बाधक होते हों। रक्त–शुद्धि के कारण इस जाति में जो भेद हुए हैं; वे बीसा, दस्सा, राजाशाही अथवा राजवंशी, क़दीमी, दिलवालिया अथवा गिंदौड़िया आदि कहलाते हैं। बीसा अग्रवाल रक्त–शुद्धि की दृष्टि से 'बीसों बिस्से' (पूरी तरह) खरे माने जाते हैं, जब कि अन्य भेदों में कुछ कमी बतलाई जाती है। इस खरेपन के स्वाभिमान के कारण बीसा अग्रवाल दूसरे अग्रवालों से वैवाहिक संबंध करने में संकोच करते हैं। इस प्रकार रक्त-शुद्धि का तथाकथित भेद ही वास्तविक है; जिसे दूर करने का अब प्रयत्न किया जा रहा है। वर्तमान काल में इस तरह के भेद–भाव सर्वथा निरर्थक, अनावश्यक और हानिकारक हैं। इन्हें जितनी जल्दी दूर किया जाय, उतना ही समाज के लिए हितकर होगा।

ब्रजमंडल में इस जाति के लोग मथुरा, आगरा, अलीगढ़ जैसे नगरों के अतिरिक्त छोटे–बड़े कस्बों और गाँवों में भी पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं। इनके मुख्य धंधे उद्योग, व्यापार, वाणिज्य, दूकानदारी और महाजनी हैं। अन्य क्षेत्र जैसे साहित्य–संस्कृति, कला–कौशल, ज्ञान–विज्ञान और राजकीय सेवाओं में भी अग्रवालों ने अपनी प्रतिभा और योग्यता का भली भाँति परिचय दिया है।

अन्य जातियाँ--

शूद्र—आर्यों का चौथा वर्ण तथाकथित 'शूद्र' था, जिस पर समाज सेवा का गुरुतर भार डाला गया था। प्राचीनकाल में भारतीयों की मान्यता थी कि जन्म से सब शूद्रवत् ही उत्पन्न होते हैं; संस्कारों के उपरांत ही उन्हें द्विजातियों की संज्ञा प्राप्त होती है,–"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।" इसका यह अभिप्राय हुआ कि शूद्रों में द्विजातियों की अपेक्षा संस्कारों की कमी रहती थी, इसीलिए उन्हें आर्यों की वर्ण-व्यवस्था में चौथा स्थान प्राप्त हुआ था।

---

(१) **अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास**, पृष्ठ ६१

(२) **बाँमन खतरी बसँह गुवारा।**
गहरवार औ 'अग्गरवारा' ॥ (अग्रवाल जाति का विकास)

कालांतर में जब जातियों और उपजातियों का प्रचलन हो गया, तब कला-कौशल और दस्तकारी के धंधे करने वालों को इसी वर्ण के अंतर्गत माना जाने लगा। उस समय इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि जो लोग जिन धंधों में लगे हैं, उनके वंशज भी उन्हीं धंधों को अनिवार्य रूप से करते रहें। इस प्रकार उन लोगों की ऐसी अनेक जातियाँ और उपजातियाँ बन गईं, जो विविध कला-कौशल और दस्तकारी के धंधों में वंश–परंपरा के अनुसार लगी हुई थीं। 'जाति' शब्द का अर्थ है 'जन्म से', जिसकी संगति वस्तुतः उन तथाकथित शूद्र जातियों से ही होती थी। उक्त प्रथा के प्रचलन का उद्देश्य उक्त जातियों के धंधों में कुशलता लाना, उत्पादन में वृद्धि करना और उन्हें औद्योगिक संघर्ष से बचाना था। जब विविध कला-कौशलों और दस्तकारियों में लगे हुए व्यक्तियों के बच्चों को भी आरंभ से ही उन्हें सीखने की अनिवार्यता हो गई; तब उनके धंधों में कुशलता आना और उत्पादन में वृद्धि होना स्वाभाविक था। फिर जब यह निश्चित व्यवस्था की गई कि कोई दूसरा वर्ग उनके धंधों को न कर सकेगा, तब उससे औद्योगिक संघर्ष की भी आशंका नहीं रही थी। वर्तमान काल में रूस और चीन जैसे जातिवाद विरोधी साम्यवादी देशों में औद्योगिक संघ (कम्यून) बना कर उनके संघर्ष को बचाने की चेष्टा की गई है। फिर भी उन्हें वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी भारत को प्राचीन काल में जाति प्रथा के प्रचलन से हुई थी।

शूद्र नाम के साथ इस समय जो तिरस्कार और हीनता की भावना जुड़ गई है, वह प्राचीन काल में नहीं थी। इस वर्ण के कर्त्तव्य कर्म में सेवा भाव का जो महत्व है और इसके अंतर्गत बनी हुई जातियों के धंधों में उत्पादन की जो उपयोगिता है; उनके कारण तिरस्कार और हीनता की बात पैदा होने का प्रश्न ही नहीं था। इस वर्ण के अंतर्गत जो जातियाँ मानी जाती हैं; उनमें नाई, माली, दर्जी, तमोली, पटुवा, गड़रिया, कलार, काछी, बारी, कुम्हार, भड़भूजा, लुहार, कढेरे, कुर्मी, मनिहार, मल्लाह, भड़ुरी, ढाढ़ी, मछुवा के नाम उल्लेखनीय हैं। उक्त जातियों के लोगों को जन्म से ही अपने-अपने काम करने और दूसरी जातियों के काम न करने की जो व्यवस्था थी, उनके कारण जाति--प्रथा की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

वर्तमान काल में वैसी व्यवस्था अनिवार्य नहीं है; अतः एक जाति के लोग दूसरी जाति का काम करने को स्वतंत्र हैं। उसके कारण उक्त प्रथा का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो गया है। ऐसी दशा में इसे जारी रखने की कोई सार्थकता नहीं है। ब्रज में पूर्वोक्त सभी जातियाँ थोड़ी-बहुत संख्या में मिलती हैं। इनका महत्व ग्रामों में अधिक है। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था पर भी इन जातियों का बड़ा प्रभाव पड़ा है।

अन्त्यज या दस्यु— द्विजातियों और शूद्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसी जातियाँ भी थीं; जो किसी कारण से कर्त्तव्यच्युत हो जाने वाले लोगों से बनी थीं। उन्हें अन्त्यज, म्लेच्छ अथवा दस्यु कहा जाता था। स्मृतिकारों ने कहा है,—"**मुख बाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छ-वाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।**" अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनकी क्रिया लोप होने से जो बाह्य जातियाँ बनीं, वे म्लेच्छ भाषा से अथवा आर्य भाषा से युक्त दस्यु संज्ञक कहलाईं। इस प्रकार वे हीन जातियाँ थीं और उनके प्रति अन्य जातियों का घृणा का भाव प्राचीन काल में भी था। वे जातियाँ कोरिया, चमार, डोम, भंगी आदि थीं।

उक्त जातियों को बहुत समय से ग्रस्पृश्य ग्रर्थात् ग्रछूत माना गया है। वर्तमान काल में महात्मा गांधी ने उनके उद्धार का बड़ा प्रयत्न किया था। उनके प्रति परंपरागत घृणा का भाव दूर करने के लिए उन्होंने उनका नाम 'हरिजन' रखा था ग्रौर उन्हें ग्रछूत न मानने का व्यापक प्रचार किया था। इस समय भारतीय संविधान के ग्रनुसार भी किसी व्यक्ति को ग्रछूत नहीं माना जा सकता; किंतु रूढ़िगत संस्कारों के कारण पुरानी प्रथाएँ ऐसी जड़ पकड़ गई हैं कि उन्हें उखाड़ फेंकने में ग्रभी काफी समय लगेगा। ब्रजमंडल में ये जातियाँ सभी स्थानों में पर्याप्त संख्या में बसी हुई हैं ग्रौर उनके प्रति सद्भावना का व्यवहार पूरी तरह नहीं होता है।

चमार—ब्रजमंडल की तथाकथित ग्रछूत जातियों में चमार ग्रर्थात् जाटव जाति के लोगों की संख्या सबसे ग्रधिक है। इनका मुख्य धंधा चर्मकारी है; किंतु गाँवों में वे खेती के काम भी प्रचुरता से करते हैं। वर्तमान काल में इस जाति के जिन लड़कों ने शिक्षा प्राप्त कर ली है, वे ग्रपने परंपरागत धंधों को छोड़ कर दूसरे काम भी करने लगे हैं। सरकारी नौकरियों में ग्रछूत जाति के लोगों को विशेष सुविधा दी जाती है। उसका लाभ चमार जाति के लोगों ने भी उठाया है।

मुसलमान—साधारणतया मुसलमानों में शेख, सैयद, मुगल ग्रौर पठान नामक चार भेद होते हैं;जिन्हें उनकी चार प्रमुख जातियाँ कहा जा सकता है। उद्योग-धंधों की दृष्टि से भी मुसलमानों की कुछ जातियाँ हैं; जो प्रायः जन्म से ही ग्रपने-ग्रपने धंधों को करती हैं। ऐसी जातियों में घोसी, लोधे, रंगरेज,तेली, सक्का (भिश्ती), भाँड़, कसाई ग्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब जातियाँ ब्रज में थोड़ी-बहुत संख्या में सभी जगह बसी हुई हैं।

ब्रजमंडल पर मुसलमानों का शासन प्रायः सात सौ वर्षों तक रहा था। इतिहास से सिद्ध है कि ग्रकबर जैसे दो-एक सम्राटों को छोड़ कर शेष सभी मुसलमान शासकों का दृष्टिकोण ब्रज के हिंदुग्रों के प्रति बड़ा ग्रनुदार था। उनमें से कितने ही शासकों ने यहाँ के हिंदुग्रों को बलात् मुसलमान बनाने की चेष्टा की थी। महमूद गज़नबी, सिकंदर लोदी, ग्रौरंगज़ेब ग्रौर ग्रहमदशाह ग्रब्दाली जैसे क्रूर ग्रौर ग्रत्याचारी शासकों ने इसके लिए ब्रज के हिंदुग्रों पर घोर ग्रत्याचार भी किये थे। जो ज़ोर-ज़बर्दस्ती से मुसलमान बनाये गये, उन्हें फिर हिंदुग्रों ने किसी भी प्रकार ग्रपने में सम्मिलित नहीं किया। इतना होने पर भी ब्रज में १५-२० प्रतिशत से ग्रधिक मुसलमान नहीं हो सके थे। इस समय ब्रजमंडल में जो मुसलमान हैं, उनमें विदेशी नस्ल के बहुत कम हैं; जब कि ग्रधिकतर यहाँ के ही मूल निवासी हैं। उनमें मेवाती ग्रौर मलिकाने जैसी जातियाँ भी हैं; जो हिंदुग्रों की रीति-रिवाजों को ग्रभी तक पूरी तरह नहीं छोड़ सकी हैं।

घुमंतू जातियाँ—ब्रज में कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं, जो एक स्थान पर स्थायी रूप से न रह कर ग्रपनी जीविका के लिए सदैव घूमती रहती हैं। ऐसी घुमंतू जातियों में बनजारे, सँपेरे, नट, भूभड़िया, सिकलीगर, चर्ख वाले, खुरपल्टा, कंजर, हाबूड़ा, बहेलिया, ग्रहेरिया ग्रादि हैं। इनमें कंजर, हाबूड़ा ग्रादि को 'जरायम पेशा' (ग्रपराधी धंघे) वाली जातियाँ माना जाता है ग्रौर उनके ग्रावागमन पर पुलिस की कड़ी दृष्टि रहती है। ग्राजकल इन जातियों को भी सुसंस्कृत बनाने की पूरी चेष्टा की जा रही है।

●

पंचम अध्याय

ब्रज संस्कृति के उपकरण

'संस्कृति' और उसका अभिप्राय—गत पृष्ठों में ब्रज के विविध उपादानों का विवरण दिया जा चुका है। अब ब्रज संस्कृति के उपकरणों का उल्लेख करना आवश्यक है; किंतु इससे भी पहिले यह बतलाना उचित होगा कि 'संस्कृति' क्या है और इस शब्द का व्यवहार किस अर्थ में किया जाता है। संस्कृति का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है, इसे यथार्थ रूप में बतलाना बड़ा कठिन है। संस्कृति को लक्षणों से तो जाना जा सकता है; किंतु इसकी स्पष्ट परिभाषा देना संभव नहीं है। फिर भी इसके अभिप्राय और व्यवहार के संबंध में जो शिष्ट सम्मत धारणा बन गई है, उसे यहाँ व्यक्त करना आवश्यक है।

'संस्कृति' शब्द का मूल अर्थ है,—'सम्यक् कृति'। इसका संबंध संस्कार या संस्करण से है; जिसका अभिप्राय शुद्धि, सुधार, संशोधन, परिमार्जन अथवा आभ्यंतर रूप के प्रकाशन से होता है। संस्कार व्यक्ति की तरह समाज के भी होते हैं। इस प्रकार मानव–समाज के वे सब संस्कार, जो लौकिक और पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हुए उसके सर्वांगीण जीवन का निर्माण करते हैं, उसकी संस्कृति कहे जाते हैं। संस्कृति किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है। इसमें उक्त देश, जाति या समाज के चिंतन–मनन, आचार–विचार, रहन–सहन, बोली–भाषा, वेश–भूषा, कला–कौशल आदि सभी बातों का समावेश होता है।

इस अर्थ में संस्कृति शब्द का व्यवहार इस देश में पहिले कभी नहीं हुआ; अतः संस्कृत या भारत की किसी प्राचीन भाषा के साहित्य में यह शब्द इस अर्थ में नहीं मिलता है। इसे अंगरेजी शब्द कल्चर (Culture) का पर्यायवाची समझा जाता है; किंतु कल्चर शब्द का जो वास्तविक अभिप्राय है, उसके स्पष्टीकरण के लिए भारतीय साहित्य में 'आचार–विचार' शब्द का प्रयोग हुआ है। आजकल संस्कृति शब्द का व्यवहार पूर्व प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में होने लगा है।

सभ्यता और संस्कृति में भेद—कभी–कभी सभ्यता (Civilisation) और संस्कृति (Culture) को समानार्थक समझ लिया जाता है; किंतु यह ठीक नहीं है। सभ्यता का संबंध बाहिरी बातों से है; जब कि संस्कृति भीतरी गुणों से संबंधित है। सभ्यता केवल भौतिक और शारीरिक उन्नयन है, जब कि संस्कृति मानसिक और बौद्धिक विकास है। सभ्यता और संस्कृति का संबंध दूध में व्याप्त मक्खन, फूलों में सुगंध और शरीर में आत्मा के समान है। इस प्रकार सभ्यता केवल बाहिरी ढाँचा मात्र है, जो संस्कृति के बिना निस्सार और निष्प्राण है। सभ्यता जल्दी बनती है और जल्दी बिगडती भी है; किंतु संस्कृति के बनने में भी पर्याप्त समय लगता है और बिगड़ने में भी।

सभ्य समाज में अवश्य ही संस्कृति के विकसित होने में सुविधा रहती है; किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक सुसभ्य व्यक्ति अनिवार्य रूप से सुसंस्कृत भी होता है। आजकल अच्छे

कपड़े पहिनने वाला, अच्छा खान–पान करने वाला, शानदार मकान में रहने वाला और सुख–सुविधा की सभी वस्तुओं का उपभोग करता हुआ ठाठ–बाट से जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सुसभ्य माना जाता है। किंतु ऐसा व्यक्ति दुश्चरित्र, अनाचारी, स्वार्थी और धोखेबाज भी हो सकता है। उस व्यक्ति को सुसंस्कृत हरगिज़ नहीं कहा जावेगा। इसके विरुद्ध साधारण रहन–सहन का व्यक्ति भी यदि सच्चरित्र, सदाचारी, सेवाभावी और जनता को सन्मार्ग की ओर ले जाने वाला है, तो उसे निश्चय ही सुसंस्कृत कहा जा सकता है।

भारत के प्राचीन ऋषि–मुनिओं और ब्रज के संत–महात्माओं का भोजन–वस्त्र बहुत साधारण होता था। वे पर्ण–कुटियों में अथवा फूस के छप्परों में निवास करते थे; किंतु वे सदाचारी, संयमी, स्वाध्यायशील और सेवाभावी होते थे। उन्हें आजकल के अर्थ में चाहें सुसभ्य न कहा जाय; किंतु वे सुसंस्कृत होने के साथ ही साथ हमारी संस्कृति के निर्माता भी थे। वर्तमान काल में महात्मा गांधी का रहन–सहन भी प्राचीन संत–महात्माओं की तरह का ही था; किंतु उनके समान सुसभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति इस युग में ढूँढ़ने पर भी कठिनता से मिलेंगे।

फिर भी साधारण नियम यह है कि संस्कृति और सभ्यता एक–दूसरे की पूरक हैं। वे साथ–साथ प्रगति करती हुई एक–दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। समृद्ध सभ्यता में सुसंस्कृति का सहज विकास होता है, जिसके फलस्वरूप आचार–विचार और रहन–सहन में गरिमा आती है तथा धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और ज्ञान–विज्ञान की उन्नति होती है।

भारतीय संस्कृति में ब्रज संस्कृति का स्थान—प्राचीन इतिहास, परंपरा, रूढ़ि और आदर्श की समानता के कारण समस्त भारतवर्ष की एक ही संस्कृति है। इसे विभिन्न जातियों, समाजों, वर्गों और प्रदेशों के रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता है। फिर भी भारत जैसे विशाल देश के कतिपय भू–भागों की कुछ सांस्कृतिक विशिष्टताएँ भी हैं, जो इस देश की सामूहिक प्रवृत्ति को पूर्णता प्रदान करती हैं। जिस प्रकार एक गुलदस्ता में विविध रंग और सुगंध के पुष्प अपनी–अपनी विशेषताएँ रखते हुए भी उसके सामूहिक सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशिष्टताएँ भी इस देश की सामूहिक संस्कृति को गरिमा और पूर्णता प्रदान करती हैं।

ब्रज संस्कृति अखिल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत एक क्षेत्रीय संस्कृति है। यह देश की सामूहिक संस्कृति का अंग होते हुए भी कुछ अपनी विशेषताएँ रखती है। इनके कारण जहाँ इसे विशिष्ट रूप प्राप्त है, वहाँ इसने अखिल भारतीय संस्कृति के गौरव की वृद्धि करते हुए इसे पूर्णता भी प्रदान की है। इसकी पृथक् रूप से चर्चा केवल यह बतलाने के लिए की जा सकती है कि इसने भारत की विराट् संस्कृति के निर्माण और विकास में तथा इसकी उन्नति और समृद्धि में अपना कितना योग दिया है।

ब्रज संस्कृति का निर्माण और उसकी विशेषता—इस संस्कृति के निर्माता भगवान् श्री कृष्ण थे; जिन्हें 'गोपाल' भी कहा जाता है। इसके निर्माण में आर्य, अनार्य, जैन, बौद्ध, हिंदू और मुसलमान सभी समुदायों तथा धर्मों के संवेदनशील एवं सहृदय व्यक्तियों ने अपना-अपना योग प्रदान किया है। इस प्रकार यह एक उदार और लचीली संस्कृति है। इसके प्रमुख तत्व सेवा, सौहार्द्र, स्नेह, समर्पण और समन्वय हैं; जो कृष्णोपासना की पृष्ठ भूमि में ही फूले–फले हैं। इस संस्कृति

के प्रवर्त्तक गोपाल-कृष्ण को गायों के साथ बनों में विचरण करना और वहाँ पर गोप-गोपियों के साथ नाना प्रकार की लीलाएँ करना अत्यंत प्रिय था। इस प्रकार गोपाल इसमें परमोपास्य हैं; तथा गो, गोपी, गोप, गोकुल और गोष्ठ उनके परिकर हैं। ब्रज संस्कृति गो के समान निरीह, निरापद और सर्वजनोपयोगी है; गो-रस के समान कोमल, मृदु और पोषक है; तथा बन के समान व्यापक, शांत और स्वाभाविक है। ब्रज संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता सरल, स्वाभाविक और उल्लासपूर्ण जीवनचर्या तथा त्याग-तपस्या, सेवा-समर्पण और आनंद–प्राप्ति की भावना है। इन बातों की आवश्यकता मानव–समाज को सदैव रही है और रहेगी।

संस्कृति का प्रतिबिंब धर्मोपासना में झलकता है और वह कला एवं साहित्य के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करती है। यह बात ब्रज संस्कृति के लिए सबसे अधिक चरितार्थ होती है। ब्रज के धर्म-संप्रदायों ने त्याग–तपस्या और सेवा-समर्पण का उपदेश करते हुए मानव–समाज को सुगम, सरल और आनंदपूर्ण जीवनचर्या का मार्ग दिखलाया है। उनके द्वारा असहाय और दुखी जीवों को भगवान् पर भरोसा करने तथा अनासक्त भाव से कर्म करने की प्रेरणा मिली है। 'आचार' की कठोरता और 'विचार' की सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का प्राचीन आदर्श है; किंतु ब्रज के धर्म-संप्रदायों ने आचार को भी सरल और संतुलित करने की चेष्टा की है। उन्होंने मानव–जीवन को उच्चादर्शों की ओर प्रेरित कर उसे आनंद की प्राप्ति का मार्ग दिखलाया है। ब्रज की कलाओं में सरलता के साथ कुशलता, सरसता के साथ शुचिता और स्वच्छंदता के साथ मर्यादा का अद्भुत समन्वय हुआ है। ब्रज के साहित्य में भक्त कवियों की सरस और गेय पद-रचनाएँ हैं, कृतविद्य कवियों की कमनीय छंदों में रची हुई चमत्कारपूर्ण सूक्तियाँ हैं तथा लोक कवियों की सरल, स्वाभाविक और भाव-भरित गेय तुकबंदियाँ हैं। इन सब के कारण ब्रज संस्कृति ने भारत की सामूहिक संस्कृति को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया है और उसे पूर्णता प्रदान की है।

उपकरणों की उद्भावना—ब्रज संस्कृति मूलतः धार्मिक संस्कृति है, जिसे कला और साहित्य द्वारा पोषण प्राप्त हुआ है। इस संस्कृति की विभिन्न प्रवृत्तियों के उद्दीपन और संवर्धन के लिए कतिपय उपकरणों की उद्भावना की गई है; जिनमें मंदिर-देवालय, उत्सव-समारोह, ब्रज-यात्रा और रासलीला विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। यहाँ के मंदिर-देवालय ब्रज संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप हैं; जिनके दर्शन मात्र से ही इसके प्रति भक्तजनों की आस्था दृढ़ होती है। उत्सव-समारोह किसी भी देश, जाति और समाज की सजीवता, समृद्धि और उसके सुखी जीवन के मापदंड हैं। जो समाज जितना अधिक उत्सवप्रिय होगा, उसकी सांस्कृतिक चेतना उतनी ही प्रबल होगी। ब्रज में सदा से उत्सव-समारोहों की अधिकता रही है; यही कारण है कि यहाँ की संस्कृति इतनी सजीव और सम्पन्न है।

ब्रज-यात्रा और रासलीला ब्रज संस्कृति के बड़े आकर्षक उपकरण हैं। जहाँ ब्रज-यात्रा द्वारा ब्रज के सघन बन-उपबनों के प्राकृतिक सौन्दर्य, लता-कुंजों की मनोहर छवि और उनमें निवास करने वाले मयूरों तथा कोकिलों के मधुर कलरव से चित्त को अपूर्व आह्लाद होता है; वहाँ रासलीला के गायन, वादन और नृत्य की सरसता एवं कलात्मकता हृदय को अलौकिक आनंद प्रदान करती है। ब्रज संस्कृति के विविध उपकरणों में से ब्रज-यात्रा और रासलीला ने देशव्यापी ख्याति प्राप्त की है। यहाँ पर इन दोनों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाता है।

ब्रज-यात्रा

महत्व और परंपरा—

ब्रज-यात्रा ब्रजमंडल का सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक और धार्मिक आयोजन है। इससे ब्रज के लीला-स्थलों के दर्शन, रमणीक बन-उपबनों के पर्यटन, प्राकृतिक सुषमा सम्पन्न लता-कुंजों के निरीक्षण तथा कुंड-सरोवरादि तीर्थों के स्नान-आचमन का आनंद प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ मंदिर-देवालय और देव-मूर्तियों के दर्शन, रास-लीला के सुखानुभव और विद्वत्जनों के प्रवचन का लाभ भी मिलता रहता है। इस यात्रा में प्रति वर्ष हजारों यात्री भाग लेते हैं। भारत के भिन्न-भिन्न भागों से आने वाले यात्री गण जब प्रेमपूर्वक एक साथ यात्रा करते हैं, तब देश की परंपरागत सांस्कृतिक एकता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है।

ब्रज में इस यात्रा की परंपरा भगवान् श्री कृष्ण के समय से ही मिलती है। आरंभिक यात्रियों में अक्रूर, उद्धव और वज्रनाभ के नाम लिये जा सकते हैं। अक्रूर ने मथुरा में किये जाने वाले कंस के यज्ञ का निमंत्रण कृष्ण-बलराम को देने के लिए, उद्धव ने श्री कृष्ण के आदेशानुसार गोपियों को ज्ञानोपदेश करने के लिए और वज्रनाभ ने उजड़े हुए मथुरा राज्य को फिर से बसाने के लिए ब्रज की यात्राएँ की थीं।

वज्रनाभ द्वारा मथुरामंडल में यादव राज्य की पुनर्प्रतिष्ठा किये जाने पर कृष्णोपासक सात्वत गण दूर-दूर से अपने पूर्वज कृष्ण-बलराम के लीला-स्थलों का दर्शन करने के लिए पर्याप्त काल तक आते रहे होंगे; किंतु उसका प्रामाणिक विवरण इतिहास के अंधकार में विलीन हो गया है। फिर ब्रजमंडल में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढ़ जाने से श्री कृष्ण के लीला-स्थलों के प्रति लोगों का आकर्षण कम हो गया था। उस काल में जो यात्री ब्रज-यात्रा के लिए आते थे, वे श्री कृष्ण के लीला-स्थलों की अपेक्षा जैन और बौद्ध धर्मों से संबंधित स्तूप, चैत्य, संघाराम आदि के दर्शन में स्वाभाविक रूप से अधिक रुचि रखते थे। विक्रम की ६टी और ८वीं शताब्दियों में चीन देश के दो बौद्ध यात्री फाहियान और हुएनसांग भारत में बौद्ध तीर्थों की यात्रा के लिए आये थे। वे मथुरा भी गये थे, जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म से संबंधित विविध स्थलों का दर्शन किया था। १४वीं शताब्दी में जैन धर्माचार्य जिनप्रभ सूरि जैन स्थलों की यात्रा करते हुए मथुरा आये थे।

वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार काल में जब कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार होने लगा, तब कृष्णोपासक आचार्यों ने ब्रज के लुप्त गौरव को फिर से स्थापित करने के लिए ब्रज में ही अपने केन्द्र बनाने की आवश्यकता समझी थी। उन आचार्यों में निंबार्क संप्रदाय के प्रवर्तक श्री निंबार्काचार्य कदाचित पहिले महानुभाव थे, जिन्होंने ब्रज की यात्रा की थी। उन्होंने गोवर्धन में निवास कर ब्रजमंडल से ही अपने संप्रदाय के प्रचार का आयोजन किया था। वे गोवर्धन के जिस स्थान पर निवास करते थे, वह उनके नाम पर निंबग्राम या नीमगाँव कहलाता है।

१२वीं शताब्दी में लीलाशुक विल्वमंगल और १३वीं शताब्दी में रसिकराज जयदेव के ब्रज में आने की अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। वे दोनों ही विख्यात कृष्णोपासक महानुभाव थे; यद्यपि उनके वैष्णव धर्मावलंवी होने का निश्चित प्रमाण नहीं मिला है। उन्होंने कुछ काल तक ब्रज में निवास किया था और यहाँ के कतिपय लीला स्थलों के दर्शन किये थे। १५वीं शताब्दी में माध्व

संप्रदाय के ग्राचार्य माधवेन्द्र पुरी ने ब्रज–यात्रा की थी। वे पर्याप्त काल तक गोवर्धन में रहे थे। ऐसी प्रसिद्धि है, उन्होंने श्रीनाथ गोपाल जी के देव–विग्रह का प्राकट्य किया था ग्रौर उनकी ग्रारंभिक सेवा–पूजा की व्यवस्था की थी।

ग्राकर्षरण ग्रौर कठिनाइयाँ—कृष्णोपासक धर्माचार्यों ग्रौर भक्त महानुभावों का ब्रज की ग्रोर ग्राकर्षरण बढ़ जाने से उनके कतिपय केन्द्र भी यहाँ स्थापित हो गये थे। इससे उनके ग्रनुवायी भक्त जन भी ब्रज की यात्रा करने ग्रौर यहाँ के लीला–स्थलों के दर्शन करने को स्वभावतः ही उत्सुक होने लगे; किंतु उन दिनों यह कार्य ग्राज-कल का सा सरल ग्रौर सुगम नहीं था। उस समय समस्त ब्रज प्रदेश विधर्मी शासकों के ग्रधीन था। उन्होंने इस पुरय भूमि के गौरव ग्रौर इसके प्राचीन लीला–स्थलों को नष्ट-भ्रष्ट करने में ग्रपने मज़हबी तास्सुब का पूरा परिचय दिया था; जिसके काररण मथुरा के ग्रोर-पास का समस्त प्रदेश निर्जन ग्रौर बीहड़ बनों में परिवर्तित हो गया था। उन बनों में तस्कर लुटेरे ग्रौर हिंसक पशुग्रों का भी ग्रातंक था।

ऐसे बनों में श्रीकृष्ण–लीला के वे पुराणप्रसिद्ध स्थल थे, जो शताब्दियों की विषम परिस्थिति के काररण सर्व साधाररण के लिए ग्रज्ञात ग्रौर ग्रपरिचित हो गये थे। उन बनों में भक्ति-साधना करने वाले कुछ तपस्वी महात्माग्रों को ही उन लीला-स्थलों की थोड़ी-बहुत जानकारी थी। जो भावुक भक्त जन यात्रा के कष्टों को सहन कर उन बनों में प्रवेश करने का साहस करते थे, वही बनवासी महात्माग्रों की सहायता से कतिपय लीला-स्थलों के दर्शन करने का सुयोग प्राप्त करते थे। ग्रन्य व्यक्तियों को उन तक पहुँचना भी संभव नहीं था।

विक्रम की १६वीं शती में सभी कृष्णोपासक संप्रदायों की यह चेष्टा हुई कि विविध पुराणों में कृष्ण–लीला से संबंधित जिन स्थानों का नामोल्लेख मिलता है, उन्हें ब्रज में खोजा जाय ग्रौर उनकी यात्रा करने के मार्ग को सुगम बनाया जाय। उनकी चेष्टा के फल स्वरूप ही ग्राजकल समस्त लीला–स्थल ज्ञात हैं। ब्रज-यात्रा के मार्ग में हिंसक पशु, बीहड़ बन, कटीली भाड़ी, थूहर-नागफनी के कांटे ग्रौर कंकड़-पत्थर ग्रादि की जो कठिनाइयाँ पहिले थीं, वे ग्रब ग्रधिकांश में दूर हो गई हैं। इसीलिए प्रति वर्ष सहस्रों यात्री समस्त भारत से ग्राकर इन पावन स्थलों के दर्शन करते हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—

कृष्ण–भक्ति ग्रौर ब्रज-संस्कृति के प्रसार में ब्रज के लीला-स्थलों की खोज ग्रौर ब्रज-यात्रा के प्रचलन का कार्य इतना महत्वपूर्ण हुग्रा है कि ब्रज के सभी कृष्णोपासक संप्रदाय इसका श्रेय प्राप्त करना चाहते हैं। वैसे तो यह महान् कार्य सभी संप्रदायों की सम्मिलित चेष्टा का सुपरिणाम है, तथापि बल्लभ संप्रदाय के सर्वश्री बल्लभाचार्य जी ग्रौर विठ्ठलनाथ जी, चैतन्य मत के श्री चैतन्य महाप्रभु, रूप–सनातन गोस्वामी गरण ग्रौर नारायरण भट्ट जी तथा निंबार्क संप्रदाय के श्री चतुरानन नागा जी ने सर्व प्रथम इसके लिए प्रयास किया था। फिर उनके उत्तराधिकारियों ने क्रमशः इसकी पूर्ति की थी। ब्रज–यात्रा का विस्तृत वर्णन करने से पूर्व हम इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना ग्रावश्यक समझते हैं।

निंबार्क ग्रौर माध्व संप्रदायों की प्रेररणा—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, कृष्णोपासक संप्रदायों में सर्व प्रथम निंबार्क संप्रदायी ग्रौर उनके पश्चात् माध्व संप्रदायी भक्तों ने ब्रज में ग्रपने केन्द्र बनाये थे। निंबार्क संप्रदायी भक्त जन गोबर्धन के निंबग्राम ग्रौर मथुरा के ध्रुवटीले पर निवास

करते थे । माध्व संप्रदायी भक्तों का निवास गोबर्धन में था । वे विरक्त महात्मा गण अपनी-अपनी उपासना पद्धति के अनुसार भक्ति-साधना में लीन रहा करते थे । उन्होंने आरंभ से ही ब्रज–यात्रा की कोई समुचित व्यवस्था की हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता है । माध्व संप्रदायी श्री माधवेन्द्र पुरी अवश्य ही गोवर्धन की परिक्रमा और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में भ्रमण किया करते थे ।

बल्लभ संप्रदायी आचार्यों का आरंभिक योग—बल्लभ संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि श्री बल्लभाचार्य जी ने कई बार समस्त देश की तीर्थ–यात्राएँ की थीं । उन यात्राओं के प्रसंग में वे ब्रजमंडल में अवश्य आते थे और यहाँ पर गोकुल, गोबर्धन आदि के लीला–स्थलों के दर्शन तथा गिरिराज जी की परिक्रमा करते थे । उनकी प्रथम देशव्यापी यात्रा सं० १५४९ में आरंभ हुई थी । उसी अवसर पर वे सर्व प्रथम ब्रज–यात्रा के लिए आये थे । इस प्रकार उनकी प्रथम ब्रज–यात्रा का काल सं० १५४९–५० निश्चित होता है । उसके उपरांत उन्होंने सं० १५५५, १६६०, १५६८, १५७३ और १५८५ में अनेक बार ब्रज–यात्राएँ की थीं । उनकी यात्रा ब्रज के १२ बनों तक ही सीमित थी, जिसे वे ७ दिनों में पूरी करते थे । सं० १५८७ में श्री बल्लभाचार्य जी का देहावसान होने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी बल्लभ संप्रदाय के आचार्य हुए थे । उन्होंने अपने छोटे भाई विट्ठलनाथ जी के साथ सं० १५९५ में ब्रज–यात्रा की थी । सं० १५९९ में श्री गोपीनाथ जी का भी देहावसान हो गया और श्री विट्ठलनाथ जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे । श्री विट्ठलनाथ जी ने सं० १६०० में अपनी प्रथम ब्रज-यात्रा की थी । इससे पूर्व की यात्राएँ उन आचार्यों की व्यक्तिगत होती थीं । उनके साथ कतिपय निजी शिष्य–सेवकों के अतिरिक्त और लोग नहीं होते थे । सं० १६०० से सामूहिक रूप में यात्रा करना आरंभ हुआ, जिसका श्रेय श्री विट्ठलनाथ जी को है ।

चैतन्य संप्रदाय का प्रयास—चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल में कृष्ण–भक्ति का व्यापक प्रचार होने पर वंगीय भक्तों में भी ब्रज के लीला–स्थलों के दर्शन और उनकी यात्रा करने की आकांक्षा उत्पन्न हुई थी; किंतु उन्हें तत्संबंधी कोई निश्चित जानकारी नहीं थी । श्री माधवेन्द्र पुरी से प्रेरणा प्राप्त कर चैतन्य देव ने ब्रज के लीला–स्थलों का अनुसंधान और ब्रज-यात्रा के मार्ग को सुगम बनाने का एक कार्यक्रम बनाया था । उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने सं० १५६८ में अपने दो अनुचर लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने के लिए भेजा था । वे दोनों भक्त जन कुछ दिनों तक ब्रज के बीहड़ बनों में भटक कर वापिस चले गये । उन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई । सं० १५७३ में चैतन्य महाप्रभु स्वयं ब्रज में आये थे । उस समय उन्होंने अनेक लीला–स्थलों के दर्शन किये और कई बनों की यात्रा भी की । वे ब्रज में अधिक समय तक न रह कर शीघ्र ही वापिस चले गये, अतः उन्होंने अपने कार्य को पूरा करने के लिए अपने विद्वान पार्षद सर्वश्री रूप–सनातन आदि गोस्वामियों को वहाँ जाने का आदेश दिया । उक्त गोस्वामियों ने ब्रज के लीला–स्थलों को खोज कर उनकी यात्रा के मार्ग को सुगम बनाने की दिशा में चेष्टा की और उसमें कुछ सफलता भी प्राप्त की थी ।

सं० १६०२ में सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान श्री नारायण भट्ट ब्रज में आये थे । वे चैतन्य संप्रदायी श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर गोबर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड के तट पर निवास करने लगे । उन्होंने ब्रज के समग्र रूप को प्रकट करने में सबसे अधिक कार्य किया था । वहाँ के

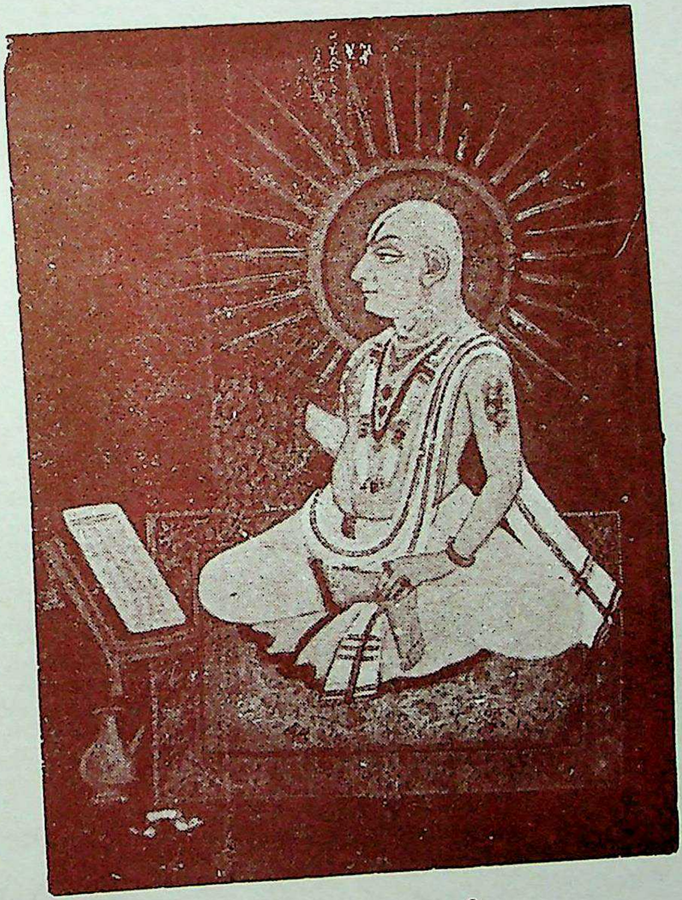

गोसाईं विट्ठलनाथ जी

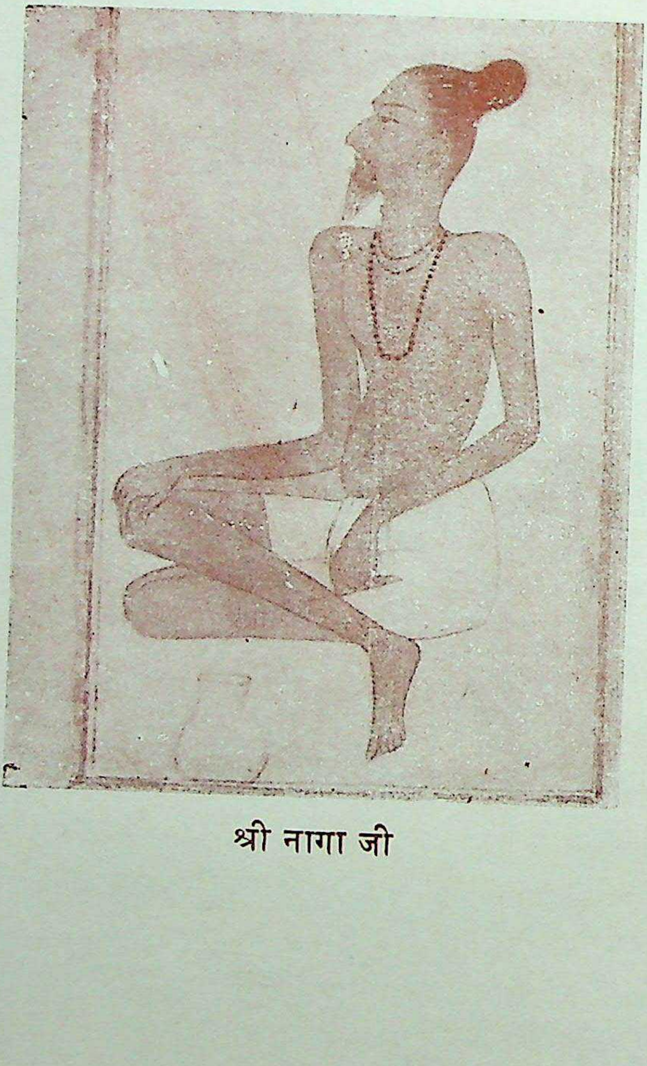

श्री नागा जी

समस्त वन, उपवन, तीर्थ और लीला–स्थलों की उन्होंने खोज की और उनका विस्तृत वर्णन करने के लिए अनेक ग्रंथों की रचना की। उन ग्रंथों में ब्रज-यात्रा का यथोचित वर्णन होने के साथ ही साथ उसका क्रम, विधि तथा तत्संबंधी अन्य बातों पर भी विस्तार से विचार किया गया है।

ब्रज-यात्रा को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय गोसाईं श्री विट्ठलनाथ जी के अतिरिक्त नारायण भट्ट जी को है। श्री ग्राउस ने इसका आरंभिक श्रेय भट्ट जी को ही दिया है। उन्होंने लिखा है, उनके (गोस्वामी रूप-सनातन जी के) शिष्य नारायण भट्ट जी ने सर्व प्रथम बन-यात्रा और रास-लीला को व्यवस्थित तथा स्थिर रूप प्रदान किया था। उन्हीं ने सर्व प्रथम ब्रज के सरोवरों और निकुंज स्थलों का भी नामकरण किया था। उनसे पहिले केवल सात–आठ लीला-स्थलों के नामों का उल्लेख ही पूर्ववर्ती पुराणों में मिलता है[1]।

नागा जी और केशव जी का नियम—नाभा जी ने ब्रज–यात्रा से प्रेमियों में निंबार्क संप्रदायी श्री चतुरानन जी नागा और श्री केशव जी के नामों का उल्लेख किया है। नाभा जी कृत 'भक्तमाल' के टीकाकार श्री प्रियादास जी ने नागा जी द्वारा ब्रज की नियमित परिक्रमा किये जाने से संबंधित उनके अद्भुत सामर्थ्य का भी उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है, नागा जी प्रातःकाल वृंदाबन में श्री गोविंददेव जी की मंगला–आरती के दर्शन कर मथुरा में श्री केशवदेव जी की शृंगार–आरती में उपस्थित होते थे। वहाँ से नंदगाँव पहुँच कर राजभोग-आरती के दर्शन करते थे। उसके पश्चात् गोवर्धन–राधाकुंड की परिक्रमा करते हुए सायंकाल को वृंदाबन लौट आते थे। इस प्रकार उनके चारों प्रहर ब्रज-यात्रा में बीतते थे। यही उनका दैनिक कार्य-क्रम था[2]। केशव जी श्री गिरिराज जी की दंडौती परिक्रमा किया करते थे; इसीलिए उनका नाम 'केशव जी दंडौती' पड़ गया था। नाभा जी ने उन्हें इसी नाम से संबोधित किया है[3]।

गो० विट्ठलनाथ जी की ब्रज-यात्रा—गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने कई बार ब्रज-यात्रा की थी। उनकी प्रथम यात्रा उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपीनाथ जी के देहावसान के पश्चात् सं० १६०० में हुई थी। वह उनकी स्वतंत्र रूप से की गई प्रथम यात्रा थी। उसका वार्त्तात्मक वर्णन गोसाईं गोकुलनाथ जी के नाम से लिखा हुआ उपलब्ध है[4]। उसके बाद उनकी दो यात्राओं का उल्लेख और मिलता है, जो सं० १६२४ और १६२८ में हुई थीं। सं० १६२४ की यात्रा का पद्यात्मक वृतांत कवि जगतनंद कृत उपलब्ध है[5], और सं० १६२८ की यात्रा का उल्लेख पीतांबरदास की वार्ता में मिलता है[6]।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृ० सं०), पृष्ठ ७५

(२) श्री गोबिंदचंद जू कौ भोर ही दरस करि, केसव सिंगार, राजभोग नंदगाँव में।
गोबर्धन-राधाकुंड ह्वै कै आवैं वृंदाबन, मन में हुलास नित करैं चार जाम में।।
(भक्तिरस बोधिनी, कवित्त सं० ५६५)

(३) श्री नाभा जी कृत 'भक्तमाल' (छप्पय सं० १०३)

(४) श्री गुसाईं जी की ब्रज-यात्रा, सं० १६०० की, (वल्लभीय सुधा, वर्ष ४ अंक ३–४)

(५) श्री गुसाईं जी की बन-यात्रा, कवि जगतनंद रचित, (वल्लभीय सुधा, वर्ष ४ अंक ३–४)

(६) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता में पीतांबरदास की वार्ता, संख्या १६०

सं० १६२४ और सं० १६२८ की यात्राओं के वृत्तांत प्रायः एक से हैं। इन्हें पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि इनमें से कोई एक किसी दूसरे पर आधारित है। या तो वार्ता के वृत्तांत को जगतनंद ने पद्यात्मक रूप दिया है, अथवा जगतनंद के वृतांत को वार्ता के गद्य में लिखा गया है। यदि दोनों वृतांत एक हैं, तब गोसाईं जी की दो की अपेक्षा एक यात्रा ही मानी जा सकती है। चूँकि दोनों यात्रा-वृत्तांतों में पृथक्–पृथक् तिथि-संवत् का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, अतः दो के बजाय एक यात्रा भी मानना संभव नहीं जान पड़ता है। इसका ठीक-ठीक निर्णय काल-गणना से हो सकता है। जगतनंद के वृत्तांत में तो तिथि-वार दोनों हैं[1], जो गणना से भी ठीक हैं; किंतु वार्ता के वृत्तांत में केवल तिथि-संवत् हैं, वार नहीं है[2]; अतः गणना द्वारा उसकी परीक्षा करना संभव नहीं है।

डा० हरिहरनाथ टंडन ने लिखा है कि कवि जगतनंद के पद्यात्मक यात्रा-विवरण का एक गद्यात्मक रूप भी है, जो कांकरौली विद्या विभाग में बंध संख्या ८६ की पुस्तक सं० ३ में मिलता है। उसमें यात्रा का समय सं० १६२८ दिया हुआ है[3]। ऐसी दशा में दो यात्राएँ ही मानना ठीक होगा, जो क्रमशः सं० १६२४ और सं० १६२८ में हुई थीं। कवि जगतनंद ने दोनों यात्राओं का वृत्तांत लिखा है, जो एक पद्य में है और दूसरा गद्य में है। वार्ता में केवल सं० १६२८ की यात्रा का ही वृत्तांत लिखा गया है।

श्री वल्लभाचार्य जी की ब्रज-यात्रा ब्रजमंडल के पुराणप्रसिद्ध १२ वनों की थी, जो ७ दिनों में पूरी हो जाती थी। श्री गोपीनाथ जी ने और श्री विट्ठलनाथ जी ने भी अपनी प्रथम यात्रा इसी प्रकार की थी। बाद में १२ वनों के अतिरिक्त २४ उपवनों की भी यात्रा की जाने लगी, जिसे पूरी करने में १०–११ दिन लगते थे। सं० १६२४ और १६२८ में गो० विट्ठलनाथ जी ने जो यात्राएँ की थीं, वे उक्त बन-उपबनों की थीं और ११ दिनों में पूरी हुई थीं। इसका उल्लेख कवि जगतनंद ने किया है[4]।

यात्रा का विस्तार—सं० १६२८ के पश्चात् ब्रज के विविध वैष्णव संप्रदायों की चेष्टा से ब्रज के अनेक बीहड़ वन-उपवन यात्रा करने योग्य बना दिये गये थे और अनेक प्राचीन लीला-स्थल खोज निकाले गये थे। उस काल में जो यात्राएँ की जाती थीं, वे उन सभी बन-उपबनों और लीला-स्थलों की होती थीं, जिन्हें पूरी करने में १८–२० दिन लग जाते थे। गोसाईं विट्ठलनाथ जी के उत्तर काल से औरंगज़ेब के आरंभिक काल तक ब्रज-यात्रा का वही क्रम प्रचलित रहा था। उसी के अनुसार सभी संप्रदायों के भक्तगण ब्रज-यात्रा किया करते थे।

---

(१) सोरह सै संवत बन्यौ, चौबीसा (१६२४) ससि बार।
भादों बदि की द्वादसी, बन कौ कियौ विचार ।।

(२) सं० १६२८ फागुन बदी ७ कों श्री गोकुल कौ बास किये हते। तब ता उपरांत भाद्रपद बदी १२ के दिन सैन आरती करिकै पाछैं श्री गोकुलनाथ जी कों संग लेकै समै के संकोच तें चले।

(३) वार्ता साहित्यः एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ १६५

(४) बन सब संपूरन किये, फिरि श्री गोकुल आय।
दिन ग्यारह चौबीस बन, कीने विट्ठलराय ।।

औरंगजेब की दमन-नीति का दुष्परिणाम—मुगल सम्राट औरंगजेब ने धर्मान्धता के वशीभूत होकर हिंदुओं के प्रायः सभी धार्मिक कार्यों पर रोक लगा दी थी। उसके फल स्वरूप ब्रज के वैष्णव संप्रदायों द्वारा ब्रज-यात्रा करना भी प्रायः बंद हो गया था। सं० १७१३ में एक बीकानेरी माहेश्वरी सेठ ने ब्रज की यात्रा की थी, जिसका लिखित विवरण श्री अगरचंद जी नाहटा द्वारा प्रकाशित हुआ है[1]। वह कदाचित ब्रज की अंतिम यात्रा थी। उसके बाद सं० १७२६ में औरंगजेब ने ब्रज के सभी मंदिर-देवालयों को नष्ट करा दिया था। उनकी देव-मूर्तियाँ ब्रज से बाहर ले जाई गई थीं। उसी काल में ब्रज-यात्रा भी बंद हो गई थी।

ब्रज--यात्रा का पुनः प्रचलन—मुगल साम्राज्य के पतन के उपरांत जब ब्रज में राजपूत, जाट और मरहठों का प्रभुत्व स्थापित हुआ; तब वैष्णव संप्रदायों की विविध धार्मिक प्रवृतियों के साथ ही साथ ब्रज–यात्रा का भी पुनः प्रचलन आरंभ हुआ था। बल्लभ संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि मथुरा के गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी (जन्म सं० १८०५) ने १९वीं शताब्दी में ब्रज-यात्रा को पुनः प्रचलित किया था। तब से अब तक यह यात्रा प्रति वर्ष होती आ रही है।

गोस्वामी पुरुषोत्तम जी ने यात्रा का नया क्रम निर्धारित किया था। उसके अनुसार ब्रज के सभी वन, उपवन और प्रमुख लीला–स्थलों की यात्रा की जाने लगी, जिसमें ५० दिन लगते थे। गो० पुरुषोत्तम जी के वंशज गो० ब्रजनाथ जी (सं० १९०३ से १९६०) ने उसी के अनुसार यात्रा कर इस विषय की एक पुस्तक भी लिखी थी, जो 'श्री ब्रज परिक्रमा' के नाम से उपलब्ध है।

उक्त गोस्वामी ब्रजनाथ जी के भतीजे और मथुरा के विख्यात सांस्कृतिक महापुरुष गो० गोपाललाल जी (जन्म सं० १९१७) ने यात्रा के क्रम में पुनः परिवर्तन किया था। उसके अनुसार यात्रा लगभग २५–२६ मुकामों पर ठहरती थी और उसे पूरी करने में प्रायः ४५ दिन लगते थे। यात्रा का वही क्रम अभी तक चल रहा है।

ब्रज–यात्रा संबंधी ग्रंथ––

ब्रज–यात्रा से संबंधित अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनसे यात्रा के आरंभ से अब तक के इतिहास और उसके स्वरूप का बोध होता है। यह बतलाया जा चुका है, वैष्णव धर्म का पुनरुद्धार और कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों का प्रादुर्भाव होने से पहिले मथुरामंडल अर्थात् ब्रजमंडल में दीर्घ काल तक जैन और बौद्ध धर्मों का प्रचार रहा था। उस काल में भी यात्रीगण इस भू-भाग की यात्रा करने को आते थे; किंतु उनका उद्देश्य जैन और बौद्ध धर्मों से संबंधित स्तूप, चैत्य, संघाराम प्रभृति उपासना स्थलों का दर्शनादि करना होता था।

चीनी यात्रियों के विवरण— विक्रम की ६ठी और ८वीं शताब्दियों में चीन देश के दो बौद्ध यात्री फाहियान और हुएनसांग भारत में बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने को आये थे। वे मथुरा भी गये थे। उन्होंने अपनी यात्राओं के विवरण चीनी भाषा में लिखे हैं, जिनका सारांश अंगरेजी आदि कई यूरोपीय भाषाओं में प्रकाशित हो चुका है। उनसे मथुरामंडल की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

---

(१) **ब्रज और ब्रज-यात्रा**, पृष्ठ ११४–११६

मथुरा कल्प—१४वीं शताव्दी के उत्तरार्ध में जैन धर्माचार्य जिनप्रभ सूरि जैन तीर्थों की यात्रा करते हुए मथुरा आये थे। उन्होंने प्राकृत भाषा में अपनी यात्रा का वृत्तांत लिखा है। उक्त ग्रंथ के अंतर्गत 'मथुरा कल्प' में मथुरा-यात्रा का उल्लेख किया गया है। इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १३७०–८० के लगभग है। ब्रज--यात्रा संबंधी यह सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है। इसका परिचयात्मक विवरण श्री अगरचंद जी नाहटा ने प्रकाशित कराया है[1]। जैनों का मथुरा से जो संबंध रहा है, उसका प्रधान रूप से वर्णन इस ग्रंथ में हुआ है; किंतु उसके साथ ही इसमें मथुरा मंडल के प्रसिद्ध स्थलों, बनों और लोकतीर्थों का भी नामोल्लेख किया गया है। इसमें मथुरामंडल के ५ स्थल, १२ बन और ५ लोकतीर्थ इस प्रकार बतलाये गये हैं—

५ स्थल—१. अर्क स्थल, २. नीर स्थल, ३. पद्म स्थल, ४. कुश स्थल, ५. महा स्थल।
१२ बन—१. लोहजंघ बन, २. मधु बन, ३. विल्व बन, ४. ताल बन, ५. कुमुद बन, ६ वृंदाबन, ७. भंडीर बन, ८. खदिर बन, ९. काम्यबन, १०. कोल बन, ११. बहुला बन, १२. महाबन।
५ लोकतीर्थ—१. विश्रांति तीर्थ, २. असिकुंड तीर्थ, ३. वैकुंठ तीर्थ, ४. कालिंजर तीर्थ, ५. चक्र तीर्थ।

श्री ब्रज-यात्रा खंड—कृष्णोपासक धर्माचार्यों में पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्री बल्लभाचार्यजी की यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने तीन बार समस्त देश की और छै बार ब्रज की यात्राएँ की थीं। उनकी देशव्यापी यात्राओं का उल्लेख "**श्री बल्लभ दिग्विजय**" नामक संस्कृत ग्रंथ में मिलता है। उक्त ग्रंथ की रचना गो० विठ्ठलनाथ जी के छटे पुत्र श्री यदुनाथ जी ने सं० १६५८ में की थी। इसी विषय का एक ग्रंथ गोसाईं जी के पंचम पुत्र श्री रघुनाथ जी के वंशज श्री गोबिंद जी के आदेशानुसार कन्हैयालाल शास्त्री ने भी बनाया था। उसके ब्रज-यात्रा खंड क ब्रजभाषा गद्यानुवाद श्री शंकरदयालु शास्त्री ने श्री देवकीनंदनाचार्य जी के आदेश से किया था। इसमें श्री बल्लभाचार्य जी की ब्रज–यात्रा का ब्रज-भाषा गद्य में विवरण मिलता है। यह ग्रंथ मुद्रित हो चुका है।

ब्रज-मथुरा प्रकाश—यह संस्कृत भाषा में निर्मित ग्रंथ की हस्त प्रति है, जो सं० १८९९ में लिपिबद्ध हुई है। इसमें ग्रंथ का दूसरा नाम '**मथुरा तीर्थ प्रवेश**' भी लिखा गया है। यह प्रति मथुरा निवासी बालमुकुंद चतुर्वेदी के पास है। इस ग्रंथ की अन्य प्रतियाँ कांकरौली विद्या-विभाग में और कामबन में भी हैं। इसमें विविध पुराणों के आधार पर मथुरा माहात्म्य तथा ब्रज-यात्रा विधान का वर्णन हुआ है। इसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उक्त ग्रंथ की रचना स्वयं श्री बल्लभाचार्य जी ने की थी; यद्यपि आचार्य जी के ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वह पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति श्री बल्लभाचार्य कृत मथुरा तीर्थ प्रकाशे बनयात्रा विधान निर्णयः समाप्तः समाप्तोयं ग्रंथ। मिती ज्येष्ठ शुदी ६ वृहस्पतिवारे संवत् १८९९ लिखितं नानिकराम गौड़ ब्राह्मण पठनार्थ तिवारी जी श्री जवाहर जी शुभमस्तु।"

---

(१) **ब्रज–यात्रा के कुछ प्राचीन विवरण,** (ब्रज और ब्रज-यात्रा, पृ० ११३)

ब्रज-यात्रा श्लोक—इस ग्रंथ की सं० १८८६ में लिखी हुई प्रति भी श्री बालमुकुंद चतुर्वेदी के पास है। इसमें १०॥ × ६॥ इंची आकार के ६५९ पृष्ठ हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें २०० के लगभग रंगीन चित्र भी हैं, जो राजपूती शैली के हैं। इसमें सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी की ब्रज-यात्राओं का उल्लेख हुआ है। श्री वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा का काल इसमें सं० १५५५ और दूसरी यात्रा का काल सं० १५६५ लिखा गया है; जब कि 'निज वार्ता' और 'घरू वार्ता' के आधार पर आचार्य जी की प्रथम यात्रा सं० १५४९ में हुई मानी जाती है।

श्री चैतन्य-चरितामृत—श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवन–लीलाओं का यह प्रसिद्ध और प्रामाणिक बंगला ग्रंथ है। इसकी रचना श्री कृष्णदास कविराज ने सं० १६३९ के लगभग ब्रज के राधाकुंड नामक स्थान में की थी। इसका ब्रजभाषा पद्यानुवाद सुबल श्याम ने सं० १७७५ के लगभग किया था। इस ग्रंथ के मध्यलीला खंड में अध्याय १६ वें से १८ वें तक में श्रीचैतन्य महाप्रभु की ब्रज–यात्रा का वर्णन है। उनकी वह यात्रा सं० १५७३ में हुई थी।

इस ग्रंथ से ज्ञात होता है, जब चैतन्य जी अपनी चिर इच्छित ब्रज–वृंदावन की यात्रा के लिए आये थे, तब सर्व प्रथम उन्होंने मथुरा आकर यहाँ के विश्रांत घाट पर स्नान किया था। उसके पश्चात् उन्होंने श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर केशव भगवान् के दर्शन किये और उनके समक्ष नृत्य-गान किया था। मथुरा में उन्होंने यमुना के २४ घाटों पर स्नान किया, तथा स्वयंभू, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, महाविद्या और गोकर्णादि देव-विग्रहों के दर्शन किये थे। उसके बाद उन्होंने मधुबन, तालबन, कुमुदबन, बहुलाबन की यात्रा की। उसी अवसर उन्होंने आरिट (अरिष्ट) गाँव में जा कर श्री राधाकुंड के विषय में पूछा, किंतु वहाँ का कोई व्यक्ति उसका पता नहीं बतला सका; क्यों कि वह प्राचीन तीर्थ लुप्त हो गया था। जब वे धान्य के दो खेतों के पास पहुँचे, तब उन्हें अंतर्दृष्टि से ज्ञात हुआ कि वही श्री राधाकुंड के प्राचीन स्थल हैं। उन्होंने उन खेतों के थोड़े जल से स्नान किया और वहाँ की रज को माथे पर चढ़ाया। इस प्रकार उन्होंने ब्रज के इस लुप्त तीर्थ का उद्धार किया था।

राधाकुंड से वे गोवर्धन गये थे। वहाँ मानसी गंगा में स्नान कर उन्होंने श्री गिरिराज जी तथा श्री हरिदेव जी को प्रणाम किया। वहाँ से वे आन्यौर गाँव गये, जहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि यवनों के आक्रमण की आशंका से ब्रजवासी गण श्रीनाथ गोपाल जी की देव-प्रतिमा को गांठोली गाँव में ले गये हैं। वे गोविंदकुंड में स्नान कर गांठोली चले गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने गोपाल जी के दर्शन किये और प्रेमपूर्वक नृत्य–कीर्तन किया।

आन्यौर से वे कामबन गये और वहाँ से नंदगाँव गये; जहाँ उन्होंने नंद-यशोदा और श्री कृष्ण की मूर्तियों के दर्शन किये। वहाँ से वे खदिरबन, शेषशायी, खेलबन और भांडीरबन गये। फिर यमुना पार कर वे भद्रबन, बेलबन, लोहबन, गोकुल–महाबन की यात्रा और वहाँ के लीला-स्थलों के दर्शनादि करते हुए मथुरा वापिस आ गये थे। मथुरा में लोगों की भीड़-भाड़ से बचने के लिए उन्होंने अक्रूर घाट पर निवास किया था।

अक्रूर घाट से वे एक दिन वृंदाबन गये। वहाँ पर उन्होंने कालियदह और प्रस्कंदन घाट पर स्नान किया। फिर द्वादशादित्य टीले होते हुए वे केशीघाट पहुँचे। वहाँ रासस्थल के

दर्शन कर वे प्रेमावेश में मूर्छित हो गये थे। सावधान होने पर वे प्रेमपूर्वक नृत्य-गान करने लगे। उन्होंने चीर घाट पर जाकर स्नान किया और वहाँ के एक इमली वृक्ष के नीचे बैठ कर भजन-कीर्तन किया। वे प्रति दिन अक्रूर घाट से वृंदाबन जाते थे और वहाँ दिन भर स्नान, भजन, कीर्तन कर सायंकाल अक्रूर घाट पर ही लौट आते थे। इस प्रकार वे ब्रज के प्रमुख बनों की यात्रा, तीर्थों में स्नान तथा मंदिर-देवालय और लीला-स्थलों के दर्शन कर सोरों होते हुए प्रयाग चले गये। वहाँ पर उन्होंने मकर स्नान किया था। श्री चैतन्य चरितामृत में इस प्रकार श्री चैतन्य देव की ब्रज-यात्रा का विस्तृत वर्णन किया गया है[१]।

ब्रज भक्ति विलास—यह ब्रज-यात्रा संबंधी सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्राचीन ग्रंथ है। इसमें १३ अध्याय हैं, जिनमें ब्रज के समस्त बन, उपबन, तीर्थ, लीला-स्थल, देव-स्थान, देवी-देवता, नगर, गाँव आदि के नाम उनके माहात्म्य और उनकी यात्रा-विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। इसे हिंदी टीका सहित बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। इस वृहत् ग्रंथ की रचना चैतन्य मत के विख्यात विद्वान श्री नारायण भट्ट जी ने सं० १६०९ में ब्रज के राधाकुंड नामक स्थान में की थी। इसका उल्लेख उक्त ग्रंथ की पुष्पिका में इस प्रकार हुआ है—

श्रीकुंडमास्थाय मनोहरस्थलं, नवोतरं षोड़श शच्च वत्सरे।
माहात्म्य पूर्व च परिक्रमं शुभं, ग्रंथः प्रपूर्णो ब्रजभक्तिनाम्॥

वृहत् ब्रज गुणोत्सव—श्री नारायण भट्ट जी द्वारा इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना किये जाने का संकेत "ब्रज भक्ति विलास" में मिलता है। उससे ज्ञात होता है, यह २६ हजार श्लोक परिमाण का विशाल ग्रंथ है, जिसमें ब्रज-यात्रा से संबंधित सभी विषयों का विशद वर्णन हुआ है। इसके संबंध में भट्ट जी ने लिखा है, जिस प्रकार हमने 'ब्रज भक्ति विलास' में ब्रज-यात्रा का कथन किया है, उसी प्रकार २६ हज़ार श्लोक वाले 'वृहत् ब्रज गुणोत्सव' ग्रंथ में भी किया है[२]। यह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

श्री गुसाईं जी की ब्रजयात्रा सं० १६०० की—गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपीनाथ जी के देहावसान के पश्चात् अपनी स्वतंत्र ब्रज-यात्रा सं १६०० में की थी। इसका श्री गोकुलनाथ जी द्वारा कथित विवरण ब्रजभाषा गद्य में लिखा हुआ उपलब्ध है, जो कई बार प्रकाशित हो चुका है। इसे श्री द्वारकादास परीख ने 'बल्लभीय सुधा" के ब्रज-यात्रा अंक (वर्ष ४, संख्या ३-४) में भी प्रकाशित किया था। इसके आरंभ में कहा गया है—"प्रथम ब्रज-यात्रा श्री गुसाईं जी करी, सो श्री गोकुलनाथ जी अपने सेवकन सों कहत हैं। संवत् १६०० भाद्रपद बदी १२ कों सैन आरती करे पाछैं श्री गुसाईं जी मथुरा पधारे, ब्रज परिक्रमा करिवे कों।"

इस ग्रंथ में ब्रज के १२ बनों, कतिपय उपबनों तथा अनेक लीलास्थलों की परिक्रमा का उल्लेख हुआ है। इसमें लीला स्थलों के माहात्म्य भी यथा स्थान संक्षिप्त रूप में लिखे गये हैं।

---

(१) **श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला खंड,** (परिच्छेद १७ और १८)

(२) **ब्रजभक्तिविलासाख्ये ब्रजयात्रा तथैव च।**
वृहत्व्रजगुणोत्साहे षड्विंशाख्य सहस्रके॥ (अध्याय ७, श्लोक ४)

इसी यात्रा के प्रसंग में श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने पुरोहित उजागर चौबे को एक वृत्ति-पत्र भी लिख कर दिया था, जो उक्त चौबे जी के वंशजों के पास है। उसमें लिखा है—"स्वस्ति श्रीमद् विट्ठल दीक्षितानां मथुरा क्षेत्रे तीर्थपुरोहित उजागर शर्मा माथुरोऽस्ति। वि० सं० १६००"

श्री गुसाईं जी की बन-यात्रा, सं० १६२४ की—श्री विट्ठलनाथ जी की इस यात्रा का उल्लेख कवि जगतनंद कृत ब्रजभाषा पद्यबद्ध रचना में हुआ है। इसके आरंभ में बतलाया गया है कि श्री विट्ठलनाथ जी ने सं० १६२४ में भादों बदी १२ सोमवार को बनयात्रा करने का विचार किया; अतः उन्होंने उसी दिन प्रातःकाल विश्रांत घाट से यात्रा का आरंभ किया था। वह यात्रा ११ दिन में पूरी हुई थी। उसका उल्लेख इस प्रकार है—

> **गोस्वामी बिट्ठलेश जू, दैवी जीव उद्धारि। कीने हैं बन-जातरा, भक्त संग सुखकारि।।**
> **सोरहसै संबत बन्यौ, चौबीसा ससि वार। भादों बदि की द्वादसी, बन कौ किया बिचार।।**
> **श्री गोकुल तें विजय किय, श्री मथुरा रहि रात। प्रात भई सु त्रयोदशी, न्हाये श्री विश्रांत।।**
> **बन सब संपूरन करे, फिरि श्री गोकुल आय। दिन ग्यारह चौबीस बन, कीने बिट्ठलराय।।**

कवि जगतनंद ने उक्त यात्रा-विवरण के अतिरिक्त दो पद्यबद्ध ब्रजभाषा रचनाएँ और भी की थीं, जिनके नाम "**ब्रज वस्तु वर्णन**" और "**ब्रज ग्राम वर्णन**" हैं। इन तीनों रचनाओं में ब्रज के बन-उपबन, लीलास्थल, देवी--देवता, मंदिर-देवालय, कुंड-सरोवर, घाट तथा गाँवों का नामोल्लेख किया है। जगतनंद का रचना-काल सं० १७२१ है। इस प्रकार श्री नारायणभट्ट जी के उपरांत कवि जगतनंद ने ही ब्रजमंडल के विस्तृत अनुसंधान का महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

श्री गुसाईं जी की यात्रा, सं० १६२८ की—इसका उल्लेख गो० हरिराय जी कृत "**दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता**" के अंतर्गत पीतांबरदास की वार्ता संख्या १६० में हुआ है। पीतांबरदास गोसाईं विट्ठलनाथ जी का खवास था और वह गोकुल में निवास करता था। उसकी वार्ता के प्रसंग २ में कहा गया है—

> **"पाछें एक समय पीतांबरदास कौ मनोरथ यह भयौ, जो ब्रजयात्रा करिये। सो श्री गुसाईं जी सों विनती कीनी। तब श्री गुसाईं जी आप कहे, जो हम हू ब्रजयात्रा करिवे कों चलेंगे, तब तुम हू चलियो। ......सं० १६२८ फागुन बदी ८ को श्री गोकुल कौ बास किये हते। तब ता उपरांत भाद्रपद वदि १२ के दिन सैन आरती करिकें पाछें श्री गोकुलनाथ जी कों संग लेके समै देखिके संकोच तें चले[1]।"**

वह यात्रा भाद्रपद कृ० १३ को आरंभ हुई थी और भाद्रपद शु० ७ को समाप्त हुई थी। इस प्रकार पूर्व यात्रा की भाँति यह भी १०-११ दिन में ही पूरी हुई थी तथा २४ बन-उपबनों और अनेक लीला-स्थलों में होकर गई थी। उस यात्रा में वृंदावन की परिक्रमा सब के अंत में मथुरा आने के बाद की गई थी।

बीकानेरी यात्रा--विवरण—बीकानेर के एक माहेश्वरी भक्त ने सं० १७१३ में ब्रज-यात्रा की थी; जिसका बीकानेरी भाषा में लिखा हुआ विवरण अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के एक हस्त-

---

(१) **दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता (कांकरौली)**, तृतीय खंड, पृ० ८१

लिखित गुटके में संगृहीत है। उसे श्री अगरचंद जी नाहटा ने प्रकाशित किया है[1]। वह यात्रा सं० १४१३ की आश्विन शु० १३ को आरंभ हुई थी। उक्त यात्री ने मथुरा और गोबर्धन के तत्कालीन देवस्थानों का नमोल्लेख करते हुए मथुरा स्थित श्री केशवराय जी तथा गोबर्धन स्थित श्रीनाथ जी के मंदिरों का महत्वपूर्ण वृत्तांत लिखा है। उसका यात्रा–विवरण औरंगजेब द्वारा ब्रज के मंदिरों का ध्वंस कराये जाने से १३ वर्ष पूर्व का है, अतः इसका ऐतिहासिक महत्व है।

औरंगजेब के शासन–काल में उसकी हिंदू विरोधी नीति के कारण सं०१७२६ में ब्रज-यात्रा बंद हो गई थी। कालांतर में जब मुगल शासकों की नीति में परिवर्तन हुआ, तब श्रद्धालु भक्त जन व्यक्तिगत रूप से ब्रज--यात्रा करने लगे। उसे पूर्ववत् सामूहिक रूप से मथुरा के बल्लभ संप्रदायी गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी (जन्म सं० १८०५) ने आरंभ किया था। उक्त गोस्वामी जी कृत "ख्याल" नामक लोकगीत ब्रज में प्रसिद्ध हैं।

श्री वृंदाबन धामानुरागावली—इस ग्रंथ का दूसरा नाम **'चक्र बेधी परिक्रमा'** भी है। इसका रचयिता गोपालदास उपनाम 'गोपाल कवि' वृंदाबन का रहने वाला ब्रह्मभट्ट था। उसने इस ग्रंथ को सं० १९००में लिखा था। यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ वृंदाबन के ग्रंथ-भंडारों में सुरक्षित हैं। स्वयं लेखक के हाथ की लिखी हुई एक सुंदर और शुद्ध प्रति वृंदाबनस्थ गो० राधाचरणजी के पुस्तकालय में है। इसमें छोटी साँची के ३०४ पृष्ठ हैं और वह ४० अध्यायों में पूरी हुई हैं। इस ग्रंथ में वृंदावन की चक्रबेधी परिक्रमा का कविताबद्ध वर्णन करते हुए मार्ग में स्थित समस्त दर्शनीय स्थल, मंदिर, मठ, देवालय, देव--विग्रह, संत--महात्मा और विशिष्ट व्यक्तियों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है।

ब्रज--परिक्रमा—इस ग्रंथ के रचयिता ब्रज-यात्रा के पुनः आरंभ करने वाले गो० पुरुपोत्तम जी के वंशज गो० ब्रजनाथ जी हैं। उन्होंने ब्रज-यात्रा करने के उपरांत उसका विवरण लिखा था। उनका काल सं० १९०३ से १९६० तक है, अतः उनकी यात्रा और इस ग्रंथ का समय सं० १९४० के लगभग अनुमानित होता है। इसमें तिथि--क्रम से ब्रज-यात्रा का वर्णन किया गया है। यात्रा का आरंभ भादों शु० १२ से किया है और उसकी समाप्ति कातिक बदी १४ को हुई है। इस प्रकार इस यात्रा की अवधि लगभग ५० दिन है।

श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव—इस पद्यतमक ग्रंथ का रचयिता बुंदेलखंडी कवि प्रतीतिराय लक्ष्मणसिंह है, जो दतिया के राजा भवानीसिंह का आश्रित था। उक्त दतिया नरेश ने सं० १९४७ में ब्रज की यात्रा की थी। उसके साथ उसका आश्रित कवि प्रतीतिराय लक्ष्मणसिंह भी था। उसने उक्त यात्रा का आँखों देखा विवरण उक्त ग्रंथ में लिखा है, जिसका रचना–काल सं० १९४८ है। यह ५६४२ श्लोक परिमाण का वृहत ग्रंथ है। इसमें ब्रज--यात्रा से संबंधित सामग्री प्रचुर परिमाण में है, जिसका ऐतिहासिक महत्व है। यह ग्रंथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छप कर प्रकाशित हुआ था, किंतु आजकल वह अप्राप्य है।

उक्त ग्रंथों के अतिरक्ति ब्रज-यात्रा के और भी कई छोटे-बड़े ग्रंथ समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं, किंतु वे सब पुरानी शैली के हैं। उनमें से अधिकांश इस समय उपलब्ध भी नहीं हैं।

---

(१) **ब्रज और ब्रज–यात्रा**, पृ० ११४–११९

ब्रज-यात्रा किंवा बन-यात्रा—

साधारणतया ब्रज-यात्रा और बन-यात्रा समानार्थक शब्द हैं। कारण यह है, ब्रज स्थित गाँवों का पर्यटन करने के लिए ब्रज के अनेक बनों में होकर जाना पड़ता है। इसी प्रकार बनों की परिक्रमा करने के लिए ब्रज के अनेक गाँवों का पर्यटन भी हो जाता है। वर्तमान काल में ब्रज-यात्रा को बन-यात्रा भी कहते हैं; किंतु श्री नारायणभट्ट जी ने इन दोनों के आकार-प्रकार का निश्चय कर उनके भेद का भी स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने बतलाया है—

ब्रज--यात्रा—ब्रज के गाँवों का विधिपूर्वक पर्यटन और लीला-स्थलों के दर्शन को 'ब्रज-यात्रा' कहते हैं। इसका परिमाण ३३६ कोस का है। इसे चातुर्मास्य में अर्थात् वैशाख कृ० १ से श्रावण शु० १५ तक करनी चाहिए। इस प्रकार प्रति दिन ढाई कोस का भ्रमण करने से परिश्रम नहीं होता है। यात्रा की समाप्ति पर रक्षा-बंधन और तर्पणादि करना चाहिए[1]।

बन--यात्रा—ब्रज ८४ कोस के बन-उपवनों की विधिपूर्वक परिक्रमा को 'बन-यात्रा' कहा जाता है। 'विष्णुयामल' ग्रंथ में इसे २३ दिन में पूरी करने का विधान है। भाद्रपद कृ० ८ (श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी) से भाद्रपद शु० १५ तक इसे करना चाहिए[2]।

'भविष्योत्तर' में बतलाया गया है कि पापों से मुक्त होने के लिए पहिले ब्रज-यात्रा करे; उसके उपरांत सर्वार्थ सिद्धि के लिए बन-यात्रा करनी चाहिए,—"**आदौ तु व्रज यात्रां च कुर्यात्पाप विमुक्तये। ततस्तु बनयात्रां च कुर्य्यात्सर्वार्थ सिद्धये।।**" यात्रा में क्रम-भंग कभी नहीं करना चाहिए। क्रम-भंग होने से अपराध है और उससे पुण्यों का नाश होता है[3]। भाद्रपद मास में जो यात्रा की जाती है, वह संपूर्ण फल देने वाली होती है। इसी को कार्तिक और मार्गशीर्ष में करने से आधा फल मिलता है[4]।

यात्रा के बन-उपबन—ब्रज के जिन बन-उपबनों की यात्रा की जाती है; उनके नाम और विवरण विविध पुराणों में मिलते हैं। उनमें से १२ बन और २४ उपबन अधिक प्रसिद्ध हैं; जिनका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है[5]। जैसा पहिले लिख चुके हैं; इन बन-उपबनों में से अधिकांश के नाम ही शेष रह गये हैं। वर्तमान काल में उनका बन्य स्वरूप समाप्त प्राय हो गया है और उनके स्थानों पर उन्हीं नाम की बस्तियाँ बस गई हैं। ये सब तथाकथित बन-उपबन ब्रज-यात्रा के मार्ग में पड़ते हैं।

ब्रज–यात्रा के प्रकार—

ब्रज–यात्रा या ब्रज–प्रदक्षिणा कई प्रकार की हैं। ब्रज की एक छोटी यात्रा '**पंचतीर्थी**' कहलाती है। यह श्रावण मास की पंचमी को प्रारंभ होती है और मधुबनादि पाँच तीर्थों की पाँच दिनों में की जाती है। दूसरी यात्रा को '**रामदल**' कहते हैं। इसे रामानंदी, चैतन्य और निंबार्कादि

---

(१) **ब्रज भक्ति विलास**, पृ० १७६
(२) वही , पृ० १७७
(३) वही , पृ० १७७
(४) वही , पृ० १८०
(५) **देखिये, इस ग्रंथ के पृष्ठ ३९ से ४२ तक**

संप्रदायों के भक्त गण भाद्रपद कृ० १० को वृंदाबन से आरंभ करते हैं और समस्त यात्रा १५–१६ दिनों में पूरी हो जाती है। यह यात्रा अत्यंत द्रुत गति से की जाती है; इसीलिए लोक में इसे **'लठामार-यात्रा'** भी कहते हैं। इस में अधिकतर साधु–संत ही भाग लेते हैं। तीसरी यात्रा वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामियों द्वारा भाद्रपद शु० ११ को मथुरा से आरंभ होती है और प्रायः ४० दिनों में पूरी की जाती है। यही मुख्य यात्रा है और इसे **'बड़ी यात्रा'** भी कहते हैं। इसका विस्तार पूर्वक विवरण हम आगे लिखेंगे।

प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा—पूर्वोक्त यात्राओं के अतिरिक्त ब्रज के सभी लीला-स्थलों की स्थानीय प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा भी होती हैं, जो विविध तिथियों अथवा अवसरों पर की जाती हैं। इनमें मथुरा, गोवर्धन और वृंदाबन की परिक्रमाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। ये परिक्रमाएँ साधारणतया प्रत्येक माह की एकादशी और पूर्णमासी को तथा पुरुषोत्तम मास में प्रति दिन की जाती हैं। विशेष परिक्रमाओं के विशेष दिन भी नियत हैं। मथुरा की विशेष परिक्रमाएँ वर्ष में चार बार—१. वैशाख पूर्णिमा (बन विहार), २. आषाढ़ शु० ११ (देवशयनी एकादशी), ३. कार्तिक शु० ९ (अक्षय नवमी) और ४. कार्तिक शु० ११ (प्रबोधिनी या देवोत्थापनी एकादशी) को की जाती हैं। गोबर्धन–राधाकुंड की विशेष परिक्रमा आषाढ़ शु० १५ (व्यास पूर्णिमा या मुड़िया पूनौ) को होती है।

प्रदक्षिणा परिमाण—जिन लीला–स्थानों की स्थानीय प्रदक्षिणाएँ की जाती हैं, उनका परिमाण उनकी भौगोलिक सीमाओं के अनुसार न्यूनाधिक होता है। श्री नारायण भट्ट जी ने ब्रज के समस्त लीला–स्थानों की प्रदक्षिणाओं के परिमाण निश्चित किये हैं[1]। हम यहाँ पर कुछ अत्यंत प्रसिद्ध स्थानों के परिमाण ही दे रहे हैं—

१. मथुरा	५ कोस
२. मथुरामंडल (मथुरा, गरुणगोविंद और वृंदाबन)	९ कोस
३. गोबर्धन–राधाकुंड	७ कोस
४. वृंदाबन	५ कोस
५. नंदगाँव	२ कोस
६. बरसाना	२ कोस
७. कामबन	७ कोस
८. गोकुल	३ कोस
९. बलदेव	२½ कोस
१०. मधुबन	१½ कोस
११. तालबन	¾ कोस
१२. कुमुदवन	½ कोस
१३. बहुलाबन	२ कोस
१४. भांडीरवन	२ कोस
१५. लोहवन	१½ कोस

---

[1] **(१) ब्रज भक्ति विलास,** पृ० ४०–४२

दंडौती परिक्रमा—पैदल परिक्रमाओं के अतिरिक्त ब्रज में दंडौती परिक्रमा भी की जाती है। इसे अधिक श्रद्धालु जन साष्टांग दंडवत करते हुए पूर्ण करते हैं। इसमें पर्याप्त समय लगता है और बहुत श्रम करना पड़ता है। इस परिक्रमा की भी ब्रज में पुरानी परंपरा मिलती है। नाभा जी कृत 'भक्तमाल' (छप्पय सं० १०३) में केशव जी नामक एक भक्त जन का उल्लेख हुआ है। वे प्रति दिन गोवर्धन में गिरिराज की दंडौती परिक्रमा किया करते थे। उनकी उस प्रवृत्ति के कारण उनका नाम ही 'केशव जी दंडौती' पड़ गया था। इस समय भी दंडौती परिक्रमा अधिकतर गोवर्धन में होती है और इसे विशेष रूप से पुरुषोत्तम (अधिक) मास में किया जाता है। कुछ साधु-संत १०८ दंडौती परिक्रमा करते हैं। वे १०८ बार दंडवत प्रणाम करते हुए एक-एक क़दम आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार वे २-३ वर्ष में एक बार की '१०८ दंडौती परिक्रमा' पूरी कर पाते हैं।

बड़ी यात्रा—

इस यात्रा का आयोजन प्रति वर्ष बल्लभ संप्रदाय के गोस्वामियों द्वारा किया जाता है। इसमें श्रद्धालु नर-नारी गण बड़ी संख्या में भाग लेते हैं; इसीलिए इसे **'बड़ी यात्रा'** कहते हैं। यह यात्रा यथोचित प्रबंध और पूरे सरंजाम के साथ की जाती है। यात्री गण यात्रा की तिथि से प्रायः एक सप्ताह पूर्व ब्रज में आ जाते हैं। वे मथुरा की धर्मशालाओं में अथवा अपने पंडों के घरों में ठहरते हैं। कुछ यात्री गोकुल-वृंदावन में भी जाकर ठहरा करते हैं। बल्लभ संप्रदाय के जिन गोस्वामी जी की अध्यक्षता में यात्रा उठती है, वे भी बहू-बेटियों, संगी-साथियों और शिष्य-सेवकों के साथ यात्रा-तिथि से दो-एक दिन पहिले ही आकर प्रबंध व्यवस्था की देख-भाल करते हैं।

यात्रा की तैयारी—यात्रा का आवश्यक सामान जैसे डेरा, तंबू, छोलदारी, पाल, कनात, चटाई, पट्टा, डंडा, डोलची, बर्तन, औषध आदि को मथुरा में ही खरीद लिया जाता है। वहीं पर सामान आदि ले जाने के लिए बैलगाड़ी और सेवकों की भी व्यवस्था कर ली जाती है। इस प्रकार यात्रा के प्रस्थान-काल से पूर्व मथुरा में कई दिनों तक बड़ी चहल-पहल और भीड़-भाड़ रहती है।

प्रबंध व्यवस्था—यात्रा-काल में यात्रा की प्रबंध समिति की ओर से सफाई, रोशनी और खाद्य की उपलब्धि की समुचित व्यवस्था की जाती है। औषधालय, डाकखाना, पुलिस का पूरा प्रबंध रहता है। यात्रा के मुकामों पर खाद्य वस्तुओं की बिक्री के लिए बाज़ार तथा शयन-विश्रामादि के लिए डेरे-शामियानों की यथोचित व्यवस्था रहती है। स्थान-स्थान पर कथा-कीर्तन, उपदेश-प्रवचन और रासादि धार्मिक कृत्य होते रहते हैं, जिनके कारण यात्रा का समस्त वातावरण पूर्णतया धार्मिक और भक्तिपूर्ण बना रहता है।

जहाँ यात्रा ठहरती है, वहाँ एक अस्थायी उपनगर सा बस जाता है। विशाल मैदान में यात्रियों के तम्बू-डेरे लग जाते हैं। उनके बीच में गोस्वामी जी का सुंदर शामियाना लगता है। उसके आगे उपदेश, प्रवचन, सभा, रास-लीला, कीर्तन-भजन आदि कार्यक्रमों के लिए खुला मैदान छोड़ दिया जाता है। यात्रा के एक ओर बाजार लगता है, जिसमें यात्रियों की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर बिकती हैं। रात्रि में चौकी-पहरे की पूरी व्यवस्था होती है, ताकि यात्रियों के किसी सामान की चोरी न हो जाय। यात्रा के साथ लाउडस्पीकरों का पूरा प्रबंध रहता है;

जिसके कारण उपदेश, प्रवचन, रास आदि के कार्य-क्रमों तथा व्यवस्था संबंधी सूचनाओं और महत्व-पूर्ण घोषणाओं को सुनने की सुविधा रहती है। यदि कोई यात्री किसी अन्य यात्री को संदेश पहुँचाना चाहे, तो वह भी इसका उपयोग कर सकता है। इस प्रकार यात्रियों को सुख-सुविधा पहुँचाने की भरसक चेष्टा की जाती है; किंतु फिर भी उन्हें भौतिक और दैविक आपत्तियों के कष्टों को सहन करना ही पड़ता है। उनके लिए वे पहिले से तैयार होकर भी आते हैं। यात्रा आरंभ करने से पहिले पुष्टिमार्गीय वैष्णव प्रायः गोकुल जाते हैं। वे वहाँ पर ठकुरानी घाट पर स्थित सर्वश्री आचार्य जी और गोसाईं जी की बैठकों पर चरण-स्पर्श करते हुए ब्रज–यात्रा के लिए आज्ञा प्राप्त करते हैं। फिर वे मथुरा आकर यात्रा का नियम लेते हैं।

नियम—मथुरा में भाद्रपद शु० ११ को विश्राम घाट स्थित श्री आचार्य जी की बैठक के सन्मुख यात्रा का 'नियम' लिया जाता है। यह एक सांप्रदायिक अनुष्ठान है, जिसे यात्रा आरंभ करने से पूर्व किया जाता है। इसका यह अभिप्राय है कि यात्रीगण यात्रा के कतिपय नियमों को पालन करने का व्रत लेते हैं और उन्हें भंग न करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इन नियमों का पालन करने से ही यात्रा के पूरे पुण्य प्राप्त होने की आशा की जाती है। वे नियम प्रायः इस प्रकार हैं—

१. यात्री को प्रातःकाल शौच, दाँतुन–कुल्ला और स्नानादि कर तथा शुद्ध वस्त्र पहिन कर यात्रा करनी चाहिए। रात का पहना हुआ अथवा मलीन वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए।

२. यात्रा नंगे पाँव करनी चाहिए। चर्म के जूता–चप्पल पहिन कर अथवा सवारी पर चढ़ कर यात्रा करने का निषेध है। वृद्ध और असमर्थ नर-नारी कपड़े के जूते पहिन सकते हैं।

३. यात्रा काल में क्षौर कर्म और तेल मालिश नहीं करनी चाहिए। उस समय भूमि पर शयन करना चाहिए और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए।

४. असत्य और आवेशपूर्ण भाषण तथा अशिष्ट आचरण नहीं करना चाहिए।

५. यात्रा मार्ग में स्थित तीर्थों और देव-स्थानों का परित्याग नहीं करना चाहिए। तीर्थों, कुंड–सरोवरों पर आचमन, स्नानादि और देव-स्थानों या मंदिरों में मूर्तियों आदि के दर्शन, पूजादि अवश्य करना चाहिए।

६. मार्ग के वृक्ष, लता, गुल्म आदि को क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए तथा गौ, पशु, पक्षी आदि किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना चाहिए।

७. यात्रा दिन में करनी चाहिए, रात्रि में नहीं।

८. यात्रा धीरे-धीरे करनी चाहिए। इस प्रकार पैर रखने चाहिए, जिससे यथासंभव जीव–हिंसा न हो।

९. यात्रा-काल में एक बार सात्विक भोजन करना चाहिए। भोजन में उच्छिष्ट, तामसी और आमिष वस्तुओं का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

१०. यदि कोई व्यक्ति किसी स्थान पर रोगी अथवा सूतकी हो जाय, तो उसे उसी स्थान पर अपनी यात्रा स्थगित कर देनी चाहिए। फिर रोग से मुक्ति और सूतक से निवृत्ति होने पर ही उसे पुनः यात्रा आरंभ करनी चाहिए। रजस्वला स्त्री को भी यात्रा स्थगित कर पुनः शुद्ध होने पर यात्रा करना उचित है।

११. यात्रा शक्ति के अनुसार करनी चाहिए, ताकि शरीर को अधिक कष्ट न हो।

अंतरगृही परिक्रमा—मथुरा के विश्रामघाट पर नियम लेने के उपरांत दूसरे दिन वामन द्वादशी (भाद्रपद शु० १२) को प्रातःकाल मथुरा की अंतरगृही परिक्रमा करने की परंपरा है। कभी-कभी नियम लेने के दिन ही इसे किया जाता है। इस परिक्रमा में यात्री गण मथुरा नगर के प्रसिद्ध और प्राचीन देव-स्थानों का दर्शन करते हैं। सर्व प्रथम विश्रामघाट स्थित श्री यमुनाजी और आचार्य जी की बैठक के दर्शन करने के अनंतर ठाकुर श्री मदनमोहन जी, श्री दाऊजी और छोटे मदनमोहन जी के दर्शन किये जाते हैं। उसके बाद यात्री गण तुलसी चबूतरा स्थित सतघरा में श्रीनाथ जी की बैठक के दर्शन करने को जाते हैं। वहाँ वे दूध-भोग की सेवा करते हैं। उसके पश्चात् आदि वराह, पद्मनाभ, मथुरा देवी, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, केशवदेव, गोवर्धननाथ, द्वारकाधीश, गतश्रम नारायण आदि प्रसिद्ध देवी-देवताओं के दर्शन करते हुए यह परिक्रमा की जाती है।

इस परिक्रमा को करने के पश्चात् यात्री गण ब्रज-यात्रा की तैयारी करते हैं। यात्रा के साथ सभी मुकामों पर रास-लीला का आयोजन होता है। सर्व प्रथम मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्म और कंस-वध की लीलाएँ होती हैं, जिन्हें यात्री गण रात्रि के समय देखते हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल यात्रा मथुरा से प्रस्थान करती है।

१—मधुबन (यात्रा का प्रथम मुकाम) भाद्रपद शु० १३—

मथुरा से चल कर यात्रा का पहिला मुकाम या पड़ाव मधुबन में होता है। मुकाम पर पहुँच कर यात्री गण आेर-पास के लीला-स्थलों और तीर्थों के दर्शन-स्नानादि करते हैं और फिर मुकाम पर ही वापिस आ जाते हैं। इस मुकाम के प्रमुख लीला-स्थलों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मधुबन—यह मथुरामंडल का अत्यंत प्राचीन स्थान है, जो वर्तमान मथुरा नगर से प्रायः ५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर है। ब्रज के १२ बनों में इसकी गणाना प्रथम की जाती है; किंतु इस समय बन के स्थान पर एक छोटी कदमखंडी ही शेष रह गई है। इसके पास ही महोली नाम का एक छोटा सा गाँव है। ऐसा कहा जाता है, आदि कालीन मथुरा इसी के निकट बसी हुई थी। इसके प्राचीन महत्व के संबंध में कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से चार अधिक प्रसिद्ध हैं—

१. विष्णु भगवान् ने इसी स्थान पर मधुकैटभ का संहार कर मधुसूदन नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

२. राजा उत्तानपाद के बालक पुत्र ध्रुव ने इसी स्थान पर तपस्या की थी।

३. त्रेता युग में मधु दैत्य इस बन का शासक था, जिसके पुत्र लवण का संहार शत्रुघ्न जी ने किया था।

४. द्वापर युग में श्री कृष्ण ने इस बन में गायें चराई थीं।

अत्यंत प्राचीन काल में शत्रुघ्न ने मधुबन के एक भाग को साफ कर यहाँ प्राचीन मथुरा की स्थापना की थी। बाल्मीकि रामायण और विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि लवण को मारने के उपरांत शत्रुघ्न ने जिस पुरी की स्थापना की थी, उसका नाम पहिले 'मधुरा' रखा गया था; फिर कालांतर में उसे 'मथुरा' कहा जाने लगा। यह मधुरा अर्थात् मथुरा पुरी यमुना नदी के तट पर बसाई गई थी। वर्तमान मधुबन यमुना नदी से बहुत दूर है। इससे समझा जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल में यमुना का प्रवाह वर्तमान मधुबन के निकट था।

वर्तमान मधुवन में मधुकुंड नामक एक तालाब है, जिसे कृष्णकुंड भी कहते हैं। इसके पास के मंदिर में मधुबनिया ठाकुर श्री चतुर्भुज जी कृष्ण और दाऊ जी के देव-विग्रह हैं। उनके निकट श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक है। इनके अतिरिक्त ध्रुव जी का मंदिर और लवणासुर की गुफा भी दर्शनीय है। यहाँ पर भाद्रपद कृ० ११ को प्रति वर्ष मेला होता है। उसी दिन मधुवन की परिक्रमा भी की जाती है, जिसका परिमाण डेढ़ कोस है। मधुबन से यात्रा तालबन और कुमुदवन जाती है।

तालबन—ब्रज के बारह बनों में तालबन का स्थान दूसरा है। प्राचीन काल में यह ताल वृक्षों का एक बड़ा बन था। भागवत में लिखा है, श्री कृष्ण-बलराम के साथी गोप-बालक उस बन में ताल के फलों को खाने के लिए गये थे। उस बन का रक्षक धेनुकासुर था, जो गधे के रूप में वहाँ रहता था। बलराम ने उस असुर का संहार किया था। कालांतर में वह बन उजड़ गया और शताब्दियों के पश्चात् वहाँ तारसी नामक एक गाँव बस गया। श्री ग्राउस ने लिखा है, इस गाँव को सतोहा के कछवाहा राजपूत तारासिंह ने बसाया था। यहाँ पर बलराम जी का मंदिर है और उसके निकट बलभद्र कुंड है। किसी समय यहाँ एक खाई थी, जिसका अधिकांश भाग अब भर गया है भाद्रपद कृ० ११ को यहाँ की स्थानीय परिक्रमा होती है, जिसका परिमाण पौन कोस है।

कुमुदबन—ब्रज के बारह बनों में यह तीसरा बन है। प्राचीन काल में यहाँ के कुंड-सरोवरों में कुमुद पुष्पों की बहुलता होगी, जिससे इसका नाम कुमुदबन पड़ा है। इस समय यहाँ पर एक कच्चा तालाब है, जिसे बिहारकुंड या कृष्णकुंड कहते हैं। उसके किनारे श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक है और उसके निकट श्री कपिलमुनि का स्थान है। भाद्रपद कृ० ११ को यहाँ स्थानीय परिक्रमा होती है, जिसका परिमाण आधा कोस है। इस स्थान से यात्रा पुनः मधुबन आ जाती है। और रात्रि में वहाँ विश्राम कर दूसरे दिन प्रातः सतोहा (शांतनुकुंड) को चली जाती है।

२–सतोहा-शांतनुकुंड (यात्रा का दूसरा मुकाम) भाद्रपद शु० १४, १५—

सतोहा—यह स्थान मथुरा-गोवर्धन सड़क पर मथुरा से प्रायः ३ मील पर है। यहाँ शांतनुकुंड नामक एक बड़ा तालाब है, जिसके दोनों तरफ पक्के घाट बने हुए हैं। इसे शांतनु राजा का स्थान कहा जाता है। शांतनुकुंड के बीच में एक ऊँचे टीले पर श्री शांतनुबिहारी जी का मंदिर है। श्रद्धालु जनों की मान्यता है कि शांतनुकुंड में श्रद्धापूर्वक स्नान कर शांतनुबिहारी जी के दर्शन करने से संतानहीनों को भी संतान की प्राप्ति होती है। यहाँ पर भाद्रपद शु० ६ को मेला होता है। यहाँ से यात्रा गोवर्धन की सड़क को छोड़ती हुई उत्तर दिशा की ओर जाती है और बहुलावन में पहुँच कर पड़ाव डालती है।

३–बहुलावन (यात्रा का तीसरा मुकाम) आश्विन कृ० १, २—

बहुलाबन—यह ब्रज के बारह बनों में चौथा बन है। इस स्थान का नाम बहुला गाय की पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर पड़ा है। पद्मपुराण में उक्त गाय की कथा लिखी गई है। उसमें बतलाया है, धर्म ने सिंह का रूप धारण कर बहुला गाय के सत्य की परीक्षा की थी। उस परीक्षा में सफल होने से उसे धर्म ने वरदान दिया था। यह वन उसी घटना का प्राचीन स्थल कहा जाता है। उक्त घटना की स्मृति में यहाँ पर बहुला गाय का एक छोटा सा मंदिर बनाया गया है। यहाँ कृष्णकुंड नामक एक तालाब है, जिसके एक ओर पक्के घाट बने हुए हैं। कुंड के आस-पास

पुराने विशाल वृक्षों की पंक्ति है। यह स्थान कुछ नीचा है। अधिक वर्षा होने से इसके चारों ओर पानी भर जाता है, जिससे यात्रियों को कष्ट होता है। वैसे यह स्थान बड़ा रमणीक है।

इस समय बहुलावन के स्थान पर बाटी नामक गाँव बसा हुआ है, जो मथुरा से प्रायः साड़े तीन कोस पर है। गाँव के पूर्व में बलराम कुंड, दक्षिण में मानसरोवर और मध्य में श्री-लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर है। यह मंदिर श्री संप्रदाय का है, जिसका एक महंत भरतपुर के राजा का गुरु था। उसे राज्य की ओर से यह गाँव माफी में मिला था। कुंड के निकटवर्ती एक वृक्ष के नीचे श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक है। भाद्रपद कृ० १२ को स्थानीय परिक्रमा होती है, जिसका परिमाण प्रायः दो कोस है।

शांतनुकुंड से बहुलाबन जाने वाने वाले मार्ग में गणेशरा, दतिया और फेंचरी आदि स्थान पड़ते हैं। ब्रज के इस भाग में किसी समय गंधर्व, यक्ष और दैत्यों की बस्तियाँ थीं। गणेशरा को गंधेश्वरा भी कहा जाता है। यहाँ पर श्री कृष्ण और उनके सखाओं द्वारा गंध द्रव्य धारण करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इसके निकट गंधर्वकुंड नामक एक तालाब है। दतिया या दतिहा में श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल के भाई दंतवक्र के वध किये जाने की किंवदंती प्रचलित है। फेंचरी को पूतना का स्थान कहा जाता है। बहुलावन से यात्रा लंबा मार्ग तय करती हुई राधाकुंड क्षेत्र के कुसुम सरोवर पर पहुँच कर मुकाम करती है। मार्ग में तोष और जखनगाँव नामक लीला-स्थल पड़ते हैं। तोष गाँव में श्री राधारमण जी और श्री गोपाल जी के मंदिर हैं और तोष कुंड है। जखनगाँव के नाम से जान पड़ता है, यहाँ किसी काल में यक्षों की बस्ती थी। जखनगाँव से कुछ दूर मथुरा–गोवर्धन सड़क पर अड़ीग गाँव है। यह प्राचीन स्थान है। इसके एक ऊंचे टीले पर गढ़ी के अवशेष हैं। उस गढ़ी को भरतपुर के राजा सूरजमल के एक सामंत फुंदाराम जाट ने बनवाया था। अड़ींग के उत्तर–पश्चिम में किलोल कुंड है और यहाँ तीन छोटे मंदिर हैं।

४–राधाकुंड–कुसुमसरोवर (यात्रा का चौथा मुकाम) आश्विन कृ० ३––

राधाकुंड–यह ब्रज का प्रसिद्ध लीला-स्थल है, जो गोवर्धन से ४ मील उत्तर की ओर पक्की सड़क पर स्थित है। वर्तमान काल में यह एक छोटा कस्बा है। इसमें दो पक्के जुड़वाँ सरोवर हैं, जो राधाकुंड और कृष्णकुंड कहलाते हैं। इसकी पूर्व दिशा में स्थित बन को अरिष्ट बन कहा गया है, जो अरिट या अरिष्ट गाँव तक फैला हुआ था। उक्त बन में कंस के सामंत अरिष्ट का निवास था। श्री कृष्ण ने अरिष्ट को मार कर जिस जलाशय में स्नान किया था, उसी स्थान पर राधाकुंड और कृष्णकुंड बने हुए हैं। अरिष्ट बन में किसी समय बंदरों का बाहुल्य था, जिसका उल्लेख नारायण भट्ट जी ने किया है[1]।

इस पुण्य स्थल का प्राकट्य श्री चैतन्य महाप्रभु ने सं० १५७३ में किया था। उससे पूर्व वह प्राचीन तीर्थ लुप्त हो चुका था और उसके स्थान पर धान्य के खेत बन गये थे। उन्होंने लोगों से तीर्थ के विषय में पूछ–ताछ की, किंतु कोई उसका पता नहीं बतला सका। तब उन्होंने धान्य के दो खेतों को देख कर निश्चय किया कि वही राधाकुंड और कृष्णकुंड के प्राचीन स्थल हैं। उन्होंने उन खेतों से थोड़ा जल लेकर स्नान किया और फिर वे राधाकुंड का स्तवन करने लगे। उनका

---

(१) **यदरिष्ट बनं नाम बहु बानर संकुलम्** (ब्रज भक्ति विलास, पृ० ८३)

वह अद्भुत आचरण देख कर ग्रामवासियों को बड़ा विस्मय हुआ। तब उन्होंने उसका महत्व बतलाते हुए कहा था कि यह वही कुंड है, जहाँ श्री कृष्ण नित्य प्रति श्री राधा जी के साथ जल-क्रीड़ा और रास–लीला किया करते थे। उक्त घटना का उल्लेख श्री कृष्णदास कविराज ने किया है[१]।

श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा राधाकुंड का प्राकट्य किये जाने के उपरांत इस स्थल का महत्व बढ़ने लगा और शनैः शनैः यह चैतन्य संप्रदायी भक्तों का प्रमुख तीर्थ स्थान बन गया था। ब्रज में आने वाले प्राचीन गौड़ीय महात्माओं ने अधिकतर इसी पुण्य स्थल पर निवास किया था।

राधाकुंड के जिस स्थल पर श्री चैतन्य महाप्रभु ने विश्राम किया था, वह तमाल तल्ला कहलाता है। श्री नित्यानंद प्रभु की धर्मपत्नी श्री जान्हवा जी के आगमन की स्मृति में कुंड का एक घाट 'जान्हवा घाट' कहलाता है। उसी के निकट श्री रघुनाथदास गोस्वामी की भजन कुटी और फूल समाधि है। उसके ओर-पास सर्वश्री माधवेन्द्र पुरी जी की बैठक, जीव गोस्वामी जी की बैठक, गोपाल भट्ट जी और भूगर्भ गोस्वामी की भजन कुटियाँ, कृष्णदास ब्रह्मचारी और कृष्णदास कविराज की समाधियाँ आदि हैं।

ब्रज के अन्य संप्रदायों के विख्यात महात्माओं ने भी इस स्थल पर निवास किया था, अतः उनके स्मृति–चिन्ह यहाँ विद्यमान हैं। राधाबल्लभ घाट पर श्री हित हरिवंश जी की बैठक है और उसके निकट हरिराम जी व्यास का घेरा है, तथा बल्लभ घाट पर श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक है। उसके अतिरिक्त गो० विट्ठलनाथ जी और गो० गोकुलनाथ जी की बैठकें भी हैं।

इस स्थान पर अनेक मंदिर-देवालय हैं, जिनमें श्री गोबिंददेव जी, मदनमोहन जी, गोपीनाथ जी, राधादामोदर जी, जगन्नाथ जी, राधावल्लभ जी, अष्ट-सखी जी, राधामाधव जी आदि के मंदिर उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त श्री गिरिराज जी की जिव्हा-शिला, विविध रास मंडल, गोप कुआ और कई घाट भी दर्शनीय हैं। यहाँ पर कार्तिक कृ० ८ को अर्ध रात्रि के समय स्नान करने का बड़ा माहात्म्य है। उस अवसर पर यहाँ पर एक मेला होता है। आषाढ़ी पूर्णिमा (मुड़िया पूनों) को यहाँ पर श्री सनातन गोस्वामी जी का उत्सव मनाया जाता है। उस अवसर पर गौड़ीय भक्तों की कीर्तन मंडली इस स्थान से गोवर्धन जाती है और वहाँ मानसी गंगा की परिक्रमा करती है।

कुसुम सरोवर—यह सुंदर सरोवर राधाकुंड–गोबर्धन के प्रायः बीच में सड़क के किनारे पर स्थित है। इसके निकटवर्ती भू--भाग का प्राचीन नाम कुसुम बन है, जिसे कुसुमा सखी की कुंज तथा रास-क्रीड़ा के समय श्री कृष्ण द्वारा श्री राधा जी की वेणी गूंथे जाने का स्थल भी कहा गया है। स्कंद पुराणान्तर्गत 'भागवत माहात्म्य' के अनुसार यहाँ श्री कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने एक माह तक कीर्तन महोत्सव किया था, जिसमें महात्मा श्री उद्धव जी और महामुनि नारद जी

---

(१) अरिटे राधाकुंड वार्ता पुछे लोकस्थाने। के हो नाहि कहे संगेर ब्राह्मण ना जाने ॥
तीर्थ लुप्त जानि प्रभु सर्वज्ञ भगवान्। दुई धान्यक्षेत्रे अल्प जले कैल स्नान ॥
देखि सब ग्राम्य लोकेर विस्मय हैल मन। प्रेमे प्रभु करे राधाकुंडेर स्तवन ॥
येइ कुंडे नित्य कृष्ण राधिकार संगे। जले जल-केलि करे, तीरे रास रंगे ॥
—श्री चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, १८ वाँ परिच्छेद

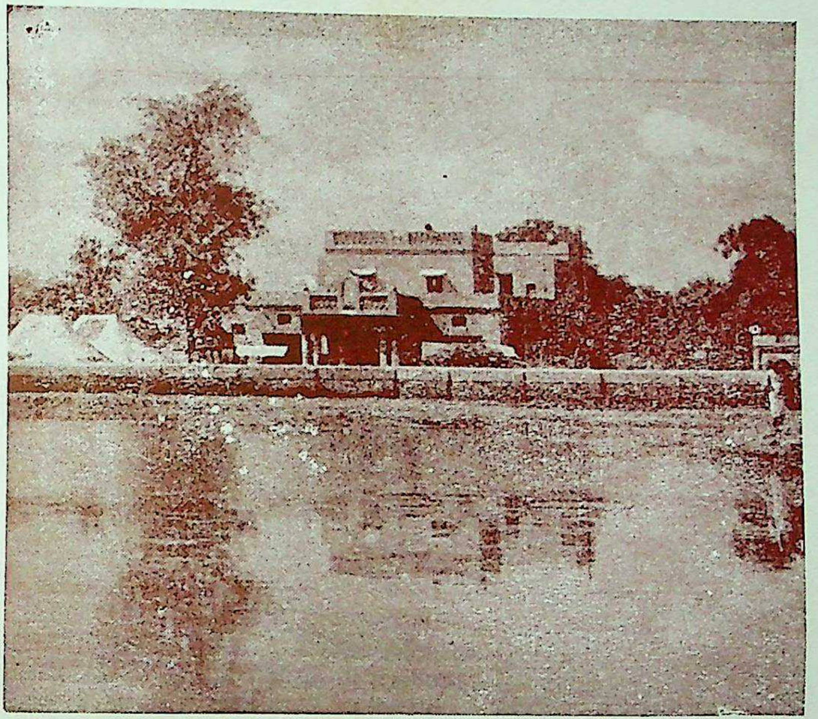

राधाकुंड

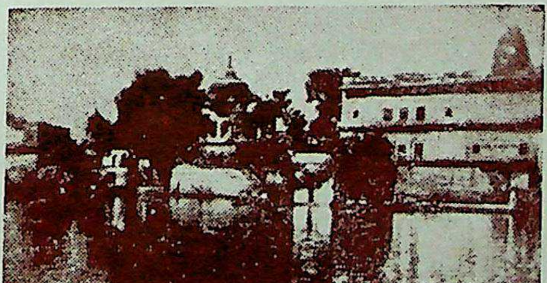

मानसी गंगा

ने प्रगट होकर उपस्थित भक्तों को श्री कृष्ण का माहात्म्य बतलाया था। इस पुण्य स्थल के निकट उद्धव कुंड और नारद कुंड हैं,जो उस प्राचीन अनुश्रुति की स्मृति में निर्मित किये गये हैं। कुसुम सरोवर एक पुराना कुंड है। कुछ समय पूर्व तक इसके ओर-पास कदंब वृक्षों का प्राचीन बनखंड था, जिसे अर्थ-लोलुपता ने व्यावसायिक लाभ की वेदी पर बलिदान कर दिया। पुरातन बनश्री के नष्ट हो जाने से इस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य को भारी क्षति पहुँची है।

कुसुम सरोवर के प्राचीन कच्चे कुंड को ओरछा नरेश वीरसिंह देव ने सं १६७५ में पक्का बनवाया था। उसके उपरांत सं० १७७७ के लगभग भरतपुर के पराक्रमी राजा सूरजमल ने नये सिरे से इसे एक सुंदर, विशाल और अगाध सरोवर के रूप में निर्मित कराया था। उस समय जाट शक्ति अपने उत्थान के शिखर पर थी। श्री गिरराज जी और गोवर्धन में विराजमान श्री हरिदेव जी जाट राजाओं के इष्ट देव थे। राजा सूरजमल का गोबर्धन में अधिक निवास रहता था, अतः इस स्थान के समीप ही उनकी सेना का युद्धाभ्यास भी चलता रहता था। जाटों के विशाल सेना-शिवर के लिए सदैव जल से भरपूर एक अगाध जलाशय की तथा युद्धाभ्यास के लिये एकांत बन्य क्षेत्र की अत्यंत आवश्यकता थी। उस लक्ष को दृष्टि में रखकर ही राजा सूरजमल ने इस सरोवर के निर्माण में और उसके निकटवर्ती बन्य प्रदेश के संरक्षण में अपार द्रव्य लगाया था। उसके बाद सूरजमल के प्रतापी पुत्र जवाहरसिंह ने उसे कलात्मक भव्य रूप प्रदान किया था। उन दोनों की कलाभिरुचि के कारण जहाँ यह सरोवर ब्रज की एक दर्शनीय स्थापत्य कृति बन गया, वहाँ उनकी सूझ-बूझ से इसे एक ऐसे अगाध जलाशय का रूप प्रदान किया गया, जो अनेक वर्षों की लगातार अनावृष्टियों के काल में भी कभी जलविहीन नहीं हुआ है।

कुसुमसरोवर के निर्माण की योजना भी ब्रज के किसी कलाकुशल और सिद्धहस्त शिल्पी ने तैयार की थी। प्राचीन इमारतों की शैली पर ऊंची कुर्सी वाला यह भव्य भवन हरीतिमायुक्त बन शोभा से सम्पन्न है। इसका विशाल सरोवर अपने निकट की प्राकृतिक शोभा को और भी मनोरम बना देता है। इसकी सीढ़ियों का बनाव-कटाव, उनसे सटी हुई छतरियों का सुचारु संस्थापन, हिंदू कला से युक्त गुम्मटदार शिखर और छज्जों का स्थापत्य इस स्थान को अद्भुत शोभा प्रदान करते हैं।

इस स्थल की पवित्रता के संरक्षण के लिए मुगल सम्राट अकबर ने यहाँ जीव-हिंसा न करने का फरमान जारी किया था। उसका अनुकरण अंगरेजी शासन में भी हुआ। कुसुम सरोवर के दक्षिण-पूर्वी कोण में एक शिला-लेख लगा है, जिस पर सन् १८६६ का एक अंगरेजी फरमान अंकित है। उसमें गोबर्धन क्षेत्र के चारों ओर जीव-हिंसा न करने का आदेश दिया गया है; जिसकी अवज्ञा करने वाले को दंड देने की भी उसमें व्यवस्था की गई है।

राधाकुंड—कुसुमसरोवर क्षेत्र में और मी कई तीर्थ स्थान, धार्मिक स्थान और मंदिर-देवालय हैं। इनमें उद्धव कुंड, नारद कुंड, किलोल कुंड, ग्वाल पोखरा, रत्न सिंहासन, श्याम कुटी मुखराई और ग्वालियर वाले मंदिर के नाम उल्लेखनीय हैं।

मुखराई—यह प्राचीन गाँव राधाकुंड के प्रायः १ मील दक्षिण की ओर है। इसे राधा जी की मातामही मुखरा का स्थान कहा जाता है। यहाँ पर कृष्णकुंड और बजनी शिला हैं।

ग्वालियर वाला मंदिर—कुसुमसरोवर के निकट ही यह मंदिर है, जिसे ग्वालियर के भक्त राजपुरुष भैया बलवंतराव सिंधिया ने बनवाया था। अंगरेजी राज्य की स्थापना से पहिले आगरा पर ग्वालियर के सिंधिया राजा जीवाजीराव का अधिकार था। उस काल में आगरा में एक सुंदरी नगरवधू चंद्रभागा रहती थी। राजा जीवाजीराव ने उसे अपनी उपपत्नी बना लिया था। उससे उन्हें जो पुत्र प्राप्त हुआ, उसका नाम बलवंतराव रखा गया। वही अपने समय का प्रसिद्ध भक्त और ब्रजभाषा का सुकवि हुआ, जो भैया बलवंतराव सिंधिया के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अनुज का नाम भैया गनपतराव था, जो अपने समय का विख्यात संगीतज्ञ था। भैया बलवंतराव ब्रज के परम भक्त थे। उन्होंने कुसुम सरोवर के रमणीक पुण्य स्थल में इस मंदिर को बनवा कर अपनी ब्रज-भक्ति का परिचय दिया है। उन्होंने ब्रज में विविध धार्मिक कार्यों की व्यवस्था के लिए एक ट्रस्ट बनाया था, जिससे उक्त मंदिर का भी प्रबंध किया जाता है। कुसुमसरोवर से उठ कर यात्रा गोबर्धन क्षेत्र के चंद्रसरोवर पर मुकाम करती है। उससे पहिले यात्रीगण गोबर्धन स्थित मानसीगंगा में स्नान करते हैं और वहाँ के देव-स्थानों के दर्शनादि करते हैं।

५—गोबर्धन—चंद्रसरोवर (यात्रा का पाँचवा मुकाम) आश्विन कृ० ४, ५—

गोबर्धन—यह ब्रजमंडल का अत्यंत प्राचीन और प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। इसके संपूर्ण महत्व का आधार यहाँ की गिरिराज पहाड़ी है, जो कृष्ण-काल का एक मात्र स्थायी और अचल अवशेष है। उस काल का दूसरा अवशेष यमुना नदी भी है; किंतु उसका प्रवाह परिवर्तित होता रहा है। पुराणों से ज्ञात होता है कि अत्यंत प्राचीन काल में यमुना नदी गिरिराज पहाड़ी के निकट ही प्रवाहित होती थी, किंतु अब वह उससे बहुत दूर हो गई है।

काल के प्रवाह से जब ब्रजमंडल के अन्य लीला-स्थल अज्ञात हो गये थे, तब गिरिराज पहाड़ी के कारण ही गोबर्धन सुविख्यात था। उस काल में यात्रीगण वहाँ पहुँच कर ब्रज-यात्रा का पुण्य प्राप्त करते थे। वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान काल में यह स्थल सभी धार्मिक संप्रदायों को समान रूप से आदरणीय रहा है। इसका कारण यह है कि सभी वैष्णव संप्रदायों में गिरिराज को श्रीकृष्ण का प्रतिरूप माना गया है। भागवतकार ने 'कृष्णस्त्वन्य तमं रूपं' कह कर इसके महत्व की घोषणा की है।

कृष्ण-काल से पहिले यहाँ पर वैदिक परंपरा के अनुसार इंद्र की पूजा होती थी। कृष्ण ने उसके स्थान पर प्रकृति-पूजा के रूप में पर्वत और भूमि को महत्व दिया तथा उन पर आधारित गो-संबर्धन की प्रथा प्रचलित की थी। इस प्रकार उन्होंने 'वेद' से बढ़ कर 'लोक' को मान्यता दी, और ब्रज के लोक-जीवन का आधार 'गोबर्धन' को स्वीकार किया। यह वैदिक पूजा-पद्धति पर उनके व्यावहारिक विज्ञान की विजय थी। तभी से गोबर्धन स्वरूप इस गिरिराज पहाड़ी और वहाँ के मानसीगंगा नामक तीर्थ के प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाती रही है।

गिरिराज पहाड़ी का एक नाम 'अन्नकूट' (अन्न का पहाड़) भी मिलता है; जो ब्रज के गोपों द्वारा गोवर्धन देव की पूजा के निमित्त लाई गई प्रचुर खाद्य सामग्री की अनुश्रुति का द्योतक है। वाराह पुराण का वचन है,—"मानसी गंगा में स्नान, गोबर्धन भगवान् के दर्शन और गिरिराज पहाड़ी की परिक्रमा करने पर भक्त जन के मन को फिर परिताप नहीं होता है[1]।" गोबर्धन गिरिराज

---

(१) **स्नात्वा मानस गंगायां दृष्ट्वा गोबर्धन हरिम्।**
अन्नकूटं परिक्रम्य किं मनः परितप्यसे॥ —आदि वाराह

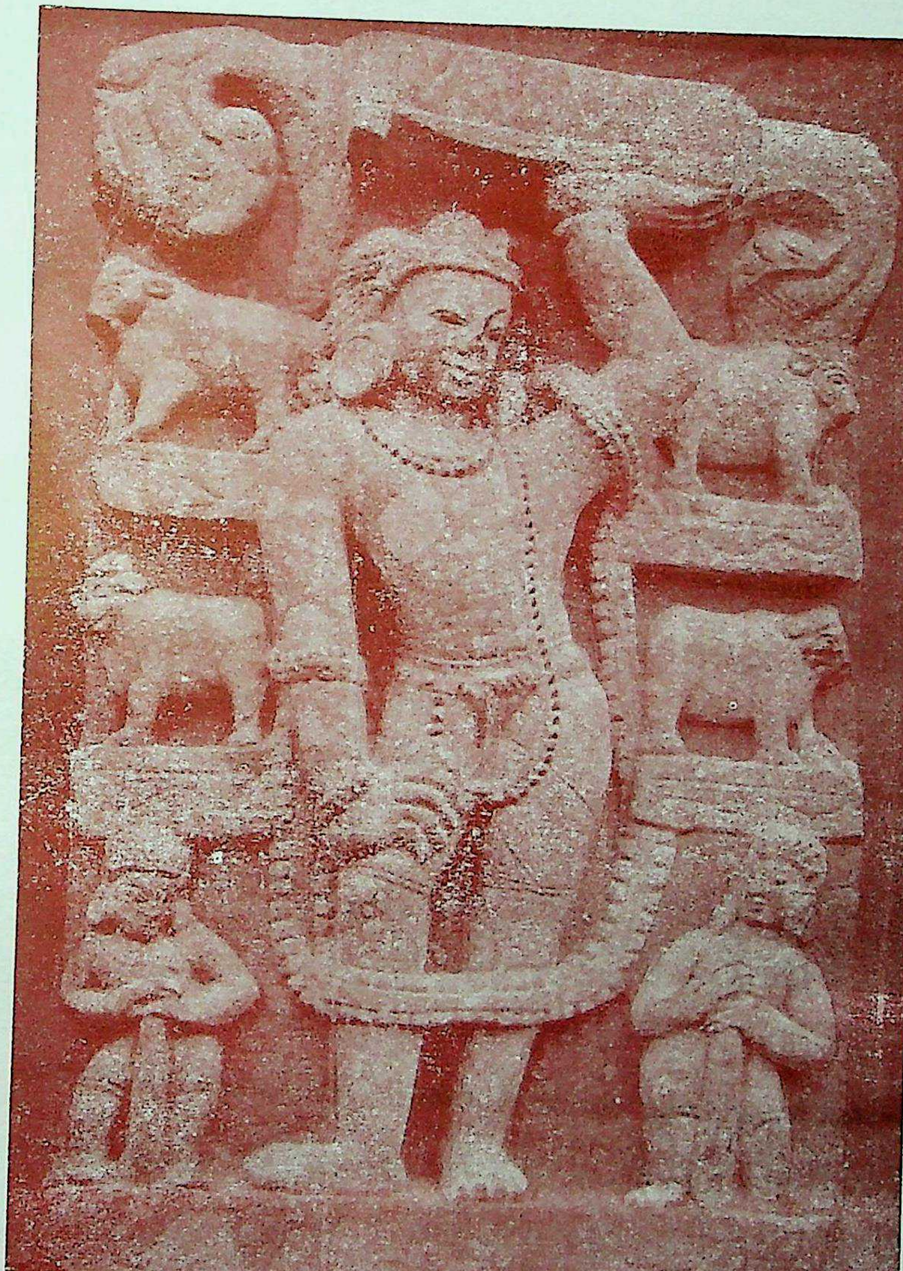

गोवर्धनधारी मूर्ति (उत्तर गुप्त काल)

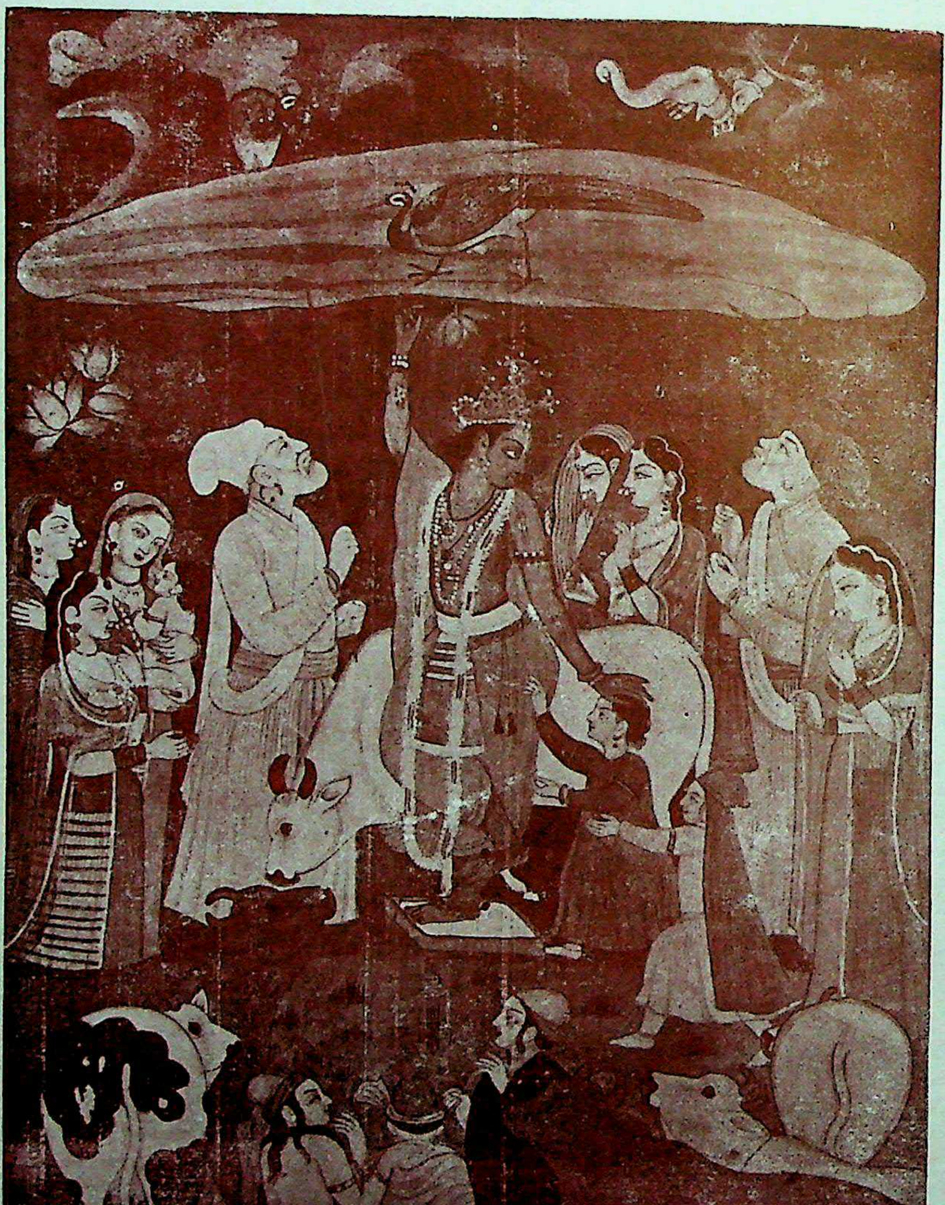

गोवर्धनधारी चित्र (पहाड़ी शैली—१८वीं शती)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पर भक्त जनों द्वारा मनों दूध चढ़ाया जाता है और मनों मिठाई का भोग लगाया जाता है। विशिष्ट अवसरों पर गिरिराज-शिलाखंड का ऐसा सुंदर शृंगार किया जाता है कि वह कृष्ण के रूप में गिरि को धारण करता हुआ जान पड़ता है। एक अनगढ़ शिला को इस प्रकार चमत्कारिक रूप प्रदान करना ब्रज की भावुकता और कलात्मकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। पर्वत-पूजा का यह भव्य रूप गिरिराज के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल पर दिखलाई देना संभव नहीं है।

गोबर्धन ब्रज का एक कस्बा है, जो मथुरा नगर से १३ मील दूर है और गिरिराज पहाड़ी की घाटी में बसा हुआ है। बस्ती के दोनों ओर गिरिराज की शृंखला है, जो एक ओर कुसुमसरोवर तक और दूसरी ओर पूंछरी तक फैली हुई है। मथुरा से गोवर्धन को जो पक्की सड़क जाती है, वह बस्ती के निकट पहाड़ी को पार करती हुई डीग, कामबन चली जाती है। गोबर्धन बस्ती में जो तीर्थ और देव-स्थान हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मानसी गंगा—प्राचीन काल में यह कदाचित एक बरसाती नदी थी, जिसे गोबर्धन के धार्मिक क्षेत्र में प्रवाहित होने के कारण पवित्र समझा जाता था। उसे भगवान् के मन से उत्पन्न धवल धारा वाली गंगा के समान माना गया है; जैसा कि 'ब्रज भक्ति विलास' में उसका स्तवन करते हुए कहा गया है—**'गंगे दुग्धमये देवि भगवन्मानसोद्भवे।'**

सं० १६३७ के लगभग आमेर के राजा भगवानदास ने गोबर्धन में वहाँ के प्राचीन देव-विग्रह श्री हरिदेव जी का मंदिर बनवाया था। उस समय वहाँ एक स्थायी जलाशय की भी आवश्यकता समझी गई। उसकी पूर्ति के लिए वहाँ बहने वाली उस प्राचीन बरसाती नदी को रोक कर उस पर बांध बना दिया गया, जिसके कारण वह नदी एक विशाल तालाब के रूप में परिवर्तित हो गई। राजा भगवानदास के यशस्वी पुत्र राजा मानसिंह ने उसे पक्का बनवा दिया था, जिससे 'मानसी गंगा' को 'मानसिंह गंगा' भी कहा जाने लगा। इस प्रकार एक विशाल जलाशय की स्थायी व्यवस्था हो जाने से वहाँ बस्ती बसने लगी। इस समय गोबर्धन कस्बा मानसी गंगा के आस-पास बसा हुआ है। ब्रज में और भी ऐसे कई तीर्थ हैं, जो छोटी बरसाती नदियों से बनाये गये हैं और उनकी महत्व-वृद्धि के लिए उन्हें 'गंगा' कहा जाता है। इस प्रकार के तीर्थों में 'अलख गंगा', 'पांडव गंगा' और 'चरण गंगा' के नाम उल्लेखनीय हैं। मथुरा में 'कृष्ण गंगा' तीर्थ भी इसी कोटि का है।

मानसी गंगा के चारों ओर सुंदर पक्के घाट बने हुए हैं, जिन्हें श्रद्धालु राजा-महाराजाओं और सेठ-साहूकारों ने समय-समय पर बनवाया है। इसमें सदैव काफी गहरा जल रहता है, जो वर्षा ऋतु में और भी बढ़ जाता है। इसके एक सिरे पर गिरिराज पहाड़ी का कुछ भाग जल से ऊपर निकला हुआ है। उसे गिरिराज जी के मुखारविंद के रूप में पूजा जाता है। उसके किनारे पर भरतपुर के राजा सूरजमल की पत्नी किशोरी रानी का महल है और उसके निकट ठाकुर श्री किशोरीश्याम जी का मंदिर है। इन देव-स्थानों और घाटों ने मानसी गंगा की शोभा को बहुत बढ़ा दिया है।

जाट राजा सूरजमल ने दिल्ली की लूट के उपरांत अपना विजयोत्सव गोबर्धन में मनाया था। उस समय दिवाली के अवसर पर उन्होंने अपने उपास्य ठाकुर हरिदेव जी का पूजन और मानसी गंगा पर वृहत् दीपदान किया था। उसी उत्सव की परंपरा में वहाँ अब भी दिवाली के

अवसर पर वड़ा दीपदान किया जाता है। यात्रीगण अगणित दीपक जला कर मानसी गंगा को आलोकित कर देते हैं, जिससे वहाँ बड़ा सुंदर दृश्य उपस्थित हो जाता है।

श्री हरिदेव जी—श्री कृष्ण के गोबर्धन धारी स्वरूप को यहाँ श्री हरिदेव जी के रूप में पूजा जाता है। यह गोबर्धन का प्रमुख देव-विग्रह है। इसका भव्य मंदिर अकबर के काल में आमेर के राजा भगवानदास ने सं० १६३७ में बनवाया था, जिसे औरंगजेब ने सं० १७२६ में नष्ट करा दिया था। उसके बहुत समय बाद जो मंदिर बना, वही इस समय विद्यमान है। वर्तमान मंदिर की तरह इसका देव-विग्रह भी प्राचीन नहीं है। आक्रमणकारियों ने जब ब्रज के मंदिर तोड़े थे, तब उनकी देव मूर्तियों के भी उन्होंने नष्ट करा दिया था। ऐसा कहा जाता है, हरिदेव जी और मथुरा के केशवदेव जी की पुरानी मूर्तियाँ आक्रमणकारियों की दृष्टि से बचा कर किसी प्रकार ब्रजमंडल से बाहर ले जाई गई थीं। वे इस समय कानपुर जिले के गाँव रजधान-बुधौली में विराजमान कही जाती हैं। हरिदेव जी की पुरानी मूर्ति के साथ जो अष्टधातु मिश्रित स्वर्ण की दो फीट ऊँची ठकुरानी जी की मूर्ति थी, वह मथुरा के एक चतुर्वेदी परिवार को प्राप्त हुई थी। उसे प्रयाग घाट की बुर्जी के एक छोटे मंदिर में पधरा दिया गया था। वह मूर्ति अब से कुछ वर्ष पहिले तक विद्यमान थी और बाद में वह चोरी चली गई। ऐसा ज्ञात होता है, स्वर्ण-लाभ के लिए चोरों ने उसे गला दिया और इस प्रकार उन्होंने उस प्राचीन ऐतिहासिक निधि को नष्ट कर दिया था। इस समय इस मंदिर में २३००) सालाना की नियमित आय का प्रबंध है। भरतपुर राज्य की ओर से इसे भगौसा और लोधीपुरा गाँव दिये गये हैं तथा ५००) सालाना का बंधान बँधा हुआ है।

श्री लक्ष्मीनारायण जी—गोबर्धन का यह देव-स्थान उत्तर भारत में रामानुज संप्रदाय की सबसे प्राचीन गद्दी का केन्द्र रहा है। १९वीं शताब्दी में रामानुज संप्रदाय के आचार्य और इस मंदिर के महंत श्रीनिवासाचार्य जी थे, जो बड़े विद्वान् पुरुष थे। उनके शिष्य श्री रंगदेशिक स्वामी थे। उक्त स्वामी जी का जन्म सं. १८४१ में दक्षिण प्रदेश में हुआ था; किंतु वे अपनी युवावस्था में ही उत्तर भारत आ गये थे और गोबर्धन में श्रीनिवासाचार्य जी की सेवा में रहते थे। अपने गुरु के देहावसान के पश्चात् श्री रंगदेशिक स्वामी उनके उत्तराधिकारी और रामानुज संप्रदाय के आचार्य हुए थे। श्री रंगदेशिक स्वामी के शिष्य मथुरा के सेठ राधाकृष्ण थे, जिन्होंने स्वामी जी के आदेशानुसार वृंदावन में श्री रंगजी का विशाल मंदिर बनवाया था। जब वहाँ मंदिर बन गया, तब श्री रंगदेशिक स्वामी वृंदावन चले गये और वहीं पर रामानुज संप्रदाय की गद्दी भी कायम हुई। तब से गोबर्धन के इस मंदिर का महत्व कम हो गया है। इस मंदिर में कुछ पुराने भित्ति चित्र भी हैं, किंतु अब वे अस्पष्ट हो गये हैं।

श्री चक्रेश्वर महादेव—ब्रजमंडल के चार प्राचीन महादेवों में इनकी गणना की जाती है। इनके मंदिर का स्थल प्राचीन है और वह गोबर्धन में निवास करने वाले अनेक विख्यात भक्त जनों का केन्द्र रहा है। इसके निकट चैतन्य संप्रदाय के अनेक गौड़ीय महात्मा सदा से निवास करते रहे हैं। यहाँ सदैव भजन-कीर्तन और धार्मिक आयोजन होते रहते हैं। इसी के पास श्री गौरांग मंदिर और श्री सनातन गोस्वामी जी की भजन कुटीर हैं। वहाँ से आगे मानसी गंगा के किनारे सिद्ध कृष्णदास बाबा की भजन कुटीर और समाधि है। उसी के निकट श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक भी है।

मनसा देवी—यह ब्रज की एक प्राचीन देवी है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मनसा-देवी जरत्कारू ऋषि की पत्नी और आस्तीकादि सर्पों की माता थी। इसे लोक में सर्पमाता के नाम से पूजा जाता है। इसका मंदिर मानसी गंगा के तटवर्ती ब्रह्मकुंड पर एक ऊँचे स्थान पर बना है। वहाँ ब्रज की यह ऐतिहासिक लोकदेवी विराजमान है।

नंददास जी का स्थल—मानसी गंगा के तट पर पीपल के वृक्ष के नीचे श्री नंददास जी का प्राचीन स्थल है।

नीमगाँव—गोवर्धन गाँव से कुछ दूर उत्तर की ओर गोवर्धन-बरसाना सड़क के निकट यह ब्रजमंडल का अत्यंत प्राचीन धार्मिक स्थल है। जब श्री निंबार्काचार्य जी ब्रज में आये थे, तब उन्होंने गोवर्धन क्षेत्र के इसी स्थान पर निवास कर अपनी भक्ति-साधना की थी। उन्हीं के नाम पर इस स्थान का नाम निंबग्राम अथवा नीमगाँव प्रसिद्ध हुआ है। यहाँ पर श्री सुदर्शन जी का मंदिर, सुदर्शन कुंड और रासमंडल हैं। ब्रज में निंबार्क संप्रदाय का यह आदि स्थान है।

दानघाटी—गोवर्धन गाँव के निकट की 'दानघाटी' नामक स्थल को श्रीकृष्ण की दानलीला का प्राचीन स्मृति चिन्ह समझा जाता है। यहाँ गिरिराज जी का एक छोटा देवालय है, जिसे दानीराय जी का मंदिर कहते हैं।

चंद्रसरोवर—गोवर्धन गाँव के देव-स्थानों के दर्शन करती हुई यात्रा इस स्थल पर मुकाम करती है। यह वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख स्थान है, जो गोवर्धन से प्रायः एक मील पश्चिम की ओर है। इसे प्राचीन वृंदावन और महारास का स्थल माना जाता है। यहाँ पर सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, गोसाईं विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी आदि की बैठकें हैं। इस स्थान का संबंध वल्लभ संप्रदाय के इतिहास की एक विशिष्ट घटना से भी रहा है। सं० १६०५ के लगभग जब श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी कृष्णदास ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी से झगड़ा कर उन्हें मंदिर में जाने से रोक दिया था, तब वे ६ महीने तक इसी स्थान पर रहे थे। उस काल में वे विप्रयोगावस्था में केवल दुग्धाहार करते हुए अहर्निश श्रीनाथ जी का स्मरण-ध्यान किया करते थे। उस समय उन्होंने जो रचनाएँ की थीं, वे 'विज्ञप्ति' और 'संवाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी स्थल पर महात्मा सूरदास ने अपनो साहित्य-साधना की थी। यहाँ पर उनकी कुटी है और उनके बैठने का चबूतरा है। यहीं पर उनका देहावसान भी हुआ था। उत्तर प्रदेश सरकार ने यहाँ सूर-स्मारक के रूप में सूरदास जी का संक्षिप्त परिचय युक्त एक शिलापट्ट स्थापित किया है।

इस पुण्य स्थल का नाम यहाँ के प्राचीन कुंड के कारण पड़ा है, जो 'चंद्रसरोवर' कहलाता है। यह एक पक्का कुंड है, जो अष्टदल कमल के कलात्मक आकार का बनाया गया है। इसका पुनर्निर्माण जाट राजा सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह ने सं० १८११ में किया था। इस समय यह जीर्णावस्था में है। कुंड के ऊपर श्री चंद्रबिहारी जी और श्री दाऊजी के मंदिर हैं।

परासोली—चंद्रसरोवर के समीप का यह गाँव परासोली कहलाता है, जो 'पलाश अवलि' का परिवर्तित रूप है। ऐसा अनुमान होता है, यहाँ किसी समय पलाश (ढाक) का बन था। मुसलमानी शासन में इसका प्राचीन नाम बदल कर मुहम्मदपुर रखा गया था, जिसे बड़े प्रयत्न के बाद बदला गया है। यह गाँव महात्मा सूरदास जी के निवास-स्थल के रूप में प्रसिद्ध है। वे सं०१५६८ में गोवर्धन आये थे और सं० १६४० के लगभग उनका देहावसान हुआ था। इस प्रकार वे ७० वर्ष

से भी अधिक काल तक इस स्थल पर रहे थे। इसी स्थान पर अष्टछाप के वयोवृद्ध भक्त-कवि कुंभनदास और उनके सुपुत्र चतुर्भुजदास के खेत थे, जिन पर उनकी जीविका आधारित थी। इस प्रकार व्रजभाषा के तीन विख्यात भक्त-कवियों से संबंधित होने के कारण इस स्थान का महत्व स्वयंसिद्ध है।

जमुनावतौ—यह चंद्रसरोवर-परासोली के निकट का एक छोटा गाँव है। प्राचीन काल में यहाँ यमुना नदी की धारा का प्रवाह था, जिसके कारण इस गाँव का नाम 'जमुनावतौ' हुआ है। अष्टछाप के भक्त-कवि कुंभनदास और उनके पुत्र चतुर्भुजदास इसी गाँव के रहने वाले थे। उनके स्मारक स्वरूप यहाँ कुंभनदास की बैठक, कुंभन कूआ और कुंभन तलाई हैं।

पैंठा—गोवर्धन से सोंख जाने वाली पक्की सड़क पर पैंठा नाम का गाँव है। इसके संबंध में यह किंवदंती है कि गोवर्धन को धारण करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसके अंदर जाने वाली यहाँ की एक कंदरा में प्रवेश किया था। इससे ज्ञात होता है, गिरिराज की कंदराओं में जाने के लिए यहाँ प्राचीन काल में कोई भूमिगत मार्ग था। इसके समीप ही नारायण सरोवर और लक्ष्मी कूप नाम के तीर्थ हैं। श्री ग्राउस ने लिखा है, यहाँ चतुर्भुज भगवान् का एक पुराना मंदिर था, जिसे औरंगजेब ने नष्ट करा दिया था। उसके बाद जो दूसरा मंदिर बना, वह भी कालांतर में नष्ट हो गया था। इस गाँव में कदंब का एक ऐसा वृक्ष है, जो निचोड़े हुए वस्त्र की तरह बल खाया हुआ है। इसे 'ऐंठा कदंब' कहते हैं। इस स्थल से कुछ दूर 'खेड़ा की कदमखंडी' है। उससे आगे बच्छगाँव है, जहाँ कई तीर्थ हैं। इन स्थानों पर व्रजयात्रा नहीं जाती है।

चंद्रसरोवर और उसके निकटवर्ती तीर्थ स्थलों के दर्शन-स्नानादि के बाद ब्रज-यात्रा जतीपुरा पहुँच कर पड़ाव डालती है। चंद्रसरोवर से जतीपुरा जाते समय यात्रा-मार्ग में जो धार्मिक और दर्शनीय स्थल पड़ते हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

आन्यौर—श्री गिरिराज जी की तलहटी में बसा हुआ यह एक छोटा सा सुंदर गाँव है। यहीं पर गिरिराज की एक कंदरा से श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था, अतः यह स्थान बल्लभ संप्रदायी भक्तों के लिए अत्यंत प्रिय रहा है। श्री बल्लभाचार्य जी जब गोबर्धन आये थे, तब वे इसी गाँव के सद्दू पांडे के निवास स्थान पर ठहरे थे और उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की आरंभिक व्यवस्था की थी। यहाँ सद्दू पांडे के घर में श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक है, जिसके मुखिया सद्दू पांडे के वंशज हैं। इस स्थान के दूसरी ओर गिरिराज पहाड़ी की तलहटी में जतीपुरा गाँव बसा हुआ है। दोनों के बीच में एक पतला पहाड़ी मार्ग है। उसी के निकट श्रीनाथ जी का प्राकट्य स्थल है और उनका पुराना मंदिर है।

संकर्षण कुंड—आन्यौर गाँव के बाहर कुछ दूरी पर यह कुंड है। सं० १६४२ में एक नीम वृक्ष के नीचे यहाँ कुंभनदास जी का देहावसान हुआ था; अतः यह उनका स्मारक स्थल है। यहाँ श्री संकर्षण जी (दाऊजी) का मंदिर भी है।

गोबिंद कुंड—यह आन्यौर गाँव के समीप का एक बड़ा कुंड है। इससे संबंधित पौराणिक अनुश्रुति है कि श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण करने के उपरांत पराजित इंद्र ने यहाँ श्रीकृष्ण का पूजन-अभिषेक किया था। सं० १६७६ में इसे ओड़छा के राजा वीरसिंह देव ने पक्का बनवा दिया था। इस कुंड के किनारे पर श्री गोबिंददेव जी और श्री बलदेव जी के पुराने मंदिर थे।

श्री ग्राउस ने लिखा है, उन मंदिरों को रानी पद्मावती ने बनवाया था। कुंड का जल कुष्ठ रोग के लिए अक्सीर माना जाता था। पुराने समय में इस कुंड पर पिंडदान भी होते थे। यहाँ श्री गिरिराज जी और गोसाईं जी की बैठकें हैं।

नागाजी की समाधि—गोबिंदकुंड से आगे बन में ब्रज के संत श्री चतुरानन नागा की समाधि है। इसी स्थल पर नागा जी का देहावसान हुआ था।

पूंछरी—राजस्थान की सीमा का यह छोटा गाँव गिरिराज पहाड़ी की पश्चिम दिशा वाले अंतिम छोर पर स्थित है। गो स्वरूप श्री गिरिराज जी का मुख मानसी गंगा में और पूंछ यहाँ पर मानी जाती है; इसीलिए इसे पूंछरी कहते हैं। गिरिराज जी की पूरी परिक्रमा ७ कोस की है, जिसके दो भाग हैं। पहिला भाग पूंछरी की परिक्रमा का है, जो ४ कोस का है। दूसरा भाग राधाकुंड की परिक्रमा का है, जो ३ कोस का है। पहिले भाग की परिक्रमा दानघाटी से आरंभ होकर पूंछरी तक जाती है और वहाँ से लौट कर फिर दानघाटी पर ही वापिस आ जाती है। इस प्रकार पूंछरी गिरिराज पहाड़ी का अंतिम छोर और एक महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान है। इसके आस-पास कई प्राचीन दर्शनीय स्थल हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

अप्सरा कुंड—पूंछरी के निकट सघन वृक्षावली से घिरा हुआ यह पुराना जलाशय है। इसके समीप 'नवल कुंड' है, जिसके एक ओर **'रामदास अथवा राघवदास की गुफा'** है और दूसरी ओर **'छीतस्वामी का स्थान'** है। रामदास चौहान श्रीनाथ जी के प्रथम पुजारी थे और वे इसी स्थल पर अपनी भक्ति-साधना किया करते थे। छीतस्वामी का निवास स्थान एक तमाल वृक्ष के नीचे था।

पूंछरी कौ लौठा—पूँछरी गाँव के बाहर एक छोटे से मंदिर में एक पहलवान की सी मूर्ति है, जिसे 'पूंछरी का लौठा' कहा जाता है। हनुमान जी के समान सिंदूर चढ़ा हुआ तथा काली-पीली रेखाओं और चमकदार पन्नी से अलंकृत उसका वेश बड़ा अद्भुत है। इस विचित्र मूर्ति का यथार्थ रहस्य अभी तक अज्ञात है। किंवदंती के अनुसार इसे श्री कृष्ण जी का गोप सखा और इस बन का रक्षक देवता माना जाता है।

कृष्णदास का कूआ—पूंछरी के निकट बन में एक पुराना सूखा हुआ कूआ है, जिसे 'कृष्णदास का कूआ' कहा जाता है। वार्ता से ज्ञात होता है, श्रीनाथ जी मंदिर के अधिकारी और अष्टछाप के भक्त-कवि कृष्णदास जी की मृत्यु इसी कूए में अकस्मात गिरने से हुई थी।

सुरभी कुंड—इस कुंड के तट पर तमाल वृक्ष के नीचे अष्टछाप के भक्त-कवि परमानंददास जी का निवास स्थान था। यहाँ पर उनके स्मारक बनाने का आयोजन हो रहा है।

६–जतीपुरा (यात्रा का छठा मुकाम) आश्विन कृ० ६ से १२ तक—

जतीपुरा—इसका पुराना नाम गोपालपुर है। यतिराज श्री माधवेन्द्र पुरी का निवास-स्थल होने से अथवा श्री गिरिधर जी (यति जी) के नाम पर इसे यतिपुरा अथवा जतीपुरा कहा जाने लगा। पुरी जी माध्व संप्रदाय के विरक्त धर्माचार्य थे, जो श्री बल्लभाचार्य जी से भी पहिले गोबर्धन में आकर रहे थे और उन्होंने श्रीनाथ जी के प्राकट्य में योग दिया था। यति नाम से प्रसिद्ध गिरिधर जी श्री बल्लभाचार्य जी के पौत्र और गो० विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। जब बल्लभ संप्रदाय के कारण श्रीनाथ जी का वैभव बढ़ गया, तब जतीपुरा भी ब्रज का सुप्रसिद्ध धार्मिक

स्थान हो गया था। वहाँ पर अनेक मंदिर-देवालय निर्मित हुए और बस्ती बस गई। इस प्रकार यह स्थान बल्लभ संप्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र बन गया था। औरंगज़ेब की धर्मान्धता के कारण जब श्रीनाथ जी के स्वरूप को जतीपुरा से हटाना आवश्यक हो गया, तब इस स्थान का महत्व भी कम हो गया था।

इस स्थान में बल्लभ संप्रदाय के अनेक प्राचीन स्मृति-स्थल हैं; जिनमें श्रीनाथ जी का पुराना मंदिर, श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक, गोसाईं जी का तुलसी क्यार, गिरिराज जी का मुखारविंद, सातों स्वरूपों के मंदिर, गोसाईयों की समाधियाँ, अष्टछाप के भक्त-कवियों के स्थान तथा कुंड-सरोवर आदि हैं। इनमें से कतिपय पुण्य स्थलों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

श्रीनाथ जी का पुराना मंदिर—गिरिराज पहाड़ी की एक कंदरा से श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य होने पर अम्बाला के पूरनमल खत्री ने इस मंदिर का निर्माण सं० १५५९ की वैशाख शु० ३ (अक्षय तृतीया) को कराया था। कई कारणों से वह मंदिर पूरा नहीं बन सका, अतः श्री बल्लभाचार्य जी ने सं० १५६४ में श्रीनाथ जी को उस अधूरे मंदिर में ही विराजमान कर दिया था। बाद में सं० १५७६ में वह मंदिर पूरा हुआ था। तब उक्त संबत् की अक्षय तृतीया को एक बड़ा धार्मिक समारोह किया गया। बल्लभ संप्रदाय के आरंभिक प्रचार में इस मंदिर का बड़ा योग रहा है। औरंगज़ेब ने सं० १७७६ में उस मंदिर का ध्वंस कराया था। उस आपत्ति काल में श्रीनाथ जी के स्वरूप को वहाँ से हटा कर गुप्त रूप से मेवाड़ भेज दिया था। उनके साथ बल्लभ संप्रदाय के अन्य देव-विग्रह भी ब्रज से स्थानान्तरित कर दिये गये थे। तब से वह मंदिर ध्वंसावस्था में पड़ा हुआ है। इसमें कई पुराने चिन्ह अभी तक विद्यमान हैं।

श्री गिरिराज जी का मुखारविंद—यह एक प्राकृतिक शिला खंड है, जिसकी सेवा-पूजा यहाँ बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ की जाती है। इस पर दर्शनार्थियों द्वारा प्रति दिन इतना दूध चढ़ाया जाता है कि वह भूमि पर बहता रहता है। बल्लभ संप्रदाय की मान्यता है कि इसी स्थान पर नंदराय जी ने इंद्र की पूजा बंद कर गिरिराज की पूजा का आयोजन किया था। उस समय जो प्रचुर सामग्री का भोग लगाया गया था, उसे स्वयं श्रीकृष्ण ने गिरिराज के रूप में आरोगा था। इसीलिए गिरिराज पहाड़ी को श्रीकृष्ण का ही स्वरूप माना जाता है। श्री सूरदास ने कहा है—**"गिरिवर स्याम की अनुहारि। करत भोजन अधिक रुचि सों, सहस भुजा पसारि॥"** जब जतीपुरा में यात्रा का मुकाम होता है, तब मुखारविंद का मनोहर शृंगार कर उन्हें वृहद् भोग धराया जाता है, जिसे 'कुनवाड़ा'[1] कहते हैं। यह उत्सव गोबर्धन-पूजा की स्मृति में किया जाता है। मुखारविंद का दूसरा नाम 'पूजनीय शिला' भी है। उसके निकट 'सुंदर शिला' है, जिसे श्रीकृष्ण के खेलने का स्थान माना जाता है,—**सुंदर सिला खेल की ठौर।"**

गोसाईं जी का तुलसी क्यार—मुखारविंद के समीप गिरिराज की एक कंदरा में गोसाईं विट्ठलनाथ जी का तिरोधान हुआ था। यह उक्त स्मृति का पुण्य स्थल है।

---

(१) कुनवाड़ा का विस्तृत वर्णन 'बल्लभ प्रकाश' के 'ब्रजयात्रा अंक' का परिशिष्ट, पृष्ठ १४ में देखिये।

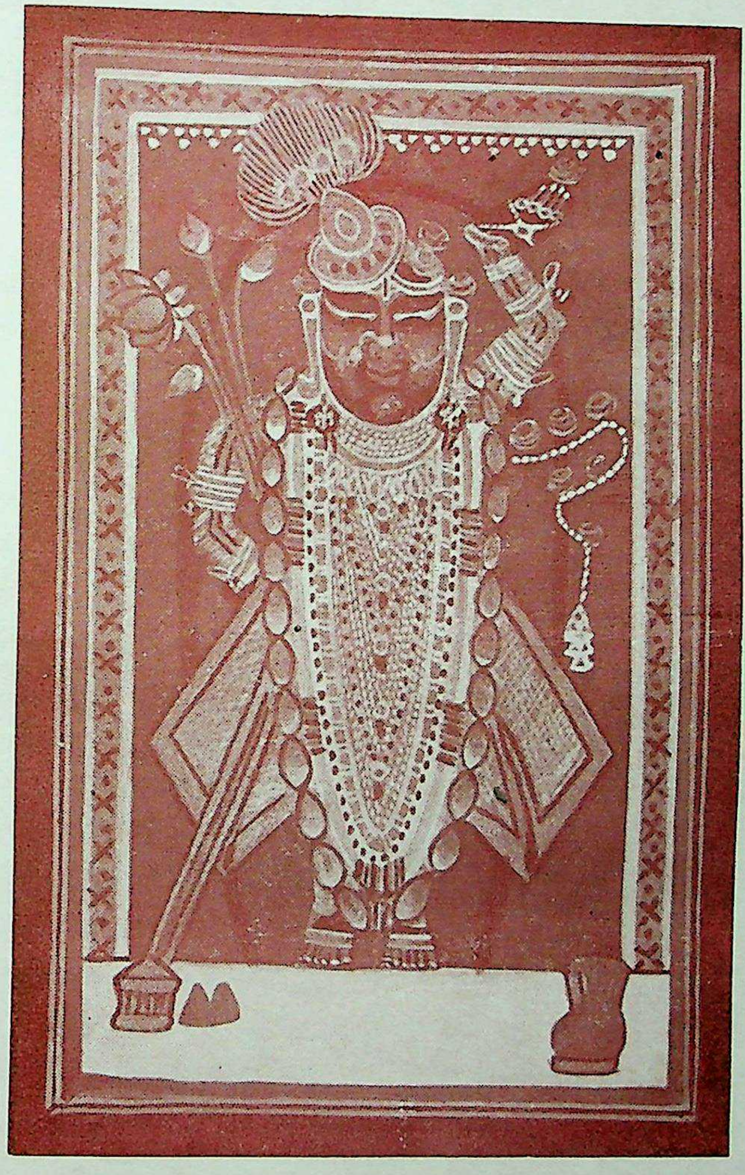

श्रीनाथ जी का स्वरूप

श्रीनाथ जी के रूप में गिरिराज जी के मुखारविंद का 'कुनवाड़ा'

सात स्वरूपों के मंदिर—बल्लभ संप्रदाय की सुप्रसिद्ध सातों गद्दियों के यहाँ मंदिर-देवालय हैं। इनमें श्री मथुरानाथ जी के मंदिर में गोसाईं जी की ग्रौर श्री गोकुलनाथ जी के मंदिर में गोकुलनाथ जी की बैठकें हैं। श्री मथुरेश जी का प्राचीन स्वरूप, जो ग्रौरंगज़ेब के काल में कोटा चला गया था, ग्रब जतीपुरा के मंदिर में ही विराजमान है।

श्यामढाक—यह एक सुंदर सघन बन खंड है। यहाँ के कदंब वृक्षों के पत्ते दोना की तरह मुड़े हुए होते हैं। यहाँ पर रास चबूतरा ग्रादि कई दर्शनीय स्थल हैं।

हरजी कुंड—जतीपुरा के इस कुंड का संबंध श्रीनाथ जी के एक सखा हरजी गोप से बतलाया जाता है; किंतु ऐतिहासिक शोध से यह ग्रनुश्रुति ठीक नहीं है। हरजी एक गूजर था, जो भरतपुर के जाट राजा सूरजमल का वीर सरदार था। उसने दिल्ली की चढ़ाई में बड़ी वीरता प्रदर्शित की थी, जिसके उपलक्ष में राजा ने उसे ससन्मान प्रभूत द्रव्य प्रदान किया था। उक्त वीर पुरुष ही ने इस जलाशय को बनवाया था।

गोस्वामियों की समाधियाँ—जतीपुरा के एक कौने पर गिरिराज की तलहटी में ग्रनेक छोटे-बड़े थामले हैं, जो बल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों की फूल-समाधियाँ हैं। इनमें सबसे प्राचीन समाधि गो० बड़े दाऊजी की है।

ताज का चबूतरा—ग्रकबर की बेगम ग्रौर ब्रजभाषा की भक्त-कवयित्री ताज बीबी का इसी स्थल पर देहावसान होने की ग्रनुश्रुति प्रसिद्ध है। मृत्यु से पहिले उसने श्रीनाथ जी के समक्ष जिस 'धमार' का गायन किया था, उसकी टेक इस प्रकार है—**'बहुरि ढफ बाजन लागे हेली'**।

गोबिंद स्वामी की कदमखंडी—जतीपुरा गाँव के बाहर सघन वृक्षों का एक रमणीक स्थल है, जहाँ किसी समय कदम के वृक्षों की बहुतायत थी। यहाँ ग्रष्टछाप के भक्त-कवि गोबिंद स्वामी का निवास स्थल था। इसके निकट 'ऐरावत कुंड' नामक एक जीर्ण तालाब है।

रुद्र कुंड—इस कुंड के तट पर इमली के वृक्ष के नीचे ग्रष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास का देहावसान हुग्रा था। उसी स्मृति में यहाँ उनका स्मारक बनाया गया है। उसके निकट यादवेन्द्रदास का कूग्रा है।

बिलछू कुंड—यह प्राचीन रास-स्थल है ग्रौर यहाँ श्री हरिदेव जी मूर्ति प्राप्त हुई थी। ग्रधिकारी कृष्णदास का यह निवास-स्थल था। इसके निकटवर्ती बन में ग्रनेक प्रकार के विचित्र पशु-पक्षी होते थे, जिनकी नस्ल ग्रब समाप्त होती जा रही है।

जतीपुरा में यात्रा का मुकाम प्रायः एक सप्ताह का होता है। उस ग्रवधि में वहाँ ग्रनेक समारोह होते हैं, जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

१. श्री गिरिराज जी की परिक्रमा, २. बिलछू बन ग्रौर श्यामढाक का रास, ३. गोबिंद स्वामी की कंदमखंडी में झूलोत्सव तथा ४, गुलाल कुंड पर होलिकोत्सव।

इन उत्सव–समारोहों के कारण यात्रा में कई दिनों तक बड़ी चहल–पहल रहती है। इनसे यात्रियों को ब्रज के ग्रानंददायी लोकरंजक रूप के देखने का सुयोग प्राप्त होता है।

अष्टछाप के पुण्य स्थल—ब्रज साहित्य के सुप्रसिद्ध भक्त-कवि और बल्लभ-संप्रदाय के आरंभिक कीर्तनकार अष्टछापी महानुभावों के स्मृति-स्थल जतीपुरा में विद्यमान हैं। उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

१. महात्मा सूरदास जी—उनका निवास परासौली–चंद्रसरोवर के जिस स्थल पर था, और जहाँ उन्होंने अपनी काव्य-साधना की थी, वहाँ उनके स्मारक स्वरूप एक कुटिया बनी हुई है। सूरदास जी ने वहाँ सं० १५६७ से सं० १६४० तक प्रायः ७३ वर्ष के दीर्घ काल तक निवास किया था। उस कुटी के निकटवर्ती एक चबूतरे पर वृक्ष के नीचे उनका देहावसान हुआ था। उत्तर प्रदेश सरकार ने उनके स्मारक में उस चबूतरा पर उनके रेखा-चित्र और संक्षिप्त परिचय सहित एक शिलाखंड स्थापित किया है।

२. श्री कुंभनदास जी—उनका निवास स्थान जमुनावतौ गाँव में था, जो चंद्रसरोवर के निकट है। उसके समीपवर्ती परासोली गाँव में उनके खेत थे। आन्यौर के पास वाले संकर्षण कुंड पर उनका निधन हुआ था। उनका स्मारक जमुनावतौ गाँव में बनाया गया है।

३. श्री कृष्णदास जी—जतीपुरा के निकटवर्ती बिलछूबन में एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे उनका निवास स्थल था और पूंछरी के निकट एक सूखे कूए में गिर कर उनकी मृत्यु हुई थी। उनके स्मारक स्वरूप बिलछू बन में एक चबूतरा है। जहाँ उनकी मृत्यु हुई थी, वह कूआ अभी तक विद्यमान है।

४. श्री परमानंददास जी—जतीपुरा के निकटवर्ती सुरभीकुंड पर एक तमाल वृक्ष के नीचे उनका साधना-स्थल था और वहाँ पर ही उनका निधन हुआ था। उस प्राचीन तमाल वृक्ष के स्थान पर उनके स्मारक में नया तमाल का वृक्ष लगाया गया है।

५. श्री गोविंदस्वामी जी—सुरभीकुंड से थोड़ा आगे एक बन स्थली है, जिसे गोविंदस्वामी की कदमखंडी कहते हैं। वहाँ एक टीले के नीचे की कंदरा में उनका साधना स्थल था और वहीं पर उनका देहावसान भी हुआ था। पहिले यह कदमखंडी अत्यंत सघन और रमणीक थी; किंतु गाँव के समीप होने से उसका वह सुंदर रूप अब नहीं रहा। उनके स्मारक में वहाँ उनकी समाधि बनी है।

६. श्री छीतस्वामी जी—वे मथुरा के निवासी थे, जहाँ उनका मकान बताया जाता है। उनका साधना-स्थल पूंछरी गाँव के समीपवर्ती नवल अप्सरा कुंड पर एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे था। वह स्थल 'रामदास की गुफा' के निकट है। वहाँ उनका स्मारक बनाने की योजना है।

७. श्री चतुर्भुजदास जी—वे कुंभनदास जी के पुत्र थे, अतः उनका निवास स्थान और खेत उनके पिता की भाँति क्रमशः जमुनावतौ और परासोली गाँवों में थे। उनका निधन रुद्रकुंड पर एक इमली वृक्ष के नीचे हुआ था। उक्त कुंड जतीपुरा के निकट गुलालकुंड जाने वाले मार्ग पर है। वहाँ एक पुराना इमली का वृक्ष है, जिसे उनका स्मारक चिन्ह समझा जाता है। उस स्थल पर उनका नवीन स्मारक बनाया गया है।

८. श्री नंददास जी—उनका साधना-स्थल गोबर्धन गाँव में मनसा देवी मंदिर के नीचे और मानसी गंगा के तटवर्ती एक पीपल वृक्ष की छाया में था। वहीं पर उनका निधन भी हुआ था। इस समय भी उक्त स्थल पर एक पीपल वृक्ष है, जो उनके स्मारक-चिन्ह का सूचक है। नंददास जी के समय में वह एकांत स्थल था; किंतु अब वहाँ बस्ती बस गई है और मकान बन गये हैं।

जतीपुरा से ग्रागे डीग जाते समय यात्रा मार्ग में जो दर्शनीय स्थल पड़ते हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

गुलाल कुंड–यह कुंड जतीपुरा से २ मील पश्चिम की ग्रोर डीग की सड़क के किनारे पर है। ऐसी किंवदंती है कि श्री कृष्ण ग्रौर गोप-गोपियों के होली खेलने से रंग-गुलाल के कारण यहाँ की भूमि लाल हो गई थी; इसीलिए इसे गुलाल कुंड कहा जाने लगा। यात्रा के ग्रवसर पर ग्रव भी यहाँ पर होलिकोत्सव होता है। किसी समय यहाँ पर श्रीनाथ जी की गायों के खिरक थे। उनकी देख-रेख के लिए यहाँ जो ग्वाले रहते थे, उनमें गोपीनाथ, गोपाल, कृष्णदास ग्रौर गंगा के नाम प्रसिद्ध हैं। उनके नामों का उल्लेख बल्लभ संप्रदायी वार्ताग्रों में भी हुग्रा है।

गांठोली–गुलाल कुंड के समीप यह छोटा सा गाँव है। यवन ग्राक्रमणकारियों के ग्रातंक के कारण श्रीनाथ जी को यहाँ छिपा कर रखा गया था। उसी समय चैतन्य महाप्रभु ने यहाँ पर श्रीनाथ जी के दर्शन किये थे; क्यों कि वे भगवत् रूप गिरिराज पर चरण रख कर उनके मंदिर में दर्शनार्थ नहीं जाना चाहते थे। इस गाँव की 'पाथो गूजरी' ग्रौर 'श्याम पखावजी' का उल्लेख वार्ता में मिलता है। श्याम ग्रौर उसकी पुत्री ललिता दोनों बड़े कला कुशल थे। श्याम पखावज बजाता था ग्रौर ललिता वीणा बजाती थी। वे दोनों श्रीनाथ जी के कीर्तन में ग्रष्टछाप के गायकों साथ वाद्यों की संगत करते थे।

टोड़ का घना–यह सघन बन गांटौली से ४ मील ग्रागे है। यहाँ की कांटेदार झाड़ियों में यवन ग्रातंक के कारण श्रीनाथ जी को छिपाया गया था। उसी घटना का उल्लेख करते हुए कुंभनदास जी ने गाया था– 'भावहि तोहि टोड़ कौ घनौ'। यहाँ का मार्ग ग्रब भी कंटकाकीर्ण है।

जतीपुरा से उठ कर यात्रा गांठोली, टोड़ का घना ग्रौर बहज होकर डीग (दीग या दीर्घ पुर) पहुँचती है ग्रौर वहाँ पड़ाव डालती है। ग्रब तक यात्रा के मुकाम उत्तर प्रदेश राज्य के मथुरा जिला में थे। डीग से यात्रा राजस्थान के पुराने भरतपुर राज्य की सीमा में मुकाम करती है।

७–डीग (यात्रा का सातवाँ मुकाम) मि० आश्विन कृ० १३, १४—

डीग--यह राजस्थान का पूर्वी सीमावर्ती एक ऐतिहासिक स्थान है। इसका पुराना नाम 'दीर्घपुर' कहा जाता है। जाटों के नेता ठाकर बदनसिंह ग्रौर उसके प्रतापी पुत्र राजा सूरजमल ने इसको नये रूप में बसा कर ग्रपनी राजधानी का महत्व प्रदान किया था। भरतपुर दुर्ग के बनने से पहिले तक डीग नगर ही जाट शासन का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पर एक सुदृढ़ दुर्ग है, जिसकी ऊँची दीवारें ग्रौर उन पर जहाँ-तहाँ बने हुए बड़े-बड़े बुर्ज जाट राजाग्रों की नगर-सुरक्षा के प्रति सतर्कता के साक्षी हैं। इस विशाल दुर्ग के चारों ग्रोर गहरी खाई है, जिसमें जल भरा रहता है।

डीग के राज महल भी ग्रत्यंत कलापूर्ण ग्रौर सुंदर हैं। इनके ग्रलंकरण में जाट नरेशों ने ग्रपने दिल्ली-ग्रभियान में उपलब्ध प्रभूत द्रव्य का उपयोग किया था। इन राज भवनों में 'गोपाल भवन' ग्रौर 'सूरज भवन' प्रधान हैं, जिनमें विजय-ग्रभियान में प्राप्त ग्रनेक मूल्यवान वस्तुएँ सम्हाल कर रखी गई हैं। भवनों के चारों ग्रोर का उपवन भी बड़ा सुदंर है। उसके दोनों ग्रोर दो विशाल पक्के सरोवर हैं, जो 'रूप सागर' ग्रौर 'गोपाल सागर' कहलाते है। डीग भवनों के फव्वारे प्रसिद्ध हैं। इनके लिए पानी का बहुत बड़ा हौज बनाया गया है, जिसमें बहु संख्यक छिद्रों वाले ग्रनेक नल हैं। उनसे विविध रंगों के फव्वारे चलाये जाते थे, जो एक रोचक कला-कौशल का काम था। इन भवनों

में मुगलों के शाही महलों की तरह ही संगमरमर पर बढ़िया कीमती पत्थरों की पच्चीकारी का काम किया गया है। इमारतों में पत्थर की जाली और कटाव का काम भी कलापूर्ण है। यहाँ दिल्ली की बेगम का मूल्यवान झूला तथा संगमूसा का शाही तख्त भी दर्शनीय वस्तुएँ हैं। इन्हें देखने के लिए भादों की अमावस्या को एक बड़ा मेला लगता है।

यहाँ पर लोहे की वस्तुएँ बनाने की कारीगरी बहुत समय से चली आती है। नगर में अनेक पुरानी इमारतें, मंदिर और तालाब हैं। उनके चारों ओर फौजी बारिक हैं तथा मिट्टी का ऊंचा धूलकोट है। इसे ब्रज-वीरों के पराक्रम का स्मारक स्थल भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यहाँ पर साक्षी गोपाल जी, लक्ष्मण जी और दाऊजी के मंदिर हैं।

इस स्थान से चल कर यात्रा आदि वदरी, परमदरा (सुदामा जी का गाँव) होकर सेऊ गाँव (नैन सरोवर) अथवा घाटा (आनंदाद्रि) पर मुकाम करती है। आदि वदरी से पहिले पश्चिम के पहाड़ी मार्ग में बूढ़े वदरी का धार्मिक स्थल है, किंतु वह काफी दूर पड़ता है।

८—घाटा (ब्रज-यात्रा का आठवाँ मुकाम) मि० आश्विन कृ० ३०—

घाटा—इसे आनंदाद्रि भी कहते हैं। यह कामबन का एक पहाड़ी मुकाम है, जो दो पहाड़ियों के बीच में से निकलने वाली सड़क पर स्थित है। यहाँ पर कामबन के बल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों का सुंदर बाग है। उसमें गोस्वामियों के रहने के मकान, यज्ञशाला और कुंड हैं। यह अत्यंत स्वास्थप्रद निवास-स्थल है।

यहाँ पर यात्रा एक दिन मुकाम करती है। फिर वह इंद्रौली होती हुई कामबन में पहुँच कर पड़ाव डालती है।

९—कामबन (ब्रज–यात्रा का नौवां मुकाम) मि० आश्विन शु० १, २, ३—

कामबन—ब्रज के पुराणप्रसिद्ध बारह बनों में यह पाँचवा बन है। इस समय यह एक धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थान है; जो डीग से १३ मील और मथुरा से प्रायः ३७ मील दूर राजस्थान के भरतपुर जिला में है। इसे आजकल कामां भी कहते हैं, किंतु इसका प्राचीन नाम कामबन या काम्यबन है। एक काम्यबन का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है, जहाँ पांडवों ने वनवास-काल में निवास किया था। वह कुरुजांगल प्रदेश से संलग्न एक बीहड़ बन था। उसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार वह वर्तमान कामबन से पृथक् ज्ञात होता है। महाभारत के काम्यबन को वर्तमान कामबन से तभी मिलाया जा सकता है, जब कुरुजांगल प्रदेश की सीमा कामबन तक मानी जाय। वैसे वर्तमान कामबन में भी महाभारत काल के अवशेष माने जाते हैं। वहाँ पाँचों पाँडवों की मूतियाँ स्थापित हैं तथा धर्मराज युधिष्ठिर के नाम पर 'धर्म कूप' और 'धर्म कुंड' हैं। इनसे समझा जा सकता है कि इस स्थान का पांडवों से घनिष्ट संबंध रहा है। ऐसी दशा में इसे महाभारत का काम्यबन भी माना जा सकता है।

कामबन की पहाड़ी में श्रीकृष्ण की बाल–लीला से संबंधित कई प्राचीन चिन्ह हैं, जिनमें 'खिसलनी शिला' और 'भोजन थाली' (भोजन स्थली) उल्लेखनीय हैं। उनसे ज्ञात होता है कि यह स्थान उस काल के सुविस्तृत वृंदाबन का एक भाग था। कृष्णकालीन वृंदाबन वर्तमान गोबर्धन से नंदगाँव, बरसाना और कामबन तक का एक विशाल बन्य प्रदेश था, जहाँ श्री कृष्ण गोप–बालकों के साथ गो–चारण करते हुए विचरण किया करते थे।

यहाँ पुरानी ऐतिहासिक इमारतों के अवशेष भी अत्यधिक संख्या में मिलते हैं, जो छटी से दसवीं शती तक के हैं। उनसे ज्ञात होता है कि उस काल में यह एक समृद्धिशाली नगर था। यहाँ के प्राचीन मंदिरों और मूर्तियों के अवशेषों से इस स्थान की उन्नत प्राचीन कला के दर्शन होते हैं। यहाँ पर ८४ मंदिर, ८४ कुंड, ८४ खंभे और ७ दरवाजे प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से सिद्ध होता है कि धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सभी दृष्टियों से कामवन ब्रज का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ पर जो बहुसंख्यक प्राचीन देवस्थान और तीर्थस्थल हैं, उनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

कामेश्वर मंदिर—ब्रज के प्रधान महादेवों में श्री कामेश्वर की भी गणना की जाती है। इस स्थान के प्राचीन देवता होने के कारण कामेश्वरनाथ जी के इस मंदिर का ऐतिहासिक महत्व है। उक्त मंदिर में शिव की विशाल प्रतिमा है। उसके साथ ही इसमें सूर्य, बलराम, कार्तिकेय, गणेश आदि देवताओं की कलापूर्ण मूर्तियाँ भी हैं। इनका निर्माण-काल छटी से दसवीं शती तक का माना जाता है।

चौरासी खंभा—यहाँ की पहाड़ी पर स्थित किसी प्राचीन विशाल विष्णु मंदिर का यह ध्वंसावशेष है। उक्त मंदिर के सभा मंडप में बहुसंख्यक स्तंभ थे, जिनमें से कितने ही अब भी विद्यमान हैं। इनके कारण ही इसे 'चौरासी खंभा' का नाम प्राप्त हुआ है

व्योमासुर की गुफा—बस्ती के बाहर पश्चिमोत्तर कौने की पहाड़ी में एक गुफा है, जिसे व्योमासुर की गुफा कहा जाता है। उस असुर का संहार श्री कृष्ण द्वारा किये जाने की किंवदंती प्रसिद्ध है। वैसे यह कदाचित उस किर्मीर राक्षस की गुफा है, जिसे काम्यबन में प्रवेश करते समय भीमसेन ने मारा था। इस प्रकार कामबन का महाभारत के काम्यबन से साम्य होने की पुष्टि होती है।

पंच पांडव—कामेश्वर मंदिर के निकटवर्ती ऊंचे टीले पर एक पुराने मंदिर में पाँचों पांडवों की मूर्तियाँ हैं। उनके साथ ही कृष्ण, कुंती और द्रोपदी की प्रतिमाएँ भी हैं, जो उत्तर गुप्त काल की हैं। यवन आक्रमण के समय उन्हें भूमि में गाढ़ दिया गया था, अतः वे बच गई थीं।

विविध देव मूर्तियाँ और देव स्थान—यहाँ वराह भगवान् और वृंदा देवी की भी प्राचीन मूर्तियाँ हैं। वृंदा देवी की मूर्ति यवन आक्रमण काल में वृंदाबन से लाकर यहाँ स्थापित की गई थी। यहाँ के श्री गोबिंद देव जी और श्री गोपीनाथ जी के मंदिर भी ब्रज की प्राचीन स्थापत्य कला के परिचायक हैं।

कामबन में बल्लभ संप्रदाय की पाँचवीं गद्दी का केन्द्र है, अतः यहाँ पर इस संप्रदाय के मंदिर और गोस्वामियों की हवेलियाँ हैं। मंदिरों में श्री गोकुलचंद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी के मंदिर उल्लेखनीय हैं। इनमें ठाकुर जी की सेवा-पूजा पुष्टिमार्गीय विधि के अनुसार होती है। चैतन्य संप्रदायी मंदिरों में श्री गोबिंददेव जी, उनके साथ श्री वृंदादेवी जी, श्री गोपीनाथ जी और श्री मदनमोहन जी के देव स्थान हैं।

श्री गोकुलचंद्रमाजी—यह गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पंचम पुत्र श्री रघुनाथ जी के सेव्य स्वरूप हैं, जिनका कामबन में प्रसिद्ध मंदिर है। इसमें जो और स्वरूप विराजते हैं, उनके नाम श्री नवनीत प्रिय जी, श्री लाड़िलेश जी और श्री ललित त्रिभंगी जी हैं।

श्री मदनमोहन जी—यह वल्लभ संप्रादय की सातवीं गद्दी के निधि स्वरूप हैं। गोसाईं जी के सातवें पुत्र श्री घनश्याम जी के सेव्य स्वरूप श्री बालकृष्ण जी इसी मंदिर में विराजते हैं।

कुंड, सरोवर, कूपादि—कामबन क्षेत्र में प्राचीन कुंड–सरोवरों की इतनी अधिकता है, जितनी ब्रज के किसी अन्य स्थान में शायद ही हो। कवि जगतनंद ने अपने 'ब्रज वस्तु वर्णन' ग्रंथ में बतलाया है कि ब्रजमंडल के १५९ कुंडों में से ८४ केवल कामबन में हैं। यहाँ के प्रमुख जलाशयों के नाम विमला कुंड, गोपिका कुंड, सुवर्ण कुंड, गया कुंड, धर्म कुंड, मणिकर्णिका कुंड, यशोदा कुंड, मनोकामना कुंड, समुद्रसेतुबंध कुंड, तप्त कुंड, जलविहार कुंड, बलभद्र कुंड, चतुर्भुज-कुंड, गोविंद कुंड, वराह कुंड, सहस्रतीर्थ सरोवर, पंचतीर्थ सरोवर, धर्म कूप, कृष्ण कूप, राधा पुष्करिणी, ललिता--विशाखा पुष्करिणी आदि हैं।

विमला कुंड—यह कामबन का सर्वाधिक प्रसिद्ध कुंड है, जो नगर से २ फर्लांग दूर उसके दक्षिण--पश्चिम कौने में स्थित है। इसके चारों ओर पक्के घाट बने हुए हैं। उनके किनारों पर पुरानी छतरियाँ और मंदिर हैं। छतरियाँ यहाँ के प्रसिद्ध व्यक्तियों की समाधि के रूप में बनाई गई हैं। मंदिरों में श्री दाऊजी, सूर्यदेव, नीलकंठेश्वर महादेव, गोबर्धननाथ, मदनगोपाल, कामवनबिहारी, विमलबिहारी, विमलादेवी आदि के हैं। इस कुंड में स्नान कर चतुर्भुज भगवान् के दर्शन करने का माहात्म्य है।

धर्म कुंड—यहाँ के एक बाग के अंदर 'धर्मकुंड' है और उसके निकट ही 'धर्मकूप' है। कूए की दीवालों में तथा कुंड के समीप पुरानी मूर्तियाँ और भग्नावशेषों को चुन दिया गया है।

कामबन की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० १ को होती है। इस परिक्रमा का परिमाण ७ कोस का है। यहाँ पर यात्रा तीन दिनों तक ठहरती है। यात्रीगण दो दिनों तक निकटवर्ती तीर्थों की यात्रा करते हैं। प्रथम दिन 'चरणपहाड़ी' की यात्रा की जाती है और दूसरे दिन यात्री 'भोजन-थाली' की यात्रा करते हैं। वहाँ से प्रति दिन वे सायंकाल को कामबन वापिस आ जाते हैं।

चरण पहाड़ी—यह एक दर्शनीय स्थल है। यहाँ पर श्री कृष्ण के चरण-चिन्ह होने की मान्यता है। **'भोजन थाली' (भोजन स्थली)** नामक स्थान में श्री कृष्ण और गोप बालकों द्वारा बन में छाक आरोगने की भावना है।

कामबन से यात्रा कनवारा होती हुई सुनहरा गाँव जाती है, जहाँ राजस्थान की सीमा समाप्त होती है। फिर वह उत्तर-प्रदेश के मथुरा जिला में प्रवेश करती है। यहाँ से यात्रा सुनहरा की कदमखंडी, स्वर्णगिरि पहाड़ी, चित्र--विचित्र शिला, देह कुंड, ऊंचागाँव, गेंदोखर, राधाबाग, पीरी पोखर (प्रिया सरोवर) आदि देवस्थान, लीला स्थल और तीर्थों के दर्शन--स्नानादि करती हुई बरसाने पहुँच कर पड़ाव डालती है।

१०–बरसाना (यात्रा का दसवाँ मुकाम) मि० आश्विन शु० ३, ४, ५—

बरसाना—यह ब्रज का अत्यंत रमणीक और पुनीत धार्मिक स्थान है। इसे श्री राधाजी का निवास स्थल और उनके पिता वृषभानु गोप का गाँव माना जाता है। इस प्रकार यह ब्रज का अत्यंत प्राचीन स्थान है। कंस के आतंक से जब गोप समुदाय ने गोकुल छोड़कर वृंदाबन में निवास किया, तब उन्हें इंद्र के कोप के कारण भीषण वर्षा से कष्ट उठाना पड़ा था। उस समय उन्होंने

गिरिराज पहाड़ी पर शरण लेकर अपनी रक्षा की थी। उसके बाद गोपों के विभिन्न दल सुविस्तृत वृंदावन में दूर-दूर तक फैल गये और उन्होंने विभिन्न पहाड़ियों पर अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। नंदराय गोप का दल जिस पहाड़ी पर बसा था, उसे नंदिग्राम अथवा नंदगाँव कहा जाने लगा तथा वृषभानु गोप के दल का पहाड़ी आवास वृषभानुपुर, वृहत्सानु अथवा बरसाना के नामों से प्रसिद्ध हुआ। पहाड़ी के ऊपर से देखने पर ब्रज की प्राकृतिक छटा का मनोरम दृश्य दिखलाई देता है। इसके एक ओर नंदगाँव की तथा दूसरी ओर कामबन की पहाड़ियाँ हैं और उनके बीच में ब्रज की शस्य श्यामला हरित भूमि एवं उसके वन-उपवन, कुंड-सरोवर, लता-गुल्मादि की अनुपम शोभा बिखरी हुई है, जो दर्शक के मन को मोह लेती है।

ब्रज में गिरिराज, बरसाना और नंदगाँव की तीन पहाड़ियाँ प्रसिद्ध हैं, जिन्हें त्रिदेव के रूप में पूज्य माना जाता है। यह आश्चर्य की बात है, इनके पाषाण के रंग भी त्रिदेव के रंगों के ही समान हैं। गिरिराज विष्णु रूप है, जिसका रंग श्याम है; बरसाना ब्रह्म रूप है, जिसका रंग श्वेत है और नंदगांव रुद्र रूप है, जिसका रंग अरुणिमायुक्त है। ब्रह्म स्वरूप बरसाना पहाड़ी के चतुर्मुख रूप चार शिखर हैं, जिनके नाम दानगढ़, मानगढ़, विलासगढ़ और मोरकुटी हैं।

राधा-कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं का कमनीय केन्द्र होने के कारण बरसाना और नंदगाँव का निकटवर्ती क्षेत्र ब्रज का हृदय-स्थल है। ब्रज संस्कृति के स्वाभाविक स्वरूप की मनोहर झांकी इसी भू-भाग में देखने को मिलती है। यहाँ के ब्रजवासियों के रहन-सहन, आचार-विचार, वेष-भूषा और उनकी बोली-भाषा का अजस्र प्रवाह ही ब्रज के लोक-जीवन को सदा से रस-सिक्त करता रहा है।

लाड़िली जी का मंदिर—कृष्ण-काल में श्री वृषभानु गोप बरसाना की पहाड़ी पर अपनी लाड़िली पुत्री राधा और अपने परिवार के साथ रहते थे। उसी की स्मृति में यहाँ श्री राधा जी का मंदिर बनाया गया है, जिसे 'लाड़िली जी का भवन' कहते हैं। पहाड़ी के ओर-पास तथा उसकी गोद में वर्तमान बस्ती बसी हुई है, जो मंदिर के ऊपर से देखने पर बड़ी सुंदर मालूम होती है। यहाँ पर लाड़िली जी का सबसे पुराना मंदिर कब बना, इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इस समय पुराने मंदिर के नाम से जो देवालय विद्यमान है, उसकी नींव ओरछा के राजा वीरसिंह देव ने अपने अन्य निर्माण कार्यों के साथ सं० १६७५ की माघ शु० ५ को रखी थी। इस प्रकार वह मंदिर सं० १६८० के लगभग बना होगा। उसी के समीप का नया सुंदर मंदिर अब से कुछ वर्ष पहिले ही बना है। उसके निर्माण कराने का श्रेय वृंदाबन निवासी भक्तवर सेठ हरगूलाल को है। यह मंदिर पुराने मंदिर से बड़ा और अधिक कलापूर्ण है। पहाड़ी के नीचे से ऊपर तक संगीन सीढ़ियाँ बनाई गई हैं, जिनके कारण मंदिर तक पहुँचने में सुविधा हो गई है। मंदिर में संगमरमर का फर्श है और उसकी दीवालों पर विविध लीलाओं के चित्र हैं। जगमोहन से नीचे के प्रांगण में संगमरमर की एक सुंदर छतरी है, जिसे **'श्रीजी की बैठक'** कहते हैं। श्रावणी तीज का उत्सव इसी स्थान पर होता है। उस समय श्री लाड़िली जी का देव-विग्रह मंदिर से लाकर इस छतरी में विराजमान किया जाता है।

बरसाने के निकटवर्ती लीला-स्थल—बरसाना क्षेत्र में चारों ओर अनेक लीला-स्थल और धार्मिक स्थान विद्यमान हैं। बरसाना में मुकाम करने पर यात्रीगण इन पुनीत स्थलों की यात्रा करते हैं। उनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

विलासगढ़—यह पहाड़ी श्री राधा-कृष्ण के विलास की क्रीड़ा-स्थली है। यहाँ पर श्री राधा जी का प्रमुख मंदिर है।

दानगढ़—इस पहाड़ी पर श्रीकृष्ण अपने बाल सखाओं के साथ बरसाने की गोपियों को रोकते थे और उनसे दूध-दही का दान (कर) प्राप्त करते थे।

मानगढ़—इस पहाड़ी पर श्री कृष्ण से रुष्ट होकर राधा जी ने मान किया था, तब कृष्ण जी ने नृत्य द्वारा उन्हें प्रसन्न किया था।

मोरकुटी—इस पहाड़ी पर श्री कृष्ण ने मयूर नृत्य के कलात्मक अभिनय द्वारा मानिनी राधा को मंत्रमुग्ध किया था। यहाँ पर राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप वाले चित्र की सेवा की जाती है। राधाबल्लभ संप्रदाय के भक्त-कवि नेही नागरीदास जी की यह भजन-स्थली है। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक सिंह उनकी कुटी पर रहता था, जो कुत्ता की भाँति सदैव उनके पीछे लगा फिरता था। नागरीदास जी ने रानी भागमती की सहायता से बरसाने में श्री राधा जी का मंदिर बनवाया था।

साँकरी खोर—विलासगढ़ और दानगढ़ की पहाड़ियों के बीच में एक संकीर्ण गली है, जिसे 'साँकरी खोर' कहते हैं। बरसाने की गोपियाँ इसी मार्ग से दूध-दही बेचने जाया करती थीं। श्री कृष्ण के साथी गोप-बालक इसी स्थल पर उन्हें रोक कर बालसुलभ नटखटी करते थे। यहाँ पर भाद्रपद शु० १३ को **'मटकी फोरनी लीला'** का उत्सव होता है। आश्विन मास में जब ब्रज-यात्रा यहाँ आती है, तब दान लीला का रास भी होता है।

गह्वर बन—मोरकुटी के नीचे के पहाड़ी अंचल में एक सुंदर सघन बन है, जिसे 'गह्वर बन' कहते हैं। यह श्री राधा-कृष्ण के मिलन का स्थल है। इसके समीप मानपुर गाँव, दोहनी कुंड और कदमखंडी हैं। यहाँ के कदंब वृक्षों में दोनेदार पत्ते होते हैं। गह्वर बन के समीप चिकसोली गाँव में साँझी बहुत सुंदर बनती है। इस बन की सघन वृक्षावली में श्री कृष्ण की लीलाओं से संबंधित अनेक रमणीक स्थल हैं, जिनमें मोहिनी कुंड, मोर कुंड, ललिता कुंड और जल बिहार प्रमुख हैं। यहाँ पर रासमंडल भी है।

जयपुर वाला मंदिर—श्री लाड़िली जी के मुख्य मंदिर से कुछ दूर की पहाड़ी पर पत्थर के काम का यह विशाल मंदिर है। इसका निर्माण जयपुर के राजा ने कराया था। इसमें निंबार्क संप्रदाय के अनुसार सेवा-पूजा होती है। इसकी प्रमुख मूर्ति श्री राधागोपाल जी की है। उनके साथ श्री हंस भगवान, सनकादि और नारद जी की भी मूर्तियाँ हैं।

भानोखर—बरसाने में कई कुंड–सरोवर हैं, जिनमें भानोखर या वृषभानु सरोवर अधिक प्रसिद्ध है। यह बरसाना गाँव के समीप का एक पक्का कुंड है। उसके चारों ओर पक्की ऊंची चार दीवारी है, जिसमें जहाँ-तहाँ बुर्जियाँ और छतरियाँ बनी हुई हैं। उन्हें बरसाने के विख्यात निर्माता रूपराम कटारा ने बनवाया था। बरसाना में ब्रज-यात्रा इसी स्थान पर पड़ाव डालती है।

सुनहरा की कदमखंडी—कामबन से बरसाना आते समय यात्रा मार्ग में जो सुनहरा गाँव पड़ता है, उसके समीप की एक रमणीक बन-स्थली को 'सुनहरा की कदमखंडी' कहा जाता है। यहाँ पर रत्नकुंड है और रासमंडल है, जहाँ भाद्रपद शु० १४ को रास-लीला होती है।

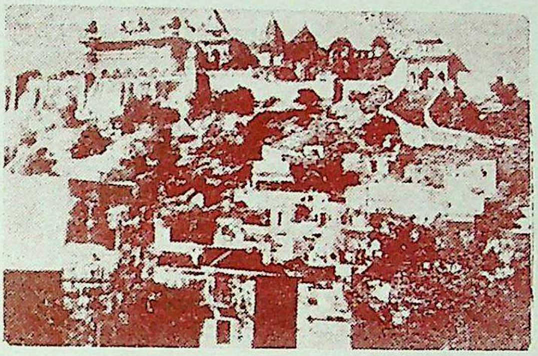

बरसाना

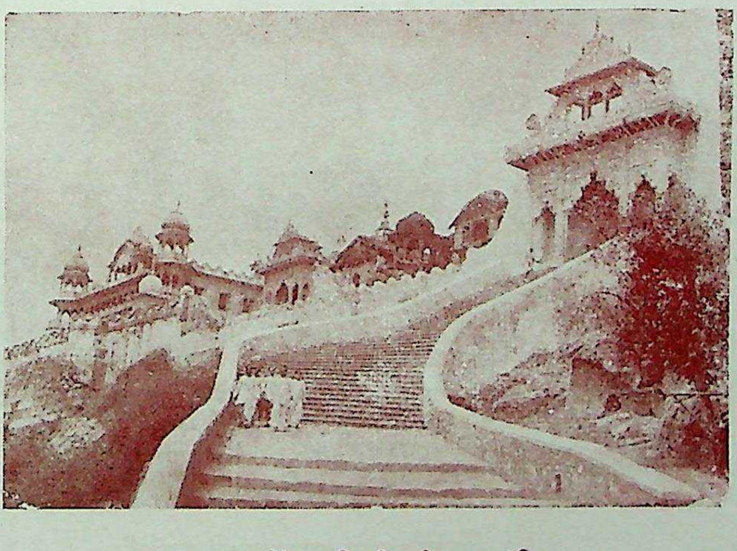

बरसाना में लाड़िली जी का मंदिर

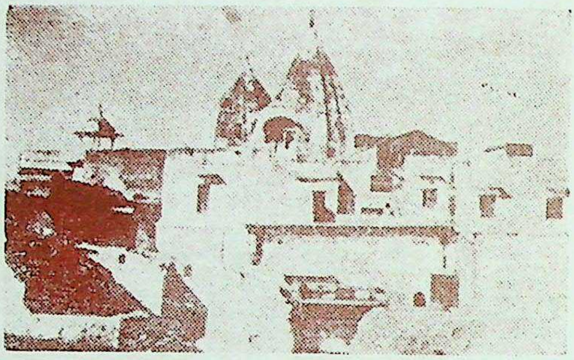

नंदगाँव

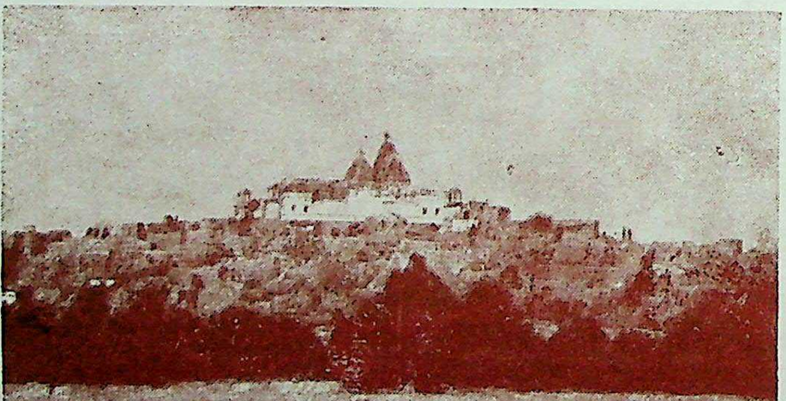

नंदगाँव पहाड़ी पर नंदराय जी का मंदिर

ऊँचागाँव—यह बरसाना के समीप का एक धार्मिक स्थल है। ब्रजोद्धारक श्री नारायण भट्ट का इस स्थान से घनिष्ट संबंध था। भट्ट जी ने यहाँ श्री बलदेव जी की स्थापना की थी, जिनका मंदिर यहाँ विद्यमान है। यहाँ भट्ट जी की समाधि भी है। इस गाँव के निकट की छोटी पहाड़ी को **'सखी गिरि'** कहा जाता है। वहाँ खिसलनी शिला, चित्र शिला, ललित-विवाह मंडप, त्रिवेणी कूप, सखी कूप और रासमंडल आदि दर्शनीय स्थल हैं। भाद्रपद शु० १२ को यहाँ जो रासलीला होती है, उसे 'बूढ़ी लीला' कहा जाता है।

कमई—इसे राधा जी की सखी विशाखा का जन्म-स्थान कहा जाता है। यहाँ की रास-मंडलियाँ प्रसिद्ध हैं।

करहला—बरसाना से प्राय: ४ मील पूर्व की ओर यह प्रसिद्ध लीला-स्थल है। इसे श्री राधा जी की अष्टसखियों में प्रधान कलाकोविदा ललिता जी का जन्म-स्थान कहा जाता है। इस गाँव का अधिक महत्व यहाँ की रास मंडलियों के कारण है। ब्रज की रास-लीला के प्रचार और प्रसार में यहाँ के रासधारियों का बड़ा योग रहा है। इस गाँव के निवासी श्री घमंडी जी ने रास मंडली का आरंभिक संगठन किया था तथा उनके वंशज उदयकरण और खेमकरण ने अपने बालकों के साथ इसमें सक्रिथ सहयोग दिया था। उनके कारण यह गाँव रासधारियों का प्रमुख केन्द्र बन गया था। यहाँ की रास मंडलियाँ दूर-दूर तक जा कर ब्रज की इस मनोरम कला का प्रर्शन करती रही हैं। बल्लभ संप्रदाय के गोस्वामियों ने यहाँ के रासधारियों को बहुत प्रोत्साहित किया था। उनके द्वारा दिये हुए श्रीनाथ जी के मुकुट को कृष्ण का स्वरूप बनने वाला बालक धारण करता था। ऐसे कई प्राचीन मुकुट यहाँ के रासधारियों के घरों में सुरक्षित हैं। आमेर के राजा जयसिंह ने ब्रज के रासधारियों की परीक्षा ली थी, जिसमें करहला के रासधारी ही उत्तीर्ण हुए थे। उससे प्रसन्न होकर आमेर-नरेश ने उनके लिए पक्की हवेलियाँ बनवा दी थीं, जिनके ध्वंसावशेष अभी तक विद्यमान हैं। करहला के रासधारियों के कई घराने उनके कारण 'महल वाले' और 'हवेली वाले' कहलाते हैं। इस गाँव के निकटवर्ती कृष्णकुंड पर सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गो० विट्ठलनाथ जी की बैठकें हैं। यहाँ की कदमखंडी प्रसिद्ध है, जो अब बहुत-कुछ नष्ट हो गई है।

उत्सव—बरसाना में कई उत्सव और मेले आदि होते हैं, जिनमें 'राधा अष्टमी का उत्सव' और 'होली का मेला' अधिक प्रसिद्ध हैं। भाद्रपद शु० ८ को यहाँ लाड़िली जी के मंदिर में जन्मोत्सव होता है, जिसमें हज़ारों दर्शक उपस्थित होते हैं। फाल्गुन शु० ८ को यहाँ पर होली का बड़ा मेला होता है, जिसे **'लठामार होली'** कहते हैं। उस दिन बरसाने के गोस्वामियों की महिलाएँ नंदगाँव के गोस्वामियों से होली खेलती हैं। उस होली में महिलाएँ बड़े-बड़े लट्ठों से पुरुषों पर प्रहार करती हैं। पुरुष गण अपनी ढालों पर उन प्रहारों को बचाते हैं। उस विचित्र होली को देखने के लिए हज़ारों नर-नारी एकत्र होते हैं।

ब्रज की साँझी कला प्रसिद्ध है, जो आश्विन माह में कई रूपों में प्रदर्शित की जाती है; जैसे रंग की साँझी, जल की साँझी, गोबर को साँझी, फूलों की साँझी, कौड़ियों की साँझी आदि। बरसाने की स्त्रियाँ गोबर की बड़ी सुंदर साँझी बनाती हैं। यहाँ के प्राय: सभी घरों की दीवारें आश्विन मास में साँझी से चित्रित दिखाई देती हैं।

बरसाने की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० ३ को होती है। इस परिक्रमा का परिमाण दो कोस है। यहाँ से यात्रा प्रेम सरोवर होकर संकेत पर मुकाम करती है।

११–संकेत (ब्रज-यात्रा का ग्यारहवाँ मुकाम) मि. आश्विन शु० ६––

संकेत—इसका अर्थ है, गुप्त सूचना द्वारा निर्धारित मिलन-स्थल। इसके संबंध में प्राचीन मान्यता है कि श्री राधा-कृष्ण इसी स्थल पर गुप्त रीति से मिला करते थे। यह स्थान बरसाना से नंदगाँव जाने वाले पक्के सड़क मार्ग पर दोनों के प्रायः बीच में स्थित है। पुराने समय में यहाँ पर एक विशाल वट वृक्ष था, जिसे 'संकेत वट' कहते थे। यहाँ पर श्री संकेतबिहारी जी, संकेती देवी और श्री राधाबिहारी जी के मंदिर हैं तथा रास चबूतरा और झूला मंडप हैं। श्री राधाबिहारी जी के मंदिर को बरसाना के रूपराम कटारा ने बनवाया था। इसकी वास्तु शैली नंदगाँव के मंदिर जैसी है, यद्यपि यह उससे छोटा है। यह मंदिर काफी दूर से दिखाई देता है। दूसरा मंदिर, जो चारदीवारी वाले बाग में है, बर्धमान के राजा का बनवाया हुआ है। रास चबूतरा और झूला मंडप श्री नारायण भट्ट जी ने बनवाया था। इनके समीप गोसाईं विट्ठलनाथ जी और श्री गोपाल भट्ट जी की बैठकें हैं। जब यात्रा का यहाँ मुकाम होता है, तब इस स्थल पर राधा-कृष्ण के विवाह की रास-लीला होती है। संकेत गाँव से थोड़ी दूर खेतों में विह्वल कुंड है और विह्वला देवी का देवालय है। इन्हें विमल कुंड और विमला देवी भी कहा जाता है। ओरछा के राजा वीरसिंह देव ने सं० १६७५ में कुंड को पक्का करावाया था और देवी का मंदिर बनवाया था।

प्रेम सरोवर—बरसाने से नंदगाँव जाने वाले मार्ग में प्रायः आधा कोस पर यह सुंदर सरोवर है। इसके तट पर श्री प्रेमबिहारी जी और श्री राधागोपाल जी के मंदिर हैं। दूसरा मंदिर मथुरा के मारवाड़ी सेठ लक्ष्मीनारायण पोद्दार ने बनवाया था। इसके प्रबंध के लिए एक ट्रस्ट है, जिसके द्वारा दातव्य अन्न क्षेत्र और निःशुल्क संस्कृत पाठशाला का भी संचालन होता है। प्रेम सरोवर पर नौका लीला का उत्सव होता है। भाद्रपद शु० १२ को यहाँ रास लीला होती है। इसके समीप का गाँव गाज़ीपुर कहलाता है।

संकेत से यात्रा रीठौरा होती हुई नंदगाँव पहुँच कर पड़ाव डालती है।

१२–नंदगाँव (ब्रज-यात्रा का बारहवाँ मुकाम) मि. आश्विन शु. ७,८,९––

नंदगाँव—यह श्री कृष्ण के बाल्य काल का निवास-स्थल और उनके पालक पिता नंदराय जी का गाँव है। कृष्ण-काल में यहाँ से गोबर्धन पहाड़ी और यमुना तट तक प्राचीन वृंदाबन था, जिसका विस्तार बीस कोस था। नंदगाँव की वर्तमान बस्ती यहाँ की रुद्र पहाड़ी के चारों ओर बसी हुई है। पहाड़ी के ऊपर से देखने पर बस्ती का सुंदर दृश्य दिखाई देता है। जब श्री निंबार्काचार्य जी ने ब्रज में आकर निवास किया था, तब उन्होंने इस प्राचीन लीला स्थल के महत्व की पुनर्स्थापना का प्रयास किया होगा, जिसका संकेत उनकी सहस्र-नामावली में मिलता है[1]। यहाँ के मंदिर के गोस्वामी भी निंबार्क संप्रदाय के अनुयायी हैं।

श्री नंदराय जी का मंदिर—नंदगाँव की रुद्र पहाड़ी के शिखर पर, जहाँ कृष्ण-काल में श्री नंदराय जी का निवास स्थल था, यह मंदिर बना हुआ है। इसे नंदालय अथवा नंद महल कहते हैं। इसमें श्री कृष्ण, बलदेव जी, नंदराय जी और यशोदा जी की मूर्तियाँ हैं। जब चैतन्य

---

(१) नंदग्राम सुसंस्थाता यशोदानंदबर्धन।
कीर्तिवृषभानु वपुः दर्शी सु सूक्ष्म दृष्टि कृत्॥ (नैमिषखंड में वर्णित 'सहस्रनामावली')

महाप्रभु ब्रज-यात्रा के लिये ग्राये थे, तब वे गोवर्धन ग्रौर कामबन के लीलास्थलों के दर्शन करने के उपरांत नंदगाँव भी गये थे । कृष्णदास कविराज ने लिखा है, —'महाप्रभु जी ने नंदगाँव के पावन कुडों में स्नान कर वहाँ की देवमूर्तियों के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की थी । तव लोगों ने उन्होंने बतलाया कि पहाड़ी के ऊपर एक गुफा में कुछ देव मूर्तियाँ हैं । उनमें दो मूर्तियाँ पुष्ट कलेवर माता-पिता की हैं ग्रौर एक उनके बीच में त्रिभंगी सुंदर बालक की है । यह सुन कर चैतन्य देव ग्रानंद पूर्वक गुफा में गये ग्रौर वहाँ उन्होंने श्री नंदराय जी, यशोदा जी ग्रौर श्री कृष्ण जी के दर्शन किये[1] ।' कविराज के उक्त कथन से ज्ञात होता है कि १६वीं शताब्दी में नंदगाँव में कोई मंदिर नहीं था । वहाँ की पहाड़ी की गुफा में तीन देवमूर्तियों के दर्शन होते थे ।

श्री नंदराय जी का मंदिर सब से पहिले कब बना, इसका उल्लेख नहीं मिलता है । वर्तमान मंदिर रूपसिंह नामक एक जाट सरदार ने सं० १६०७ में बनवाया था । मंदिर की दीवारें काफी ऊँची ग्रौर मजबूत हैं । उनके कोनों पर बुजियाँ ग्रौर छतरियाँ बनी हुई हैं । इस मंदिर में श्रीकृष्ण जी, बलदेव जी, नंदराय जी ग्रौर यशोदा जी की चार मूर्तियाँ हैं । ये मूर्तियाँ ब्रज के विख्यात भक्त–कवि ग्रानंदघन जी द्वारा स्थापित कही जाती हैं । उनके वंशज ही वर्तमान मंदिर के ग्रधिकारी हैं[2] ।

उक्त मंदिर ग्रौर नंदगाँव के ग्रोर-पास ग्रनेक देव-स्थान, तीर्थ ग्रौर धार्मिक स्थल हैं । इनमें बूढ़ेबाबू, एक प्राण दो देह, नंदीश्वर, हाऊ-बिलाऊ, दधिमंथन का मांट, गाय बाँधने के खूंटे, पावन सरोवर, श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक, श्री सनातन गोस्वामी जी ग्रौर रूपगोस्वामी जी की भजन-कुटियाँ, विविध कुंड-सरोवर, टेढ़ कदंब, चरण चिन्ह, ग्रक्रूर बैठक, उद्धव क्यारी ग्रादि हैं । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

बूढ़े बाबू—श्री नंदराय जी के मंदिर के प्रवेश द्वार के निकट शिव जी की एक छोटी सी लिंगमूर्ति है, जिसे 'बूढ़े बाबू' कहते हैं । पौराणिक ग्रनुश्रुति के ग्रनुसार शिव जी बालक श्री कृष्ण का दर्शन करने के लिए नंद-भवन में ग्राये थे । उसी स्मृति में इस शिवमूर्ति की स्थापना की गई है ।

एक प्राण दो देह—मंदिर के बड़े द्वार के सामने नीचे की ग्रोर यह ग्रद्भुत मूर्ति है । इसके ग्रर्ध भाग में श्री कृष्ण का ग्रौर ग्राधे में श्री राधा जी का स्वरूप है । मूर्ति के पाषाण का रंग भी ग्राधा श्याम ग्रौर ग्राधा गौर है । ऐसी विचित्र प्रतिमा ब्रज में ग्रन्यत्र नहीं है । पहिले यह टूटे-फूटे मंदिर में थी; किंतु ग्रब मंदिर का जीर्णोद्धार हो गया है ।

---

(१) ताहाँ लीलास्थली देखि गेला नंदीश्वर । नंदीश्वर देखि प्रेमे हइला विह्वल ।।
पावनादि सब कुंडे स्नान करिया । लोकेर पुछिल पर्वत उपरे याइया ।।
किछु देवमूर्ति हय पर्वत उपरे ? लोक कहे मूर्ति हय गोफार भितरे ।।
दुइदके माता-पिता पुष्ट कलेवर । मध्ये एक शिशु हय, त्रिभंग सुंदर ।।
शुनि महाप्रभु मने ग्रानंद राइया । तिन मूर्ति देखिला सेइ गोफा उघाड़िया ।।
ब्रजेन्द्र ब्रजेश्वरी कैल चरण वंदन । प्रेमावेश कृष्णेर कैल सर्बांग स्पर्शन ।।
—श्री चैतन्य-चरितामृत, मध्यलीला, १८ वाँ परिच्छेद, सं० ५१–५६

(२) घनग्रानंद, (वाङ्मुख, पृष्ठ ६७–६८)

नंदीश्वर—यह नंदगाँव के अधिष्ठाता रुद्र देवता हैं। यहाँ की पहाड़ी को भी रुद्र का स्वरूप कहा जाता है, अतः इस देव-मूर्ति की यहाँ अच्छी मान्यता है।

हाऊ-विलाऊ—यशोदा जी बालक कृष्ण की नटखटी रोकने के लिए उन्हें हाऊ का डर दिलाती थीं। उसी स्मृति में इस मूर्ति की स्थापना की गई है।

दधि मंथन मांट—इन विशाल मृतिका पात्रों को यशोदा जी के दधि-मंथन के मांट कहते हैं। ये इतने बड़े हैं कि इनके अंदर दो आदमी बैठ सकते हैं। ये ब्रज की पात्र निर्माण कला के दर्शनीय नमूने हैं।

खिरक और खूंटे—इन्हें नंद-यशोदा जी की गायों को बाँधने का स्थल कहा जाता है।

पावन सरोवर—वह नंदगाँव का प्राचीन और पवित्र कुंड है। इसे पान सरोवर भी कहते हैं। इसमें सदैव अगाध जल भरा रहता है। सं० १८०४ में इसे बर्धमान की रानी ने पक्का बनवा दिया था। इसके तट पर और समीप में पुराने मंदिर तथा ब्रज के अनेक संत-महात्माओं के निवास स्थल हैं। इसके निकट श्री सनातन गोस्वामी का भजन स्थल, मुक्ता कुंड, फुलवारी कुंड, विलास वट, टेर कदंब, श्री रूप गोस्वामी जी की भजन कुटी आदि कई दर्शनीय स्थल हैं।

नंदगाँव के समीप अनेक लीला-स्थल हैं; जिनमें रीठौरा, आंजनोख, पिसाया, खदिर बन और उद्धव क्यारी उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

रीठौरा— यह चंद्रावली जी का स्थान माना जाता है। यहाँ चंद्रावली कुंड है, जिसके निकट श्री गोसाईं जी की बैठक है।

आंजनोख—ब्रज के इस लीला-स्थल पर श्रीकृष्ण द्वारा राधा जी की आँखों में अंजन लगाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है; इसीलिए इसे 'आंजनोख' कहा जाता है। इसे विशाखा सखी का निवास-स्थान भी कहते हैं।

पिसाया—यह स्थान लीला-भूमि होने के साथ ही साथ ब्रज का अत्यंत रमणीक स्थल भी है। इसका प्राचीन नाम 'पिपासा बन' कहा जाता है। यहाँ मनोरम कदमखंडी है तथा तृष्णा-कुंड और विशाखा कुंड हैं। इसके प्राकृतिक सौन्दर्य के संबंध में इस ग्रंथ के विगत पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है[1]।

खदिर बन—ब्रज के सुप्रसिद्ध बारह बनों में इसे छठा बन कहा गया है; किंतु वर्तमान काल में इसका प्राचीन बन्य स्वरूप समाप्त प्राय हो गया है। इस समय वहाँ एक छोटा गाँव बसा है, जिसे **'खायरा'** कहते हैं। यहाँ की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० ४ को होती है, जिसका परिमाण सवा कोस है। यहाँ के कुंड को कृष्ण कुंड अथवा संगम कुंड कहते हैं। इसके निकट रास मंडल और कदमखंडी हैं। जब चैतन्य महाप्रभु के आदेशानुसार सर्वश्री लोकनाथ जी और भूगर्भ जी ब्रज में आये थे, तब वे इसी स्थान पर रहे थे। यहाँ के संगम कुंड के निकट उनकी भजन कुटियाँ हैं।

उद्धव क्यारी—यह एक सघन कदंबखंडी है, जिसमें कदंब वृक्षों के कई चौक हैं। यहाँ पर गोपियों की भक्ति से प्रभावित होकर उद्धव जी द्वारा ब्रज से तादाम्य स्थापित करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। उसी स्मृति में ब्रज-यात्रा के अवसर पर यहाँ उद्धव लीला का रास होता है। उस समय उद्धव-गोपी संवाद के रूप में करुण रस का जो स्रोत उमड़ता है, वह सभी दर्शनार्थियों को आनंद मग्न कर देता है।

---

(१) देखिये इस ग्रंथ का पृष्ठ ४४

नंदगाँव की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० ४ और कार्तिक शु० ८ को की जाती है। परिक्रमा का परिमाण दो कोस है। परिक्रमा में अनेक तीर्थ और लीला स्थल पड़ते हैं। यहाँ से यात्रा उठ कर जाव होती हुई बड़ी बठैन में जाकर पड़ाव डालती है।

१३–बड़ी बठैन (ब्रज-यात्रा का तेरहवाँ मुकाम) मि. आश्विन शु. १०––

बड़ी बठैन—कोसी के निकट पश्चिम दिशा में बड़ी-छोटी बठैन नाम की दो जाट बस्तियाँ हैं। इनमें बड़ी बठैन में यात्रा का मुकाम होता है। इस स्थान का श्री बलराम जी से घनिष्ट संबंध रहा है। यहाँ पर बलभद्र कुंड है और श्री बलदेव जी का मंदिर है। कुंड का पक्का घाट बरसाना के रूपराम कटारा ने बनवाया था। यहाँ पर चैत्र कृ० ३ को लठामार होली का मेला होता है। उसमें बठैन की स्त्रियों से जाव गाँव के पुरुष होली खेलते हैं। इसे 'हुरंगा' कहते हैं, जो ब्रज में बरसाना–नंदगाँव के बाद सबसे प्रसिद्ध होली का मेला है।

नंदगाँव से बड़ी बठैन पर यात्रा मार्ग में जो दर्शनीय स्थल पड़ते हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जाव—बड़ी बठैन के दक्षिण में यह एक छोटी जाट बस्ती है। अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में श्री कृष्ण की वंशी का नाद सुनकर ब्रज की गोपियाँ रास से पहिले इसी स्थल पर एकत्र हुई थीं। पहिले यहाँ पर जाव वट और किशोरी वट नामक दो विशाल वट वृक्ष थे। वार्ता के अनुसार यहाँ चतुरा नागा जी श्री बल्लभाचार्य जी से मिले थे। यहाँ के कृष्ण कुंड पर छोंकर वृक्ष के नीचे श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक है। यहाँ की होली प्रसिद्ध है। इस स्थान को राधा जी की सास जटिला का निवास-स्थल कहा जाता है।

कोकिला बन—जाव के निकट कोकिला बन नाम की एक बनस्थली है। यहाँ की भूमि कुछ नीची है, जिसमें वर्षा का पानी भर जाता है। यहाँ एक लंबा कच्चा कुंड है, जिस पर एक ओर कुछ घाट बने हैं। इस कुंड को ओरछा के राजा वीरसिंह ने बनवाया था। भादों शु० १० को यहाँ रासलीला होती है। यहाँ भी श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक है तथा एक मंदिर है।

छोटी बठैन—बड़ी बठैन के उत्तर में यह एक छोटी बस्ती है। यहाँ पर कृष्ण कुंड है और साक्षी गोपाल का मंदिर है। यहाँ पर श्री कृष्ण द्वारा वंशी बजा कर गोपियों को बुलाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। उसी स्मृति में श्री कृष्ण के चरण–चिन्ह स्थापित किये गये है। यहाँ के निकट की छोटी पहाड़ी को 'चरण पहाड़ी' और कुंड को 'चरण गंगा' कहते हैं। पहाड़ी के चारों ओर करील, पीलू, पसेंदू, हिंगोट, बरना और अंजनरूख के जंगली झाड़ हैं।

बड़ी बठैन से यात्रा उठकर चरण गंगा, कामर, दुर्वासा आश्रम, दहगाँव, रासौली होती हुई कोटबन पहुँच कर मुकाम करती है।

१४–कोटबन ब्रज-यात्रा का चौदहवां मुकाम) मि. आश्विन शु. ११ ––

कोटबन—यह मथुरा–देहली रोड पर स्थित एक प्राचीन गाँव है। इसके निकट बहुत दूर तक फैली हुई बनस्थली है। राज्य सरकार द्वारा सुरक्षित यहाँ एक बनखंडी भी है, जो पुराने समय में कदंबखंडी थी। यहाँ एक छोटे कुंड के किनारे श्री गोसाईं जी की बैठक है। गाँव की बस्ती एक ऊंचे टेकरे पर बसी हुई है। यहाँ पर शीतल कुंड तथा सूर्यकुंड नामक तीर्थ हैं।

बड़ी बठैन से कोटबन आने वाले यात्रा-मार्ग में जो लीला-स्थल विद्यमान हैं, उनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

कामर—इस लीला-स्थल में गोपीकुंड, गोपी जल-विहार, हरिकुंड, मोहनकुंड आदि तीर्थ हैं, जिनमें निकटवर्त्ती जंगल में से बरसाती पानी आता है। यहाँ जाट राजा सूरजमल का बनवाया हुआ मंदिर है।

दुर्वासा आश्रम—यह एक प्राचीन तप-स्थल है, जिसे दुर्वासा ऋषि का स्थान माना जाता है।

दहगाँव—इसका प्राचीन नाम दधिग्राम है; जहाँ श्री कृष्ण द्वारा गोपियों के दूध–दही की लूट किये जाने की अनुश्रुति प्रचलित है। यहाँ दधिकुंड तीर्थ है तथा दधिहारी देवी और श्री ब्रजभूषण जी के मंदिर हैं।

रासौली—यह प्राचीन रास-स्थल है। यहाँ श्री गोकुलनाथ जी की बैठक है।

कोटबन से यात्रा उठ कर चमेली बन, भूषन बन होती हुई शेषशायी पहुँचती है। वहाँ से यात्रा दक्षिण की ओर मुड़ कर नंदनबन होती हुई कोसी में पहुँच कर मुकाम करती है।

१५–कोसी (ब्रज-यात्रा का पंद्रहवाँ मुकाम) मि. आश्विन शु. १२—

कोसी—यह एक व्यापारिक कस्बा है, जो मथुरा–दिल्ली सड़क पर मथुरा से २६ मील दूर है। मथुरा जिला की प्रसिद्ध व्यापारिक मंडी होने के कारण यहाँ रेल, तार, डांक, नहर, मोटर आदि सभी प्रकार की सुविधाएँ हैं। दिल्ली के निकट ओखला बंद से यमुना की जो नहर निकाली गई है, वह यहाँ बहती है। उससे इस कस्बा की जल-पूर्ति भली भाँति हो जाती है। कोसी से होडल तक की भूमि कुछ नीची है, अतः अधिक वर्षा होने पर यहाँ बाढ़ और गरकी की आशंका बनी रहती है। बाढ़ का पानी यहाँ होडल की ओर से आता है, जिसके निकास का कोई खास प्राकृतिक मार्ग नहीं है। सन् १८७३ में इसी प्रकार की बाढ़ से यहाँ बड़ी हानि हुई थी। कस्बा के बीचों बीच एक बड़ी सराय है, उसके चारों ओर पक्की दीवारें हैं, जिनमें दो संगीन महरावदार दरवाजे भी हैं। इस सराय को अकबर के शासन-काल में दिल्ली के राज्यपाल ख्वाजा इतिवारखां ने बनवाया था। यहाँ के प्राचीन रत्नाकर कुंड को उसी काल में पक्का बनवाया गया था। कस्बे के मुख्य बाजार तथा अधिकांश बस्ती इस सराय के दोनों दरवाजों के अंदर ही हैं।

कोसी का धार्मिक महत्व भी कम नहीं है। इसका प्राचीन नाम कुशस्थली है। इसे ब्रज मंडल की द्वारकापुरी माना जाता है। यहाँ पर कई तीर्थ और देव स्थान भी हैं। तीर्थों में रत्नाकर सागर, माया कुंड, विशाखा कुंड और गोमती कुंड उल्लेखनीय हैं। ये सभी तीर्थ द्वारकापुरी के प्रतीक हैं। गोमती कुंड रमणीक स्थल पर स्थित है और इसे अत्यंत पवित्र माना जाता है। यहाँ पर गिरिराज जी, दाऊजी और बिहारी जी के मंदिर तथा पक्के घाट हैं। मंदिरों में चैत्र कृ० २ को फूलडोल होता है। यहाँ पर जैनियों के कई मंदिर और मुसलमानों की मसजिदें भी हैं। जैन मंदिरों में श्री पद्मप्रभु, नेमिनाथ जी और महावीर जी के हैं। यहाँ कई उत्सव-मेले भी बड़ी धूम-धाम से होते हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध दशहरा का मेला है, जो आश्विन शु० १० को होता है। इसमें हजारों देहाती नर-नारी एकत्र होते हैं। जैनी और मुसलमान भी अपने उत्सव-त्यौहारों को धूम-धाम से करते हैं।

कोटबन ग्रौर कोसी के मार्ग में जो प्रसिद्ध धार्मिक स्थान हैं, उनका परिचय इस प्रकार है—

चमेली बन-–यह ग्रत्यंत सघन ग्रौर रमणीक बनस्थली है। इसे 'भूलन बन' भी कहते हैं। यहाँ पर वृक्ष, लता, कुंजों की इतनी सघनता है कि मार्ग भूल जाने का ग्रंदेशा रहता है।

शेषशायी—यहाँ शेषशायी नारायण का मंदिर है ग्रौर क्षीर सागर कुंड है तथा श्री बल्लभाचार्य जी बैठक है। यह ब्रज की उत्तरी सीमा पर ब्रज--यात्रा का सर्वाधिक दूरस्थ स्थान है, जो पंजाब की सीमा के निकट है। यहाँ से ब्रज–यात्रा वापिस लौटती है।

कोसी से यात्रा उठ कर पूर्व की दिशा में चलती हुई पैंगाम पहुँच कर मुकाम करती है।

१६–पैंगाम (ब्रज–यात्रा का सोलहवाँ मुकाम) मि. ग्राश्विन शु. १३—

पैंगाम—यह स्थान कोसी से ६ मील दूर पूर्व दिशा में है। इसका प्राचीन नाम पयग्राम है, ग्रौर यह श्री चतुरा नागा जी का जन्म स्थान है। यहाँ पर पय सरोवर, गोपाल कुंड ग्रौर गोपी कुंड नामक तीर्थ हैं तथा कदंब ग्रौर तमाल वृक्षों से युक्त एक सुंदर बनस्थली है।

फालैन—कोसी से पैंगाम ग्राने पर यात्रा मार्ग से कुछ हट कर यह गाँव पड़ता है। यहाँ पर फाल्गुन शु० १५ को होलिका दहन का प्रसिद्ध मेला होता हैं। उस समय यहाँ के मंदिर का पुजारी जलती हुई होली की ज्वालाग्रों में से नंगे शरीर निकलता है। उस ग्राश्चर्यजनक घटना को देखने के लिए दूर-दूर से हजारों नर-नारी ग्राकर वहाँ एकत्र होते हैं[1]।

पैंगाम से यात्रा उठकर खेलन बन, लाल बाग ग्रौर उजानी होती हुई शेरगढ़ पहुँच कर मुकाम करती है। मथुरा में यमुना जी को छोड़ने के पश्चात् यात्रियों को इसी क्षेत्र में सर्वप्रथम उनके दर्शन होते हैं। वे बड़ी श्रद्धा–भक्ति पूर्वक यमुना जी पर भोग चढ़ाते हैं ग्रौर ग्राचमन–स्नानादि करते हैं।

१७--शेरगढ़ (ब्रज–यात्रा का सतरहवाँ मुकाम) मि. आश्विन शु. १४—

शेरगढ़—यह यमुना तट पर बसा हुग्रा ब्रज का एक धार्मिक, ऐतिहासिक ग्रौर ग्रौद्योगिक कस्बा है। यहाँ श्री रेवती बलदेव जी, श्री गोपीनाथ जी ग्रौर धर्मराय जी के मंदिर हैं तथा बलभद्र कुंड नामक तीर्थ है। शेरशाह बादशाह ने यहाँ एक मजबूत किला बनवाया था, जिसके ग्रब केवल खंडहर रह गये हैं। यह स्थान ब्रज के गृह उद्योगों का केन्द्र था। यहाँ पर काँच का काम होता था। काँच की चूड़ियाँ–छल्ले यहाँ बहुतायत से बनाये जाते थे। कपड़ों के बने हुए खिलौने जैसे हाथी, घोड़े, ऊँट, गेंद, थैले, बटुए, शतरंज, चौपड़ के पट, गोल ताश ग्रादि यहाँ की प्राचीन कारीगरी की वस्तुएँ हैं। घोड़े की जीन भी यहाँ बहुत ग्रच्छी बनाई जाती है।

शेरगढ़ से यात्रा उठ कर रामघाट, भूषण बन, गुंजा बन, निवारण बन, बिहार बन, ग्रक्षयवट, गोपीघाट होती हुई चीरघाट पर पहुँच कर मुकाम करती है।

---

(१) **इसी प्रकार का ग्राश्चर्यजनक उत्सव उड़ीसा राज्य में चर्चिका देवी के मंदिर में भी होता है। यह मंदिर कटक से ३० मील दूर महानदी के तट पर है ग्रौर वह उत्सव प्रति वर्ष वैशाख कृ० १ को होता है। इसे 'झामु यात्रा' या ग्रग्नि उत्सव कहते हैं।**

१८–चीरघाट (ब्रज-यात्रा का अठारहवाँ मुकाम) मि. आश्विन शु० १

चीरघाट—यह घाट वह पुराणप्रसिद्ध स्थल कहा जाता है, जहाँ ब्रज की गोप कुमारियाँ यमुना स्नान करती थीं और जहाँ श्री कृष्ण ने उनके वस्त्रों का हरण किया था। गोप-कुमारियाँ जिस कात्यायिनी देवी का पूजन करती थीं, उसका देवालय भी यहाँ है; किंतु वह अब भग्नावस्था में है। इसके साथ ही श्री कृष्ण गोपियों के वस्त्र लेकर जिस कदंब पर चढ़ गये थे, उसका प्रतिनिधि वृक्ष भी यहाँ बतलाया जाता है। यहाँ पर गोपीघाट और गोपतलाई हैं, तथा श्री गोसाईं जी की बैठक है। इस स्थल के समीपवती गाँव का वर्तमान नाम स्यारहा है।

शेरगढ़ से चीरघाट तक के यात्रा-मार्ग में जो प्रमुख लीला-स्थल विद्यमान हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

रामघाट—यह स्थल शेरगढ़ के समीप पूर्व दिशा में यमुना तट पर स्थित है। इसे श्री बलराम जी का बिहार स्थल कहा जाता है। जब श्री बलराम जी द्वारका से ब्रज आये थे, तब उन्होंने इस स्थल पर वारुणी पीकर रास-विलास किया था। यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने हल की नोंक से यमुना को खींच लिया था। इसका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि उस काल में यमुना का प्रवाह वहाँ से कुछ दूर हो गया था, जिससे ब्रजवासियों को असुविधा होती थी। उनकी सुविधा के लिए बलराम जी ने बांध आदि बनवा कर यमुना की धारा को बदल दिया था। इस समय भी इस स्थल पर यमुना का परिवर्तित प्रवाह दिखलाई देता है। बलराम जी के नाम पर ही इस स्थल का नाम 'रामघाट' पड़ा है। यहाँ बलराम जी का मंदिर है। १६वीं शताब्दी में जब गौड़ीय धर्माचार्य श्री नित्यानंद जी ब्रज में आये थे, तब उन्होंने यहाँ नृत्य–कीर्तनादि किया था। इस स्थल के निकटवर्ती गाँव का वर्तमान नाम ओवे है।

रामघाट के निकट ब्रह्मघाट है, जहाँ ब्रह्मा जी द्वारा गोप-बालकों और गो-वत्सों का हरण किये जाने के उपरांत श्री कृष्ण से क्षमा माँगने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इस स्थल के आगे विलास बन, भूषण बन, निवारण बन, गुंजा बन, बिहार बन और अक्षयवट आदि लीला स्थल हैं। इनके संबंध में अनेक पौराणिक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। बिहार बन में बिहार कुंड है और श्री बिहारी जी का मंदिर है।

चीरघाट से यात्रा उठ कर नंदघाट, भैगाँव, बसई गाँव होती हुई बच्छबन पहुँचती है। फिर वह बच्छबन अथवा उसके निकट सेई में मुकाम करती है।

१९--बच्छबन–सेई (ब्रज-यात्रा की उन्नीसवाँ मुकाम) मि. कार्तिक कृ० १—

बच्छबन—इसका प्राचीन नाम वत्स बन है; जिसके संबंध में एक पौराणिक उपाख्यान प्रसिद्ध है। कहते हैं, जब ब्रह्मा जी श्री कृष्ण के दर्शनार्थ ब्रज में आये थे, तब उन्होंने गोप-बालकों और गो-वत्सों के साथ श्रीकृष्ण को खाते-पीते देखा था। उससे ब्रह्मा जी को श्री कृष्ण के अवतार होने में शंका हुई थी। उसकी परीक्षा के लिए ब्रह्मा जी ने गोप-बालकों और बछड़ों का हरण कर लिया था। श्री कृष्ण ने उनके स्थान पर वैसे ही दूसरे बालक और बछड़े प्रस्तुत कर दिये थे; जिससे ब्रह्मा जी ने लज्जित होकर श्री कृष्ण से क्षमा माँगी थी। यहाँ पर चार स्तंभों वाला एक अद्भुत

वृक्ष है, जिसे चतुर्मुख ब्रह्मा का प्रतीक समझा जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ ब्रह्मकुंड और ओरछा नरेश वीरसिंह द्वारा निर्मित श्री बिहारी जी का मंदिर है। ब्रह्मकुंड पर छोंकर वृक्ष की छाया में श्री गोसाईं जी की बैठक है।

चीरघाट से बच्छबन आते हुए मार्ग में नंदघाट नामक एक पुराणप्रसिद्ध स्थल पड़ता है। उसके संबंध में अनुश्रुति है कि वहाँ स्नान करते हुए नंदराय जी को वरुण के सेवकों ने पकड़ लिया था; तब श्री कृष्ण ने उन्हें छुड़ाया था। १७वीं शताब्दी के आरंभ में रूप गोस्वामी जी ने जब बिना किसी विशेष कारण के जीव गोस्वामी का परित्याग किया था, तब वे क्षुब्ध होकर कुछ काल तक यहाँ रहे थे। उसी समय जीव गोस्वामी ने 'षट्संदर्भ' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की थी। जिस गुफा में जीव गोस्वामी रहते थे, वह अभी तक विद्यमान है।

बच्छबन से यात्रा उठ कर विविध लीला-स्थलों में होती हुई वृंदावन पहुँच कर मुकाम करती है। वृंदाबन जाने के दो मार्ग हैं—

प्रथम मार्ग—बच्छबन से आगे यमुना नदी को पार कर भद्रबन, मुंजबन, मेखबन (बिजौली गाँव), भांडीरबन, मांट, बेलबन होती हुई यात्रा यमुना पार कर वृंदाबन पहुँचती है।

द्वितीय मार्ग—बच्छबन से सेई, तरौली, सेंमरी, नरी, आझई, चौमुहा, जैत, छटीकरा, गरुड़गोविंद आदि ब्रज के गाँवों की लंबी परिक्रमा करती हुई यात्रा वृंदाबन पहुँचती है।

प्रथम मार्ग की अपेक्षा द्वितीय मार्ग लंबा है; किंतु उससे यमुना को पार नहीं करना पड़ता है; जब कि प्रथम मार्ग से दो-दो बार यमुना को पार करना आवश्यक होता है। एक मार्ग से जाने पर दूसरे मार्ग के लीला-स्थल छूट जाते हैं। यहाँ पर हम दोनों मार्गों के कतिपय प्रमुख स्थलों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम मार्ग के प्रमुख स्थल —

भद्र बन—ब्रज के प्राचीन बारह बनों में यह आठवाँ और यमुना पार के पाँच बनों में यह पहिला बन था; जो कालांतर में समाप्त प्राय हो गया। इस समय उक्त नाम की एक छोटी बस्ती है; जहाँ श्री मधुसूदन जी और हनुमान जी के मंदिर हैं तथा मधुसूदन कुंड और सूरज कुंड हैं। यहाँ स्थानीय परिक्रमा भी की जाती है, जिसका परिमाण पौने दो कोस है।

मुंज बन—इसे मुंजाटवी भी कहते हैं। यह श्री कृष्ण द्वारा दावाग्नि शांत किये जाने का प्राचीन स्थल माना जाता है।

भांडीर बन—ब्रज के प्राचीन बारह बनों में यह नौवाँ और यमुना पार के पाँच बनों में यह दूसरा बन था; जिसका संबंध भंडीर नामक यक्ष से था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यहाँ प्रलंबासुर रहता था, जिसे श्री कृष्ण–बलराम ने मारा था। यहाँ श्री बलदेव जी और श्री बिहारी जी के मंदिर हैं, तथा भांडीर बट और भांडीर कूप हैं।

मांट—यह ब्रज का एक प्राचीन गाँव है, जिसका नाम-करण गोपियों द्वारा दधि-मंथन करने के मिट्टी के बर्तन (मांट अथवा भांड) के नाम पर हुआ है।

बेल बन—यह ब्रज के बारह बनों में दसवाँ और यमुना पार के पाँच बनों में तीसरा बन था; जो अब समाप्त प्राय है। उसके स्थान पर जहाँगीरपुर नामक गाँव बस गया है। यहाँ पर यमुना किनारे श्याम तमाल वृक्ष के नीचे श्री गुसाईं जी की बैठक है।

द्वितीय मार्ग के प्रमुख स्थल—

सेई—यहाँ पर ब्रह्मा जी द्वारा ब्रज के गोप-बालकों और गो-वत्सों के छिपाये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है।

नरी-सेंमरी—ये दो छोटे गाँव हैं, जिन्हें श्री राधा जी की किन्नरी और साँवरी नामक दो सखियों के स्थान कहे जाते हैं। वर्तमान काल में इनकी प्रसिद्धि ब्रज की दो लोक देवियों के कारण है। चैत्र शु० ८ को यहाँ उक्त देवियों का बड़ा मेला होता है। नरी में किशोरी कुंड और संकर्षण कुंड हैं तथा सेंमरी में नारायण कुंड है।

चौमुहा-आझई—मथुरा–कोसी मार्ग पर ये दो छोटे गाँव हैं। चौमुहा चतुर्मुख ब्रह्मा का स्थान माना जाता है। उसके निकटवर्ती आझई गाँव में ब्रह्मा जी की चतुर्मुखी मूर्ति है। आझई रेल का स्टेशन भी है।

जैत—यहाँ अघासुर नामक एक भयंकर सर्प का श्री कृष्ण द्वारा बध किये जाने पर देवताओं ने उनका जय–जयकार किया था। उसी अनुश्रुति के आधार पर इस स्थल का जैत (जयति) नाम पड़ा है। यहाँ के तालाब में सर्प की मूर्ति थी। उसे इस प्रकार कारीगरी से बनाया गया था कि तालाब में चाहें जितना पानी बढ़ जावे अथवा कम हो जावे, वह सर्प मूर्ति सदैव पानी के ऊपर ही दिखलाई देती थी। अब से कुछ समय पहिले वह कलात्मक मूर्ति नष्ट हो गई थी।

छटीकरा–गरुड़गोविंद—छटीकरा ब्रज का एक छोटा गाँव है। यह रेल का स्टेशन भी है, जिसे अब 'वृंदाबन रोड' कहा जाता है। छटीकरा के निकटवर्ती जंगल में **'गोपालगढ़'** नामक एक देव-स्थान है; जिसका निर्माण निंबार्क संप्रदायाचार्य ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी ने सं० १६४६ में कराया था। छटीकरा गाँव के समीप गरुड़गोविंद मंदिर है, जिसमें गरुड़ पर आसीन विष्णु भगवान् की मूर्ति विराजमान है। यहाँ से वृंदाबन के लिए कच्चा मार्ग गया है। मथुरामंडल की जो बड़ी परिक्रमा की जाती है, उसमें मथुरा से वृंदाबन जाने के लिए गरुड़गोविंद मंदिर के पास होकर जाना पड़ता है।

२०–वृंदाबन (ब्रज–यात्रा का बीसवां मुकाम) मि. कार्तिक कृ० २, ३, ४—

वृंदाबन—यह ब्रजमंडल का अत्यंत प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। जैसा पहिले लिखा गया है, प्राचीन काल में यह एक विशाल सघन बन था; जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और रमणीक बन-शोभा के लिए विख्यात था। इसे ब्रज के सुप्रसिद्ध बारह बनों में सातवाँ बन माना गया है। प्राचीन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि कृष्ण-काल के वृंदाबन में गोबर्धन पहाड़ी थी और उसके निकट ही यमुना प्रवाहित होती थी। जब मथुरा के अत्याचारी राजा कंस ने कृष्ण–बलराम को छल पूर्वक मारने के लिए उन्हें बुलाने को अक्रूर भेजा था; तब वह प्रातःकाल मथुरा से चल कर सायंकाल को वृंदाबन की गोप-बस्ती में पहुँचा था(१)। इससे ज्ञात होता है, उस काल का वृंदाबन मथुरा से काफी दूर था। वह वर्तमान गोबर्धन, राधाकुंड, वृंदाबन से नंदगाँव, बरसाना और कामबन तक विस्तृत

---

(१) श्रीमद् भागवत, दशम स्कंध।

२० कोस परिधि का एक बड़ा बन था। वर्तमान वृंदावन में यमुना नदी का प्रवाह तो है, किंतु गोबर्धन पहाड़ी नहीं है। यह मथुरा से अधिक दूर भी नहीं है। इससे समझा जा सकता है कि इस समय का वृंदावन कृष्ण कालीन विशाल वृंदावन का एक भाग मात्र है, जिसकी परिधि केवल ५ कोस मानी जाती है।

प्राचीन वृंदावन का महत्व श्री कृष्ण के प्रमुख लीला-स्थल, ब्रज के एक रमणीक बन और एकांत तपोभूमि होने के कारण ही था। उन विशेषताओं के अतिरिक्त वहाँ कोई बड़ी बस्ती अथवा कोई दर्शनीय इमारत रही हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वर्तमान काल में वहाँ के कतिपय मकानों की नींव खोदते समय कुछ टूटी हुई मूर्तियाँ मिली हैं, जो कुषाण और गुप्त काल की मानी जाती हैं। श्री मदनमोहन जी के पुराने मंदिर के निकट एक प्राचीन देवालय के अवशेष भी मिले हैं। इनसे अनुमान होता है कि कुषाण, गुप्त और मध्य काल में वहाँ पर कुछ मंदिर-देवालय विद्यमान थे। उन कालों में मथुरा के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती यमुना के किनारे पर भी अनेक मंदिर, स्तूप, मठ और संघाराम बनाये गये थे। उनका सिलसिला वर्तमान वृंदाबन तक रहा होगा। विदेशियों के आक्रमणों द्वारा मथुरामंडल की बड़ी हानि हुई थी। फलतः प्राचीन काल का वह सुरम्य वृंदाबन भी उपेक्षित और अरक्षित होकर एक बीहड़ बन हो गया था। उसका पुनर्निर्माण १६वीं शती में हुआ है।

नाम का अभिप्राय—वृंदावन नाम से स्पष्ट होता है कि 'वृंदा का बन' अथवा 'वृंदा द्वारा रक्षित बन' होने से इसका यह नाम पड़ा है। वाराह पुराण में लिखा है कि ब्रज के बारह बनों में से वृंदाबन वृंदा देवी द्वारा रक्षित बन है[1]। 'वृंदा' शव्द से कई अभिप्राय लिये गये हैं—१. तुलसी, २. केदार राजा की कन्या, ३. श्री राधा जी, ४. राधा जी की एक सखी और ५. एक यक्षी।

जहाँ तक पहिले अभिप्राय की बात है, तुलसी के पौधों से वृंदाबन का सदैव घनिष्ट संबंध रहा है। प्राचीन काल में यहाँ तुलसी के पौधे अत्यधिक संख्या में थे। अब भी वे इस क्षेत्र में पर्याप्त परिमाण में पैदा होते हैं। तुलसी–काष्ठ की माला का निर्माण यहाँ की विशेषता रही है। दूसरे अभिप्राय का संबंध ब्रह्मवैवर्त पुराणोक्त केदार राजा की कन्या वृंदा की कथा से है। उससे ज्ञात होता है, वृंदा ने भगवान् श्री कृष्ण को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए घोर तप किया था। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे गोपियों में श्रेष्ठ राधा के समान सौभाग्य प्रदान किया। जिस बन में वृंदा ने तप किया और जहाँ उसने क्रीड़ा की, वह उसके नाम पर वृंदाबन कहलाया[2]। तीसरे अभिप्राय का संकेत भी ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है। उसमें लिखा है, राधा जी के सोलह नामों में श्रुति प्रसिद्ध एक नाम 'वृंदा' भी है और उसकी क्रीड़ा के बन को वृंदाबन कहा गया है। इसीलिए राधा को 'वृंदाबनी' तथा 'वृंदावन की अधिष्ठात्री देवी' की संज्ञा मिली

---

(१) **वृंदाबनं द्वादशकं वृन्दया परिरक्षितम्** (वाराह, अध्याय १५३, श्लोक ४८)

(२) **राधा समा सा सौभाग्याद् गोपी श्रेष्ठाबभूवह ।**
वृन्दा यत्र तपस्तेये तत्तु वृंदावनं स्मृतम् ।। (**ब्रह्मवैवर्त**, १७–२०४)
वृंदयात्र कृता क्रीड़ा तेन ता मुनि पुंगवः ।। (**ब्रह्मवैवर्त**, १४७, १९१, २०९)

है[1] । चौथे अभिप्राय के संबंध में श्री रूप गोस्वामी का कथन है कि राधा की पौर्णमासी--वीरा आदि अनेक अंतरंगा सखियों में एक 'वृंदा' भी थी, जो सब में वरिष्ठ थी । उसका निवास वृंदाबन में था[2] । पाँचवें अभिप्राय का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है । उसमें मथुरामंडल स्थित जिन अनेक यक्षी–यक्षों के नाम बतलाये गये हैं, उनमें एक वृंदा या वेंदा नामक यक्षी का भी है[3] । वे यक्षी-यक्ष अत्यंत शक्ति सम्पन्न थे, जो कालांतर में देवी-देवताओं की तरह ब्रज में पूजित हुए हैं । संभव है, उस वृंदा या वेंदा यक्षी के निवास-स्थल को ही वृंदाबन कहा जाने लगा हो । इस प्रकार वृंदाबन नामकरण की कितनी ही संभावनाएँ बतलाई गई हैं; किंतु इनमें श्री कृष्ण-प्रिया राधा जी से इसका संबंध सर्वाधिक प्रसिद्ध और मान्य है ।

वर्तमान वृंदाबन—इसके निर्माण का अधिकांश श्रेय सर्वश्री चैतन्य महाप्रभु, हित हरिवंश और स्वामी हरिदास जी के धार्मिक संप्रदायों को है । इन संप्रदायों के धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों ने वर्तमान वृंदाबन में निवास कर समस्त उत्तरी भारत को राधा-कृष्ण की माधुर्यमयी उपासना के रंग में रँग दिया था । उनके कारण वृंदाबन के विगत गौरव की पुनर्स्थापना हुई । बीस कोसी आकार के प्राचीन विशाल वृंदाबन से पाँच कोसी परिधि के नये वृंदाबन को पृथक् करने के लिए पहिले इसे 'निज वृंदाबन' कहा जाने लगा । फिर इसी को पुराण कालीन वृंदाबन का महत्व दिया गया और श्रीकृष्ण-लीला के प्राचीन उल्लेखों का संबंध इसी के विभिन्न स्थलों से माना जाने लगा । चीरघाट, नंदघाट, कालियदह, वंशीवट, केशीघाट आदि वृंदाबन के अनेक पुराने और नये स्थल श्रीकृष्ण-लीला के प्राचीन चिन्हों के रूप में भक्त जनों द्वारा पूजित होने लगे । इस प्रकार वृंदाबन का बीहड़ बन्य प्रदेश एक नागरिक बस्ती के रूप में परिणित हो गया । इससे वृंदावन का धार्मिक महत्व तो बढ़ गया, किंतु इसका बन-वैभव लुप्तप्राय हो गया । यदि इसके धार्मिक रूप के साथ ही साथ इसकी प्राचीन बन–श्री के संरक्षण की भी चेष्टा की जाती, तो वृंदाबन के भावुक भक्तों को यह कहने का अवसर न मिलता—

पहिले कौ सौ, अब न तिहारौ यह वृंदाबन । या के चारों ओर, भये बहुविधि परिवर्तन ।।
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन--पुंज । देखन कौं बस रहि गये, निधुबन सेवाकुंज ।।
कहाँ चरिहैं गऊ[4] ?

---

(१) राधा षोडशनाम्नां च वृन्दानाम श्रुतौ श्रुतम् ।
तस्याः क्रीड़ावनं रम्यं तेन वृंदावनं स्मृतम् ।। (ब्रह्मवैवर्त, १७–२१९)
अस्ति वृंदावनं यस्यास्तेन वृंदावनी स्मृता ।
वृन्दावनस्याधिदेवी तेन वार्थ प्रकीर्तिता ।। (ब्रह्मवैवर्त, १७–२३७)

(२) पौर्णमासी वीरा वृन्दा वंशी नन्दीमुखी तथा ।। ८४ ।।
कुंजादि सांस्क्रियाभिज्ञा वृन्दा तासु वरीयसी ।। ८८ ।।
वृन्दावन सदावासा नाना केलिरसोत्सुका ।। ९७ ।। (श्री राधाकृष्णोपदेश दीपिका)

(३) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स,

(४) श्री सत्यनारायण कविरत्न कृत 'भ्रमरदूत' (हृदय तरंग, पृ० ५९)

वृंदावन की अधिष्ठात्री देवी— वृंदाबन की अधिष्ठात्री देवी, वह चाहें कोई भी हो, प्राचीन काल से ही वृंदाबन में पूज्या और आराध्या रही है। चैतन्य संप्रदाय में वृंदाबन के प्रधान देवी-देवता के रूप में वृंदा देवी और गोविंददेव जी के साथ वृंदा देवी के दर्शन करने का भी माहात्म्य बतलाया है[1]। श्री ग्राउस का कथन है, वृंदाबन आने पर गौड़ीय गोस्वामियों ने पहिला मंदिर वृंदा देवी का बनवाया था, जिसका अब कोई चिन्ह विद्यमान नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि वह उस स्थान पर था, जहाँ 'सेवा कुंज' है[2]। गोविंददेव जी के पुराने मंदिर के दक्षिण-पश्चिमी पार्श्व में एक गुफा 'पाताल देवी' के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ लोगों का कहना है कि वह वृंदा देवी के उस मंदिर का मूल स्थान है, जिसे गोस्वामियों ने बनवाया था[3]। गोपाल कवि का कहना है, पुराने गोविंददेव जी के मंदिर के पास ही वृंदा देवी का सुंदर मंदिर था और वहाँ की मूर्ति अब कामबन में है[4]। जब औरंगजेब की धर्मान्धता से ब्रज के देव स्थान नष्ट-भ्रष्ट किये जाने लगे, तब सुरक्षा के लिए यहाँ की अनेक देव मूर्तियाँ ब्रज से बाहर हिंदू राजाओं के राज्यों में ले जाई गई थीं। कदाचित उसी काल में वृंदा देवी की मूर्ति वृंदाबन से हटा कर कामबन पहुँचा दी गई थी, जो अभी तक वहाँ ही विराजमान है। कला की दृष्टि से यह सुंदर मूर्ति है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी के मतानुसार उसका निर्माण मुगल काल में अथवा उससे कुछ पहिले हुआ था[5]।

दर्शनीय स्थल—वृंदाबन में ऐसे अनेक दर्शनीय स्थल हैं, जो उसके परंपरागत महत्व के सूचक हैं। उनमें से कतिपय प्रमुख स्थानों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

केशीघाट—यहाँ श्री कृष्ण द्वारा केशी दैत्य के बध किये जाने की अनुश्रुति प्रचलित है। इस समय यह यमुना तटवर्ती एक पुराना मुहल्ला है। यहाँ पर कई मंदिर हैं, जिनमें श्री युगल किशोर जी का प्राचीन मंदिर भी है। यहाँ का घाट दर्शनीय है।

चीरघाट—इसे चयनघाट अथवा गोविंदघाट भी कहते हैं। यहाँ श्री कृष्ण द्वारा गोपियों के वस्त्र-हरण किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है।

कालीदह—यहाँ श्री कृष्ण द्वारा कालिय नाग के दमन किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इस स्थल पर श्री कालीमर्दन जी का मंदिर है और प्रबोधानंद जी की समाधि है। ओड़छा के राजा वीरसिंह देव ने सं० १७७६ में यहाँ के घाट को पक्का कराया था।

दावानल कुंड—यहाँ पर श्री कृष्ण द्वारा दावानल पान कर गो–गोपों की रक्षा किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। यहाँ श्री दावानलबिहारी जी का मंदिर है।

---

(१) वृन्दादेव्यन्वित गोविन्द दर्शनं (ब्रज भक्ति विलास, २–५५)

(२) मथुरा--ए--डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृ. सं.) पृ० २४१

(३) वही, (,,) पृ० २४३ की पाद–टिप्पणी

(४) ताके निकटहि गोविंद जी कौ घेरौ परम सुहायौ।
जहँ गोविंद कौ मंद्र पुरानौ, राजा मान बनायौ ॥
वृंदा देवी कौ मंदिर तहँ, पास बन्यौ इक नीकौ।
सो अब कामबनहि में राजति, है वृंदाबन ही कौ। (वृंदाबन धामानुरागावली)

(५) श्री सर्वेश्वर के 'वृंदाबनांक' में प्रकाशित—'वृंदा देवी', पृ० १६४, १६५

शृंगारवट—यह प्राचीन स्थल है । यहाँ पर गोप सखाओं द्वारा श्रीकृष्ण के शृंगार किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है । गौड़ीय धर्माचार्य श्री नित्यानंद जी का विश्राम स्थल होने से इसे 'नित्यानंद वट' भी कहते हैं ।

बंशीवट—शरद की रमणीक रात्रि में रास-क्रीड़ा करने की इच्छा से श्री कृष्ण ने वट वृक्ष पर चढ़ कर वेणु नाद करते हुए ब्रज की गोप-बालाओं का आह्वान किया था । यह स्थान उसी माधुर्य लीला का उपक्रम स्थल कहा जाता है । प्राचीन स्थान यमुना जी की बाढ़ में बह गया था । बाद में श्री हित हरिवंश जी अथवा श्री मधु गोस्वामी ने इसे प्रसिद्ध किया था । इस समय यह स्थल निंबार्क संप्रदाय के अधिकार में है और यहाँ श्री बंशीवटबिहारी तथा हंसगोपालजी आदि के दर्शन हैं । इसी स्थान पर श्री बल्लभाचार्य जी, गोसाईं विट्ठलनाथ जी, गोकुलनाथ जी और दामोदर दास हरसानी की बैठकें भी हैं ।

निधुबन—इसे 'निधिबन' भी कहा जाता है । स्वामी हरिदास जी और उनकी परंपरा के संतों का यह निवास-स्थल रहा है । यहाँ पर श्री बिहारी जी का प्राकट्य स्थल है तथा स्वामी हरिदास जी और उनके अनुयायी कई संतों की समाधियाँ हैं ।

सेवाकुंज—राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हित हरिवंश जी का यह पुण्य स्थल है । इस रमणीक बन-खंड में श्रीजी का मंदिर है और ललिताकुंड है । भक्तों की मान्यता है, यहाँ श्री राधा-कृष्ण की अब भी रास-क्रीड़ा हुआ करती है; अतः रात्रि में यहाँ कोई व्यक्ति नहीं रह पाता है ।

रासमंडल—वृंदाबन को श्री राधा-कृष्ण का रास स्थल कहा जाता है, अतः यहाँ के 'रास मंडल' नामक लीला-स्थल का महत्व स्वयंसिद्ध है । हित हरिवंश जी ने वृंदाबन आने पर इसे लोक प्रसिद्ध किया था और सं० १५९५ के लगभग इस स्थल पर रज का एक मंडल (मिट्टी का गोल चबूतरा) बनवा दिया था । वहाँ पर बैठकर वे और उनके सहकारी स्वामी हरिदास जी, व्यास जी तथा उस काल के अन्य 'रसिक' महानुभाव 'रास' और 'समाज' का आयोजन करते थे । बाद में सं० १६४१ में हित जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री बनचंद्र जी के काल में उनके कृपा-पात्र भगवानदास स्वर्णकार ने इसे पक्का बनवा दिया था । यह ब्रज का सबसे पुराना रासमंडल कहा जाता है ।

इस समय यह स्थान वर्तमान गोविंद घाट पर है । यह राधावल्लभ संप्रदाय का एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल रहा है । यहाँ पर नरवाहन जी के चरण चिन्ह हैं । सेवक जी और ध्रुवदास जी ने इसी स्थल पर अपने नश्वर शरीरों का परित्याग किया था, अतः उनके स्मृति चिन्ह भी यहाँ हैं । इस समय यह राधावल्लभ संप्रदायी विरक्त साधुओं के अधिकार में है । उसी के निकट राधावल्लभीय निर्मोही अखाड़ा भी है ।

ज्ञान गूदड़ी—यहाँ पर उद्धव जी द्वारा गोपियों से ज्ञान-चर्चा किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है । आषाढ़ शु० २ को यहाँ रथ-यात्रा का उत्सव होता है । उस दिन विविध मंदिरों के रथ यहाँ आकर एकत्र होते है ।

ब्रह्मकुंड यह प्राचीन कुंड श्री रंगजी के मंदिर के उत्तरी द्वार के निकट है । इस स्थल पर ब्रह्मा जी द्वारा श्री कृष्ण जी के गो-वत्स और गोप-बालकों के हरण किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध हैं । यहाँ ब्रह्मा जी और गाय-बछड़ों के दर्शन हैं । जिस समय वृंदाबन में बस्ती न होकर घोर बन था और यहाँ सिंह-व्याघ्रादि हिंसक पशुओं का निवास था, उस समय करमैती बाई नामक एक

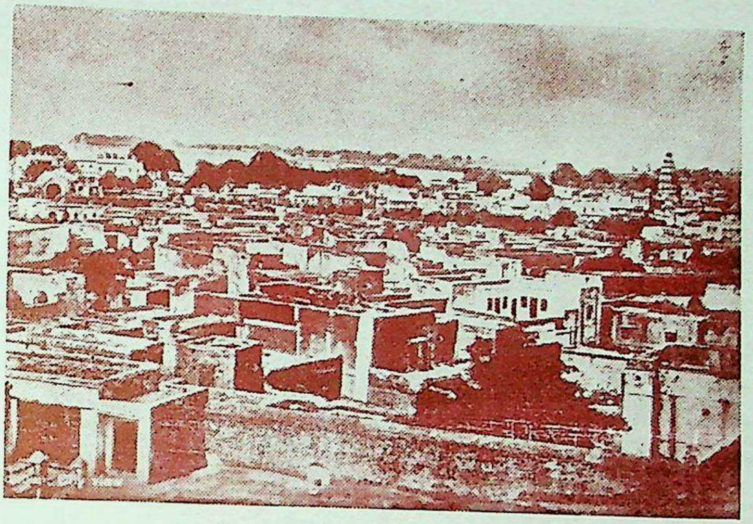

वृंदावन

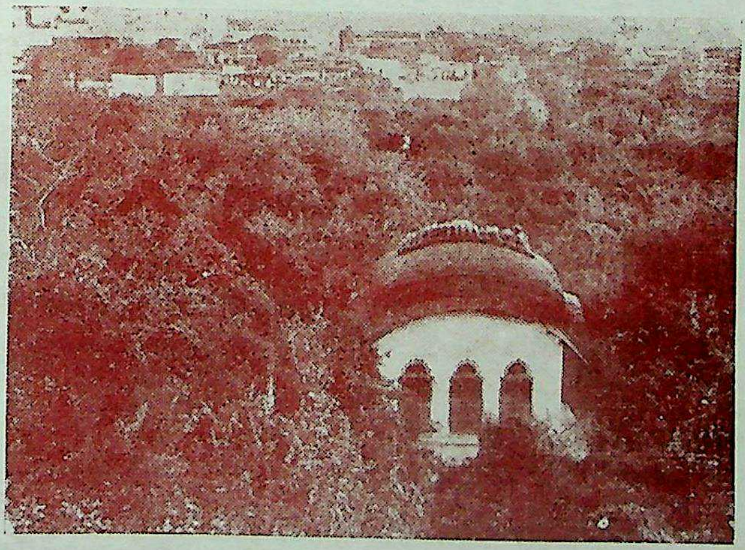

निधुबन

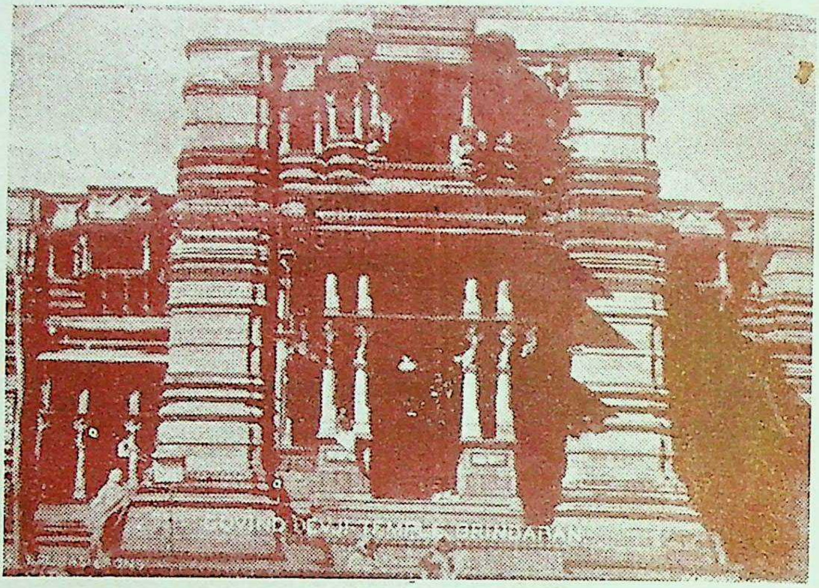

श्री गोविंददेव जी का प्राचीन मंदिर

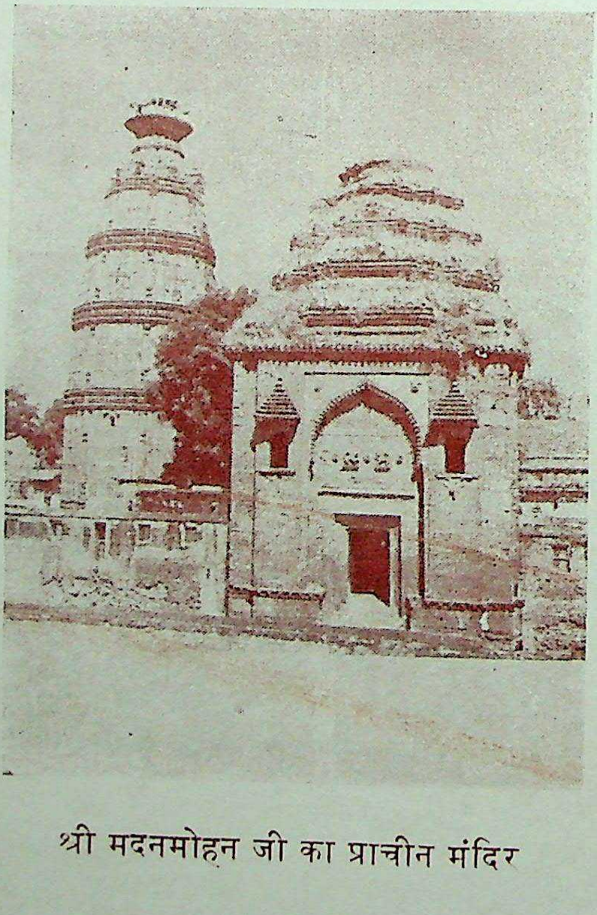

श्री मदनमोहन जी का प्राचीन मंदिर

भक्त महिला ने यहाँ भजन किया था। इसका उल्लेख प्रियादास जी ने किया है[1]। श्री नारायण भट्ट जी ने इस प्राचीन स्थल को प्रसिद्ध किया था और ओरछा के राजा वीरसिंह देव ने सं०१७७६ में इसके कुंड को पक्का बनवाया था। आजकल यह भग्नावस्था में पड़ा हुआ है।

वृंदाबन के मंदिर-देवालय—यहाँ का सबसे बड़ा आकर्षण मंदिर-देवालय हैं, जिनके कारण वृंदाबन को 'मंदिरों का नगर' कहा जाता है। यहाँ जितने अधिक मंदिर हैं, उतने ब्रजमंडल के किसी स्थान में नहीं हैं। भारतवर्ष का कोई अन्य स्थान भी शायद ही इस विषय में वृंदावन की समता कर सके। इन मंदिरों ने ब्रज की धार्मिक भावना के प्रसार में बड़ा योग दिया है।

यहाँ के मंदिरों में सबसे प्राचीन वे हैं, जो मुगल सम्राट अकबर और जहाँगीर के शासन-काल में बने थे। उनसे पहिले के कोई मंदिर अपने मूल रूप में अब विद्यमान नहीं हैं, क्यों कि वे आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दिये गये थे। अकबर और जहाँगीर के शासन-काल में बने हुए मंदिरों को भी औरंगजेब ने नष्ट-भ्रष्ट कराया था, अतः उनके ध्वंशावशेष ही इस समय विद्यमान हैं। उनके निकट बाद में बने हुए नये मंदिर भी हैं। उक्त मंदिरों में पाँच मुख्य हैं,जो १. श्री गोविंददेवजी, २. श्री मदनमोहन जी, ३. श्री गोपीनाथ जी, ४. श्री युगलकिशोर जी और ५. श्री राधावल्लभ जी के मंदिर कहलाते हैं। उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

१. श्री गोविंददेव जी—ब्रजमंडल के चार प्रमुख देव—हरिदेव, बलदेव, गोविंददेव और केशवदेव में से श्री गोविंददेव जी का निवास स्थल वृंदाबन माना जाता है। पुराणों में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है,—**'तस्मिन्वृन्दावने पुण्यं गोविन्दस्य निकेतनम्।'**

श्री गोविंददेव जी की प्राचीन प्रतिमा वृंदाबन के गौड़ीय गोस्वामी श्री रूप जी को वहाँ के गोमा टीले से उपलब्ध हुई थी, जहाँ वह मूर्ति-भंजकों से बचा कर छिपा दी गई थी। आरंभ में उसे वृंदाबन के ब्रह्मकुंड पर स्थापित किया गया था। बाद में जब आमेर के राजा मानसिंह द्वारा निर्मित विशाल मंदिर तैयार हो गया, तब उसमें गोविंददेव जी को विराजमान किया गया था। वह मंदिर सं० १६४७ में बन कर पूरा हुआ था। औरंगज़ेब के शासन–काल में श्री गोविंददेव जी की प्राचीन प्रतिमा के जयपुर चले जाने के अनंतर वृंदाबन के गौड़ीय भक्तों ने उनका प्रतिभू विग्रह सं० १८०५ में स्थापित किया। नंदकुमार वसु नामक एक बंगाली भक्त ने पुराने मंदिर के निकट ही श्री गोविंददेब सी का नया मंदिर सं० १८७७ में बनवाया था, जिसमें उक्त देव विग्रह को विराजमान किया गया।

श्री मदनमोहन जी—इनका प्राचीन मंदिर पुराना शहर के निकट कालियदह घाट की ऊँची भूमि दुसायत पर बना हुआ है। श्री मदनमोहन जी गौड़ीय गोस्वामियों में सबसे वयोवृद्ध सनातन जी के उपास्य देव हैं। उक्त मंदिर को रामदास कपूर नाम के एक धनी मुलतानी खत्री ने बनवाया था। औरंगजेब के आतंक से सनातन जी की वह उपास्य मूर्ति भी जयपुर ले जाई गई थी। बाद में करौली के राजा गोपालसिंह (राज्यकाल सं० १७८२–१८१४) ने उसे अपने बहनोई जयपुर नरेश से माँग कर अपने राज्य में प्रतिष्ठित किया था। वहाँ के विशाल मंदिर में वह देव प्रतिमा अभी तक विराजमान है। श्री मदनमोहन जी की प्राचीन प्रतिमा के वृंदाबन से चले जाने

---

(१) नाभा जी कृत भक्तमाल, छप्पय सं० १५० पर प्रियादास का कवित्त सं० ५८७

के कारण वृंदाबन के गौड़ीय भक्तों ने उनका प्रतिभू विग्रह भी सं० १८०५ में स्थापित किया था। नंदकुमार नामक एक बंगाली भक्त ने पुराने मंदिर के निकट एक नया मंदिर सं० १८७७ में बनवाया था; जिसमें श्री मदनमोहन जी के प्रतिभू विग्रह को विराजमान किया गया ।

इस मंदिर के निकट सुप्रसिद्ध भक्त-कवि सूरदास मदनमोहन जी की समाधि बनी हुई है।

श्री गोपीनाथ जी—यह चैतन्य संप्रदायी गौड़ीय भक्त मधु गोस्वामी के उपास्य देव हैं। इनका पुराना मंदिर वंशीवट पर है, जिसे रायसेन नामक एक राजपूत सरदार ने बनवाया था। इस स्थल को 'गोपीनाथ जी का घेरा' कहते हैं। श्री ग्राउस ने लिखा है, यह मंदिर सं० १६४६ में ही बन कर तैयार हो गया था। इस प्रकार यह वृंदाबन के सबसे पुराने मंदिरों में है और गोविंददेव जी के पुराने मंदिर के साथ ही साथ बना था। औरंगजेब के समय में इस मंदिर को भी तोड़ा-फोड़ा गया था, किंतु उसकी अधिक क्षति नहीं हुई थी। इस प्रकार इस पुराने मंदिर का प्रायः असली रूप बच गया है। उस समय गोपीनाथ जी की प्रतिमा भी जयपुर चली गई थी, जो वहाँ पुरानी बस्ती के मंदिर में अभी तक विराजमान है। गोपीनाथ जी का प्रतिभू विग्रह सं० १८०५ में वृंदाबन में स्थापित किया गया और उनका नया मंदिर नंदकुमार वसु ने सं० १८७७ में बनवाया था। उसके निकट ही मधु गोस्वामी की समाधि भी है। पुराने मंदिर के बाद उनका दूसरा मंदिर जयपुर के सवाई राजा जयसिंह ने तथा तीसरा मंदिर बंगाली भक्त नंदकुमार बोस ने बनवाया था[1]। इस समय पुराना मंदिर भारत सरकार के संरक्षण में है।

श्री युगलकिशोर जी—यह भी वृंदाबन के प्रसिद्ध ठाकुर हैं। इनके वृंदाबन में कई विग्रह और कई मंदिर हैं। प्रथम देव विग्रह वृंदाबन के विख्यात भक्त-कवि श्री हरिराम जी व्यास के सेव्य हैं। इनका प्राकट्य सं० १६२० की माघ शु० ११ को वृंदाबन में हुआ था। श्री हरिराम जी व्यास ने उनका सुंदर मंदिर वृंदाबन की पुरानी बस्ती के जिस स्थान पर बनवाया था, वह 'व्यास घेरा' कहलाता है। वहाँ की देव-मूर्ति इस समय पन्ना में विराजमान है। उनके मंदिर के भग्नावेष व्यास घेरा, वृंदाबन में बिखरे पड़े हैं। उक्त स्थल के निकट किशोरी बन में व्यास जी और उनकी पत्नी की समाधियाँ भी हैं। द्वितीय मंदिर वृंदाबन के केशीघाट पर बना हुआ है। इसे नौनकरन नामक एक राजपूत सरदार ने जहाँगीर के शासन-काल में सं० १६८४ में बनवाया था। नौनकरन को चौहान राजपूत कहा गया है, किंतु श्री ग्राउस का अनुमान है कि वह कदाचित गोपीनाथ जी के मंदिर के निर्माता रायसेन का बड़ा भाई था, इसलिए कछवाहा राजपूत था। इस मंदिर को भी मुसलमानी आक्रमण में क्षति पहुँची थी, किंतु अन्य प्राचीन मंदिरों की अपेक्षा यह कुछ ठीक दशा में है। तृतीय मंदिर वृंदाबन के युगलघाट पर बना हुआ है। इसे जयपुर राज्य के तोमर ठाकुर गोविंददास और हरिदास नामक दो भाइयों ने बनवाया था। इसमें श्री युगलबिहारी जी के दर्शन हैं और निंबार्क संप्रदाय की सेवा है।

---

(१) **तहँ तट गोपीनाथहि जी कौ घेरौ परम सुहायौ।**
तहाँ पुरानौ मंद्र, सिखावत रायसेन बनवायौ ।।
पुनि जयसिंह सवाई नृप कौ, दूजौ मंदिर सोहै।
नंदकुमार बोस कौ मंदिर, तीजौ अति मन मोहै ।। (वृंदाबन धामानुरागावली)

श्री राधावल्लभ जी—यह श्री हित हरिवंश जी के उपास्य देव हैं । इनका पुराना मंदिर भी वृंदावन के प्राचीन मंदिरों की परंपरा में आता है । उस मंदिर को श्री बनचंद्र जी के शिष्य देवबन निवासी कायस्थ सुंदरलाल खजांची ने बनवाया था । इस मंदिर का निर्माण--काल विवादग्रस्त है; किंतु वह सं० १६४७ से सं० १६६५ के बीच किसी समय बना होगा । उस मंदिर का ध्वंस सं० १७२६ में औरंगजेब ने कराया था । उसके बाद नया मंदिर सं० १८७१ में बना, जिसमें श्री राधावल्लभ जी की मूल प्रतिमा ही विराजमान है । पुराना मंदिर भारत सरकार के संरक्षण में है ।

श्री राधादामोदर जी—यह श्री जीव गोस्वामी के उपास्य देव हैं । इनकी सेवा का प्राकट्य सं० १५९९ की माघ शु० १० को हुआ था । इनका मंदिर यमुना तट पर शृंगार वट के समीप है । उससे संलग्न जीव गोस्वामी जी की समाधि है । उसके साथ ही श्री रूप गोस्वामी जी तथा श्री कृष्णदास कविराज की समाधियाँ भी हैं । यहाँ पर श्री सनातन गोस्वामी द्वारा पूजित गोबर्धन शिला है, जिसका दर्शन केवल जन्माष्टमी के दिन होता है । मंदिर के उत्तर में एक जीर्ण इमली का वृक्ष है । ऐसा कहा जाता है, जब श्री चैतन्य महाप्रभु वृंदावन आये थे, तब वे इसी स्थल पर विराजे थे । श्री राधादामोदर जी की मूल प्रतिमा इस समय जयपुर के मंदिर में है । उनका प्रतिभू विग्रह वृंदावन के मंदिर में विराजमान है ।

श्री राधारमण जी—यह श्री गोपाल भट्ट जी के उपास्य देव हैं । ऐसा कहा जाता है, यह देव विग्रह पहिले शालिग्राम शिला के रूप में था, जो बाद में गोपाल भट्ट जी की भावना के अनुसार सुंदर मूर्ति के स्वरूप में परिवर्तित हो गया था । उनका अभिषेक महोत्सव सं० १५९९ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था । राधारमण जी के साथ राधा जी का विग्रह नहीं है, बल्कि उनकी मुकुट सेवा होती है । मंदिर में मूल प्रतिमा ही विराजमान है, जो अन्य देव मूर्तियों की भाँति वृंदावन से बाहर नहीं गई थी । वर्तमान मंदिर लखनऊ के शाह कुंदनलाल और उनके भ्राता शाह फुंदनलाल द्वारा बनवाया हुआ है । मंदिर के निकट श्री राधारमण जी का प्राकट्य स्थल और गोपाल भट्ट जी की समाधि है ।

श्री राधाविनोद जी तथा श्री गोकुलानंद जी—ये सर्वश्री लोकनाथ जी और विश्वनाथ चक्रवर्ती जी के सेव्य स्वरूप हैं । इनका मंदिर श्री राधारमण जी के मंदिर के समीप है । दोनों मूल प्रतिमाएँ जयपुर में हैं । उनकी प्रतिभू मूर्तियाँ वृंदावन के इस मंदिर में विराजमान हैं । यहाँ पर वह गोबर्धन शिला भी है, जिसे श्री चैतन्य महाप्रभु ने रघुनाथदास गोस्वामी को अर्पित की थी । यहाँ सर्वश्री लोकनाथ जी, नरोत्तमदास ठाकुर और विश्वनाथ चक्रवर्ती की समाधियाँ भी हैं ।

श्री राधामदनमोहन जी—यह श्री गदाधर भट्ट जी के सेव्य स्वरूप हैं, जिनका मंदिर श्री राधावल्लभ जी के मंदिर के समीप भट्ट मुहल्ला में है । यहाँ का समाज गायन प्रसिद्ध है ।

श्री श्यामसुंदर जी—यह श्री श्यामानंद जी के सेव्य स्वरूप हैं । इनका मंदिर श्री राधादामोदर जी के मंदिर के निकट है । मंदिर के सामने वाले मार्ग के एक घर में श्री श्यामानंद जी की समाज वाड़ी और उनकी समाधि है ।

श्री बाँकेबिहारी जी—वृंदावन के सबसे प्रसिद्ध ठाकुर श्री बांकेबिहारी जी हैं, जो स्वामी हरिदास जी के सेव्य स्वरूप हैं । इनका मणि विग्रह स्वामी जी को निधुबन के एक विशिष्ट स्थल से मार्गशीर्ष शु० ५ को प्राप्त हुआ था । उनका मंदिर वृंदावन की पुरानी बस्ती में बना हुआ

हैं। यहाँ की सेवा–प्रणाली की यह विशेषता है कि सभी उत्सव; जैसे झूला के दर्शन, होली के दर्शन, चरण के दर्शन आदि वर्ष में केवल एक–एक दिन ही होते हैं। दैनिक झाँकी में थोड़ी-थोड़ी देर पर पर्दा आता रहता है।

श्री रसिकबिहारी जी—स्वामी हरिदास जी की शिष्य परंपरा के छटे आचार्य रसिकदास जी के यह सेव्य स्वरूप हैं। वृंदाबन निवासी गोपाल कवि का कथन है कि इस स्वरूप का प्राकट्य भी निधुबन से हुआ था। श्री रसिकदास जी ने निधुबन से आकर उनका पुराना मंदिर बनवाया और उनकी सेवा–पूजा की यथोचित व्यवस्था की थी[1]। यवनों के आतंक काल में यह देव-मूर्ति सुरक्षा के लिए उदयपुर-डूंगरपुर आदि राज्यों में रखी गई थी। रसिकदास जी की शिष्य परंपरा में गोबर्धनदेव जी ने इनका नया मंदिर सं० १८१२ में बनवाया था। उसमें प्रतिष्ठित रसिकबिहारी जी की प्रतिमा को कदाचित उसी समय डूंगरपुर राज्य से लाया गया था।

श्री गोरेलाल जी—ठाकुर श्री रसिकबिहारी जी के मंदिर के निकट ही श्री गोरेलाल जी विराजमान हैं, जो हरिदासी संप्रदाय के पाँचवें आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य स्वरूप हैं। इस मंदिर का निर्माण छटे आचार्य रसिकदास जी के शिष्य गोविंददास जी ने कराया था।

टट्टी संस्थान के श्री मोहिनीबिहारी जी—स्वामी हरिदास जी की विरक्त शिष्य परंपरा के सातवें आचार्य ललितकिशोरी दास जी ने निधुबन से हट कर यमुना किनारे पर 'टट्टी संस्थान' की स्थापना की थी। उनके शिष्य ललितमोहिनी दास जी सं० १८२३ में यहाँ के प्रथम महंत हुए थे। उन्होंने इस संस्थान में ठाकुर श्री मोहिनीबिहारी को प्रतिष्ठित किया था। इस संस्थान के अंतर्गत श्री राधिकाबिहारी जी, दाऊजी, प्राणबल्लभ जी, दंपतिकिशोर जी आदि ठाकुरों के मंदिर भी हैं।

श्री गोपीश्वर महादेव—ब्रज के चार प्रमुख महादेवों में इनकी भी गणना की जाती है। यह वृंदाबन के प्रसिद्ध और प्राचीन शिव हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार श्री कृष्ण के महारास के समय शिव जी वृंदाबन आये थे, तब उन्होंने गोपी का वेश धारण कर रास लीला का सुखानुभव किया था। उसी स्मृति में इन गोपीश्वर महादेव की स्थापना की गई है। इनके नाम पर वृंदाबन का यह भाग 'गोपीश्वर महल्ला' कहलाता है। यह शिव मूर्ति काफी पुरानी है और इनका मंदिर भी वृंदाबन का प्रतिष्ठित देव स्थान है।

श्री बनखंडी महादेव—यह भी वृंदाबन के प्रसिद्ध महादेव हैं। इनके नाम पर 'बनखंडी मुहल्ला' कहलाता है।

मीराबाई का मंदिर—शाहजी के मंदिर के निकटवर्ती गोविंदबाग मुहल्ला में एक छोटा सा मंदिर है, जिसे मीराबाई का मंदिर कहा जाता है। ऐसी किंवदंती है, जब मीराबाई वृंदाबन आई थीं और जीव गोस्वामी प्रभृति यहाँ के संतों से मिली थीं, तब वह इसी स्थल पर ठहरी थीं। उसी स्मृति में इस मंदिर की स्थापना होने की बात कही जाती है। इसके संबंध में जाँच

---

(१) **पुनि स्वामी श्री रसिकदेव के रसिकबिहारी जोई।
निधुबन मधि जे प्रगट भये, श्री ललितभान हित सोई ॥
तिनकौ प्रथम पुरानौ मंदिर, रसिकदेव बनवायौ।
निधुबन में तें आय यहाँ, तिनकों बहु भाँति लड़ायौ ॥**

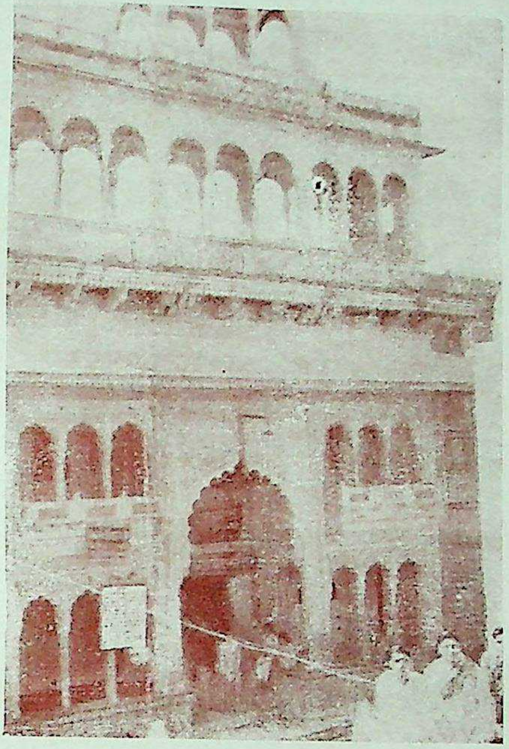

श्री बांकेबिहारी जी का मंदिर

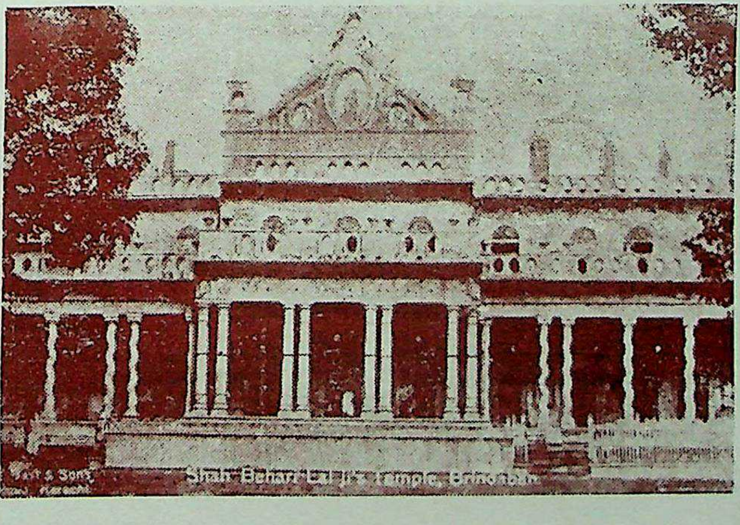
Shah Behari Lal ji's Temple, Brindaban

शाह जी का मंदिर

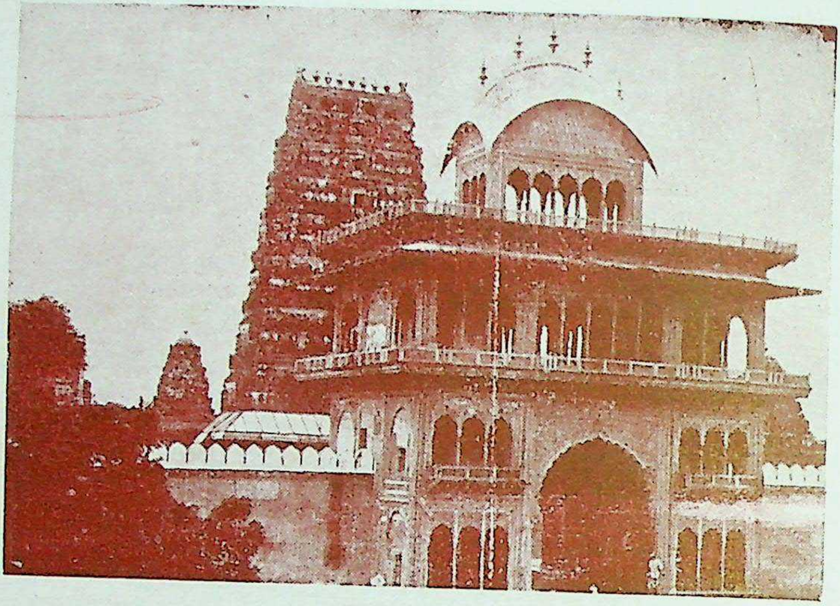

श्री रंग जी का मंदिर

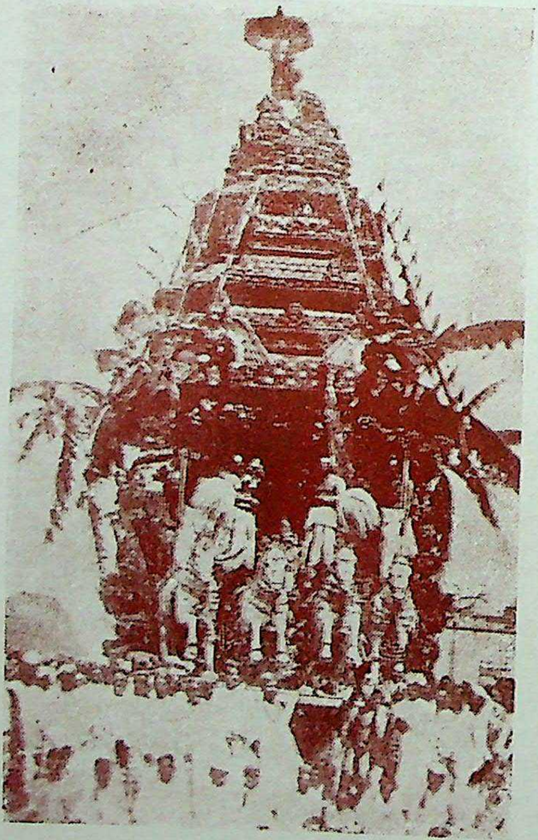

श्री रंग जी के मंदिर का रथ

करने पर ज्ञात हुआ कि इस मंदिर के निर्माण की प्रेरक सुप्रसिद्ध मीराबाई जी से भिन्न एक दूसरी मीरा थी और यह मंदिर भी २०वीं शताब्दी के आरंभ में बना है। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि इसका संबंध मीराबाई जी से जोड़ना कहाँ तक ठीक है। वैसे मीराबाई जी के वृंदाबन आने की किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है।

इस मंदिर में पाँच मूर्तियाँ हैं। ऊपर के सिंहासन पर ठाकुर सूर्यविहारी जी की श्याम पाषाण की मूर्ति है। उनके एक ओर राधा जी और दूसरी ओर मीराबाई की श्वेत पाषाण की मूर्तियाँ हैं। नीचे के सिंहासन पर श्री राधा–मनोहर जी की युगल मूर्तियाँ हैं। यहाँ पर श्रावण में झूलों के तथा शरद पूर्णिमा और वसंत पंचमी आदि के उत्सव होते रहे हैं। इस समय यह मंदिर राधा-मनोहर जी के नाम से प्रसिद्ध है और इसकी स्थिति अच्छी नहीं है।

श्री रामजी का मंदिर—केशीघाट पर यह मलूकदासी पंथ का मंदिर है। मलूकदास एक संत कवि थे, जो औरंगजेब के समय में विद्यमान थे। उनकी एक रचना "दश रत्न" है, जिसमें उनके रचे हुए साखियों के दोहे और पद हैं।

लाला बाबू का मंदिर—इसे बंगाल के धनी जिमींदार कृष्णचंद्रसिंह ने सं० १८६७ में बनवाया था। उक्त कृष्णचंद्र जी व्रज में 'लाला बाबू' के नाम से प्रसिद्ध थे, अतः उनका यह मंदिर भी 'लाला बाबू का मंदिर' कहलाता है, जिसमें ठाकुर श्री कृष्णचंद्र जी की मूर्ति है। इस मंदिर के साथ धर्मशाला है, जहाँ यात्री गण ठहरते हैं और भिक्षुकों को भोजन कराया जाता है। मंदिर के प्रबंध और उससे लगे हुए धर्मादि की व्यवस्था के लिए लाला बाबू ने बहुत बड़ी जिमींदारी लगाई थी, जिससे हजारों रुपया वार्षिक आय होती थी। श्री ग्राउस ने लिखा है, उन सब कार्यों में लाला बाबू के २५ लाख रुपये लगे थे और उन्होंने जो जिमींदारी लगाई थी, उससे बाईस हजार रुपया की वार्षिक आय होती थी[1]।

रंगजी का मंदिर—यह वृंदाबन का सबसे विशाल और वैभवशाली मंदिर है। इसे मथुरा के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद जी के छोटे भाई सेठ राधाकृष्ण जी और गोविंददास जी ने बनवाया था। उक्त सेठ बंधुओं ने रामानुज संप्रदाय की दीक्षा ली थी। इस मंदिर से पहिले उत्तर भारत में दाक्षिणात्य शैली पर बना हुआ श्री संप्रदाय का कोई मंदिर नहीं था। उस कमी की पूर्ति के लिए इस विशाल मंदिर का निर्माण सं० १९०८ में हुआ था।

इसके बनवाने में ४५ लाख रुपया लगा था। मंदिर के उत्सव और सेवा आदि के लिए बहुमूल्य साज-सज्जा की व्यवस्था की गई थी तथा उसके व्यय के लिए ३३ गाँवों की जिमींदारी लगाई गई थी। इन सब कार्यों पर प्रायः एक करोड़ रुपया की लागत आई थी। सेठों की ओर से इस मंदिर का भेंटनामा सं० १९१४ (१८ मार्च, सन् १८५७) में श्री रंगाचार्य जी के लिए कर दिया गया था। उन्होंने सं० १९२५ में एक ट्रस्ट बना कर मंदिर की प्रबंध व्यवस्था का समस्त उत्तरदायित्व उसे सोंप दिया था। तब से अब तक ट्रस्टीगण ही सब कार्यों की देख-भाल करते हैं।

मंदिर में सात परिक्रमाएँ हैं, जिनमें अनेक छोटे-बड़े देवालय बने हुए हुए हैं। मुख्य मंदिर में श्री रंगनाथ जी, लक्ष्मी जी और गरुड़ जी की विशाल प्रतिमाएँ हैं। इतनी बड़ी देव–

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोग्रर, (तृ० सं०), पृ० २५७

मूर्तियाँ वृंदाबन के किसी अन्य मंदिर में नहीं हैं और इतना बड़ा मंदिर भी दूसरा नहीं है। इसे 'बड़ा मंदिर' या 'सेठ जी का मंदिर' भी कहा जाता है।

इस मंदिर में रामानुज संप्रदाय के अनुसार सेवा होती है। नित्य की सेवा-पूजा और नैमित्तिक उत्सवों पर बड़ा व्यय किया जाता है। प्रति दिन अनेक वैष्णवों और भिक्षुओं को अन्न तथा भोजन का वितरण किया जाता है। उत्सवों में ठाकुर जी की सेवा-पूजा और उनकी सवारी की व्यवस्था शुद्ध शास्त्रीय रीति से दाक्षिणात्य ढंग पर की जाती है। सवारी सोने-चाँदी के वाहनों पर बड़ी धूम-धाम से निकाली जाती है। उस समय ठाकुर जी पर बड़े-बड़े छत्रों की छाया की जाती है और साथ में मसालें तथा बाजे होते हैं। यहाँ का सबसे बड़ा उत्सव चैत्र मास में होता है, जिसे "ब्रह्मोत्सव" कहा जाता है। यह दस दिन तक होता है। इसके अंतिम दिनों में रथ और आतिशबाज़ी के मेले होते हैं। उनमें ठाकुर जी की सवारी मंदिर से बगीचे तक जाती है, जहाँ पर हजारों दर्शनार्थी एकत्र होते हैं। यह बगीचा बहुत बड़ा है और मंदिर से कुछ दूरी पर है।

ब्रह्मचारी जी का मंदिर—ग्वालियर के राजा जीवाजीराव सिंधिया ने इसे सं० १९१७ में बनवा कर अपने गुरु गिरिधारी दास जी ब्रह्मचारी को अर्पित किया था। इसके सेव्य स्वरूप श्री राधागोपाल जी हैं तथा इसमें निंबार्क संप्रदाय के मूल आचार्यों की भी प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

शाह जी का मंदिर—लखनऊ के अग्रवाल जोहरी शाह कुंदनलाल फुंदनलाल ने संगमरमर के इस सुंदर कलापूर्ण मंदिर का निर्माण सं० १९२५ में कराया था। शाह कुंदनलाल जी प्रसिद्ध भक्त और उत्कृष्ट कवि थे। उनका काव्योपनाम "ललित किशोरी" था। इस मंदिर का नाम भी "ललित कुंज" रखा गया, किंतु यह शाह जी के मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मंदिर अपने रूप-रंग और सज-धज में वृंदाबन के सभी मंदिरों से निराला है।

अन्य मंदिर–देवालय—उपर्युक्त प्रसिद्ध मंदिरों के अतिरिक्त वृंदाबन में अनेक छोटे-बड़े देवालय हैं। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

सवामन शालग्राम का मंदिर, टिकारी वाला मंदिर, शाहजहाँपुर वाला मंदिर, अष्टसखी मंदिर, तरास वाला मंदिर, जयपुर वाला मंदिर, श्रीजी का मंदिर, स्वर्णमयी जी का मंदिर, बर्मा वाला मंदिर, काँच वाला मंदिर, श्री कात्यायिनी देवी का मंदिर, श्रीराम मंदिर, आनंदमयी माँ का मंदिर, वर्धमान कुंज, बरसानियाँ कुंज, कानपुर वाली कुंज, षड्भुज महाप्रभु जी का मंदिर, चतुरबिहारी जी का मंदिर, यमुना मंदिर, जगन्नाथ मंदिर, साधु माँ का मंदिर, चरखारी वाला मंदिर, राधा निवास, दाऊजी का मंदिर, मूंगेर वाला मंदिर, कलाधारी का मंदिर, सत्यनारायण जी का मंदिर, यशोदानंद जी का मंदिर, कालीयमर्दन जी का मंदिर, नंद भवन आदि।

अन्य दर्शनीय स्थल—वृंदाबन में मंदिर-देवालयों के अतिरिक्त जो दर्शनीय स्थल हैं; उनमें उड़िया बाबा, काठिया बाबा और चार संप्रदाय के आश्रम, अनी-अखाड़े, भजनाश्रम, मानव सेवा संघ, गुरुकुल और प्रेम महाविद्यालय आदि हैं।

वृंदाबन में यात्रा तीन दिन तक ठहरती है। उस काल में यात्री गण प्रथम दिन वहाँ के मंदिर-देवालयों के दर्शन करते हैं और रास देखते हैं। दूसरे दिन वृंदाबन की स्थानीय परिक्रमा

की जाती है, जिसका परिमाण ५ कोस का है। इस परिक्रमा में वृंदाबन के सभी लीला स्थलों, मंदिर-देवालयों और कुंज-घाटों आदि के दर्शन हो जाते हैं। तीसरे दिन यात्री गण वृंदाबन के निकटस्थ लीला–स्थलों के दर्शनार्थ जाते है। ऐसे स्थलों में भतरौड़–अक्रूरघाट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भतरौड़–अक्रूरघाट—ब्रज का यह प्राचीन स्थल वृंदाबन से मथुरा जाने वाले कच्चे मार्ग में यमुना की धारा के निकट है। कृष्ण-काल में यहाँ ब्राह्मणों ने यज्ञ किया था और उनकी पत्नियों ने श्री कृष्ण के साथी गोप-बालकों को भोजन कराया था। उसी स्मृति में यहाँ के एक टीले पर श्री भतरौड़बिहारी जी का मंदिर बनाया गया है। जब कंस की इच्छानुसार अक्रूर जी कृष्ण-बलराम को साथ लेकर वृंदाबन की गोप–बस्ती से मथुरा गये थे, तब उन्होंने इसी स्थल पर यमुना-स्नान और संध्या-वंदन किया था। उक्त स्मृति में भतरौड़ के निकटवर्ती यमुना किनारे का यह घाट **'अक्रूर घाट'** कहलाता है। वृंदाबन की वर्तमान बस्ती बसने से पहिले जो यात्री मथुरा से वृंदाबन की यात्रा के लिए आते थे, वे प्रायः इसी स्थल से वापिस लौट जाते थे; क्यों कि उस काल में यहाँ से आगे ऐसा बीहड़ बन था, जिनमें प्रवेश करना साधारण यात्रियों के लिए संभव नहीं था। जब चैतन्य महाप्रभु ब्रज-यात्रा के लिए आये थे, तब उन्होंने इसी स्थल पर निबास किया था। यहाँ श्री अक्रूरबिहारी जी और श्री गोपीनाथ जी के मंदिर हैं।

वृंदाबन से यात्रा का पड़ाव उठने पर यात्री गण नावों द्वारा यमुना पार करते हैं। फिर वे मानसरोवर, पानीगाँव और कल्याणपुर होते हुए और यमुना के किनारे-किनारे चलते हुए लोहबन पहुँच कर मुकाम करते हैं।

मानसरोवर—यह वृंदाबन के सामने यमुना के पार एक रमणीक सरोवर है। इस स्थल पर श्री राधा जी द्वारा मान किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। श्री हित हरिवंश जी को यह स्थान अत्यंत प्रिय था। यहाँ पर उनकी बैठक है, जो उनके अनुयायी विरक्त साधुओं के अधिकार में है। इसी के समीप श्री बल्लभाचार्य जी की बैठक भी है।

पानीगाँव—यह स्थान मानसरोवर से दो मील दक्षिण की ओर यमुना की खादर में बसा हुआ है। वर्षा ऋतु में यहाँ प्रायः सभी जगह पानी भर जाता है; इसी लिए इसे 'पानीगाँव' कहते हैं। यह दुर्वासा ऋषि का प्राचीन स्थल कहलाता है। कृष्ण-काल में ब्रज की गोपियों ने यमुना पार कर यहाँ दुर्वासा ऋषि को भोजन कराया था। जाट राजा सूरजमल की रानी का बनवाया हुआ यहाँ एक मंदिर है।

२१–लोहबन (ब्रज-यात्रा का इक्कीसवाँ मुकाम) मि. कार्तिक कृ० ६—

लोहबन—यह स्थान मथुरा के सामने यमुना के उस पार है। इससे संबंधित अनुश्रुति है कि यहाँ श्री कृष्ण ने लोहजंघ नामक एक असुर का संहार किया था। उक्त असुर की गुफा भी यहाँ बतलाई जाती है। यहाँ पर श्री गोपीनाथ जी का मंदिर है तथा लोह कुंड और कृष्ण कूप हैं। भागवतादि पुराणों में श्रीकृष्ण द्वारा उक्त असुर के बध किये जाने की कथा नहीं मिलती है। इस पर श्री ग्राउस का मत है, लोहजंघ कोई असुर नहीं था। वह मथुरा का एक ब्राह्मण था, जो बड़े चमत्कारिक ढंग से लंका गया था। उसी के नाम पर कदाचित इस स्थान का लोहबन नाम पड़ा है।

उक्त ब्राह्मण की कथा सोमदेव कृत संस्कृत ग्रंथ 'वृहत् कथा' में है, जिसकी रचना काश्मीर के राजा हर्षदेव के शासन काल (सं० ११११-११२८) में हुई थी[1]।

लोहबन में यात्रा का मुकाम एक दिन रहता है। वहाँ से उठ कर यात्रा आनंदी तथा बंदी नामक स्थलों पर होती हुई बलदेव पहुँच कर पड़ाव डालती है।

आनंदी और बंदी—यहाँ पर उक्त नामों की लोक देवियों के मंदिर हैं और आनंदी कुंड है। आनंदी और बंदी को यशोदा जी की परिचारिकाऐं कहा जाता है।

२२-बलदेव (ब्रज-यात्रा का बाईसवां मुकाम) मि. कार्तिक कृ० ७--

बलदेव—यह स्थान मथुरा-सादाबाद सड़क पर है, जो मथुरा से १४ मील और महाबन से ६ मील दूर है। यहाँ की प्रसिद्धि श्री बलदेव जी (दाऊजी) के मंदिर के कारण हुई है। इस गाँव का पुराना नाम रीढ़ा है, किंतु अब यह बलदेव कहलाता है। यहाँ के मंदिर में श्री दाऊजी और रेवती जी की सुंदर विशाल मूर्तियाँ हैं। ब्रजमंडल की वर्तमान उपास्य मूर्तियों में बलदेव जी की यह मूर्ति कदाचित सबसे प्राचीन है। मुगल सम्राट अकबर के शासन-काल में इसे स्थानीय कुंड में से प्राप्त किया गया था और गो० गोकुलनाथ जी ने इसे पूजनार्थ प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने यहाँ के कल्याण जी अहिवासी को उनकी सेवा-पूजा करने का आदेश दिया था। तब से उन्हीं के वंशज अहिवासी गण मंदिर के पुजारी होते हैं। कालांतर में वहाँ मंदिर बन गया और धर्मशालाऐं निर्मित हुईं तथा बस्ती बस गई। इस प्रकार रीढ़ा गाँव बलदेव अथवा दाऊजी के नाम से ब्रज का एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल हो गया। ब्रज में दाऊजी की बड़ी मान्यता है। हज़ारों नर-नारी दूर-दूर से उनके दर्शनों के लिए आते रहते हैं। वैसे तो सभी जातियों के यह पूजनीय हैं, किंतु ब्रज की जाटव जाति इन्हें अपना मुख्य देवता मानती है। इनका भोग माखन, मिश्री और भाँग का लगाया जाता है। यहाँ का कुंड 'क्षीर सागर' कहलाता है। यह ब्रज का एक प्राचीन तीर्थस्थल है, किंतु इस समय इसकी दशा अच्छी नहीं है। यहाँ दो बड़े मेले होते हैं,—एक देवछट का, जो भाद्रपद शु० ६ को होता है और दूसरा दाऊजी की पूनौ का, जो अगहन शु० १५ को होता है। यहाँ की मिश्री और मिट्टी के बर्तन प्रसिद्ध हैं।

बलदेव ब्रज-यात्रा का सुदूरवर्ती दक्षिणी-पूर्वी स्थल है। यहाँ से यात्रा लौट पड़ती है और महाबन होती हुई गोकुल में जाकर पड़ाव डालती है।

२३-गोकुल (ब्रज-यात्रा का तेईसवाँ मुकाम) मि. कार्तिक कृ० ८—

महाबन—बलदेव से गोकुल आने के मार्ग में सबसे प्रमुख स्थान महाबन पड़ता है। इसे पुराना गोकुल भी कहा जाता है। अत्यंत प्राचीन काल में यह एक विशाल सघन बन था, जो यमुना पार के वर्तमान दुर्वासा आश्रम तक विस्तृत था। पुराणों में इसका उल्लेख वृहद्‌बन, महाबन, नंदकानन, गोकुल, गो-ब्रज आदि नामों से हुआ है। ब्रह्मांडपुराण के 'वृहद् बन माहात्म्य' में महाबन की धार्मिक महत्ता का वर्णन किया गया है। उसमें महाबन क्षेत्र के जिन २१ धार्मिक स्थलों का नामोल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं—१. यमलार्जुन, २. नंदकूप, ३. चिंताहरण,

---

(१) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० सं०)** पृष्ठ ३३९

४. ब्रह्मांड घाट, ५. सरस्वती कुंड, ६. सरस्वती शिला, ७. विष्णु कुंड, ८. कर्ण कूप, ९. कृष्ण कुंड, १०. गोप कूप, ११. रमणरेती, १२. रमण स्थान, १३. नारद स्थान, १४. पूतना पातन, १५. तृणावर्त पातन, १६. नंद अंतःपुर, १७. नंदालय, १८. रमण घाट, १९. मथुरानाथ जी का स्थान, २०. बलदेव जन्म स्थान और २१. योगमाया का जन्म स्थान[१] ।

उपर्युक्त धार्मिक स्थलों में से कुछ तो महाबन की सीमा के अंदर हैं और कुछ उसके ओर--पास हैं । उनमें से प्रमुख स्थलों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

श्यामलला जी का मंदिर—यह देवालय नंदराय जी के निवास स्थल की स्मृति में बनाया गया है । ऐसा कहा जाता है, वसुदेव जी इसी स्थान पर नवजात शिशु कृष्ण को छोड़ गये थे । यहाँ बालक श्री कृष्ण के दर्शन हैं ।

छटी पालना (चौरासी खंभा) का मंदिर—इसे रोहिणी जी का भवन और बलराम जी का जन्म स्थान कहा जाता है । प्राचीन काल में यहाँ पर बलराम जी का विशाल सुंदर मंदिर था, जो मुसलमान आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया था । उसके कलात्मक स्तंभ तथा सुंदर पाषाण खंड शताब्दियों तक बिखरे पड़े रहे थे । बाद में उन्हीं पुराने अवशेषों को जोड़ कर बहुसंख्यक खंभों वाला एक मंडपदार मंदिर बना लिया गया । उसके खंभों के कारण इसे 'चौरासी खंभा का मंदिर' कहा जाता है; यद्यपि इसके खंभे इतनी संख्या में नहीं हैं । यहाँ के लोगों की मान्यता है, प्राचीन काल में यह नंदराय जी का भवन था, जहाँ यशोदा जी और रोहिणी जी ने अपने नवजात बालक कृष्ण–बलराम को पालने में झुलाया था; इसीलिए इसे 'छटी पालना का मंदिर' कहते हैं । स्थानीय माताएँ अपने नवजात शिशुओं की छटी के दिन इस मंदिर में दर्शनार्थ आती हैं ।

योगमाया का मंदिर—यशोदा जी ने जिस कन्या को जन्म दिया था और कंस ने बालक कृष्ण के धोखे में जिसका बध किया था, उसे योगमाया का अवतार माना जाता है । यह मंदिर उसी देवी का है । यह एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है, जो किसी पुराने किले का बुर्ज सा जान पड़ता है ।

तृणावर्तारि भगवान् का मंदिर—पुराणों से ज्ञात होता है, बालक कृष्ण को मारने के लिए एक असुर तृणावर्त (धूल का बवंडर) बन कर आया था, जिसे कृष्ण जी ने समाप्त कर दिया था । उसी स्मृति में यह मंदिर बनाया गया है ।

महामल्लराय जी का स्थान—कृष्ण-बलराम अपने बाल्य काल में ही मल्ल विद्या में इतने निपुण हो गये थे कि उन्होंने कंस के बड़े-बड़े मल्लों और योधाओं को सरलता से पराजित कर दिया था । वे मल्लों के लिए 'महामल्ल' दिखलाई पड़ते थे । उनके उसी रूप के दर्शन इस स्थान पर होते हैं ।

---

(२) एकाविंशति तीर्थनां युक्तं भूरिगुणान्वितम् । यमलार्जुन पुण्यात्मानम्, नंदकूपं तथैव च ।।
चिंताहरण ब्रह्मांडं, कुंडं सारस्वतं तथा । सरस्वती शिला तत्र, विष्णुकुंड समन्वितम् ।।
कर्णकूपं कृष्णकुंडं, गोपकूपं तथैव च । रमणं रमणस्थानं, नारदस्थानं एव च ।।
पूतनापातन स्थानं, तृणावर्ताख्य पातनम् । नंदहर्म्यं नंदगेहं, घाटं रमण संज्ञकम् ।।
मथुरानाथोद्भवं क्षेत्रं पुण्यं पापप्रनाशनम् । जन्मस्थान तु शेषस्य, जन्मंयोगमायया ।।
—ब्रह्मांड पुराण, बृहद्वन माहात्म्य ।

मथुरानाथ जी का मंदिर—यह प्राचीन देव मूर्ति एक साधारण से शिखरदार मंदिर के चबूतरे पर रखी हुई है। उसे देखने पर ऐसा लगता है कि वह किसी अन्य स्थान से लाकर वहाँ रख दी गई हो। औरंगज़ेब ने श्रीकृष्ण जन्म स्थान मथुरा के जिस ऐतिहासिक मंदिर को तोड़ा था, उसमें श्री केशवदेव जी की प्रधान मूर्ति के साथ दो मूर्तियाँ श्री मथुरानाथ जी और श्री कल्याण राय जी की भी थीं। इसका उल्लेख उस काल के एक मारवाड़ी यात्री ने किया है[1]। ऐसा अनुमान होता है, औरंगज़ेब के आक्रमण काल में मथुरानाथ जी की वह प्राचीन मूर्ति मंदिर से हटा कर यहाँ छिपा दी गई थी और बाद में उसे इस मंदिर रख दिया गया था। इस देव मूर्ति के निकट वराह भगवान् की भी एक प्राचीन प्रतिमा है। वह भी किसी काल में मथुरा से ही लाकर यहाँ रखी गई होगी।

चिंताहरण—महाबन से कुछ दूर यमुना तट के घाट को चिंताहरण घाट कहते हैं। वहाँ चिंताहरण महादेव का एक मंदिर भी है।

ब्रह्मांड घाट—महाबन से कुछ दूर यमुना तट का यह एक रमणीक स्थल है, जहाँ सघन वृक्षों की छाया में शांतिपूर्ण तपोबन का सा दृश्य दिखलाई देता है। बालक कृष्ण के मिट्टी खाने पर जब यशोदा जी ने उनका मुख खोल कर देखा था, तब उसमें उन्हें समस्त ब्रह्मांड की रचना दिखलाई दी थी। उक्त पौराणिक अनुश्रुति का संबंध इस स्थल से बतलाया जाता है। उस दिव्य घटना की स्मृति में यहाँ श्री ब्रह्मांडबिहारी जी का एक छोटा सा मंदिर बनाया गया है। उसके समीपवर्ती एक बगीचे में कतिपय संन्यासियों की भजन कुटियाँ हैं और एक संस्कृत पाठशाला है।

यमलार्जुन का मंदिर—यशोदा जी के आँगन में लगे हुए अर्जुन के दो जुड़वाँ वृक्षों को श्री कृष्ण द्वारा गिराये जाने की घटना का पुराणों में उल्लेख हुआ है। उसी की स्मृति में यहाँ एक प्राचीन देवालय था। ओरछा के राजा वीरसिंहदेव ने सं० १६७६ में यहाँ एक बड़ा मंदिर बनवाया था, जो यवन आक्रमणकारियों द्वारा किसी समय नष्ट कर दिया गया था। इस समय यहाँ एक पक्की तिवारी बनी हुई है और एक शिलालेख लगा हुआ है।

पूतना खार—महाबन गाँव के बाहर एक नीचे स्थल को पूतना खार कहा जाता है। यहाँ पूतना राक्षसी की दाह-क्रिया किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इस स्थल पर कार्तिक शु० ६ को पूतना का मेला होता है।

रमणरेती—यह धार्मिक स्थल महाबन से गोकुल जाने वाले कच्चे मार्ग में यमुना पुलिन पर स्थित है। इसे बाल कृष्ण के खेल-कूद का स्थान कहा जाता है। यहाँ श्री रमणबिहारी जी का मंदिर है। इसके निकटवर्ती बनखंड को **'खेलन बन'** कहते हैं। श्री ग्राउस ने लिखा है,—"इस बन में कुछ वृक्ष 'पारस पीपर' की जाति के हैं, जिनमें शीत काल में कपास की तरह के फूल निकलते हैं। ऐसे वृक्ष ब्रज में अन्यत्र नहीं हैं[2]।" इस स्थल का वर्तमान महत्व **'कार्ष्णि पंथ'** के केन्द्र स्थान होने के कारण है। उक्त पंथ की स्थापना महात्मा गोपालदास जी ने की थी और उनके शिष्य श्री हरिनामदास जी ने यहाँ एक सुंदर आश्रम बनवाया है। इस आश्रम में कृष्णोपासक विरक्त

---

(१) **ब्रज और ब्रज-यात्रा**, पृष्ठ ११७

(२) **मथुरा—ए—डिस्ट्रिक्ट मेमोअर**, पृ० २८०

साधु गरा भजन–कीर्तन और कथा–प्रवचन में तल्लीन रह कर गो-सेवा एवं साधु-सत्कार करते हैं। उक्त आश्रम से कुछ दूर गोकुल के मार्ग में दो भग्न छतरियाँ हैं, जिन्हें अलीखान पठान और उसकी कृष्णोपासक पुत्री की समाधियाँ कहा जाता है। उन मुसलमान पिता-पुत्री के भक्ति-भाव का उल्लेख बल्लभ संप्रदायी वार्ता में हुआ है[1]। उस स्थल के निकटवर्ती एक कूप को 'गोप कूआ' कहते हैं और उसके समीप के टीले को 'गोविंदस्वामी का टीला' कहा जाता है। वहीं पर लाल पत्थर की एक सुंदर छतरी है, जिसे भक्तवर रसखान की समाधि बतलाया जाता है; किंतु यह भ्रमात्मक कथन ज्ञात होता है।

उत्सव-मेले—महाबन में कई उत्सव–मेले होते हैं। उनमें दशहरा पर होने वाली रामलीला, कार्तिक शु० ६ को होने वाला पूतना का मेला, माघ के चारों रविवारों को होने वाला 'जखैया का मेला' तथा फाल्गुन शु० ११ को होने वाला रमणरेती का उत्सव मुख्य हैं।

यहाँ की स्थानीय परिक्रमा कार्तिक शु० ५ को की जाती है।

गोकुल—इस धार्मिक स्थल की प्रसिद्धि भगवान् कृष्ण के शैशव काल की लीलाओं के कारण हुई है। भागवतादि पुराणों से ज्ञात होता है, मथुरा स्थित कंस के कारागर में जन्म लेते ही बालक कृष्ण को कंस से छिपा कर यमुना पार की गोप-बस्ती अर्थात् गोकुल में भेज दिया था। वहीं पर उनका शैशव काल व्यतीत हुआ था। कृष्णकालीन गोकुल कहाँ था, यह पुरातत्ववेत्ताओं और शोधकर्ताओं के अनुसंधान का विषय रहा है। कुछ लोगों का मत है, नवजात शिशु कृष्ण को कंस के भय से जहाँ छिपाया गया था, उस स्थल को अब 'महाबन' कहते हैं; अतः वही पुराना गोकुल है। वर्तमान गोकुल बल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों द्वारा १६वीं शती में बसाया गया है।

बल्लभ संप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है कि गोकुल की वर्तमान बस्ती को गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने सं० १६२८ में बसाया था। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उससे पहिले गोकुल का अस्तित्व ही नहीं था। ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि सं० १६२८ से पहिले भी 'गोकुल' नामक स्थान था, जो 'महाबन' से पृथक् था। जब चैतन्य महाप्रभु के परिकर जगतानंद जी ब्रज की यात्रा के लिए आये थे; तब उन्होंने 'गोकुल' और 'महाबन' दोनों स्थानों को देखा था और वहाँ निवास किया था। इसका उल्लेख श्री कृष्णदास कविराज ने किया है[2]। कृष्ण कालीन गोकुल एक विस्तृत बनखंड था; जो वर्तमान महाबन से वर्तमान गोकुल तक फैला हुआ था। इस प्रकार इन दोनों स्थानों को प्राचीन गोकुल के अंतर्गत माना जा सकता है। कालांतर में जब प्राचीन बनों के स्थान पर बस्तियाँ बसने लगीं, तब उस बन में महाबन और गोकुल के नाम से दो पृथक्-पृथक् स्थान बस गये थे। इनमें वर्तमान महाबन निश्चय ही वर्तमान गोकुल से पुराना है और उसका ऐतिहासिक महत्व भी अधिक है।

---

(१) **पीरज़ादी और अलीखान पठान की वार्ता—**

—दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खंड, पृष्ठ २९६

(२) **सनातन कराइल तारे द्वादशादि बन। 'गोकुले' रहिला दुहें देखि 'महाबन'॥**
सनातन गुफा तें दुहें रहे एक ठांई। पंडित करेन पाक देवालय जाई॥

—श्री चैतन्य चरितामृत (अन्त्य लीला, १३वाँ परिच्छेद, पृ० २४४)

भागवतादि पुराणों में और उनके आधार पर सूरदासादि भक्त कवियों की रचनाओं में 'गोकुल' का उल्लेख किसी निश्चित स्थान के लिए न होकर चलती–फिरती गोप-बस्ती के लिए किया गया है। वही बस्ती पहिले मथुरा के सामने यमुना पार के एक बड़े बन (वृहत्वन अथवा महाबन) में थी। जब वहाँ कंस का उपद्रव बढ़ गया, तब उसे वृंदाबन के सुदूर सघन बन में बसाया गया था। सूरदास की रचनाओं में वृंदाबन की उस गोप बस्ती को भी 'गोकुल' कहा गया है। कंस ने अपने दूत अक्रूर को वृंदाबन की गोप-बस्ती में भेज कर वहाँ से कृष्ण-बलराम को मथुरा आने के लिए निमंत्रित किया था। सूरदास ने उस गोप-बस्ती को भी 'गोकुल' कहा है[1]। जब कृष्ण मथुरा आ गये और उनके द्वारा कंस का बध हो गया, तब एक दिन उन्होंने अपने सखा उद्धव को इसलिए वृंदाबन भेजा कि वह कृष्ण के विरह में दुखित गोप समुदाय को ज्ञानोपदेश देकर उन्हें सान्त्वना प्रदान करें। उद्धव जी अपने ज्ञान के अभिमान में भरे हुए वृंदाबन गये थे। सूरदास ने उस प्रसंग पर भी वृंदाबन की गोप-बस्ती को 'गोकुल' की संज्ञा दी है[2]।

इस समय 'गोकुल' के नाम से जो स्थान प्रसिद्ध है, वह बल्लभ संप्रदाय की देन है। उसके महत्व का सूत्रपात श्री बल्लभाचार्य जी ने किया था। बाद में उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी ने उसे अपना निवास–स्थान बना कर उसके गौरव की वृद्धि की थी। श्री बल्लभाचार्य जी का स्थायी निवास तो प्रयाग के निकट अड़ैल में था; किंतु जब वे ब्रज में आते थे, तब वे गोकुल में विश्राम कर गोबर्धन चले जाते थे। उनकी ८४ बैठकों में सबसे प्रथम गोकुल के गोविंद घाट की है, जिसकी स्थापना सं १५५० में ही हो गई थी। बल्लभाचार्य जी के उपरांत उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी अड़ैल की अपेक्षा गोकुल में रहना अधिक पसंद करते थे। उन्होंने सम्राट अकब्र से सुविधा प्राप्त कर सं० १६२८ से गोकुल में स्थायी रूप से रहना आरंभ किया था। उनके कारण वहाँ अनेक मंदिर–हवेलियों का निर्माण हुआ और उनके अनुयायी भक्तगण वहाँ अधिक संख्या में आकर रहने लगे। इस प्रकार गोकुल की नई बस्ती बस गई। सम्राट अकबर ने सं० १६३४ और सं० १६३८ के फरमानों द्वारा गो० विट्ठलनाथ जी को गोकुल में रहने के लिए राजकीय सुविधाएँ प्रदान की थीं। बाद में सं० १६५१ के फरमान द्वारा सम्राट ने गोकुल गाँव की जिमींदारी भी गो० विट्ठलनाथ जी के वंशजों को सदा के लिए माफी में दे दी थी। इस प्रकार गोकुल पर बल्लभ संप्रदाय के गोस्वामियों का वंशपरंपरागत अधिकार क़ायम हो गया और यह स्थान इस संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र बन गया।

---

(१) तब रथ बैठि चले सुफलक–सुत, संध्या 'गोकुल' आये।
मथुरा तें 'गोकुल' नहिं पहुँचे, सुफलक सुत कों सांझ भई ।।३५६८।।

(२) १. ऊधौ मन अभिमान बढ़ायौ।
सूरदास प्रभु 'गोकुल' पठवत, मैं क्यों कहों कि आन ।।४०४७।।
२. तुम पठवत 'गोकुल' कों जैहों।
जो मानि हैं ब्रह्म की बातें, तो उनसों मैं कैहों ।।४०४८।।
३. मधुबन तें चल्यौ, तबहिं 'गोकुल' नियरान्यौ।
देखत ब्रज के लोग, स्याम आयौ अनुमान्यौ ।।४०७५।।

यहाँ पर बल्लभ संप्रदाय के सातों सेव्य स्वरूपों के मंदिरों का निर्माण हुआ और गोस्वामियों की बैठकें बनाई गईं। इस प्रकार सं० १६२८ से १७२६ तक प्रायः एक शताब्दी के काल में गोकुल का धार्मिक महत्व चरमोत्कर्ष पर रहा था। सं० १७२६ में मुगल सम्राट औरंगजेब ने ब्रज के मंदिरों और देव मूर्तियों को नष्ट करने का आदेश जारी किया था। उसके कारण बल्लभ संप्रदाय के सभी सेव्य स्वरूप गोकुल से हटा कर हिंदू राजाओं के राज्यों में भेज दिये गये थे, जिनमें से अधिकांश वहाँ ही विराजमान हैं। केवल श्री गोकुलनाथ जी का प्राचीन स्वरूप ही बाद में वापिस आ सका था। इस प्रकार औरंगजेब की दमन नीति के फलस्वरूप गोकुल का प्राचीन धार्मिक वैभव समाप्त प्राय हो गया और वह बस्ती एक प्रकार से उजड़ गई।

श्री ग्राउस ने गोकुल का वर्णन करते हुए सर्वश्री बल्लभाचार्य जी, विट्ठलनाथ जी और उनके द्वारा प्रचारित भक्ति संप्रदाय का भी उल्लेख किया है; किंतु वे उसे ठीक तरह से नहीं लिख सके हैं। उन्हें इस संप्रदाय के धार्मिक सिद्धांत को भली भाँति समझने का सुयोग नहीं मिला था, और उनके काल में इस संप्रदाय की दशा भी अच्छी नहीं थी; इसलिए उन्होंने इसके संबंध में कुछ भ्रमात्मक विचार प्रकट किये हैं। बल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध पारिभाषिक नाम 'पुष्टि मार्ग' का अर्थ उन्होंने भ्रम से 'आनंद प्राप्ति अथवा सुखोपभोग का मार्ग' (Way of happiness) समझा है[1]; जब कि वास्तव में इसका अभिप्राय 'भगवान् के अनुग्रह का मार्ग' है।

यहाँ पर गोकुल के प्रमुख धार्मिक स्थलों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

श्री गोकुलनाथ जी का मंदिर—यह गोकुल का प्रधान मंदिर है। यहाँ के सेव्य स्वरूप बल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध सात स्वरूपों में से हैं। इस मंदिर में श्री बल्लभाचार्य जी और श्री विट्ठल नाथ जी की पादुका, माला, उपरना और हस्ताक्षर-लेख आदि प्राचीन दर्शनीय वस्तुएँ हैं।

श्री राजा ठाकुर का मंदिर—यहाँ के मुख्य स्वरूप श्री नवनीतलाल जी हैं, जिन्हें राजा ठाकुर कहा जाता है। उन्हीं के निकट श्री बालकृष्ण जी विराजमान हैं। यहाँ गोस्वामी बड़े दाऊजी की बैठक भी है। यह गोकुल का अत्यंत प्राचीन मंदिर है।

श्री गोपाललाल जी का मंदिर—इसे चौकी वाला मंदिर भी कहते हैं। इसमें श्री नवनीत प्रिय जी और श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप हैं।

मोरवाला मंदिर—इसमें श्री नवनीत प्रिय जी और श्री मदनमोहन जी के स्वरूप हैं।

इनके अतिरिक्त कटरा वाला मंदिर, श्री दाऊजी का मंदिर, श्री राधा माजी (जामनगर वाला) मंदिर, श्री ब्रजेश्वर जी का मंदिर, श्री गंगाबेटी जी का मंदिर, श्री मथुरेश जी का मंदिर, श्री नत्थू जी का मंदिर, श्री पार्वती बहू और श्री भामिनी बहू के मंदिर, श्री बल्लभलाल कामवन वालों का मंदिर आदि हैं। यहाँ पर महादेव जी के भी दो मंदिर हैं, जिन्हें जोधपुर के राजा विजयसिंह ने सं० १६५६ में बनवाया था। यहाँ एक पक्का सुंदर तालाब है, जिसे चुन्ना का तालाब कहते हैं। यहाँ की एक बावड़ी को रीवा के सचिव मनोहरलाल भाटिया ने बनवाया था। बंबई के मोटा मंदिर द्वारा संचालित यहाँ पर एक बड़ी गोशाला भी है।

---

(१) **मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर, (तृ० सं०)** पृ० १८६ की पाद-टिप्पणी।

घाट—गोकुल में यमुना जी के १२ घाट हैं, जिनमें गोविंद घाट और ठकुरानी घाट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बैठकें—गोकुल में बल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों की अनेक बैठकें हैं। उनमें सबसे प्राचीन बैठक महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य जी की है, जो गोविंदघाट पर छोंकर के नीचे बनी हुई है। वह बैठक आचार्य जी के सर्व प्रथम ब्रज में पधारने की स्मृति में बनाई गई थी। वहीं पर सं० १५५० की श्रावण शु० ११ को आचार्य जी ने दामोदरदास हरसानी को सर्व प्रथम ब्रह्म संबंध की दीक्षा दी थी। उक्त प्राचीन बैठक के अतिरिक्त आचार्य जी की बड़ी बैठक (द्वारकाधीश जी के मंदिर में), शैया बैठक और संध्या वंदन की बैठकें हैं। उनके अतिरिक्त गोसाईं विट्ठलनाथ जी की ३ बैठकें हैं, तथा सर्वश्री गिरिधर जी, गोकुलनाथ जी, रघुनाथ जी, घनश्याम जी, हरिराय जी, दामोदरदास जी और गोबर्धननाथ जी की १–१ बैठकें हैं।

उत्सव–मेले—गोकुल में कई उत्सव–मेले होते हैं, जिनमें जन्माष्टमी (भाद्रपद कृ० ८), तृणावर्त बध (कार्तिक कृ० ४) और अन्नकूट (कार्तिक शु० १) के नाम उल्लेखनीय हैं।

ब्रह्मांड घाट और गोकुल के सामने यमुना पार भी कई दर्शनीय स्थल हैं, जिनमें कर्णावल और कोइला उल्लेखनीय हैं।

कर्णावल—इसे श्री मथुरेश जी का प्राकट्य स्थल कहा जाता है। यहाँ श्री मथुरेश जी की बैठक, कर्णावल कूप तथा श्री मदनमोहन जी और श्री माधवराय जी के मंदिर हैं।

कोइला—यह वह प्राचीन स्थल कहा जाता है, जहाँ से श्री वसुदेवजी ने यमुना पार कर बालक कृष्ण को गोकुल पहुँचाया था।

गोकुल से यात्रा का पड़ाव उठने पर यात्रीगण रावल होते हुए मथुरा जाते हैं।

रावल—यह यमुना के तट पर एक छोटा सा प्राचीन लीला स्थल है। इसका नामोल्लेख ब्रज के २४ उपबनों में किया गया है। इसे श्री राधा जी का जन्म-स्थान और उनके नाना का निवास–स्थल कहा जाता है। राधा जी की माता कीर्ति जी ने अपने पिता के घर पर ही राधा जी को जन्म दिया था। उसी स्मृति में यहाँ पर श्री राधा जी का प्राचीन मंदिर बनाया गया था। बरसाना में श्री लाड़िली जी का मंदिर बनने से पहिले उस मंदिर का बड़ा महत्व था। १७वीं शताब्दी में यमुना की बाढ़ से रावल के प्राचीन मंदिर को बड़ी हानि पहुँची थी। उस समय वहाँ के मंदिर से श्री राधा जी की प्राचीन प्रतिमा को हटा कर बरसाना के मंदिर में विराजमान कर दिया था। बाद में यहाँ पर नया मंदिर बना था। श्री ग्राउस ने लिखा है, इस मंदिर के पुजारी छोटेलाल के पास महम्मदशाह के समय (सं० १७६८) की एक सनद है, जिसमें वजीर करमुद्दीन खाँ ने उस समय के पुजारी रूपचंद्र को महाबन की तहसील से १) प्रति दिन दिये जाने का आदेश दिया था।

रावल से यात्रा मथुरा पहुँचती है। वहाँ पहिले दिन मथुरा मंडल की पंचकोसी परिक्रमा की जाती है। उसके बाद यात्री गण नियम विसर्जन कर अपनी यात्रा को समाप्त करते हैं।

मथुरा की परिक्रमा—

मथुरा की स्थानीय परिक्रमा का परिमाण ५ कोस का माना जाता है; इसीलिए इसे **'पंच कोसी परिक्रमा'** कहते हैं। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, यह परिक्रमा साधारणतया प्रत्येक माह की एकादशी और पूर्णमासी को तथा पुरुषोत्तम (अधिक) मास में प्रति दिन की जाती है। इसे विशेष रूप से वर्ष में चार वार—१. वैशाखी पूर्णिमा (वनबिहार की पूनौ) २. आषाढ़ शु० ११ (देवशयनी एकादशी), ३. कार्तिक शु० ९ (अक्षय नवमी) और ४. कार्तिक शु० ११ (प्रबोधिनी अथवा देवोत्थापनी एकादशी) को किया जाता है। ब्रज–यात्रा पूरी होने पर जब यात्री गण नियम–विसर्जन अर्थात् यात्रा का समापन करते हैं, उससे पहिले भी वे मथुरा की परिक्रमा करते हैं।

यह परिक्रमा मथुरा के विश्राम घाट से आरंभ की जाती है। वहाँ से परिक्रमार्थी यमुना के दक्षिणवर्ती घाटों पर होते और मार्ग के मंदिर–देवालयों के दर्शन करते हुए ध्रुव टीला, बलि टीला और सप्तर्षि टीला पर आते हैं। वहाँ से परिक्रमा का मार्ग पश्चिम की ओर मुड़ता है। विश्राम घाट से सप्तर्षि टीला तक के मार्ग में जो घाट–मंदिर आदि दर्शनीय स्थल विद्यमान हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

घाट—मथुरा में यमुना नदी पर अनेक घाट बने हुए हैं। प्राचीन काल में यमुना तटवर्ती जिन स्थलों पर पावन तीर्थ थे, अथवा तपस्वी ऋषि–मुनियों के आश्रम थे; वहाँ ये घाट बनाये गये हैं। इस समय इन घाटों पर अनेक मंदिर–देवालय, बुर्जियाँ और छतरियाँ आदि हैं, जिनसे उनके निर्माताओं की धार्मिक भावना और कलाभिरुचि का परिचय प्राप्त होता है। इनके कारण मथुरा में यमुना तट की शोभा अत्यंत दर्शनीय हो गई है। इसकी तुलना केवल काशी स्थित गंगा तट के घाटों से ही की जा सकती है। इन घाटों और उन पर निर्मित बुर्जियों–छतरियों आदि के बनवाने में विगत युग के धर्म-प्राण राजा–महाराजाओं और समृद्ध व्यक्तियों ने प्रचुर द्रव्य लगाया था। इस समय इनमें से अधिकांश जीर्णावस्था में हैं, जिनके सुधार की आवश्यकता है।

इन घाटों की संख्या बहुत अधिक है; किंतु इनमें विश्रामघाट सहित २५ प्रमुख माने जाते हैं। इनमें में १२ घाट विश्रामघाट के उत्तर में हैं और १२ दक्षिण में। परिक्रमा के आरंभ में विश्रामघाट के दक्षिणवर्ती घाट मिलते हैं; जिनके नाम क्रमशः १. गुह्यतीर्थ घाट, २. योगमाया घाट, ३. प्रयाग घाट, ४. श्याम घाट. ५. राम घाट, ६. कनखल घाट, ७. तिंदुकतीर्थअथवा बंगाली घाट, ८. सूर्य घाट, ९. ध्रुव घाट, १०. मोक्षतीर्थ घाट, ११. रावणकोटि घाट और १२. बुद्ध घाट हैं। यहाँ पर इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

विश्रामघाट—यह मथुरा का प्रधान तीर्थ और यमुना का प्रमुख घाट है। वाराह पुराण में लिखा है, मथुरा में विश्राम तीर्थ, दीर्घविष्णु और केशव भगवान् के दर्शन करने से पुण्य फल प्राप्त होता है[1]। ऐसी अनुश्रुति है, श्री कृष्ण ने कंस का बध करने के अनंतर यहाँ विश्राम किया था। इसी के कारण इसका यह नाम पड़ा है। इस समय दाह–क्रिया से पहिले शवों को यहाँ विश्राम दिया जाता है। विगत युग में अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा इस स्थल पर प्राण-विसर्जन करने अथवा उनके शवों की दाह–क्रिया करने के उल्लेख मिलते हैं।

---

(१) विश्रांति संज्ञकं दृष्ट्वा दीर्घविष्णुं च केशवम् ।
सर्वेषां दर्शनं पुण्यमेभिर्दृष्टैः फलं लभेत् ॥ (वाराह पुराण)

मुसलमान सुलतानों के शासन काल में इस तीर्थ का कोई महत्व नहीं था। उस समय मथुरा की बस्ती ऊँचे टीलों पर बसी हुई थी। इस समय का कंसखार बाज़ार तब वास्तव में एक गहरा 'खार' था, जिसमें बहता हुआ नाला विश्रामघाट के पास यमुना में गिरता था। उस समय विश्रामघाट और उसके निकटवर्ती यमुना तट पर श्मशान था, जहाँ हिंदुओं के मुर्दे जलाये जाते थे। आमेर के राजा बिहारीमल की रानी इसी स्थान पर सती हुई थी। अकबर के प्रसिद्ध दरबारी पृथ्वीराज अथवा पृथ्वीसिंह द्वारा यहाँ देह–त्याग करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है[1]। प्रतिष्ठित व्यक्तियों के शव–दाह के उपरांत उनकी स्मृति में बुर्ज-बुर्जियाँ और छतरियाँ बनवाई जाती थीं।

सिकंदर लोदी के शासन–काल में मथुरा के धर्मांध मुसलमान शासक ने यहाँ यमुना–स्नान करने और क्षौरादि कराने में बाधा उपस्थित कर दी थी, जिसके कारण हिंदुओं को बड़ा कष्ट होता था। उस काल के वैष्णव धर्माचार्य, जिनमें निंबार्क संप्रदाय के दिग्विजयी आचार्य श्री केशव काश्मीरी जी और पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य जी के नाम उल्लेखनीय हैं, अपने भक्ति–प्रभाव और तपोबल के चमत्कार से इस तीर्थ की उक्त बाधा को दूर करने में सफल हुए थे। श्री बल्लभाचार्यजी ने यहाँ से श्मशान को हटवाया और इस स्थल को शुद्ध कर यहाँ भागवत पारायण किया था। उसी स्मृति में यहाँ पर उनकी 'बैठक' बनाई गई है। उसके बाद यहाँ शव को केवल विश्राम और एक पिंड देने की परंपरा चली, जो अभी तक प्रचलित है।

मुगल सम्राट अकबर के शासन–काल में मथुरा के हिंदुओं को अपने धार्मिक कृत्यों के संपादन की स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी। तभी से विश्रामघाट का महत्व भी बढ़ा है। उस काल के विशिष्ट धार्मिक व्यक्तियों के अतिरिक्त राजा–महाराजा और राजकीय पदाधिकारी गण भी इसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने लगे थे। उन्होंने समय–समय पर यहाँ दान-पुण्य और तुलादि द्वारा अपनी धार्मिक भावना व्यक्त की है। उसी स्मृति में उनके बनवाये हुए यहाँ कई तुला–द्वार हैं, जिन पर बड़े-बड़े घंटे लटके हुए है।

यहाँ प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल को यमुना जी की आरती होती है। उस समय अनेक दर्शक यमुना जी में दीपदान करते हैं। आरती के सामूहिक गान की ध्वनि, घंटों के तुमुल घोष और दीपकों की सुंदर आभा से उत्पन्न यहाँ का वातावरण उपस्थित दर्शनार्थियों के मन को मोह लेता है। यहाँ पर प्रति दिन सैकड़ों व्यक्ति स्नान–दर्शनादि के लिए आते रहते हैं। श्रावण, भाद्रपद और कार्तिक के महीनों में यहाँ आने वाले यात्रियों की बहुत बड़ी संख्या होती है। चैत्र शु० ६ को यहाँ यमुना जी का जन्मोत्सव मनाया जाता है और कार्तिक शु० २ को यमुना–स्नान का बड़ा मेला होता है। भारतवर्ष के अनेक भागों से आने वाले हज़ारों यात्री तथा सैकड़ों भाई–बहिन उस दिन यमद्वितीया अथवा भैयादोज का स्नान करते हैं। कार्तिक में महीना भर तक महिलाओं द्वारा राधा–दामोदर का पूजन होता रहता है। पहिले यहाँ पर दिन--रात में कई बार नौबत बजती थी, सायंकाल को बारहमासी कथा होती थी और कभी-कभी रास भी होता था; किंतु कुछ समय से ये धार्मिक कृत्य बंद हो गये हैं।

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता में सं० २३८ पर 'पृथ्वीसिंह की वार्ता' तथा प्रियादास कृत 'भक्तिरस बोधिनी' का कवित्त सं० ५३९

मथुरा नगर

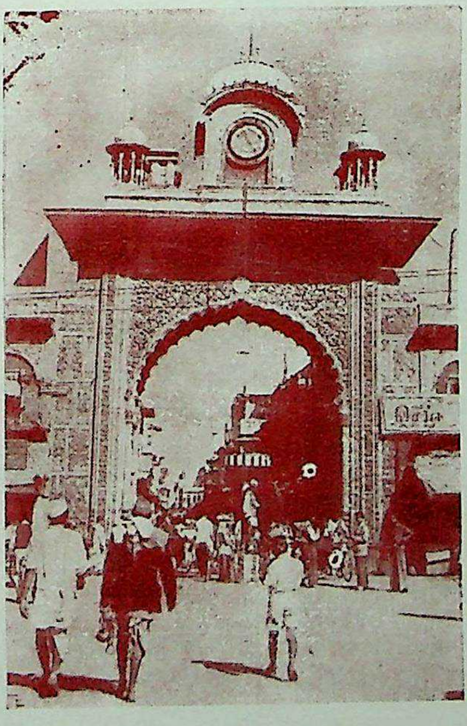

मथुरा नगर का 'तिलक द्वार'

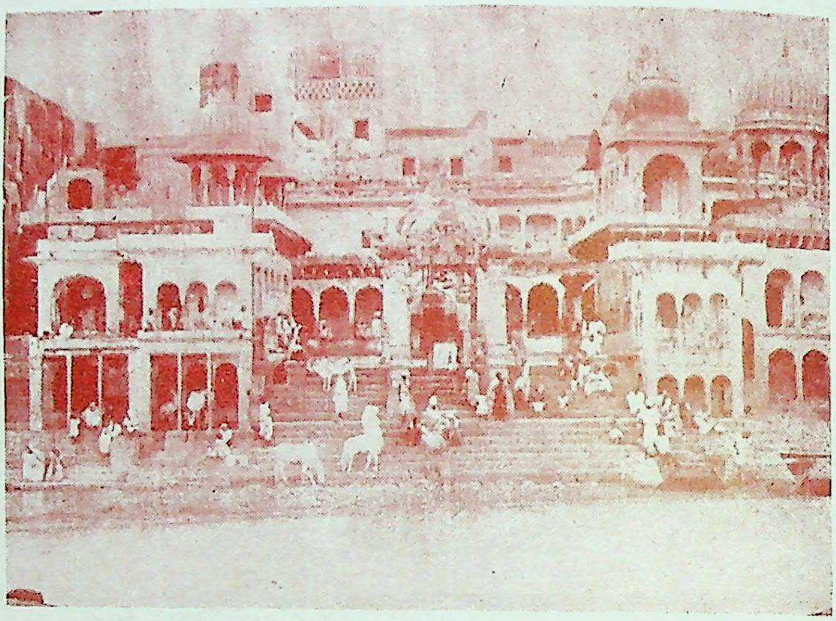

विश्रामघाट

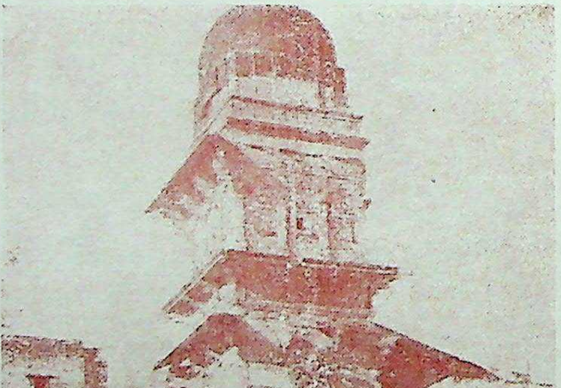

सती का बुर्ज

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

यहाँ पर कई दर्शनीय स्थल और मंदिर–देवालय हैं, जिनमें श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक, मुकुट मंदिर तथा श्री कृष्ण-बलदेव, मुरलीमनोहर, राधा–दामोदर, यमुना–कृष्ण, नीलकंठेश्वर महादेव और अन्नपूर्णा, लांगुली हनुमान, नृसिंह जी आदि देवी–देवताओं के छोटे–बड़े मंदिर उल्लेखनीय हैं। विश्राप घाट की परिधि नकटा बुर्ज से सती के बुर्ज तक मानी जाती है। इसके उत्तर में मथुरा के सेठों की विशाल हवेली है। उसी के निकट मणिकर्णिका घाट है; जो एक जनाना घाट है। उसे जयपुर के राजा ने पक्का बनवाया था।

सती का बुर्ज—यह विश्रामघाट के निकट बना हुआ लाल पत्थर का एक चौकोर स्तंभ है। जिस समय इस स्थल पर श्मशान था, उस समय आमेर के राजा बिहारीमल की रानी यहाँ सती हुई थी। उसकी स्मृति में उसके पुत्र राजा भगवानदास ने इसे सं० १६२७ में बनवाया था। इस प्रकार मथुरा की विद्यमान इमारतों में यह सबसे प्राचीन है। यह बुर्ज ५५ फीट ऊँचा है और चौमंजिला बना हुआ है। ऐसा कहा जाता है, पहिले यह और भी अधिक ऊँचा था, किंतु इसका ऊपरी भाग औरंगज़ेब के काल में गिरा दिया गया था।

दुर्वासा मुनि का आश्रम—यह प्राचीन स्थल विश्रामघाट के सामने यमुना के उस पार है। पुराणों में दुर्वासा मुनि के तपोबल और उनके क्रोधी स्वभाव से संबंधित कई कथाओं का उल्लेख मिलता है। उन्हें यादवों का गुरु कहा गया है। यमुना पार के एक रमणीक और एकांत स्थल पर उनका मंदिर बना हुआ है। प्राचीन काल में यहाँ से महाबन तक का बन्य प्रदेश 'वृहद् बन' कहलाता था, जहाँ गोकुल स्थित नंदराय जी की गायें चरती थीं। बौद्ध काल में इसके निकटवर्ती स्थल से महाबन तक बिहारों की शृंखला थी, जिनमें कई सहस्र बौद्ध भिक्षु साधना करते थे।

घाटों के मंदिर-देवालय—विश्रामघाट से आगे चलने पर परिक्रमा का पहिला घाट 'गुह्य तीर्थ' कहलाता है। वहाँ के दर्शनीय ऐतिहासिक स्तंभ सती के बुर्ज का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उसके बाद योगमाया घाट पर चर्चिका देवी का मंदिर है। कंस ने श्री कृष्ण की बाल भगिनी के रूप में उत्पन्न योगमाया के वध करने का प्रयत्न किया था। यह स्थल उसी स्मृति में निर्मित हुआ है। यहाँ पिप्पलेश्वर महादेव और बटुक भैरव के मंदिर हैं। पिप्पलेश्वर जी मथुरा के रक्षक चार महादेवों में हैं, जो पूर्वी दिशा के क्षेत्रपाल माने जाते हैं। उसके आगे प्रयागघाट पर श्री वेणीमाधव जी का मंदिर और रामानुज संप्रदाय की 'गलता वाली कुंज' है। श्यामघाट पर अष्टछापी भक्त-कवि छीतस्वामी के उपास्य श्री श्यामाश्याम जी का मंदिर है। रामघाट पर श्री रामेश्वर महादेव और कनखल घाट पर कनखल तीर्थ की मान्यता है। यहाँ पर श्री दाऊजी मदनमोहन जी के सुप्रसिद्ध मंदिर हैं, जो बल्लभ संप्रदाय के छटे घर से संबंधित हैं। उनके बाद तिंदुक तीर्थ, सूर्यघाट और ध्रुवघाट हैं; जहाँ कई ऐतिहासिक टीले हैं। इनका धार्मिक महत्व भी परंपरा से मान्य है। यहाँ पर इनमें से प्रमुख देव-स्थानों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

चर्चिका देवी—यह प्राचीन देव स्थान विश्राम घाट के आगे सतीबुर्ज के निकट है। धार्मिक ग्रंथों में चर्चिका को श्मशान बासिनी देवी बतलाया गया है। इस प्रकार उक्त देवी की विद्यमानता से विश्रामघाट पर पुराने समय में श्मशान होने की पुष्टि होती है।

बटुक भैरव—यमुना के तटवर्ती योगमाया घाट पर यह 'नाथ संप्रदाय' का प्राचीन देवालय है। इसमें बटुक भैरव की सुंदर मूर्ति है। यहाँ और भी कई पुरानी मूर्तियाँ रखी हैं, जो इस स्थल की प्राचीनता की सूचक हैं।

श्री दाऊजी--मदनमोहन जी—रामघाट के निकट यमुना के तट पर वल्लभ संप्रदाय के ये स्वरूप विराजमान हैं। इनके देवालय मथुरा के वल्लभ संप्रदायी मंदिरों में सबसे पुराने और सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। यहाँ वल्लभ संप्रदाय के छटे घर की गद्दियाँ हैं। इन मंदिरों में पुष्टि मार्गीय पद्धति के अनुसार सेवा--पूजा होती है। ठाकुर जी की ८ भाँकियों में शृंगार, भोग, राग आदि की यथोचित व्यवस्था है, जिसके लिए सांप्रदायिक नियमों का पूरी तरह पालन किया जाता है। यहाँ नित्य, नैमित्तिक और वार्षिक उत्सवों के अतिरिक्त जन्माष्टमी, अन्नकूट और भूलों के विशेष उत्सव--समारोह होते हैं।

यहाँ एक मंदिर श्री दाऊजी का और दो मंदिर श्री मदनमोहन जी के हैं तथा एक श्री गोकुलनाथ जी का है। श्री मदनमोहन जी और श्री गोकुलनाथ जी की प्रतिमाएँ छोटी हैं; किंतु श्री दाऊजी की मूर्ति विशाल है। ऐसा कहा जाता है, दाऊजी की यह दर्शनीय मूर्ति मथुरा जिला के अडींग गाँव से प्राप्त हुई थी। वास्तु कला की दृष्टि से यहाँ के मंदिर तो साधारण हैं; किंतु श्री दाऊजी के मंदिर का शिखर अत्यंत कलापूर्ण है।

ध्रुवटीला और नारद टीला—ये मथुरा के प्रसिद्ध धार्मिक स्थल हैं। पौराणिक काल के दो प्राचीनतम हरिभक्त ध्रुव जी और नारद जी के नामों से संबंधित होने के कारण इनकी प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। बौद्ध काल में उनके ओर-पास बौद्ध विहार थे, जिनके अवशेष यहाँ से प्राप्त हुए हैं। जब निंबार्काचार्य जी ब्रज में आये थे, तब उन्होंने इन टीलों को और गोबर्धन के निंबग्राम को अपना निवास स्थान बनाया था। बाद में निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, श्री भट्ट जी और हरिव्यास जी ने भी यहाँ निवास किया था। उन तीनों आचार्यों की समाधियाँ नारद टीले पर बनी हुई हैं। यहाँ पर निंबार्क संप्रदाय के जो प्राचीन मंदिर थे, वे औरंगज़ेब के काल में नष्ट कर दिये गये थे। इस समय ध्रुव टीला पर इस संप्रदाय का एक छोटा मंदिर है, जो सं० १८९४ में बनवाया गया था। इसमें श्री राधा-कृष्ण की मूर्तियाँ हैं। नारद टीला पर नारद जी का मंदिर है।

नाग टीला—ध्रुवटीला के निकटवर्ती यह टीला मथुरा के नाग राजाओं का धार्मिक स्थल है। यहाँ पर सर्प देवताओं की मूर्तियाँ हैं। मथुरा की महिलाएँ भाद्रपद मास की नाग पंचमी को यहाँ अब भी सर्पों का पूजन करने के लिए एकत्र होती हैं।

बलि टीला और सप्तर्षि टीला—ये दोनों टीले नारद टीले के पास हैं। पहिले ये सब टीले मिले हुए थे, जो मथुरा की बाहरी सीमा 'धूरकोट' के भाग थे। बरसाती जल के कटाव और सड़क के निकास से ये पृथक् खंडों में विभाजित हो गये हैं। यहाँ पर शक–कुषाण काल में बौद्ध बिहार थे, जिनके अवशेष इन दोनों स्थलों से मिले हैं।

सप्तर्षि टीला के समीप से परिक्रमा मार्ग पश्चिम दिशा की ओर मुड़ता है और राजकीय महाविद्यालय के पास की सड़क को पार कर खार में होता हुआ 'रंगभूमि' नामक प्राचीन स्थल पर आता है। यात्रा मार्ग से कुछ हट कर मैनागढ़ का विशाल टीला है, जो किसी काल में मैना जाति का निवास स्थल होगा। अब इसके अधिकांश भाग को काट कर 'कृष्णापुरी' नाम की नई बस्ती बसाई गई है। नाले के ऊपर एक बगीची में कुब्जा–कृष्ण के दर्शन हैं तथा दूसरी में कंस के पहलवान और कुवलयापीढ़ हाथी की मूर्तियाँ हैं।

रंगभूमि—इस स्थान का संबंध उस प्राचीन 'रंग-महोत्सव' से बतलाया जाता है, जिसे कंस ने कृष्ण-बलराम को युक्तिपूर्वक समाप्त करने के उद्देश्य से आयोजित किया था। यहाँ का एक टीला 'कंस टीला' कहलाता है, जहाँ कार्तिक शु० १० को कंस-बध का मेला होता है।

श्री रंगेश्वर महादेव—रंगभूमि के इस प्राचीन स्थल में श्री रंगेश्वर महादेव का मंदिर है। श्री रंगेश्वर जी मथुरा के रक्षक चार महादेवों में दक्षिण दिशा के क्षेत्रपाल माने जाते हैं। इधर कुछ वर्षों से इस देवस्थान की मान्यता बहुत बढ़ गई है। सैंकड़ों नर-नारी प्रति दिन इसके दर्शनार्थ आते हैं। यह पुराना शैव स्थान है। इसके निकट की चांडूल-मांडूल बगीची से गुप्त काल का अभिलेख युक्त स्तंभ मिला है। उससे ज्ञात होता है कि उस काल में यह शैव धर्म के पाशुपति संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र था।

रंगभूमि से आगे परिक्रमा का मार्ग सड़क को पार कर डेम्पियर पार्क में होकर जाता है। वहाँ पुरातत्व संग्रहालय है और उसके निकट सप्तसमुद्री कूप है। उससे कुछ दूर नसवारा कूआ, बनखंडेश्वर हनुमान का मंदिर, गायत्री टीला और शिव ताल हैं।

सप्तसमुद्री कूप—यह प्राचीन काल का एक ऐतिहासिक कूआ है। यहाँ नागों के शासन-काल में सर्प देवता का पूजन होता था। उसी परंपरा में अब भी मथुरा नगर की नव विवाहिता बधुएँ यहाँ नाग पंचमी (भाद्रपद शु० ५) को कूप स्थित देवता का पूजन करती हैं। गुप्त काल में जब मथुरा के वणिक द्रव्योपार्जन के लिए समुद्र-यात्रा को जाते थे, तब वापिस आने पर विदेशी संसर्ग दोष की निवृत्ति के लिए यहाँ दान-पुण्य कर स्नानादि करते थे। डा० वासुदेवशरण जी ने लिखा है—"विदेशों के साथ व्यापार करके घर लौटने पर धनी व्यापारी सवा पाव से लेकर सवा मन तक सोने के बने हुए सप्तसमुद्र रूपी सात कुंडों का दान करते थे। उन जलाशयों को 'सप्त समुद्र कूप' या 'समुद्र कूप' कहा जाता था। ऐसे कूप मथुरा के अतिरिक्त प्रयाग-काशी में भी बने हुए हैं। उस दान को मत्स्य पुराण (षोड़श महादान प्रकरण) में महादान कहा गया है[1]।" हूणों के आक्रमण काल में जब यहाँ के प्राचीन मंदिर-देवालय तोड़े गये थे, तब उनकी देव-मूर्तियों को लोगों ने कुंड, सरोवर और कूओं में डाल दिया था। पुरातत्व विभाग की ओर से जब इस कूए की सफाई कराई गई थी, तब इसमें से कुछ पुरानी मूर्तियाँ निकली थीं। इस समय मथुरा नगरपालिका ने इस ऐतिहासिक कूप से जल खींचने के लिए बिजली का पम्प लगा कर इसके स्वरूप को बिगाड़ दिया है।

नसवारा कूआ—जब मथुरा में नल नहीं लगे थे, तब इस कूआ का पानी स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम माना जाता था और नगर के अनेक व्यक्ति प्रति दिन इसी का पानी पीते थे। अब सिंचाई न होने से इसका वह महत्व समाप्त हो गया है।

बनखंडेश्वर हनुमान—पुराने समय में यहाँ सघन बनखंड था। यहाँ के एक टीले पर हनुमान जी की जो मूर्ति है, उसे बनखंडेश्वर हनुमान कहते हैं। इसके पास बिहारी जी का एक पुराना मंदिर है, जो अब जीर्णावस्था में है।

गायत्री टीला—यह एक प्राचीन स्थल है, जो अब भग्नावस्था में पड़ा हुआ है।

---

(१) **हर्ष चरित्-एक सांस्कृतिक अध्ययन**, पृष्ठ १७

शिवताल—यह एक पुराना कुंड है, जिसका जीर्णोद्धार राजा पटनीमल ने सं० १८६४ में कराया था। इसमें चारों ओर पक्के घाट, संगीन सीढ़ियाँ, चौड़े चबूतरे तथा सुंदर बुर्जियाँ और छतरियाँ हैं।

कंकाली टीला—शिवताल से कुछ आगे पश्चिम दिशा में कंकाली टीला का ऐतिहासिक स्थान है, जो विगत काल में जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। मथुरा में कृष्ण--जन्मस्थान के बाद यह दूसरा महत्वपूर्ण प्राचीन स्थल है। यहाँ 'देवनिर्मित स्तूप' और नरवाहना कुबेरा देवी का मंदिर जैसे प्राचीन देव स्थानों के अतिरिक्त जैन धर्म के मंदिर, मठ और देवालय थे। हूणों के आक्रमण काल में इस महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल की भीषण क्षति हुई थी। उस समय यहाँ के प्रमुख मंदिर–देवालयों के साथ ही साथ सुप्रसिद्ध 'देवनिर्मित स्तूप' भी नष्ट कर दिया गया था। उसके बाद इस प्राचीन स्थान का महत्व समाप्त प्राय हो गया था। पुरातत्व विभाग की ओर से जब इस स्थान की खुदाई कराई गई थी, तब यहाँ से विक्रम पूर्व छटी शती से लेकर विक्रम की ५वीं शताब्दी तक की १५०० जैन मूर्तियाँ, १०० शिलालेख और मंदिर–देवालयों के बहुसंख्यक कलावशेष प्राप्त हुए थे। एक ही स्थान से पुरातत्व के इतने विशाल भंडार का उपलब्ध होना यहाँ की गौरवपूर्ण धार्मिक समृद्धि का सूचक है।

इस समय यहाँ पर देवी का एक छोटा सा मंदिर है, जिसमें 'कंकाली' के नाम से देवी की एक लघु प्रतिमा प्रतिष्ठित है। उसी के नाम पर इस स्थान को भी 'कंकाली टीला' कहा जाता है। मथुरा की चार प्रसिद्ध देवियाँ मानी गई हैं, जिनके नाम चर्चिका, अंबिका, कंकाली और चामुंडा हैं। मथुरा के रक्षक चारों महादेवों की तरह इन चारों देवियों के स्थान भी परिक्रमा में पड़ते हैं।

कंकाली टीला से परिक्रमा मार्ग उत्तर दिशा की ओर प्राचीन मथुरा के उस इतिहास-प्रसिद्ध स्थल पर आता है, जहाँ बलभद्र कुंड, भूतेश्वर महादेव, पोतरा कुंड, मल्हपुरा और श्री केशवदेव जी का मंदिर जैसे दर्शनीय स्थान हैं।

बलभद्र कुंड—यह एक प्राचीन कच्चा कुंड है। पहिले यह अगाध जल से भरा रहता था और इसमें बहुत सिंघाड़े होते थे। पिछले कुछ वर्षों से यह प्रायः सूखा पड़ा रहता है। इसके ऊपर एक बगीचे में श्री बलदेव जी का मंदिर है।

भूतेश्वर महादेव—यह मथुरा के रक्षक चार सुप्रसिद्ध महादेवों में पश्चिम दिशा के क्षेत्रपाल माने जाते हैं। इनके महत्व का वर्णन 'पद्म पुराण' में हुआ है। इन्हीं के नाम पर मथुरा को 'भूतेश्वर क्षेत्र' कहते हैं। महादेव जी का यह देव–विग्रह और उनका यह स्थान अत्यंत धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। मथुरा के इतिहास प्रसिद्ध धार्मिक "पंच स्थल" में से यह स्थान कदाचित "वीर स्थल" कहलाता था। नागों के शासन काल में इस स्थान का बड़ा महत्व था। उस काल में यहाँ पर कई शिव मंदिर और शैव मठ थे, जो कालांतर में विदेशियों के आक्रमण में नष्ट हो गये थे। इस समय जो मंदिर विद्यमान है, वह मरहठों के आधिपत्य काल में बनाया गया था। इसकी शिव मूर्ति काफी पुरानी है।

पोतरा कुंड—यह मथुरा का प्राचीन कुंड है। पहिले यह कच्चा था; किंतु महादजी (माधव जी) सिंधिया ने सं० १८३९ में इसे विशाल रूप में पक्का बनवाया था। इस कुंड की निर्माण शैली बड़ी अद्भुत और दर्शनीय है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अब से कुछ समय पहिले यमुना नहर की एक शाखा वर्तमान वाटर वर्क्स के निकटवर्ती 'लाल डिग्गी' तक आती थी, जिसका उपयोग मथुरा से दिल्ली तक नावों द्वारा व्यापार करने के लिए होता था। उस नहर से इस कुंड में पानी लाने की व्यवस्था की गई थी, जिससे इसमें सदैव जल भरा रहता था। जब नावों से व्यापार करना बंद हो गया, तो लाल डिग्गी से नहर का संबंध भी काट दिया गया; फलतः यह कुंड सूख गया। तभी से यह विशाल कुंड शोभाहीन हो गया है।

मल्हपुरा—पोतरा कुंड से श्री केशवदेव जी के मंदिर तक की छोटी वस्ती को 'मल्हपुरा' कहते हैं। यह प्राचीन मथुरा की बड़ी बस्ती का एक छोटा सा अवशेष है। ऐसा कहा जाता है, कंस के शासन काल में यह उसके मल्ह योद्धाओं का निवास स्थल था। इस समय यहाँ पर केशवदेव मंदिर के ब्राह्मण पुजारियों और मुसलमान घोसियों के कुछ घर हैं।

श्री केशवदेव जी का मंदिर—मथुरा का यह सबसे प्राचीन मंदिर यहाँ के ऐतिहासिक स्थल पर बना हुआ था। यादवों के शासन–काल में यहाँ कंस का कारागार था, जिसकी एक कोठरी में भगवान् श्री कृष्ण का जन्म हुआ था। उसी स्मृति में यहाँ पर पिछले दो हजार वर्षों में अनेक बार वासुदेव कृष्ण के मंदिर-देवालय बनाये गये थे,और उन्हें समय-समय पर बर्बर आक्रमण-कारियों ने नष्ट किया था। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार प्रथम मंदिर शक क्षत्रप शोडास के शासन काल विक्रम संवत् के आरंभ में विद्यमान था, जिसके लिए किसी वसु नामक व्यक्ति ने तोरण और वेदिका का निर्माण कराया था। द्वितीय वार का विशाल मंदिर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने ५वीं शताब्दी में बनवाया था, जिसे महमूद गजनवी ने ११ वीं शताब्दी में पूर्णतया नष्ट कर दिया था। उसके बाद सं० १२०७ में कन्नौज के राजा विजयपाल देव ने इसे जज्ज (यज्ञ) नामक व्यक्ति के निरीक्षण में तीसरी वार बनवाया था, जिसे सिकंदर लोदी ने सं० १५७३ में नष्ट किया था। अंतिम मंदिर जहाँगीर के शासन काल में ओरछा के राजा वीरसिंह देव द्वारा निर्मित हुआ था। इतिहासकारों ने उसका निर्माण--काल सन् १६१३ (सं० १६७०) बतलाया है[1], किंतु हमारे अनुसंधान से वह सं० १६८० से पहिले बन कर तैयार नहीं हुआ था। उस मंदिर को औरंगजेब ने सं० १७२६ में तोड़वा दिया था और उसके एक भाग में मसजिद बनवा दी थी। इधर १०--१२ वर्षों में यहाँ पुनः कुछ मंदिर-देवालयों तथा सांस्कृतिक संस्थानों के निर्माण का आयोजन हुआ है।

जब उक्त निर्माण कार्यों के लिए वहाँ खुदाई की गई, तब पुराने मंदिर की दीवारें और पत्थर की जालियाँ निकली थीं तथा एक संगीन सिंहासन भी निकला था। वे दीवारें नीचे कहाँ तक गई हैं, इसे ठीक तरह बतलाना संभव नहीं है; क्यों कि उनके निकट ही मसजिद बनी हुई है। पूर्व और पश्चिम की ओर प्राचीन मंदिर के दो द्वार भी निकले हैं। ऐसा अनुमान होता है, ये दीवारें आदि अब से प्रायः ८०० वर्ष पूर्व यहाँ राजा विजयपाल देव द्वारा बनवाये गये मंदिर के अवशेष होंगे। देश के स्वाधीन हो जाने के पश्चात् यह आशा थी कि हमारी राष्ट्रीय सरकार इस प्राचीन ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्व के देव--स्थान का जीर्णोद्धार करावेगी; किंतु ऐसा अभी तक नहीं हो सका है।

---

(१) श्री कृष्ण जन्म स्थान का इतिहास (द्वि० सं०), पृष्ठ ८

महाविद्या नंदिर—यह मंदिर परिक्रमा मार्ग में एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है। अत्यंत प्राचीन काल में इसके निकट का गहन बन **'अंबिका बन'** के नाम से प्रसिद्ध था। उस सघन बन में हिंसक जीव-जंतु रहते थे। श्रीमद् भागवत् से ज्ञात होता है, जब नंदराय जी उस बन में दुर्गा--पूजा के लिए आये थे, तब उन्हें एक विशालकाय अजगर ने पकड़ लिया था। ऐतिहासिक काल में यहाँ तक मथुरा की प्राचीन बस्ती थी। उस काल में यह एक बौद्ध स्थान था और यहाँ महाविद्या नाम की एक बौद्ध देवी थी। जैन धर्म में सिंहवाहना अंबिका देवी की मान्यता है; अतः संभव है प्राचीन काल में इस स्थान का जैन धर्म से भी संबंध रहा हो। बौद्ध--जैन धर्मों का प्रभाव कम हो जाने पर जब यहाँ शैव-शाक्त मतों की प्रबलता हुई, तब यह एक शाक्त स्थान बन गया और महाविद्या शाक्तों की देवी के रूप में पूजित होने लगी। १७वीं शताब्दी में यहाँ सम्राट दीक्षित नामक एक तांत्रिक महात्मा का निवास था। वे अपनी सिद्धि के बल पर दो सिंहों के साथ इस निर्जन स्थान में निर्भय विचरण किया करते थे। इस समय जो मंदिर है, वह मरहठों का बनवाया हुआ है। तांत्रिक विद्वान् शीलचंद्र जी ने यहाँ सं० १९०७ में देवी की वर्तमान प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया था। पहिले इसमें तीन देवियों मूर्तियाँ थीं।

रामलीला मैदान और सरस्वती नाला—महाविद्या देवी के मंदिर के नीचे एक बड़ा मैदान है, जहाँ आश्विन महीने में रामलीला का मेला होता है। इसीलिए इसे 'रामलीला का मैदान' कहा जाता है। प्राचीन काल में यहाँ सरस्वती नदी प्रवाहित होतो थी, जो आगे जाकर यमुना में मिल जाती थी। कालांतर में वह नदी सूख गई; किंतु उसके स्थान पर एक बरसाती नाला बहने लगा, जो आगे गोकर्णेश्वर मंदिर के पास यमुना में मिलता है। उस प्राचीन सरस्वती नदी की स्मृति में यह नाला 'सरस्वती नाला' कहलाता है।

सरस्वती कुंड—ब्रज की प्राचीन सरस्वती नदी के अवशेष रूप में यह कुंड भी है, जो 'सरस्वती कुंड' कहलाता है। मथुरा के बलदेव गोसाईं ने इस कुंड का जीर्णोद्धार करा कर यहाँ एक मंदिर बनवाया था, जिसमें सरस्वती देवी की प्रतिमा है।

मथुरा की परिक्रमा का यह एक विश्राम स्थल है और यहाँ बड़ी परिक्रमाओं के अवसर पर मेला लग जाता है। परिक्रमार्थी यहाँ पर विश्राम और कुछ खान--पान करने के अनंतर विश्राम घाट की ओर लौट पड़ते हैं। मार्ग में जो दर्शनीय स्थल हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

चामुंडा देवी—परिक्रमा मार्ग में यह एक प्रसिद्ध देवी है, जिसकी यथेष्ट मान्यता है। चंड दैत्य संहारिणी काली की इस प्रतिमा को 'चामुंडा' कहा जाता है। 'पद्मपुराण' में रुरु नामक एक दैत्य की कथा है। उससे ज्ञात होता है, वह दैत्य बड़ा बलशाली था और देवताओं को बड़ा कष्ट देता था। भगवती शिवदूती ने देवताओं की प्रार्थना पर उस दैत्य का मुंड-छेदन किया था[1]। उस रुरु-मुंड को धारण करने वाली देवी की जो स्तुति की गई है, उसमें उसे 'चामुंडा' नाम से संबोधन किया गया है[2]। 'देवी माहात्म्य' का उल्लेख है, जब काली ने चंड और मुंड नामक दैत्यों

---

(१) **पद्मपुराण, सृष्टि खंड, अध्याय ३१, श्लोक ६२–१४१**

(२) **जयस्व देवि चामुंडे, जय भूतापहारिणी।**
जय सर्व गते देवि, कालरात्रि नमोऽस्तुते॥ (पद्मपुराण, सृष्टिखंड, ३१–१३५)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का वध किया, तब भगवती कात्यायिनी ने प्रसन्न होकर उन्हें 'चामुंडा' की उपाधि दी थी। काली ने चंड और मुंड के मस्तकों को कात्यायिनी के अर्पित किया था[1]। सप्त मातृकाओं में चामुंडा को यम की शक्ति बतलाया गया है; अतः यह विनाश की देवी है। 'रूप मंडन' के प्रतिमा-विधान में चामुंडा का बाहन प्रेत अथवा शव होने का उल्लेख है।

बौद्ध ग्रंथ 'दिव्यादान' में मथुरा के रुरुमुंड अथवा उरुमुंड पर्वत का उल्लेख हुआ है, जिसे भगवान बुद्ध ने मथुरा आने पर अपने प्रिय शिष्य आनंद के साथ देखा था। उस पर्वत की पहिचान के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। अधिकांश विद्वान गोवर्धन पहाड़ी को बौद्ध साहित्य का रुरुमुंड पर्वत मानते हैं। हमारे मतानुसार वह गोकर्णेश्वर महादेव के निकटवर्ती टीलों में से कोई ऊँचा टीला था, जिसकी संगति चामुंडा देवी के स्थान से भी होती है।

गोकर्णेश्वर महादेव—मथुरा की प्राचीन सीमा स्वरूप 'धूरकोट' के अंतिम छोर पर स्थित यह महादेव उत्तरी सीमा के रक्षक क्षेत्रपाल माने जाते हैं। जिस टीले पर इनका मंदिर है, उसे 'गोकर्णेश्वर टीला' अथवा 'कैलास' कहा जाता है। यह मथुरा का अत्यंत प्राचीन स्थान है। बौद्ध काल में इसके निकटवर्ती स्थल को रुरुमुंड अथवा उरुमुंड पर्वत कहा जाता था, जहाँ मथुरा के बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त का विहार था। श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी का अनुमान है, भगवान् बुद्ध के समय में मथुरा के दुर्दान्त यक्षों का नेता गर्दभ संभवतः इसी स्थान के आस-पास रहता था[2]। कुषाण काल में यहाँ एक 'देवकुल' था, जिसमें कुषाण राजाओं की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। नागों के शासन काल में शैव धर्म का विशेष उत्थान हुआ, तब यह शिवोपासना का भी केन्द्र बन गया था। उस समय से यह शिव का कैलास कहा जाने लगा और यहाँ गोकर्णेश्वर महादेव की मान्यता होने लगी। यहाँ की प्राचीन शिव मूर्ति किसी समय नष्ट हो गई थी। इस समय गोकर्णेश्वर के नाम से जिस शिव-प्रतिमा की पूजा होती है, वह पुरातत्व के विद्वानों के मतानुसार किसी कुषाण राजा संभवतः हुविष्क की मूर्ति है।

गोकर्ण टीले पर कई समाधियाँ बनी हुई हैं, जिनमें से एक को गौतम ऋषि की समाधि कहा जाता है। गौतम और गोकर्ण दोनों नाम हिंदू धर्म के साथ ही साथ बौद्ध धर्म में भी मान्य हैं। गौतम तो स्वयं भगवान् बुद्ध का का नाम था,और गोकर्ण उक्त घर्म की एक महान् विभूति थे।

यहाँ से यमुना जी के उन १२ घाटों का सिलसिला आरंभ होता है, जो विश्रामघाट से उत्तर की ओर हैं। ये सभी घाट परिक्रमा मार्ग में हैं। यहाँ पर उक्त घाटों का तथा उनके निकटवर्ती दर्शनीय स्थलों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

गणेश घाट—चामुंडा देवी से गोकर्ण महादेव को आने के मार्ग से उत्तर की ओर कुछ दूर गणेश टीला है; जहाँ माघ कृ० ४ (गणेश चौथ) को एक बड़ा मेला लगता है। उसी के

---

(१) **यस्माच्चण्डं च मुण्डं च, गृहीत्वा त्वमुपागता।**
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवी भविष्यसि॥ (देवी माहात्म्य, ७–२७)

(२) **प्राचीन मथुरा में यक्ष** (ब्रज भारती, वर्ष १३, सं० २)

निकट का यमुना तटवर्ती घाट 'गणेश घाट' कहलाता है। यह मथुरा की परिक्रमा के मार्ग से कुछ हट कर है; किंतु वृंदाबन–मथुरा की परिक्रमा में मथुरा आते समय पड़ता है।

दशाश्वमेध घाट—गोकर्ण महादेव के समीप 'नील कंठेश्वर महादेव' का मंदिर है और वामन भगवान् का स्थान है। वहाँ की निकस्थ भूमि में अनेक समाधियाँ बनी हुई हैं, जो संभवतः विगत युग के शैव साधुओं की हैं। वहाँ के निकटवर्ती यमुना के घाट को 'दशाश्वमेध घाट' कहा जाता है। नाग काल में मथुरा के नाग राजाओं ने यहाँ अनेक अश्वमेध यज्ञ किये थे। संभवतः यह घाट उन्हीं यज्ञों की स्मृति का स्थल है।

सरस्वती संगम घाट—महाविद्या के मैदान में बहती हुई प्राचीन सरस्वती नदी जिस स्थल पर यमुना नदी में मिलती थी, उसे सरस्वती संगम घाट कहा जाता है।

अंबरीष टीला और चक्रतीर्थ घाट—पुराणों में भक्तवर राजा अंबरीष की कथा है। वह राजा बड़ा हरि–भक्त था। उसकी अनन्य भक्ति की परीक्षा के लिए दुर्वासा मुनि ने उस पर कृत्या का मारण प्रयोग किया था। ऐसी अनुश्रुति है, भगवान् ने अंबरीष की रक्षा के लिए अपने सुदर्शन चक्र को प्रेरित किया था। उसी की स्मृति में 'अंबरीष टीला' और यमुना का 'चक्रतीर्थघाट' है। बौद्ध काल में इस टीले पर भी विहार और स्तूप थे।

सोमतीर्थ घाट, वैकुंठ घाट, कृष्णगंगा घाट—ये तीनों घाट प्रायः पास-पास हैं। 'वाराह पुराण' का उल्लेख है, सोम और वैकुंठ तीर्थों के बीच में कृष्णगंगा नामक तीर्थ है, जहाँ महर्षि व्यास ने मथुरा में तप किया था[१]। उक्त उल्लेख के अनुसार कृष्णगंगा घाट महर्षि व्यास का तप-स्थल है। कुछ विद्वानों का मत है, इसी स्थल पर व्यास जी ने पुराणों की भी रचना की थी। ऐसा जान पड़ता है, प्राचीन काल में कोई छोटी बरसाती नदी इस स्थल पर यमुना में गिरती थी। महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास का वहाँ तप स्थल होने से उनके नाम पर उक्त नदी को 'कृष्ण गंगा' कहा जाने लगा था। कालांतर में उस बरसाती नदी का प्रवाह बदल गया। इधर अनेक वर्षों से वह बरसाती जल–धारा चौक बाजार के पानी को समेंटती हुई स्वामी घाट पर यमुना में गिरती है। वर्षा ऋतु में उसका वेग कभी-कभी बड़ा प्रबल और घातक हो जाता है।

धारापतन और घंटाभरण घाट—ये दोनों घाट भी परिक्रमा के मार्ग में स्थित हैं। इनका नाम कदाचित कृष्णगंगा जैसी छोटी बरसाती नदियों के कारण पड़ा हुआ जान पड़ता है। वे नदी--नाले वर्षा ऋतु में जल--प्रपात का सा रूप धारण कर गंभीर घोष करते हुए ऊँचे स्थान से यमुना में गिरते थे।

कंस किला—यमुना तट के इस भग्न दुर्ग को कंस का किला कहा जाता है। इसका यह नाम क्यों पड़ा, इसे जानने का कोई साधन नहीं है। मथुरा गजेटियर में इसे मुगल सम्राट अकबर के विख्यात दरबारी राजा मानसिंह द्वारा बनवाया हुआ बतलाया गया है; किंतु इसकी खुदाई में जो पुरातत्व की सामग्री मिली है, उसके कारण यह स्थल काफी पुराना सिद्ध होता है। उसमें उपलब्ध मूर्तियों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वहाँ कोई हिंदू मंदिर था, जो हूणों अथवा

---

(१) **सोम वैकुंठयोर्मध्ये कृष्णगंगेति कथ्यते।**
तत्रा तप्यत्तपो व्यासो मथुरायां स्थितोऽमलः॥—वाराह पुराण, अध्याय १७५–३

कंस का किला

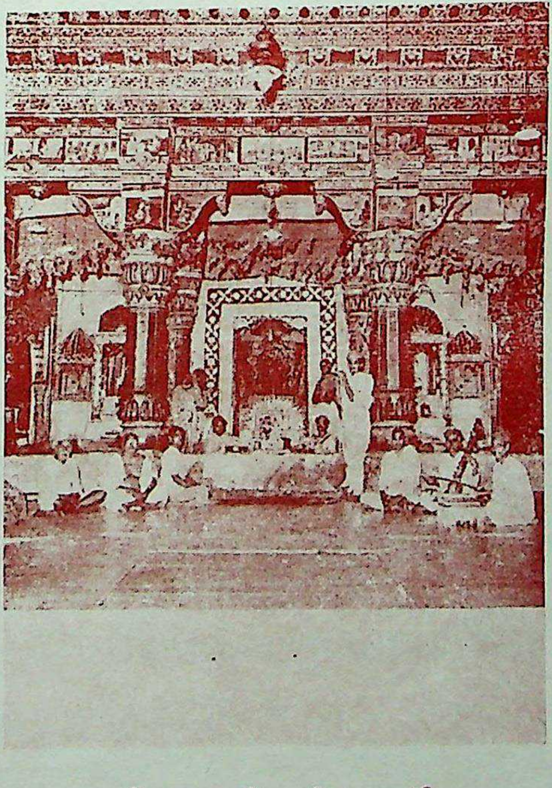

श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर

श्री द्वारकाधीश जी

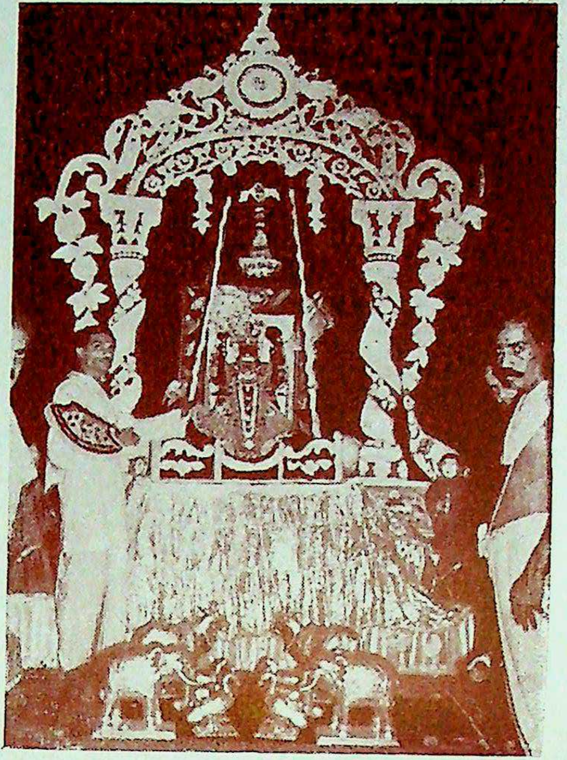

श्री द्वारकाधीश का हिंडोला

मुसलमानों के आक्रमणों में नष्ट हो गया था। अकबर के शासन काल में राजा मानसिंह ने उसके ध्वंसावशेषों पर एक विशाल दुर्ग का निर्माण कराया था। उस दुर्ग को यमुना की ओर से ऐसी चौड़ी और ऊँची सुदृढ़ दीवारों से घेरा गया था कि वह एक बांध के रूप में यमुना नदी की बाढ़ को रोकने का उत्तम साधन बन गया था। उस दुर्ग ने यमुना की अनेक भीषण बाढ़ों की टक्करें झेल कर नगर की रक्षा की थी। १८वीं शताब्दी के अंत में जब मथुरा नगर आमेर के सवाई राजा जयसिंह के प्रभाव क्षेत्र में आया, तब राजा मानसिंह का बनवाया हुआ वह दुर्ग कुछ जीर्ण हो गया था। सवाई राजा ने उसका जीर्णोद्धार कर वहाँ एक सुंदर वेधशाला बनवाई थी। कालांतर में यह स्थान पुनः जीर्ण और उपेक्षित होने से ध्वंस हो गया था।

इस समय यहाँ पर 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' का कार्यालय और उसके द्वारा संचालित विद्यालय है। इसके एक भाग में महादेव और भैरवनाथ के पुराने मंदिर हैं तथा दूसरे भाग में नगरपालिका का विद्यालय है।

संयमन घाट—इसे अब स्वामी घाट कहते हैं। ऐसी अनुश्रुति है कि प्राचीन काल में यहाँ स्वायंभुव मनु का स्थान था।

संतघाट—यमुना तटवर्ती नवसंज्ञक तीर्थ को इस समय संतघाट कहते हैं। पहिले यहां पर श्री कृष्ण का एक प्राचीन मंदिर था, जो अलाउद्दीन खिलजी के शासन--काल में नष्ट कर दिया था। बाद में वहाँ एक मुस्लिम फ़कीर मकदूम साहब का स्थान था। इस समय इस घाट पर शिवजी का एक मंदिर है।

असिकुंड घाट—यह प्राचीन वाराह क्षेत्र कहा जाता है। किसी समय यहाँ वाराही, नारायणी, वामना और लांगली नामक चार शक्तियाँ प्रतिष्ठित थीं। वाराह पुराण में कहा है, जो व्यक्ति असिकुंड तीर्थ में स्नान कर इन देवियों का दर्शन करता है, वह मथुरा के समस्त तीर्थों का फल प्राप्त करता है[1]। इस समय यहाँ वराह, नृसिंह, गणेश और हनुमान आदि देवताओं के छोटे मंदिर हैं। असिकुंड घाट के समीप बाजार में श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर है।

श्री द्वारकाधीश जी—मथुरा के मंदिरों में श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर सबसे बड़ा, सबसे अधिक प्रसिद्ध और वैभवशाली है। श्री कृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा में उनकी दर्शन--झाँकी, सेवा--पूजा, कथा--वार्ता तथा उनके कीर्तन--रासादि की थोड़ी--बहुत सम्मिलित व्यवस्था यदि कहीं है, तो इसी मंदिर में है। ब्रज की धार्मिक परंपरा से आकर्षित होकर देश के कौने--कौने से जो लाखों यात्री प्रति वर्ष मथुरा आते हैं, उनके आकर्षण का सबसे बड़ा केन्द्र यही मंदिर होता है। इस प्रकार वर्तमान काल में मथुरा नगर का अधिकांश धार्मिक, सांस्कृतिक और भौतिक महत्व इसी मंदिर पर आधारित है। नगर के प्रायः मध्य में असिकुंडा बाजार के बीचों बीच बने हुए इस मंदिर को 'राजाधिराज का मंदिर' अथवा 'सेठ जी का मंदिर' भी कहते हैं। इसमें ठाकुर जी की सेवा बल्लभ संप्रदाय के अनुसार होती है। इसे ग्वालियर राज्य के खजांची गोकुलदास पारिख ने सं० १८७१ में बनवाया था।

---

(१) एका वराह संज्ञा च तथा नारायणी परा। वामना च तृतीया वै चतुर्थी लांगली शुभा॥
एताश्चतस्रो यः पश्येत् स्नात्वा कुंडेऽसि संज्ञके। तीर्थानां मथुरानांच सर्वेषां फलमश्नुते॥
—श्री मथुरा माहात्म्य, श्लोक २९३-२९४

यहाँ प्रातःकाल शृंगार के बाद माखन--मिश्री का और रात्रि को शयन के उपरांत मोहनभोग का प्रसाद दर्शनार्थियों को बाँटा जाता है। मध्यान्ह में अभ्यागतों और साधुओं को दाल-भात और रोटी का प्रसाद दिया जाता है। ठाकुर जी का खास भोग बर्फी का है, जो मंदिर में ही बनती है। भेंट चढ़ाने वाले दर्शकों को बर्फी का प्रसाद दिया जाता है।

इस मंदिर से संलग्न एक बड़ा बाग और बड़ी गोशाला है। बाग के फल–फूल और गोशाला की बहुसंख्यक गायों के दूध का उपयोग ठाकुर--सेवा के लिए किया जाता है। इसमें निःशुल्क संस्कृत महाविद्यालय और दातव्य चिकित्सालय हैं, जिनसे जनता का बड़ा उपकार होता है।

कला की दृष्टि से भी मूर्ति और मंदिर महत्वपूर्ण हैं। श्री द्वारकाधीश की मूर्ति श्याम वर्ण की चतुर्भुज स्वरूप अत्यंत आकर्षक है। मंदिर भी मथुरा की आधुनिक वास्तु कला का एक नमूना है। इसमें सुंदर और सुदृढ़ खंभे, उन पर आधारित विशाल मंडप, कलापूर्ण महराव, सुवर्ण-मंडित शिखरें तथा छत्त के सुंदर चित्र दर्शनीय एवं कलात्मक वस्तुएँ हैं।

इस मंदिर में नित्य और वर्ष के नियमित उत्सवों के अतिरिक्त चैत्र में फूल–बंगला, वैशाख में नृसिंह लीला, आषाढ़ में रथ–यात्रा, श्रावण में झूला और रंगीन घटा, भाद्रपद में जन्माष्टमी, आश्विन में सांझी, कार्तिक में दीपादली और अन्नकूट तथा फाल्गुन में होली के विशेष समारोह होते हैं। विशिष्ट उत्सवों और पर्वों पर शृंगार, भोग, रागादि का विशेष आयोजन किया जाता है। यहाँ ठाकुर–सेवा से संबंधित बड़ा कीमती साज–सामान है। सोने और जवाहरात के आभूषण, चाँदी के बर्तन, सोने--चाँदी के बहुमूल्य हिंडोले, ज़री के काम की कीमती पिछवाई आदि में लाखों रुपया लगा है। इस मंदिर की मथुरा में बड़ी मान्यता है। प्रति दिन हजारों दर्शनार्थी नियमित रूप से आकर श्री द्वारकाधीश जी की आठों झाँकियों का आनंद प्राप्त करते हैं। इसमें प्रति दिन भजन-कीर्तन, कथा-वार्ता आदि की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त भक्तों के मनोरथ स्वरूप विशेष धार्मिक आयोजन भी होते रहते हैं। मंदिर के सामने इसके निर्माता सेठों की विशाल हवेली है।

श्री गतश्रम नारायण जी का मंदिर—असिकुंडा बाजार से आगे विश्राम बाजार में गतश्रम टीला पर यह मंदिर बना हुआ है। वाराह पुराण में श्री गतश्रम भगवान् का माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है,—"समस्त तीर्थों में स्नान करने का जो फल है, वह गतश्रम देव के दर्शन मात्र से प्राप्त होता है[१]।" यह मंदिर रामानुज संप्रदाय का है। इसे श्री प्राणनाथ शास्त्री ने सं० १८५७ में बनवाया था।

इस मंदिर के सामने विश्राम घाट है, जहाँ मथुरा की परिक्रमा समाप्त होती है।

---

(१) सर्वतीर्थेषु यत् स्नानं सर्वतीर्थेषु यत्फलम् ।
तत्फलं लभते देवि दृष्ट्वा देवं गतश्रम ॥
—श्री मथुरा माहात्म्य, श्लोक २५२

षष्टम अध्याय

ब्रज की रास लीला

●

रास की रूपरेखा—

स्वरूप और उद्देश्य—रास ब्रज का एक 'धर्मप्रधान संगीत–रूपक' अथवा 'धार्मिक नृत्य-नाट्य' है। इसे ब्रज के राधा-कृष्णोपासक धर्माचार्यों तथा भक्त महानुभावों ने अपने भक्ति–सिद्धांत की सिद्धि एवं उपासना की उपलब्धि के लिए एक प्रभावशाली साधन के रूप में अपनाया था। इसमें नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्य और चित्र आदि सभी कलाओं का धर्मोपासना के साथ ऐसा समन्वय किया गया कि वह ब्रज संस्कृति का सर्वाधिक समर्थ उपकरण ही नहीं, वरन् उसके सामूहिक स्वरूप का प्रतीक ही बन गया था। ब्रज संस्कृति को यदि एक विशाल वृक्ष की उपमा दी जाय और उसके समस्त अंगोपांगों को उसकी शाखा–प्रशाखाएँ समझा जाय, तो 'रास' को उसका आनंदायी मधुर फल कहा जावेगा।

रास का वह माधुर्य मंडित स्वरूप धर्म समन्वित शास्त्रीयता की उच्चतम भाव–भूमि पर स्थापित हुआ था; अतः उसमें नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्यादि को भी शास्त्रोक्त परंपराबद्ध रूप में ही स्वीकार किया गया था। इस प्रकार उस काल के वैष्णव धर्माचार्यों एवं संत-महात्माओं ने रास के माध्यम से ब्रज की समस्त प्राचीन कलाओं के पुनरुद्धार का पथ धर्मोपासना के प्रकाश में प्रशस्त करने का प्रशंसनीय कार्य किया था। उनका उद्देश्य उसके द्वारा अपने भजनानंद की प्राप्ति के साथ ही साथ भक्तजनों में सात्विक मनोविनोद और श्रद्धालु जनता में राधाकृष्णोपासना का प्रचार करना भी था।

परिभाषा और पर्याय—'रास' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। साधारणतया इसे संस्कृत भाषा का शब्द माना गया है; किंतु कुछ विद्वानों के मतानुसार यह मूल रूप में देशज शब्द है, जो बाद में संस्कृत भाषा में गृहीत हुआ है[1]। इसकी व्युत्पत्ति किसी भी प्रकार से मानी जाय, किंतु इसकी परिभाषा—**"रसानां समूहो रासः"** अर्थात् रस का समूह ही रास है, अधिक उपयुक्त ज्ञात होती है। रास में रस-रूप भगवान् श्री कृष्ण की रसात्मक लीलाओं को जैसी सरस पद्धति से प्रस्तुत किया जाता है और उसमें विविध कलाओं के समूह का जिस प्रकार संतुलन और सामंजस्य होता है, उसे देखते हुए उपर्युक्त परिभाषा ही सर्वथा संगत जान पड़ती है।

प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथों में रास के न्यूनाधिक अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द मिलते हैं; जिनमें रासक, हल्लीसक, छालिक्य, रासा, रासो, रसायण और रहस उल्लेखनीय हैं। ये शब्द विविध कालों में विभिन्न अर्थों के द्योतक रहे हैं; किंतु रास के मूल अभिप्राय से वे पूरी तरह

---

(१) डा० दशरथ ओझा ('हिंदी नाटक : उद्भव और विकास', पृ० ७५–७६)

कभी विलग नहीं हुए। १६वीं शताब्दी में जब वैष्णव धर्माचार्यों ने उस पुरातन रस-पद्धति का पुनरुद्धार किया; तब उन्होंने उसके लिए प्राचीन शब्द **'रास'** ही स्वीकार किया था। इस प्रकार उन्होंने विगत युग की टूटी कड़ियों को जोड़ कर रास को उसकी गौरवपूर्ण प्राचीन परंपरा से सम्बद्ध कर दिया था।

नृत्य और लीला—राधा–कृष्ण की दान, मान, चीर-हरण आदि समस्त संयोगात्मक लीलाओं के माधुर्य भाव की चरम परिणति रास में हुई है; इसीलिए इसे 'रास लीला' भी कहा जाता है। असल में यह एक धार्मिक नृत्य-नाट्य अथवा संगीत-रूपक है और 'नृत्य' एवं 'लीला' इसके दो प्रमुख अंग हैं। इन दोनों अंगों के पृथक्–पृथक् विवेचन से ही इसकी परंपरा और इसके स्वरूप को भली भाँति समझा जा सकता है।

नृत्य—रास मूल रूप में एक नृत्य था, जो प्राचीन ब्रज अर्थात् शूरसेन प्रदेश की गो–पालक जाति में प्रचलित था। जब श्री कृष्ण अपनी बाल्यावस्था में मथुरा के निकट की गोप-बस्ती में निवास करते थे, तब उन्होंने गोप-बालाओं के साथ उस नृत्य का आयोजन किया था। श्रीमद् भागवतादि पुराणों में रास का जैसा वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि उस नृत्य में केवल नारियाँ ही भाग लेती थीं। अगणित गोप-बालाओं में पुरुष के नाम पर केवल बालक कृष्ण ही उसमें थे; कृष्ण के बाल सखाओं में से भी कोई उसमें सम्मिलित नहीं हुआ था।

इस समय जो रास होता है, उसमें भी सर्व प्रथम नृत्य ही प्रस्तुत किया जाता है, जिसे **'नित्य रास'** कहते हैं। उसकी एक बँधी हुई परिपाटी है, जिसका उल्लेख आगे किया जावेगा। यद्यपि रास का प्राचीन कलात्मक रूप इस समय उक्त 'नित्य रास' में ही थोड़ा–बहुत सुरक्षित है; तथापि आजकल के दर्शकों को उसमें अधिक रुचि नहीं होती है। ये लोग 'नृत्य' की अपेक्षा 'लीला' देखना अधिक पसंद करते हैं और वही इस समय रास का प्रधान अंग भी बन गई है।

लीला—रास के इस भाग में श्री कृष्ण द्वारा ब्रज में किये गये विविध कार्य–कलाप का अभिनय किया जाता है। इस प्रकार रास लीला वस्तुतः 'कृष्ण लीला' है। इस समय श्री कृष्ण की जिन लीलाओं का अभिनय होता है, उनमें माखनचोरी लीला, चीरहरण लीला, पनघट लीला, मान लीला, विवाह लीला, महारास लीला और उद्धव लीला प्रमुख हैं। ये लीलाएँ श्री कृष्ण द्वारा ब्रज में किये गये रहस्यात्मक कार्यों के अनुकरण की चेष्टा है। यह 'लीलानुकरण' भी सर्व प्रथम ब्रज की गोप-बालाओं ने ही आरंभ किया था। श्रीमद् भागवत की 'रास पंचाध्यायी' में कहा गया है, जब रास के मध्य में गोपियों को अभिमान हो गया था, तब उसे दूर करने को कृष्ण अंतर्धान हो गये थे। उनके विरह में व्याकुल गोपियाँ उनकी लीलाओं का स्मरण करती हुई विलाप और प्रलाप करने लगी थीं। उसी समय उन्होंने श्री कृष्ण की विविध लीलाओं का अनुकरण करते हुए प्रदर्शन किया था। इस प्रकार 'नृत्य' के साथ 'लीला' की परंपरा भी अत्यंत प्राचीन है।

'लीला' को कभी-कभी **'चरित्र'** भी कहा जाता है; किंतु इस प्रकार का कथन अधिक सार्थक नहीं है। लीला और चरित्र में कुछ भेद है। लीला का प्रायः प्रदर्शन किया जाता है और चरित्र का कथन। लीला शब्द प्रायः श्री कृष्ण के साथ लगाया जाता है, और चरित्र शब्द श्री राम के साथ। वैसे कभी-कभी राम चरित्र को 'राम लीला' और कृष्ण लीला को 'कृष्ण चरित्र' भी कहते हैं; किंतु इस प्रकार के कथन में अधिक सार्थकता नहीं है।

श्री ललिताचरण गोस्वामी ने इन दोनों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—'चरित्र' और 'लीला' चाहें बाहर से एक जैसे दीखते हैं, किंतु उन दोनों में महत्वपूर्ण भिन्नता है। 'चरित्र' के वर्णन में उन क्रियाओं का प्रकाशन विशेष रूप से होता है, जो जीवन में किसी विशेष उद्देश्य से की जाती हैं। 'लीला' के गान में उन क्रियाओं को प्रकट किया जाता है, जो केवल आनंदमयी हैं और जो निरुद्देश्य हैं। लीला का प्रयोजन लीला ही माना गया है। भागवत में श्री कृष्ण के 'चरित्र' और 'लीला' दोनों का वर्णन मिलता है। कृष्ण–भक्त कवियों ने श्री कृष्ण के चरित्र का वर्णन बहुत कम किया है और लीला का बहुत अधिक। लीला में किसी शिक्षा को ढूँढ़ना व्यर्थ है, क्यों कि फिर तो वह लीला सोद्देश्य बन कर चरित्र बन जायगी। इस बात को ध्यान में न रख कर ही कृष्ण-भक्ति काव्य में लोक संग्रहात्मकता के अभाव की शिकायत की जाती है[1]।

लीलानुकरण—जैसा पहिले कहा गया है, रासलीला वास्तव में श्री कृष्ण के कार्य–कलाप का अनुकरण है, इसीलिए इसे 'रासलीलानुकरण' कहा जाता है। भरत मुनि ने 'नाट्य' की परिभाषा करते हुए कहा है—'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्' अर्थात् लोक वृत्त का अनुकरण नाट्य है। धनंजय का मत है, 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' अर्थात् अवस्था की अनुकृति नाट्य है। अभिनव गुप्त 'अनुकरण' की अपेक्षा 'अनुकीर्तन' का प्रयोग उचित समझते हैं। इस प्रकार 'अनुकरण', 'अनुकृति' और 'अनुकीर्तन' ये सभी शब्द 'नाट्य' के द्योतक हैं। कृष्ण लीलानुकरण भी इसीलिए कृष्ण की क्रीड़ाओं का नाट्यात्मक प्रदर्शन है—नृत्य-नाट्य है; जिसे भक्तजन आत्मानुभूति अथवा रसानुभूति के लिए करते--कराते हैं। यही रास का प्रयोजन भी है।

रास का प्रादुर्भाव—

रास के प्रादुर्भाव के संबंध में बालक कृष्ण की गोप--बालाओं के साथ क्रीड़ा किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। आजकल के अनेक विद्वान ब्रज के गोपों को आभीरों से अभिन्न मानते हैं, और राधा--कृष्ण की मूल कथा को आभीरों की देन सिद्ध करते हैं। जैसा पहिले लिखा गया है, आभीर एक पशु--पालक जाति थी, जो प्राचीन काल में भारत के उत्तर--पश्चिमी भाग से शूरसेन प्रदेश तक और शूरसेन से प्राचीन सौराष्ट्र प्रदेश तक बसी हुई थी। भारत के ऐतिहासिक मंच पर वह जाति विक्रम-पूर्व की दो--तीन शताब्दियों से पहिले के काल में दिखलाई नहीं देती है। इस प्रकार यदि राधा--कृष्ण की मूल कथा को आभीरों की देन माना जावेगा, तो उसे २२००--२३०० वर्ष से पहिले की नहीं कहा जा सकेगा। यह बात चाहें राधा के संबंध में सत्य भी हो; किंतु कृष्ण की विद्यमानता उस काल से बहुत पहिले की सिद्ध हो चुकी है। इसलिए गोप--बालाओं के साथ किया हुआ कृष्ण का रास नृत्य आभीरों की देन नहीं हैं।

इस संबंध में तथ्य की बात यह है कि रास उतना ही पुराना है, जितने स्वयं श्री कृष्ण हैं। इसका प्रादुर्भाव एक लोक नृत्य-नाट्य के रूप में अब से कई सहस्र वर्ष पूर्व मथुरा की गोप--बस्ती में कृष्ण द्वारा उनकी बाल सहचरी गोप-बालाओं के मध्य हुआ था। जब कृष्ण अपने परिकर—यादवों और गोपों के साथ मथुरा से द्वारका चले गये, तब उषा द्वारा लास्य नृत्य के आधार पर

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृ० ३३०–३३१

उसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया और वह मथुरा से द्वारका तक के विस्तृत भू--भाग की विविध जातियों में प्रचलित हो गया था। कालांतर में उसका प्रचार जब आभीर जाति में हुआ, तब उसका संबंध देशज प्राकृत भाषाओं से भी हो गया था।

रूप और अर्थ का विस्तार—रास के अधिक प्रचलन से उसका क्षेत्र नृत्य--नाट्य तक ही सीमित नहीं रहा; वरन् वह काव्य के विशाल परिवेश से सम्बद्ध होकर उसके दोनों अंग दृश्य और श्रव्य काव्य-रूपों में गृहीत कर लिया गया था। उस समय उसके दो प्रकार हो गये – एक नृत्य और नाट्य के लिए तथा दूसरा गायन और वाचन के लिए। नाट्य तत्व से परिपूर्ण रास 'हल्लीसक' के नाम से गेय रूपक बन गया, जिसे नाट्य शास्त्र में उपरूपकों में माना गया है। उस समय उसमें और 'रासक' में अंतर करना कठिन हो गया था, क्यों कि रासक भी रूपक का एक भेद था। भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' में रासक को रूपक और हल्लीसक को उपरूपक की संज्ञा दी गई है, तथा रासक के ताल रासक, दंड रासक और मंडल रासक नामक तीन भेद बतलाये गये हैं। रास का जो प्रकार गायन और वाचन के रूप में प्रचलित हुआ था, उसमें और 'रासो' में भी अंतर करना कठिन हो गया; क्यों कि चरित्र-प्रधान गेय काव्य को रासो भी कहा जाता था। इस उलझन का कारण यह था कि रास, रासक और रासो की निश्चित शैलियाँ और उनकी स्पष्ट परिभाषाएँ सभी युगों में एक सी नहीं रही हैं।

उल्लेख और परंपरा—रास के रूप और क्षेत्र का विस्तार होने से उससे संबंधित ग्रंथों की भी रचना होने लगी थी। इस प्रकार के ग्रंथ संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी मिलते हैं। प्राकृत रचनाओं के कारण ही कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि रास का प्रारंभ सबसे पहिले आभीर जाति में हुआ था। प्राकृत और अपभ्रंश जैसी देशज भाषाओं की रचनाओं की भी दो परंपराएँ प्रचलित हुईं—एक जैन कवियों की और दूसरी चारण कवियों की। जैन कवियों ने अधिकतर चरित्र प्रबंधों की रचना की थी, जिसका एक उदाहरण 'भरतेश्वर वाहु वली रास' है। इसे अपभ्रंश अथवा पुरानी हिंदी भाषा का सर्व प्रथम रास ग्रंथ माना जाता है। चारण कवियों ने प्रायः गेय रूपक रचे थे, जिनका एक उदाहरण 'बीसलदेव रास' है। राधा--कृष्णोपासक भक्तों द्वारा जिस 'रास' का विकास किया गया, वह इनसे पृथक् एक तीसरी परंपरा है। १६वीं शताब्दी से उसे ही 'रास' कहा जाने लगा और उससे पूर्व की परंपराएँ ग्रंथों में ही रह गईं थीं।

संस्कृत साहित्य में रास—

रास की प्राचीन परंपरा का अनुसंधान करने वाले कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋचाओं में भी उसके सूत्र खोज निकाले हैं। एक ऋचा में कृष्ण के दोनों ओर दो गोपियों के दर्शन करते हुए उन्हें रास का संकेत मिल गया है[१]; किंतु यह उनकी दूरस्थ कल्पना मात्र है। सायण के भाष्य में उस ऋचा का संबंध आकाश और पृथ्वी से बतलाया गया है; इसलिए उसमें कृष्ण, गोपियाँ और रास के संकेत की बात असंगत है। रास का सर्व प्राचीन उल्लेख हरिवंश और विविध पुराणों में ही मिलता है।

---

(१) पश्चावस्ते पुरुरुपा वपंय्यूर्ध्वा तस्यौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतुस्य सद्म विचरामि द्विद्वान्महददेवानामसुरत्वमेकम् ॥ (म० ३, अ० ३, ५५-१४)

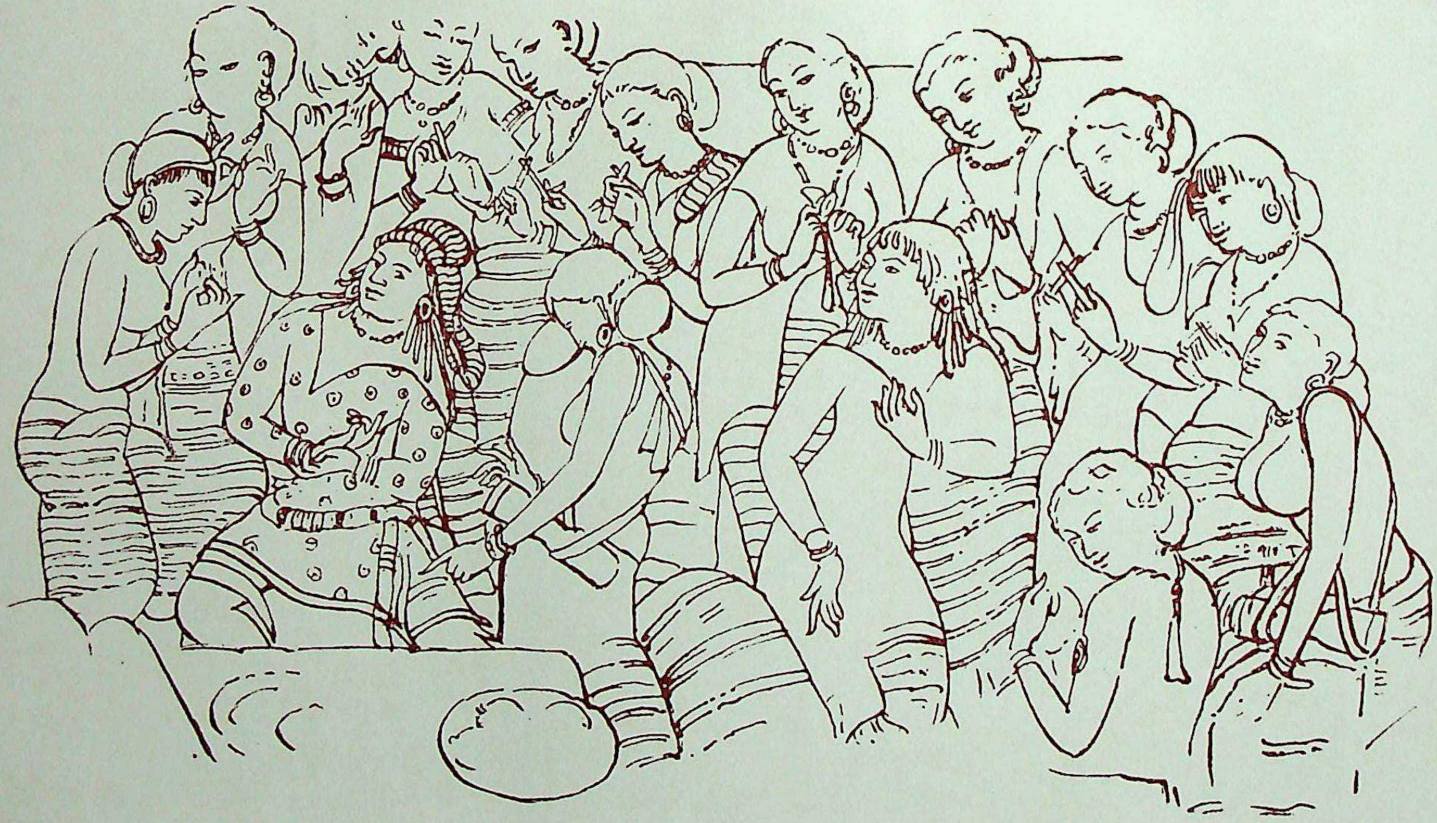

बाघ की गुफ़ा में उपलब्ध 'हल्लीसक' का रेखा-चित्र

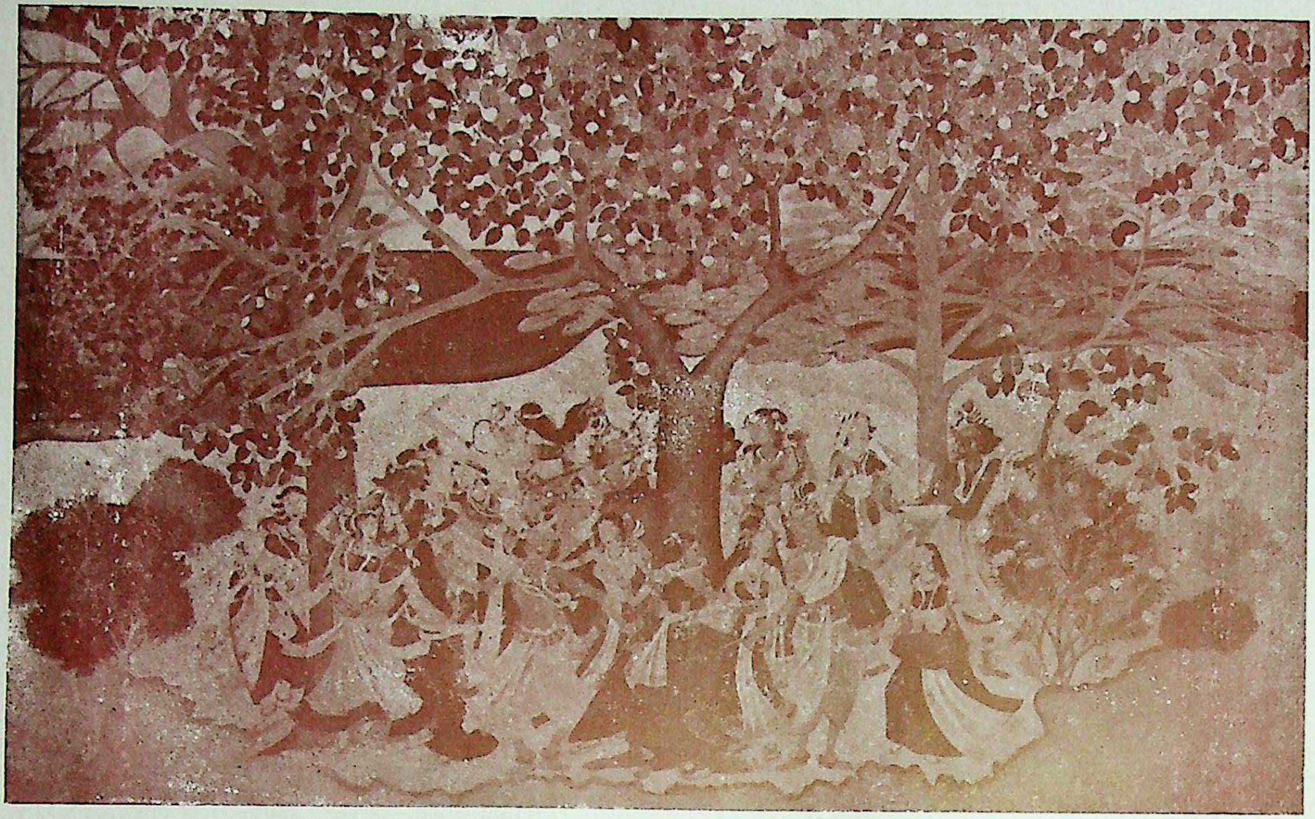

रासलीला का आधुनिक चित्र

हरिवंश—इसके 'विष्णु पर्व' में श्री कृष्ण की बाल--लीलाओं के अंतर्गत गोप--बालाओं के साथ और द्वारका-निवास के समय पिंडार यात्रा के समुद्र--विहार के प्रसंग में यादव नारियों के साथ रास--क्रीड़ा का उल्लेख हुआ है । उसमें बाल लीलाओं के प्रसंग का वर्णन अत्यंत संक्षिप्त और संयत है । शरद ऋतु की चाँदनी रात में गोप--कन्याओं द्वारा पंक्ति बना कर श्री कृष्ण के चरित्र का गान, उनकी लीलाओं का अनुकरण तथा हाथों से ताली बजाते हुए नृत्य करने का उल्लेख उसमें किया गया है[१] । उस गान-वाद्य-अभिनय संयुक्त नृत्य को 'हरिवंश' में 'रास–क्रीड़ा' कहा है, जिसमें गोप-कन्याओं और गोप-नारियों के साथ श्री कृष्ण ने भाग लिया था । इस प्रकार वह केवल नारियों का नृत्य था और बालक कृष्ण के अतिरिक्त किसी भी पुरुष ने उसमें भाग नहीं लिया था ।

द्वारका की पिंडार-यात्रा का समुद्र–विहार तथा उससे संबंधित जल-क्रीड़ा, गायन, वादन और नृत्य का विस्तृत वर्णन अत्यंत असंयत और वासनापूर्ण है । उसे कुत्सित और कुरुचिपूर्ण भी कहा जा सकता है । उस अवसर पर द्वारका के समस्त यादव युवकों ने अपनी पत्नियों तथा प्रेयसी गणिकाओं के साथ उसमें भाग लिया था और उसमें श्री कृष्ण–बलराम अपनी पत्नियों–पुत्रों तथा अर्जुन और नारद के साथ सम्मिलित हुए थे । सब लोगों ने अपनी पत्नियों और प्रेयसियों तथा गणिकाओं और अप्सराओं के साथ निस्संकोच तथा खुले-आम विहार किया था । आश्चर्य की बात है, शाक्तों के भैरवी–चक्र के सदृश उस वीभत्स आयोजन को हरिवंश में **'रास'** कहा गया है[२] । जल-विहार के अनंतर होने वाले भोज में विविध खाद्य पदार्थों के साथ पशु-पक्षियों के मांस और मदिरा का भी प्रचुरता से प्रयोग किया गया था[३]; जो उस कुत्सित प्रसंग की वीभत्सता को और भी बढ़ाने वाला था । जल-विहार और खान–पान के पश्चात् रात्रि में संगीत और अभिनय का कार्यक्रम हुआ था । उसमें नारद ने वीणा, श्री कृष्ण ने वंशी और अर्जुन ने मृदंग का वादन किया था तथा अप्सराओं ने गायन, वादन, नृत्य और अभिनय के कलापूर्ण एवं रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे । उस आयोजन को हरिवंश में **'हल्लीसक'** अथवा **'छालिक्य गांधर्व'** कहा गया है[४] ।

हरिवंश-कार ने बतलाया है कि 'छालिक्य गांधर्व' स्वर्ग का दिव्य संगीत था, जिसे श्री कृष्ण ने इस भूतल पर यादवों में प्रचलित किया था । उस समय के पाँच वीर—श्री कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब इसके विशेषज्ञ थे । उनके अतिरिक्त नारद जी भी उस 'विज्ञान' को यथावत् जानते थे । अंत में 'छालिक्य गांधर्व' के महत्व का कथन किया है[५] । हरिवंश का रचना-काल तीसरी शती के लगभग माना जाता है और इसकी गणना उप पुराणों में की गई है ।

विविध पुराण—कृष्ण-चरित्र से संबंधित पुराणों में विष्णुपुराण सबसे प्राचीन है । इसका रचना-काल चौथी शताब्दी माना गया है । इसके अंश ५, अध्याय १३ में शरद रात्रि की रास गोष्ठी का

---

(१) **हरिवंश,** (विष्णु पर्व, अध्याय २०, श्लोक सं० २४ से ३५ तक)

(२) **वही,** (विष्णुपर्व, अध्याय ८९, श्लोक सं० ७ से ३० तक)

(३) **वही,** (श्लोक सं० ५७ से ६५ तक)

(४) **वही,** (श्लोक सं० ६७ से ७४ तक)

(५) **वही,** (अध्याय ५९, श्लोक सं० ७३ से ८९ तक)

वर्णन हुआ है। विष्णु पुराण के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण (अध्याय १८९), पद्म पुराण (उत्तर खंड, अध्याय २७–२–२७३) और ब्रह्मवैवर्त (श्री कृष्ण जन्म खंड, अध्याय ५२, ५३, ६६, ६७, ६८) में भी रास का वर्णन है। पुराणों में श्रीमद् भागवत का रास-वर्णन सबसे अधिक महत्वपूर्ण और विस्तृत है। भागवत का रचना–काल विष्णु पुराण से कुछ बाद का माना जाता है। हरिवंश और विष्णु पुराण की तरह भागवत में भी शरद रास का ही वर्णन हुआ है।

श्रीमद् भागवत—यह सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित पुराण है। इसे वैष्णव संप्रदायों का एक मात्र उपजीव्य ग्रंथ और ब्रज के भक्त महानुभावों का सबसे बड़ा प्रेरणा–स्रोत माना गया है। उसके दशम स्कंध में कृष्ण–लीलाओं का जो विस्तृत वर्णन है, उसी के आधार पर ब्रज के प्रायः सभी भक्त–कवियों ने अपने कृष्ण–काव्य की रचना की है। इसके दशम स्कंध के २९ से ३३ तक के ५ अध्यायों में रास का वर्णन है, इसीलिए उन्हें **"रास पंचाध्यायी"** कहा जाता है और ये पाँच अध्याय भागवत के प्राण स्वरूप माने जाते हैं। इससे सिद्ध है कि ब्रज के भक्ति संप्रदायों में रास को कितना महत्व दिया गया है। यहाँ पर रास पंचाध्यायी के रास वर्णन का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

रास पंचाध्यायी—भागवत दशम स्कंध के २९ वें अध्याय में रास का वर्णन करते हुए कहा है कि शरद ऋतु की पूर्णिमा को जब चंद्रमा का उदय पूर्ण प्रकाश के साथ हुआ और उसकी उज्ज्वल–निर्मल चंद्रिका का सौरभ समस्त बनखंड में फैला गया, तब श्री कृष्ण को गोप–बालाओं के साथ क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। उन्होंने अपनी वंशी से एक मीठी तान छेड़ी, जो समस्त ब्रज क्षेत्र में व्याप्त हो गई। उसे सुन कर सभी गोप-बालाएँ मुग्ध हो गईं और वे हठात् अपने-अपने घरों से निकल कर वंशी की ध्वनि की ओर बेसुध होकर दौड़ पड़ीं। उस समय जो जिस स्थिति में थीं, वे उसी स्थिति में चल दीं। गायों को दुहती हुईं, बच्चों को दूध पिलाती हुईं, घर-गृहस्थी का काम करती हुईं, पतियों की सेवा-सुश्रुषा करती हुईं गोप बालाएँ अपने–अपने कामों को छोड़ कर चल पड़ी थीं। उस समय वे इतनी व्यग्र और बेसुध थीं कि उन्हें अपने वस्त्राभूषणों का भी ध्यान नहीं था। वे अपर्याप्त और उलटे-सीधे वस्त्राभूषणों को पहिने हुए ही भाग रही थीं। उनके माता–पिता, बंधु-बांधव यहाँ तक कि पतियों ने भी उन्हें रोका; किंतु वे किसी की ओर ध्यान न देकर उतावली में चलती हुई कृष्ण के पास पहुँच गईं। श्री कृष्ण ने गोपियों को देख कर कहा,—"इस रात्रि के समय तुम यहाँ क्यों आई हो ? अपने घरों और पति-पुत्रों को छोड़ कर इस प्रकार तुम्हारा यहाँ आना उचित नहीं हुआ। तुमने बन का भ्रमण कर लिया; अब तुम अपने-अपने घरों को लौट जाओ।" कृष्ण के मुख से इस प्रकार की कठोर बातें सुन कर गोपियाँ उदास हो गईं। उन्होंने कहा—"तुम हमारे हार्दिक भावों को भली भाँति जानते हो। फिर ऐसी बातें कह कर हमें क्यों दुखी करते हो ? हम तुम्हारे साथ क्रीड़ा करना चाहती हैं।" गोपियों की उस अनन्य भक्ति से कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उनकी मनोभिलाषा पूर्ण करने का आयोजन किया। यमुना के पावन पुलिन पर उस मनोरम रात्रि में रास लीला आरंभ हुई। गान-वाद्य के साथ नृत्य हुआ, और साथ ही साथ रति-क्रीड़ा भी हुई। गोपियाँ आनंदविभोर हो गईं। उन्हें अपने सौभाग्य पर गर्व होने लगा। उसी समय कृष्ण उनके गर्व को नष्ट करने के लिए अकस्मात वहाँ से अंतर्ध्यान हो गये।

३०वें अध्याय में कहा गया है कि रास--क्रीड़ा में से कृष्ण के अकस्मात अंतर्ध्यान हो जाने से गोपियाँ बड़ी दुखी हुईं। वे व्याकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने लगीं। उन्होंने प्रत्येक वन को छान डाला। लता-गुल्म, वृक्ष-वल्लरी, जीव-जंतु, पशु-पक्षी सबसे पूछ लिया; किंतु कृष्ण का पता न चला। तब वे दीनतापूर्वक विलाप करने लगीं। कृष्ण के साथ की हुई समस्त लीलाओं का स्मरण करती हुई वे आर्तनाद कर रही थीं। उस समय वे सब कृष्णमयी हो गई थीं। उसी दशा में वे कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। एक गोपी कृष्ण बन गई। कुछ गोपियाँ ग्वाल--बाल बन गईं। फिर वे एक-एक कर कृष्ण की समस्त लीलाओं का अभिनय करने लगीं।

इस प्रकार 'लीलानुकरण' करते हुए उन्हें एक स्थान पर कृष्ण के चरण--चिन्ह दिखलाई दिये। वहीं पर उन्होंने किसी नारी के पद--चिन्ह भी देखे। उन्होंने समझा कि कृष्ण अपनी उस 'आराधिका' के साथ एकांत में क्रीड़ा करने को कहीं चले गये हैं। भागवत में आये हुए इस **'आराधिका'** शब्द से ही भक्तजनों ने 'राधा' का संकेत प्राप्त किया है। समस्त गोपियाँ उन्हीं पद चिन्हों की दिशा में चल दीं। आगे जाकर उन्होंने उस भाग्यशालिनी कृष्ण-प्रिया को भी बेसुध दशा में पड़ी हुई पाया। उससे कृष्ण का पता पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे भी अभिमान हो गया था, अतः कृष्ण उसे वहीं छोड़ कर कहीं चले गये थे। ३१वें अध्याय में गोपियों की उत्कट विरह–वेदना और उनके प्रलाप का वर्णन है। उन्होंने नेत्रों से अश्रु–पात करते हुए अपनी व्यथा का जो मर्मस्पर्शी गायन किया है, उसे 'गोपिका गीत' की संज्ञा दी गई है।

३२वें अध्याय में भी पहिले गोपियों की विरह–व्यथा का वर्णन है। फिर कहा गया है कि जब गोपियाँ कृष्ण को ढूँढ़ते--ढूँढ़ते, उनकी लीलाओं का स्मरण और अनुकरण करते--करते **'तन्मनस्का, तदालापा, तद्विचेष्टा और तदात्मिका'** होकर सब की सब एक मात्र कृष्ण के रंग में ही रँग गई थीं, उनके मन में गर्व या अभिमान का लेश भी नहीं रहा; तब कहीं मृदु मुस्कान करते हुए कृष्ण प्रकट हुए थे। उन्हें अकस्मात अपने बीच में पाकर गोपियाँ अत्यंत प्रसन्न हुईं। कृष्ण उन सब को लेकर यमुना–पुलिन पर गये। शरद पूर्णिमा की शेष रात्रि में कृष्ण ने गोपियों के साथ प्रेमपूर्ण वार्ता की; उन्हें प्रेम--मार्ग का उपदेश दिया। इससे उनकी विरह–वेदना शांत हो गई।

३३वें अध्याय में कहा गया है कि यमुना–पुलिन पर पुनः गोपियों के साथ कृष्ण की रसमयी रास--क्रीड़ा आरंभ हुई। कृष्ण गोपियों के साथ गायन--वादन के साथ नृत्य करने लगे। उस समय गोप-बालाओं को ऐसा अनुभव हुआ कि कृष्ण अनेक रूप धारण कर दो--दो गोपियों के बीच में एक--एक रूप से उन्हें आनंदित करते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं। इस प्रसंग को 'महारास' कहा गया है[1]। महारास के उपरांत उसके श्रम को दूर करने के लिए सबने यमुना-स्नान किया। उस समय उन्होंने पहिले जल--क्रीड़ा की और फिर बन--विहार किया था।

---

(१) उक्त प्रसंग से संबंधित दशम स्कंध, ३३वें अध्याय के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुवतैः। स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमंडलमंडितः। योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोः द्वयोः ॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कंठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥३॥
वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम्। स प्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमंडले ॥६॥
उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकंठयो रतिप्रियाः। कृष्णाभिमर्शमुदिताः मद्गीतेनेदमावृतम् ॥९॥
काचित्समं मुकुंदेन स्वरजातीरमिश्रिताः। उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति ॥
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बहवदात ॥१०॥

इस प्रकार भागवत की 'रास पंचाध्यायी' १७४ श्लोकों में समाप्त हुई है। रास का वास्तविक वर्णन इसके आरंभिक और अंतिम अर्थात् २९वें और ३३वें अध्यायों में हुआ है। शेष तीन अध्यायों में गोपियों का विरह वर्णन, कृष्णान्वेषण और उनकी लीलाओं के अनुकरण करने का कथन है। २९वें अध्याय के वर्णन को **'रास'** और ३३वें को **'महारास'** कहा गया है। २९वें अध्याय के आरंभिक वंशी--वादन प्रसंग को **'वेणु गीत'** और गोपियों के विरह निवेदन को **'गोपिका गीत'** की संज्ञा दी गई है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण—इसके रास-वर्णन की यह विशेषता है कि इसमें रासेश्वरी राधा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही इसमें रास का भी विस्तारपूर्वक कथन हुआ है, किंतु वह कामुकता और विलासतापूर्ण सा लगता है। नाना प्रकार के सुरति-संगम और केलि--क्रीड़ाओं के कारण उसका वर्णन भागवतादि की मूल भावना से भिन्न हो गया है।

गर्ग संहिता—कृष्ण--लीला के इस ग्रंथ में रास का विस्तृत वर्णन मिलता है, किंतु वह ब्रह्मवैवर्त की तरह विलासितापूर्ण नहीं है। उसमें कहा गया है, कृष्ण ने अनेक रूप धारण कर बन--बालाओं, गोवर्धन निवासिनी नारियों, सयूथा यमुना--गंगा, तथा परिकर सहित ८ सखियों और ३२ सखियों के साथ क्रमशः वृंदाबन, तालबन, मधुबन, कामबन और कोकिलाबन में रास किया था[1]। इसके उल्लेखानुसार रास का आरंभ वैशाख शु० ५ की चाँदनी रात में हुआ था[2]। इस प्रकार वह विष्णु और भागवत पुराणों के शरद रास से भिन्न है।

नाटक और काव्य—संस्कृत के नाटक तथा काव्य ग्रंथों में भी रास का उल्लेख मिलता है। भास कृत 'बाल चरित्र' नाटक में तथा बाणभट्ट कृत 'हर्ष चरित', माघ कृत 'शिशुपाल वध', बिल्वमंगल कृत 'बाल गोपाल स्तुति' एवं 'कृष्ण कर्णामृत' और जयदेव कृत 'गीत गोविंद' काव्यों में रास का थोड़ा-बहुत वर्णन हुआ है। इनमें 'गीत गोविंद' का कथन अत्यंत सरस और मनोमुग्धकारी है। उसमें 'गर्ग संहिता' की तरह बसंत रास का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

ललित लवंग लता परिशीलन, कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करंबित कोकिल, कूजित कुंज कुटीरे॥
विहरति हरि रिह सरस बसंते।
नृत्यति युवति जनेन समं सखि, विरहि जनस्य दुरंते॥

कृष्णोपासक धर्माचार्यों द्वारा ब्रज में रास का पुनरुत्थान किये जाने से पहिले हिंदू धर्म ग्रंथों में रास की यह लिखित परंपरा मिलती है। १६वीं शताब्दी से पहिले वैष्णव संप्रदायों में रास का कोई व्यवहारिक रूप भी प्रचलित था, इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।

---

(१) गर्ग संहिता, वृंदाबन खंड, अध्याय १६, श्लोक १–४१

(२) वृंदाबने समारंभे रासं रासेश्वरः स्वयम्॥
वैशाख मासि पंचम्यां जाते चन्द्रोदये शुभे।
यमुनोपवनेरे मे रासेश्वर्या मनोहरः॥
—वृंदाबन खंड, अध्याय १६, श्लोक २–३

जैन धर्म और साहित्य में रास —

कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में रास के अपनाये जाने से पहिले उसका प्रचार जैन धर्मावलंवियों में रहा था। जैन धर्म में रास को धार्मिक भावना के प्रचार का एक शक्तिशाली और रोचक साधन माना जाता था, अतः जैन भक्त-कवियों ने बहुत बड़ी संख्या में रास ग्रंथों की रचना की थी। वे ग्रंथ प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी भाषाओं में रचे गये थे। उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे ग्रंथ पढ़ने-सुनने के अतिरिक्त अभिनय के लिए भी लिखे जाते थे। मुनि जिनविजय जी का मत है, प्रारंभ में रास या रासक ग्रंथों की रचना पढ़ने–सुनने की अपेक्षा नृत्य-गान के लिए हुई थी। उस समय रास लोक नृत्य एवं लोक गीतों के रूप में साहित्य में आया था। कालांतर में जब वे ग्रंथ पढ़ने और अभिनय के लिए लिखे जाने लगे, तब रास का भी अभिनय किया जाने लगा। इस प्रकार रास ग्रंथों के दो भेद हो गये—१. नृत्य तथा गान के लिए और २. पढ़ने तथा अभिनय के लिए[१]।

'रेवन्तगिरि रास' की पुष्पिका में लिखा गया है, "श्री विजयदेव सूरि कृत इस रास का जो उत्साह पूर्वक अभिनय करेगा, उस पर जिन नेमिनाथ जी प्रसन्न होंगे और देवी अंबिका उसकी इच्छाओं को पूर्ण करेगी[२]।" उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि रेवन्तगिरि रास की रचना के समय रास ग्रंथ जैन जनता के समक्ष अभिनय के लिए लिखे जाते थे। इसकी समीक्षा करते हुए डा० रामबाबू शर्मा का कथन है—"विक्रम की १२, १३ और १४वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक जैन मंदिरों में ताल, लकुट आदि रासों का प्रचलन था और उन नृत्यों में विकृतता आ गई थी, जिसे समाप्त करने के लिए जैन आचार्यों ने प्रयत्न आरंभ कर दिये थे। कालांतर में जैन मंदिरों में से गीत एवं नृत्य को समाप्त करके धार्मिक नाटकों के अभिनय एवं पौराणिक पुरुषों के चरित्र का गान करने का विधान हुआ। फलतः १५वीं शताब्दी से कथावस्तु का विस्तार से वर्णन करके अंत में जैन धर्म का आरोप कर दिया जाता था। ऐसे रास पढ़ने तथा सुनने के लिए भी लिखे जाते थे। उस काल के अनेक रास ग्रंथों में उनके कहने–सुनने के उल्लेख मिलते हैं। दो उदाहरण लीजिये—

१. रतन विमल ए रचीउ रास ॥
भणतां सुणतां पुरइ आस ॥४६॥
—धर्मबुद्धि मंत्री रास (हस्त लिखित प्रति)

२. तहन एहु प्रबंध भणशिइ जानिरा।
तासु दुख टलसि, सुख मिलसि, घरहि विलसइ इंदिरा ॥३६॥
—राजपाल कृत जम्बूस्वामि रास (हस्त लिखित प्रति)

---

(१) सिंधी जैन सीरीज़, (सं० ३३, पृ० १५०)

(२) रंगहि एरमइ जो रासु, सिरि विजयसेन सूरि निम्मविउए।
नेमि जिणु तूसइ तासु, अंबिक पूरइ मणि रलीए ॥

श्री अगरचंद नाहटा का मत है कि लंबे कथानक युक्त रास अभिनय के लिए न लिखे जा कर व्याख्यानों आदि में लंबे समय तक गा-गाकर सुनाये जाते थे। आज भी श्वेताम्बर जैन समाज में नियमित रूप से दो पहर तथा रात का व्याख्यान इन रासों को गाकर ही किया जाता है[1]।

प्रेरणा और प्रचलन—

कृष्णोपासक धर्माचार्यों एवं भक्त महानुभावों ने कुछ तो जैन धर्म से और अधिकतर श्रीमद् भागवत से प्रेरणा प्राप्त कर रास का प्रचलन आरंभ किया था। सभी वैष्णव संप्रदायों में भागवत की 'रास पंचाध्यायी' का प्रवचन होता रहता था, अतः उनके अनुयायी भक्तगण की रास के प्रति अत्यंत आस्था थी। जब विभिन्न संप्रदायों के आचार्यों ने जैनियों की भाँति धर्म–प्रचार के लिए भी रास का उपयोग किया, तब उन्हें कोई कठिनता ज्ञात नहीं हुई थी। कुछ रूढ़िग्रस्त हिंदुओं ने "न गच्छति जैन मंदिरम्" का नारा लगाते हुए जैन मंदिरों में जाने तक का निषेध कर रखा था; किंतु जिस प्रकार जैनियों की पूजा-पाठ विषयक अनेक बातें जाने–बेजाने रूप में वैष्णव संप्रदायों में भी प्रचलित हो गई थीं, उसी प्रकार जैनियों की रास संबंधी परंपरा भी उक्त संप्रदायों में अनायास ही स्वीकृत कर ली गई। फिर धीरे-धीरे वह कृष्णोपासना की पुष्टि और कृष्ण-भक्ति के विस्तार का एक शक्तिशाली तथा प्रभावोत्पादक साधन बन गई थी।

कृष्णोपासक भक्तों ने जैनियों से रास की प्रेरणा तो प्राप्त की; किंतु उसका प्रचलन उन्होंने पौराणिक और विशेष कर भगवतोक्त विधि से किया था। पहिले उन्होंने भगवान् की रास लीला के चिंतन–मनन के लिए 'रास पंचाध्यायी' की कथा-वार्ता करना आरंभ किया। फिर वे रास संबंधी सरस पदों की रचना कर उन्हें वाद्य यंत्रों के साथ ताल-स्वर से गाने लगे। उस समय ठाकुर जी के कीर्तन में रास के पदों का गायन होने लगा। उसके बाद रास मंडलियों का संगठन हो जाने पर कृष्ण-लीलाओं के नृत्य-नाट्य द्वारा रास का अभिनय भी किया जाने लगा था। इस प्रकार क्रमशः रास का प्रचलन बढ़ने लगा और शीघ्र ही 'रासलीलानुकरण' के रूप में उसका व्यापक प्रचार हो गया।

वैष्णव संप्रदायों में रास के आरंभकर्ता—

ब्रज में रास का आरंभ किसने किया, इसके विषय में बड़ा मतभेद है। चूंकि इसका श्रय वैष्णव धर्म के कई संप्रदाय लेना चाहते हैं, अतः उक्त मतभेद ने कुछ काल से सांप्रदायिक विवाद का सा रूप धारण कर लिया है। इस विवाद को इसलिए अधिक बल मिला है कि ऐसा कोई निश्चित प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे इसके आरंभकर्त्ता के संबंध में प्रामाणिक रूप से ज्ञात हो सके। इस विषय की एक मात्र पुस्तक **'रास सर्वस्व'** है, जिसमें रास के आरंभ किये जाने के संबंध में कुछ विस्तार से लिखा मिलता है। इसमें रास के आरंभकर्त्ताओं के रूप में जिन धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों के नाम आये हैं, उनके संप्रदाय वालों ने उनकी प्रामाणिकता की जाँच किये बिना ही उन्हें स्वीकार कर लिया है। फिर उन्होंने अपने–अपने तर्क–कुतर्कों से उसके अप्रामाणिक कथन को भी प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इससे यह समस्या और भी अधिक जटिल हो गई है।

---

(१) साहित्य संदेश, भाग २२, अंक १० (अप्रैल, १६६१)

'रास सर्वस्व' एक आधुनिक रचना है; जिसमें अनुश्रुतियों और किंवदंतियों के आधार पर रास के आरंभ और उसके विकास का अप्रामाणिक विवरण लिखा गया है। इसका रचयिता और उसका घराना श्री विष्णुस्वामी अथवा श्री वल्लभाचार्य के संप्रदाय का अनुयायी ज्ञात होता है। इस पुस्तक में रास के आरंभ और उसके विकास का श्रेय स्वामी हरिदास, विष्णुस्वामी मत के पोषक आचार्य जी (वल्लभाचार्य), घमंड स्वामी, विक्रम, नारायण भट्ट और बल्लभ नर्तक तथा करहला के दो अन्य ब्राह्मण रामराय और कल्याण को दिया गया है। इसमें रास के प्रत्यक्षदर्शी तथा आचार्यों के रूप में कुछ अन्य भक्त जनों के नामों का भी उल्लेख हुआ है; जिनमें प्रमुख सूरदास, विट्ठलविपुल, हित हरिवंश, व्यास जी और चंदसखी हैं। रचयिता ने करहला के पूर्वोक्त ब्राह्मणों को अपना पूर्वज बतलाया है और उदयकरण से लेकर अपने समय तक की पीढ़ियों का नामोल्लेख किया है। उक्त पुस्तक में ऐसा अस्तव्यस्त, उलझा हुआ और पूर्वापर विरुद्ध मत प्रकट किया है कि उससे अनेक सांप्रदायिक और साहित्यिक विद्वानों को उसका खंडन-मंडन करने की प्रेरणा मिली है। इस के पक्ष और विपक्ष में कई पुस्तिकाएँ भी निकली हैं। इनमें किसी ने स्वामी हरिदास को, किसी ने वल्लभाचार्य को, किसी ने निंबार्क संप्रदाय के आचार्य घमंडदेव को और किसी ने चैतन्य संप्रदाय के विद्वान नारायण भट्ट को रास के आरंभ करने का श्रेय दिया है। उनके कथनों में अनुश्रुतियों पर आधारित सांप्रदायिक आग्रह के अतिरिक्त न तो कोई वैज्ञानिक विवेचन है और न किसी ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन है। हम इस संबंध में अपना मत प्रकट करने से पूर्व 'रास सर्वस्व' के कथन और उसी से प्रायः मिलता हुआ श्री लाड़िलीशरण रासधारी के मत का सारांश प्रस्तुत करते हैं।

'रास सर्वस्व' का कथन—यह रास संबंधी एक आधुनिक कृति है, जिसकी रचना ब्रज के रासधारी बिहारीलाल के पुत्र राधाकृष्ण ने २०वीं शताब्दी में की है। बिहारीलाल के काल का उल्लेख करते हुए इसमें लिखा गया है कि सं० १९३५ की अगहन शु० ७ को ५० वर्ष की आयु में उसका मथुरा में देहान्त हुआ था[१]। इस प्रकार बिहारीलाल का जन्म संवत् १८८५ सिद्ध होता है। पुस्तक के रचयिता राधाकृष्ण के जन्मादि के संवत् इसमें नहीं लिखे गये हैं; किंतु बिहारीलाल के काल के आधार पर राधाकृष्ण का काल अनुमानतः सं० १९१० से १९७० तक जान पड़ता है। इसी प्रकार 'रास सर्वस्व' का रचना काल सं० १९५० के लगभग अनुमानित होता है।

इस पुस्तक में ९ परिच्छेद हैं, जिन्हें 'निधि' कहा गया है। पुस्तक का कुछ अंश पद्य में और कुछ गद्य में लिखा गया है। इसकी प्रथम निधि में 'महानुभाव प्रमाण वर्णन' है, जिसके आरंभ में मंगलाचरण, फिर 'निजमत' के आचार्य श्री विष्णुस्वामी और श्री बल्लभाचार्य आदि की बंदना है। इसी परिच्छेद में 'भगवद्भक्ति रसिक वर्णन' के अंतर्गत सर्वश्री निंबादित्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, शंकराचार्य का और 'रास रसिक वर्णन' के अंतर्गत सर्वश्री स्वामी हरिदास, हित हरिवंश, ध्रुवदास,

---

(१) पाँच^{५} तीन^{३} नव^{९} एक^{१} साल, शुभ पक्ष उजासा।
सातैं तिथि मधुपुरी माँहि, अगहन के मासा॥
वय शतार्ध के बीच, कीर्ति जग में विस्तारी।
पुनि हरिपद लवलीन, भयौ द्विज लाल बिहारी॥ (द्वितीय निधि)

हित दामोदर, नागरीदास, हरिवंश, हरिनाथ, बल्लभरसिक, हरिदास, बालकृष्ण तुलाराम, चंदसखी, श्यामाचरण दास का क्रमशः वर्णन किया गया है। रास रसिकों में से कुछ महानुभावों का परिचय छप्पय छंदों में है। वे छंद स्वयं रचयिता के न होकर चाचा वृंदाबनदास कृत अप्रकाशित रचना 'रसिक अनन्य परिचावली' के हैं; यद्यपि उसमें उनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। उन छंदों को रचयिता ने अपनी इच्छानुसार तोड़-मोड़ कर विकृत रूप में प्रस्तुत किया है।

दूसरे परिच्छेद में लिखा गया है कि सर्व प्रथम स्वामी हरिदास जी को रासानुकरण की इच्छा हुई। वे निंबार्क संप्रदाय के घमंडदेव जी के साथ मथुरा गये। वहाँ विष्णुस्वामी मत के पोषक आचार्य जी (बल्लभाचार्य जी) से उन्होंने रास रस के प्रकट करने का उपाय करने को कहा। आचार्य जी ने प्राणायाम चढ़ाया, तब आकाश से एक विशाल मुकुट उतरा। उस अवसर पर मथुरा में कोई पर्व था, जिसके लिए ५२ राजा वहाँ आये थे। आचार्य जी की आज्ञा से उन ५२ राजाओं ने ताम्रपत्र द्वारा उसे प्रमाणित किया। फिर आचार्य जी और स्वामीजी ने माथुर ब्राह्मणों से उनके ८ बालकों को लेकर रास किया। उस समय आचार्य जी ने कृष्ण का तथा स्वामी जी ने राधा का शृंगार किया था। रास के प्रसंग में लाल जी का स्वरूप अंतर्धान हो गया और फिर वह वापिस नहीं आया। बालक के पिता ने आकर अपने पुत्र को माँगा, तब आचार्य जी ने योग बल से बालक को ला दिया। इस पर वे ब्राह्मण अपने बालक को लेकर घर चले गये। फिर आचार्य जी ने घमंडदेव जी से कहा, "तुम ब्रजवासियों को अपने शिष्य बनाओ और उनके द्वारा इस मार्ग को चलाओ।" यह आज्ञा देकर सब महानुभाव अपने-अपने स्थानों को चले गये और घमंडदेव ललिता सखी के ग्राम करहला को गये। वहाँ के उदयकरण और खेमकरण नामक दो ब्राह्मण बंधुओं से फिर रास की प्रथा प्रचलित हुई—

अपने-अपने घरन माथुरन किये पलायन। घमंडदेव सों कह्यौ सुनो हरि भक्ति परायन।।
तुम ब्रज के वासीन माँहि कीजे शिष शाखा। तिनसों यह मारग जु चलाओ सुनि मम भाखा।।
ऐसें आज्ञा दई गये अपने-अपने थल। घमंडदेव पुनि गये ग्राम ललिता जहँ करहल।।
उदयकरण अरु खेमकरण द्वै भ्राता द्विजवर। तिनही सों यह रास प्रथा चली सुनो रसिकवर।।

इस प्रकार रचयिता ने स्वामी हरिदास, श्री बल्लभाचार्य और श्री घमंडदेव के समकालीन करहला निवासी उदयकरण और खेमकरण ब्राह्मणों को, जो रचयिता के पूर्वज थे, रास लीला को प्रचलित करने वाले कहा है। आगे बतलाया गया है कि उदयकरण के पुत्र विक्रम ने औरंगजेब के समय में रास कर बादशाह को उसका परिचय दिया था। फिर उसने राजा जयसिंह को इतना प्रभावित किया कि उसने अन्य रासधारियों के तो मुकुट छीन लिये, किंतु विक्रम के परिवार वालों के लिए महल-हवेलियों का निर्माण कराया। उसने झूला वाला रास चबूतरा भी बनवाया और घमंडदेव जी के समाधि-स्थल को जाकर देखा—

उदयकरण कौ पुत्र नाम विक्रम है जाकौ। अति प्रताप बल पौरुष बरनौ जाय न ताकौ।।
नौरंग साह के समय रास तिनही ने कीनौ। परचौ दीनौ ताहि मारि कर वर जस लीनौ।।
पुनि राजा जैसिंह मुकुट जब छीने सबके। महल-हबेली हू जु बनाये हैं ताही के।।
झूला वारौ रास चौतरा हू जु बनायौ। घमंडदेव जू की समाधि कौ थल जु लखायौ।।

रचयिता का कहना है, उसके उपरांत रास की प्रणाली लुप्त हो गई थी। फिर तीन सौ वर्ष बाद बिहारीलाल ब्राह्मण ने इसे पुनः प्रचलित किया और विभिन्न स्थानों में जा-जाकर उस पद्धति का प्रचार किया था। उस बिहारीलाल का देहान्त मथुरा में सं० १६३५ के अगहन माह की शुक्ला सप्तमी को हुआ था—

इहि विधि जग में लुप्त भौ, त्रिशत वर्ष रस ग्रंथ।
विप्र बिहारीलाल पुन, प्रकट कियौ यह पंथ॥
देस–देस में जाय रास की रीति बढ़ाई। कहँ लगि वर्णन करौं, सुखद अति अमित बड़ाई॥

इस प्रकार ग्रंथकार ने रास के प्रचलन का श्रेय अपने संप्रदाय के आद्याचार्य और अपने पूर्वजों को देने के प्रयास में जो ऐतिहासिक भूल की है, उसका उल्लेख हम आगे करेंगे। इस पुस्तिका के तीसरे परिच्छेद में श्री नारायण भट्ट का वृत्तांत लिखा गया है। उन्हें नारद जी का अवतार बतलाये हुए सं० १६८८ में उनका जन्म होना लिखा है। इसमें बतलाया गया है, उन्हें १२ वर्ष की आयु में ब्रज में जाने की और वहाँ पर तीर्थोद्धार करने की आज्ञा उनके गुरु ने दी थी। भट्ट जी उक्त आज्ञा के अनुसार ब्रज को चल दिये और घूमते-फिरते तीन वर्ष में ब्रजमंडल में पहुँच कर वहाँ के राधाकुंड नामक स्थान पर रहने लगे। वे सात वर्ष तक वहाँ रहे थे। फिर उन्होंने सं० १७१० में बरसाने के ऊँचेग्राम में जाकर निवास किया। सं० १७१४ में उन्हें श्री कृष्ण का आदेश मिला कि जिसके लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, उस रास-रीति को उजागर करो। ठाकुर जी की उस आज्ञा से उन्हें हरि के विहार की स्फूर्ति हुई। तब उन्होंने करहला के दो ब्राह्मण रामराय और कल्याण को बुला कर अपना शिष्य किया और उन्हें उपदेश दिया—

तब सत्रासै चौदह साली। अनुशासन दीन्हीं बनमाली॥
करहु रास रस रीति उजागर। जेहि कारण प्रगटेउ गुण आगर॥
आज्ञा दई लाड़िले ठाकुर। हरि विहार भौ हिय तबहीं फुर॥
तब सनाढ्य द्वय विप्र बुलाई। रामराय कल्याणहु राई॥
वासी रहै करहला केरे। किये शिष्य उपदेश घनेरे॥

आगे लिखा गया है, बादशाह का एक खास नर्तक बल्लभ, जो ज्ञान प्राप्त होने से नौकरी छोड़कर ब्रजवास करता था, लीला–अनुकरण में लग गया। इस प्रकार रसिक नारायण भट्ट ने (रास द्वारा) संसार को उपकृत किया—

पुन इक बल्लभ नृतक वर, बादशाह कौ खास।
ज्ञान भये तजि चाकरी, करत रह्यौ ब्रजवास॥
अस विचारि हरि की ललित लीलन कौ अनुकार।
रसिक नरायण भट्ट ने प्रथित कियौ संसार॥

इस पुस्तिका के चौथे 'प्रत्यक्ष निरूपण' परिच्छेद में रास द्वारा प्रभु का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले राजा राम, व्यास जी, चंदसखी, विट्ठलविपुल और मथुरा वाले गोस्वामी (?) का वर्णन किया गया है। पाँचवें परिच्छेद में संस्कृत भाषा के उद्धरण द्वारा रास का विवेचन है। छठे परिच्छेद में रास का प्रयोजन और सातवें परिच्छेद में रास के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आठवाँ परिच्छेद रासधारी–परंपरा निरूपण का है। उसमें लिखा गया है कि ग्वालियर के निकट

परेवा नामक ग्राम में घमंडदेव जी को मुकुट का दर्शन हुआ था। उसी समय उन्हें आज्ञा हुई कि रास का प्रचार मथुरा में गये हुए विष्णुस्वामी संप्रदाय के आचार्य की सम्मति से करो। इस प्रकार जो रास प्रचलित हुआ, उसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। स्वामी घमंडदेव ने करहला के दो ब्राह्मण बंधु उदयकरण और खेमकरण को बुलाकर रास करने को कहा और उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी वंश-परंपरा में यह सेवा सदा रहेगी—

पुनि घमंड स्वामी गये, ग्राम करहला माहिं।
उदयकरण अरु खेमकरण, द्विज भ्राता दुइ ताहिं॥
तिनहिं बुलाकर अस कही, करहु रास महिदेव।
इहि विधि बंस–परंपरा, सदा रहै तुम सेव॥

फिर उदयकरण के बाद की २७ पीढ़ी का उल्लेख करते हुए उसके वंशजों के नाम बिहारीलाल तक लिखे गये हैं। बिहारीलाल के बड़े पुत्र का नाम गोवर्धन और छोटे का नाम राधाकृष्ण लिखा है। राधाकृष्ण इस पुस्तक का रचयिता था। इसी परिच्छेद में 'रासानुकरण के पाँच आचारी' सूरदास, स्वामी हरिदास, विट्ठलविपुल, हित हरिवंश और व्यास जी का गद्य में संक्षिप्त वर्णन लिखा है, जिसमें कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। तत्पश्चात् कुछ अन्य व्यक्तियों का भी वर्णन हुआ है।

अंत के नवें परिच्छेद में विजय सखी कृत रासानुकरण की १८ लीलाएँ लिखी गई हैं। इनमें कुछ पद्य अन्य कवियों के भी सम्मिलित हैं। इन लीलाओं के नाम इस प्रकार हैं—१. विदुषी लीला, २. अद्भुत रस लीला, ३. दिवारी लीला, ४. सांझी लीला, ५. राजवैद्य लीला, ६. सिद्धेवरी लीला, ७. गोपाष्टमी लीला, ८. आँख मिचौनी लीला, ९. अनुभव जनित लीला, १०. धन तेरस लीला, ११. वंशी-प्रस्ताव लीला, १२. दान-प्रस्ताव लीला, १३. व्यास जी के पद की लीला। अंत की द्वितीय धनतेरस लीला भी विजय सखी कृत है। इन लीलाओं के अतिरिक्त विनय, दीनता-आश्रय के कवित्त और फुटकर पद हैं, जिनमें कुछ अन्य कवियों के भी हैं। अनुराग दधिमंथन लीला और चंद-खेलन लीला अन्य कवियों की रचनाएँ हैं, जो इनके साथ संकलित की गई हैं। इस प्रकार इस पुस्तक में रास संबंधी पर्याप्त सामग्री का संकलन किया गया है; किंतु वह न तो सुसंगत है और न अधिक प्रामाणिक ही है।

श्री लाड़िलीशरण रासधारी का मत—'रास सर्वस्व' की रास-प्रचलन संबंधी बातों से मिलती-जुलती बातें राधाकृष्ण जी के प्रायः ५० वर्ष बाद उसी परंपरा के एक दूसरे रासधारी लाड़िलीशरण जी ने भी कही हैं। दोनों के कथन में थोड़ा सा अंतर है। लाड़िलीशरण जी ने बतलाया है—

"रास में जिस समय गोपी वेशधारी बालक गोपी-भाव में निमग्न होकर श्री कृष्ण प्रेमामृत का पान कर रहे थे, तभी श्री ठाकुर जी का स्वरूप बनने वाला लड़का यकायक अंतर्ध्यान हो गया।...मथुरा वासी ब्राह्मणों के द्वारा यह खबर बादशाह तक पहुँची। बादशाह ने आकर आचार्य जी से सारा हाल मालूम किया, तो उत्तर में आचार्य जी ने कहा कि बच्चे की तदाकार वृत्ति हो गई और उस बच्चे को उन्होंने श्रीनाथ जी के पास दिखा दिया। लोगों को विश्वास हो गया और श्री आचार्य जी का माहात्म्य दिन–दिन बढ़ने लगा। उस घटना के बाद फिर रासानुकरण करने की

किसी को हिम्मत न होती थी। उसी समय के एक महात्मा करहला निवासी, जिनका नाम घमंडी स्वामी कहा गया है, वल्लभाचार्य जी से पुनः आज्ञा प्राप्त कर 'रासानुकरण' करने का आयोजन करने लगे; किंतु पहिली बात का ख्याल कर किसी ने उन्हें अपने बालक नहीं दिये। तब उन्होंने अपने दो भाई देवकरन और खेमकरन से उनके बालकों को इसके लिए प्राप्त किया। इस बार रास बिना किसी विशेष घटना के आनंद पूर्वक सम्पन्न हुआ और तभी से करहला निवासी श्री घमंडी स्वामी के वंशजों को श्री आचार्य जी की आज्ञानुसार श्रीनाथ जी से मुकुट मिलने लगा। लीलानुकरण का अधिकार करहला ग्राम निवासी उन्हीं महानुभावों को है, जो महल वाले (हवेली वाले) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

धीरे–धीरे लीलानुकरण करने के लिए बहुत सी मंडलियाँ बन गईं। राजा जयसिंह ने एक बार श्री वृंदावन में सब मंडलियों को इकट्ठा किया और बंशीवट पर उनकी परीक्षा लेने के विचार से एक अति ऊँचा सिंहासन बनवाया, जिस पर स्वरूप धारी बच्चों का चढ़ना असंभव था। कहा जाता है, उस समय किसी भी मंडली के बालक उस पर न बैठ सके, किंतु करहला निवासी ब्राह्मणों की एक मंडली के स्वरूप (लड़के) उस पर जा विराजे। राजा को बड़ा कौतूहल हुआ। उसने अन्य मंडलियों को आज्ञा दी कि रासानुकरण न करें और इनसे कहा कि कुछ मेरे लिए सेवा बतलाइये। रासधारी ब्राह्मणों ने कहा—'राजन्, हमारे मकान पक्के बनवादो।' महाराज जयसिंह ने इनके लिए महल बनवाने की आज्ञा दी। कुछ ही दिनों बाद राजा साहब का देहावसान हो जाने पर महल पूरे तौर से न बन पाये। तभी से करहला ग्राम निवासी रासधारी महल वाले या हवेली वाले के नाम से प्रसिद्ध हैं[1]।"

लाड़िलीशरण जी ने फिर १७ वर्ष बाद उसी घटना को लिखते हुए जयपुर के राजा जयसिंह द्वारा रासधारियों की परीक्षा करने का उल्लेख किया है; किंतु इस बार उन्होंने जयसिंह के साथ 'जोधपुर नरेश किशनसिंह' का भी वृंदाबन में उपस्थित होना बतलाया है। उक्त घटना के अतिरिक्त उन्होंने और भी कई चमत्कारपूर्ण अनुश्रुतियों और किंवदंतियों का उल्लेख किया है[2]।

उक्त कथनों की समीक्षा—राधाकृष्ण जी और लाड़िलीशरण जी जैसे रासधारियों द्वारा कही हुई उक्त बातें अनुश्रुतियों और किंवदंतियों पर आधारित हैं। उनका उद्देश्य किसी ऐतिहासिक तथ्य को यथार्थ रूप में प्रकट करना नहीं है, बल्कि अपने पूर्वजों को रास के परंपरागत प्रचारक होने का गौरव देना है। उनके कथन में जो इतिहास विरुद्ध बातें मिलती हैं, उनसे बड़ा भ्रम फैला है। ब्रज के कई सांप्रदायिक व्यक्तियों और कुछ साहित्यिक विद्वानों ने अपने-अपने कारणों से इस भ्रम के फैलाने में योग दिया है। हम उनकी भ्रमात्मक बातों का निराकरण करते हुए रास के आरंभ किये जाने के संबध में यथार्थ मत प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। इसके लिए आवश्यक है कि पहिले यह जान लिया जाय कि भक्ति काल में ब्रज के वैष्णव आचार्यों और उनके अनुयायी भक्त जनों ने 'रास' का क्या अभिप्राय समझा था और उन्होंने उसके किस रूप को स्वीकार किया था।

---

(१) **ब्रज भारती (वर्ष १, अंक ४—श्रावण सं० १९९८)** पृष्ठ १२–१५

(२) **ब्रज भारती (वर्ष १६, अंक ७, ८, ९—मार्गशीर्ष सं० २०१५)** पृष्ठ ७८–७९

ब्रज के कृष्णोपासक वैष्णव महानुभावों ने परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण को रसरूप माना है—'रसो वै सः' और इन रसरूप श्री कृष्ण की रसात्मक क्रीड़ा को 'रास' कहा है। उन्होंने रास का उद्गम स्थान परम रस स्थल श्री वृंदाबन को माना है। उनकी मान्यता के अनुसार रास के तीन रूप हैं—१. नित्य रास, २. नैमित्तिक अर्थात् अवतरित रास और ३. अनुकरणात्मक रास। इसी तरह वृंदाबन के भी तीन रूप हैं—१. गोलोक स्थित दिव्य अर्थात् निज वृंदाबन, २, अवतरित वृंदाबन और ३. स्थूल वृंदाबन। इस प्रकार रास और वृंदाबन का अन्योन्याश्रित संबंध स्वीकार किया गया है।

भगवात् श्री कृष्ण अपने आनंद विग्रह से अपनी आनंद प्रसारिणी शक्तियों के साथ गोलोक स्थित दिव्य वृंदावन में क्रीड़ा करते हुए सदैव रस मग्न रहते हैं। यह क्रीड़ा अनादि, अनंत और चिरंतन होने के कारण 'नित्य' है; इसलिए इसे **'नित्य रास'** कहा जाता है। द्वापर युग में जब भगवान् श्री कृष्ण ने अवतार लिया था, तब उनकी इच्छानुसार उनके निज धाम वृंदाबन को और गोपिका रूप उनकी आनंदप्रसारिणी शक्तियों को भी अवतरित होना पड़ा था। उस काल में श्री कृष्ण ने गोपियों के साथ क्रीड़ा करने के निमित्त अवतरित वृंदाबन में जो रसात्मक लीला की थी, उसे **'नैमित्तिक या अवतरित रास'** कहा गया है। ब्रज के भक्त महानुभावों ने भगवान् श्री कृष्ण की उस रसात्मक लीला के रसास्वादन के लिए और उसके द्वारा भजनानंद की प्राप्ति के लिए अवतरित वृंदाबन की प्रतिमा स्वरूप स्थूल वृंदावन में जिस रास का आयोजन किया था, वह **'अनुकरणात्मक रास'** कहा जाता है। इसके भी दो रूप माने गये हैं—१. भावनात्मक अर्थात् मानसिक और २. देहात्मक अर्थात् प्रत्यक्ष। भावनात्मक अर्थात् मानसिक रास से अभिप्राय भगवान् श्री कृष्ण की लीलाओं का चिंतन–मनन, पठन–पाठन और गायन–वादन करना है। देहात्मक अर्थात् प्रत्यक्ष रास से अभिप्राय भगवान् श्री कृष्ण की लीलाओं का अभिनय करना है। आरंभ में कृष्णोपासक धर्माचार्यों और भक्त कवियों ने अनुकरणात्मक रास के प्रथम रूप अर्थात् भावनात्मक रास को ही स्वीकार किया था। बाद में युग की आवश्यकता के अनुसार उसका दूसरा रूप अर्थात् प्रत्यक्ष रास भी स्वीकृत हुआ था।

ब्रज में रास के आरंभ करने का श्रेय किस को है, इस पर प्रकाश डालने के लिए यह आवश्यक है कि उन विभिन्न महानुभावों के रास विषयक संबंध की समीक्षा की जाय, जिनके नाम रास के आरंभकर्ता के रूप में लिये जाते हैं। यहाँ पर उक्त महानुभावों का क्रमशः उल्लेख किया जाता है।

श्री बल्लभाचार्य जी—'रास सर्वस्व' में रास के प्राकट्य करने का सर्वाधिक श्रेय 'विष्णु स्वामी मत के पोषक आचार्य' अर्थात् श्री बल्लभाचार्य जी को दिया गया है। उसमें लिखा है, स्वामी हरिदास जी के अनुरोध पर आचार्य जी ने मथुरा के विश्रामघाट पर रास के प्राकट्य का आयोजन किया था। उस अवसर पर कोई पर्व था, जिसमें उपस्थित होने के लिए ५२ राजागण मथुरा में एकत्र हुए थे। 'रास सर्वस्व' का उक्त कथन सर्वथा अनैतिहासिक और कपोलकल्पित है। जिस काल में बल्लभाचार्य जी मथुरा आये थे, उस समय यहाँ पर सिकंदर लोदी की हिंदू विरोधी नीति के कारण बड़े आतंक और भय का वातावरण था। हिंदुओं द्वारा कोई भी धार्मिक आयोजन खुले आम किया जाना संभव नहीं था। उस काल में जो धार्मिक जन साहसपूर्वक ब्रज–दर्शन करने को आते थे, वे मथुरा में किसी प्रकार यमुना जी में स्नान और केशवराय जी के दर्शन कर चुपचाप

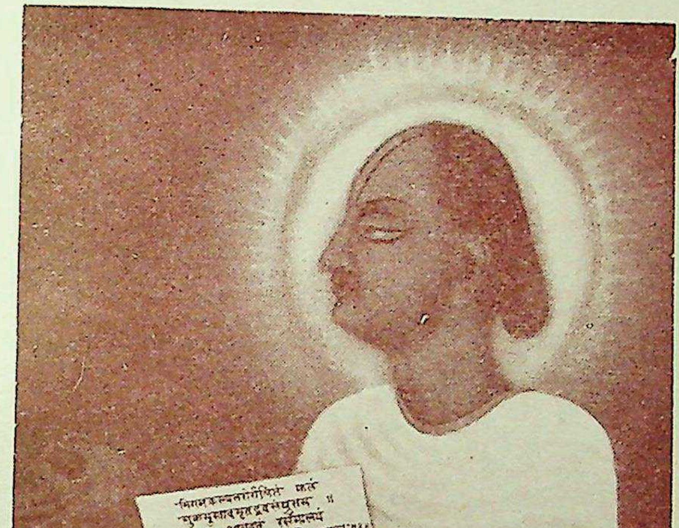
निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ॥
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका
भावुकाः

श्री बल्लभाचार्य जी

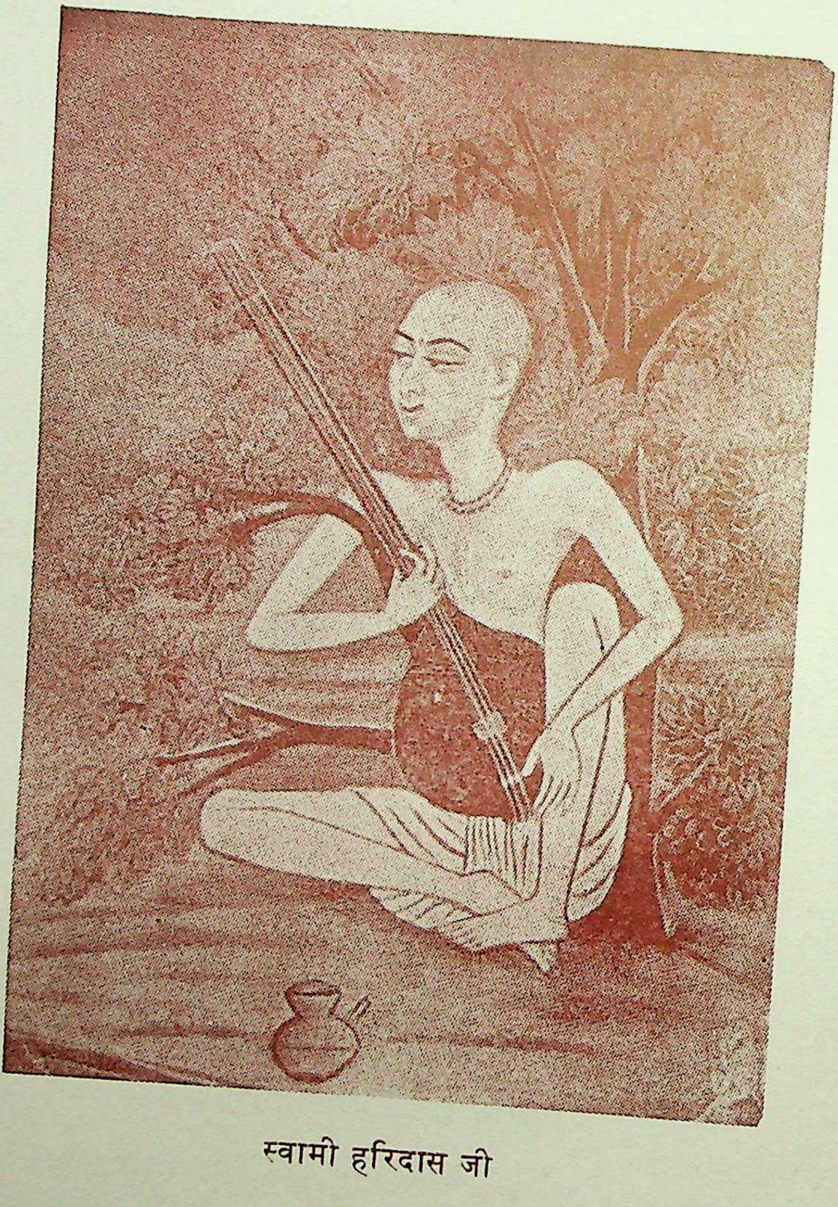

स्वामी हरिदास जी

गोबर्धन चले जाते थे। वहाँ पर गिरिराज जी की परिक्रमा और ब्रज के कुछ वनों में प्राचीन लीला स्थलों के दर्शन कर सही सलामत घर लौट जाने में ही अपने भाग्य की सराहना करते थे। ऐसी दशा में मथुरा में ५२ हिंदू राजाओं को भीड़ के एकत्र होने और वहाँ रास के आयोजन की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। 'रास सर्वस्व'–कार के मतानुसार मथुरा में रास के आरंभिक आयोजन के बाद वृंदावन में रासमंडल बनाया गया था; किंतु उक्त मत की सत्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। यह प्राय: निश्चित हो चुका है कि वृंदावन में सर्व प्रथम रासमंडल हित हरिवंश जी द्वारा उक्त घटना के लगभग ४० वर्ष बाद बनाया गया था। श्री लाड़िलीशरण रासधारी ने तो उस अवसर पर 'वादशाह' को बुला कर अपने कथन को और भी हास्यास्पद बना दिया है।

अब हमें यह देखना है कि बल्लभ संप्रदाय में रास के आरंभ किये जाने की क्या परंपरा और मान्यता है। इस संप्रदाय के शोधक विद्वान श्री द्वारकादास पारीख के मतानुसार रास लीला के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी थे। उन्होंने सं० १६१६ से कुछ पहिले अड़ैल में रास का सर्व प्रथम आयोजन किया था[1]। उसके बाद कृष्ण भट्ट द्वारा उज्जैन में[2] और गोसाईं जी के पुत्र श्री गोकुलनाथ जी द्वारा गोबर्धन के चंद्रसरोवर पर[3] रास कराये जाने के उल्लेख मिलते हैं। वल्लभ संप्रदाय में रास का अधिक प्रचार सं० १६२८ के बाद उस समय हुआ, जब गोसाईं जी स्थायी रूप से गोकुल में आकर बस गये थे।

बल्लभ संप्रदाय की मान्यता के अनुसार रास के तीन रूप हैं—१. रहस्यात्मक, २. रसात्मक और ३. अनुकरणात्मक। 'रहस्यात्मक रास' गोलोक–स्थित दिव्य वृंदावन में होता है। इसे परब्रह्म श्री कृष्ण ऋचा रूपी गोपियों के साथ दिव्य यमुना के पावन पुलिन पर अखंड रूप से नित्य–निरंतर करते हैं। इसीलिए इसे 'नित्य रास' कहा जाता है। 'रसात्मक रास' द्वापर युग में ऋचा अवतार गोपियों के साथ अवतरित वृंदावन में हुआ है। इसे कृष्णावतार का रास कहते हैं। ये दोनों रास मानव–जगत् से बाहर होने के कारण अलौकिक और भावनाजन्य हैं। तीसरा 'अनुकरणात्मक रास' अलौकिक वृंदावन की प्रतिमा रूप प्रकट वृंदाबन में होने से प्रेमी जनों के प्रत्यक्ष अनुभव और रसास्वादन की वस्तु है। इसी को मध्यकालीन वैष्णव भक्तों ने श्री कृष्ण-लीला के अनुकरण रूप में भक्ति-रस का विस्तार करने के लिए आरंभ किया था।

श्री वल्लभाचार्य जी कृत **'सुबोधिनी'** श्रीमद् भागवत की सुप्रसिद्ध टीका है। इसमें 'रास-पंचाध्यायी' की अत्यंत मार्मिक व्याख्या की गई है। वल्लभाचार्य जी के मतानुसार भागवत की रास–पंचाध्यायी में वर्णित रास सारस्वत कल्प के कृष्णावतार का रास है, जो गिरिराज के निकटवर्ती चंद्रसरोवर पर हुआ है। इस प्रकार उन्होंने गोबर्धन क्षेत्र को अवतरित वृंदावन का अत्यंत पुरातन रूप स्वीकार किया है। वृंदावन में यमुना का होना आवश्यक है। इसके संबंध में वल्लभ संप्रदाय की मान्यता है कि सारस्वत कल्प में यमुना की एक धार गिरिराज–चंद्रसरोवर के निकट

---

(१) **बल्लभीय सुधा,** (वर्ष ७, अंक २, पृ० १८)

(२) **कृष्ण भट्ट की वार्ता,** (दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खंड, पृष्ठ ४८)

(३) **चतुर्भुजदास की वार्ता,** (दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खंड, पृष्ठ ३४६)

भी बहती थी, जिसके कारण वहाँ का जमुनावतौ ग्राम प्रसिद्ध हुआ है। श्वेत वाराह कल्प का रास वर्तमान वृंदावन में कालियदह–वंशीवट के निकट हुआ है, जहाँ यमुना नदी आजकल भी प्रवाहित होती है। सारस्वत कल्प के रास के समय शरद ऋतु और श्वेत वाराह कल्प के रास के समय बसंत ऋतु मानी गई है। कुंभनदास की वार्ता के 'भाव प्रकाश' में इसी मान्यता की पुष्टि की गई है[1]।

वल्लभ संप्रदायी कवियों ने अपनी रास संबंधी रचनाओं में प्रायः कृष्णावतार के आध्यात्मिकतापूर्ण रसात्मक रास का कथन किया है। सूरदास कृत 'सारावली' में गोलोक स्थित दिव्य वृंदावन के नित्य रास का भी उल्लेख मिलता है; किंतु उनकी रचनाओं में प्रकट वृंदावन के अनुकरणात्मक रास के संकेत नहीं मिलते हैं।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी के समय में अनुकरणात्मक रास का भी प्रचलन हो गया था, किंतु उसमें श्रीनाथ जी की इच्छा को प्रधानता दी गई थी। उनकी इच्छा के बिना अनुकरणात्मक रास का किया जाना उचित नहीं समझा जाता था। गोसाईं विट्ठलनाथ जी के काल में उनके पुत्र गोकुलनाथ जी द्वारा चंद्रसरोवर पर जिस रास के किये जाने का उल्लेख मिलता है, वह चतुर्भुजदास की वार्ता के पंचम प्रसंग का है। उसमें लिखा है—एक बार आन्यौर में रासधारी आये थे। उन्होंने गोकुलनाथ जी से आन्यौर में रास करने की अनुमति माँगी। उसके लिए गोकुलनाथ जी ने अपने बड़े भाई गिरिधर जी से आज्ञा माँगते हुए उनसे भी उसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना की। गिरिधर जी ने उत्तर दिया कि वे गोसाईं जी की स्वीकृति बिना न तो वहाँ रास करने की आज्ञा दे सकते हैं और न स्वयं उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। इस पर उनकी आज्ञानुसार चंद्रसरोवर पर रास किया गया। वार्ता में लिखा है कि उस रास में स्वयं श्रीनाथ जी गिरिधर जी को लेकर उपस्थित हुए थे। जब इसका समाचार गोसाईं विट्ठलनाथ जी को मिला, तब उन्होंने कहा कि इस प्रकार के आयोजन में श्रीनाथ जी को श्रमित करना उचित नहीं है। वे अपनी इच्छानुसार रास करते हैं। इस वार्ता में यह भी लिखा है कि उस समय तक गोसाईं विट्ठलनाथ जी के अंतिम पुत्र घनश्याम जी का जन्म नहीं हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि सं० १६२८ तक ब्रज में रासधारियों की मंडलियाँ बन गई थीं, जो अनुकरणात्मक रास किया करती थीं, किंतु उन्हें बल्लभ संप्रदाय की ओर से अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला था।

---

(१) "श्री यमुना जी के प्रवाह सारस्वत कल्प में दो हते। एक तो जमुनावतौ होइके आगरे के पास जात हतो और एक चीरघाट होइके श्री गोकुल। आगे दोऊ धारा एक मिलि सारस्वत कल्प में बहतीं...सो चीरघाट में धारा होइके गिरिराज आवती, तासों पंचाध्यायी कौ रास परासोली में चंद्रसरोवर ऊपर किये.........और कालीदह के घाट तें हू श्री वृंदावन कहत हैं। तहाँ हू बंसीबट है। तहाँ अनेक श्वेत वाराह कल्प में पंचाध्यायी कौ रास उहाँ ही किये हैं। और सारस्वत कल्प में शरद ऋतु किए सो परासोली श्री गिरिराज ऊपर किये। पाछे बसंत चैत्र–बैशाख कौ रास केसीघाट पास बंसीबट के नीचे किये। सो या प्रकार दोऊ ठिकाने। परंतु मुख्य पंचाध्यायी सारस्वत कल्प कौ रास गिरिराज कौ।" (अष्टछाप, कांकरौली, पृष्ठ २००–२०२)

अनुकरणात्मक रास अर्थात् रासलीलानुकरण का संबंध जिस वर्तमान वृंदावन से माना जाता है, उसके प्रति बल्लभ संप्रदाय के आरंभिक भक्तों की उपेक्षा ही नहीं, वरन् अरुचि दिखलाई देती है। कारण यह है कि उनकी मान्यता के अनुसार गोवर्धन स्थित चंद्रसरोवर ही वृंदावन है। अधिकारी कृष्णदास की वार्ता के 'भावप्रकाश' में लिखा है कि उन्होंने गोसाईं जी की इच्छा के विरुद्ध वृंदावन में जाकर कष्ट उठाया था। उस समय तक वहाँ पर एक भी बल्लभ संप्रदायी वैष्णव नहीं था, इसलिए उन्होंने ज्वर में प्यासा रहना स्वीकार किया, किंतु वृंदावन निवासी किसी भी व्यक्ति का पानी नहीं पिया[1]। उक्त घटनाओं के बाद ही बल्लभ संप्रदाय में रासलीला विशेष रूप से प्रचलित हुई तथा वर्तमान वृंदावन में भी बल्लभ संप्रदायी बैठकों और मंदिरों का निर्माण हुआ। इस समय भी गोवर्धन और गोकुल की अपेक्षा वृंदावन का महत्व बल्लभ संप्रदाय में कम ही माना जाता है।

स्वामी हरिदास जी—'रास सर्वस्व' के मतानुसार रास के आरंभ करने का सर्वाधिक श्रेय श्री बल्लभाचार्य जी के बाद स्वामी हरिदास जी को है। उसमें लिखा गया है, स्वामी जी को सर्व प्रथम रासानुकरण की इच्छा हुई थी। उसके लिए वे निंबार्क संप्रदाय के घमंडदेव जी को अपने साथ लेकर मथुरा गये। वहाँ उन्होंने बल्लभाचार्य जी को उसके लिए प्रेरित किया था। उस समय माथुर ब्राह्मणों के ८ बालकों को लेकर रास के जो 'स्वरूप' बनाये गये थे, उनमें से कृष्ण का शृंगार आचार्य जी ने और राधा का शृंगार स्वामी जी ने किया था। उक्त घटना के मथुरा में होने की असामयिकता और अप्रमाणिकता हम गत पृष्ठों में बतला चुके हैं। ऐसी दशा में स्वामी हरिदास का भी उससे संबंध सिद्ध नहीं होता है। फिर स्वामी जी जैसे एकांत सेवी विरक्त संत का वृंदावन छोड़कर मथुरा जाना किसी भी प्रामाणिक सूत्र से ज्ञात नहीं होता है।

स्वामी जी का रास से जो कुछ भी संबंध था, वह हित हरिवंश जी के वृंदावन आगमन-काल सं० १५९० से पहिले हुआ नहीं जान पड़ता है। ऐसी प्रसिद्धि है, जब हित हरिवंश जी द्वारा वृंदावन में रासमंडल बनाया गया, तब वहाँ पर हित जी ने स्वामी जी और व्यास जी के सहयोग से रास का प्रचलन किया था। उस काल में रास के सर्व प्रधान आयोजक वृंदावन में श्री हित जी, स्वामी जी और व्यास जी थे।

स्वामी जी की उपासना नित्य निहार की है। उनकी रचनाओं में भी 'नित्य रास' के उस रूप का कथन हुआ है, जिसमें प्रिया–प्रियतम सर्वथा एकांत में क्रीड़ा करते हैं और जहाँ किसी अंतरंगा सखी–सहचरी का भी प्रवेश नहीं है[2]। ऐसी दशा में हमें बड़ा संदेह है कि स्वामी जी ने रासलीलानुकरण के सार्वजनिक प्रदर्शन में कभी सक्रिय भाग लिया हो।

---

(१) भाव प्रकाश वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता,' (प्रसंग ८)

(२) १. चलि री, भीर तें न्यारेई खेलें। कुंज–निकुंज मंजु में झेलें॥
पंछिन सहित सखी न संग कोऊ, तिहिं बन चलि, मिलि केलें॥
२. अबके बसंत न्यारेई खेलें, काहू सों न मिलि खेलें, तेरी सौं।
दुचित भएँ कछू न सचु पईयत, तू काहू सखी सों न मिलि, मेरी सौं॥
—केलिमाल

श्री घमंडदेव जी—'रास सर्वस्व' में रास से संबंधित प्रमुख महानुभावों में श्री घमंडदेव का नाम भी आया है; यद्यपि उन्हें रास के आद्याचार्य अथवा प्राकट्यकर्ता होने का श्रेय नहीं दिया गया है। जैसा उसमें लिखा गया है, जब आरंभिक रास के समय कृष्ण का स्वरूप बना हुआ बालक अंतर्धान हो गया, तब आगे रास किये जाने की समस्या उत्पन्न हो गई थी। उस समय बल्लभाचार्य जी ने घमंडदेव जी से कहा कि वे ब्रज के करहला ग्राम के ब्राह्मणों को अपना शिष्य बनावें और उनके द्वारा रास कराने का प्रयत्न करें। इस पर घमंडदेव जी ने करहला निवासी दो ब्राह्मण बंधुओं उदयकरण और खेमकरण को इस कार्य के लिए प्रेरित किया था। फलतः उन्होंने अपने बालकों के साथ रासानुकरण की परंपरा प्रचलित की थी। इस प्रकार 'रास सर्वस्व'–कार का उद्देश्य सर्वश्री बल्लभाचार्य, हरिदास स्वामी और घमंडदेव जी के नामोल्लेख की भूमिका में करहला निवासी अपने पूर्वज उक्त ब्राह्मण बंधुओं को ही रासानुकरण के प्रचलन करने का वास्तविक श्रेय देना है।

श्री घमंडदेव जी निंबार्क संप्रदाय की आचार्य परंपरा में श्री हरिव्यास देव जी के प्रमुख शिष्यों में से थे। उक्त संप्रदाय में कोई ऐसा प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता है, जिसमें घमंडदेव जी को रास का आद्याचार्य बतलाया गया हो। निंबार्क संप्रदाय के एक उत्साही साधु बिहारीशरण जी ने 'रास सर्वस्व' के उक्त कथन को अपने संप्रदाय के उत्कर्ष का साधन मान कर यह प्रचलित करने का प्रयत्न किया कि घमंडदेव जी ने ही रास का सर्व प्रथम प्राकट्य किया था। उसके समर्थन में उन्होंने 'श्री सुदर्शन' मासिक पत्र, 'मुकुट की लटक' पुस्तिका और 'निंबार्क माधुरी' ग्रंथ की भूमिका में अपने विचार विस्तार पूर्वक व्यक्त किये हैं[1]। उनके मत का खंडन सर्व प्रथम ब्रज के गौड़ीय विद्वान बाबा कृष्णदास ने 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' नामक पुस्तिका की रचना द्वारा किया था। बाबा जी के मतानुसार रास के आरंभ करने का श्रेय नारायण भट्ट जी को है, न कि घमंडदेव जी को। उक्त भट्ट जी के संबंध में हम आगे विचार करेंगे।

बिहारीशरण जी ने अपने लेखों में श्री घमंडदेव जी का जो काल लिखा है, उसमें परस्पर इतना विरोध है कि वह स्वतः अप्रामाणिक हो गया है। 'श्री सुदर्शन' पत्र में उन्होंने घमंडदेव जी का जन्म सं० १४५६ में और देहावसान सं० १५६५ के लगभग होना लिखा है। 'मुकुट की लटक' पुस्तिका में उन्होंने पहिले उनकी विद्यमानता अब से ४२५ पूर्व की लिखी है और फिर उन्हें अकबर के शासन–काल में होना बतलाया है। इस काल–विरोध का कारण यह है कि घमंडदेव जी का वास्तविक समय अभी तक अनिश्चित है। निंबार्क संप्रदाय के कुछ विद्वान श्री भट्ट जी कृत 'आदि वाणी' का रचना–काल सं० १३५२ मान कर उनके शिष्य हरिव्यास देव जी का समय १४वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और हरिव्यास जी के शिष्य घमंडदेव जी का १५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध करना चाहते हैं; किंतु साहित्यिक और ऐतिहासिक प्रमाणों से उक्त कथन की संगति नहीं बैठती है। घमंडदेव जी का काल अकबर के शासन–काल से पहिले का सिद्ध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि जिस 'रास सर्वस्व' के प्रमाण से घमंडदेव जी का रास से संबंध बतलाया

---

(१) **श्री सुदर्शन,** (चतुर्थ किरण, पृ० १६), **मुकुट की लटक,** (पृ० १–२) और **निंबार्क माधुरी,** (भूमिका, पृ० 'ग')

गया है, उसमें उनकी विद्यमानता अकबर के शासन–काल के भी बहुत बाद औरंगजेब के शासन–काल में लिखी गई है। 'रास सर्वस्व'–कार ने लिखा है, घमंडदेव जी के समकालीन करहला निवासी उदयकरण का पुत्र विक्रम औरंगजेब के काल में था और उसने राजा जयसिंह को रास लीला दिखा कर प्रभावित किया था।

औरंगजेब के समय में आमेर के राजा मिर्ज़ा जयसिंह थे, जिनका वृंदावन से कोई खास संबंध नहीं था। मिर्ज़ा राजा के बाद सवाई जयसिंह मुहम्मदशाह के शासन-काल में सं० १७७७ से १७८३ तक आगरा के सूबेदार रहे थे। उसी काल में वृंदावन सहित समस्त ब्रज प्रदेश उनके प्रभाव क्षेत्र में था। सवाई राजा जयसिंह ने अपनी धार्मिक मान्यता के कारण वृंदावन के भक्ति संप्रदायों को चुनौती देकर उन्हें कठिन परीक्षा के लिए विवश किया था। 'रास सर्वस्व'–कार राधाकृष्ण जी ने तथा उनके बाद लाड़िलीशरण जी ने रासधारियों की जिस 'परीक्षा' का उल्लेख किया है, वह सवाई जयसिंह के काल में ही होना संभव है। उसी समय उदयकरण का पुत्र विक्रम था और उसी काल में सवाई राजा ने उसके परिवार वालों के लिए करहला में भवन बनवाये थे। ऐसी दशा में 'रास सर्वस्व' के मतानुसार विक्रम के पिता उदयकरण और उसके समकालीन घमंडदेव जी का उपस्थिति–काल औरंगजेब के शासन–काल से पहिले का ज्ञात नहीं होता है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि निंबार्क संप्रदाय के आचार्य घमंडदेव जी निश्चय ही औरंगजेब के काल से बहुत पहिले हुए थे। फिर 'रास सर्वस्व' के घमंडदेव जी ब्रजवासी और संभवतः करहला ग्राम के जान पड़ते हैं। उनकी समाधि भी करहला में बतलाई गई है, जब कि निंबार्क संप्रदायाचार्य घमंडदेव जी का जन्म–स्थल भीमटोड़ा (राजस्थान) में और समाधि–स्थल कुंडल जिला रोहतक (पंजाब) में माना जाता है। उनका प्रधान स्थान भी कुंडल कहा जाता है।

ऐसा मालूम होता है, निंबार्क संप्रदायी आचार्य घमंडदेव जी और करहला के रासधारी घमंडी जी दो पृथक्–पृथक् व्यक्ति थे। नाम-साम्य के कारण अनुश्रुतियों में उन्हें एक ही व्यक्ति समझ लिया गया है। इसकी पुष्टि लाड़िलीशरण जी द्वारा लिखे हुए विवरण से होती है, जिसमें निंबार्क संप्रदायी घमंडदेव जी को करहला निवासी 'घमंडी स्वामी' लिखा गया है और उन्हें करहला के देवकरण–खेमकरण नामक ब्राह्मण बंधुओं का भाई बतलाया गया है।

लाड़िलीशरण जी ने 'रास सर्वस्व' में लिखी हुई बातों को दोहराने के अतिरिक्त कुछ नई बातें भी लिखी हैं। उन्होंने उदयकरण का नाम देवकरण लिखा है और बतलाया है कि उसका पुत्र विक्रम स्वयं कृष्ण का स्वरूप बनता था। उन्होंने रासधारियों की परीक्षा के समय जयसिंह के साथ एक दूसरे राजा किशनसिंह का भी नामोल्लेख किया है और उसे जोधपुर नरेश बतलाया है। जोधपुर के किसी राजा का नाम किशनसिंह नहीं था। सवाई जयसिंह के काल में जोधपुर के राजा अजीतसिंह और अभयसिंह थे। जोधपुर के एक निष्कासित राजकुमार का नाम किशनसिंह मिलता है, जिसने किशनगढ़ राज्य की स्थापना की थी। उसका शासन–काल सवाई जयसिंह से पहिले का है। इस प्रकार की थोड़ी–बहुत ऐतिहासिक भूलें सभी अनुश्रुतियों और किंवदंतियों में मिलती हैं, जिनके कारण ही उनका ऐतिहासिक महत्व बहुत कम हो जाता है। रास विषयक उपर्युक्त अनुश्रुतियाँ भी इसकी अपवाद नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि करहला निवासी घमंडी स्वामी ने अपने भाई–भतीजों के साथ औरंगजेब के शासन–काल में रास लीला की थी। निंबार्क संप्रदाय के

आचार्य घमंडदेव जी, जिनका पूरा नाम 'उद्धव घमंडदेव' था, उक्त घमंडी स्वामी के पूर्ववर्ती थे। उन्हें 'रास सर्वस्व' के मतानुसार भी रास के प्राकट्य का श्रेय नहीं दिया गया है। इस प्रकार न तो रासधारियों की अनुश्रुतियों से और न बिहारीशरण जी के प्रयत्न से घमंडदेव जी को रास का प्राकट्यकर्ता सिद्ध किया जा सका है। नाभा जी, प्रियादास जी और ध्रुवदास जी ने उस काल के विख्यात संत–महात्माओं और भक्तजनों का गुण-गान करते हुए उनकी कतिपय विशिष्टताओं का भी उल्लेख किया है; किंतु उनमें से किसी ने भी घमंडदेव जी की रास विषयक विशेषता का बखान नहीं किया। नाभा जी ने वृंदाबन–माधुरी के आस्वादक १३ महात्माओं में 'घमंडी' का नामोल्लेख मात्र किया है[१]। प्रियादास ने जहाँ कई महातमाओं पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखी हैं, वहाँ उन्होंने 'घमंडी' पर कुछ नही लिखा। ध्रुवदास जी ने उन्हें 'रस में घुमड़ा हुआ' और 'श्यामाश्याम के गायक' बतलाया है[२]; किंतु उनके कथन के एक पाठ-भेद से उनके द्वारा रास किया जाना भी ज्ञात होता है[३]। घमंडदेव जी के रास से संबंधित होने की अनुश्रुति प्रचलित है; इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे रास–रसिक महात्मा थे। संभवतः उन्होंने रास के प्रचार में भी योग दिया था; किंतु वे उसके आरंभकर्ता नहीं थे।

श्री नारायण भट्ट—वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और ब्रज में आकर गौड़ीय महात्मा कृष्णदास ब्रह्मचारी के शिष्य हुए थे। इस प्रकार वे चैतन्य मत के अनुयायी थे। श्री चैतन्य देव की प्रेरणा से नवद्वीप और जगन्नाथपुरी में कथा–कीर्तन, भगवद्-भजन और हरि–भक्ति का सदैव वातावरण बना रहता था, किंतु उनके जीवन–काल में वहाँ कभी रास लीला हुई हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता है। वृंदावनदास कृत बंगला ग्रंथ 'श्री चैतन्य भागवत' में एक नृत्य–नाट्य का उल्लेख हुआ है, जिसमें श्री चैतन्य देव ने अपने परिकर सहित उस समय भाग लिया था, जब वे नवद्वीप में थे। उसमें उन्होंने लक्ष्मी का वेश धारण कर नृत्य किया था[४]। वह घटना सं० १५६५ लगभग की है। उसके बाद जब चैतन्य जी संन्यासी होकर जगन्नाथपुरी चले गये थे, तब वहाँ राय रामानंद कृत संस्कृत नाटक 'जगन्नाथ बल्लभ' का अभिनय हुआ करता था। श्री चैतन्यदेव के जीवन–काल से संबंधित उन दो अभिनयात्मक प्रसंगों के अतिरिक्त कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे ज्ञात हो सके कि उनके काल में कभी कृष्ण लीला का प्रदर्शन हुआ हो, अथवा रासानुकरण किया गया हो। इसका कारण कदाचित यह था कि बल्लभ संप्रदाय की तरह चैतन्य मत में भी कृष्णावतार के आध्यात्मिक रास की भावना मान्य है। किंतु नारायण भट्ट जी के काल में ब्रज में अनुकरणात्मक रास (रास लीला) का प्रचलन हो गया था। उस समय भट्ट जी ने उसे व्यवस्थित रूप प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया था।

---

(१) 'घमंडी' जुगलकिसोर भृत्य, भूगर्भ जीव द्रढ़ व्रत लियौ।
वृंदाबन की माधुरी, इन मिलि आस्वादन कियो॥ (भक्तमाल, छप्पय सं० ९४)

(२) ध्रुवदास कृत 'बयालीस लीला' में दी हुई 'भक्त नामावली' की प्रायः सभी प्रतियों में इस प्रकार का उल्लेख है—
'घमंडी रस में घुमड़ि रह्यौ, वृंदावन निज धाम। बंसीबट तट बास किय, गाये स्यामा–स्याम॥'

(३) श्री राधाकृष्ण जी द्वारा संपादित 'भक्त नामावली' में यह पाठ मिलता है—
घमंडी रस में घुमड़ि रह्यौ, वृंदाबन निज धाम। बंशीबट तट रास के सेए स्यामा-स्याम॥

(४) श्री चैतन्य भागवत, (मध्य खंड, १८ वाँ अध्याय)

गौड़ीय विद्वान बाबा कृष्णदास ने 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' नामक पुस्तिका में घमंडदेव जी के स्थान पर नारायण भट्ट जी को रासलीलानुकरण का प्राकट्यकर्ता सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने अपने मत के समर्थन में नाभा जी, प्रियादास जी, ध्रुवदास जी के कथनों के अतिरिक्त और भी कई प्रमाण दिये हैं। संत–महात्माओं और भक्तजनों के गुण-गान करने वालों में नाभा जी, प्रियादास जी और ध्रुवदास जी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। नाभा जी तो भक्तों की विशेषताओं के सर्व प्रथम समीक्षक ही माने जाते हैं। उन तीनों महात्माओं ने नारायण भट्ट जी की विशिष्टताओं का कथन करते हुए उनकी रास विषयक देन का भी उल्लेख किया है। इसका महत्व इसलिए अधिक है कि उन तीनों ने सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, स्वामी हरिदास जी और घमंडदेव जी के रास विषयक संबंधों की चर्चा नहीं की है।

नाभा जी ने श्री नारायण भट्ट और उनके प्रतिभाजन ब्रजवल्लभ का गुण–गान एक-एक स्वतंत्र छप्पयों में साथ–साथ किया है। नारायण भट्ट जी को उन्होंने 'मथुरामंडल के गोपनीय स्थलों का प्राकट्यकर्ता' बतलाते हुए 'भक्ति रूपी अमृत का सागर', 'सत्संग का सदैव समाज करने वाला', 'परम रसज्ञ' और 'कृष्ण-लीला का अनन्य प्रेमी' कहा है[1]। उन्होंने स्पष्ट रूप से भट्ट जी की रास विषयक देन का उल्लेख नहीं किया है; वैसे उनके कथन से रास की भी व्यंजना होती है। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ उन्होंने ब्रजवल्लभ जी की नृत्य–गान और रास विषयक निपुणता का स्पष्ट कथन किया है, वहाँ उन्होंने उनके संरक्षक (प्रभु) नारायण भट्ट जी को भी उसके प्रेम के वशीभूत होने का उल्लेख किया है[2]। उससे ज्ञात होता है कि नारायण भट्ट जी ने रास को व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए नृत्य, गान और रास में निपुण अपने स्नेही अनुचर ब्रजवल्लभ का सहयोग प्राप्त किया था। प्रियादास जी ने स्पष्ट रूप से नारायण भट्ट जी को 'रास के विलास का प्रकाश करने वाला' और 'रसिक जनों को जीवन और सुख देने वाला' कहा है[3]। ध्रुवदास जी ने उनके द्वारा स्थान–स्थान पर (रास मंडलों की) रचना किये जाने का उल्लेख किया है[4]।

नाभा जी, प्रियादास जी और ध्रुवदास जी के उल्लेखों से नारायण भट्ट जी का रास से जो संबंध ज्ञात होता है, वह ब्रज के रास-प्रेमी सभी विशिष्ट भक्तों से अधिक है। इन उल्लेखों के आधार पर नारायण भट्ट जी की रास विषयक देन की समीक्षा करते हुए डा० विजयेन्द्र स्नातक ने

---

(१) भक्ति सुधा कौ सिंधु, सदा सतसंग समाजन।
परम रसज्ञ अनन्य, कृष्ण–लीला कौ भाजन ।। (भक्तमाल, छप्पय सं० ८७)

(२) नृत्य गान गुन निपुन, रास में रस बरसावत।
अब लीला ललितादि, बलित दंपतहिं रिझावत ।।
श्री नारायण भट्ट प्रभु, परम प्रीति रस बस किये।
ब्रजबल्लभ बल्लभ परम, दुर्लभ सुख नैननि दिये ।। (भक्तमाल, छप्पय सं० ८८)

(३) ठौर–ठौर रास के विलास लै प्रकास किये, जियें यों रसिक जन, कोटि सुख पाये हैं ।।
(कवित्त सं० ३५५)

(४) भट्ट नारायन अति सरस, ब्रजमंडल सों हेत।
ठौर–ठौर रचना करी, प्रकट कियौ संकेत ।। (भक्त नामावली, दोहा सं० ३२)

लिखा है—"इन तीनों महानुभावों के संकेतों से यह तो स्पष्ट है कि श्री नारायण भट्ट रासलीला में विशेष अभिरुचि रखते थे और जहाँ–तहाँ रासलीला करवा कर रसिक जनों को तृप्त करते थे। श्री नारायण भट्ट जी की इस प्रवृत्ति को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं। हमारी भी उक्त उल्लेखों के आधार पर यह धारणा बन गई है कि उस काल में आप रासलीला के सबसे प्रबल प्रचारक रहे होंगे[1]।"

अब प्रश्न यह है कि नारायण भट्ट जी रास के प्राकट्यकर्ता थे या नहीं? मथुरामंडल से संबंधित अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ में श्री ग्राउस महोदय ने लिखा है—"नारायण भट्ट ने सर्व प्रथम बन-यात्रा और रास-लीला को दृढ़तापूर्वक स्थापित (Established) किया था[2]।" ग्राउस द्वारा प्रयुक्त (Established) शब्द से 'प्राकट्य किया' की अपेक्षा 'दृढ़ता पूर्वक स्थापित किया' या 'स्थिरता एवं व्यवस्था के साथ चलाया' जैसा अभिप्राय लेना ही अधिक सार्थक है। यही बात भट्ट जी के जीवन–वृत्तांत से भी सिद्ध होती है। उनका नाम ब्रज-संस्कृति के उद्धारकों में अग्रिम पंक्ति में आता है। उन्होंने ब्रज के लुप्त गौरव की पुनर्स्थापना के लिए जीवन भर जो अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये थे, उनके कारण उनका नाम ब्रज के इतिहास में अमर रहेगा। उनका सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य मथुरामंडल के लुप्त प्राय प्राचीन लीला स्थलों को खोज कर उनका फिर से महत्व स्थापित करना था, जिसके लिए उन्होंने अनेक ग्रंथ भी लिखे थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'बन-यात्रा' और 'रास लीला' को भी व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। रास लीला के व्यापक प्रचार के लिए उन्होंने समस्त ब्रज में स्थान–स्थान पर रासमंडलों का निर्माण कराया था। इस प्रकार ब्रज-संस्कृति के उन्नायक अन्य कार्यों के साथ ही साथ नारायण भट्ट जी की रास विषयक देन भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

भट्ट जी का जीवन–वृत्तांत 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' नामक एक संस्कृत ग्रंथ में मिलता है, जिसे उनके वंशज जानकीप्रसाद भट्ट ने सं० १७७० के लगभग लिखा था। उक्त ग्रंथ में भट्ट जी के उपास्य ठाकुर श्री लाड़िलीलाल जी के पाटोत्सव का काल सं० १६२६ की आषाढ़ शु० २ लिखा गया है। उसी समय उन्होंने रास लीला का भी आयोजन था। इसका उल्लेख करते हुए उक्त ग्रंथ में लिखा है—"श्री नारायणाचार्य जी ने श्री कृष्ण की आज्ञा से प्रेरित होकर ब्राह्मणों के सुंदर बालकों को श्री कृष्ण, राधा तथा गोप–गोपियों का वेश धारण करा कर सर्वत्र रास लीला कराई थी। इस प्रकार गो-चारण, कालिय दमन, सांझी आदि विविध रास लीलाएँ होने लगीं, जो अब तक उसी प्रकार ब्रज में सर्वत्र होती है[3]।" बाबा कृष्णदास का मत है—"बरसाना में भाद्रपद शुक्ला सप्तमी से त्रयोदशी पर्यंत जो 'बूढ़ी लीला' होती है, वह भट्ट जी कृत 'प्रेमांकुर नाटक' के आधार पर की जाती है। इस लीला के सर्व प्रथम स्थापनकर्त्ता श्री नारायण भट्ट हैं। …… रासलीलानुकरण के आदि और अंत में ब्रज के सब रासधारी 'श्री लाड़िलीलाल की जय' बोलते हैं। श्री लाड़िलीलाल जी नारायण भट्ट द्वारा प्रकटित हैं और रासलीलानुकरण बरसाना से सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ है[4]।"

---

(१) राधाबल्लभ संप्रदाय: सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ २८१

(2)...Narain Bhatta, who first established the Banjatra & Raslila, *(Mathura P.8)*

(३) श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्, (पृ० ४६, श्लोक १२८ से १३६ तक)

(४) रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट, (पृ० २८ और ४८)

पूर्वोक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि नारायण भट्ट जी अपने समय में रास लीला के प्रमुख प्रचारक थे। उनकी चलाई हुई रास की परंपरा प्रायः उसी प्रकार अभी तक प्रचलित है। उन्होंने ब्रज के अनेक स्थानों में रास लीला के लिए जो रासमंडल बनवाये थे, उनके भग्नावशेष अब भी मिलते हैं। रास की उन्नति के वे सब कार्य उन्होंने सं० १६१६ के बाद किये थे। यदि उस काल से पहिले रास लीला की प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी, तो भट्ट जी को उसका आरंभकर्ता भी माना जा सकता है; किंतु ऐसा नहीं है। हम लिख चुके हैं, सं० १६१६ से कुछ पहिले गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने अड़ैल में रास लीला कराई थी। उस काल से भी कुछ पहिले वृंदाबन में हित हरिवंश जी द्वारा रासमंडल का निर्माण किया जा चुका था; अतः नारायण भट्ट जी को रास लीला का आरंभकर्त्ता बतलाना ठीक नहीं मालूम होता है।

श्री हित हरिवंश जी—राधाबल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक श्री हित हरिवंश जी अपने जन्म–स्थान देवबन से सं० १५९० में वृंदाबन आये थे और सं० १६०९ में उनका वहाँ देहावसान हुआ था। इस प्रकार वे १९ वर्ष तक ब्रज-वृंदाबन में रहे थे। हित जी गृहस्थ थे और अपने सेव्य स्वरूप के साथ वृंदाबन आये थे। उनसे पहिले वैष्णव संप्रदायों के जो आचार्य ब्रज में आये, वे प्रायः सभी विरक्त थे। उनमें से किसी ने भी कुछ अपनी विरक्ति–भावना के कारण और कुछ उस काल के वृंदाबन की दुर्गम तथा अरक्षित स्थिति के कारण वहाँ स्थायी रूप से बसने का प्रयत्न नहीं किया था। हित जी पहिले धर्माचार्य थे, जो अपने घर-बार, सेव्य स्वरूप और परिवार के साथ वृंदाबन में आकर स्थायी रूप से रहे थे। अपने निवास–काल में उन्होंने वृंदाबन को उस रस–भक्ति का केन्द्र बना दिया, जो ब्रज के रसिक भक्तों की राधा–कृष्णोपासना का एक विशिष्ट अंग थी। हित जी का अनुकरण करते हुए और भी अनेक संत–महात्मा, आचार्य और भक्त जन वृंदाबन में आकर रहने लगे थे।

राधा-कृष्णोपासक सभी संप्रदायों में भगवान् श्री कृष्ण के रास–विलास की भावना मान्य है; किंतु वह प्रायः गोलोक स्थित दिव्य वृंदाबन में निरंतर होने वाले 'नित्य रास' की है। श्रीमद् भागवत में वर्णित रास की भावना भी आध्यात्मिक है। जिन भक्त संप्रदायों में भागवत को उपजीव्य ग्रंथ माना गया है, उन्होंने भावनापरक आध्यात्मिक रास के प्रति ही अपनी आस्था व्यक्त की है। हित जी ने भूतल के इसी वृंदाबन को 'नित्य वृंदाबन' का गौरव दिया था। चूंकि वृंदाबन रास का मूल स्थल है, अतः उन्होंने इस प्रत्यक्ष वृंदाबन में 'भावनापरक रास' के स्थान पर 'प्रत्यक्ष रास' के प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता का अनुभव किया था। इसीलिए कुछ विद्वानों का मत है कि रासलीलानुकरण के आरंभकर्ता होने का श्रेय हित हरिवंश जी को ही देना उचित है।

उपर्युक्त मत का सर्व प्रथम ज़ोरदार समर्थन डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपने शोध प्रबंध **'राधाबल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य'** में किया है[1]। स्नातक जी के शोध कार्य के कुछ समय पश्चात् ही राधाबल्लभ संप्रदायाचार्य श्री ललिताचरण गोस्वामी की महत्वपूर्ण रचना **'श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य'** प्रकाशित हुई थी; किंतु उसमें हित जी को

---

(१) **राधाबल्लभ संप्रदायः सिद्धांत और साहित्य,** (पृ० २७० से २९० तक)

वह श्रेय प्रदान नहीं किया गया। यद्यपि गोस्वामी जी ने हित जी के भक्ति-सिद्धांत और उनकी रस-पद्धति का बड़ा अधिकारपूर्ण विवेचन किया है; तथापि उन्होंने उनके रास विषयक दृष्टिकोण की कोई खास बात नहीं कही। इस प्रकार जो बात इस संप्रदाय के विद्वान आचार्यों की दृष्टि में नहीं आई, उसे डा० स्नातक जी ने अपने विवेचन द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। स्नातक जी की स्थापना के पश्चात् राधाबल्लभ संप्रदाय के एक उत्साही साधु श्री किशोरीशरण 'अलि' ने हित जी और उनके संप्रदाय की रास विषयक देन पर और भी विशद प्रकाश डाला है। स्नातक जी को 'रास सर्वस्व' नामक पुस्तिका के देखने का सुयोग नहीं मिला था, अतः उन्होंने अपने विवेचन को अन्य रचनाओं तक ही सीमित रखा है; किंतु 'अलि' जी ने उक्त पुस्तिका का भी आलोड़न कर लिया है। इस प्रकार इन दो विद्वानों के प्रयत्न से हित जी के पक्ष में ऐसी सामग्री एकत्र हो गई है; जो 'रास सर्वस्व' जैसी रचनाओं की अपेक्षा अधिक तर्कसम्मत और विचारोत्तेजक है। 'अलि' जी ने लिखा है—"इस साधक शरीर में भावना द्वारा अपने नित्य और निज स्वरूप में स्थित होकर श्री वृंदाबन के नित्य रास का दर्शन करना सर्व साधारण भक्तों के लिए सर्वथा अशक्य था और इस मानसी भावना को सहज और स्वाभाविक रूप से करने के लिए कोई संबल भी न था; अतः मानसी भावना का मार्ग प्रशस्त करने और नितांत अगोचर तत्व के साक्षात्कार को सर्व सुलभ बनाने के लिए रस-भक्ति के उद्भावक महाप्रभु श्री हिताचार्य ने अपने समान मना स्वामी श्री हरिदास जी एवं व्यास जी के सक्रिय सहयोग से इस रासलीलानुकरण का आरंभ किया[1]।"

हित जी द्वारा रासलीलानुकरण आरंभ किये जाने का काल उनके द्वारा वृंदाबन में बनाये गये रास मंडल की तिथि से माना जाता है। वह मंडल आरंभ में रज निर्मित था, जिसे हित जी ने कार्तिक कृष्णा द्वितीया को स्थापित किया था। राधाबल्लभ संप्रदाय में हित जी द्वारा नाम-सेवा तथा रासलीलानुकरण के आरंभ किये जाने की वही तिथि मानी जाती है। इसका उल्लेख करते हुए गो० कुंजलाल जी के शिष्य जयश्रीकृष्ण जी (सं० १७७०) ने कहा है—

सेव्य नाम-सेवा सुख मूल। सदाचार संपति अनुकूल॥
कातिक बदी दुतिया कौ रास। मंडल वेष स्वरूप प्रकास॥३०॥

उक्त तिथि किस संवत की है, इसका निश्चय छबीलदास के वृंदाबन आने के काल से किया गया है। छबीलदास जी की कथा भगवतमुदित कृत **'रसिक अनन्यमाल'** में लिखी गई है। उससे ज्ञात होता है कि छबीलदास देवबन का एक तमोली और हित जी का बाल-सखा था। जब हित जी देवबन से वृंदाबन चले आये, तब उनके वियोग को सहन न कर सकने के कारण छबीलदास भी वृंदाबन आ गया था। हित जी ने उसका बहुत आदर किया और उसे युगल दर्शन का आनंद प्रदान करने के लिए एक सेवक के साथ **'बन'** में भेज दिया। वहाँ पर उसे रास-विलास के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। छबीलदास युगल छवि देख कर मूर्छित हो गया। उसे किसी प्रकार हित जी के पास लाया गया, किंतु वहाँ आने पर वह अपना भौतिक शरीर छोड़ कर श्यामा-श्याम के रंग में रँग गया था[2]।

---

(१) ब्रज भारती (मार्गशीर्ष सं० २०१६) में प्रकाशित लेख।

(२) रसिक अनन्यमाल, पृष्ठ ११

उक्त घटना से रासलीलानुकरण के ग्रारंभ किये जाने की तिथि का निश्चय करते हुए श्री 'ग्रलि' जी लिखते हैं—"श्री हिताचार्य का वृंदाबन–ग्रागमन काल सं० १५९० है, ग्रतः इनका (छबीलदास का) ग्रागमन–काल ग्रधिक से ग्रधिक सं० १५९२ तक स्थिर होता है। तात्पर्य यह कि ग्रनुकरणात्मक रास का सर्व प्रथम रंगमंच सं १५९२ के पूर्व बन चुका था ग्रौर रास का सर्व प्रथम ग्रायोजन यहीं पर हुग्रा था[१]।"

'रसिक ग्रनन्य माल' के पूर्वोक्त वर्णन में छबीलदास द्वारा रास-दर्शन 'बन' में किये जाने का उल्लेख है, न कि हित जी द्वारा रजनिर्मित तथाकथित 'रंगमंच' पर[२]। 'रसिक ग्रनन्यमाल' का रचना–काल सं० १७०७ से १७२० तक माना जाता हैं[3]। उस काल तक 'मंडल' पर रास-दर्शन किये जाने की प्रसिद्धि नहीं मालूम होती है। उसके बाद उत्तमदास कृत **'श्री हरिवंश चरित्र'** की रचना हुई थी, जिसका रचना–काल सं० १७४०–४५ के लगभग माना गया है[४]। उसमें 'मंडल' का स्पष्ट उल्लेख हुग्रा है—

ताहि कही मंडल ह्वै ग्रावहु। तब तुम प्रभु कौ दर्शन पावहु ।।
ग्राइ दूरि तें धुनि उन सुनी। ताल मृदंग मुरलिया धुनी ।।
सखी सहित दंपति मंडल पर। चौंकि चक्यौ लखि गिरचौ तुरत घर[५] ।।

यदि यह मान लिया जाय कि १८वीं शताव्दी की रचना **'श्री हरिवंश चरित्र'** के ग्रनुसार छबीलदास को रासमंडल पर ही रास के दर्शन हुए थे, तब भी उस रास को 'ग्रनुकरणात्मक रास' कैसे कहा जा सकता है? जिस प्रकार उसका वर्णन मिलता है, वह भावनापारक दिव्य रास ही ज्ञात होता है; जिसे हित जी के भक्ति–प्रभाव से छबीलदास को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुग्रा था। उस घटना से सिद्ध होता है कि सं० १५९२ तक हित जी द्वारा प्रत्यक्ष रास का ग्रारंभ नहीं हुग्रा था। यदि ऐसा हुग्रा होता, तो छबीलदास प्रत्यक्ष रास ही देखता, न कि दिव्य रास। इसलिए सं० १५९२ में रास के सर्व प्रथम ग्रायोजन की बात ठीक नहीं है।

हित जी ने रासमंडल को चैनघाट (वर्तमान गोविंदघाट) पर बनवाया था ग्रौर उसे बनवाने का उद्देश्य रसिकों के लिए रास-क्रीड़ा का रसास्वादन कराना था, जैसा कि उत्तमदास कृत वाणी से ज्ञात होता है—"**मंडल चैनघाट पर कीनौ। रास–केलि रस रसिकन दीनौ।।**" हित हरिवंश जी रास के ग्रनन्य प्रेमी थे ग्रौर वे ग्रपने परिकर सहित रास के रसास्वादन में ग्रत्यंत रुचि रखते थे। ग्रपने जीवन–काल में वे ग्रौर उनके सहयोगी स्वामी हरिदास जी एवं व्यास जी तथा शिष्यगण नरवाहन जी, विट्ठलदास जी, मोहनदास जी तथा नाहरमल जी ग्रादि सभी रसिकगण उक्त रासमंडल पर एकत्र होकर रास-रस का ग्रानंद लिया करते थे। प्रश्न यह है, उक्त रसिकों द्वारा ग्रास्वादित वह रास किस प्रकार का था? वह ग्रनुकरणात्मक प्रत्यक्ष रास था, ग्रथवा भावनापरक ग्राध्यात्मिक रास?

---

(१) ब्रज भारती, (मार्गशीर्ष, सं० २०१६) पृ० ५३–५४
(२) जन संग दै 'बन' माँहि पठायौ। रास-विलास ताहि दरसायौ।।
(३) रसिक ग्रनन्यमाल की प्रस्तावना, पृ० १२
(४) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय ग्रौर साहित्य, पृ० २४
(५) ब्रज भारती (मार्गशीर्ष, सं० २०१६) पृ० ५३

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने उक्त महत्वपूर्ण प्रश्न का समाधान करते हुए यह बतलाने की चेष्टा की है कि "वह भावनात्मक नित्य विहार वाला रास न होकर अनुकरणात्मक प्रत्यक्ष रास ही है[1] ।" इसके प्रमाणार्थ उन्होंने व्यास जी के कई पद उद्धृत किये हैं और व्यास जी द्वारा रास में जनेऊ तोड़ कर उससे राधा जी के स्वरूप के नूपुर बाँधने की अनुश्रुति का भी उल्लेख किया है।

व्यास जी के जीवन–वृतांत से ज्ञात होता है कि वे अत्यंत दीर्घजीवी हुए थे। उनकी जीवन–लीला हित जी के देहावसान–काल के बाद तो प्रायः ५० वर्ष तक वृंदाबन में चली थी; किंतु हित जी के काल में वे अपेक्षाकृत बहुत कम समय तक ही वहाँ रह पाये थे। फलतः उन्हें हित जी के सत्संग और उनके साथ रास के सुखानुभव करने का सुयोग भी सीमित काल तक ही प्राप्त हुआ था। व्यास जी का हित जी से सत्संग करने को सं० १५९१ में वृंदाबन आना और फिर हित जी के देहावसान के बाद सं० १६१२ से अपने देहावसान–काल तक स्थायी रूप से वृंदाबन में रहना प्रमाणित है। वे हित जी के जीदन–काल में निरंतर वृंदाबन में रहे थे या नहीं, यह विषय विवादग्रस्त है। श्री वासुदेव गोस्वामी का मत है कि व्यास जी एक बार सं० १५९१ में वृंदाबन आये थे और वहाँ अल्प काल तक निवास करने के उपरांत वापिस चले गये थे। उसके बाद वे सं० १६१२ में दोवारा आकर वृंदाबन में स्थायी रूप से रहे थे[2]।

व्यास जी ने अपनी वाणी में हित जी के प्रति जो गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, उससे यह नहीं मालूम होता है कि वे हित जी के क्षणिक सत्संग का लाभ ही प्राप्त कर सके थे; वल्कि यह ज्ञात होता है कि वे कुछ अधिक काल तक उनके संपर्क में रहे होंगे। उस संपर्क काल में उन्हें कई वार हित जी द्वारा निर्मित रासमंडल पर वृंदाबन के भक्तों की "महत सभा" में उपस्थित होने और रास के सुखानुभव करने का सुयोग मिला होगा। किंतु उनके किसी पद से यह ज्ञात नहीं होता है कि हित जी के जीवन–काल में वे किसी प्रत्यक्ष रासलीलानुकरण में भी सम्मिलित हुए थे। जिस रास में उन्होंने अपना जनेऊ तोड़ा था, वह प्रत्यक्ष रास था; किंतु वह निश्चय ही हित जी के देहावसान–काल सं० १६०९ के वाद किसी समय हुआ था।

डा० विजयेन्द्र स्नातक और श्री किशोरीशरण 'अलि' ने राधाबल्लभ संप्रदाय में रास-प्रचलन की परंपरा के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें प्रत्यक्ष रासलीलानुकरण का सबसे प्राचीन प्रमाण '**हस्तामलक**' की हस्त लिखित प्रति का है, जिसका रचना–काल १८वीं शती का आरंभिक काल है। 'हस्तामलक' के रचयिता प्राणनाथ जी हित जी के प्रपौत्र श्री दामोदर चंद्र जी (सं० १६३४–१७१४) के शिष्य थे[3]। उनके काल तक तो रासलीलानुकरण का व्यापक प्रचार हो ही गया था।

प्रश्न होता है, यदि हित जी के काल में प्रत्यक्ष रासलीलानुकरण का प्रचलन नहीं हुआ, तो फिर वह कब हुआ और हित जी के काल के रास का क्या स्वरूप था ? रासलीलानुकरण कब आरंभ हुआ, इसका उत्तर हम बाद में देने की चेष्टा करेंगे। पहिले यह देखना है कि हित जी ने

---

(१) राधाबल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृ० २८५

(२) भक्त-कवि व्यास जी, पृ० ७१–८४

(३) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृ० ५३७

जिस रास के सुख का अनुभव किया और कराया था, वह क्या था ? हमें ऐसा लगता है कि हित जी के काल में रास के रूप में रास के पदों का गायन मात्र होता था । वह गायन श्री हित हरिवंश जी अपने परिकर के साथ स्वयं करते थे । स्वामी हरिदास जी जैसे विख्यात संगीताचार्य के सक्रिय सहयोग से वह और भी कलात्मक और आनंददायक हो गया था । उस काल के प्रायः सभी विख्यात भक्त जन गायन, वादन और काव्यादि कलाओं के ज्ञाता हुए थे । वे महानुभाव जहाँ भी एकत्र होते, वहाँ भक्तिपूर्ण गायन–वादन का आयोजन अनायास हो जाता था । इस तथ्य को श्री 'अलि' जी ने भी इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"अनुकरणात्मक रास का प्राचीन (आरंभिक) लीला-साहित्य जिस रूप में प्राप्त होता है, उससे यही ज्ञात होता है कि उस समय लीलानुकरण रसिकों द्वारा प्रणीत लीलागर्भित पदों के गान द्वारा ही होता था[1] ।"

यदि "लीलागर्भित पदों के गान" को ही अनुकरणात्मक रास कहा जा सकता है, तो वह हित हरिवंश जी के वृंदावन आने के कम से कम २५–३० वर्ष पूर्व से ही ब्रज में प्रचलित था और उसका सबसे प्रमुख केन्द्र गोवर्धन स्थित श्रीनाथ जी का मंदिर था । श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी द्वारा कृष्ण–लीलाओं की जो मार्मिक व्याख्या की थी, उससे प्रेरणा प्राप्त कर श्रीनाथ जी के विख्यात कीर्तनकार सर्वश्री कुंभनदास जी, सूरदास जी, कृष्णदास जी और परमानंददास जी ने अन्य लीलाओं के साथ ही साथ रास लीला के भी बहुसंख्यक पद रचे थे और वे श्रीनाथ जी के समक्ष निरंतर गाये जाते थे । किंतु उस प्रकार के रास–गान को 'रासलीलानुकरण' अथवा 'प्रत्यक्ष रास' कैसे कहा जा सकता है ?

रासलीलानुकरण का वातावरण—हित हरिवंश जी के वृंदावन आगमन–काल (सं० १५९०) से उनके देहावसान–काल (सं० १६०९) तक ब्रज की राजनैतिक और धार्मिक स्थिति ऐसी अस्त-व्यस्त और संकटग्रस्त थी कि वहाँ रास-लीला जैसे सरंजामपूर्ण धार्मिक आयोजन का सार्वजनिक प्रदर्शन शांति पूर्वक सम्पन्न होना संभव नहीं था । जिस समय हित जी वृंदावन आये थे, उस समय बाबर द्वारा स्थापित नये-नये मुगल राज्य का शासन–सूत्र उसके पुत्र हुमायू ने सँभाला था । वह अपने शासनाधिकार को सुदृढ़ करने के लिए इधर-उधर भागता हुआ शत्रुओं से मोर्चा ले रहा था । ब्रज की स्थिति ऐसी अराजकतापूर्ण थी कि वहाँ के छोटे-बड़े जिमीदारों ने दस्यु वृत्ति अपना कर शासन के विरुद्ध विद्रोह कर रखा था । उन्होंने बादशाह को कर देना बंद कर समस्त ब्रजमंडल में लूट-मार मचा रखी थी । उस समय की स्थिति का उल्लेख ब्रज के एक उद्धत जिमीदार नरवाहन की 'परचई' में इस प्रकार मिलता है—

नरवाहन भैंगाँव निवासी । वार–पार में एक मवासी ।।
जाकी आज्ञा कोउ न टारै । जो टारै तिहिं चढ़ि करि मारै ।।
बस करि लियौ सकल ब्रज देस । तासों डरपै बड़े नरेस ।।
पातसाह के वचननि टारै । मन आवै तो दगरौ मारै ।।
जो कोऊ या पै चढ़ि आवै । अमल न देई, मार भजावै[2] ।।

---

(१) ब्रज भारती (मार्गशीर्ष, सं० २०१६), पृ० २२

(२) रसिक अनन्यमाल, पृष्ठ १

हित जी ने नरवाहन की दस्यु वृत्ति बदल कर और उसे भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित कर वृंदाबन में कुछ शांति स्थापित करने का प्रयास किया था। उधर हुमायू को पराजित कर शेरशाह ब्रज प्रदेश सहित आगरा–दिल्ली राज्य का अधिकारी बना था। उसके पंचवर्षीय शासन-काल में कुछ शांति रही थी; किंतु उसके उत्तराधिकारियों के काल में फिर गड़बड़ी हो गई थी। इस प्रकार अकबर द्वारा वास्तविक रूप में शासनाधिकार प्राप्त करने के काल सं० १६१६ तक ब्रज की स्थिति अशांत और अव्यवस्थापूर्ण थी। सिकंदर लोदी के शासन–काल में ब्रज में जैसा धार्मिक उत्पीड़न था और वहाँ के हिंदुओं के धार्मिक कृत्यों पर यवन शासकों की जैसी क्रूर दृष्टि थी, वैसी विकट परिस्थिति तो हित हरिवंश जी के काल में ब्रज की नहीं थी; किंतु फिर भी वहाँ खुले आम धार्मिक कृत्य किये जाने की स्वतंत्रता नहीं हुई थी। हिंदू जनता को अपमानित और संत्रस्त करने के लिए 'तीर्थयात्री कर' और 'जज़िया कर' जैसे अमानवीय कर लगे हुए थे। उस समय कुछ संत–महात्मा और भक्त जन कहीं बैठ कर कुछ धार्मिक चर्चा कर लें अथवा कुछ गायन–वादन कर लें–यह तो संभव था; किंतु रासलीलानुकरण जैसे सरंजामपूर्ण धार्मिक आयोजनों का खुले आम होना एक दम असंभव था। ऐसी स्थिति अकबर के शासन–काल में भी सं० १६१६ तक रही थी।

सं० १६२० में सम्राट अकबर सर्वप्रथम मथुरा आया था। उस समय उसने ब्रज के हिंदुओं की दुर्दशा का अनुभव कर पहिले तीर्थयात्री कर बंद किया और फिर जज़िया कर को भी हटा दिया था। उसने हिंदुओं को स्वतंत्रता पूर्वक अपने धार्मिक कृत्य करने की सुविधा प्रदान की। उसकी हिंदुओं के प्रति सहानुभूति की नीति ने ब्रज की धार्मिक प्रगति का मार्ग खोल दिया था। उसके फलस्वरूप सं० १६२० के बाद ही ब्रज में रासलीलानुकरण अथवा 'प्रत्यक्ष रास' किये जाने का वातावरण बना था। इससे सिद्ध है कि हित जी के काल में रासलीलानुकरण का आरंभ नहीं हुआ; अतः इसे उनकी देन नहीं कहा जा सकता है।

रास लीला का व्यापक प्रचार—

सं०१६२० के बाद ब्रज–वृंदाबन के सभी धार्मिक संप्रदायों ने अभूतपूर्व उन्नति की थी। उसी समय रासलीलानुकरण अर्थात् प्रत्यक्ष रास का भी आरंभ हुआ और शीघ्र ही उसका व्यापक प्रचार हो गया था। उसके आरंभ किये जाने का श्रेय किसी एक संप्रदाय के विशिष्ट धर्माचार्य अथवा संत-महात्मा को न देकर सबको सामूहिक रूप से देना ही उचित होग ा।

उसी काल में गोसाईं विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित ब्रज में आकर रहने लगे थे। सम्राट अकबर उनका बड़ा आदर करता था, इसलिए राजकीय प्रश्रय तथा राजा मानसिंह, बीरबल, टोडरमल जैसे प्रमुख राजकीय पुरुषों का सहयोग उन्हें प्राप्त हुआ था। उसका लाभ उठाकर उन्होंने अपने संप्रदाय की बड़ी उन्नति की थी। ब्रज के गोकुल और गोबर्धन ग्रामों को उन्होंने उस काल के अत्यंत महत्वपूर्ण धार्मिक केन्द्र बना दिये थे। वहाँ पर विविध धार्मिक उत्सवों के साथ ही साथ रासलीलानुकरण के सामूहिक आयोजन भी होने लगे थे।

उसी काल में नारायण भट्ट जी ने ब्रज के बरसाना ग्राम से रासलीलानुकरण को व्यवस्थित रूप में प्रचलित करना आरंभ किया था। उन्होंने उस काल के एक विख्यात नर्तक और गायक ब्रजबल्लभ जी का सहयोग प्राप्त कर रासलीलानुकरण को कलात्मक रूप भी प्रदान किया तथा रास लीला के आयोजन के लिए ब्रज में स्थान-स्थान पर अनेक रासमंडल बनवाये थे।

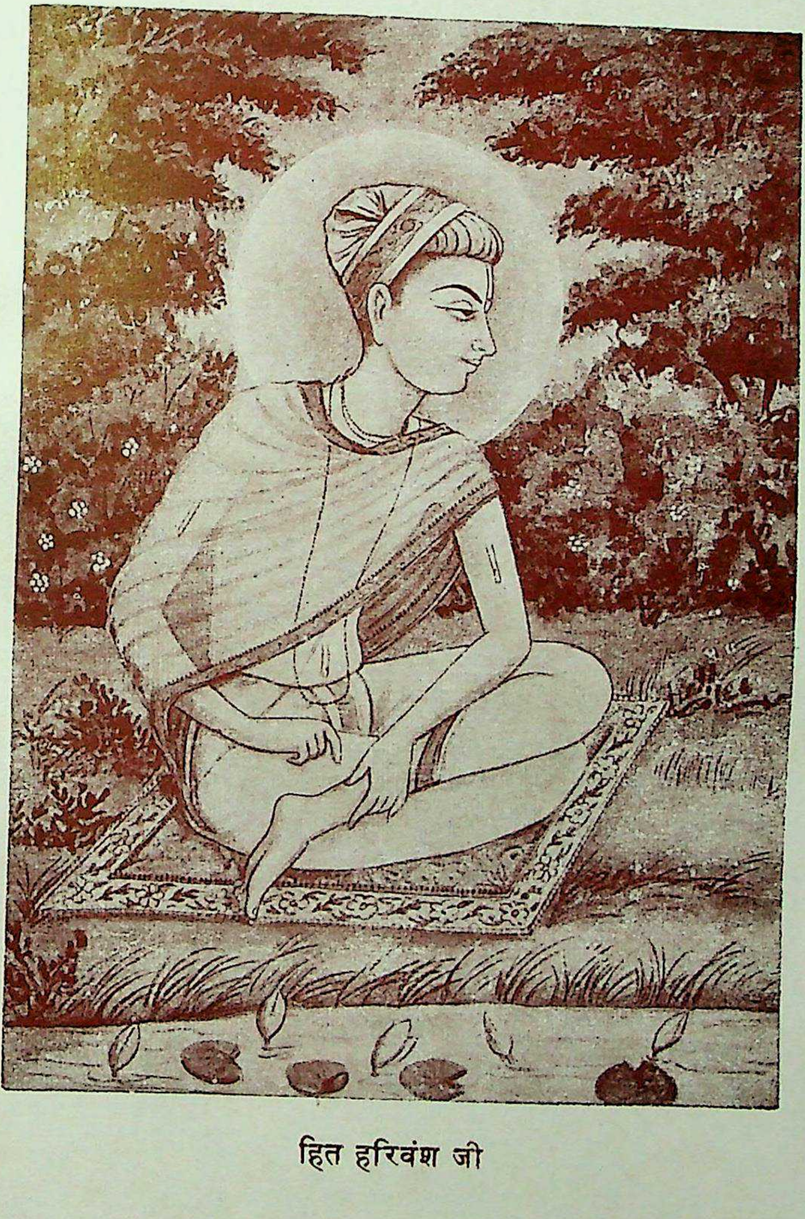

हित हरिवंश जी

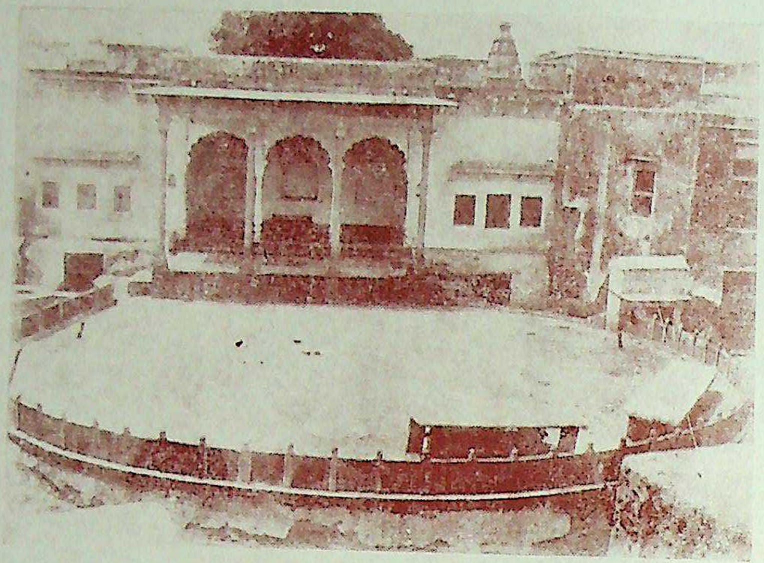

वृंदावन का रासमंडल

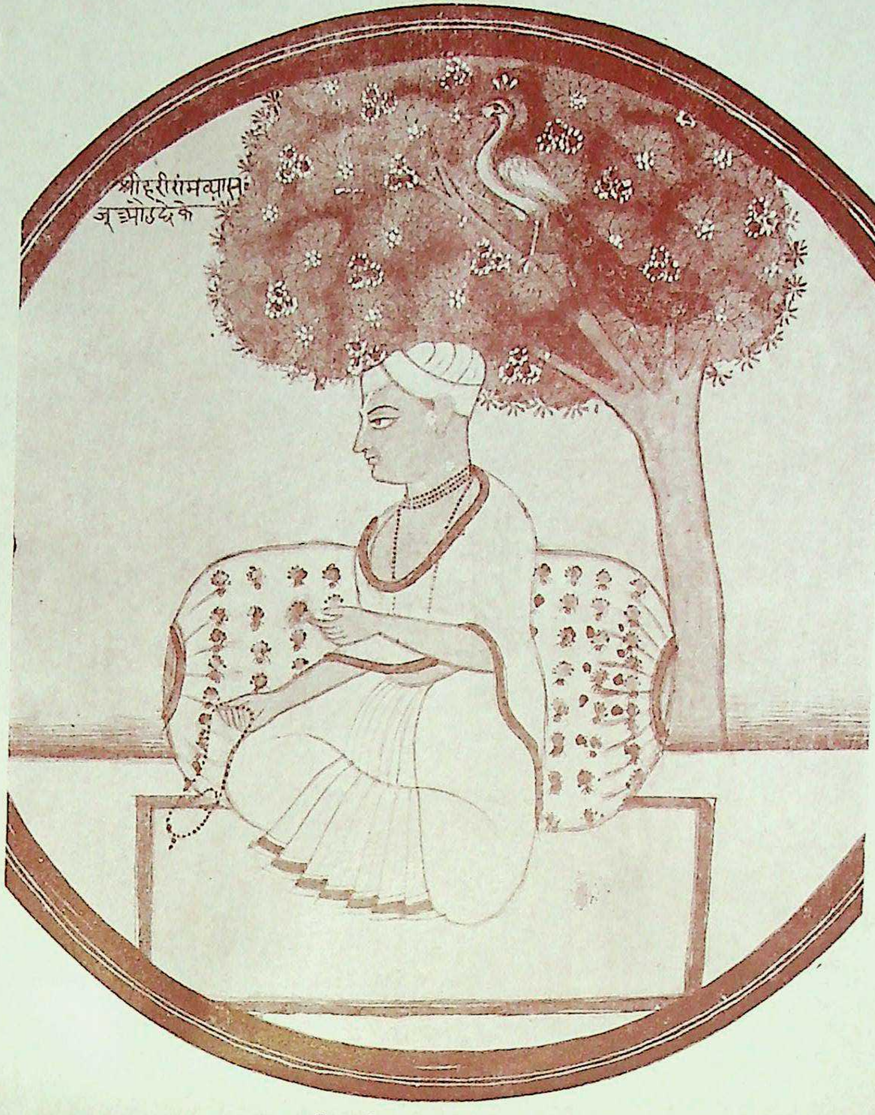

श्री हरीरांमव्यास:
जू ओडछे के

श्री हरिराम जी व्यास

हित हरिवंश जी के देहावसान के पश्चात् वृंदावन के रास–रसिकों का नेतृत्व स्वामी हरिदास जी ने सँभाला था और उन्हें सर्वश्री हरिराम जी व्यास और प्रबोधानंद जी से इसमें अत्यधिक सहयोग प्राप्त हुआ था। हित जी के समय में रसिक समाज के लिए जो रज निर्मित मंडल बनाया गया था, उसे हित जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचंद्र जी के काल में उनके कृपापात्र भगवानदास स्वर्णकार ने सं० १६४१ में पक्का बनवा दिया था। उसी पुण्य स्थल पर राधाबल्लभ संप्रदाय के विख्यात भक्तजन नरवाहन जी, सेवक जी और ध्रुवदास जी अपने नश्वर शरीर छोड़ कर रास लीला का शाश्वत सुख प्राप्त कर सके थे। उसी काल में व्यास जी ने रास लीला के अवसर पर राधा जी के स्वरूप का नूपुर खुल जाने से उसे अपना यज्ञोपवीत तोड़ कर बाँध दिया था। जब उसके लिए लोकापवाद होने लगा, तो उन्होंने निर्भय होकर उत्तर दिया कि जीवन भर जिस धागे का भार ढोता रहा, वह आज काम में आया है। व्यास का तो अस्तित्व ही रास के साथ है—"व्यास वही, जो रास करावै।"

स्वामी हरिदास जी के वरिष्ट शिष्य विट्ठलविपुल जी का देहावसान भी उसी काल में एक रास लीला के अवसर पर ही हुआ था। निंबार्क संप्रदाय के घमंडदेव जी ने भी उसी काल में रास लीला के आयोजन और प्रचार में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। सारांश यह है कि सं० १६२० के बाद एक साथ ही सभी संप्रदायों में रास के प्रचार का प्रयत्न किया गया और वह सफल भी हुआ था।

रास–रसिक भक्तजन —

राधाबल्लभीय भक्त–कवि चाचा वृंदाबनदास जी ने ब्रज–वृंदावन की रस-भक्ति और नित्य विहार के प्रचारकों में जिन चार महानुभावों को प्रमुखता दी है, वे हैं—१. व्यास-नंद श्री हित हरिवंश जी, २. सुमोखन शुक्ल कुल-चंद्र श्री हरिराम व्यास जी, ३. आशुधीर-सुत आनंदमूर्ति स्वामी हरिदास जी और ४. भक्ति-स्तंभ श्री प्रबोधानंद जी। चाचा जी के मतानुसार उन्होंने मिल कर प्रयत्न किया था; किंतु फिर भी उनके मुकुटमणि श्री हित हरिवंश जी थे[1]। वे चारों महानुभाव नित्य विहार की रस–भक्ति के ही प्रमुख प्रचारक नहीं थे; वरन् वृंदाबन के रास–रसिक भक्तजनों के भी शिरमौर थे। उनमें श्री हित हरिवंश जी और स्वामी हरिदास जी की रास विषयक देन का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। यहाँ पर सर्वश्री व्यास जी तथा प्रबोधानंद जी का और फिर अन्य रास–रसिक महानुभावों का वृत्तांत लिखा जावेगा।

श्री हरिराम जी व्यास—वे ब्रज के धार्मिक और साहित्यिक जगत् में 'व्यास जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रज साहित्य के विख्यात भक्त–कवि होने के साथ ही साथ वे रास-रस के भी परम रसिक थे। उन्होंने अपने अनेक पदों में रास की रमणीयता का रसपूर्ण गायन किया है। उनकी रस–भक्ति का प्रमुख साधन ही मानों रास था। उन्हें रास के विशाल आकाश में प्रेम–

---

(१) **सबके जु मुकुट–मणि व्यास–नंद। पुनि सुकल सुमोखन कुल–सुचंद॥**
सुत आसुधीर मूरति आनंद। धनि भक्ति–थंभ परबोधानंद॥
इन मिलि जु भक्ति कीनी प्रचार। ब्रज–वृंदावन नित–प्रति बिहार॥
(चाचा वृंदाबनदास)

पारावत की भाँति युगल का विहार सदैव होता हुआ जान पड़ता था[१]। वे वृंदावन में बस जाने पर ध्यान–धारणा और अंगन्यास आदि साधनों की उपेक्षा करते हुए रास के नृत्य-गान में ही लीन रहा करते थे[२]। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उन्होंने रास के अवसर पर राधा जी के स्वरूप का नूपुर खुल जाने पर उसे अपना जनेऊ तोड़ कर बाँध दिया था। उनके जीवन की उक्त घटना बड़ी प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख नाभा जी और प्रियादास जी ने भी किया है[३]। उससे उनकी रास के प्रति अनन्य श्रद्धा प्रकट होती है।

व्यास जी अत्यंत दीर्घजीवी हुए थे। उनकी जीवन–अवधि सौ वर्ष से भी अधिक की मानी जाती है। उन्होंने वृंदावन में रास का आरंभिक काल देखा, उसका विकास देखा और अपने अंतिम काल में उसका कदाचित कुछ ह्रास भी देखा था। यह वह काल था, जब सर्वश्री हित हरिवंश जी, हरिदास जी, सनातन जी, रूप जी आदि वृंदावन के सभी प्रमुख रसिकों का देहावसान हो चुका था। उस समय रास की सात्विकता में कुछ कमी आने की आशंका हो गई थी। व्यास जी कृत 'साखी' के दोहों में इसका संकेत मिलता है[४]।

श्री प्रबोधानंद जी—वे विद्वान संन्यासी और संस्कृत के विख्यात भक्त–कवि थे। वे चैतन्य मत के अनुयायी थे; किंतु वृंदावन में निवास करने पर उनका आकर्षण हित हरिवंश जी द्वारा प्रचारित रस–भक्ति की ओर अधिक हो गया था। उनके रचे हुए ग्रंथों में 'संगीत माधव' और 'वृंदाबन महिमामृत शतक' अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका एक ग्रंथ 'आश्चर्य रास प्रबंध' भी है। उनकी प्रेमोन्मादक रचनाओं में राधा–कृष्ण की विविध केलि–क्रीड़ाओं के साथ ही साथ रास लीला का भी अत्यंत माधुर्यपूर्ण कथन हुआ है।

श्री विट्ठलविपुल जी—वे स्वामी हरिदास जी के वरिष्ठ शिष्य थे। स्वामी जी का देहावसान होने पर वे उनके वियोग में इतने दुखी हुए कि उन्होंने सब जगह आना–जाना ही बंद कर दिया था। एक बार वृंदावन में रास के अवसर पर सब रसिक भक्त एकत्र थे। वहाँ पर विट्ठलविपुल जी को उपस्थित न देख कर उन्हें आग्रह पूर्वक बुलाया गया। वे वहाँ गये और रास-रस में इतने तल्लीन हो गये कि उसी स्थान पर अपना शरीर छोड़ दिया था। 'भक्तमाल' में उक्त घटना का उल्लेख किया गया है[५]।

---

(१) विहरत सदा दुलहिनी–दूलह, अँग–अँग मधु रस सेवा।
'व्यास' रास–आकास फिरत दोऊ, मानहुँ प्रेम–परेवा।।

(२) नैन न मूँदे ध्यान कौं, किये न अंगन्यास।
नाँचि–गाय रासहिं मिले, बसि वृंदाबन 'व्यास'।।

(३) नौ गुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ, महत सभा मधि रास के।
उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ, भक्त इष्ट अति व्यास के।। (भक्तमाल, छप्पय सं० ९२)

(४) 'व्यास' रसिक सब चल बसे, नीरस रहे कुबंस।
वग–ठग की संगति भई, परिहरि गये जु हंस।।११०।।
'व्यास' जहाँ प्रभु कौ भजन, होते रास–विलास।
ते कामिनि–बस ह्वै गए, ऊत–पितर के दास।।१३७।। (भक्त-कवि व्यास जी)

(५) नाभा जी कृत छप्पय सं० ९४ पर प्रियादास जी का कवित्त सं० ३७७

नरवाहन जी—वे हित हरिवंश जी के प्रभाव के कारण डाकू से रसिक भक्त हुए थे। उनकी रास विषयक अनन्यता को देख कर हित जी ने उनके नाम से रास के दो सुंदर पद रचे थे, जो 'नरवाहन' की छाप से हित जी की वाणी में मिलते हैं। उन पदों की टेक इस प्रकार है—

१–मंजुल कल कुंज देस, राधा–हरि विसद वेस, राका नभ कुमुद बंधु, सरद–यामिनी।
२–चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख–निधान, रास रच्यौ स्याम, तट कलिंद-नंदिनी।।

विट्ठलदास जी—वे हित हरिवंश जी के परम भक्त और उनकी रास–भावना के प्रति अत्यंत श्रद्धावान थे। 'रसिक अनन्यमाल' में उन्हें जूनागढ़ के सूबेदार का प्रधान बतलाया है। इसके साथ ही रास के प्रति उनकी श्रद्धा भावना का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

'मुरलीधर रस रास–विलास। रोम–रोम रमि रह्यौ प्रकास।।'

अलि भगवान—प्रियादास जी ने लिखा है कि अलि भगवान एक रामोपासक भक्त थे। एक बार वे वृंदावन गये थे; वहाँ पर रासमंडल पर रास होता हुआ देख कर वे उसके प्रति इतने अनुरक्त हुए कि अपने ठाकुर जी को भी 'रासविहारी जी' कहने लगे थे[1]।

भगवानदास तँवर—'भक्तमाल' में उनकी साधु–सेवा की बड़ी प्रशंसा की गई है। उसमें लिखा है कि भगवानदास प्रति वर्ष मथुरा जाकर वहाँ बड़ा महोत्सव करते थे। वे रास-विलास और हरि-कीर्तन कराते थे तथा साधु–संतों का भंडारा करते थे[2]।

राजा रामरयन—'भक्तमाल' में उनकी रास के प्रति अपूर्व निष्ठा का उल्लेख किया गया है। वे रास लीला देख कर इतने प्रसन्न हुए कि कृष्ण के स्वरूप को उन्होंने अपनी पुत्री ही अर्पित कर दी थी। उक्त घटना का उल्लेख प्रियादास जी ने किया है[3]।

श्रीनाथ भट्ट—वे चैतन्य मत के अनुयायी भक्त जन थे। नाभा जी ने उनके प्रगाढ़ पांडित्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें रास-रस के उपासक भक्तराज भी बतलाया है—

'रस–रास उपासक भक्तराज, नाथ भट्ट निर्मल वैन[4]।

प्रयागदास—नाभा जी ने उन्हें रामोपासक भक्त बतलाया है। एक बार रास लीला देखते हुए वे इतने आनंदित हुए कि अपना शरीर छोड़ कर रास-रस में लीन हो गये थे[5]।

गिरिधर ग्वाल—नाभा जी ने उनकी भक्ति-भावना और नृत्य-गान के प्रति अभिरुचि का कथन किया है। 'भक्तमाल' में बतलाया गया है कि एक बार उन्होंने अपने मालपुरा गाँव में रास का आयोजन किया, जिसमें प्रसन्नतापूर्वक अपना सर्वस्व दान कर दिया था[6]।

---

(१) नाभा जी कृत छप्पय सं० ९४ और प्रियादास जी का कवित्त सं० ३७६
(२) वही ,, ,, १५४ और प्रियादास जी का कवित्त सं० ५७५
(३) वही ,, ,, ११९ और प्रियादास जी का कवित्त सं० ४८९
(४) भक्तमाल, छप्पय सं० १५९
(५) वही ,, सं० १६६
(६) वही ,, सं० १६४

खड्गसेन जी—'रसिक अनन्य माल' के अनुसार वे भानुगढ़ निवासी कायस्थ थे और माधौसिंह के प्रधान थे। कथा-कीर्तन, हरि-गान और साधु-सेवा के साथ ही साथ उनकी अभिरुचि रास-विलास के प्रति अधिक थी। 'भक्तमाल' में उन्हें रास-लीला के आनंद में अपना प्राण न्यौछावर करने वाला बतलाया गया है[1]।

जयमल जी—'भक्तमाल' के दो छप्पयों में जहाँ अनेक राज-पुरुष भक्तों का नामोल्लेख हुआ है, वहाँ उनमें जयमल जी की भी गणना की गई है। नाभा जी ने लिखा है, जयमल जी की भक्ति-भावना के कारण उनकी राजधानी मेड़ता छोटी मथुरा के समान जान पड़ती थी—**'लघु मथुरा मेड़ता, भक्त अति जैमल पोषें।'** 'रसिक अनन्य माल' में कथा-कीर्तन, हरि स्मरण के साथ ही साथ रास-विलास महोत्सव के प्रति भी उनकी रुचि बतलाई गई है—**'कथा-कीरतन सुमिरन भाव। रास-विलास महोत्सव चाव ॥'**

सुलखान—चाचा वृंदाबनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' में रास-लीला के प्रति अत्यंत रुचि रखने वाले राधावल्लभ संप्रदायी एक भक्त सुलखान का उल्लेख हुआ है। उसे भैंगाँव का निवासी और नरवाहन जी का वंशज बतलाया गया है। श्री 'अलि' जी के मतानुसार उसका उपस्थिति-काल १७वीं शताब्दी का उत्तर काल था।

रासधारी और रास-मंडलियाँ—

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, ब्रज में रास का आरंभ वैष्णव संप्रदायी महानुभावों द्वारा रास संबंधी पदों के गायन द्वारा हुआ था। वे रास लीला के सरस पदों को ताल-स्वर के साथ वाद्य यंत्रों पर गाते हुए रास-रस का सुखानुभव किया करते थे। बाद में राधा-कृष्ण के स्वरूप बने हुए कतिपय बालकों का गान-वाद्य के साथ नृत्य भी कराया जाने लगा। रास लीला का ऐसा ही एक नृत्य गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने अड़ैल में कराया था; जिसका उल्लेख **'गोसाईं जी की निज वार्ता'** में हुआ है। उसकी एक अप्रकाशित प्रति सरस्वती भंडार, कांकरौली में है। उसमें लिखा है, गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने स्वयं एक ब्राह्मण के बालक को श्री कृष्ण का शृंगार कराया था[2]। उक्त घटना सं० १६१६ से कुछ पहिले की है, क्यों कि उसके बाद गोसाईं जी ने अड़ैल को छोड़ दिया था।

व्यवसायी रास-मंडलियाँ—जब नृत्य-गान में निपुण बालकों के मिलने में असुविधा होने लगी, तब रासधारियों की मंडलियाँ बनना आरंभ हुआ। वे रासधारी गण अपने बालकों को नियमित रूप से नृत्य-गान की शिक्षा देकर उनसे रास लीला कराने लगे। इस प्रकार व्यवसायी रास मंडलियों की परंपरा प्रचलित हुई। राधाकृष्ण जी कृत **'रास सर्वस्व'** में करहला निवासी रासधारियों के कई घरानों का उल्लेख मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि करहला गाँव के ब्राह्मणों ने रासधारियों की मंडलियाँ बनाने का नेतृत्व किया था। बाद में कामबन, कमई, पिसाया आदि ब्रज के अन्य स्थानों में भी रास मंडलियाँ बन गई थीं। इस प्रकार की व्यवसायी मंडलियाँ सं० १६२० से पूर्व बनी हों, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मुसलमानी

---

(१) नाभा जी कृत छप्पय सं० १६२ पर प्रियादास का कवित्त सं० ५६२

(२) बल्लभीय सुधा, (वर्ष ७, अंक २, पृष्ठ १८)

शासन के आतंक के कारण सं० १६२० से पहिले उस प्रकार की रास मंडलियों के संगठन की संभावना भी नहीं हो सकती थी।

"रास सर्वस्व"—कार ने घमंडदेव जी के प्रसंग में सबसे पहिले उदयकरण–खेमकरण की और उसके बाद नारायण भट्ट जी के प्रसंग में रामराय–कल्याण की रास मंडलियों का उल्लेख किया है। नारायण भट्ट जी के सहयोगी एक बल्लभ नर्तक का भी इसी प्रसंग में नामोल्लेख किया गया है। बादशाह का अवकाश प्राप्त कलाकार वह बल्लभ नर्तक करहला के रासधारियों में था या नहीं और उसकी भी कोई रास–मंडली थी या नहीं, इसके विषय में कुछ नहीं लिखा मिलता है। उदयकरण और खेमकरण तथा रामराय और कल्याण नामक रासधारियों का काल अनिश्चित है और उनका विश्वसनीय विवरण भी उपलब्ध नहीं है। वैसे नाभा जी ने रामराय और कल्याण नामक भक्तों का उल्लेख किया है, किंतु वे उस नाम के रासधारियों से पृथक् भक्तजन थे। नाभा जी ने रास के प्रसंग में सर्वप्रथम नारायण भट्ट जी और उनके प्रीति–भाजन उक्त बल्लभ या व्रजबल्लभ का ही वृत्तांत लिखा है[1]। इस प्रकार रास लीला से संबंधित प्रामाणिक व्यक्तियों में उनकी गणना सबसे पहिले की जानी चाहिए। बल्लभ ने चाहे कोई रास मंडली न बनाई हो, किंतु उसने नारायण भट्ट जी को रास के प्रचार-कार्य में अपना कलापूर्ण सहयोग अवश्य दिया था। इस प्रकार उसके जैसे गुणी जन के कारण रासलीला के प्रदर्शन में कलापूर्ण सरसता की वृद्धि हुई थी।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के दो प्रसंगों में रास मंडलियों का उल्लेख मिलता है। पहिला प्रसंग उज्जैन निवासी कृष्ण भट्ट की वार्ता का है। उससे ज्ञात होता है कि वहाँ दो बार रासधारियों ने रास किया था[2]। दूसरा प्रसंग चतुर्भुजदास की वार्ता का है। उसके अनुसार गोवर्धन के चंद्र सरोवर पर रासधारियों ने रास लीला की थी[3]। उसका काल सं० १६२७ ज्ञात होता है। उज्जैन में किये गये रास के काल का उल्लेख नहीं मिलता है, किंतु वह भी सं० १६२८ के लगभग किया हुआ जान पड़ता है। उक्त प्रसंगों से सिद्ध होता है कि सं० १६२७–२८ में व्यवसायी रासधारियों की मंडलियाँ बन गई थीं। वे मंडलियाँ करहला की थीं, अथवा अन्य स्थानों की; यह ज्ञात नहीं होता है। संभावना इसी बात की है कि वे करहला की होंगी, क्यों कि उन्हीं की प्राचीनतम परंपरा मिलती है और उनका बल्लभ संप्रदायी होना भी सिद्ध है। 'रास सर्वस्व' में उल्लिखित उदयकरण–खेमकरण और रामराय–कल्याण की रास मंडलियों में से वे मंडलियाँ थीं अथवा कोई दूसरी थीं—यह निश्चय पूर्वक कहना संभव नहीं है।

मोहनदास की मंडली—राधाबल्लभ संप्रदायी साहित्य में रासधारियों के ऐसे कई घरानों का उल्लेख है, जिनकी परंपरागत रास मंडलियाँ थीं। उनमें दामोदर चंद्र जी (सं० १६३४–१७१४) के शिष्य मोहनदास का नाम उल्लेखनीय है। मोहनदास कामबन का ब्राह्मण था। उसकी रास मंडली में उसका रूपवान पुत्र राधा जी का वेश धारण कर रास लीला में भाग लेता था। गोविंद अलि (सं० १८४०) कृत 'भक्तगाथा' में उसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

---

(१) नाभा जी कृत भक्तमाल, छप्पय सं० ८७ और ८८

(२) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खंड, पृ० ४८–४६

(३) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खंड, पृ० ३४५–३४६

श्री हित मोहनदास, विप्र कामाँ के बासी । सुत माधुर्य सरूप, सकल गुन-गन के रासी ।।
प्रिया वेश अति फबै, रास मंडली बनाई । मिटे त्रिगुन विस्तार, रहै हरिवंश सहाई ।।
रसिकन मुख ऐसी सुनी, सर्वस महा प्रसाद की । श्री दामोदर वर कृपा तें, पगे भावना रास की[1] ।।

गो० दामोदर चंद्र जी हित जी के प्रपौत्र थे । वे रास के बड़े प्रेमी और प्रोत्साहन कर्त्ता थे । उनके स्थान पर मोहनदास का नियमित रूप से रास हुआ करता था । उन्होंने अपने उत्तराधिकार-पत्र में भी उसी प्रकार के आयोजन होते रहने की व्यवस्था की थी[2] । मोहनदास के बाद उसके पुत्र माधुरीदास ने रासमंडली का संचालन किया था । वह बचपन से ही रास में भाग लिया करता था, अतः वह इस कला का विशेषज्ञ था । चाचा वृंदावनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' में माधुरीदास को रास-विलास का प्रकाशक और रसिक भक्तों को सुख देने वाला बतलाया गया है—

मोहन सुत माधुरी, फुरी रसबानी गानी । रास विलास प्रकास, रसिक भक्तन सुख दानी[3] ।।

किशोरीदास की मंडली—रासधारियों का दूसरा घराना किशोरीदास का था । उसकी भी वंश-परंपरागत रास मंडली थी । चाचा वृंदावनदास ने किशोरीदास को हित जी के छोटे पौत्र ब्रजभूषण जी का शिष्य बतलाया है और उसके द्वारा ब्रजमंडल में स्थान-स्थान पर रास लीला किये जाने का उल्लेख किया है—

ठौर-ठौर ब्रजभूमि, विलास द्रगन दरसाये । श्री राधाबल्लभ इष्ट भाव सों सदा लड़ाये ।।
श्री हरिवंश गिरा प्रसंग, गायक बहु भायन । नित्य केलि बनराज अखंडित बरनी चायन ।।
श्री ब्रजभूषन परसाद गुरु, लीला प्रकट प्रकास कों ।
रास-रचन सुख-सचन मति, यह कृपा किसोरीदास कों[4] ।।

होरी के रंग मन रँग्यौ जास । अस कोविद रसिक किसोरीदास ।
ब्रज जनन भीर रहै सदा पास । रसिकन मिलि रचैं बसंत रास ।। (वसंत प्रबंध, सं० ४१)

किशोरीदास के बाद उसके पुत्र हरिनाथ ने रास मंडली का संचालन किया था । चाचा जी ने हरिनाथ को युगलदास जी का समकालीन बतलाते हुए उसकी रास लीला की प्रशंसा की है—

सुवन किशोरीदास के, अति रसज्ञ हरिनाथ ।
निरखै रास-विलास बहु, जुगलदास रहि साथ ।। (गुरु कृपा चरित्र वेली)
प्रगट रास-लीला करन, को दूजौ हरिनाथ बिन ।। १७४ ।। (रसिक अनन्य परिचावली)

श्री किशोरीशरण 'अलि' ने युगलदास के उपस्थित-काल (सं० १७९२) के आधार पर हरिनाथ का समय सं० १७६० तक अनुमानित किया है । हरिनाथ के चार पुत्र नवनीत दास, ब्रजदास, शोभाराम और कृष्णदास थे । उन्होंने हरिनाथ के बाद रास-मंडली का संचालन किया था । वे सं० १८०० तक विद्यमान थे[5] ।

---

[1] राधाबल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २८८
[2] ब्रज भारती (मार्गशीर्ष सं० २०१६) में श्री किशोरीशरण 'अलि' का लेख
[3] वही, पृ० ५८
[4] रसिक अनन्य परिचावली, छप्पय सं० १५६
[5] ब्रज भारती (मार्गशीर्ष सं० २०१६)

भक्तों की रास–मंडलियाँ—व्यवसायी रास–मंडलियों के अतिरिक्त उस काल के कतिपय भक्तजनों ने भी अपने संप्रदाय के प्रचारार्थ रास–मंडलियों का संगठन किया था। ऐसे भक्तों में राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायियों का उत्साह अधिक रहा था। उनमें बालकृष्ण-तुलाराम, बालकृष्ण स्वामी और चंद्रसखी की रास–मंडलियाँ उल्लेखनीय हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

बालकृष्ण–तुलाराम और बालकृष्ण स्वामी—उनके नामों का उल्लेख चाचा वृंदाबनदास कृत **'रसिक अनन्य परिचावली'** तथा **'प्रबंध'** में हुआ है और उन्हें गो० हरिलाल जी के शिष्य बतलाया गया है। गो० हरिलाल जी हित जी के बड़े पौत्र सुंदरवर जी के वंश में गो० कुंजलाल के पुत्र थे। वे १८वीं शती के मध्यकाल में विद्यमान थे। इस प्रकार बालकृष्ण–तुलाराम और बालकृष्ण स्वामी का उपस्थिति काल सं० १७८० से कुछ पूर्वक माना जा सकता है।

'अलि' जी ने बालकृष्ण और तुलाराम दोनों को सगे भाई अनुमानित किया है तथा बालकृष्ण को बालकृष्ण स्वामी से अभिन्न समझा है[1]। बालकृष्ण और तुलाराम सगे भाई हो सकते हैं, किंतु बालकृष्ण को बालकृष्ण स्वामी से मिलाना ठीक नहीं मालूम होता है। वे दोनों भक्तजन एक से नाम के, एक ही प्रकृति के, एक ही गुरु के शिष्य और एक ही काल में विद्यमान थे। इन कारणों से उनके विषय में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है; किंतु चाचा वृंदाबनदास जी ने उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कर उक्त भ्रम का पहिले ही निवारण कर दिया है। उन्होंने 'रसिक अनन्य परिचावली' के छंद सं० १९८ में बालकृष्ण–तुलाराम का और सं० १८१ में बालकृष्ण स्वामी का पृथक्–पृथक् उल्लेख किया है। चाचा जी के वर्णन से ज्ञात होता है कि बालकृष्ण–तुलाराम शमशेर नगर निवासी, भजनानंदी और रास प्रेमी भक्त जन थे, तथा बालकृष्ण स्वामी वृंदाबन में रासमंडल पर निवास करने वाले नाद–परिकर के विरक्त साधु थे[2]।

बालकृष्ण स्वामी की रास-मंडली—चाचा वृंदाबनदास के कथन से ज्ञात होता है, बालकृष्ण स्वामी उच्च कोटि के विरक्त संत और रसिक भक्त होने के साथ ही साथ राधाबल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारक भी थे। उन्होंने अपने गुरु गो० हरिलाल जी के आदेशानुसार रास-मंडली द्वारा भक्ति–प्रचार का आयोजन किया था। इसका उल्लेख चाचा जी कृत बसंत गायन के 'चतुर्थ प्रबंध' सं० ५१ में इस प्रकार हुआ है—

धरचौ कर गुरु श्री हरिलाल माथ। भये बालकृष्ण स्वामी सनाथ ।।
फिरें रास–मंडली लिऐं साथ। फागुन सुखेल की सौंज हाथ ।।

चंद सखी जी की रास-मंडली—चंद सखी जी बालकृष्ण स्वामी के शिष्य और राधाबल्लभ संप्रदाय के प्रचारक एक उत्साही महात्मा थे। उनका समय सं० १७०० से १७९० तक है। वे राधावल्लभ संप्रदाय की रस-भक्ति के प्रचारार्थ यात्राएँ किया करते थे। उनके साथ साधु–संतों की जमात और रास मंडली रहती थी। उन्होंने अनेक पदों और लोक गीतों की रचना की थी,

---

(१) ब्रज भारती (मार्गशीर्ष, सं० २०१६), पृ० ६०

(२) लेखक कृत 'चंद सखी का जीवन और साहित्य', पृ० १८

जिन्हें वे और उनके साथी भक्त जन तथा रास मंडली वाले गा–गा कर जनता में राधाकृष्णोपासना का प्रचार किया करते थे[१]। अपने उस प्रचार–अभियान में चंद सखी जी की रास–मंडली को बड़ी सफलता मिली थी।

उदयकरण–खेमकरण की रास-मंडली—करहला के रासधारी उदयकरण–खेमकरण का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। 'रास सर्वस्व' में उनके वृतांत को श्री बल्लभाचार्य जी, औरंगजेब और जयसिंह के साथ इस प्रकार मिलाया गया है कि उनके यथार्थ काल का निश्चय करना अत्यंत कठिन हो गया है। उदयकरण के पुत्र विक्रम द्वारा जयसिंह के समक्ष जिस रास लीला के होने की बात कही गई है, उसका काल १८वीं शती का अंतिम दशक होता है। उस समय दिल्ली के मुगल सम्राट मुहम्मदशाह की ओर से आमेर के सवाई राजा जयसिंह आगरा के सूवेदार थे और ब्रज–वृंदावन उनके प्रभाव क्षेत्र में था। विक्रम के पिता उदयकरण का काल उससे पूर्व का है, जो अधिक से अधिक औरंगजेब के अंतिम काल के लगभग हो सकता है।

उदयकरण–खेमकरण की रास मंडली अपने समय में निश्चय ही विख्यात और यशस्वी रही होगी। उसके द्वारा औरंगजेब जैसे कट्टर मुसलमान को प्रभावित करने की बात तो सर्वथा कपोलकल्पित है; किंतु सवाई राजा जयसिंह को प्रसन्न कर उससे करहला में भवन बनवा लेने की बात प्रामाणिक जान पड़ती है। विक्रम अपने समय का प्रसिद्ध रासधारी था। वह पहिले अपने पिता के काल में कृष्ण का स्वरूप बनता था। बाद में उसने 'स्वामी' बन कर रास–मंडली का संचालन किया था। विक्रम के वंशजों की करहला में परंपरागत रास मंडलियाँ रही हैं। उसी परंपरा में बिहारीलाल और राधाकृष्ण रासधारी थे और उसी में लाड़िलीशरण, माधव स्वामी आदि हैं। उनके घराने 'महल वाले' और 'हवेली वाले' कहलाते हैं। वे सदा से बल्लभ संप्रदाय के अनुयायी रहे हैं। उनके घरों में नाथद्वारा से प्राप्त श्रीनाथ जी के कतिपय पुराने मुकुट हैं, जिन्हें रास संबंधी अपनी परंपरागत कला–कुशलता के प्रमाण–पत्र की तरह उन्होंने सुरक्षित रख छोड़ा है।

ब्रज में अन्य स्थानों की मंडलियाँ—करहला और कामबन की पूर्वोक्त रास मंडलियों के अतिरिक्त कमई, पिसाया, वृंदावन, गोवर्धन आदि स्थानों में भी अनेक रास मंडलियाँ बनी थीं, जिनमें से कई मंडलियाँ अब भी हैं। इन्होंने ब्रज की रास लीला के परंपरागत कला–रूप के प्रचार में बड़ा योग दिया है।

रास लीला के प्रदर्शन—

ब्रज की सभी रास मंडलियाँ वर्षा बीतने पर अपने घरों से चल देती थीं और देश के विभिन्न भागों में रास–लीला का प्रदर्शन किया करती थीं। वे प्रदर्शन जन्माष्टमी से आरंभ हो जाते थे। उस समय के राधा–कृष्णोपासक राजा–महाराजा और धनाढ्य व्यक्ति अपने–अपने स्थानों पर रास मंडलियों को आमंत्रित कर उनसे श्री कृष्ण की रास लीलाओं के प्रदर्शन कराया करते थे। इस संबंध में कुछ विदेशी दर्शकों के उल्लेख उपलब्ध हैं, जिन्हें येन विश्वविद्यालय (अमरीका) के प्राध्यापक श्री नारबिन हईन हवेन ने संकलित किया है। वे विदेशी दर्शक सर्वश्री जेम्स टाड, टामस डूएट ब्रोटन और एफ० एस० ग्राउस थे।

---

(१) लेखक कृत **'चंद सखी का जीवन और साहित्य'**, पृ० १८

जेम्स टाड का उल्लेख—अंगरेजी शासन के प्रतिनिधि के रूप में टाड साहब दौलतराव सिंधिया के दरबार में दस वर्ष तक रहे थे। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति **'दि एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आव राजस्थान'** में लिखा है—"रासधारी वर्ग रास प्रदर्शन के लिए प्रत्येक वर्ष जन्माष्टमी के अंवसर पर मथुरा से आया करता था तथा दरबार में जन्माष्टमी के दिन गोपी तथा कृष्ण–कन्हैया के प्रसंग का दृश्य उपस्थित करता था। यह निश्चित रूप से रास लीला थी[1]।"

टामस डूएट ब्रोटन का उल्लेख—ब्रोटन साहब माधव जी सिंधिया के शिविर में ब्रिटिश रेजीडेन्सी के प्रधान अंग–रक्षक थे। उन्होंने उस काल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करते हुए कुछ पत्र लिखे थे, जो **"लैटर्स रिटिन इन ए मरहठा कैंप ड्यूरिंग दी इयर १८०९"** नामक पुस्तिका में संकलित हैं। उसमें १० अगस्त सन् १८०९ के पत्र में लिखा गया है—"जन्माष्टमी का पर्व था। शिविर में इस महोत्सव की सज्जाएँ हो रही थीं। महाराजा ने शिविर के प्रभावशाली व्यक्तियों को जन्माष्टमी के उत्सव में रात्रि को निमंत्रित किया। ब्रोटन भी बुलाये गये और उन्होंने उक्त उत्सव में भाग लिया था[2]।"

उपर्युक्त उल्लेख से ऐसा आभास होता है कि वह उत्सव माधव जी (महादजी) सिंधिया के काल में हुआ था; किंतु वस्तुतः वह उनके उत्तराधिकारी के शासन–काल की घटना है। माधव जी का देहावसान १२ फरवरी सन् १७९५ में हो गया था, अतः सन् १८०९ में उनका उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया था। वैसे माधव जी सिंधिया भी ब्रज और राधा–कृष्ण के अनन्य भक्त तथा रास के बड़े प्रेमी थे। वे अपने काल में जन्माष्टमी के अवसर पर रास कराया करते थे। जब वे मथुरा में होते थे, तब वृंदावन जाकर वहाँ अवश्य ही रास कराते थे। इसका उल्लेख सहचरिशरण कृत **'ललित प्रकाश'** में इस प्रकार हुआ है—

नाम महाजी सिंधिया, वृंदाबन बिच आय। श्री गुपाल लीला करी, परम प्रीत दरसाय॥

ग्राउस का उल्लेख—ग्राउस साहब ने भी जन्माष्टमी के प्रसंग में रास लीला का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है,—"भादों के महीने में कृष्ण–जन्मोत्सव के अतिरिक्त और भी अनेक मेले ब्रज के विविध बनों में होते हैं, जहाँ रास लीला की जाती है[3]। ये लीलाएँ प्रायः एक महीना या उससे भी अधिक काल तक चलती रहती हैं और वे ब्रज के उसी स्थान पर होती हैं, जहाँ परंपरा से उनका संबंध रहा है[4]।"

श्री ग्राउस ने यहाँ भूल की है। उस प्रकार की लीलाएँ ब्रज में ब्रज–यात्रा के अवसर पर होती रही हैं, न कि जन्माष्टमी के अवसर पर। ब्रज–यात्रा जन्माष्टमी से १५–२० दिन बाद आरंभ होती है और प्रायः ४० दिनों तक चलती है। उस काल में यात्रा जिन बनों में जाती है, वहाँ उनसे संबंधित लीलाओं का रास हुआ करता है। श्री ग्राउस की भूल का कारण कदाचित यह है कि उन्होंने केवल एक बार ही रास लीला ब्रज के संकेत नामक स्थान पर देखी थी।

---

(१) रास लीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ), पृ० ७१४

(२) वही ,, ,, ,,), पृ० ७१५

(३) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, (तृ० सं०) पृ० ७९

(४) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० सं०), पृ० ८०

रास और नैतिकता—

नैतिकता के प्रति शंका और उसका समाधान—श्रीमद् भागवत की रास पंचाध्यायी में ब्रज की गोपियों की रासोन्मुखी भावना को व्यक्त करते हुए बतलाया गया है, जिस समय वे कृष्ण की वंशी का मोहक नाद सुन कर उनसे मिलने को अधीरता पूर्वक दौड़ी हुई गई थीं; उस समय श्री कृष्ण के प्रति उनका भगवद् भाव नहीं था, वरन् जार भाव था। वे वासनामयी भावना को लेकर शरद की रात्रि में ब्रज के एकांत बनस्थल में गई थीं और श्री कृष्ण ने उनकी इच्छानुसार उनके साथ रास–क्रीड़ा की थी। इससे जन साधारण को यह शंका होना स्वाभाविक है कि इस प्रसंग में नैतिकता का अभाव है। यह तो वासनापूर्ण और कामोत्पादक केलि–क्रीड़ा जान पड़ती है। श्री कृष्ण जैसे अवतारी पुरुष ने वह अनुचित कर्म क्यों किया ?

इस प्रकार की शंका परीक्षित जैसे मुमुक्षु जन को भी हुई थी। उसका समाधान करते हुए श्री शुकदेव जी कहा था—''भगवान् से किसी प्रकार का दृढ़ संबंध होने पर उस व्यक्ति की वृत्तियाँ भगवन्मयी हो जाती हैं। वह संबंध चाहें जैसा हो,—काम का हो, क्रोध का हो, भय का हो अथवा स्नेह का हो; उसी से उसे भगवान् की प्राप्ति होती है[1] ।'' कृष्णोपासक विभिन्न संप्रदायों के आचार्यों और भक्त महानुभावों ने अपनी–अपनी उपासना–भक्ति के अनुसार रास की विविध प्रकार से व्याख्या की है; किंतु उसे नैतिकता रहित और लौकिक काम-वासना पूर्ण किसी ने नहीं माना है। उन्होंने अपनी–अपनी मान्यता के अनुसार इसे ज्ञान, योग, कर्म, भक्ति और अध्यात्म के उच्च धरातल पर आसीन कर इसका गुणानुवाद किया है।

रास की धार्मिक भावना—बल्लभाचार्य जी ने रास पंचाध्यायी की 'सुबोधिनी' नामक व्याख्या में बतलाया है, कृष्ण–गोपियों की उस रास लीला में काम की समस्त चेष्टाओं के होने पर भी उसमें ''काम'' नहीं है। गोपियों के लौकिक काम की निवृत्ति और अलौकिक काम की पूर्ति निष्काम कृष्ण द्वारा हुई थी। यदि लौकिक काम से काम की पूर्ति होती, तो उससे संसार उत्पन्न होता; किंतु उससे तो गोपियाँ निष्काम होकर संसार से निवृत्त हो गई थीं। अतः उसके द्वारा किसी प्रकार मर्यादा भंग नहीं हुई; बल्कि वह प्रसंग गोपियों की मुक्ति का साधन बन गया था[2] । इसीलिए भागवत में रास पंचाध्यायी का माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है, ''ब्रज–बालाओं के साथ की हुई इस क्रीड़ा का जो व्यक्ति श्रद्धा पूर्वक श्रवण या कीर्तन करेगा, वह भगवान् की परा भक्ति प्राप्त करेगा और उसे मानसिक काम रोग से भी शीघ्र ही मुक्ति मिल जावेगी[3] ।''

---

(१) भागवत (गीता प्रेस), पृ० ७३६

(२) क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते ।
तासां कामस्य सम्पूर्ति निष्कामेति तास्तथा ॥

कामेन पूरितः कामः निष्कामः संसारं जनेयत्स्फुरम् ।
कामभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥
अतोन कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ॥ (सुबोधिनी)

(३) विक्रीड़ितं ब्रजबधूमिरिदं च विष्णोः, श्रद्धान्वितो नुपुणुयादय वर्णयेच्च ।
भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृद्रोगमाश्व पहिनोत्यचिरेण धीरः ॥
—भागवत, दशम स्कंध, अध्याय ३३, श्लोक ४०

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भागवत में रास को काम की निवृत्ति का साधन माना गया है, न कि कामोत्पादक केलि–क्रीड़ा। इसीलिए इसे "कामजयी लीला" और श्रीमद् भागवत को "परम हंस संहिता" कहा गया है। सगुणोपासक वैष्णव भक्त ही नहीं, वरन् विरक्त संन्यासी और निर्गुणिया संतों का भी रास के प्रति सदैव यही दृष्टिकोण रहा है। हरिदासी संप्रदाय के श्री भगवत-रसिक जी ने ब्रज के भक्ति-तत्व की प्राप्ति के लिए साधक को क्रमशः छह अवस्थाओं को पार करना आवश्यक बतलाया है। उनमें से चौथी अवस्था वैराग्य वृत्ति और पाँचवीं देहानुसंधान की विस्मृति होने पर ही छटी अवस्था 'रास की भावना' संभव कही गई है—"चौथै होय विरक्त, बसै बनराज जसीलौ। पाँचै भूलै देह निज, छटै भावना रास की।"

वर्तमान विद्वानों का दृष्टिकोण—आजकल के अनेक विद्वान भी रास की उच्च धार्मिक भावना के संबंध में पूरी तरह से आश्वस्त हैं। वे इसे ब्रज के आध्यात्मिक भक्ति–तत्व का प्रतीक मानते हैं। डा० मुंशीराम शर्मा ने रास की आध्यात्मिकता का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है,—"कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं, जो वंशी–ध्वनि से—आदि संगीत स्वरों से, गोपियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एक मन, एक प्राण होकर अंतरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती हैं, वैसे ही गोपियाँ वंशी-ध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। इसके पश्चात् रास-लीला का नृत्य आता है, जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों को कृष्ण-सामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहमन्यता का स्फुरण करता है; अतः पूर्ण मग्नता की दशा नहीं आ पाती। आत्म-प्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे ही कृष्ण रूपी आत्म-ज्योति अंतर्हित होती है, आत्म-मग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहंकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य-प्राप्ति के लिए इसीलिए आवश्यक मानी गई है। अहंकार के नष्ट होते ही, पार्थक्य के समस्त बंधन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनोवृत्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं, गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं। यही है आत्मा का पूर्णानंद में लीन होना। भारतीय संस्कृति का यही चरम लक्ष्य है[१]।"

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने रास लीला का प्रयोजन जीवों का कल्याण बतलाते हुए कहा है—"सांसारिक जीव श्रृंगार और प्रेम के पथ पर चलता हुआ केवल 'काम' में ही अपने भोग-विलास की इतिश्री समझ बैठता है, जिसके परिणाम स्वरूप संसार के आवागमन के बंधन में पुनः-पुनः फँसना होता है। इस लीला द्वारा वह काम-विजय की भावना पोषित करके काम-जय रूप फल को प्राप्त करता है। श्री कृष्ण और गोपीगण के उत्कृष्ट प्रेम को अपने लिए उपास्य मान कर चलने से काम-जय रूप फल-प्राप्ति संभव है[२]।"

जिन विदेशी विद्वानों ने रास लीला को देखा था, वे उसकी उच्च कोटि की धार्मिकता के प्रति अत्यंत आकृष्ट हुए थे। उन्हें इसमें नैतिकता का कोई अभाव नहीं ज्ञात हुआ। श्री ग्राउस ने इसके संबंध में लिखा है—"रास का दृश्य अत्यंत मनोहर था। उसकी प्रेम-लीला में भी शालीनता की कोई कमी दिखाई नहीं दी[३]।"

---

(१) **भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० २०८**

(२) **रासलीला का स्वरूप और महत्व,** (रास लीला : एक परिचय) पृ० ६१

(३) **मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर,** (तृ० सं०) पृ० ८०

रास का प्राचीन रूप–विधान—

हल्लीशक और रास—हरिवंश में वर्णित **'रास–क्रीड़ा'** और **'हल्लीशक नृत्य'** तथा भागवतादि पुराणों और जैन ग्रंथों में कथित **'रास'** के रूप–विधान का कुछ आभास उक्त रचनाओं में मिलता है। भरत मुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' में रासक रूपक का जो भेद **'मंडल रासक'** बतलाया गया है, वह हरिवंश के हल्लीशक और पुराणों के रास की कोटि का समझा जा सकता है; किंतु उन दोनों के रूप–विधान में एक भेद भी दिखलाई देता है। 'हल्लीशक' पुरुष और स्त्रियों का सम्मिलित नृत्य था; जब कि 'रास' में प्रायः स्त्रियाँ ही नृत्य करती थीं। यह भेद उनकी परिभाषाओं और उनके उल्लेखों से भी स्पष्ट होता है।

'हल्लीशक' की परिभाषा में कहा गया है, उसमें अनेक नर्तकियाँ एक नर्तक के साथ मंडल या घेरा बाँध कर नृत्य करती हैं[1]। उसके वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि उसमें भाग लेने वाले स्त्री-पुरुषों के जोड़े दो–दो स्त्रियों के बीच एक–एक पुरुष अथवा दो-दो पुरुषों के बीच में एक-एक स्त्री के क्रम से घेरा बाँध कर नृत्य करते थे। भारतीय चित्रकला में 'हल्लीशक' के दो प्राचीन नमूने मिलते हैं,—एक अजंता की गुफा में है और दूसरा मध्य प्रदेश के बाघ नामक स्थान की गुफा में। उनमें से पहिले का चित्रण गुप्त काल (लगभग ५वीं शती) का है और दूसरे का उत्तर गुप्तकाल (लगभग छटी शती) का दोनों में एक-एक युवक को अनेक युवतियों के साथ नृत्य करते हुए दिखलाया गया है।

श्रीधर स्वामी कृत भागवत टीका में 'रास' की परिभाषा करते हुए कहा गया है, अनेक नर्तकियों के नृत्य विशेष को 'रास' कहते हैं[2]। भागवतादि पुराणों में जिस 'रास' का उल्लेख है, उसमें गोपियों ने ही नृत्य किया था; गोपों का उसमें कोई योग नहीं था। पुरुष के नाम पर केवल बालक कृष्ण ही उसमें सम्मिलित हुए थे। पुरुषों का तो उसमें यहाँ तक निषेध मालूम होता है कि शिवजी को भी उसे देखने के लिए गोपी का छद्म वेश धारण करना पड़ा था। रास में भाग लेने वाली गोपियाँ कंकण, किंकिनि और नूपुर आदि बजने वाले आभूषण पहने हुई थीं, जिनका कल रव नृत्य की पद–ध्वनि के साथ गुंजायमान होता था। नृत्य में वीणा, वेणु, ताल और मृदंग का वादन तथा विविध गीतों का स्वर, ताल और लय के साथ गायन होता था और उनमें वर्णित विषय का अभिनय भी किया जाता था।

जैनियों का रास—जैन धर्मावलंबी स्त्री–पुरुष जैन मंदिरों में एकत्र होकर तालियाँ बजाते हुए रास का गायन किया किया करते थे। उस अवसर पर जैन मुनियों के चरित्रों का अभिनय भी किया जाता था। पहिले उस प्रसंग में नृत्य भी होते थे; किंतु उनके द्वारा सदाचार के भंग होने की आशंका जान पड़ने पर, वे बाद में बंद कर दिये गये थे। इस प्रकार जैनियों के रास की भावना पुराणादि में वर्णित रास के समान नहीं थी। जैनियों के रास-ग्रंथ भी भागवत की रास पंचाध्यायी से भिन्न थे। इसलिए जैन धर्मावलंवियों में प्रचलित रास का रूप-विधान वैष्णव संप्रदायों द्वारा रास के प्रचलन में अधिक सहायक नहीं हुआ था।

---

(१) नर्तकीभिरनेककामि मंडलेविचारिष्णुभिः ।
यत्रैको नृत्यति नरस्तद्वै हल्लीशकं विदुः ॥

(२) रासो नाम वहु नर्तकीयुक्ते नृत्य विशेषः ।

रूप–विधान की प्रेरणा और उसके मध्य कालीन उल्लेख—

पूर्वोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि कृष्णोपासक धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों ने ब्रज में जिस रास का प्रचलन किया था, उसके रूप–विधान की प्रेरणा उन्होंने न तो हरिवंश के 'हल्लीशक' से ली थी और न पूरी तरह जैनियों के 'रास' से ही प्राप्त की थी। उन्होंने 'गर्ग संहिता' तथा जयदेव और विद्यापति की रचनाओं में कथित 'वसंत रास' को भी अपना आधार नहीं बनाया था। वे भागवत की रास पंचाध्यायी के 'शरद रास' को अपना आदर्श मान कर 'रास लीला' के रूप–विधान का प्रचार करने को प्रवृत्त हुए थे।

नरसी मेहता का उल्लेख—जिस काल में ब्रज के भक्त महानुभाव कृष्ण–भक्ति के प्रचार–प्रसार के लिए रास के रूप–विधान का संयोजन कर रहे थे; उसी काल में गुजरात के भक्त-कवि नरसी मेहता भी कृष्ण–भक्ति के प्रचार में दत्तचित्त थे। 'भक्तमाल' की प्रियादास कृत 'भक्ति रस बोधिनी' टीका में बतलाया गया है कि शिव जी के वरदान से नरसी मेहता को श्री राधा–कृष्ण के नित्य रास का दर्शन दिव्य वृंदाबन में करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने देखा—"हीरों से जड़े हुए दिव्य रास मंडल पर अनेक सखियों के साथ दोनों प्रिया–प्रियतम गान–तान द्वारा नृत्य कर रहे हैं। उनके रूप के प्रकाश से चंद्रमा की चाँदनी फीकी पड़ रही है। श्री कृष्ण हाथों से तालियाँ बजा-बजा कर ताल दे रहे हैं और सुंदर गति ले रहे हैं। उनकी गर्दन की झुकन, हाथों की उँगलियों की मुद्राएँ तथा मुख से मधुर स्वर का गायन देखते और सुनते ही बनता था। उस समय मुहचंग के साथ जो मृदंग बज रहा था, उसके कारण उनके अंग-अंग से मानो छवि की तरंगें उठ रही थीं[1]।"

उपर्युक्त वर्णन दिव्य रास का है; किंतु उससे तत्कालीन रास के रूप–विधान और उसकी नृत्य-शैली पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। उससे ज्ञात होता है, रास में जो नृत्य, गायन और वादन होता था, वह ताल–स्वर युक्त अत्यंत उच्च कोटि का था। वाद्य यंत्रों के रूप में मृदंग और मुहचंग का उपयोग किया जाता था।

विदेशी दर्शकों के उल्लेख—अब से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहिले जब यहाँ अंगरेजों का राज्य था, तब कुछ विदेशी शासनाधिकारियों ने भी रास को देखा था। उन्होंने उसका जो वृत्तांत लिखा है, उससे उस काल की रास-पद्धति और उसके रूप–विधान पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

जेम्स टाड का कथन—जैसा पहिले लिखा गया है, टाड साहब दौलतराव सिंधिया के दरबार में अंगरेजी शासन के प्रतिनिधि के रूप में दस वर्ष तक रहे थे। उन्होंने जन्माष्टमी के अवसर पर देखे हुए एक रासोत्सव के संबंध में लिखा है—"उन पात्रों के, जो कृष्ण तथा उनके सखाओं

---

(१) **हीरनि खचित रासमंडल नँचत दोऊ, रचित अपार नृत्त-गान-तान न्यारियै।**
रूप उजियारी चंद-चाँदनी न सम ताकी, देत कर-तारी लाल गति लेत प्यारियै॥
ग्रीव की ढुरनि, कर–आँगुरी मुरनि, मुख मधुर सुरनि, सुनि स्रवन तयारियै।
बजत मृदंग मुहचंग संग, अंग-अंग उठति तरंग, रंग छवि की जियारियै॥
— नाभा जी कृत छप्पय सं० १०८ पर प्रियादास जी का कवित्त सं० ४३२

और सखियों का अभिनय करते हैं, भाव गीत अत्यंत प्रभावपूर्ण होते हैं। उनके कथोपकथन अत्यंत हृदयस्पर्शी होते हैं। इन गायक-अभिनेताओं की करुणार्द्र स्वर-लहरियों में जब भक्त-हृदयों का आनंद-रस सम्मिलित हो जाता है, तो मुरली के स्वर में यह राग अत्यंत आह्लादकारी प्रतीत होता है। ··· रासधारियों का संगीत और नृत्य दोनों ही साधारण कलाकारों से उत्कृष्ट था। उनके हाव-भाव आकर्षक थे और उनका स्वर स्वाभाविकता का अतिक्रमण नहीं करता था। उनका परिधान रुचिपूर्ण और समुचित था—विशेष रूप से कन्हैया, जिनके सिर पर सूर्यकांत मणि थी और गले में रत्नों की माला थी, अत्यंत भव्य लग रहे थे। वे समस्त वस्त्र जो कन्हैया और अन्य पात्र पहने हुए थे, महाराजा के भंडार से प्रदत्त थे। नृत्य के उपरांत कृष्ण की प्रमुखतम लीलाओं का प्रदर्शन हुआ और यह प्रदर्शन इतना सफल और संयत हुआ कि इतने छोटे बालकों में वैसी कला आश्चर्य की वस्तु जान पड़ी। रासधारियों के साथ जितने वादक थे और बालक थे—सभी ब्राह्मण थे और यह अत्यंत आनंद का विषय था कि रास समाप्त होने के उपरांत उनमें से प्रत्येक राजा के सन्मुख विनत होने के स्थान पर एक-एक करके महाराज के सामने आया—और अपने छोटे-छोटे हाथ उठा कर राजा को आशीर्वाद देने लगा। महाराज आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए उनके सन्मुख विनत हुए[1]।"

टामस डुएट ब्रोटन का कथन—रास लीला के दूसरे विदेशी दर्शक ब्रोटन साहब थे, जो माधव जी सिंधिया के शिविर में ब्रिटिश रेजीडेन्सी के प्रधान अंग रक्षक रहे थे। उन्होंने ३० अगस्त सन् १८०९ के एक पत्र में उस रासोत्सव का उल्लेख किया है, जिसे उन्होंने सिंधिया दरबार में देखा था। रास के मंच के संबंध में उनका कथन है—"जिस शामियाने में हमें बिठाया गया था, वह १५० फीट लंबा था। वह तीन भागों में विभाजित था, बांसों और बल्लियों पर रंगीन कागज चढ़ा कर एक बाढ़ खड़ी कर दी गई थी, जिन पर दीपक जल रहे थे। सामने दो फीट ऊँचा रंगमंच था। इसके स्तंभ और शिविकाएँ भली प्रकार चित्र-वेष्ठित थीं; इसे सिंहासन कहते हैं। इसके मध्य में फूलडोल था। फूलडोल में पुष्प, हीरक रत्न और बहुमूल्य मणियाँ सुसज्जित थीं। पुष्प-गुच्छ, पुष्प-मालाएँ फूलडोल में विहँसते हुए बालगोविंद को ढकेल रहीं थीं। पंडितों, ब्राह्मणों का समुदाय अर्चना कर रहा था। कुछ व्यक्ति पंखा खींच रहे थे। शामियाने का मध्य भाग नर्तकों के लिए छोड़ दिया गया था। शेष दोनों ओर का स्थल दर्शकों से परिपूर्ण था[2]।"

श्री ब्रोटन ने रास करने वाले बालकों, गायकों और वादकों तथा उनकी रास-पद्धति के संबंध में लिखा है—"वे प्रायः किशोर होते हैं, ब्राह्मण होते हैं। वे मथुरा में रास संबंधी शिक्षा पाते हैं, जहाँ एक बड़ा भू-भाग उनकी आजीविका का साधन है। इस ऋतु में वे देश के विभिन्न भागों के हिंदू राजाओं के दरबारों में रास करने के लिए निकल पड़ते हैं। गायकों के अतिरिक्त चार अभिनेता भी हैं और सब सुंदर बदन हैं[3]।" "····एक या दो नृत्य होने के उपरांत रासधारी जो सामने की ओर एक ऊँचे मंच पर बैठे थे और जिनके चारों ओर चोबदारों, चौरीवर्दारों तथा अन्य सेवकों का समूह था—आगे-आगे उनमें जो तरुण किशोर था, वह कन्हैया के स्वरूप में था। सबसे छोटा

---

(१) रास लीला के विदेशी दर्शक, (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ), पृ० ७१३–७१५

(२) वही, (,,), पृ० ७१४

(३) वही, (,,), पृ० ७१४

किशोर कन्हैया की प्रेयसी—राधिका बना था। रास 'बैलेट' (समूह नृत्य) के समान हुआ, इसमें प्रेम की भावना और चांचल्य का प्रादुर्भाव था, किंतु सब कुछ रोचक और दिव्य था; गोपियों के साथ—गोकुल की बालाओं के साथ—भाषा में, जो ब्रज-प्रांत में बोली जाती है—गायन हुआ[१] ।''

श्री ब्रोटन ने उक्त रासोत्सव का शाब्दिक वृत्तांत ही नहीं लिखा, बल्कि उसका एक तैल-चित्र भी बनाया था, जो अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। उस चित्र में उस काल के रासोत्सव की बड़ी भव्य झाँकी दिखलाई देती है। उसमें दिखलाया गया है,—"शामियाने के मध्य में कृष्ण और गोपियाँ नृत्य कर रही हैं, उनके वस्त्र वैसे ही हैं, जैसे आज भी ब्रज की रास लीला में प्रचलित हैं। उनके बाईं ओर संगीत-समाज सुशोभित है। उसमें कुछ गायक ऐसे वाद्य बजाते हैं, जिनका प्रचलन अब नहीं रहा है। दाईं ओर महाराजा अपने सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके निकट उनके शरीर-रक्षक खड़े हैं और विशेष अतिथि बैठे हुए हैं[२] ।''

ग्राउस का कथन—रास लीला के तीसरे विदेशी दर्शक श्री एफ० एस० ग्राउस थे, जो सन् १८७२ से १८७७ तक मथुरा के जिलाधीश रहे थे। उससे पहिले वे कुछ समय तक ज्वाइंट मजिस्ट्रेट भी रह चुके थे। वहाँ के संस्मरणों से संबंधित उन्होंने अपना जो विख्यात ग्रंथ लिखा था, उसमें उन्होंने रास और रासधारियों के संबंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"रास लीला एक अलिखित धार्मिक रूपक है, जिसमें श्री कृष्ण के जीवन की सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं, जो मध्यकालीन यूरोप के चमत्कारिक नाटकों से बहुत कुछ मिलती हैं। उन प्रदर्शनों का आयोजन मथुरा जिला के करहला और पिसाया गाँवों में रहने वाले ब्राह्मणों के एक वर्ग द्वारा किया जाता है, जो 'रासधारी' कहलाते हैं। उनकी जीविका का आधार रास लीला के अतिरिक्त और दूसरा नहीं होता है[३] ।''

श्री ग्राउस ने रास लीला के प्रदर्शन से संबंधित कुछ भ्रमात्मक कथन भी किया है। उन्होंने लिखा है—"रास मंडली का स्वामी और उसके साथी गायक और वादक गण रास के प्रदर्शन में सामूहिक रूप से भाग लेते हुए स्वयं वार्ता भी करते हैं, जब कि राधा और कृष्ण के स्वरूप बनने वाले बालक केवल मूक अभिनय ही करते हैं[४] ।'' कहने की आवश्यकता नहीं है, श्री ग्राउस का उक्त कथन ठीक नहीं है। रास मंडली का स्वामी और उसके साथी गण अधिकतर गायन-वादन ही करते हैं, जब कि स्वरूप बनने वाले बालक स्वयं ही कथोपकथन, वार्ता और अभिनय करते हैं। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उनकी भूल का कारण कदाचित यह है कि उन्होंने केवल एक बार ब्रज के संकेत नामक स्थान पर कुछ समय के लिए विवाह-लीला का रास देखा था। उस समय प्रसंग वश राधा-कृष्ण के स्वरूपों की बजाय रास मंडली वाले ही वार्ता कर रहे होंगे। इस प्रकार की भूल टाड और ब्रोटन ने नहीं की है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि राधा-कृष्ण के स्वरूप स्वयं कथोपकथनपूर्ण अभिनय करते थे।

---

(१) **रासलीला के विदेशी दर्शक,** (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ), पृ० ७१४-७१५
(२) **वही** (,,), पृ० ७१४
(३) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर** (तृ० सं०), पृ० ७९
(४) **वही** (,,), पृ० ८०

नारविन हवेन का कथन—उक्त तीनों विदेशी दर्शकों के रास लीला संबंधी उल्लेखों की समीक्षा करते हुए येन विश्वविद्यालय (अमरीका) के प्राध्यापक श्री नारविन हईन हवेन ने लिखा है—"इन तीनों लेखकों की कृतियों का मूल्य इस बात में नहीं है कि वे किसी सत्य का उद्घाटन करते हैं, वरन् वे हमारे ध्यान को मथुरा प्रांत की इस अपूर्व नाट्य कला की ओर आर्कषित करते हैं, जो परंपरा से वहाँ चली आ रही है और कला की दृष्टि से जिसका परम मूल्य है। वे लेखक अत्यंत विद्वान् और प्रतिभाशाली मनुष्य थे । उनका कथन प्रभाव पूर्ण है । उन तीनों ने रास लीला की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है । जिन लीलाओं को उन्होंने देखा, वे सांगोपांग उन्हें अच्छी लगीं । वस्त्र–परिधान के विषय में वे लिखते हैं, 'वे अत्यंत आकर्षक, रंग-बिरंगी और सुंदर थे । मंडली का प्रत्येक पात्र अपना अभिनय सफलता से और प्रवाह-पूर्ण रीति से करता था ।' रासधारियों के संगीत पर तो हमारे लेखक मुग्ध थे । हम जानते हैं कि विदेशियों के लिए किसी देश का सुंदर से सुंदर और भाव-पूर्ण संगीत भी कोई अर्थ नहीं रखता । वह उसका आनंद उपलब्ध नहीं कर सकते और न अपने शब्दों में उसके स्वाद को व्यक्त कर सकते हैं । विदेशी संगीत सदैव प्रशंसा और श्रद्धा से वंचित रहता है, किंतु रास लीला को इसका गर्व है । इन लेखकों ने उसके संगीत की प्रशंसा में कहा है कि 'रासधारियों का स्वर कोमल है, मजा हुआ है और आकर्षक है !' मुझे यह और कहने का साहस है कि इन लेखकों ने ऐसा लिख कर कोई अतिशयोक्ति अथवा भूल नहीं की है—नहीं इससे भी अधिक यह कहना आवश्यक है—'बालक अभिनेताओं के कथोपकथन अत्यंत शुद्ध और पूर्ण होते थे वे भाव के शुद्ध वाहक थे । जिस स्वाभाविक उत्साह से वे बालक अभिनय करते थे—वार्तालाप करते थे, उसमें उन बालकों के शिक्षकों का धैर्य और प्रतिभा परिलक्षित होती थी और अंत में यह भी कह देना अनुचित नहीं है कि यद्यपि ये लीलाएँ, अतीव भक्ति पूर्ण हैं, तथापि इनमें आनंद और प्रमोद का पर्याप्त अवकाश है ।' अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदू जाति की कला और कलात्मक जीवन दोनों निम्न स्तर पर थे । विद्वद्वर्ग भी अपने प्राचीन साहित्य को भूल गया था । सामान्य जीवन में प्राचीन कलाओं का कोई सूत्र तत्संबंधित नहीं था । जन–रुचि कुंठित हो गई थी, किंतु ऐसे समय भी रास लीला ने जनता से सन्मान और श्रद्धा प्राप्त की थी[१] ।"

रास लीला का वर्तमान रूप–विधान—

रास के पूर्वोक्त उल्लेखों से उसके वर्तमान स्वरूप की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि उसके रूप–विधान में तब से अब तक कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है; यद्यपि उसका स्तर गिर गया है । इस समय रास लीला का प्रदर्शन दो खंडों में किया जाता है; जिन्हें **'नित्य रास'** और **'लीला'** कहा जाता है । 'नित्य रास' को नृत्य की और 'लीला' को संगीत-नाट्य की श्रेणी में रखा जा सकता है । यहाँ इन दोनों के वर्तमान स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला जाता है ।

'नित्य रास' का नृत्य-विधान—नित्य रास के अंतर्गत किये जाने वाले नृत्य के विधान अथवा उसकी शैली का कोई प्राचीन लिखित विवरण उपलब्ध नहीं है । रासधारियों के पुराने घरानों में इसे परंपरा से मौखिक रूप में सुरक्षित रखा गया है । रास मंडली के 'स्वामी' रास के स्वरूप बनने वाले बालकों को बचपन से ही इसकी शिक्षा देते हैं । श्री सूर्यप्रकाश शर्मा ने

---

[१] **रास लीला के विदेशी दर्शक** (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ७१६)

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

ब्रज के रासधारी श्री लक्ष्मण स्वामी की सहायता से इसे लिखित रूप में प्रकाशित किया था[1]। तत्पश्चात् श्री गोकुलचंद स्वामी ने उसी को कुछ परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है[2]। हम यहाँ पर उसका कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

"आरंभिक गीत के समाप्त होने पर श्री राधा–कृष्ण के स्वरूप परस्पर गलबहियाँ डाले रास मंडल पर नृत्य करने को उद्यत होते हैं। साथ में सखियाँ भीउठ खड़ी होती हैं। श्री जी (राधा) और ठाकुर जी (कृष्ण) आमने–सामने रहते हैं और सखियाँ बीच में। रास मंडली के स्वामी जी अपने परिकर के साथ गान–वाद्य आरंभ करते हैं और उसी की ताल पर नृत्य भी आरंभ हो जाता है। पहिले श्री जी, ठाकुर जी तथा सखी गण कुछ नहीं गाते; केवल नृत्य करते रहते हैं। वे मंडलाकार चलते हैं और हाथों को फैलाए हुए पग ताल देते जाते हैं। उस समय समाजी पद गाते हैं। एक पद इस प्रकार है—

नाँचत रास में रास-बिहारी। नँचवत हैं ब्रज की सब नारी।
तादीम-तादीम तत-तत थेई-थेई, थुंगन-थुंगन देत गति न्यारी ।।

इस गीत को पहले विलंबित लय में गाते हैं फिर दुगन में। दुगन ताल होते ही श्री ठाकुर जी, श्री जी तथा सखीवृंद एक दम पैरों की ताल को बढ़ा कर चक्कर खाना आरंभ कर देते हैं। चार या पाँच चक्कर खाकर सब नियमानुसार (श्री जी के सामने ठाकुरजी, बीच-बीच में सखियाँ) घुटनों के बल बैठ जाते हैं और वाद्यों की ताल के अनुसार हाथों को कई प्रकार से नँचा-नँचा कर भाव-प्रदर्शन करते हैं। संग में मुख, कमर आदि अंगों से भी भाव-नाट्य करते हैं, फिर सब एक पंक्ति में खड़े हो जाते हैं। श्री ठाकुर जी के बाँई ओर श्री जी तथा दोनों ओर सखियाँ रहती हैं। इसके पश्चात् निम्नलिखित तालों पर ठाकुरजी, श्री जी तथा सखी अलग-अलग नाँचते हैं। पहले ठाकुर जी, फिर श्री जी और अंत में एक-एक या दो-दो सखियाँ। सबसे पहले पुराने गीत को ही, जिसकी ताल दुगन के स्थान पर अब चौगुनी कर देते हैं, स्वामी जी इस प्रकार गाते हैं—

"तततता थेई तततता थेई तततता थेई।"

इसके बोलते ही श्री ठाकुर जी पग-ताल देते हुए पंक्ति से निकल पड़ते हैं और लगभग चार-पाँच डग आगे फिर कर श्रीजी की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। वे वाद्य पर पग-ताल देते, कूदते और फुदकते हैं। हाथों से वे स्वामी जी द्वारा गाए जाने वाले निम्नलिखित गीत पर नृत्य करते हैं। श्री कृष्ण के नृत्य का परमूल निम्न है—

तिटक तिटक धिलांग, धिकतक, तोदीम धिलांग, तकतो।
ता धिलांग, धिग धिलांग, धिकतक, तोदीम तोदीम, धेताम धेताम ।।
धिलांग धिलांग धिलंग, तक गदगिन थेई। तततता थेई, तततता थेई, तत तता थेई ।।

श्री कृष्ण के उपरांत राधिका जी नृत्य करती हैं। उनका परमूल इस प्रकार है—

तात् त्रंग, थुन थुन तो, धिकत् त्रंग, थुन थुन तो।
ता थुन थुन, धिक थुन थुन, धिक तक, थुंग थुंग तक ।।
थुंग थुंग तक, थुंग थुंग थुंग तक गदगिन थेई। तततता थेई, तततता थेई, तततता थेई ।।

---

(१) **ब्रज भारती,** (वर्ष १४, अंक २—भाद्रपद सं० २०१३

(२) **रासलीला : एक परिचय,** (पृ० ६५–७१)

फिर श्री जी अपने स्थान पर जाकर खड़ी हो जाती हैं और सखियाँ एक-एक करके पग ताल देती हुई नृत्य करती हैं और उसी प्रकार ४–५ डग चल कर घूम कर श्री जी तथा ठाकुर जी की ओर मुँह करके नीचे वाले गीत पर हाथों के भाव के साथ कुदक–कुदक कर नृत्य करने लगती हैं। उनके नृत्य का परमूल यह है—

तत्तुक दम, धिरकिट तक, तिरकिट, नगं नगं, तू तू त्रान तो।
तत्तुक दम, धिरकिट तक, तिरकिट, नगं नगं, तू तू त्रान तो ।।
ता त्रिग, ता ता त्रिग, तत्थुगं थुगं, तत्थुगं थुगं, थुंग थुंग थुंग तक, गदगिन थेई।
तततता थेई, तततता थेई, तततता थेई ।।

उक्त परमूल श्री कृष्ण के मुख्य नृत्य के हैं। इन परमूलों के बोले जाने पर अपनी पंक्ति के समीप पहुँचते हुए श्री ठाकुर जी पीठ की ओर फिर पगताल देते हुए उलटा चल कर अपने स्थान पर, (पंक्ति से ४–५ कदम हट कर) फिर आ जाते हैं और उक्त बोलों पर एक घुटने के बल बैठ कर हाथों के भाव तीन बार दिखाते हैं। श्री कृष्ण के नृत्य के बाद सभी स्वरूप निम्न परमूलों पर सामूहिक नृत्य करते हैं—

थेई थेई थेई थेई थेई, तत्त थेई थेई। थेई थेई थेई थेई थेई थेई थेई ता ।।

उक्त परमूल की अंतिम पंक्ति पर 'ता' बोलते ही सब सिंहासन पर जाकर विराज जाते हैं। यह हुआ 'नित्य-रास' का प्रथम भाग। उसके उपरांत इसका दूसरा भाग आरंभ होता है, जिसमें नृत्य के साथ गायन भी होता है। ठाकुर जी के विराज जाने पर स्वामी जी **'नाँचत रास में रास बिहारी'** जैसा कोई पद बोलते हैं। उसको सुनते ही श्री ठाकुर जी चुपचाप नीचे उतर ४–५ पग आकर घूम कर श्री जी की ओर मुँह करके हौले–हौले कदम रखते हुए चलते हैं। सिंहासन पर श्री जी के सामने खड़े होकर उनका शृंगार ठीक करते हैं—मुकुट, साड़ी, माला, कुंडल इत्यादि सँभालने लगते हैं। फिर गीत समाप्त होने पर श्री जी को हाथ जोड़ कर अपने स्थान पर बैठ जाते हैं।

उसके पश्चात् श्री ठाकुर जी श्री जी तथा सखीवृंद को विश्राम देने के अर्थ स्वामी जी तथा रास के वाद्य-वादक बारी-बारी से भक्ति रस के दोहे, पद, सवैया, कवित्त आदि बोलते हैं। थोड़े से विश्राम के पश्चात् जब सब गा चुकते हैं, तब स्वामी जी **'तततता थेई'** बोलते हैं। इसे सुनते ही सभी स्वरूप सिंहासन से नीचे आ जाते हैं, और तब रास का सामूहिक गायन और उसके साथ नृत्य आरंभ होता है। रास का वाद्य-वृंद स्वरूपों की संगति करता है और कभी-कभी समाजी लोग स्वरूपों के गीत के साथ-साथ स्वयं भी गाते हैं। इसी समय कभी-कभी डंडों पर भी नृत्य व गायन होता है। कभी वेणी गूँथने का नृत्य होता है, कभी श्री कृष्ण और राधा जी नाँचते हैं, कभी सखियाँ भी मिल कर नाँचती हैं। इनके न्यारे-न्यारे गीत हैं।

राधा और कृष्ण के युगल नृत्य का एक पद इस प्रकार है। इस पद के गायन पर राधा-कृष्ण क्रम से नाँचते हैं और सखियाँ गायन करती हैं—

(श्री ठाकुर जी के नृत्य के समय)

नाँचै छबीलौ ब्रजराज छूम छन न न न न न न।
ना ता थेई, ता ता थेई, चरन चपल आली ।। नाँचै छबीलौ० ।।

(श्री राधिका जी के नृत्य के समय)

नाँचै छबीली राधिका, छूम छन न न न न न न ।
ता ता थेई, ता ता थेई, चरन चपल ग्राली ।। नाँचै छबीली० ।।

ग्रागे का यह भाग दोनों ही नृत्य के ग्रारंभिक बोलों के साथ क्रमशः दुहराया गया है—

सजनी रजनी सरद, सरद ऋतु ग्राज सुफल ग्राली ।। नाँचै० ।।

इसी प्रकार निम्न गीत सभी स्वरूप सामूहिक रूप से डंडा बजा कर गाते व गोलाकार नृत्य करते हैं—

ए घनश्याम सुंदर स्याम हमारौ प्यारौ री ।
प्रानन-प्यारो, छल-बल वारौ, नैनन की सेनन सों चितवा चुराय लियौ, जादू मोपै डारौ री ।
मोर–मुकुट माथे पै सोहै । कुंडल हलन चलन मन मोहै ।।
धा किट, धुम किट, तकिट तका । तक धुम किट, धुम किट तक धा ।।
लेत ग्रलापन प्यारौ री ।।

ग्रंत में ग्रब एक सामूहिक नृत्य का पद ग्रौर देखें । ऐसे गीतों में सभी—ठाकुर जी, श्री जी तथा सखी वृंद पंक्ति में खड़े होकर गाते हैं । पंक्ति में ही पग-ताल देते हुए तथा हाथों से भाव दर्शाते हुए कुछ दूर ४–५ कदम ग्रागे ग्राते हैं ग्रौर पग-ताल देते हुए ही पीछे हट कर फिर वहीं जा कर खड़े हो जाते हैं । गीत इस प्रकार है—

(हाँजी) रच्यौ रास-रंग, (हाँजी) रच्यौ रास-रंग, स्याम सबहिन सुख दीनों ।
मुरली-धुनि कर प्रकास, खग-मृग सुन रस उदास, युवतिन तज गेह-बास बनहि गबन कीनों ।।
मोहे सुर, ग्रसुर, नाग, मुनि-जन मन गये जाग, सिव, सारद नारदादि, थकित भये ग्यानी ।
ग्रमरागन, ग्रमर-नारि, ग्राईं लोकन बिसारि, ग्रोक लोक त्याग कहत धन्य-धन्य बानी ।।
थकित भयौ गति समीर, चंद्रमा भयौ ग्रधीर, तारागन लज्जित भये, मारग नहिं पावै ।
उलटि जमुना बहत धार, सुंदर तन सज सिंगार, 'सूरज' प्रभु संग नारि, कौतुक उपजावै ।।हाँजी।।

इस प्रकार रास का सभी संगीत ब्रजभाषा के प्राचीन 'वाणी साहित्य' की मूल्यवान निधि है । नृत्य ग्रौर गायन के इस क्रम के साथ 'लाड़िली लाल' की जय-घोष होती है ग्रौर नित्य-रास समाप्त होता है । 'नित्य-रास' के बाद फिर भगवान् की कोई ब्रज-लीला समयानुसार की जाती है । संक्षेप में यही 'नित्य-रास' की परिपाटी है[१] ।''

लीला का नाट्य-विधान—नित्य रास के पश्चात् होने वाले 'लीला' खंड में श्री कृष्ण की ब्रज–लीलाग्रों का ग्रभिनय किया जाता है । इन लीलाग्रों को 'संगीत–नाट्य' ग्रथवा 'गेय रूपक' कहना उचित होगा । इनका नाट्य–विधान किसी प्रकार की नाटकीय जटिलता से रहित एक दम सीधा–साधा है, जो ग्रपने धार्मिक परिवेश के कारण दर्शकों को सरलता से ग्राकृष्ट कर लेता है । इसका विस्तृत वर्णन करते हुए श्री सुरेश ग्रवस्थी ने लिखा है—

''इन लीला-नाटकों के कुछ छोटे-छोटे बड़े ही रोचक नियम हैं, जिनकी इनके साथ पूरी संगति है ग्रौर जिनमें बड़ी नाटकीय शक्ति निहित है ।

---

(१) **नित्य रास,** (रास लीला : एक परिचय, पृ० ६७–७१)

इनका कोई निर्मित, औपचारिक रंगमंच नहीं होता। दो तीन चौकी, कुर्सियाँ या तख्त डाल कर स्वरूपों के बैठने के लिए एक आसन बना दिया जाता है। उसके सामने का स्थान नाटक का अभिनय-क्षेत्र बन जाता है, उसी में सम धरातल पर 'समाजी' और दर्शक बैठ जाते हैं। लीलाओं के इस अनौपचारिक रंगमंच का विधान—मंदिरों के गर्भ-गृह और प्रांगणों से लेकर नदी किनारे के घाटों, फुलबगियों और गृहस्थों के आँगनों तथा बरामदों में कहीं भी किया जा सकता है। रंगमंच की इस अनौपचारिकता से ही इस नाटक के प्रदर्शन की युक्तियाँ, नियम और रूढ़ियाँ निकलती हैं। अभिनय–क्षेत्र में किसी प्रकार की रंज-सज्जा अथवा दृश्य–उपकरणों द्वारा उसे घटना-स्थल की विशिष्टि नहीं दी जाती; अतः घर से कुंज, अथवा कुंजों से यमुना तट, या गोकुल से मथुरा किसी प्रकार के स्थान–परिवर्तन में कोई कठिनाई नहीं होती और नाटक का सूत्र भी नहीं टूटता। पात्र सहज ही पद का गायन करते हुए स्थान अथवा प्रसंग के परिवर्त्तन की सूचना दे देते हैं। क्षण भर में घटनास्थल बदल जाता है और इससे दर्शकों की प्रतीति को भी कोई आघात नहीं पहुँचता।

लीला–नाटकों की रंगस्थली की इस अनौपचारिकता के कारण ही पात्र सहज भाव से नाटकीय स्थिति की आवश्यकतानुसार रंगस्थली में चले आते हैं और अपने संवादों का गायन करके तथा प्रसंग की एक कड़ी पूरी करके चले जाते हैं। नाटकों की कथाएँ परिचित होने के कारण ही पात्रों के पारस्परिक संबंधों और घटना-स्थल के संबंध में किसी प्रकार के परिचय और भूमिका की आवश्यकता नहीं पड़ती और इस रंगमंच के रूपगत स्वभाव के कारण ही ऐसा संभव होता है कि कथा–प्रसंगों की छोटी–छोटी कड़ियाँ एक दूसरे के बाद ऐसी निर्बाध गति से जुड़ जाती हैं कि वस्तु संरचना में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं आने पाती और न दर्शकों की ही प्रतीति खंडित होती है। कभी-कभी तो नयी नाटकीय स्थिति का समावेश सहसा ही कर दिया जाता है और क्षण भर में ही वह स्थिति नाटकीय-कथा के पूर्वापर से जुड़ जाती है।

रास-लीलाओं में जो एक साधारण पर्दे—किसी चादर या शाल का प्रयोग किया जाता है—उसकी भी कई तरह की नाटकीय उपयोगिताएँ हैं और कई प्रकार के अवसरों पर उसका प्रयोग होता है। कथकली नाटकों के समान ही रास–लीलाओं का पर्दा कोई भी दो रासधारी या समाजी या रसिक दर्शक हाथों में पकड़ कर आसन के सामने तान कर खड़े हो जाते हैं। कभी तो उसके पीछे अगले दृश्य के पात्र आकर खड़े हो जाते हैं, कभी झाँकी सजायी जाती है और कभी आगामी दृश्य सजाया जाता है। कभी-कभी पात्रों के प्रवेश प्रस्थान के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार पर्दे का प्रयोग नाटक के कथा–व्यापार के परिवर्त्तन को व्यक्त करने की एक बड़ी सहज युक्ति है। झाँकी सजाने और उसका प्रदर्शन करने के समय तो इस पर्दे की बहुत बड़ी नाटकीय उपयोगिता है। झाँकियों के अवसर पर ही प्रायः कृष्ण और राधा की रूप–वर्णना और उनके चरित्र संबंधी अन्य सामान्य पदों का भी गायन होता है। अतः एक तो इन झाँकियों का भावात्मक और कलात्मक महत्त्व है, क्यों कि वे दर्शकों के रसानुभव को गहन करती हैं; दूसरे उनका व्यवहार–मूलक महत्त्व भी है, क्यों कि उनका लीलाओं के रूप-विधान में बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान है। यदि कभी ये झाँकियाँ घटना-स्थल बदलने का भी संकेत देती हैं, तो कभी कथा के विकास और उसके नये चरण की सूचना देती हैं और कभी कोई प्रसंग चित्रवत् प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार झाँकियों के विधान द्वारा लीला-नाटकों को एक प्रकार से छोटे-छोटे नाट्य–खंडों अथवा दृश्यों में विभाजित कर लिया जाता है और पूरी लीला का ऐसा विभाजन ही नाटकों को ऐसी प्रेक्षणीयता और दृश्यगत् रुचिरता देता है।

प्रदर्शन की दृष्टि से लीला-नाटकों की अंतिम और सब से बड़ी विशेषता, जो कि शायद सभी प्रकार के लोक-नाटकों की विशेषता है, यह है कि उसमें दर्शकों का सक्रिय सहयोग है। वह लीला के दर्शक मात्र ही नहीं रहते, बल्कि रंगस्थली में बैठे हुए पात्रों की अनेक मुद्राओं और संवादों के प्रत्युत्तर दे-देकर और बीच-बीच में राधा कृष्ण की जय-जय करते हुए जैसे दर्शक के साथ-साथ स्वयं नाटक के पात्र भी बन जाते हैं। जिस सहजता और आत्मीयता के साथ स्वरूप दर्शकों के बीच से होकर रंगस्थली में आते-जाते हैं, उससे भी पात्रों में दर्शकों के तादात्म्य भाव को प्रश्रय मिलता है और उनकी अभिनयात्मक वृत्ति सहज ही प्रेरित होकर नाटक का रस लेती है[1]।''

लीलाओं का साहित्य—रास के लीला–नाटकों का साहित्य ब्रज के भक्त–कवियों द्वारा रचा हुआ है, जो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। भक्त-कवियों के रास विषयक अगणित पद इन गेय नाटकों में जीवन डाल देते हैं। चाचा वृंदाबनदास कृत 'छद्म लीलाएँ', विजय सखी कृत 'रास लीलाएँ' और ब्रजवासीदास कृत 'ब्रज विलास' इन लीला–नाटकों के ऐसे साहित्यिक भंडार हैं; जो कभी खाली नहीं होते। इनके आधार पर ब्रज के रासधारी गण सदा से इन लीलाओं का प्रदर्शन करते रहे हैं। गीत, वार्ता और कथनोपकथन के लिए सभी पात्र ब्रज भाषा का उपयोग करते हैं; जो श्रोताओं के कानों में अमृत घोल देती है। इस प्रकार ये लीलाएँ ही वर्तमान काल में रास का प्रमुख अंग बनी हुई हैं।

रास का संगीत—जैसा पहिले लिखा गया है, रास किंवा रास लीला एक 'संगीत-नाट्य' अथवा 'गेय रूपक' है; इसलिए संगीत इस कला-रूप का प्राण है। किंतु स्वरांकन प्रणाली का प्रचार न होने से रास के संगीत का मूल रूप स्थिर नहीं रह सका और जो रूप इस समय प्रचलित है, वह कई शताब्दियों के घात–प्रतिघातों के कारण विकृत एवं दूषित हो गया है। फिर भी इसके साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर संगीत के मूल रूप की रक्षा की जा सकती है। रास संबंधी साहित्य में उरप, तिरप, सुलप, लाग, डाट, ध्रुवा, छंद, जाति, ग्राम और राग आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन्हीं के आधार पर रास के वर्तमान संगीत के परिष्कार का प्रयत्न होना चाहिए।

'संगीत'–संपादक श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग ने रास के संगीत की समीक्षा करते हुए लिखा है,—"रास संबंधी उपलब्ध साहित्य में उसके संगीत पक्ष का स्पष्टीकरण अत्यंत सीमित शब्दों में किया गया है, जिसके कारण रास के अनेक रूप आजतक गोपनीय एवं अस्पष्ट बने हुए हैं, जिनके अनुसंधान की आवश्यकता है। · · · ध्रुवपद, धमार, होली तथा रसिया से रास का अभिन्न संबंध है; किंतु आज जिस प्रकार के गान का समावेश रास में किया जाता है, वह उसके संगीत का ठीक स्वरूप व्यक्त नहीं करता; वरन् जुगुप्सित भाव की सृष्टि करता है और रास के स्तर को गिराता है। जब तक संगीत द्वारा रास के रसिकों की रसमय अवस्था न हो जाय, तब तक वह अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त नहीं कर सकता। · · · ध्रुवपद और जाति गायन रास संगीत के प्राण हैं; किंतु ध्रुवपद का अपभ्रष्ट रूप आज के रास संगीत में पाया जाता है[2]।"

---

(१) **रास लीलाओं का रूप-विधान**, (रास लीला : एक परिचय, पृ० ७३–७४)

(२) **रास लीला के नृत्य और संगीत**, (रास लीला : एक परिचय, पृ० २१–२२)

रास के वाद्य यंत्र—ब्रज के भक्त-कवियों की रचनाओं में रास के जिन वाद्य यंत्रों का नामोल्लेख मिलता है; उनमें ताल, मृदंग, झाँझ, डफ, मुरली, मुरज, उपंग, पखावज, अधौटी, शृंग, मुहचंग, मजीरा आदि उल्लेखनीय हैं। इनसे संबंधित भक्त-कवियों की रचनाओं के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

१–बाजत ताल, मृदंग, झाँझ, डफ, मुरली, मुरज, उपंग। (परमानंद दास)
२–कंसताल, कठताल बजावत, शृंग मधुर मुहचंग। (सूरदास)
३–बाजत ताल, मृदंग, अधौटी, बीना, मुरली, तानतरंग। (कुंभनदास)
४–ताल, पखावज, बीन, बाँसुरी बाजत परम रसाल। (गोविंद स्वामी)

उपर्युक्त वाद्य यंत्रों में से किन-किन का उपयोग रास लीला में उन भक्त-कवियों के काल में किया जाता था; इसके संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। वर्तमान काल में जो थोड़े से वाद्य यंत्र काम में लाये जाते हैं; उनमें सारंगी, पखावज, हारमोनियम और मजीरा अधिक प्रचलित हैं।

ब्रजभाषा का रास–साहित्य—

रास-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत—श्रीमद् भागवत दशम स्कंध के अध्याय २६ से ३३ तक की **'रास पंचाध्यायी'** ब्रजभाषा कवियों के रास संबंधी साहित्य की प्रधान प्रेरणा–स्रोत रही है। कुछ कवियों ने पूरी 'रास पंचाध्यायी' का कथन किया है; किंतु अधिकांश ने उसके आधार पर रास विषयक अनेक छोटे–बड़े पदों की रचना की है। उक्त पदों में कतिपय कवियों द्वारा मौलिक उद्भावनाएँ भी व्यक्त की गई हैं। इन सब रचनाओं में रास के सरस वर्णन के साथ ही साथ नृत्य-गान–वाद्य के ताल–ध्वनि संबंधी जिन संगीत शास्त्रोक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनसे उनके काव्य–सौष्ठव और संगीत–ज्ञान का समान रूप से परिचय मिलता है।

जिन कवियों ने रास के मुक्तक पदों के साथ पूरी 'रास पंचाध्यायी' का भी वर्णन किया है, उनमें अष्टछाप के विख्यात भक्त-कवि सूरदास और नंददास के नाम उल्लेखनीय हैं। वृंदाबन के प्रसिद्ध रसिक भक्त हरिराम व्यास (व्यास जी) कृत एक लंबे पद में भी रास पंचाध्यायी का कथन हुआ है। उस पद को भ्रमवश सूरदास की नाम–छाप के साथ 'सूरसागर' में सम्मिलित कर दिया गया है और भूल से वह सूरदास की रचना समझा जाता रहा है। राधाबल्लभ संप्रदाय के दामोदर स्वामी ने भी रास पंचाध्यायी का विस्तृत वर्णन किया है, जो 'राधाबल्लभ शृंगार रस सागर' के चतुर्थ खंड में मुद्रित है। नाभा जी ने कृष्णदास चालक नामक एक भक्त जन का वृत्तांत लिखा है। उसने "गिरिराज धरण" की छाप से काव्य–रचना की थी। उसके द्वारा भी रास पंचाध्यायी की रचना किये जाने का उल्लेख किया गया है[1]। उक्त कवियों के अतिरिक्त जिन्होंने रास संबंधी स्फुट पद रचे हैं, उनकी संख्या बहुत अधिक है।

ब्रजभाषा के भक्ति–साहित्य में वल्लभ संप्रदायी कवियों की रास संबंधी रचनाएँ काल–क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन और परिमाण में सबसे अधिक हैं। इस संप्रदाय के भक्त-कवियों ने श्रीनाथ जी के कीर्तन के लिए 'नित्योत्सव' और 'वर्षोत्सव' संबंधी बहु संख्यक पदों की रचना की

---

(१) नाभा जी कृत **'भक्तमाल'**, छप्पय सं० १२४

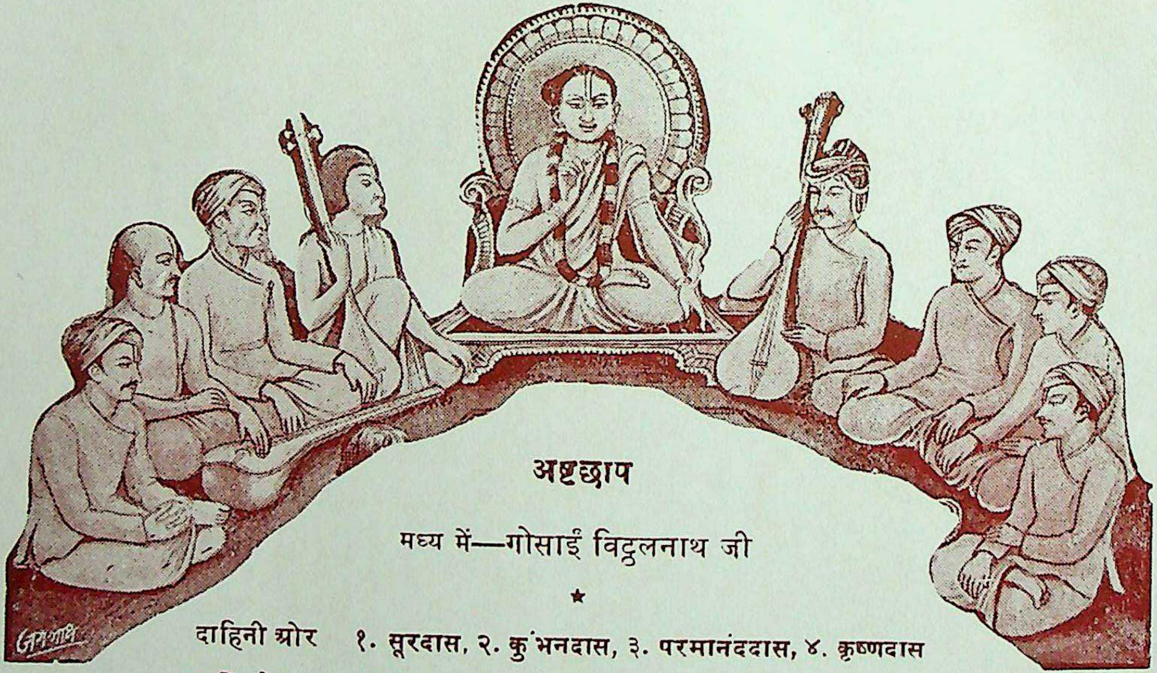

अष्टछाप

मध्य में—गोसाईं विट्ठलनाथ जी

★

दाहिनी ओर   १. सूरदास, २. कुंभनदास, ३. परमानंददास, ४. कृष्णदास

बायीं ओर—५. गोविंदस्वामी, ६. छीतस्वामी, ७. चतुर्भुजदास, ८. नंददास

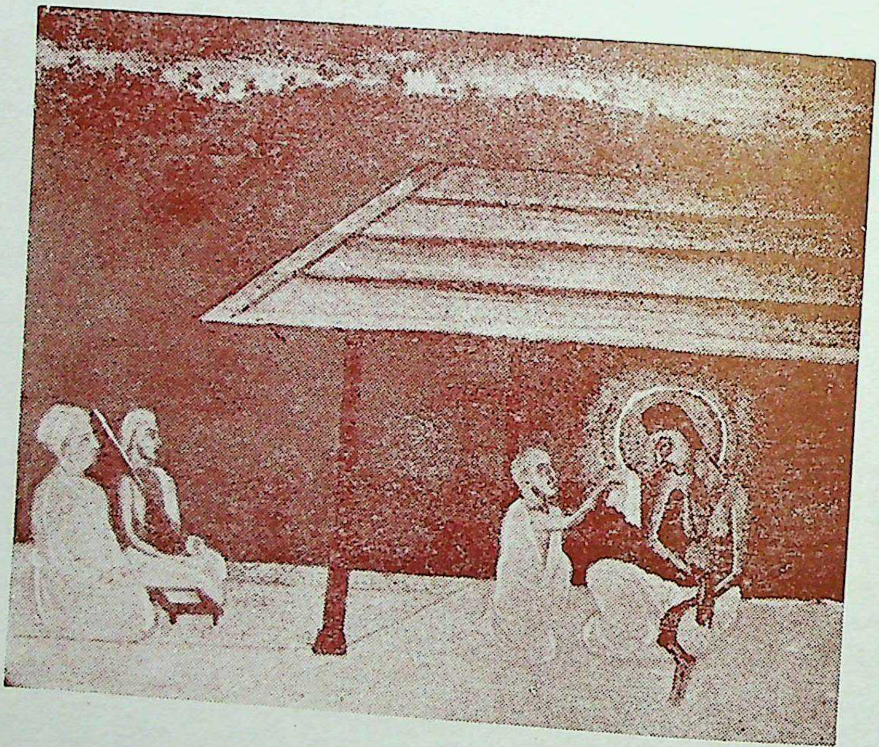

सूरदास
(भावावेश की मुद्रा में)

थी। उनमें शरद ऋतु के उत्सवों में रास के भी विपुल पद हैं। इस प्रकार के सेवा विषयक पदों की परंपरा श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा गोवर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित किये जाने के काल सं० १५५६ से ही मिलती है। उसी काल में कुंभनदास जी श्रीनाथ जी के सर्व प्रथम कीर्तनकार नियुक्त हुए थे। उनके बाद सं० १५६७ में सूरदास जी और कृष्णदास जी तथा सं० १५७७ में परमानंद दास जी भी वहाँ उसी कार्य के लिए नियुक्त किये गये थे। अष्टछाप के उन चारों वरिष्ट भक्त–कवियों ने वृंदावन के भक्ति–संप्रदायों द्वारा रास के प्रचार का आयोजन करने से पूर्व ही रास संबंधी प्रचुर साहित्य प्रस्तुत कर दिया था। उनके बाद अष्टछाप के शेष चार सर्वश्री गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास ने भी रास के पदों की रचना की थी। हम यहाँ पर उनकी क्रमानुसार चर्चा करेंगे।

कुंभनदास—वे अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि और श्री वल्लभाचार्य जी के आरंभिक शिष्यों में से थे। उनकी रचनाओं का संकलन कांकरोली विद्या विभाग से प्रकाशित हुआ है, जिनमें उनके रास संबंधी २२ पद भी हैं। उनमें से एक पद यहाँ दिया जाता है—

रास में गोपाल लाल नाँचत मिलि भामिनी।
अंस-अंस भुजनि मेलि, मंडल मधि करत केलि, कनक-बेलि मनु तमाल स्याम संग स्वामिनी।।
उरप-तिरप, लाग-डाट, ग्रग्र-ताता थेई-थेई थाट, सुघर सरस राग तैसी ए सरद जामिनी।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिधर नटवर-वपु-भेष धरें, निरखि-निरखि लज्जित कोटि काम-कामिनी।।

सूरदास—वे अष्टछाप के साथ ही साथ ब्रज साहित्य के भी मुकुटमणि माने जाते हैं। उन्होंने रास संबंधी पदों को सर्वाधिक संख्या में रचा है और इस विषय का अत्यंत विस्तृत वर्णन किया है। उनके रचे हुए रास के प्रायः २०० पद नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर में संकलित हैं। उनके अतिरिक्त वर्षोत्सव की कीर्तन–पोथियों में भी इस विषय के अनेक पद मिलते हैं। उनकी एक रचना **'सूर सारावली'** में भगवान् श्री कृष्ण के **'नित्य रास'** का कथन किया गया है। इस प्रकार रास का इतना विस्तृत कथन करने पर भी वे उसे अपर्याप्त मानते हैं। उन्होंने तत्संबंधी अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा है—

रास रस-रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै।।

कुछ व्यक्तियों ने रास के प्रति शंका करते हुए कहा है कि श्री कृष्ण द्वारा ब्रज-बालाओं के साथ क्रीड़ा करना लौकिक दृष्टि से उचित नहीं था। किंतु वे लोग भूल जाते हैं कि भगवान् श्री कृष्ण की वह गूढ़ लीला लौकिक न होकर सर्वथा अलौकिक और आध्यात्मिक थी। गोपियों का श्री कृष्ण के पास रास-क्रीड़ा के लिए आतुर भाव से जाने का अभिप्राय जीवात्माओं का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है। किंतु फिर भी सूरदास ने रास के बीच में ब्रज बालाओं का कृष्ण के साथ विवाह करा कर लौकिक दृष्टि से भी इस प्रसंग को उचित बना दिया है। उक्त प्रसंग भागवत में न होकर ब्रह्मवैवर्त पुराण में है। सूरदास ने उसका कथन करते हुए कहा है, जिसे व्यास मुनि ने 'रास' कहा है, वह वस्तुतः श्री कृष्ण का गंधर्व विवाह है—

जाकों व्यास बरनत रास।
है गंधर्व विवाह, चित दै सुनौ विविध विलास।।

सूरदास ने कुछ पदों में समस्त रास पंचाध्यायी का सांगोपांग कथन किया है और अनेक छोटे-बड़े पदों में उसका सारांश दिया है। उनके बहु संख्यक पदों में से केवल एक यहाँ दिया जाता है—

नृत्यत हैं दोउ स्यामा–स्याम।
अंग मगन पिय तैं प्यारी अति, निरखि चकित ब्रज–बाम॥
तिरप लेत चपला सी चमकति, झमकत भूषन अंग।
या छबि पर उपमा कहुँ नाहीं, निरखत बिबस अनंग॥
श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन।
संग तें होत नहीं कहुँ न्यारे, भए रहत अति लीन॥
रस–समुद्र मानौ उछलति भौ, सुंदरता की खानि।
'सूरदास' प्रभु रीझि थकित भए, कहत न कछू बखानि॥

कृष्णदास—वे श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी और अपने समय में बल्लभ संप्रदाय के अत्यंत प्रभावशाली व्यक्ति थे। **'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'** से ज्ञात होता है कि रास की आध्यात्मिक भावना के प्रति उनकी अत्यंत तन्मयता और आसक्ति थी। उक्त वार्ता के कई प्रसंगों में उनके रचे हुए रास के पद मिलते हैं। उनकी रचनाओं का संकलन कांकरोली से प्रकाशित हुआ है, जिसमें रास के भी १०४ पद हैं। इस प्रकार परिमाण की दृष्टि से ही नहीं, वरन् काव्य और संगीत की दृष्टि से भी उनकी रास संबंधी रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। इस संबंध में उनका नाम सूरदास के बाद ही लिया जा सकता है। उनका रास विषयक केवल एक पद यहाँ दिया जाता है—

नाँचति गोपाल संग, प्रेम सहित रास-रंग, ततथेई ततथेई कहति घोष-नागरी।
रूप-रासि अंग-अंग, देति तान वर सुधंग, लास्य भेद निपुन कोक रस-उजागरी॥
लेति सुलप-उरप-तिरप, नव उरज बदन फिरति, मुखरित मनि-दाम मिलई अलग लागरी।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर रीझि लिये सुबस किये, तरनि-तनया तीर बधू गुनन-आगरी॥

परमानंददास—अष्टछापी कवियों में रचना–बाहुल्य की दृष्टि से सूरदास के बाद परमानंद दास का ही नाम आता है; किंतु उनके रास संबंधी पद अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। कांकरोली विद्या विभाग द्वारा प्रकाशित **'परमानंद सागर'** में रास के केवल १८ पद मिलते हैं। उनमें से एक पद यहाँ दिया जाता है—

रास रच्यौ बन कुँवर–किसोरी।
मंडल विमल सुभग वृंदाबन, जमुना-पुलिन स्याम घन घोरी॥
बाजत बेनु–रबाब–किन्नरी, कंकन–नूपुर–किंकिनि सोरी।
तत्थेई तत्थेई सब्द उघरि पिय, भलें बिहारी–बिहारनि जोरी॥
बरहा मुकट चरन तट आवत, धरै भुजन में भामिनि कोरी।
आलिंगन–चुंबन–परिरंभन, 'परमामंद' डारत तृन तोरी॥

नंददास—उनकी 'रास पंचाध्यायी' ब्रजभाषा के रास–साहित्य की अनुपम रचना है। कोमल–कांत पदावली और सुललित शब्द योजना द्वारा उन्होंने माधुर्यपूर्ण काव्य–कौशल का जो चमत्कार दिखलाया है, उसके कारण यह किंवदंती प्रसिद्ध हो गई है—**'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया'** ! उन्हें स्वयं भी इस कृति के प्रति वड़ा मोह था। उन्होंने इसके अंत में लिखा है—

यह उज्जल रस–माल, कोटि जतनन करि पोई। सावधान ह्वै पहिरौ, इहिं तोरौ मति कोई ।।

इसके आरंभ में उन्होंने शरद–यामिनी का इस प्रकार वर्णन किया है—

सहज माधुरी वृंदाबन सब दिन सुखदाई। तदपि रंगीली सरद समय मिलि अति छबि पाई ।।
ज्यों अमोल नग जगमगाय सुंदर जराब संग। रूपवंत गुनवंत भूरि भूषन भूषित अंग ।।
रजनी मुख सुख देत ललित मुकुलित जु मालती। ज्यों नव जोबन पाइ, लसित गुनवती बाल ती ।।
मंद मंद चलि चारु चंद्रिका अरु छवि पाई। उझकत हैं पिय रमा-रमन कों मनु तकिआई ।।

उस मनमोहिनी शरद निशा में रासोत्सव का आयोजन करने के लिए श्री कृष्ण ने अपनी मधुर मुरली बजाई थी, जिसे सुनते ही ब्रज–बालाएँ अपने–अपने घरों में से निकल कर उस वन्य प्रदेश की ओर दौड़ पड़ीं, जहाँ वह मदमाती वंशी बज रही थी। गोपियों के आगमन पर श्री कृष्ण की भावना का सुंदर वर्णन करते हुए कहा गया है—

तिनके नूपुर नाद सुने, जब बचन सुहाए।
तब हरि के मन-नैन, सिमिट सब स्रवनन आए ।।
रुनुक-झुनुक पुनि भली भाँति सौं प्रगट भईं जब।
पिय के अँग-अँग सिमटि, मिले हैं रसिक नैन तब ।।

रास नृत्य के समय कवि ने श्री कृष्ण और गोपियों के आभूषण, वाद्य यंत्र और पदाघात की सम्मिलित ध्वनि का जो मार्मिक कथन किया है, उसमें काव्य–सौन्दर्य के साथ नाद-सौन्दर्य भी उभर आया है—

नूपुर–कंकन–किंकिन, करतल मंजुल मुरली। ताल–मृदंग–उपंग–चंग एकहि सुर जुरली ।।
मृदुल मुरज–टंकार, तार–झंकार मिली धुनि। मधुर जंत्र के तार, भँवर–गुंजार रली पुनि ।।
तैसिय मृदु पद-पटकनि, चटकनि कर-तारन की। लटकनि-मटकनि-झलकनि कल कुंडल-हारन की ।।
हार हार में उरझि, उरझि बहियाँ में बहियाँ। नील-पीत पट उरझि, उरझि बेसर नथ महियाँ ।।

नंददास ने 'रास पंचाध्यायी' के अतिरिक्त रास संबंधी मुक्तक पद भी लिखे हैं, जो धार्मिक भावना और काव्य–कौशल दोनों दृष्टियों से सुंदर हैं। उनका एक पद यहाँ दिया जाता है—

निरतत गिरिधरन संग रंग भरी नागरी ।
वृंदाबन रम्य जहाँ, बिहरत पिय-प्यारी तहाँ, मंडल रचि रास रसिक जुबती बन-बाग री ।।
बाजत अनहद मृदंग, ताल बिना गति सुधंग, अंग-अंग लग्यौ निरखि जग्यौ रंग-राग री।
ततथेई शब्द करत, सकल नृत्य भेद सहित, सुलप सची उरप–तिरप लेत नागरी ।।
बाँहजोड़ी करी कुँवारी, नवल पिय सों नवल प्यारी, दामिनी सी दरसैं रूप–गुनन आगरी।
प्रेम-पुंज गोकुलनारी, ससि सौं सुभग चारी, बिरहत विपिन विलास बड़े जु भाग री ।।
खग-मृग पसु-पंछी निरख, मोहित भए चर-अचर, बिथकि रह्यौ चंद्र नलिन सकल भाग री।
मास षट बिहार तेते, निमिष हू न जाने केते, 'नंददास' प्रभु संग रैन रंग जाग री ।।

अष्टछाप के पूर्वोक्त पाँचों कवियों के साथ ही साथ शेष तीन सर्वश्री गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास ने भी रास संबंधी पदों की रचना की है; किंतु वे कम संख्या में मिलते हैं। उनकी रचनाओं के जो संकलन कांकरौली से प्रकाशित हुए हैं, उनमें रास के पदों की संख्या क्रमशः १४, ३ और ६ हैं। उनमें से प्रत्येक के एक-एक पद यहाँ दिये जाते हैं—

गोविंदस्वामी—नाँचत लाल गोपाल रास में, सकल ब्रज-बधू संगे ।
गिड़िगिड़ि तत थुंग, तत थुंग थेई थेई, भामिनि रति रस रंगे ।।
सरद विमल उडुराज विराजत, गावत तान तरंगे ।
ताल–मृदंग–झाँझ अरु झालरि, बाजत सरस सुधंगे ।।
सिव-बिरंचि मोहे सुर सुनि–सुनि, सुर-नर मुनि गति भंगे ।
'गोविंद' प्रभु रस-रास-रसिक-मनि, मानिनी लेत उछंगे ।।

छीतस्वामी—लाल संग रास–रस लेत मान रसिक रवनि,
अग्रता, अग्रता, तत तत तत थेई थेई गति लीने ।
सरिगमपधनी, गमपधनी धुनि सुनि ब्रजराज कुँवर गावत री,
अति गति जातभेद सहित ताननि ननननननननन अनिगनि गति लीने ।।
उदित मुदित सरद चंद, बंद छुटे कंचुकी के,
वैभव भुव निरखि–निरखि कोटि काम हीने ।
विहरत बन रास–बिलास, दंपत्ति वर ईषद हास,
'छीतस्वामी' गिरिधर रस–बस करि लीने ।।

चतुर्भुजदास—
अद्भुत नट-भेष धरें जमुना तट स्याम सुंदर, गुननिधान गिरिवरधर रास-रंग नाँचें ।
जुबति-जूथ संग मिलि गावत केदार राग, अधर बेनु मधुर-मधुर सप्त सुरनि साँचें ।।
उरप-तिरप लाग-डाट तत-तत-तत थेई-तथेई-थेई, उघटत शब्दावलि गति भेद कोऊ न बाँचें ।
'चतुर्भुज' प्रभु बन बिलास, मोहे सब सुर अकास, निरखि थक्यौ चंद, रथहि पच्छिम नहिं खाँचें ।।

अष्टछापी कवियों के अतिरिक्त बल्लभ संप्रदाय के जिन भक्त–कवियों ने रास संबंधी पद रचे हैं, उनमें सर्वश्री विष्णुदास, रामदास, आसकरन, गदाधर मिश्र, धोंधी, गंगाबाई (विठ्ठल गिरिधरन), हरिजीवन, गो० हरिराय जी (रसिक, रसिक प्रीतम) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनमें से कुछ की रचनाएँ दी जाती हैं—

विष्णुदास—रुचिर रमित रुचि रासं ।
कुसुमित कानन सम द्रुम–बेली, निज कृत उडुप प्रकासं ।।
जुवती जुगल जुगल प्रति माधौ, करत विनोद–विलासं ।
वेणु–मृदंग–मजीरा–किंकिणी, क्वणित मधुर-मृदु हासं ।।
यमुना तीर भीर खग–मृग की, मंद समीर सुवासं ।
बरसत कुसुम, इंद्र–सुर धावत, शंकर तजि कैलासं ।।
निरखि नैन छवि मुसक्यौ मन्मथ, लोचन पद्म–पलासं ।
'विष्णुदास' प्रभु गिरिधर क्रीड़त, कथा कथित शुक–व्यासं ।।

आसकरन—निर्तत गोपाललाल, तरनि–तनया तीरे ।
जुबती जन संग लिएँ, मन्मथ-मन करषि किएँ, अंग-अंग सुखद किएँ, राजत बलवीरे ।।
लावन्यनिधि गुन-आगर, कोककला-गुन सागर, त्रिविध-ताप हरति सीतल समीरे ।
'आसकरन' प्रभु मोहन नागर गुन निधान, संगीतसार रिझवत ब्रजबधू सबै पटक पट पीरे ।।

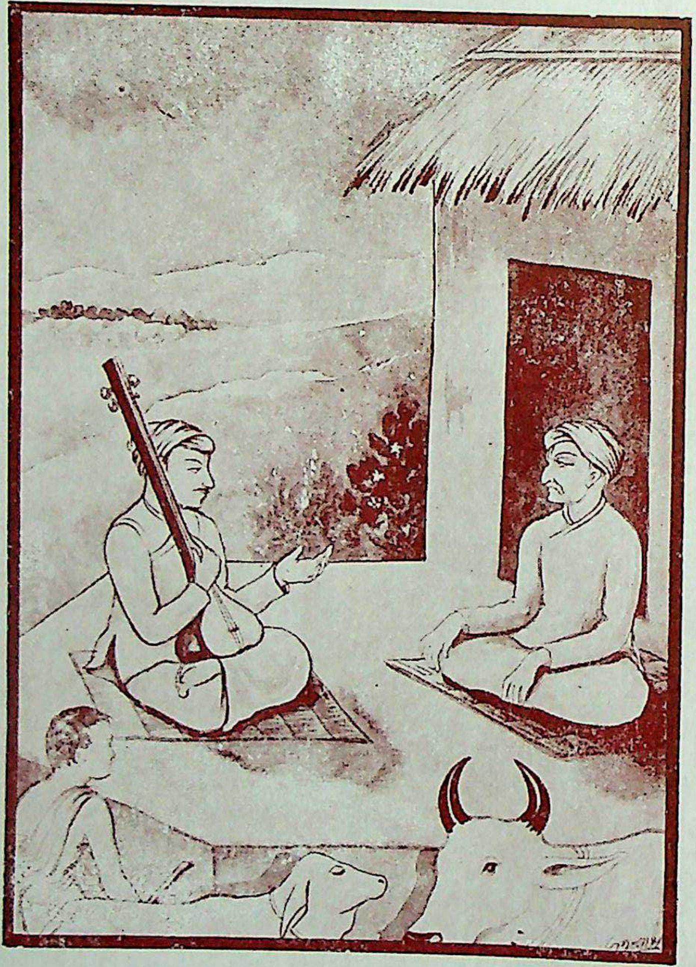

कुंभनदास
(अपने पुत्र चतुर्भुजदास को कीर्तन-गान की शिक्षा देते हुए)

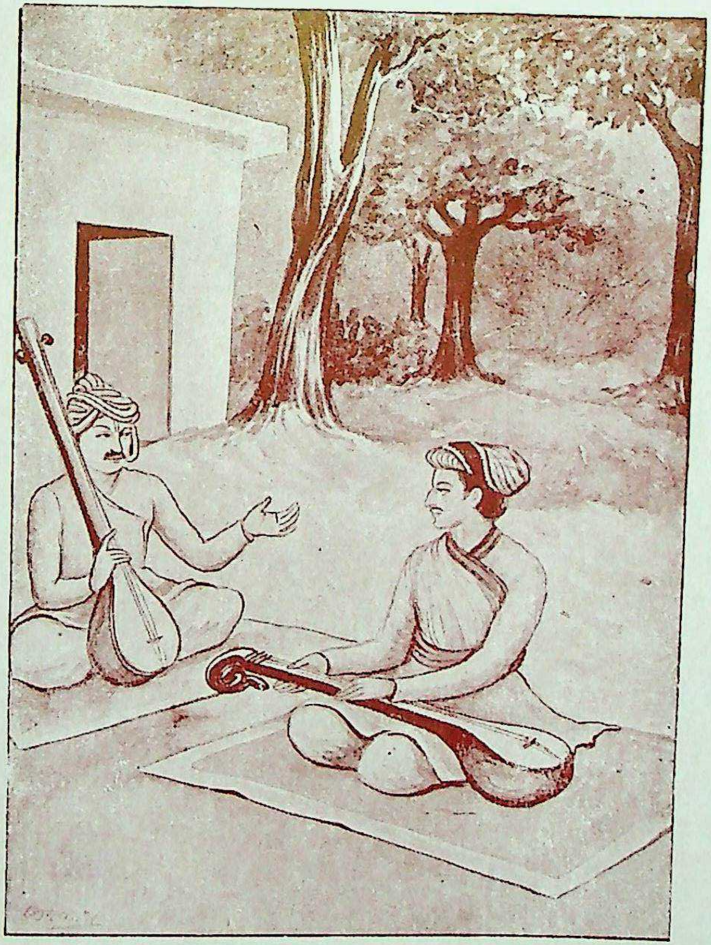

गोविंद स्वामी
(तानसेन को कीर्तन-गान की शिक्षा देते हुए)

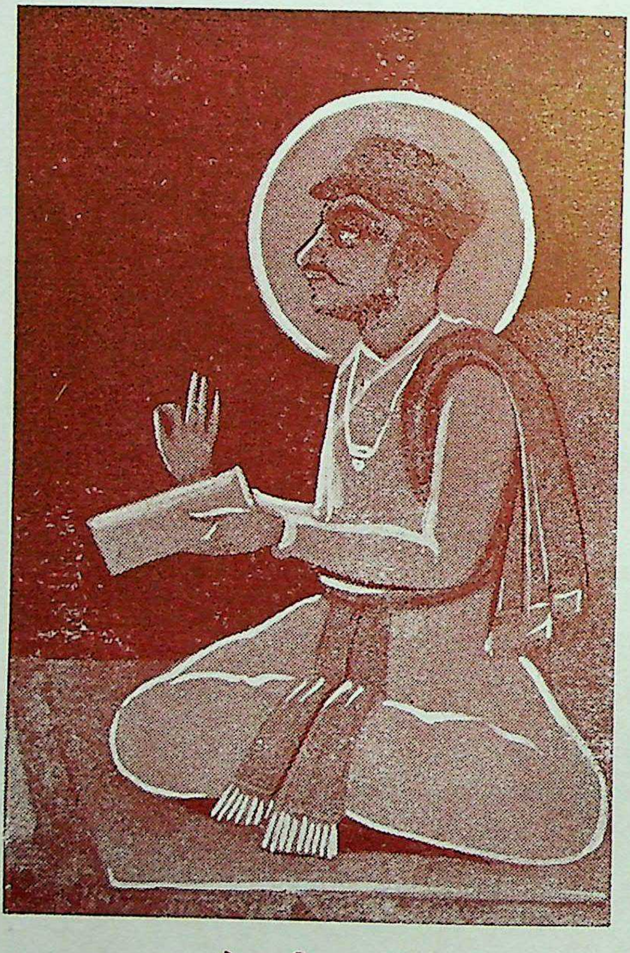

गो० हरिराय जी

गदाधर मिश्र—आज ब्रजराज कौ लाल ठाड़ौ सखी, ललित संकेत-बट निकट सोहै।
देख री देख अनिमेख या भेख कों, मुकुट की लटक त्रिभुवनिंहि मोहै॥
स्वेद-कन झलक अरु झुकी सी पलक कछु, प्रेम की ललक रस-रास किये।
धन्य बड़ भाग वृषभान-नंदिनी राधिका अंस पर बाहु दीये॥
मनि जटित भूमि रही, नव लता झूमि रही, नव कुंज छवि-पुंज कहि न जाई।
नंद-नँदन चरन परसि हित बन मानों, मुनिन के मनन मिलि पाँति लाई॥
महा अद्भुत रूप, सकल रस भूप या नंद-नँदन बिन कछु न भावै।
धन्य हरिभक्त जिनकी कृपा तें सदा, कृष्ण-गुन 'गदाधर मिश्र' गावै॥

धोंधी—राजत निर्तत पीय संग सुंदरी जई। मंडल के बीच-बीच वेष धरत तई॥
ब्रज विलास, दृग हुलास भेद करत कई। निरखि यमुना चंद थक्यौ, अनिल पद दई॥
गिरिधर संगीत निपुन भेद काछै कछई। उरपि-तिरपि लेत सुलप, संचन सुरसई॥
'धोंधी' के प्रभु नटनागर अद्भुत गई लई। सुर-सुरपति व्योम थके, सुखद बेलि बई॥

गंगाबाई (विट्ठल गिरिधरन)—
भूषन सजे साँवल अंग। लाडिली वर रवन जू कों लिए हैं हरि संग॥
रच्यौ रास-विलास कानन रसिक वर नवरंग। कला नटवर धरत जब कछु देखि लजति अनंग॥
वेणु-धुनि सुनि थकित मुनिगन, गति लेत थेई-थेई थुंग।
श्री 'विट्ठल गिरधरन' की बलि जाऊँ ललित त्रिभंग॥

गो० हरिराय जी (रसिक प्रीतम)—वल्लभ संप्रदायी आचार्यों में गो० हरिराय जी बड़े विद्वान और समर्थ साहित्यकार हुए हैं। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा में प्रायः २५० छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की थी। वार्ता साहित्य के तो वे प्रमुख निर्माता और प्रचारक थे। उनकी कृतियों में **'रास कौ प्रसंग'** नामक एक ब्रजभाषा रचना भी है। उन्होंने ब्रजभाषा में विविध विषयों के विपुल पद भी रचे थे; किंतु उनके रास संबंधी पद बहुत कम मिलते हैं। यहाँ रास का एक पद दिया जाता है—

जैसे-जैसे बंसी बाजै, तैसेई नाँचें।
पाँय पैंजिनी अरु कटि किंकिनी, रव तैसोई सप्त सुरन साँचें॥
बीच-बीच बाल लीला भाव दिखावत, त्यों-त्यों ब्रज युवतिन में हास माँचें।
मिलन की लालसा उपजति है मन में, हँसि न सकत विरह आँचें॥
ऐसी अद्भुत लीला, स्रवन सुनत, ते मूढ़ मति मन न राँचें।
'रसिक प्रीतम' की यह छवि निरखत, देव-मुनि, नारद-सारद कहत न वाँचें॥

वल्लभ संप्रदाय के पश्चात् हित हरिवंश जी के राधाबल्लभ संप्रदाय की रास संबंधी रचनाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यहाँ कवियों के क्रमानुसार उनका उल्लेख किया जाता है।

हित हरिवंश जी—राधाबल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक गो० हित हरिवंश जी रसिक भक्त और रससिद्ध कवि थे। उनकी वाणी परिमाण में अधिक न होते हुए भी ब्रज साहित्य की अनुपम निधि है। उनके द्वारा रचित **'श्री हित चतुरासी'** के ८४ पदों में से रास के १५ पद हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनकी रास के प्रति कितनी अभिरुचि थी। सेवक जी ने हित जी की वाणी को रास-रस से रची हुई कहा है—

जूथ जुबतिनु खचित, रासमंडल रचित, गान-गुन नित्त आनंद-दानी ।
ततथेई-थेई करत, गतिब नौतन धरत, रास-रस रचित हरिवंश बानी ।।

रास–रस की आधार श्री कृष्ण की वंशी है और हित हरिवंश जी वंशी के अवतार माने जाते हैं । इसलिए भी हित जी की रास के प्रति अनन्यता स्वाभाविक है । उनकी एक विशेषता यह है कि जहाँ अधिकांश कवियों ने शरद रास का ही कथन किया है, वहाँ हित जी ने शरद और बसंत दोनों के रास संबंधी पद रचे हैं । उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

आज बन नीकौ रास बनायौ ।
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट, मोहन बेनु बजायौ ।।
कल कंकन-किंकिन-नूपुर धुनि, सुनि खग–मृग सचु पायौ ।
जुबतिनु मंडल मध्य स्याम घन, सारंग राग जमायौ ।।
ताल–मृदंग-उपंग-मुरज-ढफ, मिलि रस–सिंधु बढ़ायौ ।
विविध विसद वृषभानुनंदिनी, अंग सुधंग दिखायौ ।।
अभिनय निपुन लटकि लट लोचन, भृकुटि अनंग नँचायौ ।
ततथेई-ततथेई धरति नौतन गति, पति ब्रजराज रिझायौ ।।
सकल उदार नृपति चूड़ामणि, सुख-बारिधि बरषायौ ।
परिरंभन-चुंबन-आलिंगन, उचित जुबति जन पायौ ।।
बरषत कुसुम, मुदित नभ-नायक, इंद्र निसान बजायौ ।
'हित हरिवंश' रसिक राधापति, जस-बितान जग छायौ ।।

व्यास जी—श्री हरिराम जी व्यास वृंदाबन के विख्यात रसिक भक्त और रास के अनन्य प्रेमी महात्मा थे । उन्होंने रास के अनेक सुंदर पदों की रचना की है । जैसा पहिले लिखा गया है, उनका एक बड़ा पद 'रास पंचाध्यायी' के नाम से प्रसिद्ध है, जो भ्रमवश सूरदास कृत समझा जाता है । उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

सरद सुहाई आई राति । चहुँ दिसि फूलि रही बन–जाति ।।
देखि स्याम मन सुख भयौ ।।
ससि–गो मंडित जमुना–कूल । बरषत विटप सदा फल–फूल ।।
त्रिविध पवन दुख–दवन है ।।
राधा–रवन बजायौ बैन । सुनि धुनि गोपिन उपज्यौ मैन ।।
जहाँ–तहाँ तें उठि चलीं ।।
नव कुंकुम जल बरसत जहाँ । उड़त कपूर-धूरि जहँ-तहाँ ।।
और फूल–फल को गनै ।।
तहँ घनस्याम रास रस रच्यौ । मरकत मनि कंचन सौं खच्यौ ।।
सोभा कहत न आवही ।।
जोरि मंडली जुबतिनि बनी । द्वै-द्वै बीच आपु हरि धनी ।।
अदभुत कौतुक प्रगट कियौ ।।

घूँघट मुकट बिराजत सिरन । ससि चमकत मानौ कौतिक किरन ।।
रास रसिक गुन गाइहौं ।।
भूषन बाजत ताल–मृदंग । अंग दिखावत सरस सुधंग ।।
रंग रह्यौ न कह्यौ परै ।।
कंकन-नूपुर-किंकिन-चुरी । उपजत धुनि मिस्रित माधुरी ।।
सुनत सिराने स्रवत मन ।।
मुरली-मुरज-रबाब-उतंग । उघटत सबद बिहारी संग ।।
नागर सब गुन–आगरौ ।।
गोपिन मंडल मंडित स्याम । कनक-नीलमनि जनु अभिराम ।।
रास–रसिक गुन गाइहौं ।।
उलटि बह्यौ जमुना कौ नीर । बालक-बच्छ न पीवत खीर ।।
राधा – रवन ठगे सबै ।।
गिरिवर तरुवर पुलकित गात । गोधन थन तें दूध चुचात ।।
सुन खग-मृग-मुनि ब्रत धरचौ ।।
फूली मही भूल्यौ गति पौन । सोवत ग्वाल तजत नहिं भौन ।।
रास - रसिक गुन गाइहौं ।।

दामोदर स्वामी—राधावल्लभ संप्रदाय में दामोदर स्वामी की गणना रास–रसिक प्रसिद्ध महात्माओं में होती है । उन्होंने रास संबंधी स्फुट पदों के अतिरिक्त संपूर्ण 'रास पंचाध्यायी' का भी कथन किया है, जिसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

सुंदर वर श्री कृष्ण विलोकि सरद की रैनी । मंजुल फूलनि फूलि मल्लिका रही सुख दैनी ।।
रसिक सुदेस नरेस रमण कों कियौ तबहिं मन । भाग योगमाया सुदेस सुंदर साँवल तन ।।
उदै भयौ उडुराज स्याम सुख काज विराज्यौ । अरु नभ मूक सुदेस अमल प्राची दिस आज्यौ ।।
जैसे पुरुष विदेस गयौ पुनि मंदिर आयौ । मंडन करत प्रिया-मुख कुमकुम राग सुहायौ ।।
कुमुदबंधु रसबंधु तामजन गन कौ हारी । रमा बदन की प्रभा देखि हरस्यौ जु बिहारी ।।
कोमल निर्मल किरन सकल मधुमय सुखरासी । दल-फल-फूल समूल सकल बन माहिं प्रकासी ।।
हस्त कमल गहि अधर धरी तब मोहन मुरली । जिहिं सुनि जुबतिन बिसरि धर्म की बातें उर ली ।।
परम मनोहर इष्ट कृष्ण कल गीत सुन्यौ जब । ब्रज-बनितन हिय ध्यान सुनतहिं अनंग बढचौ तब ।।
चलिवौ आपस मध्य नहिन कोउ जुवति जनावै । कृपन परचौ धन पाइ तबहि ज्यौं तहीं छिपावै ।।
धाईं धामनि छाँड़ि हियौ मोहन हरि लीनौ । मारग बंशी शब्द तितहिं मन स्रवन सु दीनौ ।।
चंचल कुंडल बेगि प्रीति अति हरि सों बाढ़ी । तोरि चलीं अति सुदृढ़ जदपि कुल-आगर गाढ़ी ।।

चंदसखी—वे राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी और सखी नामधारी एक भक्त-कवि थे । जैसा पहिले लिखा गया है, वे संतों की जमात और रास–मंडली के साथ भ्रमण करते हुए कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया करते थे । उन्होंने अनेक भजन, लोकगीत और पदों की रचना की है । 'चंदसखी भज बालकृष्ण छवि' की छाप के उनके भजन और लोकगीत ब्रज, राजस्थान, बुंदेलखंड आदि राज्यों में प्रसिद्ध हैं । उनका रास संबंधी एक पद यहाँ दिया जाता है—

ए दोऊ निर्तत नवल कमल मंडल में, अंसिन पर भुज दीयें री।
गावत, मोद बढ़ावत, भावत संग सहचरी लीयें री।।
बाजत ताल-मृदंग-बाँसुरी, गति सों मिल तन कीयें री।
बरषत रंग, अनंग विमोहित, निरखि थकित रति जीयें री।।
काहू सुधि न रही तन-मन की, प्रेम-सुधा-रस पीयें री।
'चंदसखी' दंपति-छवि सजनी, सदाई बसौ मेरे हीयें री।।

विजयसखी—वे व्यास जी के वंशज, चंदसखी जी के भाई और हंसराज बख्शी के गुरु थे। उन्होंने रास संबंधी अनेक लीलाओं की रचना की है। उनकी १८ रासलीलाएँ 'रास सर्वस्व' के अंत में मुद्रित हुई हैं।

चाचा वृंदाबनदास—राधबल्लभ संप्रदायी कवियों में चाचा वृंदाबनदास बड़े समर्थ साहित्य-सृष्टा हुए हैं। ब्रजभाषा के असंख्य कवियों में रचना-बाहुल्य की दृष्टि से महात्मा सूरदास जी के पश्चात् चाचा जी का ही स्थान है; चाहें उनका काव्य-महत्व उस कोटि का नहीं है। उन्होंने रास के भी वहु संख्यक पद रचे हैं। उनके तत्संबंधी १५० से भी अधिक पद **'श्रृंगार रस सागर'** (चतुर्थ खंड) में संकलित हैं। उक्त पदों में उन्होंने विविध प्रकार से रास लीला का कथन किया है। उनका एक पद श्री कृष्ण और राधा जी की रास-प्रतियोगिता का है। चाचा जी का कथन है,—"रास-प्रतियोगिता का आयोजन होने से मानों आनंद की राशि ही उमड़ कर बरसने लगी थी। उस नृत्य के लिए उधर श्री कृष्ण सज्जित हुए और इधर श्री राधा जी। दोनों ही चर्चरी ताल पर अपूर्व गति से नृत्य करने को प्रस्तुत हुए। ललिता सखी दोनों को सन्मानित करती हुई उनकी प्रशंसा करती थी; किंतु साथ ही उसकी यह भी कामना थी कि देखें दोनों में से किसकी नृत्य-निपुणता अधिक है। पहिले श्री कृष्ण का नृत्य हुआ और फिर श्री राधा का। दोनों ने ही अपूर्व कला-कौशल का प्रदर्शन किया; किंतु राधा जी की नृत्य-निपुणता पर रीझि कर स्वयं श्री कृष्ण भी कहने लगे,—'धन्य गौरंग, तू अत्यंत गुणवती है!' उक्त पद इस प्रकार है—

उमगि आनंद की रास लागी झरी।।
उत सजे लाल इत नवल नागरि सजी, अपूरव लेत गति ताल दै चर्चरी।
करति प्रसंस ललिता दुहुँनि मान दै, देखिये सुघरता अधिक काकी खरी।।
लाल विहँसे ललित ग्रीव कों ढोरिकै, मोरि दृग-कोर पद ठुमकि गति विस्तरी।
जलद धुरवा उठ्यौ नवल प्रेरयौ पवन, दृगनि कौ लाभ श्रवनि महा छवि भरी।।
किंधौं सिंगार अरु रूप के बाग में, लसत कमनीय वर कनक बेलिन करी।
वदन की हँसनि में रदन तें दुति कढ़ी, ततथेई ततथेई मोहन धुनि उच्चरी।।
हुलसि गति लेत दामिनि निकर मंद्र लसी, भेद हस्तक करत चंद्रिका फरहरी।
भाव जुत नवनि मनु अवनि परसत नहीं, गति जु संगीत तें चरन आगें धरी।।
चंद की जोति में लीन सी होत है, महा सुकुमार विद्यानि-आलय अरी।
कला कोटिक रचति स्वाँस साधै नचति, देखि री चातुरी उघरि हिय तें परी।।
भये दृग चंचला हलतु है अंचला, जुवति चूड़ामणि रास सुख अनुसरी।
'वृंदाबन' हित रूप "अतिहि गुनवंत, तू धन्य गौरंग", कहैं रीझि नागर हरी[1]।।

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी, (पृ० ५०४-५०५)

हित हरिवंश जी द्वारा प्रवर्तित रस–भक्ति के आधार पर राधाबल्लभ संप्रदाय के कवियों ने रास के पदों में 'वृंदाबन-रस' को प्रधानता दी है; किंतु चाचा जी ने अपने युग की आवश्यकतानुसार वृंदाबन–रस से अनुप्राणित 'ब्रज रस' की रास लीलाओं की भी रचना की थी। वे लीलाएँ 'रास छद्म' अथवा 'छद्म लीला' कही जाती हैं। आज-कल की रास मंडलियाँ प्रायः उन्हीं के आधार पर रास लीला किया करती हैं।

चाचा जी कृत ३७ छद्म लीलाओं का संग्रह **'रास छद्म विनोद'** में हुआ है। "उसकी २७ लीलाएँ कृष्ण तथा राधा से संबंधित हैं। इनमें कृष्ण छद्म रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते हैं, किंतु प्रत्येक वार भेद खुल जाता है। कभी कृष्ण चितेरिन का रूप धारण करते हैं; तो कभी मालिन, तमोलिन, नाइन, बीनावारी, मैनावारी, गंधिन आदि का रूप धारण करते हैं। सात लीलाओं में कृष्ण जोगी बन कर जाते हैं। कुछ लीलाओं में वह बाला का रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते हैं। इस प्रकार इन लीलाओं में उनके छद्म रूप धारण करने तथा भेद खुलने का ही वर्णन हुआ है। नारद लीला, ब्रह्मा लीला, महादेव लीला, शिवजोगी लीला, जोगीश्वरी लीला में तथा नामधारी देवता कृष्ण तथा राधा के दर्शन के हेतु आते हैं। 'श्री प्रियाजी की भुराई लीला' में राधा को अपनी परछाईं पर अन्य किसी का भ्रम हो जाता है। कृष्ण उनके इस भ्रम को दूर करते हैं। 'श्री प्रिया रूप गर्व लीला' में राधा को अपने अद्वितीय रूप पर गर्व होता है। ये सब लीलाएँ इतिवृत्तात्मक हैं। इनमें वाक्छल तथा छद्म का आनंद तो है, किंतु काव्य की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व नहीं। यत्र-तत्र इनमें कुछ अलंकारों का समावेश हो गया है। भाषा में साधारण बातचीत का प्रवाह परिलक्षित होता है। ये लीलाएँ वृंदाबन से प्रकाशित हो चुकी हैं[1]।"

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त राधाबल्लभ संप्रदाय में जिन भक्त–कवियों की रास संबंधी रचनाएँ मिलती हैं, उनमें सर्वश्री ध्रुवदास, नागरीदास, गो० कृष्णचंद्र जी, दामोदरचंद्र जी, कमलनैन जी, रूपलाल जी, गोबर्धनलाल जी और सहचरिसुख जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ उनमें से कुछ की रचनाएँ दी जाती हैं—

ध्रुवदास—वंशीवट मूल खरे, दंपति अनुराग भरे, गावत हैं सारंग पिय, सारंग वर नैंनी।
उमहि कुँवरि करति गान, सिखवत पिय विकट तान,
सप्त स्वर सों मधुर-मधुर लेति कोकिल बैनी।।
चित्रित चंदन सुअंग, भूषन फूलनि सुरंग, दसन बसन सहज रंग बेसरि छबि दैनी।
लसत कंठ जलज माल, झलकि स्वेद बन रसाल, दीरघ वर लोचन मधि रेख बनी पैनी।।
चहुँ दिसि सखियानि भीर, सकल प्रेम रस अधीर, उभय रूप राग-रंग सुख अभंग लैनी।
उमड्यौ जल प्रेम नैन, रहित भए रसन बैन, इहि गति रहौ मत्त चित्त, 'हित ध्रुव' दिन-रैनी।।

नागरीदास—रासमंडल मध्य छवि छके स्यामा-स्याम, लेत गति उलटि-पलटि जात भरे रंग।
गान-धुनि नूपुर रह्यौ है रंग पूर, तैसी मधुर-मधुर बीना बाजत मृदंग।।
चंद्रिका सिथिल इत मुकुट झुकौही होत, ह्वै गये बिवस रस, सुधि न रही है अंग।
'नागरीदास' गति नैनन की भई पंगु, मुरझि गिरचौ है रति सहित अनंग।।

---

[1] **राधाबल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृ० ५७१**

गो० दामोदर चंद्र—नागरी वृषभानु कुँवरि मंद गामिनी ।
चलत ग्रीव-नैन-सैन, बोलत मृदु मधुर बैन, ततथेई ततथेई वदित भामिनी ।।
चंचल गति वर सिरोध, भृकुटि कुटिल अलक सोभि, बदन चंद पिय चकोर, मुदित कामिनी ।
अंसनि पर वाहु धरें, सनमुख रुख नैंन करैं, ताल-चाल गति मराल चमकत घन दामिनी ।।
प्रियता भरि हरि समूह, आनंद वहु लखि कुतूह, निर्तति वर मधुर स्वरनि सरद जामिनी ।
'दामोदर' हित सुवेस, नवल जुगल सुख सुदेस, अद्भुत अति गौर स्याम रसिक स्वामिनी ।।

गो० रूपलाल—निर्तत सरस सुधंग किसोरी ।
उघटत दै करतार त्रिभंगी, थेई-थेई मृदु मुसिकन चित चोरी ।।
कबहू प्रीतम प्रिया परस्पर, कबहू मिलि रस बरषत जोरी ।
बीन-मृदंग-ताल स्वर नूपुर, मुरली धुनि बाजत थोरी-थोरी ।।
हाव-भाव-अभिनय सुख संपति, नाँहिन बचत कछुक दृग कोरी ।
हित अलि 'रूप' निरखि अँग-अँग छबि, कवि बरनत उपमा भई बौरी ।।

वंशी अलि—वे उच्च कोटि के भक्त, संस्कृत के विद्वान और ब्रजभाषा के सुकवि थे । उनकी हित हरिवंश जी के प्रति श्रद्धा थी; किंतु वे राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी नहीं थे । उन्होंने एक स्वतंत्र भक्ति पंथ की प्रतिष्ठा की थी, जिसमें राधा जी का सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया गया है । राधा जी की प्रधानता राधावल्लभ संप्रदाय में भी स्वीकृत है; किंतु वंशी अलि जी की राधा संबंधी भावना उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है । उनकी यह विलक्षणता उनके ग्रंथ **'श्री राधिका महारास'** में मिलती है । राधा जी की प्रधानता मानने वाले संप्रदायों की रास संबंधी रचनाओं में श्री कृष्ण को यथोचित महत्व दिया गया है; क्यों कि इसके बिना शृंगार रस की निष्पत्ति होना संभव नहीं है । वंशी अलि जी ने रास में श्री कृष्ण को कोई स्थान देना उचित नहीं समझा । इस प्रकार श्री कृष्ण के अभाव में रस की दृष्टि से उनका रास प्रभावशून्य हो गया है । उदाहरण के लिए उनका एक पद यहाँ दिया जाता है; जिसमें राधा जी को श्री कृष्ण के स्थान पर अपनी सखी के साथ ही रास-नृत्य करते हुए दिखलाया गया है । इस पद की रचना–शैली सुंदर होते हुए भी आलंबन, हाव–भाव, संचारी आदि के भेद से इसमें शृंगार रस ही नहीं बन सका है—

सजनी दोऊ नृत्य करैं ।
गरवाहीं मुख जोरि कुँवरि–ललिता थेई–थेई उचरैं ।।
एकहि पट सिर ऊपर लीयें, मुख दुराइ दोउ खोलैं ।
अरस–परस करि परसि चिबुक, दोउ दृग मिलाइ मधु बोलैं ।।
सन्मुख ह्वै नूपुरनि बजावत, बिच-बिच चलनि छबीली ।
नौंकनि दृग रोकनि भृकुटी की, मुरनि ग्रीव तिरछीली ।।
मुसकि जानि कर छ्वै आलिंगन, झिझकन चित आकरषै ।
उरप–तिरप की लैन छबीली, 'बंशी' दृग सुख बरषै ।।

बल्लभ और राधाबल्लभ संप्रदायों के भक्त-कवियों के पश्चात् निंबार्क संप्रदायी, स्वामी हरिदास के अनुयायी और चैतन्य संप्रदायी भक्त-कवियों की रास संबंधी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं । यहाँ संप्रदायों के क्रम से उनकी रचनाओं का उल्लेख किया जाता है ।

निंबार्क संप्रदाय ब्रज का सबसे प्राचीन भक्ति संप्रदाय है। इसके संस्थापक श्री निंबार्काचार्य जी थे। उनके काल से ही इस संप्रदाय की आचार्य-परंपरा का ब्रज से घनिष्ट संबंध रहा है। श्री भट्ट जी और हरिव्यास जी इस परंपरा के सबसे प्राचीन वाणीकार हुए हैं, जिनके रास संबंधी पद भी उपलब्ध हैं। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, इस संप्रदाय में श्री हरिव्यास जी के शिष्य श्री उद्धव घमंडदेव जी रास लीला के आरंभकर्ताओं में से माने जाते हैं, किंतु रास के पद उनसे पहिले ही श्री भट्ट जी द्वारा रचे जा चुके थे। श्रीभट्ट जी और हरिव्यास जी के बाद इस संप्रदाय में रूपरसिक जी, वृंदावनदेव जी, गोविंदशरण जी आदि भक्त कवियों के भी रास संबंधी पद मिलते हैं। यहाँ पर उनके एक-एक पद उदाहरणार्थ दिये जाते हैं—

श्रीभट्ट जी—सब मिलि निरखत नवल छवि, गोपी मंडलाकार।
बीच युगल सरसावहीं, अति रुचि सरद बिहार॥
अति रुचि पावत सरद बिहार।
बीच युगल सोहें, मन मोहें, गोपी मंडलाकार॥
षड़ज जमावें, सरस बतावें, सब मिलि गावें युगल बिहार।
'श्रीभट' नवल नागरी-नागर, ताताथेई करत उचार॥

हरिव्यास जी—कला चिबुक लिये चरन में, नई-नई गति उपजाय।
नृत्यत प्रेम उमंग सों, ए दोऊ छवि पाय॥
ए दोऊ नृत्यत छवि पावें।
करें करन में चिबुक, चरन में नई–नई गति उपजावें॥
हँसनि लसनि दसननि की दमकनि, चितवन चित्त चुरावें।
भृकुटि बिलास चपल आयत अति, अँखियन मार मचावें॥
रीझि-रीझि रस-भीजि परस्पर, प्रेम उमंग उँमगावें।
'श्री हरिप्रिया' निसंक अंक भरि, लै-लै लंक लगावें॥

रूपरसिक जी—राजत रास रसिक-मन-रंजन।
अति सुंदर गुन-रूप मनोहर, दिएँ ग्रीवा कर कंजन॥
गौर-स्याम अनुरूप अंग रति-काम कोटि मद-गंजन।
चलवनि चपल नैन में मिलवनि, मान सहज सुख-संजन॥
मधुर बचन मुख रचन थेई-थेई, सचन सुगति मति-मंजन।
भृकुटि विलास विभेदन चितवन, मिथुन विथा जु विभंजन॥
कलित केलि कमनीय कुँवर की, निरख थकित भए खंजन।
'रूपरसिक' अद्भुत अनूप, रस बढ्यौ विपुल फल पंजन॥

वृंदाबनदेव जी—नाचें री दोउ बाँहा जोरी।
इत नँदनंदन रसिक लाड़िलौ, उत वृषभान-किसोरी॥
गौर–स्याम भुज गहें परस्पर, लखि उपमा उपजत मति मोरी।
सोभित पीत अरु नील कमल मनौ, मिले करत झकझोरा झोरी॥

मुकुट लटक पट चटक-कटक, कर-चरन पटक मृदंग गति वौरी ।
तत्तखि रिरिरि तातन ननन सखी, सुघरि उघटति चहुँ ओरी ।।
अलापति रागिनि-राग तान श्रुति, लागि रही एकै सुर डोरी ।
'वृंदाबन' प्रभु धुनि सुनि थिर-चर, मोह्यौ जात न को री ।।

गोविंदशरण जी—नृत्यत सुधंग दोउ राधिका–रमन संग, रंग बरसावैं कल गावैं मृदु तान री ।
तत्तथेई थेई करैं गति लेत मति हरैं, भरे हाव–भाव–चाव एक ही समान री ।।
ग्रीवा की लटक औ चटक पट नील-पीत, उँमगि-उँमगि अंग अंग लपटान री ।
बार–बार कहैं विवि रीझि रीझि अंक भरैं, 'गोविंदसरन' है विकान ही की वान री ।।

राजा नागरीदास जी—कृष्णगढ़ के राजा सावंतसिंह उपनाम 'नागरीदास' बड़े प्रसिद्ध भक्त थे । उनकी छोटी-बड़ी ७३ रचनाएँ 'नागर समुच्चय' में प्रकाशित हुई हैं । उनमें 'रास रस लता' और 'रास के कवित्त' नामक दो रचनाएँ रास से संबंधित हैं । यहाँ उनका रास संबंधी एक कवित्त दिया जाता है—

सरद सुहाई निसि प्रफुल्लित बल्ली बन, वहु छवि छाई चारु चंद्रिका खुलनि में ।
गान के विधान तहाँ नृत्य भेद हाव-भाव, रच्यौ है बिलास रास मंजुल पुलनि में ।।
लेत गति 'नागरिया' नागर सु मंडल में, कोटिक मदन नहि आवत तुलनि में ।
बेर बेर झूलै मोतीमाला की झुलनि मन, देखि देखि डुल्यो जात कुंडल डुलनि में ।।

स्वामी हरिदास जी—वृंदावन के रसिक भक्तों में स्वामी जी का परमोच्च स्थान है । वे हित हरिवंश जी के सखा और रसिकों के शिरोमणि थे । श्री व्यास जी जैसे प्रौढ़ महात्मा ने स्वामी जी की प्रशंसा करते हुए कहा है, उनके समान रसिक इस पृथ्वी और आकाश में न तो हुआ और न होगा—**'ऐसौ रसिक भयौ ना ह्वै है, भुवमंडल आकाश'** । स्वामी जी की रास के प्रति अभिरुचि प्रसिद्ध है । व्यास जी ने लिखा है, स्वामी जी श्री कुंजबिहारी जी की सेवा के प्रति अत्यंत सावधान रहते थे और रास का निरंतर गायन किया करते थे—**'सेवा सावधान अति जान, सुघर गावत दिन रास'** । फिर भी उनकी वाणी में रास के पद कम संख्या में मिलते हैं । यहाँ पर उनका रास संबंधी एक पद दिया जाता है—

अदभुत गति उपजति अति, नृत्तत दोऊ मंडल कुँवर किसोरी ।
सकल सुधंग अंग भरि भोरी, पिय नृत्तत मुसकनि मुख मोरी, परिरंभन रस रोरी ।।
ताल धरनि बनिता, मृदंग चंद्रागति घात बजैं थोरी-थोरी ।
सप्त भाइ भाषा विचित्र, ललिता गायनि चित–चोरी ।।
श्री वृंदाबन फूलनि फूल्यौ पूरन ससि, त्रिबिधि पबन बहै री, थोरी-थोरी ।
गति विलास रस हास परस्पर, भूतल अदभुत जोरी ।।
श्री जमुना जल विथकित, पहुपनि बरषा, रतिपति डारति तृन तोरी ।
'श्री हरिदास' के स्वामी स्यामा-कुंजबिहारी जू कौ रस रसना कहै को री ।।

बिहारिनदास जी—वे स्वामी हरिदास जी के प्रशिष्य और उनके संप्रदाय के प्रसिद्ध महात्मा थे । उन्होंने पर्याप्त वाणी-साहित्य की रचना की है; किंतु उसमें रास के पद ढूँढ़ने से ५-७ ही मिलेंगे । उनमें से एक पद यहाँ दिया जाता है—

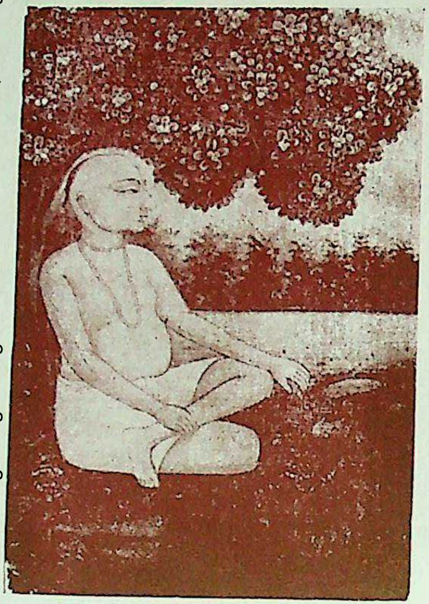

श्री विट्ठल विपुल जी

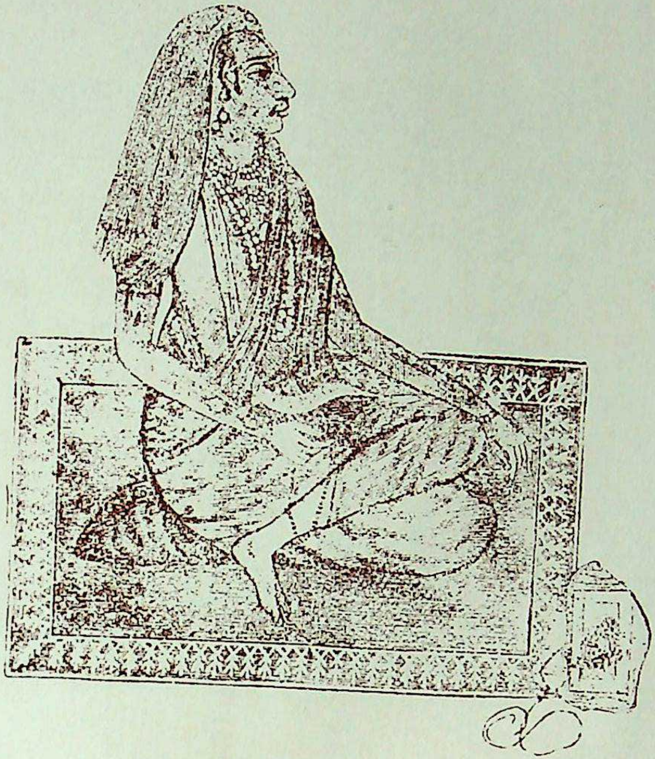

राजा नागरीदास

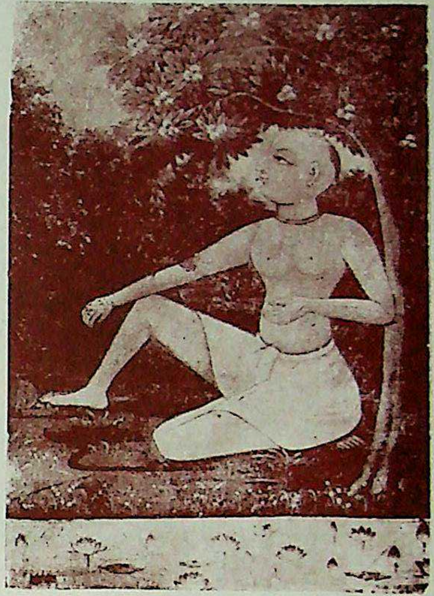

श्री बिहारिनदास जी

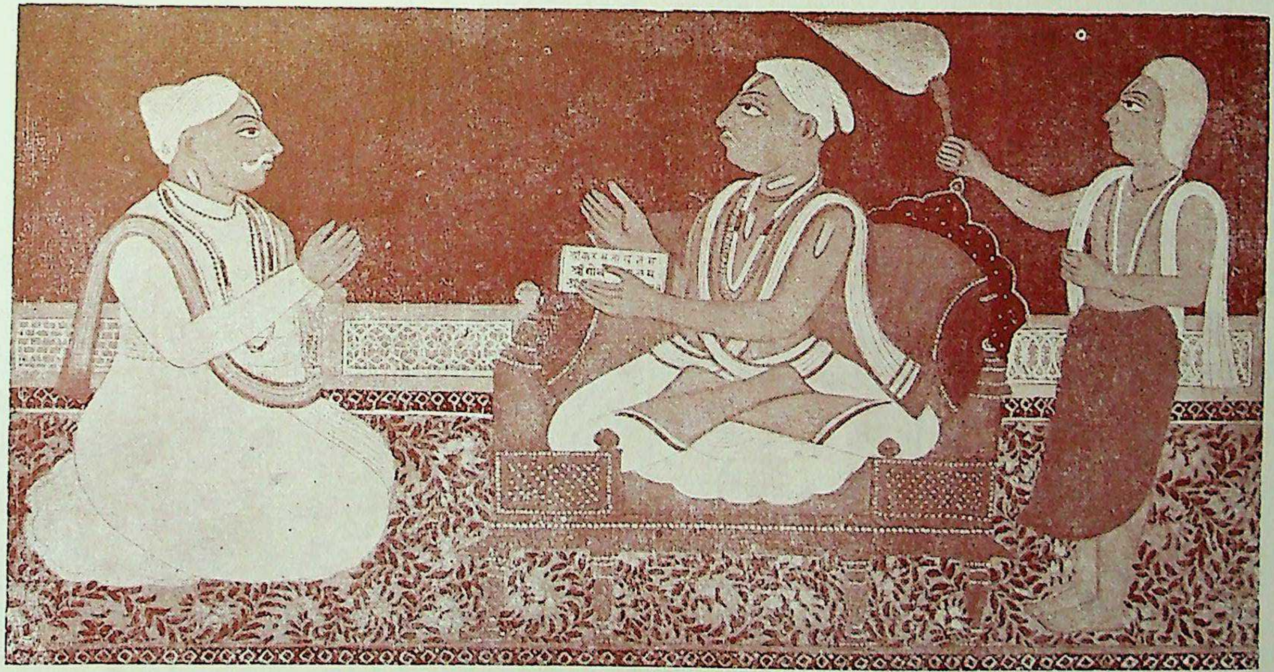

श्री गदाधर भट्ट

ललित गति नूपुर, चलत चरन बाजैं ।
रही जकि जुवति निर्तति सु पग धरत, परसि संगीत बारति सखि समाजैं ।।
अंग-अंग अभिरामिनी, बिन भाइ भामिनी, सहज इत-उत चितै समर सर साजैं ।
'श्री बिहारिनदासि' स्वामिनी रीझि रस बस किये,
रमन रमि रसिक संग, कुंज बसि भ्राजैं ।।

श्री बिहारिनदास के बाद स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय में सर्वश्री नागरीदास जी, सरसदास जी, नरहरिदास जी, किशोरदास जी, भगवतरसिक जी आदि प्रसिद्ध भक्त–कवि हुए। उनका प्रचुर वाणी साहित्य उपलब्ध है; किंतु उनके रास संबंधी पद अपेक्षाकृत कम मिलते हैं। यहाँ पर उनमें से कुछ की कतिपय रचनाएँ दी जाती हैं—

नागरीदास जी—रसिक रसिकनी किसोर नृत्तत रंग भीनें ।
गौर सुभग स्याम तनें, नटवर वपु वेष बनें, तत्त ठुमक थेई थेई उघटत गति लीनें ।।
कोक संगीत सुघर, गावत सुख सर्वोपर, तान तिरप लेत प्यारी, पहिरें पट झीनें ।
अधर दसन दुति प्रकास, अलक झलक्क भ्रू विलास, तार सुरन चोरत चित, नवल नेह नवीनें ।।
रीझि रवन मोहि रहे, धाय चपल चरन गहे, लये लाल ललना हँसि अंस बाहु दीनें ।
दासि श्री नागरि नवेलि, नागर मिलि करत केलि, आनंद रस झेलि, खेलि पूरन प्रेम प्रवीनें ।।

सरसदास जी—निर्त्तत रस भरे रसिक बिहारी ।
तान तिरप गति भेद अनागति, घात लेत सुकुँवारी ।।
थेई-थेई करत धरत पग चंचल, उपजत नूपुर रव झुनकारी ।
गावत कटि लटकावति, नैंन नचावत प्रीतम प्यारी ।।
मृदंग ताल सुर सप्त संचि मिलि, तैसियै छिटकि रही उजियारी ।
कोक कला कल केलि झेलि, रस क्रीडत कुँवरि दुलारी ।।
द्रुम बेली फूलीं सुख बरषत, चंपक वकुल गुलाब निवारी ।
करत विनोद विपिन मन भाये, 'सरसदास' बलिहारी ।।

नरहरिदास जी—खेलत रास लाड़िली लाल ।
तान-गान गुन सिखवति प्यारी, तहाँ न कोई बाल ।।
ताल मृदंग संगीत विविधि विधि उघटत, भूषन बजत रसाल ।
उरप-तिरप लै नचत सुलप गति, उपजत सुख के जाल ।।
केलि कला रस बरषत हरषत, परसत प्रेम विसाल ।
'नरहरिदास' निकट सुख निरखत, श्याम सुभग उर माल ।।

भगवतरसिक जी—लाड़िली-लाल दोऊ, रंग भरे अंग-अंग, नाँचति सुरति रंग,
कोक-कला कुसल दोऊ, उदित मुदित मन ।
हाव-भाव भृकुटि भंग, उपजावति छवि-तरंग,
खेलत अंग संग दोऊ, उरझे हैं प्रेम पन ।।

उँमगि-उँमगि करत केलि, अंसन भुज दंड मेलि,
पुलकि-पुलकि लपटि दोऊ, बिलसत हैं धनी-धन।
'भगवतरसिक' लाल स्रमित भई नवल बाल,
रीझि-रीझि अंचल दोऊ, पौंछत मुख स्वेद-कन ।।

महाप्रभु चैतन्यदेव जी के संप्रदाय में भी बल्लभ संप्रदाय की भाँति प्रायः कृष्णावतार के भावनापरक आध्यात्मिक रास की मान्यता है। इस संप्रदाय के गौड़ीय महात्माओं ने अधिकतर संस्कृत में अपने विद्वतापूर्ण ग्रंथों की रचना की है, जिनमें भागवत की रास पंचाध्यायी का भी मार्मिक विवेचन किया गया है। इस संप्रदाय के ब्रजभाषा कवि सर्वश्री आनंदघन जी, रामराय जी, सूरदास मदनमोहन जी, गदाधर भट्ट जी, माधुरी जी, बल्लभ रसिक जी, ललित माधुरी जी आदि के रास संबंधी पद उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं—

आनंदघन जी—रास करन मन कीनों सरद विमल मधि, तरनि-तनया तट सघन बन।
गावत सप्त स्वर, तीन ग्राम, ताल जंत्र, उछरति सब्द गति परत परन ।।
बंसी की धुनि सुनि, धाइ आईं ब्रज-नारि, मनमथ वेदन कीनौं प्रान हरन।
कोऊ पति-सुत छाँड्यौ, स्याम सों सनेह बाढ़यौ, प्रेम की तरंग तामें लगीं तरन ।।
ये सुख-सोभा दिन-दिन रहै गृह, सरस बधाए गीतन गाय।
'आनँदघन' ब्रज जीवन जोरी, रसिकन सदा सदाय ।।

रामराय जी—रास रस रसिक रासेश्वरी स्वामिनी ।।
रुचिर राजत रसिक, अधर अमृत चसिक, उरज कंचुकि-कसिक वसि करति कामिनी।
मधुर अँग-अंग छवी, सुभग हिमकर रवी, कुमुद सौरभ फवी, अधिक अभिरामिनी ।।
कनक किरनन छटा, प्रघट सहचरि घटा, चलति कर कटाक्षन सु मत्त गजगामिनी।
अलिनु आलार वस, करत पिय कौं स्ववस, गान सन्मान रस पान जस पामिनी ।।
विपिन सोभा सघन, त्रिविध पावन पवन, सलिल जमुना रवन, सरद ऋतु जामिनी।
धरत थेई-थेई चरन, मत्त मुनि मन हरन, 'श्री रामराय' सरन जुग वरन घन-दामिनी ।।

सूरदास मदनमोहन जी—चलियै जु नैक कौतुक देखियै, रच्यौ है रास मंडल,
राधे हौं आई हूँ तुमहिं लैन।
मृद-मद घसि अँग लगाय, मुकट काछिनी बनाय,
मुरली पीतांबर बिराजत, इहिं छवि मोपै न परै बैन ।।
सब सखि मिलि नाँचति-गावति, ताल मृदंग मिलि बजावति,
नृत्य करैं मध्य, मूरति मानो मैन।
'सूरदास मदनमोहन' हँसति कहा हौ जू, पाउँ धारियै,
जो पै सुख पियौ चाहौ नैन ।।

गदाधर भट्ट जी—निर्तत राधा-नंदकिसोर।
ताल मृदंग सहचरी बजावत, बिच-बिच मोहन मुरली कल घोर ।।
उरप-तिरप पग धरत धरनि पर, मंडल फिरत भुजन-भुज जोर।
सोभा अमित विलोकि 'गदाधर', रीझि-रीझि डारत तृन तोर ।।

माधुरी जी—माधुरी की रास, सब सोभा कौ निवास, जहाँ खेलत रसीले रास, मंडल वलित री ।
नूपुर चरन कंठमाल कंठ सोभित हैं, किंकिनी मुकटि कलि कूजति ललित री ।।
भृकुटी-विलास मृदु पद-न्यास नृत्य लास, वदन विकास कोटि मदन दलित री ।
मुरली की धुनि मंद-मंद गति बाजति है, ताके अनुसार चारु लोचन चलत री ।।

बल्लभ रसिक जी—उनकी रची हुई 'रास की मांझ' बड़ी सरस रचना है । उसका कुछ अंश यहाँ पर दिया जाता है—

पूरन ससि-मंडल की किरनें, मनि-मंडल पर छाईं ।
चमकि-चमकि चहुँदिसि दिसिपुलननि, बन चाँदनी बिछाई ।।
अंबर पर सुंदर तारागन, छाति छपाइ तनाई ।
'बल्लभ रसिक' विलास रास, उल्लास गाँस सुधि आई ।।
नव नागर नट चटक-मटक सों, मोर-मुकुट छवि धारी ।
धारी छवि चकटीले दुपटा, लटकत छोर छटा री ।।
किये प्रकास रास मंडल पर, तास काछनी न्यारी ।
'बल्लभ रसिकन' कर ली मुरली, सिर लिएँ तिय मनहारी ।।
झमकि चली सँग बाल, हाल करतालनि लै-लै गोरी ।
लाई गति मृदंग उपजाई, छाई बन घनघोरी ।।
थेई–थेई तत्त थेई–थेई, येई धुनि लै जोरी ।
'बल्लभ रसिक' बिहारी प्यारी, प्यारी तान झकोरी ।।
तान झकोरनि माननि तोरनि, आननि जोरनि ठानी ।।
हस्तक भेद कनक कंकन की, बनक ठनक मन मानी ।
झनक-झनक नूपुर ऊपर, पाइल की बजनि मिलानी ।
'बल्लभ रसिक' लटक बेनी की, जी की अति सुखदानी ।।
भृकुटी नचन रचन बचननि की, कटि की लचनि बनी है ।
तिय तन मोर-मुकट की लटकनि, मटकनि मैन सनी है ।।
अंचल पट में चंचल निपट, बनी के नैन अनी है ।
'बल्लभ रसिक' बनी अवनी पर, वृंदाबन अवनी है ।।

ललित किशोरी जी—शाह कुंदनलाल जी उपनाम 'ललित किशोरी' ने रास-नृत्य का सुखानुभव करते हुए कहा है—

श्रीबन बेनु बजाय कें, निरतहिं जुगलकिसोर ।
निरखहिं अति अतुराय कें अनमिष नैना मोर ।।
नाचैं दोउ कर जोरि कें, मंडल दै सखि वृंद ।
वृंदाबन पुलिनन लखौं, खिली रैन सरदिंद ।।
बंसी फूंकत मोहिनी, मोहत नव ब्रजबाल ।
करत कुंज कौतुक लखौं, मन भायौ नँदलाल ।।
ज्यों-ज्यों अँगुरी लाल की, फिरत बेणु रंध्रान ।
त्यों-त्यों थिरकत लाड़िली, निरखहुँ कुंज-लतान ।।

रास साहित्य के रचयिता पूर्वोक्त भक्त–कवियों के अतिरिक्त श्री ब्रजवासीदास और नारायण स्वामी की रास संबंधी साहित्यिक देन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ उनकी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

ब्रजवासीदास—उनका रचा हुआ **'ब्रज विलास'** रास लीलाओं का प्रसिद्ध ग्रंथ है; जिसकी रचना सं० १८०९ में हुई थी। यह ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। इसकी रचना में सूरदासादि प्राचीन कवियों की उक्तियों का प्रचुरता से उपयोग किया गया है, अतः इसमें मौलिकता का अभाव है। कवि ने सूरदास जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए लिखा है—

या में कछुक बुद्धि नहीं मेरी। उक्ति-जुक्ति सब सूरहिं केरी॥
कियौ सूर सुख-सिंधु उजारा। तामैं प्रेम–तरंग अपारा॥
हरि के चरित-रतन विधि नाना। 'ब्रजविलास' सो सुधा समाना॥

'ब्रज विलास' में वर्णित लीलाएँ इस प्रकार हैं—१. पूतना वध, २. कागासुर वध, ३. तृणावर्त बध, ४. अन्नप्रासन, ५. नामकरण, ६. वर्षगाँठ, ७. ब्राह्मण लीला, ८. कर्णछेदन, ९. माँटी भक्षण, १०. शालिग्राम लीला, ११. ब्राह्मन लीला, १२. माखन चोरी, १३. दांबरी बंधन, १४. वृंदाबन गमन, १५. वत्सासुर बध, १६. धेनु दुहुन, १७. मोती बोवन लीला, १८. बकासुर बध, १९. चकई–भौरा खेलन, २०. राधा प्रथम मिलन, २१. अघासुर बध, २२. ब्रह्मा मोह, २३. गोदोहन, २४. धेनुक बध, २५, कालीय दमन, २६. दावानल पान, २७. प्रलंबासुर बध, २८. पनघट लीला, २९. चीर हरण लीला, ३०. गोबर्धन लीला, ३१. वरुण द्वारा नंद हरण, ३२. वैकुंठ दर्शन, ३३. दानलीला, ३४. गोपी प्रेम, ३५. स्नान लीला, ३६. बाट में मिलन, ३७. संकेत मिलन, ३८. प्यारी के घर मिलन, ३९. नैन अनुराग, ४०. मुरली वादन, ४१. रास लीला, ४२. अंतर्धान लीला, ४३. महामंगल रास, ४४. मान लीला, ४५. हिंडोरा लीला, ४६. फागुन होरी, ४७. सुदर्शन-शाप मोचन, ४८. शंखचूड़ बध, ४९. वृषभासुर वध, ५०. केशी बध, ५१. व्योमासुर बध, ५२. मथुरा गमन, ५३. रजक बध, ५४. मल्लयुद्ध, ५५. कंस बध, ५६. वसुदेव गृह उत्सव, ५७. कुब्जा गृह गमन, ५८. नंद विदा, ५९. यज्ञोपवीत, ६०. उद्धव गोपी संवाद।

नारायण स्वामी—वे विरक्त संन्यासी थे; किंतु रसिक भक्त और रास के बड़े प्रेमी थे। उनकी रचनाओं का संकलन **'ब्रज विहार'** नामक ग्रंथ में है; जिसकी अनेक लीलाओं का रासानुकरण में उपयोग किया जाता है। 'ब्रज विहार' की लीलाएँ इस प्रकार हैं—१. रास की रीति, २. कृष्ण की बधाई, ३. श्री वृषभानोत्सव, ४. बाल लीला, ५. महादेव लीला, ६. यमलार्जुन लीला, ७. माखन-चोरी लीला, ८. पनघट लीला, ९. मग रोकन, १०. उराहनौ, ११. मनिहारी, १२. गोरे ग्वाल, १३. मुदरिया, १४. मालिन, १५. अनुराग, १६. बिसातिन, १७. मान, १८. खंडिता भाव, १९. बैनी गूंथन, २०. ब्रह्मचारी, २१. खेवट, २२. बंशी, २३. बंशीवट, २४. अवधूतिन, २५. प्रीति परीक्षा, २६. चंद्रावलि, २७. गेंद लीला, २८. चीर लीला, २९. श्याम सखी लीला, ३०. नाग लीला, ३१. हिंडोरा, ३२. सांझी, ३३. भतरौड, ३४. गोबर्धन, ३५. होली लीला, ३६. दधि लीला, ३७. दान लीला, ३८. वेणु गीत, ३९. पूर्णमासी लीला, ४० वैद्य लीला, ४१. कंस लीला, ४२. धनुषभंजन लीला, ४३. कुवलिया वध, ४४. उद्धव लीला।

ब्रजभाषा का रास-साहित्य अत्यंत विशद और विशाल है; जिसका अधिकांश भाग कीर्तन की पोथियों में संकलित मिलता है। यहाँ पर उसका संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया गया है।

सप्तम अध्याय

ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले

उद्भावना और आधार—किसी भी देश, जाति और समाज की सजीवता, समृद्धि और उसके सुखी जीवन का ठीक-ठीक अनुमान उसके उत्सव, त्यौहार और मेलों से लगाया जा सकता है। जो समाज जितना अधिक उत्सवप्रिय होगा, वह उतना ही अधिक सुखी, समृद्ध और संपन्न भी होगा। हमारा देश सदा से अपने उत्सव–समारोहों के लिए प्रसिद्ध रहा है। यही बात हमारी सांस्कृतिक समृद्धि की सूचक है। इस समय हमारा देश पूर्ववत् सुखी और संपन्न नहीं है; किंतु हमारी उत्सवप्रियता भविष्यत् समृद्धि की आशा जगाये रखती है।

हमारे प्रायः सभी उत्सव–समारोह प्रकृति–पूजा और प्रकृति–परिवर्तन की अनुभूति पर आधारित हैं। सृष्टि के आदि काल से ही मानव समुदाय प्रकृति–पूजा करता आ रहा है। उसने प्रकृति के विविध रूपों की कल्पना कर उनके प्रति अपनी श्रद्धामयी भावना व्यक्त करने में आनंद का अनुभव किया है। सूर्य, चंद्र, आकाश, उषा, अग्नि, जल आदि को देवता मान कर उनकी उपासना करना प्रकृति–पूजा से ही संबंधित है। इस पूजनीय प्रकृति के सामयिक परिवर्तनों की अनुभूति ने मानव-समाज में ऋतुओं तथा महीनों की कल्पना को जन्म दिया है और उनके द्वारा हर्ष एवं आनंद के सुयोग प्राप्त करने की इच्छा के कारण हमारे उत्सव, त्यौहार और मेले बने हैं। इस प्रकार ये सभी उत्सव–समारोह प्रकृति–परिवर्तन की आनंददायी अनुभूति के प्रतीक बन कर हमारी धार्मिक भावना और मनोरंजकता को व्यक्त करने के साधन रहे हैं।

सांस्कृतिक एकीकरण के सूचक—हिंदू संस्कृति में चारों वर्णों के लिए चार मुख्य उत्सव नियत किये गये हैं,—ब्राह्मणों के लिए श्रावणी, क्षत्रियों के लिए दशहरा, वैश्यों के लिए दीवाली और शूद्रों के लिए होली। ये उत्सव वर्णों के अनुसार विभाजित अवश्य किये गये हैं, किंतु व्यवहार में वे उक्त वर्णों तक ही सीमित नहीं हैं। सभी लोग इन चारों प्रधान उत्सवों को समान रूप से मनाते हैं। यह भावना हमारे सांस्कृतिक एकीकरण और धार्मिक समन्वय की सूचक है।

प्रकृति-परिवर्तन के प्रतीक—इन चारों प्रमुख समारोहों में से श्रावणी वर्षा ऋतु का उत्सव है, दशहरा और दीवाली शरद ऋतु के मेले हैं तथा होली बसंत ऋतु की आगमन–वेला का त्यौहार है। जब ग्रीष्म के भीषण आतप से झुलसाई हुई प्रकृति वर्षा ऋतु में लहलहाने लगती है, तब श्रावणी का धार्मिक पर्व और झूलनोत्सव का लोक–त्यौहार आता है। घनघोर वर्षा की बाढ़ और गरकी से जब प्रकृति में कुहराम मच जाता है, तब उसे शांत करने को शरद की सुहावनी ऋतु आती है और उसी समय दशहरा तथा दीवाली के प्रसिद्ध लोकोत्सव होते हैं। भयंकर शीत से सताई हुई प्रकृति जब बसंत के आगमन की बेला में मुसकराने लगती है, तब होली का आनंददायी त्यौहार आता है। इस प्रकार हमारे सभी उत्सव, त्यौहार और मेले प्रकृति की परिवर्तित अवस्थाओं के सूचक हैं। इनकी यह विशेषता है कि ये बसंत, वर्षा और शरद के आनंददायी महीनों में ही मनाये जाते हैं। भीषण गर्मी, घनघोर वर्षा और कठिन शीत के महीनों से इन्हें बचाया गया है। हर्ष, उल्लास और मनोरंजन का वातावरण सुखद समय में ही बन सकता है, कठिन काल में नहीं।

ब्रज में उत्सवों का आधिक्य—भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा ब्रज में सदा से ही उत्सव-समारोहों की अधिकता रही है। इस संघर्षपूर्ण युग में जब प्रत्येक जन का जीवन अनेक झंझटों में उलझ कर अशांत बना हुआ है, तब भी ब्रज की जनता अपने इन उत्सव, त्यौहार और मेलों के कारण ही कुछ आनंद और उल्लास का अनुभव कर लेती है। ब्रज में कोई ऋतु और ऋतु का कोई महीना ही नहीं, वरन् महीने का भी शायद ही कोई दिन हो, जब यहाँ कोई छोटा-बड़ा उत्सव, मेला और त्यौहार न मनाया जाता हो। इसीलिए ब्रज में **'सात बार, नौ त्यौहार'** की लोकोक्ति प्रचलित है। इन उत्सव-समारोहों के कारण यहाँ सदैव धार्मिक धूम-धाम का वातावरण और लौकिक मनोविनोद का समाँ बना रहता है। इनका आनंद प्राप्त करने के लिए यहाँ समस्त भारतवर्ष के लाखों यात्री प्रति वर्ष आते रहते हैं।

ब्रज के उत्सवों की धार्मिक भावना—ब्रज के सभी उत्सव, त्यौहार और मेले धार्मिक भावना से अनुप्राणित हैं। इनका संबंध किसी न किसी देवता से जुड़ा हुआ है। वैसे तो वे अधिकतर राधा-कृष्ण की लीलाओं के रंग में रँगे हुए हैं; किंतु ऐसे भी अनेक उत्सव हैं, जिन पर अन्य देवी-देवताओं का भी प्रभाव है। ऐसे समारोहों में शिव चौदस, देवी अष्टमी, राम नवमी के साथ ही साथ जाहरपीर, कुआ वाला, जखैया आदि की पूजा के लोकोत्सव उल्लेखनीय हैं; जो शिव, शक्ति, लोक देवता, यक्षादि से संबंधित हैं। नाच पंचमी और बट-पीपल की पूजा विषयक लोक त्यौहारों पर आदिम काल की सर्प-पूजा अथवा वृक्ष-पूजा की छाया स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। फिर भी ब्रज के अधिकांश उत्सव-त्यौहारादि राधा-कृष्ण की लीलाओं से ही प्रभावित हैं। भगवान् श्री कृष्ण के लीला स्थल और कृष्णोपासक सभी संप्रदायों के केन्द्र होने के कारण ब्रज में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। ब्रज के भक्त-कवियों ने प्रायः सभी उत्सवों को राधा-कृष्ण की उपासना से जोड़ दिया है और उनसे संबंधित अनेक रचनाएँ की हैं। हम यहाँ पर ऋतुओं और महीनों के क्रम से ब्रज में मनाये जाने वाले धार्मिक उत्सवों, लोक-त्यौहारों और जनप्रिय मेलों का वर्णन करते हैं।

बसंत ऋतु (फाल्गुन-चैत्र) के उत्सव-त्यौहार—

बसंतोत्सव—बसंत ऋतु के अंतर्गत चैत्र-वैशाख के महीने माने जाते हैं; किंतु इस ऋतु का प्रभाव उनसे पहिले ही दिखलाई देने लगता है। इस ऋतु के दो मुख्य समारोह 'बसंतोत्सव' और 'होलिकोत्सव' हैं, जो चैत्र से पहिले ही मनाये जाते हैं। 'बसंत पंचमी' और 'होली' के त्यौहार क्रमशः माघ शु० ५ और फाल्गुन शु० १५ को होते हैं। आजकल के हिसाब से ये शिशिर ऋतु के उत्सव हैं; किंतु प्राचीन परंपरा के अनुसार इन्हें बसंत ऋतु के ही अंतर्गत माना जाता है।

बसंत ऋतु के अवतरण के उपलक्ष में प्राचीन काल में एक उत्सव मनाया जाता था, जिसे **'सुबसंतक'** कहते थे। वर्तमान कालीन 'बसंत पंचमी' का उत्सव उसका प्रतिनिधि कहा जा सकता है। उस दिन ब्रज के नर-नारी और बालक-बालिकाएँ शिशिर ऋतु के 'गुलाबी जाड़े' में ही बसंती रंग के झीने वस्त्र पहिन कर बसंत ऋतु के स्वागत करने को तैयार हो जाते हैं। इस ऋतु के प्राचीन उत्सवों में सुबसंतक के अतिरिक्त बसंतोत्सव, मदनोत्सव, अशोकोत्तंसिका आदि के भी नामोल्लेख मिलते हैं, जिनके मनोरंजक विवरणों से प्राचीन ग्रंथ भरे पड़े हैं। आजकल इनका प्रतिनिधि होलिकोत्सव है, जो फाल्गुन के पूरे महीने भर तक बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

'बसंत पंचमी' सरस्वती देवी के भी जन्म का दिवस है; अतः उस दिन सरस्वती-पूजा होती है। जैन समाज में उस दिन सरस्वती पूजन की आम प्रथा है। उसे 'श्री पंचमी' भी कहते

हैं; क्यों कि उसी दिन समुद्र से लक्ष्मी की उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार यह विष्णुप्रिया लक्ष्मी देवी का भी जन्म दिवस है। यह ब्रज का एक प्रसिद्ध लोकोत्सव और त्यौहार है। ब्रज की नारियाँ और बालक-बालिकाएँ उस अवसर पर पीले वस्त्र पहिनती हैं। विवाहित महिलाएँ सौभाग्य-वृद्धि की कामना करती हुई उस दिन व्रत रखती हैं और लक्ष्मी-नारायण का दर्शन-पूजन करती हैं। मथुरा में श्री कृष्ण-जन्म स्थान पर उस दिन उत्सव होता है और मेला लगता है। वृंदावन में शाह जी के मंदिर का एक सजा हुआ कमरा 'बसंती कमरा' कहलाता है, जिसे देखने और ठाकुर जी के दर्शन करने को उस दिन हजारों दर्शनार्थी एकत्र होते हैं।

ब्रज के मंदिरों में उस दिन विशेष उत्सव होते हैं। सरसों के पीले फूल, बेर तथा रेबड़ी से भगवान् का भोग लगाया जाता है; अबीर-गुलाल उड़ाया जाता है और बसंत के पद गाये जाते हैं। ब्रजभाषा के भक्त-कवियों ने इस अवसर के लिए बहु संख्यक पद रचे हैं; जिनमें से दो यहाँ दिये जाते हैं—

रितु बसंत वृंदाबन, फूले द्रुम भाँति-भाँति, सोभा कछु कहि न जात, बोलत पिक-मोर-कीर।
खेलत गिरिधरन धीर, संग ग्वाल वृंद भीर, विहरत मिल जमुना-तीर, बाढ़ी तन मदन-पीर ।।
आईं ब्रज नवल नारि, संग राधिका कुमारि, नव सत साजे सिंगार, नवल बसन चीर।
बदन कमल नैन–भाल, छिरकत केसर–गुलाल, बूका–चोबा रसाल, सोंधौं–मृगमद–अबीर ।।
बाजत बीना–उपंग, बाँसुरी–मृदंग–चंग, मदनभेरि–महुवर–डफ–झाँझ–झालरी–मँजीर।
निरखत लीला अपार, भूलीं सुधि-बुधि सँभार, बलिहारी 'विष्णुदास' देखत ब्रजचंद धीर ।।

खेलत बन सरस बसंत लाल। कोकिल कल कूजत अति रसाल ।।
जमुना के तट फूले तमाल। केतकी–कुंद नौतन प्रबाल ।।
तहाँ बाजत बीन-मृदंग-ताल। बिच-बिच मुरली अति ही रसाल ।।
नव बसंत साजि आईं ब्रज की बाल। सजि भूषन-बसन अंग,तिलक भाल ।।
चोबा, चंदन, अबीर हु गुलाल। छिरकत हैं पिय मदनगुपाल ।।
आलिगन, चुंबन देत गाल। पहरावत उर फूलनि की माल ।।
ईहि विधि क्रीड़त ब्रज-नृप कुमार। 'कुंभनदास' बलि-बलि बलिहार ।।

शिव चौदस—फाल्गुन के उत्सवों में शिव चौदस का व्रत और लोक-त्यौहार भी उल्लेखनीय है। यह लोकोत्सव फाल्गुन कृ० १४ को मनाया जाता है। उससे एक दिन पहिले तेरस की रात को शिव-रात्रि का जागरण करते हुए महादेव-पार्वती विवाह के लोक गीत गाये जाते हैं। जोगी लोग अपनी सारंगी और डमरू पर महादेव-पार्वती के विवाह की लोक कथा का गायन करते हैं। दूसरे दिन नर-नारी व्रत रखते हैं और महादेव जी की पूजा करते हैं। उसी दिन स्त्रियाँ नव विवाहित दम्पति के साथ महादेव-पार्वती के मंदिर में **'जेगड़'** चढ़ाता हैं। वे मिट्टी की कोरी गागरों में पानी भर कर गाती-बजाती हुई महादेव जी के मंदिर में जाती हैं और वहाँ नव दम्पति से महादेव-पार्वती का पूजन करा कर उन गागरों को चढ़ा देती हैं। उसे गागर या जेगड़ चढ़ाना कहते हैं। जिस समय स्त्रियों की मंडली 'जेगड़' चढ़ाने जाती है, उस समय वे प्रायः होली के रसिया की एक धुन का गायन करती हैं, जो इस प्रकार है—**'डौढ़ौ है जा रे, बान लगि जायगौ।**

पहिलौ बान लग्यौ रसिया के, खड़ौ ही खड़ौ रहि जायगौ ।। डौढ़ौ है जा रे बान०।'

इस प्रकार इस त्यौहार पर उस होली का रंग चढ़ा होता है, जो फाल्गुन के महीने का सबसे प्रमुख लोकोत्सव है।

होलिकोत्सव—यह इस देश का अत्यंत प्राचीन और लोक-प्रसिद्ध उत्सव है। ब्रज का तो यह सबसे प्रमुख धार्मिक समारोह, लोकोत्सव और जनप्रिय त्यौहार है; जो यहाँ घर-घर में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। ब्रज की होली समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। शीतकाल से सताई हुई प्रकृति जब बसंत के आगमन की बेला में फिर से मुसकराने लगती है, तब होली का आनंददायी त्यौहार आता है। उस समय समस्त ब्रजमंडल में हर्ष, उल्लास और उमंग की लहर उमड़ पड़ती है। उसकी परिधि इतनी विशद और व्यापक होती है कि साधारण झोंपड़ी में रहने वाले कृषक और श्रमिक से लेकर ऊँची अट्टालिकाओं के निवासी सेठ-साहूकार तक उससे समान रूप से प्रभावित होते हैं। उस अवसर पर हास्य-विनोद, गायन-वादन और नृत्य-नाट्य के विविध आयोजनों की सर्वत्र बड़ी धूम मच जाती है।

होली की परंपरा—भारतवर्ष में होलिकोत्सव मनाने की परंपरा कब से प्रचलित है, इसे ठीक-ठीक बतलाना कठिन है। इतना निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यह अत्यंत प्राचीन उत्सव है और इसका उल्लेख संस्कृत एवं प्राकृत भापाओं के प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। आरंभ में यह उत्सव एक धार्मिक यज्ञ के रूप में मनाया जाता था। जिस समय खेतों में गेहूँ—जौ की नई फसल तैयार होती थी, उस समय सब लोग उस यज्ञ को नवान्न की प्रथम आहुति देकर सम्पन्न किया करते थे। इस प्रकार के यज्ञ को 'यवाग्रयण' अथवा 'नवान्नेष्टि' कहा गया है। आजकल भी जलती हुई होली में जौ की बालों को भूनने प्रथा है, जो प्राचीन 'यवाग्रयण' यज्ञ का स्मरण दिलाती है। संस्कृत भाषा में अन्न की बाल को 'होला' कहते हैं। उसी से इस उत्सव का नाम भी 'होली' पड़ गया है।

यह उत्सव जिस रूप में आजकल मनाया जाता है, प्रायः वैसा ही प्राचीन काल में भी मनाया जाता था। बसंत ऋतु का आगमन होते ही प्राचीन भारत में इसे सामूहिक मनोविनोद के सार्वजनिक उत्सव के रूप में किया करते थे। उस समय सब लोग स्वच्छंद रूप से हास्य-विनोद, गायन-वादन और केलि-क्रीड़ा में तल्लीन हो जाते थे। उसी उत्सव का कुछ परिवर्तित रूप आजकल का यह 'होलिकोत्सव' है। इसमें जो अबीर, गुलाल और पिचकारी आदि का उपयोग होता है अथवा हँसी-मज़ाक और गाली-गलौज का प्रयोग किया जाता है—इनकी भी प्राचीन परंपरा रही है। पुराणों ने तो इस प्रकार के भद्दे प्रदर्शनों को भी शास्त्रीय व्यवस्था द्वारा वैध बना दिया है! 'भविष्योत्तर' पुराण में लिखा गया है कि 'ढुंढा' नामक राक्षसी के उपद्रव को शांत करने के लिए शीतकाल की समाप्ति पर फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा के प्रदोष काल में सब लोग निर्भय और निःशंक होकर हँसे-खेलें; रंग-विरंगे वस्त्र पहिन कर, चंदन-गुलाल-अबीर लगा कर और पान खाकर सब एक-दूसरे पर पिचकारियों से रंग छिड़कें; परस्पर गाली देते हुए सब लोग हास्य-विनोद करें तथा स्त्रियाँ नृत्य करें। फिर स्वच्छंद और निःशंक रूप से सब हो-हल्ला मचावें। इसे प्रकार शब्द करने से उस राक्षसी के भय का निराकरण होता है तथा सब पाप नष्ट हो जाते हैं—

अयं पंचदशी शुक्ला फाल्गुनस्य नराधिप। शीत कालांत सम्प्राप्तो प्रातर्मधु भविष्यति॥
अभयं सर्व लोकानां दीपतां पुरुषोत्तम। यथा ह्यंशक्ति लोका रमन्ति च हसन्ति च॥
नाना रंगमयैर्वस्त्रैश्चन्दनागुरुमिश्रितैः। अबीरं च गुलालं च मुखे ताम्बूल भक्षणम्॥
वंशोत्थं जलयन्त्रंच चर्मयन्त्रं करे धृतम्। गालि दानं तथा हास्यं ललनानर्तनं स्फुटम्॥
जल्पन्तु स्वेच्छया सर्वे निःशंका यस्य मन्मतम्। तेन शब्देन सा पापा होमेन च निराकृता॥

होली जलाने से पहिले अर्घ्य देने का जो मंत्र है, उसमें ढुंढा राक्षसी के नाश की तथा उसके समस्त उपद्रवों को शांत करने की इस प्रकार प्रार्थना की गई है—

होलिके च नमस्तुभ्यं, ढुण्ढा तेजो विर्मार्दिनी। सर्वोपद्रव शान्त्यर्थ गृहाणार्घ्यं नमोस्तुते।।

होली जलाने के बाद रात्रि में गायन, वादन और नृत्य करने का विधान है—**'गीत वाद्यैस्तथां नृत्यैः रात्रिः सा नीयते जनैः'**। फिर दूसरे दिन होली की राख (भस्म) शरीर पर लगाने से वैभव की वृद्धि होना माना गया है—**'अतस्त्वं पाति नो देवि विभूतिर्भूतिप्रदा भवेत्'**। होली के दूसरे दिन भस्म लगाने की प्रथा आजकल भी है; किंतु उसका विकृत रूप धूल, मिट्टी, कीचड़ आदि उछालना भी चल पड़ा है। बौद्ध धर्म ग्रंथ 'धम्मपद' में 'वाल नक्खत' नामक एक लोकोत्सव का उल्लेख हुआ है, जिसे 'मूर्खों का मेला' कहना उचित है। उसकी तुलना वर्तमान काल की विकृत होली से की जा सकती है।

संस्कृत साहित्य में वात्सायन कृत 'कामसूत्र' तथा हर्ष कृत 'रत्नावली' ऐसे ग्रंथ हैं, जिनमें होलिकोत्सव का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। उनमें नर-नारियों द्वारा पिचकारियों से रंगीन जल की बौछार करने, मादक वस्तुओं का सेवन करने और विविध भाँति के हास्य-विनोद करने के मनोरंजक उल्लेख हैं। उस काल में पिचकारियाँ बांस अथवा चमड़ा की होती थीं और उनका आकार सींग अथवा साँप के फन जैसा होता था। इसीलिए उन्हें 'श्रृंगक' या 'उद्यत फणाकृति श्रृंगकः' कहा गया है। उस अवसर पर जो गायन-वादन होता था, उससे संबंधित कुछ विशिष्ट नामों का भी उल्लेख मिलता है। उस समय गाये जाने वाले गान को 'चर्चरी' कहा गया है। उसी का बिगड़ा हुआ रूप आजकल का 'चांचर' है, जो होली का खास राग है। वाद्यों में एक विशिष्ट यंत्र 'मर्दल' का उल्लेख किया गया है, जो ब्रज साहित्य में 'मादल' अथवा 'मादिलरा' के रूप में मिलता है। अष्टछापी कृष्णदास के एक पद में उक्त वाद्य यंत्र का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—**'गिड़गिड़तां धितां धितां मादिलरा बाजै।'** वात्सायन कृत 'कामसूत्र' और हर्ष कृत 'रत्नावली' के अतिरिक्त यशोवर्मन के दरबारी कवि भवभूति कृत 'मालती माधव' में भी होली मनाये जाने का प्रमाण मिलता है। संस्कृत के इन प्रसिद्ध ग्रंथों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के आरंभ से आठवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में होली प्रायः इसी प्रकार मनाई जाती थी।

मुसलमानी काल में भी होली मनाये जाने के क्रमबद्ध उल्लेख मिलते हैं। ११वीं शती में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया था। उसके साथ भारत आने वाले उसके मीर मुंशी अलबरुनी ने उस काल में यहाँ होली मनाने का उल्लेख किया है। मुगल बादशाहों के शासन-काल में तो होली बड़े धूमधाम से मनाई जाती थी। उसमें स्वयं बादशाह अपनी बेगमों सहित भाग लेते थे। अकबर के शासन में राजपूत राजाओं का विशेष प्रभुत्व था। उन राजाओं का प्रेम अर्जित करने के लिए अकबर ने होली-दीवाली आदि हिंदू त्यौहारों को उसी उत्साह से मनाना आरंभ किया था, जिस प्रकार वे राजा गण मनाते थे। होली से काफी दिनों पहिले ही राजस्थान के अनेक राजा गण दल-बल सहित आगरा आकर बादशाह के साथ होली खेलने की प्रतीक्षा करते थे। अकबर की हिंदू रानियों के महल होली की चहल-पहल के प्रमुख केन्द्र बन जाते थे। होलिका-दहन से प्रायः एक सप्ताह पूर्व किले के हौज़ों में सुगंधित रंगीन जल भर दिया जाता था। बादशाह अकबर स्वयं दीवाने-खास में अपने सरदार-सामंतों के साथ तथा अंतःपुर में रानियों और बेगमों के साथ

होली खेलते थे। उन दिनों दरबार में नित्य नये सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा गायन-वादन आदि के कलात्मक प्रदर्शन हुआ करते थे। किले के मैदान में जहाँ राजा-महाराजाओं के खेमे लगे होते थे, वहाँ बादशाह सलामत की होली बनाई जाती थी, जिसे बड़े आयोजन के साथ फाल्गुन की पूर्णिमा के सायंकाल को जलाया जाता था। उस होली में अग्नि लग जाने के बाद ही आगरा नगर की जनता अपने-अपने मुहल्लों में होली जलाती थी। शाहंशाह अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में भी इसी प्रकार होली मनाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। जहाँगीर बादशाह का एक चित्र अपनी बेगमों के साथ होली खेलते हुए मिला है। औरंगजेब बड़ा तास्सुबी मुसलमान था और वह हिंदू संस्कृति का प्रबल विरोधी भी था। उसने मपने शासन-काल में मनोविनोद की अनेक बातें बंद कर दी थीं। दरबारी संगीत को भी उसने प्रोत्साहन नहीं दिया था। ऐसा जान पड़ता है, होली का राग-रंग भी उसके शासन-काल में फीका पड़ गया था।

मुसलमानी शासन के शिथिल हो जाने पर जब जाटों और मरहठों का महत्व बढ़ा, तब फिर से ब्रज में होली की उमंग दिखलाई देने लगी थी। ग्वालियर के सिंधिया राजा आगरा और मथुरा में बड़े उत्साह पूर्वक होलिकोत्सव मनाते थे। होली के दिनों में प्रमुख व्यक्तियों द्वारा सांस्कृतिक गोष्ठियों का आयोजन किया जाता था, जिनमें गायन, वादन और नृत्य के सरस कार्यक्रम होते थे। उस समय ब्रज की साधारण जनता होली को और भी अधिक उत्साह पूर्वक मनाने लगी थी। उस काल में शास्त्रीय सांस्कृतिक कार्यक्रमों के साथ ही साथ लोक नृत्य और भगत-नौटंकी आदि लोक नाट्यों की भरमार हो गई थी। नर्तकियों और बेड़नियों के बाजारू नाँच तथा चंग और चिकाड़ों पर लोक गायन जन साधारण के मनोरंजन के साधन बन गये थे। अंगरेजों के शासन-काल में और अब स्वाधीन भारत में भी होलिकोत्सव बड़े उत्साह से मनाया जाता है; किंतु उसका रूप अब विकृत हो गया है। इसे प्राचीन परंपरा की भाँति ही मनाये जाने का प्रयत्न होना चाहिए।

होली का वातावरण—ब्रजमंडल में 'बसंत पंचमी' (माघ शु० ५) से ही होली का आरंभ हो जाता है और चैत्र कृ० ५ को उसकी समाप्ति होती है। फाल्गुन शु० १५ उसका खास दिन है। इस प्रकार प्रायः ४५ दिन तक ब्रज में होली का वातावरण बना रहता है। ब्रज के मंदिर-देवालयों में वसंतोत्सव की पहिली झाँकी माघ शु० ५ को होती है और उसका समापन माघ शु० १४ को होता है। माघ शु० १५ को होली का 'डांड़ारोपण' किया जाता है और फाल्गुन शु० १५ को 'होलिका-दहन' होता है। ब्रज के जन-जीवन में फाल्गुन के पूरे महीने भर तक होली के विविध आयोजन होते रहते हैं। उस अवसर पर आमोद–प्रमोद, नाँच-गान और राग-रंग के साथ ही साथ पिचकारी और गुलाल के उपयोग से होली का वातावरण उत्साह और उमंग से भर जाता है।

होली की धूम-धाम—ब्रज में होली की धूम-धाम फाल्गुन के दूसरे पखवाड़े में होती है। उस समय नगरों और गाँवों के गली-मुहल्लों में ऊपले, लकड़ी, काठ-कवाड़ आदि ईंधन को अधिक परिमाण में इकट्ठा किया जाता है और उसे फाल्गुन शु० १५ को होली का पूजन करते हुए जला दिया जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार काष्ठ-संचय का यह कार्य फाल्गुन शु० ५ से शु० १४ तक के १० दिनों में किया जाना चाहिये—**'पंचमी प्रमुखास्तास्तु तिथ योनन्त पुण्यदाः। दशस्युः शोभनास्तासु काष्ठस्तयं विधीयते ॥'** फाल्गुन शु० ८ से शु० १५ तक के आठ दिन 'होलिकाष्टक' कहे जाते हैं। उन दिनों लोक-व्यवहार के प्रमुख आयोजन स्थगित हो जाते हैं। ब्रज की ग्रामीण जनता

गाँवों से बाहर जाना बंद कर देती है और खेती-बाड़ी के कामों से फुर्सत पा लेती है। बाल-बच्चों का काम होली के लिए लकड़ी-ऊपला इकट्ठा करना और युवा नर-नारियों का काम आपस में हँसी-ठट्ठा, व्यंग-विनोद करना तथा होली के लोक गीतों का गायन करना मात्र रह जाता है। उस काल में राग-रंग, गायन-वादन और नृत्य-नाट्य के साथ ही साथ हास-परिहास, हँसी-मज़ाक और ऊधम-उत्पात का जो दौर चलता है, वह होली के खास दिन के आते-आते अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। ब्रज के विभिन्न स्थानों में जहाँ छोटे-बड़े लोग आपस में हँसी-मज़ाक और ठट्ठा करते हैं, वहाँ सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में होली की मजलिसें जमती हैं। उनमें धमारों के शास्त्रीय गायन तथा रसियों के लोक-गीतों का समाँ बँध जाता है। बाज़ारों में प्रति दिन चौपई, डंडेशाही, स्वांग-तमाशों के जुलूस निकलते हैं।

फाल्गुन शु० १५ और चैत्र कृ० १ होली के दो खास दिन माने जाते हैं। फाल्गुन शु० १५ को सभी स्थानों में होलिका-दहन होता है। उस दिन चौराहों पर होली जलाई जाती है, जिसमें इकट्ठा किया हुआ समस्त काठ-कवाड़ फूँक दिया जाता है। चैत्र कृ० १ को 'दुल्हैड़ी' का त्यौहार होता है। उस दिन प्रातःकाल से ही रंग-गुलाल और साथ ही साथ ऊधम-उत्पात की भी धूम मच जाती है। सभी लोग आपस में एक दूसरे को गुलाल लगाते हैं और हँसी-मज़ाक करते हैं। बच्चे पिचकारियों से रंगीन जल फैंक कर लोगों के कपड़े तर कर देते हैं। ये सब कार्यक्रम दोपहर तक समाप्त हो जाते हैं। फिर सभी लोग नहा-धोकर सायंकाल को अपने इष्ट मित्रों से प्रेम पूर्वक मिलते हैं और परस्पर मिठाई वितरण करते हैं। उस दिन मथुरा में कृष्ण-जन्म स्थान पर श्री केशवदेव जी के मंदिर में मेला होता है।

मंदिरों की होली—जनता में चाहें होली का प्राचीन उत्सव कुछ विकृत हो गया है, किंतु ब्रज के मंदिर-देवालयों में अभी तक पुरानी परंपरा का ही निर्वाह किया जाता है। मथुरा, वृंदाबन, गोकुल, बलदेव, नंदगाँव और बरसाने के मंदिरों में उन दिनों ठाकुर जी की जो झांकियाँ होती हैं, उनमें होली का परंपरागत रूप ही दिखलाई देता है। मथुरा में ठाकुर द्वारकाधीश और श्री दाऊजी-मदनमोहन जी के मंदिरों में, वृंदाबन में श्री बिहारी जी के मंदिर में, गोकुल में श्री गोकुलनाथ जी के मंदिर में, बलदेव में श्री दाऊजी के मंदिर में और बरसाना-नंदगाँव में लाड़ली जी तथा नंदराय जी के मंदिरों की होली में झांकियाँ दर्शनीय होती हैं। वृंदाबन में 'रंग भरनी' एकादशी से तथा नंदगाँव-बरसाने में नवमी-दशमी से रंग गुलाल का उड़ना और टेसू फूलों के रंगीन जल की बौछार का होना आरंभ हो जाता है। मथुरा के बल्लभ संप्रदायी मंदिरों में उससे भी पहिले होली के दर्शन होने लगते हैं। बल्लभ संप्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार तो पूरा फाल्गुन ही होली के उत्सवों का महीना है। उसमें प्रति दिन होली की झांकियाँ होती हैं, कीर्तनियाँ धमारों का गायन करते हैं और ढप-ताल-मजीरों के साथ होली के रसिया गाये जाते हैं।

मथुरा में श्री दाऊजी-मदनमोहन जी के मंदिर बल्लभ संप्रदाय से संबंधित हैं। उनमें अब से २०-२५ वर्ष पहिले तक होलिकोत्सव की बड़ी धूम-धाम होती थी। मंदिरों में होली से कितने ही दिन पहिले गायन-वादन और रंग-गुलाल की भरमार हो जाती थी। फाल्गुन शु० ९-१० को ठाकुर जी की सवारी मंदिर से चल कर वाटिका में जाती थी और फिर नगर के मुख्य बाजारों में होकर निकलती थी। बाजार की दूकानों और उनके ऊपर छज्जों पर नर-नारियों के झुंड के

झुंड एकत्र हो जाते थे। ठाकुर जी की सवारी के साथ रंग गुलाल से भरी हुई बैल गाड़ियाँ चलती थीं। गोस्वामी गण और पुजारी लोग अंगोछे और रूमालों में गुलाल भर-भर कर नर-नारियों पर फैंकते थे। उस समय मथुरा नगर के प्रमुख हाट-बाजार और नर-नारी नाना प्रकार के रंगों से पट जाते थे। चारों ओर रंग ही रंग उड़ता दिखलाई देता था। विगत २०—२५ वर्षों में रंग-गुलाल बहुत मँहगे हो गये हैं और श्री दाऊजी-मदनमोहन जी के प्रसिद्ध मंदिरों की आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं रही है; इसलिए होली के वे खर्चीले कार्यक्रम बंद कर दिये गये हैं। अब तो मंदिरों के अंदर ही ठाकुर जी की साधारण झाँकियों द्वारा होली की परंपरा का किसी प्रकार निर्वाह मात्र किया जाता है। द्वारकाधीश जी के मंदिर की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत ठीक है, अतः उसमें होली के उत्सव कुछ अधिक धूम-धाम के साथ किये जाते हैं।

वृंदावन के मंदिरों में भी होली के अनेक आयोजन और ठाकुर जी के दर्शन होते हैं। फाल्गुन शु० २ से प्रायः सभी मंदिरों में होली के दर्शन होने लगते हैं। फाल्गुन शु० ११ को रंग-गुलाल की झाँकियों के साथ ही साथ बसंत राग के पदों का गायन होता है। श्री राधाबल्लभ जी के मंदिर में 'समाज' होती है, जिसमें प्राचीन परंपरा के अनुसार गायन-वादन का आयोजन किया जाता है। श्री बिहारी जी के मंदिर में फाल्गुन शु० ११ से १५ तक होली के दर्शन होते हैं। वृंदाबन के दूसरी ओर यमुना पार मानसरोवर का रमणीक स्थान है। श्री हित हरिवंश जी का विश्राम स्थल होने से यह राधाबल्लभ संप्रदाय का धार्मिक स्थान है। वहाँ फाल्गुन कृ० ११ को एक धार्मिक मेला होता है, जिसमें हजारों नर-नारी एकत्र होते हैं।

'होली-धमार' का गायन—ब्रज के मंदिरों और सांस्कृतिक स्थलों में इस अवसर पर जो शास्त्रीय गायन होते हैं, उनमें 'होली—धमार' की धूम-धाम रहती है। ब्रजभाषा के भक्त कवियों ने होली और फाग को वड़ा महत्व दिया है। राजा नागरीदास ने फाग और ब्रज का अन्योन्याश्रित संबंध बतलाते हुए कहा है—'ब्रज तें सोभा फाग की, ब्रज की सोभा फाग।' उन्होंने होली के अभाव में वैंकुंठ के स्वर्गीय वैभव को भी हेय समझा है—'स्वर्ग—वैंकुंठ में होरी जो नाँहि, तो कोरी कहा लै करैं ठकुराई।' ब्रज के भक्त कवियों द्वारा रचे हुए होली के पद इतने प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं कि वे ब्रजभाषा गेय साहित्य के विशिष्ट अंग माने जाते हैं। इनसे ब्रज के मंदिरों में होली का कीर्तन किया जाता है। यहाँ पर होली विषयक दो पद उदाहरणार्थ दिये जाते हैं—

भोर भयें नंदलाल, संग लियें ग्वाल-बाल, फेंटन भरि लिये गुलाल, बोलत मुख होरी।
केसर भरि कलस साथ, पिचकारी लियें हाथ, छिरकत हैं सोंधौ बहु, डारत ब्रज-खोरी॥
युबतिन के यूथ माँहि, धसि काढ़त पकरि बाँहि, मन में कछु सकुच नाँहि, लीने भरि झोरी।
बाजें डफ-मृदंग-ताल, कूजत मुरली रसाल, झुंडन मिलि गावत बिच महुवरि धुनि थोरी॥
यह विधि हरि करति केलि, बरन्यौ नहिं जात खेल, अनुरागे पागे सब, आये नंद—पौरी।
निरखत मुसुकानी, बारति आरती नंदरानी, छवि पर वारि डारौं, 'हरिजीवन' तृन तोरी॥

नंद-कुंवर खेलत राधा संग, जमुना-पुलिन सरस रंग होरी।
नव घनस्याम मनोहर राजत, स्यामा सुभग तन दामिनि गोरी॥
केसरि के रंग कलस भरे बहु, संग सखा हलधर की जोरी।
हाथन लिएँ कनक पिचकारी, छरकें ब्रज की नवल किसोरी॥

चोर-अबीर उड़ावत, नाँचत कटि सों बाँधि गुलाल की झोरी ।
मगन भईं क्रीड़त सब सुंदरि, प्रेम-समुद्र-तरंग झकोरी ।।
बाजत चंग–मृदंग–अधौटी, पटह–झाँझ–झालरि सुर घोरी ।
ताल–रबाव–मुरलिका–बीना, मधुर सब्द उघटत धुनि थोरी ।।
अति अनुराग बढ़्यौ तिहिं औसर, कुल–लज्जा मर्यादा तोरी ।
मदनगोपाल लाल सँग बिहरत, देह–दसा भूली भईं बौरी ।।
एक गहत फेंटा फगुवा कों, एक करत ठाड़ी जु ठठोरी ।
एक जु आँख आँजि कै भाजी, एक बिलोकि हँसी मुख मोरी ।।
एकन लई छिनाइ मुरलिका, देत गारि मोहन कों भोरी ।
एक फुलेल–अरगजा–चोबा, कुमकुम रस–गागर सिर ढोरी ।।
विविध भाँति फूल्यौ वृंदाबन, कूंजत कीर–खटपद–पिक-मोरी ।
निरखत नेह भरी अँखियन सों, यों चितवत निसि चंद चकोरी ।।
थके देव–किन्नर-मुनिगन सब, मनमथ निज मन गयौ लज्योरी ।
'परमानंदास' या सुख कों जाँचत, विमल मुक्ति–पद छोरी ।।

गाँवों की होली—ब्रज के अनेक गाँवों में भी होली के आकर्षक कार्यक्रम होते हैं । उनमें नंदगाँव-बरसाने की लठामार होली, जाब-बठैन और बलदेव के होरंगे, फालैन की होली तथा गुलाल कुंड (जतीपुरा), कोकिला बन, लाल बाग (खेलन बन) की होली और ऊमरी-रामपुर के चिरकला नृत्य की होली विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । यहाँ पर उनका विस्तृत वर्णन किया जाता है ।

बरसाने की होली—यह होली फालगुन शु० ९ को होती है । उससे एक दिन पहिले नंदगाँव के मंदिर का एक पुजारी श्री कृष्ण के सखा का प्रतीक बन कर बरसाने जाता है और वहाँ लाड़िली जी के मंदिर में पहुँचता है । मंदिर में बरसाने के सभी वयोवृद्ध गोस्वामी तथा विशिष्ट जन एकत्र होते हैं । उस समय वहाँ 'समाज' होती है, जिसमें होली के पदों का गायन–वादन किया जाता है । नंदगाँव का पुजारी वहाँ होली के रसियों का गायन करता हुआ नृत्य करता है और अपने गाँव की ओर से बरसाने में होली खेलने का आह्वान करता है, जिसे बरसाने के गोस्वामी गण स्वीकार करते हैं । दूसरे दिन नंदगाँव के गोस्वामियों का एक दल भगवान् श्री कृष्ण और उनके सखाओं के प्रतीक रूप में सज-धज कर गाता-बजाता हुआ बरसाने पहुँचता है । उनके सिरों पर रंगीन पाग, जिनमें मोरपंख लगे होते हैं, शोभित होती हैं । वे बगलबंदियों को तन पर धारण करते हैं । उनके चेहरे चंदन और गुलाल से चिते होते हैं । इस प्रकार वे ग्वालों का सा वेष बनाये हुए होली की उमंग में झूमते तथा नाँचते हुए बरसाने स्थित श्री जी के मंदिर में पहुँच जाते हैं । उस समय होरियारों का वह दल भगवान् श्री कृष्ण के वहाँ पहुँचने की सूचना के प्रतीक में बरसाने की गोपियों को संबोधन करता हुआ रसिया गायन करता है—

रसिया आयौ तेरे द्वार, खबर दीजो ।
यह रसिया पौरी में आयो, जाकी बाँह पकरि भीतर लीजो ।। रसिया आयौ० ।।

फिर वे लोग श्री राधिका जी को संबोधन कर उन्हें होली खेलने की चुनौती देते हुए इस रसिया का गायन करते हैं—

दरसन दै, निकसि अटा में तें । दरसन दै० ।।
कोटि रमा-सावित्री-भवानी, तेरे निकसी हैं अंग-छटा में तें । दरसन दै० ।।
तू ऐसी वृषभानुनंदिनी, जैसे निकस्यौ है चंद घटा में तें । दरसन दै० ।।
'पुरुषोत्तम' प्रभु यह रस चाख्यौ, जैसे माखन निकस्यौ मठा में तें । दरसन दै० ।।

मंदिर के आँगन में नंदगाँव और बरसाने के गोस्वामी गण आमने-सामने बैठ जाते हैं । वे श्री कृष्ण और राधिका के पक्ष को उपस्थित करते हुए हास-परिहास तथा व्यंग-विनोदपूर्ण गायन-नृत्य के साथ 'समाज' करते हैं । उस समय बरसाने की ओर से श्री कृष्ण को प्रेमपूर्ण गालियाँ भी गाई जाती हैं । फिर परस्पर हास-परिहास के लोक गीतों का गायन होता है ।

ग्वालों की ओर से गाया जाता है—

बूझौ याहि, संग चलैगी ?

सई-साँझ तें धरी कर्हैया, आधी रात नसैगी । बूझौ याहि० ।।

उसके उत्तर में गोपियों की ओर से गाया जाता है—

इन गलियन काम कहा तेरौ ?
इन गलियन मेरौ स्यालू फारचौ, मैं तो फारूंगी यार झगा तेरौ ।।
खिसली तोहि देखि, अटा में तें ।
तू जो कहै हो, तोहि अधवर लऊंगौ, मेरी टूटी है बाँह बरा में तें ।।

इस प्रकार हास-परिहासपूर्ण सवाल-जवाब होने के पश्चात् 'समाज' समाप्त हो जाती है । फिर रंगीली होली आरंभ होती है, जिससे चारों ओर रंग-गुलाल छा जाता है और रंगीन पानी की वर्षा होने लगती है । होली होने के अनंतर नंदगाँव के होरियारों का दल मंदिर से उतर कर नीचे आता है, जहाँ 'रंगीली गली' में बरसाने के गोस्वामियों के घर की स्त्रियाँ सज-धज कर गोटा-किनारी के लँहगा-ओढ़नी पहिने, लंबे घूंघट काढ़े हुए और हाथों में बड़े-बड़े लट्ठ लिए उनके स्वागतार्थ खड़ी मिलती हैं । गली के चारों ओर के छज्जों पर हज़ारों नर-नारी घंटों पहिले से एकत्र हो जाते हैं ।

दोनों पक्ष के होली खेलने वालों के एकत्र होने पर बरसाने की नारियाँ लोक गीतों को गाती हुई नंदगाँव के गोस्वामियों की ओर बढ़ती हैं और उन पर धड़ाधड़ लाठियों का प्रहार करने लगती हैं । नंदगाँव के लोग साखी गाते हुए उनके प्रहारों से अपने को बचाने लगते हैं । चमड़े की ढालों को अपने सिरों पर रखते हुए वे लोग घेंटुओं के बल भूमि पर बैठ जाते हैं और ढालों पर लाठियों का वार सहते हुए तथा मेंढक की भाँति फुदक-फुदक कर आगे बढ़ते हुए अपनी रक्षा करते हैं । इस प्रकार तीन वार गीतों और साखियों का गायन और फिर तीन वार लाठियों की धड़ाधड़ मार के दौर होते हैं । फिर बरसाने के गोस्वामी लोग आकर अपनी-अपनी महिलाओं को और अधिक प्रहार करने से रोक देते हैं और उन्हें सुरक्षित रूप में भीड़ में से बाहर निकाल ले जाते हैं । फिर लोक गीत गाते हुए नंदगाँव के गोस्वामी भी अपने घरों की ओर प्रस्थान करते हैं । बरसाने की यह होली अपने ढंग की एक ही है ।

नंदगाँव की होली—बरसाने की होली के दूसरे दिन फाल्गुन शु० १० को नंदगाँव की होली होती है । उस दिन बरसाने के गोस्वामी गण नंदगाँव में वहाँ के गोस्वामियों की स्त्रियों के साथ होली खेलने को जाते हैं । वे लोग राधा जी की ध्वजा लेकर गायन-वादन और नृत्य करते हुए

नंदगाँव पहुँचते हैं। वहाँ पर सब का भाग-ठंडाई और रंग-गुलाल से स्वागत किया जाता है। फिर नंदराय जी के मंदिर में 'समाज' होती है, जिसमें नंदगाँव और बरसाने के गोस्वामी गण होली के पद, लोक गीत और रसिया आदि का गायन करते हैं। उसके बाद मंदिर के आंगन में दोनों ओर के दल परस्पर होली खेलते हैं। संगीत-समाज और होली के अनंतर बरसाने के लोग नंदराय जी के मंदिर से उतर कर नीचे मैदान में आते हैं, जहाँ नंदगाँव की गोपियाँ सज-धज कर लंबे-लंबे घूंघट काढ़े हुए और बड़े-बड़े लट्ठ लिए उनके साथ लठा मार होली खेलने को तैयार मिलती हैं। यहाँ भी बरसाने की तरह नारियों द्वारा लाठियों का प्रहार और पुरुषों द्वारा अपना बचाव किया जाता है।

बरसाने और नंदगाँव में इस अवसर पर स्त्रियों द्वारा होली के 'गीत' और पुरुषों द्वारा 'साखी' गाई जाती हैं। उन गीतों और साखियों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

१. होरी खेली न जाय, होरी खेली न जाय।
सैनन में मोय गारी दई, पिचकारी दई, होरी खेली न जाय॥
क्यों रे लंगर, लंगराई मोतें कीनीं, केसर–खौरि कपोलन दीनीं।
लै गुलाल ढाड़ौ मुसिकाय, होरी खेली न जाय॥ होरी०

२. चूंदरिया रंग में बोरि गयौ, वो कान्हा बंसी वारौ॥
भरि पिचकारी सन्मुख मारी, मोपै केसर गागर ढोरि गयौ॥ वो कान्हा०
वृंदाबन की कुंज गलिन में, नथ–दुलरीए तोरि गयौ॥ वो कान्हा०
गहवर बन और खोर साँकरी, दधि की मटुकी फोरि गयौ॥ वो कान्हा०
'चंदसखी' भजि बालकृष्ण छवि, चितवन में चित चोरि गयौ॥ वो कान्हा०

फालेन की होली—होलिका-दहन के दिन फाल्गुन शु० १५ को ब्रज के फालेन गाँव में वहाँ के प्रहलाद कुंड के पास एक मेला होता है। उसे 'प्रहलाद का मेला' कहते है। कुंड के निकट २०–२५ फीट के घेरे में दो-ढाई फीट ऊँची एक होली बनाई जाती है। जब वह खूब प्रज्वलित हो जाती है और उसमें से ऊँची-ऊँची लपटें निकलने लगती हैं, तब वहाँ का एक पंडा कुंड में स्नान कर केवल अंगोछा पहिने हुए नंगे बदन और नंगे पाँव जलती हुई होली में से होकर निकलता है। वह दृश्य अत्यंत रोमांचकारी और चमत्कारपूर्ण होता है। उसे देखने के लिए दूर-दूर से हज़ारों लोग वहाँ जाते हैं। हिरण्यकश्यप के आदेशानुसार उसकी बहिन होलिका द्वारा प्रहलाद को जलाकर मारने, किंतु उससे प्रहलाद के जीवित बच जाने की पौराणिक कथा की स्मृति में यह होली होती है।

दाऊजी की होली—यह होली दुलहड़ी के दूसरे दिन चैत्र कृ० २ को बलदेव गाँव स्थित श्री दाऊजी मंदिर के विशाल प्रांगण में मध्याह्न के समय होती है। उससे पहिले मंदिर में संगीत समाज का आयोजन होता है। मंदिर के पुजारी अहिवासी स्त्री–पुरुष इसमें भाग लेते हैं। एक ओर नारियाँ लहँगा-ओढ़नी पहिन कर घूंघट काढ़े हुए और हाथों में रंग फेंकने की डोलची तथा बटे हुए वस्त्रों के कोड़े लेकर तैयार होती हैं और दूसरी ओर उनके पति, देवर तथा निकट संबंधी अपने हाथों में पिचकारी लिये हुए होली खेलने के उत्साह में मस्त दिखलाई देते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों पर डोलची भर-भर कर पानी फेंकती हैं और कोड़े मारती हैं, तथा पुरुषवर्ग उन पर पिचकारी चलाते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों को अपने कोड़ों से चाहें कितना ही प्रताड़ित करें, किंतु पुरुष उनके तन को स्पर्श तक नहीं कर सकते। वे दूर से ही अपना बचाव करते हुए स्त्रियों पर रंग-गुलाल डालते हैं। बीच-बीच में होली के गीतों और रसियों का गायन होता रहता है। मंदिर के चारों ओर छतों पर हज़ारों

नर-नारी उस दृश्य को देखने के लिए एकत्र हो जाते हैं। यह होली इतने बड़े रूप में होती है कि इसे होरी न कह कर 'होरंगा' कहा जाता है।

जाब-बठैन की होली—ब्रज के जाब-बठैन गाँवों के जाट जातीय स्त्री-पुरुषों की यह होली चैत्र कृ० ५ को बठैन कलाँ के बलभद्र कुंड पर होती है। कुंड के निकटवर्ती मैदान में सैकड़ों स्त्री-पुरुष एक बहुत बड़ा गोला बना कर बैठ जाते हैं। उसके बीच में बठैन गाँव की स्त्रियाँ और जाब के पुरुषों में होली का लीला-युद्ध होता है। स्त्रियों के हाथों में लंबी-लंबी लाठियाँ और पुरुषों के हाथों में काँटेदार बबूल की डालें होती हैं। पुरुष बबूल की डालों में छिप कर बैठ जाते हैं और स्त्रियाँ उन पर लाठी चलाती हैं। इस प्रकार यह अपने ढंग की विचित्र होली होती है।

जतीपुरा की होली—गोबर्धन के निकट जतीपुरा गाँव में नियत दिन से एक दिन पूर्व वहाँ का एक नाई गाँव की स्त्रियों को होली खेलने का निमंत्रण दे आता है। दूसरे दिन स्त्री-पुरुष लठामार होली खेलते हैं। बीच-बीच में लोकगीतों और रसियों का सुंदर गायन होता रहता है। यात्रा के अवसर पर भी जतीपुरा में गुलाल कुंड पर होली होती है।

आन्यौर की होली—यहाँ के होली खेल में नृत्य-गान की विशेषता होती है। स्त्रियों के हाथों में लाठियाँ होती तो हैं, किंतु उनसे वे पुरुषों पर प्रहार नहीं करती हैं; बल्कि उनके शरीर का लाठियों से स्पर्श मात्र करती हैं।

ऊमरी-रामपुर का चिरकला नृत्य—मथुरा ज़िले के ऊमरी-रामपुर गाँवों की होली की विशेषता वहाँ होने वाले होली के लोक नृत्य के कारण है, जिसे 'चिरकला नृत्य' कहते हैं। इस नृत्य का आरंभ अबसे ६०-६५ वर्ष पूर्व ऊमरी गाँव में हुआ था। फिर रामपुर गाँव के साँवलिया बढ़ई ने इसमें कुछ नवीनता उत्पन्न की थी। वर्तमान काल का 'चिरकला नृत्य' उसी का विकसित रूप है। यह नृत्य चाँदनी रात में होता है। 'चिरकला' लकड़ी का बना हुआ एक चौखटा होता है, जिसमें ३८ गोल पंखड़ियाँ लगी होती हैं। ये पंखड़ियाँ चिड़ियों के आकार की सी होती हैं, इसीलिए इसे 'चिरकला' कहा जाता है। यह लकड़ी का चौखटा मिट्टी या धातु के घड़े के ऊपर रखा जाता है और उसकी पंखुड़ियों पर ३८ दीपक रखे जाते हैं। नृत्य करने वाली जाटिनी चौखटा सहित उस घड़े को, जिसका वज़न प्रायः २० सेर होता है, सिर पर रख कर नाँचती है। वह अपने दोनों हाथों में पानी से भरे हुए दो लोटे लिए रहती है, जिन पर जलते हुए दीपक रखे होते हैं। स्त्री के साथ उसका देवर करताल बजाता हुआ नाँचता है। उसकी करताल की लय पर चिरकला नृत्य करने वाली नारी दौड़ लगाती हुई नाँचती है। उसकी यह विशेषता है कि २० सेर वज़न सिर पर रख कर वह इस प्रकार नृत्य करती है कि सिर और हाथों के बर्तन तो गिरते ही नहीं, उन पर रखे हुए दीपक भी न तो गिरते हैं और न बुझते हैं! इस तरह की अद्भुत लोक कला युक्त यह 'चिरकला नृत्य' ब्रज की होली का एक प्रसिद्ध लोक नृत्य है।

इस प्रकार ब्रज में होलिकोत्सव की .जो धूमधाम बसंत पंचमी से आरंभ होती है, वह चैत्र कृ० ११ तक चलती रहती है। चैत्र कृ० ११ को ब्रज की जनता में होली का समापन होता है। उस समय 'ढप धरि दै यार, गई पर की' अथवा 'गयौ मस्त महीना फागुन कौ, अब जीवै सो खेलै होरी-फाग' के गायन द्वारा सब लोग अपने-अपने वाद्य यंत्रों को रख देते हैं और आगामी वर्ष की प्रतीक्षा करते हैं।

फूलडोल—चैत्र के प्रथम पखवाड़े में मथुरा-वृंदावन के मंदिरों में फूलडोल के उत्सव होते हैं। उनमें देव–मूर्तियों का फूलों से श्रृंगार किया जाता है और मंदिरों में फूल बंगले बनाये जाते हैं। उस समय बसंत राग के गायन–वादन द्वारा सभी स्थानों में संगीत के सरस कार्यक्रम होते हैं। फूलडोलों की धार्मिक परंपरा के कारण ही ब्रज की पुष्प–श्रृंगार कला अभी तक जीवित है। ये उत्सव बस्ती से बाहर के बगीची-अखाड़ों में भी मनाये जाते हैं। उस अवसर पर एक-एक दिन एक-एक ओर के बगीची–अखाड़ों को मरम्मत, सफेदी, सफाई से ठीक किया जाता है और चित्रकारी से उन्हें सजाया जाता है। वहाँ की सजावट में स्थानीय विद्वानों, कवियों, कलाकारों और पहलवानों के दुर्लभ चित्र लगाये जाते हैं तथा झाड़, फानूस, दर्पण, चित्र, पिछवाही आदि प्राचीन कलात्मक वस्तुओं का प्रदर्शन किया जाता है। उस समय गायन–वादन के सरस कार्यक्रम भी होते हैं, जो प्रायः रात–रात भर चलते रहते हैं। कोसी में फूलडोल का उत्सव वहाँ के गोमती कुंड पर चैत्र शु० २ को होता है।

ब्रजभाषा के भक्त कवियों ने फूलडोल अथवा फूल मंडली के अनेक पद रचे हैं, जिनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

फूलन की मंडली मनोहर, बैठे जहाँ रसिक पिय-प्यारी।
फूलन के बागे और भूषन, फूलन ही की पाग सँभारी।।
ढिग फूली वृषभानुनंदिनी, तैसिय फूल रही उजियारी।
फूलन के झूमका–झरोखा, बहु फूलन की रची अटारी।।
फूले सखा चकोर निहारत, बीच चंद मिल किरन पसारी।
'चतुर्भुजदास' सब मुदित सहचरी, फूले लाल गोबर्धन धारी।।

चौपई—मथुरा नगर के गली-मुहल्लों में होली के बाद चौपई–गायन की धूमधाम होती है। ये आयोजन चौबों के मुहल्लों में विशेष उत्साह पूर्वक किये जाते हैं। जिस मुहल्ले में 'चौपई' का कार्यक्रम होता है, वहाँ नर-नारियों और बालक-बालिकाओं की बड़ी भीड़ हो जाती है। 'चौपई' में गाई जाने वाली 'तान' ब्रज के एक विशिष्ट लोक-काव्य और लोक–संगीत का प्रतिनिधित्व करती है। चौपई गायकों की मंडली करताल और नगाड़े की ध्वनि के साथ नाँचती, गाती और भाव प्रदर्शित करती हुई अपनी 'तान' की स्वर–लहरी से मुहल्लों को गुंजा देती है। इस प्रकार फूलडोल और चौपई के वर्तमान लोकोत्सव प्राचीन काल के बसंतोत्सव की परंपरा का अनुसरण करते हुए ब्रज की विविध लोक कलाओं का संरक्षण और उनका प्रसार करते रहे हैं।

ब्रह्मोत्सव—वृंदाबन के श्री रंग जी के मंदिर में यह उत्सव चैत्र कृ० २ से चैत्र कृ० ११ तक मनाया जाता है। यह रामानुज संप्रदाय का सबसे बड़ा उत्सव है। उन दिनों प्रति दिन श्री रंगनाथ जी के विशिष्ट दर्शन होते हैं और उनकी सवारी निकलती है। इसी प्रसंग में चैत्र कृ० ९ को **'रथ का मेला'** होता है। उस दिन ठाकुर जी को रथ में विराजमान कर मंदिर से बाटिका तक ले जाते हैं। चैत्र कृ० १० को **'आतिशबाजी का मेला'** होता है। दूसरे दिन चैत्र कृ० ११ को यह उत्सव समाप्त हो जाता है। इस उत्सव में ब्रज की नागरिक और ग्रामीण जनता बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित होती है।

माता-पूजन—चैत्र के प्रथम पखवाड़े में ही ब्रज में माता-पूजन के लोक त्यौहार की धूमधाम रहती है। 'माता' या 'शीतला' ब्रज की लोकदेवी है, जिसकी पूजा का प्रचार साधारणतया

ब्रज की सभी महिलाओं और विशेष रूप से निम्न जाति की स्त्रियों में प्रचलित है। चैत्र कृ० ८ 'शीतला आठैं' कही जाती है। उस दिन विशेष रूप से शीतला माता का पूजन होता है। यह पूजन बाल–बच्चों की स्वास्थ-कामना के लिए किया जाता है। माता–पूजन के लिए स्त्रियाँ पहिले दिन पूरी–पापड़ी आदि करती हैं और दूसरे दिन उस बासी सामग्री से माता की पूजा की जाती है। उस दिन को 'बसौड़ा' अर्थात् बासी भोजन करने का दिन कहा जाता है। उस दिन स्त्रियाँ चूल्हा नहीं जलाती हैं, अतः घर के सब लोग बासी भोजन ही करते हैं। माता के पुजारी प्रायः कोली जाति के होते हैं। ऐसा लोक विश्वास है कि 'माता' का पूजन करने से वह बच्चों को स्वस्थ और सकुशल रखती है, अन्यथा वह रुष्ट होकर उन्हें चेचक रोग से पीड़ित कर देती है। चेचक को इसीलिए 'माता' कहा जाता है। पहिले इस रोग से बच्चों की बड़ी संख्या में मृत्यु होती थी। जो बच जाते थे, वे भी प्रायः कुरूप हो जाते थे; यहाँ तक कि बहुत से बच्चों की आँखें सदा के लिए जाती रहती थीं। जब से चेचक के टीके लगने लगे हैं, तब से इस रोग पर नियंत्रण कर लिया गया है। फलतः अब 'माता-पूजन' का लोक विश्वास भी बहुत कम हो गया है।

गणगौर—यह कुमारी कन्याओं के खेल और पूजन का त्यौहार है, जो चैत्र कृ० १ से आरंभ होता है और इसकी अंतिम पूजा चैत्र शु० ३ को होती है। इस प्रकार १८ दिनों तक इसके कारण ब्रज का वातावरण प्रातःकाल और सायंकाल के समय छोटी–छोटी कुमारी कन्याओं के गीतों से गूंजता रहता है। इसमें गौरी (पार्वती) की पूजा की जाती है। यह त्यौहार ब्रज की अपेक्षा राजस्थान में अधिक प्रचलित है, जहाँ निर्धनों की कुटियों से लेकर धनाढ्यों की हवेलियों तक इसकी धूम-धाम रहती है। राजस्थान में कुमारी कन्याओं के साथ ही साथ नववधूएँ और सौभाग्यवती नारियाँ भी गौर–ईसर (गौरी–महादेव) का पूजन करती हैं। कुमारी कन्याएँ सुयोग्य वर की याचना और नववधूएँ चिर सौभाग्य की कामना गौरी माता से करती हैं। ब्रज और राजस्थान की सीमाएँ मिली हुई हैं, जिनके कारण दोनों प्रदेशों का चिर काल से घनिष्ट सांस्कृतिक संबंध रहा है। इसके फलस्वरूप ब्रज के कई उत्सव राजस्थान में और राजस्थान के ब्रज में प्रचलित हो गये हैं। गणगौर का लोकोत्सव कदाचित राजस्थान के अनुकरण पर ही ब्रज में आरंभ हुआ है।

ब्रज की कुमारियाँ चैत्र कृ० १ को अपने-अपने घरों में मिट्टी अथवा लकड़ी की गौर प्रतिमाएँ स्थापित कर प्रति दिन उनकी पूजा करती हैं। प्रातःकाल होते ही वे पूजा के लिए दूब और पुष्पों को लाने के लिए सामूहिक रूप में अपने घरों से निकल पड़ती हैं। उस समय वे गणगौर के गीत गाती जाती हैं। सायंकाल को वे गौर माता की आरती करती हुई फिर गीत गाती हैं। उस समय जो गीत गाये जाते हैं, उनकी प्रथम पंक्तियाँ इस प्रकार होती हैं—

१. गौर, ए गनगौर माता, खोल किवाड़; बाहर ठाड़ी तिहारी पूजन हारी।

२. गढ़ि लाई म्हारी गौर, छोटो सौ खेलना।

गणगौर पूजा का अंतिम दिवस चैत्र शु० ३ है। उस दिन सभी कुमारियाँ अपनी-अपनी गौर प्रतिमाओं को सामूहिक रूप से गीत गाती हुई किसी जलाशय पर ले जाती हैं और वहाँ उनका विसर्जन कर देती हैं। उसी दिन गणगौर का मेला भी होता है, जिसमें कुमारी कन्याओं के साथ ही साथ सौभाग्यवती नारियाँ भी खूब सज-धज कर भाग लेती हैं।

नव वर्ष—चैत्र शु० १ को विक्रमीय वर्ष का आरंभ होता है। उस दिन ब्रज के मंदिरों में ठाकुर जी के विशिष्ट दर्शन होते हैं। अनेक व्यौपारी अपने पुराने बही–खातों को बदल कर नये चालू करते हैं।

देवी–पूजन—चैत्र शु० १ से ८ तक ब्रज के विभिन्न स्थानों में देवी–पूजा के लोकोत्सव होते हैं। चैत्र शुक्ल पक्ष का आरंभ होते ही ब्रज के सैकड़ों नर–नारी विविध देवियों की जात (यात्रा) को जाते हैं। उस समय वे स्त्री-बच्चों सहित पीले वस्त्र धारण कर घरों से निकलते हैं और देवी के गीत गाते हुए बड़ी श्रद्धा पूर्वक यात्रा करते हैं। चैत्र शु० ८ देवी–पूजा का खास दिन है। उन दिनों जिन देवियों की यात्रा की जाती है, उनमें ब्रज की नरी–सेंमरी, सांचौली, करौली की कैला देवी और नगरकोट की ज्वाला जी विशेष प्रसिद्ध हैं। इन देवियों के स्थानों में बड़-बड़े मेले लगते हैं, जिनमें खाद्य पदार्थ और दैनिक उपयोग के सामान की दूकानों के अतिरिक्त सबके मनोरंजन के लिए खेल–तमाशों की भी पूरी व्यवस्था होती है। इन स्थानों में आठ दिनों तक बड़ी भीड़–भाड़ और धूम-धाम रहती है। यात्रा से वापिस आने पर अनेक श्रद्धालु देवी–भक्त 'देवी का जागरण' करते हैं। उस समय रात भर जाग कर देवी के गीत गाये जाते हैं।

लांगुरिया—देवी की 'जात' को जाने वाले यात्री गण जो गीत गाते है, उनमें 'लांगुर' या 'लांगुरिया' के नाम का प्रायः उल्लेख किया जाता है। लांगुरिया देवी का लाड़िला बेटा माना गया है, जिसके प्रति भक्ति–भावना प्रकट करना देवी की प्रसन्नता के लिए आवश्यक समझा जाता है। यह बड़ी विचित्र बात है कि लांगुरिया के प्रति यात्रियों की भावना वात्सल्य के साथ ही साथ श्रृंगार रस से पूर्ण होती है। श्रद्धा पूर्वक देवी–पूजन को जाने वाले नर–नारी लांगुरिया के नाम से रसिकतापूर्ण ही नहीं, वरन् अश्लील गीतों का भी निःसंकोच गायन करते हैं। इस प्रकार के गीत देवी की प्रसन्नता के आवश्यक साधन माने जाते हैं। ग्रामीण जनता का विश्वास है कि इस प्रकार के गीत गाये बिना न तो देवी प्रसन्न होती है और न 'जात' ही सफल होती है। इस विचित्र विश्वास के कारण यात्रा के लिए जाने वाली लोक मंडलियों में रसिकतापूर्ण व्यंग-विनोद एवं आमोद-प्रमोद का वातावरण बना रहता है। इस प्रकार के गीतों का एक कारण यह भी हो सकता है कि होली के बाद गाये जाने से उन पर होली के व्यंग–विनोद की छाया छायी रहती है। यहाँ पर लांगुरिया के गीतों की कुछ आरंभिक पंक्तियाँ दी जाती हैं, जिनमें उनकी रसिकतामयी भावना स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है—

१. मैं मरूँगी जहर-विष खाय रे लंगुरिया, मति फँसि अइचौ काऊ और तें।
२. करि लीजो तू दूसरौ ब्याहु रे लंगुरिया, मेरे भरोसे मति रहिओ।
३. नसे में लांगुर आवैगौ, नैंकु ड्यौड़ी-ड्यौड़ी रहियो।
४. अनोखी मालिन भैना, करै तो डरपै काहे कू।
तेरे हाथ की मूंदरी, लांगुर दईए गढ़ाइ॥
५. कोरी चूँदरिया में दागु न लगइयो रे लांगुरिया।

देवी के गीतों का यह बाल नायक 'लांगुर' या 'लांगुरिया' कौन है, इसके विषय में निश्चय पूर्वक कहना बड़ा कठिन है। देवी का बालक माने जाने से उसे भैरव समझा जा सकता है; किंतु डा० सत्येन्द्र का मत है कि 'लांगुर' लाकुल या लकुलीश नामधारी शिव का द्योतक है। ब्रज

के उच्चारण में लाकुल ही लागुर अथवा लांगुर और लांगुरिया हो गया है[1] । शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार यह मत ठीक जान पड़ता है; किंतु लोक विश्वास के कारण जब 'लांगुर' को देवी का बालक माना जाता है, तब शिव के साथ उसकी संगति मिलाना कठिन होगा ।

नरी-सेंमरी की देवी—मथुरा जिला में छटीकरा स्टेशन के निकट नरी-सेंमरी नाम के छोटे गाँव हैं, जहाँ देवी का एक छोटा सा मंदिर बना हुआ है । वर्ष भर वहाँ बहुत कम लोग आते-जाते हैं, किंतु 'नव रात्रि' में इतनी भीड़ हो जाती है कि उससे वहाँ एक अस्थायी नगर ही बस जाता है । उस समय वहाँ जो मेला लगता है, उसमें आगरा के यात्री अधिक संख्या में आते हैं । मंदिर में नरी-सेंमरी नामक देवियों की प्रतिमाएँ हैं । ये नाम 'क्षेमकरी' और 'श्यामला' (सांवरी) शब्दों के अपभ्रंश जान पड़ते हैं । मंदिर में श्रद्धालु यात्रियों द्वारा पुष्कल पुजापा चढ़ाया जाता है और प्रचुर भेंट की जाती है । यहाँ नवरात्रि भर पूजा होती है, किंतु चैत्र शु० २ से ६ तक अधिक संख्या में यात्री आते हैं ।

साँचौली देवी—इस देवी का मंदिर इसी नाम के एक छोटे गाँव में है, जो मथुरा जिला में कोसी परगना के अंतर्गत है । यहाँ पर चैत्र शु० ७ को देवी-पूजा का मेला होता है । ब्रज की ग्रामीण जनता में इस देवी की भी बहुत मान्यता है ।

कैला देवी—इस देवी का सुप्रसिद्ध मंदिर राजस्थान के सवाई माधौपुर जिलांर्गत करौली के निकट कैला देवी नाम के एक छोटे से गाँव में है । देवी का मंदिर पहाड़ियों और जंगलों से घिरे हुए एकांत स्थान में बना हुआ है, जहाँ हिंसक पशुओं का भी निवास है । इसलिए वर्ष भर तक वह प्राय: सूना रहता है; किंतु नव रात्रि के अवसर पर वहाँ ग्रामीण यात्रियों की एक बड़ी बस्ती बस जाती है । चैत्र कृ० ८ से चैत्र शु० ८ तक के दिनों में वहाँ बड़ा मेला लगता है, किंतु देवी-पूजा के विशेष दिन चैत्र शु० २ से ८ तक होते हैं।

कैला देवी करौली राजवंश की कुलदेवी है । जब वहाँ राज्याधिकार था, तब करौली नरेश पूरे राजकीय प्रबंध के साथ इस मंदिर की देख-भाल और मेला की व्यवस्था करता था । करौली रियासत के राजस्थान में विलीन हो जाने पर करौली नरेश मंदिर के ट्रस्टी के रूप में वहाँ की समस्त व्यवस्था का उत्तरदायी है । ब्रज के दूरस्थ गाँवों से प्राय: २-३ लाख ग्रामीण यात्री बैल गाड़ियों और मोटर बसों में बैठ कर वहाँ पहुँचते हैं । उनकी भेंट से मंदिर को पर्याप्त आय हो जाती है । साधारण यात्री भी पान, बताशे, दीपक और नारियल के अतिरिक्त कम से कम १) अवश्य चढ़ाता है । पूजन के अंतिम दिन देवी पर पशु-बलि किये जाने की भी परंपरा रही है; किंतु उसमें अब बहुत कमी हो गई है ।

कैला देवी के मंदिर के निकट एक छोटी सी बरसाती नदी बहती है, जिसे 'कारी सिल' कहा जाता है । इस नदी में स्नान कर यात्री गण मंदिर में पूजा करने जाते हैं । मेला में आने वाले यात्री देवी के गीत गाते रहते हैं, जिससे वहाँ गायन-वादन और नृत्य का सदैव वातावरण बना रहता है । उन गीतों में देवी और उसके पुत्र 'लांगुर' का उल्लेख श्रद्धा-भक्ति और रसिकता के साथ किया जाता है । उनमें देवी के स्थान की बीहड़ता और वहाँ की नदी 'कारी सिल' का भी बखान होता है । उनमें से कतिपय गीतों की आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

---

(१) **ब्रज भारती, सं० २००९** (वर्ष १०, अंक २), पृष्ठ ५६

१. ऐसी का महारानी, तू तौ बैठी है विकट उजाड़न में ।
हार-हमेल, गुदी-खंगवारी, अरी मेरी नथुनी उरझी झाड़न में ।।
२. कारी सिल पै तें, बीन बजइयो रे लांगुरिया ।
३. कारी सिल में तौ न्हायकें, कारी पड़ गई वारे लांगुरिया ।
४. बासंती रंगवाइ दऊंगी, जा लांगुरिया की टोपीए ।

यमुना छट—चैत्र शु० ६ श्री यमुना जी का जन्म-दिवस माना जाता है । उस दिन ब्रज में यमुना के घाटों की सजावट होती है और वहाँ के मंदिरों में फूलडोल के दर्शन होते हैं । मथुरा के विश्राम घाट पर यमुना जी का जन्मोत्सव विशेष रूप से मनाया जाता है । वहाँ फूल बंगला बनाया जाता है और पूजन होता है । बल्लभ संप्रदाय में यमुना जी की विशेष मान्यता है । इस संप्रदाय के भक्त-कवियों ने भी यमुना जी की स्तुति और बधाई के अनेक पदों की रचना है । उनसे से एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

जै-जै श्री सूरजा कलिंद-नंदिनी ।
गुल्म-लता-तरु सुवास, कुंद कुसुम मोदमत्त भ्रमर-मधुप पुलिन सुरभि वायु मंदिनी ।।
हरि समान धर्मसील, कांति सजल जलद नील, तट नितंब भेटति नित गति सुछंदिनी ।
सिकता गन मुकता, मानों कंकन जुत भुज तरंग, कमलनि उपहार लै पिय चरनवंदिनी ।।
श्री गोपेन्द्र-गोपि संग, स्रम-जल कन सिक्त अंग, अति तरंग निरखि नैन रस सुफंदिनी ।
'छीतस्वामी' प्रभु गिरिधर धनि-धनि आनंदकंद, श्री यमुना दुरित हरति पाप महा आनंदिनी ।।

देवी अष्टमी—चैत्र शु० ८ 'देवी अष्टमी' कहलाती है । ब्रज के घरों में चैत्र कृ० १ से जो देवी-पूजा आरंभ होती है, उसका समापन इसी दिन होता है । उस अवसर पर 'कन्या-लांगुरा' के रूप में बालक-बालिकाओं को ब्रज के घर-घर में भोजन कराया जाता है ।

रामनवमी—चैत्र शु० ९ के दिन भगवान् रामचंद्र का जन्मोत्सव मनाया जाता है । उस दिन नर-नारी व्रत रखते हैं तथा मंदिरों में राम संबंधी पदों का गायन होता है । मथुरा के छत्ता बाज़ार स्थित रामजीद्वारा मुहल्ले में एक बडा मेला होता है और वहाँ के रामजी के मंदिर में विशेष दर्शन होते हैं । उस अवसर पर ब्रज के मंदिरों में जो पद गाये जाते हैं, उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

माई, आज प्रगट भए हैं राम ।
सब जंजाल मिटे दसरथ के, सुनत मनोहर नाम ।।
जै-जैकार भयौ त्रिभुवन में, करत निगम श्रुति गान ।
सुर-नर-मुनि जन कौतुक भूले, रघुपति रूप-निधान ।।
बंदीजन सब द्वारें ठाढ़े, संतनि मन-अभिराम ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, मोहन पूरन-काम ।।

महावीर जयंती—चैत्र शु० १३ को जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी की जयंती का उत्सव होता है ।

हनुमान जन्मोत्सव—चैत्र शु० १५ को पवन-सुत हनुमान जी का जन्मोत्सव मनाया जाता है । उस दिन हनुमान मंदिरों में सजावट और विशेष दर्शन होते हैं ।

वैशाख तथा ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ–आषाढ़) के उत्सव-त्यौहार—

वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में ब्रज का वातावरण पर्याप्त उष्ण रहता है। उस काल में यहाँ इतनी गर्मी पड़ती है कि प्रकृति की बसंत कालीन सरस कमनीयता सहसा नीरस कुरूपता में परिवर्तित होने लगती है। यहाँ के हरे-भरे बन–उपबन उजड़ने लगते हैं; उनकी लहलहाती हुई लता–बेलें सूख जाती हैं और सुंदर फूल–फल झुलस जाते हैं। शीतल-मंद-सुगंधित समीर के स्थान पर गर्म लूएँ चलती हैं और आँधी–तूफानों से सारा वातावरण धूल–धूसरित हो जाता है। ऐसी कठिन ऋतु उत्सव, त्यौहार और मेलों के लिए उपयुक्त नहीं है। यही कारण है कि पूर्वोक्त फाल्गुन–चैत्र के महीनों की अपेक्षा इन वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ में यहाँ कम उत्सव होते हैं।

इन महीनों के कतिपय उत्सव–समारोह इस प्रकार हैं—

अक्षय तृतीया—वैशाख शु० ३ 'अक्षय तृतीया' कहलाती है। उस दिन ब्रज के मंदिरों में ठाकुर जी के जो दर्शन होते हैं, जिनमें चंदनादि शीतल उपकरणों की अधिकता रहती है। वृंदाबन के श्री बिहारी जी के मंदिर में उस दिन चरण-दर्शन की विशेष झाँकी होती है। जैन धर्म में भी इस दिन को महत्वपूर्ण माना गया है। ब्रजभाषा के भक्त–कवियों ने अक्षय तृतीया के उत्सव संबंधी अनेक पद रचे हैं। उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

अक्षय तृतीया महा महोच्छव, चंदन लोप किये नंदलाल।
बीच–बीच केसर के बुंदका, रुचिर बनावत ब्रज की बाल॥
करनफूल चंदन के सोभित, अरु गुंजा–बैजंती माल।
'कृष्णदास' प्रभु की यह लीला, निरखत हृदै बसे नंदलाल॥

जानकी नवमी—वैशाख शु० ९ श्री जानकी जी की जयंती का दिन है। उस दिन ब्रज के राम मंदिरों में विशेष दर्शन होते हैं।

नृसिंह चतुर्दशी—वैशाख शु० १४ भगवान् श्री नृसिंह देव के जन्मोत्सव का दिन है। इसे ब्रज में धार्मिक उत्सव के साथ ही साथ लोक त्यौहार के रूप में भी मनाया जाता है। उस दिन मंदिरों में विशेष दर्शन होते है और अनेक नर–नारी व्रत रखते हैं। गली–मुहल्लों में नृसिंह लीला का लोक नाट्य–नृत्य होता है। मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर की नृसिंह लीला प्रसिद्ध है। इस लोकोत्सव में विविध देवी–देवताओं के चेहरे लगा कर लोक नृत्य किया जाता है। नृसिंह का चेहरा बहुत बड़ा और भारी होता है। उसे लगा कर नाँचना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। इस उत्सव में नृसिंह का वीर नृत्य और ताड़िका का लोक नृत्य ब्रज की प्राचीन लोक नृत्य कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। नृसिंह जी विष्णु के चतुर्थ अवतार माने जाते हैं। उसी भावना से ब्रजभाषा के भक्त–कवियों ने उनका कीर्तन किया है। यहाँ पर तत्संबंधी एक पद दिया जाता है—

श्री नरसिंह भक्त-भय-भंजन, रंजन मन सब सुख-कारी।
भूत-प्रेत-डाकिनी दुरागम, जंत्र–मंत्र भव–भय हारी॥
सबै मंत्र तें अधिक नाम, जिन रहत नितंतर उर धारी।
निज जन सब्द सुनत आनंदित, गिर गये गर्भ दनुज–नारी॥
कोटिक कला दुरासद बिनसै, महा काल कौ संहारी।
श्री नरसिंह चरन-पंकज पर, जन 'परमानंद' बलिहारी॥

वैशाखी पूर्णिमा—वैशाख शु० १५ का अपूर्व धार्मिक महत्व है। उस दिन भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ, उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और उसी दिन उनका महापरिनिर्वाण भी हुआ था। इसलिए यह दिन बौद्ध धर्मावलंबियों में अत्यंत महत्व का माना जाता है। हिंदू धर्म में भी भगवान् बुद्ध को विष्णु का नवम अवतार माना गया है, अतः इस धर्म के अनुयायी भी 'बुद्ध जयंती' मनाते हैं। आज कल यह दिन एक राष्ट्रीय उत्सव के रूप में समस्त देश में मनाया जाता है। उस दिन लाखों नर-नारी 'वैशाखी' पर्व मनाते हुए पवित्र नदियों में स्नान करते हैं। पंजाब और बंगाल में इसी दिन से नव वर्ष का आरंभ किया जाता है।

बन-बिहार—वैशाख शु० १५ की चाँदनी रात में 'बन-विहार' के लोकोत्सव का भी आयोजन किया जाता है। उस रात्रि में मथुरा की परिक्रमा लगाई जाती है तथा गायन-वादन के सरस कार्यक्रम होते हैं। वृंदावन में यह आयोजन ज्येष्ठ कृ० २ को किया जाता है। इस प्रकार के आयोजन 'बसंत रास' की प्राचीन परंपरा का अनुसरण करते हैं।

जल-बिहार—ग्रीष्म काल में ब्रज के मंदिरों में ठाकुर जी के जल-बिहार के दर्शन होते हैं। उस समय देव मूर्तियों का पुष्पों से शृंगार किया जाता है और मंदिरों में अनेक आकृतियों के फूल बंगले बनाये जाते हैं। ये बंगले सुगंधित फूलों, वृक्षों की पत्तियों, केला के छिलकों तथा सीपों और पोतों द्वारा अत्यंत कलात्मक शैली से बने होते हैं। केले के छिलकों के बंगले तो हाथीदांत के से जान पड़ते हैं। बंगलों के आगे पानी भर कर यमुना का दृश्य उपस्थित किया जाता है और फब्बारे चलाये जाते हैं। कभी-कभी यमुना के घाटों पर अथवा नावों में बंगले बना कर ठाकुर जी के जल-बिहार की प्रत्यक्ष झाँकी प्रस्तुत की जाती है।

गंगा दशहरा—ज्येष्ठ शु० १० गंगा जी के पृथ्वी पर अवतरण का दिन है, अतः इसे 'गंगा दशमी' अथवा 'गंगा दशहरा' कहते हैं। 'वाराह पुराण' में लिखा है, ज्येष्ठ शु० १० मंगलवार हस्त नक्षत्र में गंगा जी स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई थीं[1]। 'स्कंद पुराण' का कथन है, उस दिन भगवान् राम ने समुद्र पर सेतु बाँधने का आयोजन कर 'सेतुबंध रामेश्वर' की स्थापना की थी[2]। इन कारणों से भी उस दिन का विशेष धार्मिक महत्व माना गया है। उस दिन गंगा-स्नान के बड़े मेले होते है। ब्रज में हज़ारों नर-नारी यमुना-स्नान करते हैं। उस अवसर पर ब्रज की ग्रामीण जनता की बड़ी भीड़ होती है, जिसके स्वागत-सत्कार के लिए शर्बत तथा बर्फ के ठंडे जल की 'प्याऊ' लगाई जाती हैं। उस दिन बच्चे पतंग उड़ाते हैं। कभी-कभी पतंग-प्रतियोगिताएँ भी होती हैं, जिनमें होशियार पतंगबाज़ पेच लड़ाने की अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।

निर्जला एकादशी—ज्येष्ठ शु० ११ 'निर्जला एकादशी' कहलाती है। उस दिन ब्रज के अनेक नर-नारी निर्जल व्रत रखते हैं और दान-पुण्य करते हैं। यहाँ के मंदिर-देवालयों में ठाकुर जी का ग्रीष्म कालीन शृंगार किया जाता है और उनके विशेष दर्शन होते हैं।

---

(१) दशमी शुक्ल पक्षेतु, ज्येष्ठ मासे कुजेऽहनि। अवतीर्णा यतः स्वर्गाद् हस्तक्ष सरिद्वरा॥

(२) ज्येष्ठ मासे सिते पक्षे, दशम्यां बुधहस्तयोः। दशयोगे सेतुमध्ये, लिंग रूपधर हरम्।
रामोवै स्थापयामास, शिव लिंगमनुत्तमम्॥

बट-पूजन—ज्येष्ठ शु० १५ को विवाहित नारियाँ अपने चिर सौभाग्य की कामना करती हुई व्रत रखती हैं और बट वृक्ष का पूजन करती हैं। उस दिन सावित्री–सत्यवान की कथा कही–सुनी जाती है।

शीतला का मेला—यह मेला आषाढ़ के चारों सोमवार को आगरा में होता है। उन दिनों ब्रज की हज़ारों स्त्रियाँ आगरा जा कर 'शीतला माता' तथा उसके पुत्र 'कूआ वारे देवता' की पूजा करती हैं। यह पूजा बालकों की रक्षा के निमित्त की जाती है। बच्चों को चेचक की बीमारी से बचाने के लिए शीतला माता की तथा पुत्र–प्राप्ति की कामना और अकाल मृत्यु से उनकी रक्षा करने के लिए 'कूआ वारे' की मनौती मनाई जाती है। आगरा में शीतला माता के मंदिर में शीतला की तथा उसके निकट की बगीची के विशाल कूआ पर 'कूआ वारे' की पूजा करने के लिए हज़ारों नारियाँ गाती–बजाती हुई एकत्र होती हैं। उस समय वे जो लोक गीत गाती हैं, उनमें एक प्रसिद्ध गीत की आरंभिक पंक्ति इस प्रकार है—**'कूआ वारौ मचलि गयौ बगिया में।'**

रथ-यात्रा—आषाढ़ शु० २ को रथ–यात्रा का उत्सव होता है। यह उत्सव मूल रूप में जगदीश पुरी का है; जहाँ समस्त देश के लाखों नर–नारी श्री जगन्नाथ जी की रथ–यात्रा का दर्शन करने के लिए जाते हैं। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने १७वीं शती में इस उत्सव को सर्व प्रथम ब्रज में प्रचलित किया था। पहिले यह उत्सव बल्लभ संप्रदाय के मंदिरों में ही मनाया जाता था; किंतु बाद में उसे अन्य संप्रदायों के मंदिर–देवालयों में भी मनाया जाने लगा। इस दिन ब्रज के अनेक मंदिरों में रथारूढ़ भगवान् के दर्शन होते हैं तथा सवारी निकाली जाती है। वृंदाबन के 'ज्ञान गूदड़ी' मुहल्ला में वहाँ के देव–स्थानों के अनेक छोटे–बड़े रथ एकत्र होते हैं तथा भक्त–जन भजन–कीर्तन करते हैं। बल्लभ संप्रदायी भक्त–कवियों ने रथ–यात्रा के जिन पदों की रचना की है, उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

देखो माई, रथ बैठे गोपाल।
सुंदर बदन अनूप विराजति, उर सोहत बनमाल॥
तैंसेई घन उनये चहुँ दिसि तें, गरजत परम रसाल।
यह सुख निरखि-निरखि ब्रज-बनिता वारति मोतिन-माल॥
सुर विमान सब कौतुक भूले, बरषत पुहुपनि आय।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, सब भक्तनि मन-भाय॥

भड़रिया नौमी—आषाढ़ शु० ९ को 'भड़रिया नौमी' कहते हैं। इस तिथि का यह विचित्र नाम क्यों पड़ा, यह ज्ञात नहीं होता है। इसकी यह विशेषता है कि उस दिन बिना मुहूर्त के (अनसूझ) विवाहादि मांगलिक कृत्य किये जाते हैं। उसके बाद 'चातुर्मास' में सभी मांगलिक कार्य स्थगित हो जाते हैं।

देवशयनी एकादशी—आषाढ़ शु० ११ को देवशयनी एकादशी का लोकोत्सव होता है। उस दिन से चार महीने तक देवताओं का शयन–काल माना जाता है। इस लोक मान्यता का कारण यह है कि प्राचीन काल में वर्षा ऋतु के कारण जब नदी–नालों की बाढ़ से आवागमन के सभी मार्ग बंद हो जाया करते थे, तब लोक व्यवहार के कार्य भी स्थगित हो जाते थे। इसीलिए यह मान लिया गया कि वर्षा ऋतु में देवता गण शयन करते है, अतः उस काल में कोई मांगलिक कार्य नहीं करना चाहिए। आधुनिक काल में बांधों के निर्माण से नदी–नालों पर नियंत्रण कर

लिया गया है और पुलों के निर्माण से बढ़ी हुई नदियों को पार करने में भी कोई असुविधा नहीं होती है; अतः देवताओं के शयन की प्राचीन मान्यता अब व्यर्थ हो गई है। फिर भी लोक प्रचलित रूढ़ि के कारण वह समाज में अभी तक विद्यमान है। उस दिन ब्रज के नर-नारी व्रत–परिक्रमा आदि धार्मिक कृत्य करते हैं।

व्यास पूर्णिमा—आषाढ़ शु० १५ भगवान् व्यासदेव का जन्म दिवस है। उस दिन को 'गुरु पूर्णिमा' भी कहते हैं। शिष्य गण अपने गुरुओं का पूजन कर उन्हें भेंट अर्पित करते हैं। गोवर्धन में उस अवसर पर 'मुड़िया पूनौ' का बड़ा भारी मेला होता है और गिरिराज जी की परिक्रमा की जाती है। चैतन्य संप्रदाय में उस दिन श्री सनातन गोस्वामी का निर्वाणोत्सव मनाया जाता है। इस संप्रदाय के विरक्त साधु कीर्तन करते हुए गोबर्धन में 'मानसी गंगा' की परिक्रमा करते हैं। उस 'घुटमुंड' साधु–मंडली के कारण ही इस उत्सव का नाम कदाचित 'मुड़िया पूनौ' पड़ गया है।

उस दिन समस्त ब्रज तथा उसके आस–पास के अनेक गाँवों से लाखों ग्रामीण नर-नारी पैदल चल कर गोवर्धन पहुँचते हैं और वहाँ मानसी गंगा में स्नान कर श्री गिरिराज जी की परिक्रमा करते हैं। सैकड़ों भावुक भक्त 'दंडौती परिक्रमा' भी लगाते हैं। यह ब्रज में ग्रामीण जनता का सबसे बड़ा मेला है। उस अवसर पर परिक्रमा करती हुई ग्रामीण स्त्रियाँ भक्ति संबंधी लोक गीत गाती हैं। ऐसे गीतों में एक गीत अधिकतर गाया जाता है, जिसकी आरंभिक टेक इस प्रकार है—

"भजौ भाई गोविंद नाम हरी। वृंदाबन की कुंज गलिन में, दैकै धका निकरी ।। भजौ०"

शीघ्रता पूर्वक परिक्रमा करती हुई ग्रामीण नारियाँ प्रायः एक दूसरी को धक्का देती हुई चलती हैं। उनकी उस द्रुत गति का संकेत उक्त गीत में भली भाँति मिलता है।

वर्षा ऋतु [श्रावण–भाद्रपद] के उत्सव-त्यौहार—

वर्षा ऋतु अत्यंत मनोरम और सुहावनी ऋतु होती है। ग्रीष्म की प्रचंड तपन से संतप्त और भयानक ऊष्मा से अकुलाये हुए प्राणी जब त्राहि–त्राहि करने लगते हैं, तब उन्हें शीतलता और शांति प्रदान करने के लिए वर्षा वरदान के रूप में आती है। उस काल में प्रकृति देवी हरित परिधान धारण कर समस्त चराचर जगत् को अपनी रूप–माधुरी से मुग्ध कर देती है। बन–उपबन, बाग–बगीचों पर नई बहार आ जाती है और लता-द्रुम-बल्लरी से समृद्ध बन-श्री अपूर्व शोभा से मुसकराने लगती है।

साधारणतया आषाढ़ से आश्विन तक के चार महीने वर्षा ऋतु के अंतर्गत माने जाते हैं; किंतु श्रावण–भाद्रपद के बीच वाले दो महीनों में यह ऋतु अपने पूरे यौवन पर होती है। सभी धर्म–संप्रदायों में वर्षा ऋतु का चातुर्मास्य धर्मोपासना का सर्वोत्तम काल माना गया है। पौराणिक मान्यता के अनुसार चातुर्मास्य देवताओं का शयन–काल है। प्राचीन समय में सब लोग इन महीनों में अपने लोक-व्यवहार के कार्यों को स्थगित कर धर्मोपासना के कार्यों में लग जाते थे। ब्रज में भी उक्त मान्यता का निर्वाह होता रहा है।

वाराह पुराण का उल्लेख है, पृथ्वी में समुद्रों से लेकर सरोवरों तक जितने भी तीर्थ हैं, वे देवताओं के शयन काल में मथुरामंडल में निवास करने को आ जाते हैं[1]। इस प्रकार चातुर्मास्य

---

(१) पृथिव्यां यानि तीर्थानि आसमुद्रं सरांसि च।
मथुरायां गमिष्यन्ति प्रसुप्ते च सदा मयि ।।

में जो लोग ब्रज में निवास कर धर्मोपासना के विविध आयोजनों में योग देते हैं, उन्हें समस्त पृथ्वी के तीर्थों की स्नान-यात्रा का पुण्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है। उक्त मान्यता के कारण ब्रज में सदा से इन महीनों में अनेक धार्मिक आयोजन और उत्सव-त्यौहार होते रहे हैं।

श्रावण-भाद्रपद के महीनों में ब्रजमंडल की शोभा देखते ही बनती है। यहाँ के बन-बागों तथा लता-कुंजों की कमनीयता मन को हरा-भरा कर देती है और कोकिलों की मीठी तान एवं मोरों के तीव्र मधुर स्वर से मुर्दों में भी नवजीवन का संचार होने लगता है। पूरे वेग से बहती हुई यमुना की पावन धारा और गोवर्धन पहाड़ी की प्राकृतिक सुषमा से श्रद्धालु भक्तों को जो आनंद प्राप्त होता है, वह अकथनीय है। यहाँ के मंदिर-देवालयों में ठाकुर जी की नित्य नई रंग-विरंगी झाँकियाँ यात्रियों को दिव्य संदेश प्रदान करती हैं। यही कारण है कि समस्त भारतवर्ष से यात्री गण श्रावण-भाद्रपद के महीनों में आकर ब्रज की यात्रा करते हैं और भगवान् श्री कृष्ण की मनोहर लीलाओं का रसास्वादन कर अपने जीवन को सार्थक मानते हैं।

मंदिरों में झूले और घटाएँ—श्रावण के पूरे महीने भर तक ब्रज में भक्ति, शृंगार और कला की त्रिवेणी द्रुत गति से प्रवाहित होती है। उन दिनों ब्रज के देवालयों में सर्वत्र झूलन के उत्सव किये जाते हैं। उस समय की सजावट देखने योग्य होती है। रंग-विरंगी परदों और झालरों सहित नाना प्रकार के फूल-पत्रों से सजे हुए मंदिर झाड़-फानूसों के प्रकाश में चमकने लगते हैं। सभी मंदिरों में झूले डाले जाते हैं और विविध रंगों की घटाएँ बनाई जाती हैं। उक्त घटाओं के दर्शनों में वर्षा ऋतु का रंगीन वातावरण मंदिरों में प्रत्यक्ष दिखलाने की चेष्टा की जाती है। जिस रंग की घटाएँ होती हैं, उसी रंग के झूले सजाये जाते हैं। ठाकुर जी को उसी रंग के वस्त्राभूषण धारण कराते हैं तथा वहाँ का समस्त परिवेश उसी रंग में रँगा हुआ दिखलाई देता है। मंदिर के कीर्तनकार भी उसी रंग की घटाओं के पदों का गायन करते हैं। यह अद्भुत आनंददायक दृश्य देखने पर ही समझा जा सकता है। ब्रज के वल्लभ संप्रदायी मंदिरों में ये आयोजन विशेष रूप से दर्शनीय होते हैं। मथुरा के श्री दाऊजी-मदनमोहन जी तथा श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर उन दिनों प्रमुख आकर्षण-केन्द्र बन जाते हैं, जहाँ पत्र-पुष्प और सोने-चाँदी के कलात्मक झूले तथा नाना रंग के परिधानों की नित्य नवीन घटाएँ दर्शनार्थियों को कौतूहलपूर्ण आनंद प्रदान करती हैं।

श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर में सोने-चाँदी के नये झूले अब से प्रायः ४० वर्ष पूर्व बने थे। उस समय सोने के झूले की लागत प्रायः डेढ़ लाख और चाँदी के झूलों की प्रायः १५ हज़ार रुपया आई थी। झूलों की पिछवाही, जो लाल मखमल पर सुनहरी ज़रदोजी के काम से तैयार हुई है, प्रायः १२ हजार रुपयों की लागत से बनी थी। झूले और पिछवाही दोनों को बड़े होशियार कारीगरों ने अत्यंत कलात्मक शैली से बनाया है। सोने-चाँदी के झूले श्रावण भर स्थायी रूप से पड़े रहते हैं; किंतु पत्र-पुष्पों के झूले और घटाओं में निरंतर नवीनता होती रहती है।

साधारणतया इन झूलों और घटाओं का क्रम कुछ आंशिक परिवर्तन के साथ इस प्रकार रखा जाता है,—श्रावण कृष्णा त्रयोदशी को केसरिया रंग के झूले और घटाओं का आयोजन होता है। फिर अमावस को हरी, श्रावण शुक्ला द्वितीया को जामुनी, तृतीया को हरियाली, चतुर्थी को आसमानी, छट को गुलाबी, अष्टमी को लाल, दशमी को श्याम, द्वादशी को लहरिया तथा श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को श्वेत रंग की घटाएँ होती हैं। जिस दिन जिस रंग की घटाओं का आयोजन होता

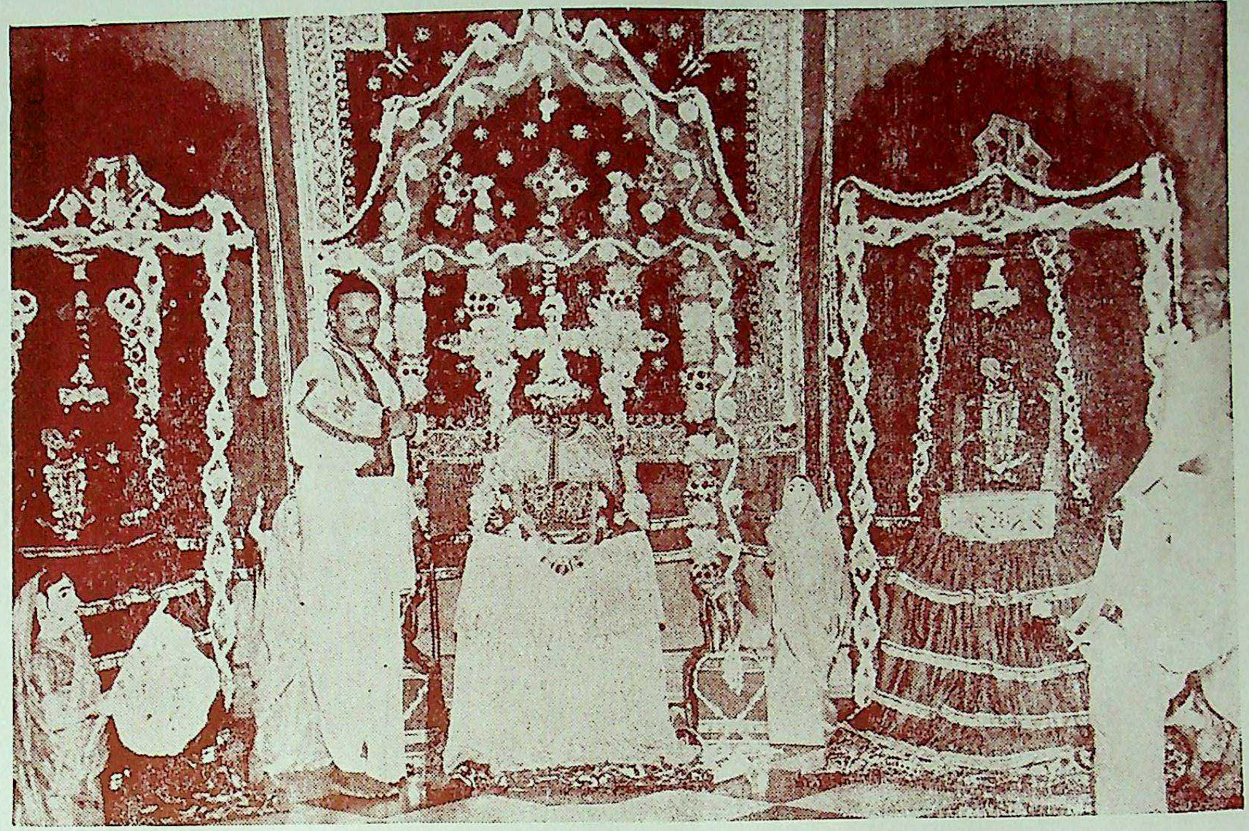

मथुरा के मंदिर में श्रावण के झूले और घटाएँ

है, उस दिन मंदिर का समस्त वातावरण उसी रंग में रँगा हुआ जान पड़ता है। उसी रंग के झूले, उसी रंग का ठाकुर जी का श्रृंगार तथा उसी रंग की साज-सज्जा और सजावट यहाँ तक कि उसी रंग की रोशनी के प्रदर्शन से एक अद्भुत रंगीन समाँ बँध जाता है। इनमें श्याम और लहरिया रंगों की घटाएँ विशेष रूप से आकर्षक होती हैं। श्याम रंग की घटाओं में गहरे काले रंग के परिधानों से घुमड़े हुए बादल, चमकदार रुपहरी ज़री से तारागण एवं चंद्रमा की प्रतिछवि बनाई जाती है तथा बिजली के प्रयोग द्वारा इंद्रधनुष की रंगीनी और विद्युत की चंचल चमक पैदा की जाती है। लहरिया घटाओं में समस्त साज-सज्जा और वस्त्रालंकार लहरदार रंगों के होते हैं। उसमें झूलों को नाना रंगों के वस्त्रों के साथ ही साथ पत्र, पुष्प और फलों से भी सजाया जाया है। झूलों के सामने उद्यान, कुंज, पर्वत, कुंड, सरोवर और घाटों के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं तथा फव्वारे चलाये जाते हैं। यह समस्त प्रदर्शन दर्शनार्थियों को चमत्कृत कर देता है। इन घटाओं के साथ भगवान् के आगे हिंडोल और मल्हार रागों में जो कीर्तन किया जाता है, वह उस कलात्मक रंगीन वातावरण को और भी सरस बना देता है।

इस प्रकार श्रावण के महीने में मथुरा का धार्मिक वैभव दर्शनीय होता है। उस समय यहाँ सभी मंदिर-देवालयों में क़ीमती सजावट की जाती है। सोने-चाँदी और काँच के झूलों की झलमलाहट, रंग-विरंगी झाड़-फानूसों की चमक-दमक और वर्तमान युग के अनुरूप बिजली के बल्वों की चकाचोंध से यह नगरी साक्षात् इंद्रपुरी सी जान पड़ती है। वाल्मीकि रामायण में कहा गया है, शत्रुघ्न जी ने मथुरा पुरी की स्थापना श्रावण के महीने में की थी[1]। शायद उसी स्मृति में यहाँ उक्त महीने में ही धार्मिक उत्सव-समारोहों की अधिकता रहती है।

मथुरा के अतिरिक्त वृंदावन, गोकुल आदि धार्मिक स्थानों के मंदिरों में भी झूलों के नित्य नये दर्शन होते हैं। वृंदावन में शाहजी के मंदिर का सजा हुआ कमरा और बिहारी जी के मंदिर का झूला विशेष रूप से दर्शनीय हैं। श्री बिहारी जी वर्ष में केवल एक बार श्रावण शु० ३ (हरियाली तीज) को ही झूला झूलते हैं। उस समय उनके दर्शन करने को हज़ारों नर-नारियों की भीड़ एकत्र हो जाती है।

रास और कीर्तन—श्रावण के महीने में हिंडोलों के साथ ही साथ रास का भी आयोजन होता है। मथुरा-वृंदाबन के मंदिरों में उन दिनों विविध रास मंडलियाँ नित्य नई लीलाओं द्वारा दर्शनार्थियों में भक्ति रस का संचार करती हैं। ब्रज के झूलन-उत्सवों का एक प्रमुख अंग कीर्तन-गान भी है। ठाकुर जी की प्रत्येक झाँकी में मंदिरों के कीर्तनकार मल्हार और हिंडोल रागों में उन पदों का गायन करते है, जिन्हें ब्रजभाषा के भक्त कवियों ने बहुत बड़ी संख्या में रचा है। उनमें से कतिपय पद यहाँ दिये जाते हैं—

झूलत अति आनंद भरे।
इत स्यामा उत लाल लाड़िलौ बैयाँ कंठ धरे॥
बोलत मोर-कोकिला-अलिकुल, गरजत हैं घन घोर।
गावत राग मल्हार भामिनी, दामिनि की झकझोर॥

---

(१) वाल्मीकि रामायण, उत्तर कांड, ७०-८

नन्हीं–नन्हीं बूँद परत हैं ऊपर, मंद–मंद समीर ।
फूलन फूलि रह्यौ कानन सब, सुंदर यमुना तीर ।।
रीझि रहे सुर–नर–मुनि, बरषत कुसुमन–माल ।
'सूर' सकल सुख कौ एही सुख, निरखन मदनगोपाल ।।१।।

हिंडोरे माई कुसुमन भाँति बनाई ।
नवलकिसोर मनोहर मूरति, ढिंग राधा सुखदाई ।।
छाय रहे जित–तित तें बादर, बिच दामिनि अधिकाई ।
दादुर–मोर–पपैया बोलें, नन्हीं–नन्हीं बूँद सुहाई ।।
झोटा देत सकल ब्रज–सुंदरि, त्रिविध पवन सुखदाई ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरनलाल की, यह छवि बरनि न जाई ।।२।।

झूलत दोऊ नवल किशोर ।
रजनी जनित रंग सुख सूचत, अंग–अंग उठि भोर ।।
अति अनुराग भरे मिलि गावत, सुर मंदर कल घोर ।
बीच-बीच प्रीतम चित चोरति, प्रिया नैन की कोर ।।
अबला अति सुकुमारि डरति मन, वर हिंडोर झकोर ।
पुलकि–पुलकि प्रीतम उर लागति, दै नव उरज अकोर ।।
अरुझी विमल माल कंकन सों, कुंडल सों कच डोर ।
बेपथ जुत क्यों बनें विवेचित, आनंद बढ़्यौ न थोर ।।
निरखि-निरखि फूलति ललितादिक, विवि मुख चंद-चकोर ।
दै असीस 'हरिवंश' प्रसंसित, करि अंचल की छोर ।।३।।

लोक जीवन में झूलोत्सव—ब्रज के लोक जीवन में श्रावण–भाद्रपद के महीने होली के बाद सबसे अधिक उमंग, उत्साह और आनंद के माने जाते हैं । उन दिन वहाँ सर्वत्र झूले पड़ जाते हैं । बाग–बगीचे और घर–आँगन में झूला झूलती हुई ब्रज की नारियाँ और बालक-बालिकाएँ सुरीली तान से मल्हार के गीत गाती हैं । जिन गीतों की मधुर तानों से ब्रज का नभ–मंडल गूँजने लगता है, उनमें से एक इस प्रकार है—

सामन आयौ सुघड़ सुहावनौ जी, ए जी कोई, आई है अजब बहार । सावन आयौ० ।।
झूला तो झूलें सखियाँ बाग में जी, ए जी कोई, गावें गीत मल्हार ।। सावन आयौ० ।।
नन्हीं-नन्हीं बुँदियाँ देखौ झर लग्यौ जी, ए जी कोई, बरसत मूसल धार । सावन आयौ० ।।
पटुली पकरि झोटा दै रहे जी, ए जी कोई, झुकि-झुकि कृष्ण-मुरार ।। सावन आयौ० ।।
पिहु-पिहु पपीहा देखो करि रह्यौ जी, ए जी कोई, मोरन की किलकार । सावन आयौ० ।।
कारे-कारे बदरा बहना मेरी चढ़ि रहे जी, ए जी कोई, डरपै कामिनि नारि ।।सावन आयौ०।।

वर्षा की मंद–मंद फुहारों में ब्रज की बहू-बेटियाँ आनंद–किलोल करती हुई झूला झूलने और सुरीले गीत गाने में अपने लौकिक दुख-दर्द को भूल जाती हैं । एक-एक झूले पर दो-दो स्त्रियाँ आमने-सामने बैठ कर झूलती हैं । एक अपने पाँवों की उँगलियों से दूसरी के झूला को पकड़ लेती

है, जब कि दूसरी झोटा लेती है। संग की सहेलियाँ चारों ओर खड़ी होकर झोटाओं को बढ़ाती हैं और गीत गाती हैं। वर्षा की रिमझिम, कोयलों की कूक और मोरों की किलकारी से झूलने का उत्साह सौ गुना बढ़ जाता है। उसी उत्साह के अतिरेक में झूला झूलती हुई ब्रज-नारियों की सुरीली तान वायु मंडल को रससिक्त करती हुई उठती है—

अरी भैना, घटा तो उठी है घनघोर, सामन में चमकै बीजुरी जी ।।
कारे-कजरारे री बदरा झुकि रहे, अरी भैना, उमड़ि-घूमड़ि चहुँ ओर । सामन में० ।।
झूला झूलति री भैना डर लगै, अरी भैना, पिया गये हैं परदेस ।। सामन में० ।।

स्त्रियाँ ही क्यों, ब्रज के पुरुष भी झूलन का आनंद प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। नगरों में तथाकथिक सभ्य पुरुष झूलने में संकोच करते हैं, किंतु गाँवों में पुरुषों की टोलियाँ निःसंकोच भाव से झोटा लेकर झूलती हैं। यहाँ तक कि वे लोग झूलने की प्रतियोगिता भी करते रहते हैं।

ब्रज में इन महीनों में जो उत्सव, त्यौहार और मेले होते हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

हरियाली अमावस—श्रावण कृ० १५ को हरियाली अमावस का त्यौहार होता है। उस दिन ब्रज की नारियाँ गायन–वादन और झूलन के साथ उत्तम व्यंजनों के खान–पान में सावन की हरियाली का आनंद लेती हैं।

हरियाली तीज—श्रावण शु० ३ को हरियाली तीज का त्यौहार होता है। उस दिन सभी घरों में नाना प्रकार के पकवान और मिष्ठान्न बनाये जाते हैं, जिन्हें बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ अपनी बहू–बेटियों को बड़े स्नेह पूर्वक खिलाती हैं। उस दिन ब्रज की महिलाएँ विशेष रूप से झूला झूलती हैं।

बलदेव-जन्मोत्सव—श्रावण शु० ५ श्री बलदेव जी का जन्म–दिवस माना जाता है। उस दिन ब्रज के मंदिरों में बलदेव जी की जन्म–बधाई के पदों का गायन किया जाता है। उक्त पदों में से एक यहाँ प्रस्तुत है—

रोहिनौ–नंदन प्रगटे आज ।
सावन शुक्ल पंचमी सुभ दिन, सबहिंन के सिरताज ।।
गृह–गृह तें गोपी सब धाईं, लीन्हें मंगल–साज ।
नाँचति गावति करति कुलाहल, मानहुँ रागिनि राज ।।
नाम धरन कों विप्र बुलाये, नीकौ बन्यौ समाज ।
'चतुरदास' कीनौं न्यौछावर, पूजौ मन के काज ।।

पंचतीर्थी—श्रावण शु० ५ को ब्रज में पंचतीर्थी परिक्रमा की जाती है। इसमें स्त्रियाँ विशेष रूप से भाग लेती हैं। वे पहिले दिन मधुबन, दूसरे दिन सतोहा, तीसरे दिन गोकर्ण महादेव, चौथे दिन वृंदावन और पाँचवे दिन गरुड़ गोविंद की यात्रा को जाती हैं।

नाग पंचमी—श्रावण शु० ५ को नाग पंचमी का त्यौहार होता है। उस दिन ब्रज की स्त्रियाँ नाग देवता की पूजा करती हैं। घरों की भीत पर कोयले के घोल से सर्पों के चिन्ह बनाये जाते हैं, जिन्हें स्त्रियाँ पूजती हैं। मथुरा के सप्त समुद्री कूप और नाग टीले पर स्त्रियाँ नाग देवता की पूजा करने जाती हैं। यह त्यौहार प्राचीन सर्प–पूजा की परंपरा में प्रचलित हुआ है।

भारत में सर्प–पूजा अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित रही है । वैसे उक्त त्यौहार का संबंध सर्प-पूजा की अपेक्षा नागवंशीय भारतीय राजाओं की स्मृति–रक्षा से भी हो सकता है । भारतीय इतिहास में नागवंशीय राजाओं का वड़ा गौरवपूर्ण स्थान रहा है । उन्होंने कुषाणादि विदेशी आक्रमणकारियों को भारत से खदेड़ कर अब से प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व अपनी वीरता का डंका बजाया था । उन्होंने अपनी विजय के उपलक्ष में अनेक यज्ञ भी किये थे । वीरसेन नाग मथुरा का प्रसिद्ध नाग राजा था । संभव है, नाग पंचमी का त्यौहार उन्हीं नाग राजाओं की विजय के उपलक्ष में मनाया जाता हो ।

ब्रह्मकुंड का मेला—श्रावण शु० ६ को वृंदावन में ब्रह्मकुंड का मेला होता है ।

पवित्रा एकादशी—श्रावण शु० ११ को पवित्रा एकादशी का उत्सव होता है । उस दिन मंदिरों में ठाकुर जी को 'पवित्रा' नाम की रेशमी माला धारण कराई जाती है । श्री बल्लभाचार्य जी ने उसी दिन से 'ब्रह्म संबंध' की दीक्षा देना आरंभ किया था; अतः बल्लभ संप्रदाय में उस दिन का विशेष महत्व माना जाता है । इससे संबंधित जो पद गाये जाते हैं, उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

पवित्रा पहिरें श्री गिरिधर आज ।
ब्रज की नारि सबै जुरि आईं, छाँड़ि सकल गृह–काज ।।
पचरंग पाट फोंदना सोभित, चंदन अंग विराज ।
नख–सिख की छबि कहाँ लौं बरनों, कोटि काम सिरताज ।।
सावन सुदि एकादसी सोभा, फूले रसिक–समाज ।
'कृष्णदास' उर–नैन सिराने, देखत ही ब्रजराज ।।

श्रावणी अथवा 'सलूना'—श्रावण शुक्ला १५ को श्रावणी उत्सव मनाया जाता है । यह वैदिक पर्व है, जिसे विशेष रूप से ब्राह्मण वर्ण से संबंधित माना गया है । आजकल सभी वर्णों के लोग इसे समान रूप से उत्साह पूर्वक मनाते हैं । इस उत्सव को 'रक्षा बंधन' का त्यौहार भी कहते हैं । इसकी परंपरा 'वामन–वलि' के प्राचीन उपाख्यान के आधार पर प्रचलित हुई जान पड़ती है । वामन भगवान् ने राजा वलि को अपने लिए भूमि–दान करने को वचनबद्ध कर लिया था । वलि के गुरु शुक्राचार्य ने राजा के हित में उसका निषेध किया; किंतु वलि ने अपने राज्य को खोकर भी वचन का पालन किया था । आजकल 'रक्षा-सूत्र' बाँधते समय ब्राह्मण उसी घटना का स्मरण करते हुए निम्न श्लोक पढ़ा करते हैं—

येन बद्धो वलि राजा दानवेन्दु महाबलः । तेन त्वां प्रतिबंधनामि रक्षे माचल माचल ।।

ब्रज के लोक–जीवन में यह प्राचीन उत्सव 'सलूने' के त्यौहार के रूप में मनाया जाता है । उस दिन ब्रज की नारियाँ अपने घरों की भीत पर सलूने का थापा बनाती हैं और उसकी पूजा करती हैं । उस अवसर पर बहिनें अपने भाइयों के हाथों में 'राखी' (रक्षा-सूत्र) बाँधती हैं और उनके स्नेह के साथ ही साथ भेंट भी प्राप्त करती हैं । राखी बाँधने का यह अभिप्राय है कि बहिन अपने भाई को स्नेह–सूत्र से आबद्ध करती है और उसका भाई बहिन के मान-सम्मान की रक्षा करने का संकल्प करता है । भारतीय इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जिनमें आपत्तिग्रस्त

नारियों की रक्षा उनकी 'राखी' के कारण हुई थी। उन नारियों ने अनजान वीर पुरुषों को राखी भेज कर अपना धर्म-भाई बनाया था और उन्होंने भी राखी के सन्मान की रक्षा के निमित्त अपने कर्तव्य का पालन किया था।

जन्माष्टमी—भाद्रपद कृ० ८ को भगवान् श्री कृष्ण के जन्म का उत्सव मनाया जाता है। वैसे तो यह उत्सव समस्त भारतवर्ष में होता है, किंतु श्री कृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा में इसे बड़े समारोह पूर्वक किया जाता है। मथुरा के अतिरिक्त गोकुल, महाबन, वृंदाबन आदि लीला-स्थलों में भी इस उत्सव की बड़ी धूम-धाम रहती है। देश भर से लाखों नर-नारी उस अवसर पर भगवान् श्री कृष्ण के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए मथुरा आते हैं। वे लोग ब्रज के उन पुण्य स्थलों के भी दर्शन करते हैं, जहाँ भगवान् श्री कृष्ण ने अनेक लीलाएँ की थीं। ब्रज के लोक–जीवन में जन्माष्टमी को एक महत्वपूर्ण लोक-त्यौहार माना गया है। उस दिन अनेक व्यक्ति निराहार व्रत रखते हैं और अर्ध रात्रि में कृष्ण-जन्म का उत्सव मनाते हैं।

ब्रज के सभी मंदिर–देवालयों और विशेष कर बल्लभ संप्रदायी मंदिरों में यह उत्सव विशेष सांप्रदायिक विधि से सम्पन्न होता है। मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी और श्री दाऊजी–मदनमोहन जी के मंदिरों में ठाकुर जी की भव्य झाँकियाँ होती हैं। श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर उस दिन प्रमुख आकर्षण–केन्द्र होता है। वहाँ पर प्रातः काल से मध्य रात्रि तक जन्मोत्सव संबंधी अनेक कार्यक्रम होते रहते हैं। रात्रि के १२ बजे श्री कृष्ण–जन्म के दर्शन होते हैं, जिसके लिए घंटों पहिले से ही हजारों नर-नारी मंदिर में एकत्रित हो जाते हैं। उस अवसर पर श्री द्वारकाधीश जी को जवाहरात का शृंगार धारण कराया जाता है। मथुरा के श्री कृष्ण–जन्मस्थान पर उस दिन से 'कृष्ण-मेला' लगता है, जो कई दिनों तक चलता रहता है। उसमें प्रति दिन रासधारियों द्वारा श्री कृष्ण की विविध लीलाओं का 'रास' किया जाता है, तथा और भी अनेक धार्मिक कार्यक्रम होते हैं। उस दिन नगर में भगवान् श्री कृष्ण की सवारी का जुलूस निकाला जाता है और दिन भर कथा–कीर्तन, गायन–वादन और प्रवचन आदि होते रहते हैं।

ब्रजभाषा के भक्त-कवियों ने श्री कृष्ण के जन्म से संबंधित प्रचुर रचनाएँ की हैं; जिनका उस दिन मंदिरों में गायन किया जाता है। यहाँ पर तत्संबंधी कतिपय रचनाएँ प्रस्तुत हैं—

आज ब्रज भयौ सकल आनंद।
नंद महर घर ढोटा जायौ, पूरन परमानंद॥
मंगल कलस विराजत द्वारें, गावत गीत अमंद।
नाँचत गोपी और गोप सब, प्रगटे गोकुल-चंद॥
विविध भाँति बाजे बाजत हैं, निगम पढ़त द्विज छंद।
छिरकत दूध-दही-घृत-माखन, प्रफुलित मुख अरविंद॥
देत दान ब्रजराज मगन मन, फूले अंग न माँई।
देत असीस जियौ जसुमति-सुत, 'गोविंद' बलि-बलि जाई॥
आज ब्रज घर–घर बजति बधाइ।
जसुमति रानी ढोटा जायौ, लागत परम सुहाइ॥
भादों कृष्ण पक्ष शुभ आठैं, जन्म लियौ हरि आइ।
वसुदेव–देवकी मान जगत गुरु, आनंद की निधि पाइ॥

बरसाने तें भान–कीर्ति कों, लै चले ग्वाल लिवाइ ।
नाँचत–गावत करत कुलाहल, भादों मास सुहाइ ।।
हरद–दूब–अक्षत–दधि-कुमकुम, सुंदरि देत बधाइ ।
रोरी तिलक सबन के माथें, मगन भए अधिकाइ ।।
बैठि जुरे सब नंद-भवन में, सोभा बरनी न जाइ ।
नंद महोत्सव होत भवन में, मंगल-साज सुहाइ ।।
धन्य जन्म करि मानत अपनौ, मगन भए नंदराइ ।
'श्री विट्ठल गिरिधर' चिर जीवौ, सबहिन सुख-निधि पाइ ।।

नंदोत्सव—जन्माष्टमी के दूसरे दिन भाद्रपद कृ० ९ को मथुरा और गोकुल के मंदिरों में नंदोत्सव मनाया जाता है । इसमें ढाँढ़ा–ढाँढ़ी नृत्य, जन्मोत्सव की बधाई का गायन और गोप-ग्वालों का अभिनयात्मक प्रदर्शन होता है । इसे **'दधिकांदौ'** का उत्सव कहते हैं । उस अवसर पर हर्षोन्मत्त भक्तगण 'नंद के आनंद भयौ, जै कन्हैया लाल की' की ध्वनि करते हुए दिशाओं को गुँजा देते हैं ।

हरतालिका तीज—भाद्रपद शु० ३ को ब्रज की सौभाग्यवती महिलाएँ हरतालिका का व्रत रखती हैं । सायंकाल को वे गौरी–पार्वती का पूजन करती हैं और कथा सुनती हैं । यह नारियों की सौभाग्य-कामना का व्रत है ।

गणेश चौथ—भाद्रपद शु० ४ गणेश जी के जन्म का दिवस माना जाता है । महाराष्ट्र प्रदेश में उस दिन का उत्सव बड़ी धूम-धाम से होता है और कई दिनों तक चलता है । ब्रज में इसे लोकोत्सव के रूप में मनाते हैं । गणेश जी विद्या के देवता माने जाते हैं, अतः ब्रज में छोटे बालकों को प्रायः उसी दिन से विद्यारंभ कराया ज़ाता है । पाठलालाओं में गणेश जी का पूजन होता है और बालकों को लड्डू तथा गुड़धानी का प्रसाद दिया जाता है । छोटे-छोटे छात्रगण बाल पाठशालाओं में डंडा बजाते हुए मनोरंजन करते हैं । इस दिन को 'डंडा चौथ' अथवा 'चट्टा चौथ' का लोक-त्यौहार भी कहा जाता है । उस रात्रि में चंद्र-दर्शन का निषेध है । ऐसा लोक विश्वास है कि उस दिन चंद्रमा देखने वाले को व्यर्थ का लांछन लगता है । रात में कुछ लोग ईंट-पत्थर फेंकने का शकुन मनाते हैं, किंतु यह अंध परंपरा अब बंद हो रही है ।

विद्वानों का मत है, गणेश जी मूल रूप में आर्य देवता नहीं हैं । आरंभ में वे अनार्यों द्वारा पूजित विघ्नकारक ग्राम देवता थे । जब आर्यों का अनार्यों से संपर्क हुआ, तब अनेक अनार्य देवता भी आर्यों द्वारा स्वीकार कर लिये गये थे । उसी समय से गणेश जी का आर्यों के धर्म ग्रंथों, विशेष कर पुराणों में प्रवेश हुआ । फिर वे विघ्नकारक ग्राम देवता के स्थान पर देवाधिपति गणराज के रूप में पूजित होने लगे । आजकल हिंदुओं के समस्त कार्यों में गणेश जी की प्रथम पूजा की जाती है ।

ऋषि पंचमी—भाद्रपद शु० ५ को ब्रज की महिलाएँ ऋषि पंचमी का व्रत रखती हैं । वे एक काठ के पट्टे पर मिट्टी से ऋषियों की मूर्तियाँ बनाती हैं और उनकी पूजा करती हैं । उस अवसर पर एक लोक–कथा भी कही जाती है । यह स्त्रियों का लोक–त्यौहार है ।

बलदेव छट—भाद्रपद शु० ६ 'बलदेव छट' कही जाती है । उस दिन ब्रज के बलदेव ग्राम स्थित श्री दाऊजी के मंदिर में विशेष उत्सव होता है और मेला लगता है ।

राधाष्टमी—भाद्रपद शु० ८ को श्री राधा जी का जन्म दिवस है। उस दिन वृंदावन, बरसाना और रावल के अनेक मंदिरों में श्री राधा जी का जन्मोत्सव बड़े समारोह पूर्वक मनाया जाता है। वृंदावन में उसी दिन स्वामी हरिदास की जयंती भी मनाई जाती है। यह उत्सव टट्टी संस्थान और बिहारी जी के मंदिर में विशेष आयोजन के साथ किया जाता है। उस अवसर पर श्री राधा जी की जन्म–बधाई के पदों का गायन भी होता है। ब्रजभाषा के भक्त–कवियों ने तत्संबंधी अनेक पद रचे हैं, उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

चलौ वृषभानु गोप के द्वार।
जन्म लियौ मोहन हित स्यामा, आदनँनिधि सुकुमार।।
गावत जुवति मुदित मिलि मंगल, उच्च मधुर धुनि धार।
विविध कुसुम किसलय कोमल दल, सोभित बंदनवार।।
विदित वेद विधि विहित विप्रवर, करि स्वस्तिनु उच्चार।
मृदुल मृदंग–मुरज-भेरी-डफ, दिवि दुंदभि रवकार।।
मागध–सूत–बंदी–चारन, जस कहत पुकार–पुकार।
हाटक–हीर–चीर–पाटंबर, देत सँभार–सँभार।।
चंदन सकल धेनु तन मंडित, चले जु ग्वाल सिंगार।
(जय श्री) 'हित हरिवंश' दुग्ध-दधि छिरकत, मध्य हरिद्रागार।।

वामन द्वादशी—भाद्रपद शु० १२ को वामन भगवान् का जन्म दिवस है। उस दिन ब्रज के मंदिरों में 'वामन जयंती' का उत्सव मनाया जाता है। ब्रज के 'ऊँचा गाँव' नामक स्थान में उस दिन श्री नारायण भट्ट जी की समाधि पर 'समाज' गायन होता है और रासलीला होती है।

ब्रज-यात्रा—भाद्रपद शु० १२ को वल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों द्वारा ब्रज-यात्रा का आयोजन किया जाता है। यह यात्रा प्रायः ४५ दिनों में पूर्ण होती है। यात्रा का आरंभ मथुरा से होता है और समस्त ब्रज के लीला स्थलों में होती हुई, उसे वहाँ पर ही समाप्त किया जाता है।

मटुकी लीला—भाद्रपद शु० १३ को बरसाने के निकट 'साँकरी खोर' नामक स्थान में 'मटुकी लीला' का मेला होता है। साँकरी खोर दो पहाड़ी टीलों के बीच का एक संकीर्ण मार्ग है। कहते हैं, उसी स्थान पर भगवान् श्री कृष्ण गोपियों को रोक कर उनसे दान (कर) माँगा करते थे। उसी की स्मृति में 'मटुकी लीला' का आयोजन होता है। साँकरी खोर के दोनों ओर वाले टीलों में से एक पर बरसाने के और दूसरे पर नंदगाँव के ब्रजवासी गोप वेश बना कर बैठ जाते हैं और रसियों का गायन करते हैं। नंदगाँव वाले कृष्ण के पक्ष में दान माँगने के रसिया गाते हैं और बरसाने वाले राधा तथा गोपियों के पक्ष में दान देने का निषेध करते हैं। इस प्रकार यह रोचक संवाद गायन–वादन के साथ लोकोत्सव के रूप में प्रायः दो घंटे तक चलता है। फिर राधा और गोपियाँ तथा ग्वाल-बाल का अभिनय करने वाले साँकरी खोर में जाकर दानलीला का प्रदर्शन करते हैं। उसमें श्री कृष्ण द्वारा गोपियों की दही–माखन की 'मटुकी' गिरा कर तोड़ दी जाती है। इस प्रकार यह लोक–मेला सम्पन्न होता है। उसे देखने को ब्रज के कई हज़ार नर–नारी एकत्र होते हैं।

अनंत चौदस—भाद्रपद शु० १४ को अनंत चौदस का उत्सव होता है। 'अनंत' विष्णु का ही नाम है, अतः इस दिन विष्णु भगवान् का पूजन किया जाता है। ब्रज के मंदिरों में उस अवसर

पर ठाकुर जी की विशेष झाँकी होती है । ब्रज के लोक-जीवन में इस दिन को एक त्यौहार के रूप में मनाया जाता है । ब्रज की महिलाएँ इस दिन व्रत रखती हैं और एक सूत के धागे में चौदह गाँठें बाँध कर उसका पूजन करती हैं । ऐसा लोक विश्वास है कि अनंत चौदस का व्रत रखने से समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं, और परिवार को सुख–समृद्धि प्राप्त होती है ।

तैराकी का मेला—भाद्रपद के महीने में जब मथुरा में यमुना नदी का भरपूर प्रवाह होता है, तब उसकी तेज धारा में तैरने वाले दलों की तैराकी प्रतियोगिता होती है । यह आयोजन एक मेला के रूप में भादों में प्रति सप्ताह होता है । इसे देखने के लिए सैंकड़ों लोग मथुरा के घाटों पर एकत्र हो जाते हैं । तैरने वालों का जो दल विजयी होता है, वह सायंकाल को जुलूस बना कर नगर में निकलता है और विविध स्थानों पर उसका स्वागत–सत्कार किया जाता है ।

स्वाधीनता दिवस—ईसवी सन् की तारीख १५ अगस्त को हमारा देश अंगरेजी शासन से मुक्त होकर स्वाधीन हुआ था । उसके उपलक्ष में उस दिन स्वाधीनता दिवस के रूप में बड़ा उत्सव मनाया जाता है । यह एक राष्ट्रीय महोत्सव है, जो प्रायः भाद्रपद की किसी तिथि को पड़ता है । देश के अन्य स्थानों की तरह ब्रजमंडल में भी इसे बड़े उत्साह पूर्वक मनाते हैं ।

शरद ऋतु (आश्विन–कार्तिक) के उत्सव-त्यौहार—

वर्षा के पश्चात् शरद की सुहावनी ऋतु आती है । पावस ऋतु की घनघोर वर्षा के कारण नदी–नालों के उफनने से आवागमन में जो बाधा उपस्थित हो गई थी, वह शरद ऋतु के आते ही दूर हो जाती है । इसलिए पथिकों और सार्थवाहों के आवागमन से सर्वत्र चहल-पहल होने लगती है । सर–सरिताओं का मटमैला जल निर्मल हो जाता है और तालाबों में खिले हुए कमलों पर भ्रमर गण गुंजार करने लगते हैं । वर्षा ऋतु के मेघाच्छादित आकाश में तो चंद्रमा के दर्शन भी कठिनता से होते थे; किंतु शरद ऋतु के आते ही आकाश स्वच्छ हो जाता है और चंद्रमा का निर्मल प्रकाश चारों ओर फैलने लगता है । शरद ऋतु का अधिक महत्व निर्मल चंद्र और स्वच्छ चंद्रिका के कारण ही है । वास्तव में शरद की चाँदनी रात इतनी आनंददायी और प्रभावोत्पादक होती है कि उसे देखते ही मुरझाये हुए मन की कलियाँ खिल उठती हैं ।

शरद ऋतु की इसी मनोरम रात में भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी भुवनमोहिनी वंशी बजा कर ब्रज–बालाओं को बेसुध कर दिया था । वे उसकी तान पर बावली की तरह अपने घरों से निकल कर घनघोर जंगल की ओर दौड़ पड़ी थीं । उनकी उस दयनीय दशा से द्रवित होकर भगवान् श्री कृष्ण ने ब्रज-बालाओं के साथ सुखद रास-क्रीड़ा की थी । उस समय शरद ऋतु की निस्तब्ध, नीरव और निर्मल चाँदनी रात में सुंदरी ब्रज–नारियों के कंकन-किंकिनि-नूपुरों की झनकार से, उनके अंग-संचालन और पदाघात की कोमल-मधुर ध्वनि से तथा उनके गायन–वादन की ताल–स्वरयुक्त संगीत-लहरी से सभी दिशाएँ गूँज उठी थीं । ब्रज का साहित्य शरद के निर्मल चंद्र, उसकी उज्ज्वल चंद्रिका, श्री कृष्ण के वंशी-वादन के अद्भुत प्रभाव तथा रास–लीला के मनोरम कथनों से भरा पड़ा है ।

इस ऋतु में ब्रज में अनेक उत्सव, त्यौहार और मेले होते हैं, जिनमें विजय दशमी (दशहरा) और दीवाली के समारोह अधिक प्रसिद्ध हैं । इन्हें देश भर के करोड़ों नर-नारी अपने-अपने ढंग से मना कर आनंद प्राप्त करते हैं । ब्रज में भी इन उत्सवों को बड़े उत्साह और उमंग के

साथ मनाया जाता है। इस ऋतु की संगीतात्मक विशिष्टता का सुफल 'रास' है, जो ब्रज की महान् कलात्मक देन है। आश्विन पूर्णिमा रास का मुख्य दिवस माना गया है। इसे ब्रज में एक महान् सांस्कृतिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। इस ऋतु के प्रमुख समारोहों का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

पितृपक्ष—आश्विन कृ० १ से १५ तक का पखवाड़ा पितृपक्ष कहलाता है। इन १५ दिनों में पितृों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए 'श्राद्ध' किये जाते हैं। पिंडोदक और ब्रह्म-भोज द्वारा पितृों को तृप्त करना अनेक ब्रजवासी अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं।

साँझी—आश्विन मास के पितृपक्ष का सबसे प्रसिद्ध समारोह 'साँझी' का आयोजन है। इसे ब्रज में धार्मिक उत्सव, लोक–त्यौहार और कलात्मक प्रदर्शन आदि कई रूपों में सम्पन्न किया जाता है। 'साँझी' ब्रज की एक लोक देवी है। साँझ (संध्या) के समय पूजी जाने के कारण कदाचित इसका यह नाम पड़ा है। 'साँझी' संभवतः गौरी-पार्वती का ही एक लोक प्रसिद्ध रूप है। आश्विन के प्रथम पखवाड़े में इसके पूजन की ब्रज में बड़ी धूम-धाम रहती है। ब्रज के धर्माचार्यों और भक्त-कवियों ने साँझी की लोक-पूजा को राधा-कृष्णोपासना से भी जोड़ दिया है। इसके कलात्मक रूप की झाँकी ब्रज के मंदिर-देवालयों में मिलती है और इसका भक्तिपूर्ण कथन ब्रजभाषा काव्य में हुआ है।

मंदिरों में साँझी का प्रदर्शन—ब्रज के मंदिरों और सांस्कृतिक स्थलों में साँझी का प्रदर्शन सूखे रंगों तथा कागज़ के 'साँचों' (खाकों) द्वारा अत्यंत कलात्मक ढंग से किया जाता है। कागज़ के कटे हुए साँचों पर विविध प्रकार के सूखे रंग छिड़क कर उनके द्वारा बेल-बूँटे, फूल-पत्ती पशु-पक्षी, कुंड-सरोवर, नगर-गाँव आदि का चित्रण किया जाता है। उसके साथ ही देव-मूर्तियों और श्री कृष्ण-लीला के विविध प्रसंग भी चित्रित किये जाते हैं। यह साँझी पितृ पक्ष के १५ दिनों तक, विशेष कर क्वार बदी ११ से १५ तक बनाई जाती है, और यह ब्रज की एक विशिष्ट लोक कला का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार की साँझी मंदिरों के अतिरिक्त ब्रज के कतिपय कलाप्रिय सम्पन्न घरानों में भी बनती है। इनमें मथुरा के ज्योतिषी बाबा घराने की साँझी अधिक प्रसिद्ध थी। अब अधिकांश स्थानों में इसका बनना बंद हो गया है, जिसके कारण परंपरा से सुरक्षित कलापूर्ण साँचे भी नष्ट होते जा रहे हैं। ब्रज की इस लोक कला की अवनति खेदजनक है।

भक्ति-काव्य में साँझी का कथन—ब्रज के भक्त-कवियों की रचनाओं में राधा-कृष्ण द्वारा साँझी खेलने का भक्तिपूर्ण कथन किया गया है! राधा जी के उपासक वृंदाबन के भक्त-कवियों ने 'साँझी लीला' के अनेक लंबे पदों की रचना की है। यहाँ ऐसे एक पद का कुछ अंश प्रस्तुत है—

रंग रँगीली लाड़िली, प्यारी खेलति साँझी साँझ हो।
लिएँ ललित सँग सहचरी, नव कुंजमहल के माँझ हो।।
लाल रसाल रुमाल माँहि लै, फूले फूल सुरंग हो।
मदन सदन कों रवन चले, रचि रचित तलप नवरंग हो।।
तब लगि ललिता ललित लली सों, कही बात हित जानी।
सुनौ कुँवरि मिलि खेलैं साँझी, यहै खेल रस खानी।।
सुनत सखी के वचन छबीली, फूलि उठी मन माँहि।
रमकि–झमकि चमकति चपला सी, हँसि-हँसि परति उमाँहि।। × ×

अलबेली इक धाई, आई कहति स्याम सों बैन ।
चलौ कुँवरि कौ कौतुक देखौ, सफल करौ निज नैन ।।
अरबराइ चले लाल ख्याल हित, बाल भेष धरि मीति ।
मनौ बाल के ध्यान लाल भयौ, कीट–भृंग की रीति ।।××
यौं कौतूहल करति सहचरी, नितप्रति चोज बढ़ाय ।
सदा सखी दंपति के सुख सों, और न इन्हें सुहाय ।।
जो यह साँझी पढ़ै–पढ़ावै, गावै हित के भाय ।
'प्रेमदास' सों साझौ पावै, या साँझी में आय ।।

साँझी का लोकोत्सव-ब्रज की बालिकाओं के लिए साँझी का लोकोत्सव प्रसिद्ध खेल है । इसमें उनके मनोरंजन के साथ ही साथ लोक कला के आकर्षक रूप की झाँकी भी मिलती है । पितृ पक्ष के आते ही ब्रज की छोटी-छोटी बालिकाएँ घर की दीवारों पर गोबर, फूल, पन्नी आदि से साँझी का चित्रण करती हैं । यह चित्रण १५ दिनों तक प्रति दिन नये-नये रूपों में किया जाता है । संध्या को साँझी की आरती कर उसका पूजन होता है तथा भोग लगाया जाता है । दूसरे दिन पहिले चित्रण को हटा कर फिर नया चित्रण कर दिया जाता है । अंतिम दिन अमावस को साँझी का एक बड़ा प्रकार, जिसे '**कोट**' कहते हैं और जो नरवर कोट का प्रतिरूप है, बड़े कलात्मक ढंग से चित्रित किया जाता है । इसे गोबर, फूल, कौड़ी, पीतरपन्नी और सफेदी से बनाया जाता है । साँझी-पूजन में बालिकाओं की यह मनोकामना रहती है कि उन्हें साँझी माता की कृपा से योग्य वर और चिर सौभाग्य की प्राप्ति हो तथा उनका दाम्पत्य जीवन सुखी और समृद्ध रहे । साँझी के चित्रण में प्रति दिन जिन नये-नये भावों का प्रदर्शन किया जाता है, उनका क्रम इस प्रकार है—

"प्रथम दिन भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को वीरन बेटी (साँझी का पीहर का नाम) बनाई जाती है और ५ थापिये रखे जाते हैं, जो साँझी के ससुराल से पितृगृह आगमन के सूचक हैं । दूसरे दिन एक डोले में बैठी एक स्त्री बनाई जाती है, जो उसके पीहर में पदार्पण की प्रतीक है । तीसरे-चौथे दिन तिंवारी बना कर साँझी को उसमें बैठाते हैं । पाँचवें दिन चतुर्थी को चौपड़ बनाई जाती है । छटवें दिन पंचमी को पान-सुपाड़ी तथा सातवें दिन छट को मिठाई से भरी एक डलिया बनाई जाती है और इस प्रकार साँझी को सत्कार प्रदान कर स्वादिष्ट व्यंजनों द्वारा संतुष्ट किया जाता है । आठवें दिन सप्तमी को मंगल सूचक स्वस्तिक चिन्ह अंकित किये जाते हैं । अष्टमी को नवें दिन अठकलिया फूल तथा नवमी को दसवें दिन नाव अथवा नारियल द्वारा प्राकृतिक भ्रमण, ग्यारहवें दिन दशमी को दस पान बना कर साँझी को प्रिय वस्तु तथा एकादशी को २१ सिंवाड़े बना कर उसे व्रत की सामग्री प्रदान की जाती है । घर में होने वाले बड़े श्राद्ध से एक दिन पूर्व पातर-दौना बनाये जाते हैं, जो साँझी के परिवार में होने वाले श्राद्ध के सूचक हैं । द्वादशी को साँझी को फरिया-ओढ़नी पहिनाने का प्रलोभन दिया जाता है, किंतु पति की स्मृति में वेसुध वह इन सबसे संतुष्ट प्रतीत नहीं होती और त्रयोदशी को चौदहवें दिन पति के वियोग में व्याकुल होकर नसेंनी या खजूर के पेड़ पर चढ़ कर यह निहारती है कि उसके पति के देश से कोई आ तो नहीं रहा । पंद्रहवें दिन एक लंगड़ा ब्राह्मण और कौवा बनाये जाते हैं, जो साँझा के आगमन की सूचना देते हैं । अंतिम दिन अमावस्या को 'नरवर कोट' बनाया जाता है । इसमें साँझी तथा उसके पति के चेहरे लगाये जाते हैं । यह

'कोट' साँझी तथा उसके पति के मिलन का प्रतीक होता है। कोट मिट्टी द्वारा बनाये गये आभूषणों, कौड़ी, कटोरी, शीशे के टुकड़ों, चाँदी के रुपयों, पन्नी आदि से सुसज्जित किया जाता है। साँझी का पूजन अविवाहिताएँ करती हैं, किंतु विवाह हो जाने के पश्चात् भी केवल प्रथम वर्ष में साँझी का उद्यापन करती हैं। अमावस्या को 'नरवर कोट' का पूजन कर 'बधाए' गाये जाते हैं। विजय-दशमी को उसे दीवाल पर से उचाल कर किसी जल-स्थान में 'सिरा' (विसर्जित कर) दिया जाता है। साँझी लोक-कला के आंकिक रूप का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसकी एक अनूठी विशेषता यह है कि उसमें रेखांकन द्वारा एक सुनियोजित भाव प्रस्तुत किया जाता है। 'साँझी' में साँझी के ससुराल के आगमन से लेकर पति-मिलन तक की क्रमबद्ध घटनाएँ बड़ी ही सुंदरता एवं कुशलता पूर्वक चित्रित की जाती हैं। सहज सुलभ साधनों से लोक-शैली में चित्रित साँझी की मनोरम कला-कृतियाँ निस्संदेह ब्रज लोक कला की अमूल्य निधि ही नहीं, बालिकाओं के कला-प्रदर्शन का माध्यम भी हैं[1]।"

साँझी की पूजा-आरती करते समय ब्रज की बालिकाएँ अनेक लोक-गीत गाती हैं, जिनमें उनकी भोली-भाली बाल भावना व्यक्त होती है। कुछ गीत इस प्रकार हैं—

१. जाग माई, जाग माई, खोल किवार। मैं आई तेरे पूजन द्वार।।
पूजि-पुजंतर बेटी, का फल माँगे ? भैया-भतीजे संपति होइ।
भैया चाहिएँ नौ-दस-बीस। भतीजे चाहिएँ पूरे बत्तीस।।
२. साँझी भैना री, का ओढ़ैगी, का पहिरैगी, काहे कौ सीस गुँथावैगी ?
मैं तौ सालू ओढूंगी, मिसरू पहिरूंगी, मोतियन की माँग भराऊंगी।

साँझी के साथ साँझा का भी उल्लेख इन गीतों में किया जाता है और 'कोट' में तो उसका चेहरा भी साँझी के चेहरे के साथ लगाया जाता है। साधारणतया साँझा को साँझी का पति माना जाता है; किंतु एक लोक गीत में उसे अपने भाई के रूप में कथित किया गया है—

वो जैमें मेरे साँझालाल भाई जी, विनकी आँखें लाल कटारी सी।
केसरिया बागौ पहिरें जी, वे तौ दादा जी के कुमर कहावें जी।।

बालिकाओं के अतिरिक्त ब्रज के बालक भी साँझी बनाते हैं। उनकी साँझी मिट्टी के एक छोटे चौकोर चबूतरे पर कागज़ के कटे हुए 'साँचों' द्वारा सूखे रंग छिड़क कर बनाई जाती है। यह भी पितृ पक्ष के १५ दिनों तक चलती है। संध्या को बालक भी इसकी पूजा-आरती करते हैं और भोग लगाते हैं।

टेसू तथा झाँझी—ब्रज के ग्रामीण बालक और बालिकाएँ इन दिनों साँझी के साथ ही साथ टेसू और झाँझी के विनोदात्मक खेल भी किया करते हैं। टेसू बालकों का खेल है और झाँझी बालिकाओं का। ये खेल सामूहिक रूप से महल्लों के बालक तथा बालिकाओं द्वारा किये जाते हैं और पितृ पक्ष में इनकी बड़ी धूम रहती है।

टेसू—यह एक खिलौना होता है, जो बांस की तीन पतली तीलियों (खपच्चियों) पर मिट्टी के बने हुए एक पुरुष के चहरे को रख कर बनाया जाता है। यह विचित्र खिलौना महाभारत कालीन एक योद्धा बभ्रुवाहन का प्रतीक माना जाता है। बभ्रुवाहन का कटा हुआ सिर एक शमी

---

(१) 'धर्मयुग' में प्रकाशित श्री मोहनस्वरूप भाटिया का लेख।

(छोंकर) के वृक्ष पर रख दिया गया था और उसे यह वरदान दिया गया था कि वह मरने के उपरांत भी अपने कटे हुए सिर से महाभारत का युद्ध देखता रहेगा। टेसू का पुरुष चेहरा जहाँ बभ्रुवाहन के सिर का प्रतीक है, वहाँ बाँस की तीलियाँ शमी के वृक्ष को प्रकट करती हैं। दशहरा के अवसर पर शमी (छोंकर) के पूजने की प्रथा भी प्रचलित है।

ब्रज के बालक गण सायंकाल को टेसू लेकर और उस पर दिया जला कर महल्लों में प्रत्येक घर के दरवाजे पर जाते हैं और वहाँ टेसू के गीत गा कर कुछ पैसे प्राप्त करते हैं। टेसू के बाल–गीतों में अद्भुत, ऊटपटांग और बे सिर-पैर की बातें होती हैं। उनका एक लोक गीत इस प्रकार है—

टेसूराय घंटार बजइयो। नौ नगरी, दस गाँव बसइयो।।
बसिगे तीतर, बसिगे मोर। हरी नैनियाँए लैगे चोर।।
चोरन के घर खेती भई। खाय नैनियाँ मोटी भई।।
टेसूराय की सात बौहरियाँ। नाँचैं, कूदैं, चढ़ैं अटरिया।।

झाँझी—यह मिट्टी की एक छेददार हाँड़ी होती है, जिसमें जलता हुआ दीपक रखा जाता है। हाँड़ी के छेदों में से दीपक का मंद प्रकाश निकला रहता है। ग्रामीण बालिकाएँ उस हाँड़ी को लेकर महल्ले के दरवाजे-दरवाजे जाकर गीत गाती हैं। उन बालिकाओं को इसके उपलक्ष में कुछ पैसे मिल जाते हैं। झाँझी के गीत भी बड़े मनोरंजक और बे सिर-पैर के होते हैं। ऐसे ही एक गीत का कुछ अंश इस प्रकार है—

मा ! भैया कहाँ–कहाँ व्याहे, पारेवरिया ? मा ! भाभी कौ मुहड़ौ कैसौ, पारेवरिया ?
नाक चना सी, मुँह बटुआ सौ, घूंघट में मन लाई, पारेवरिया।
थोरौ खानी, बहौत कमानी, जे जुग बीती आई, पारेवरिया।।
मा ! भाभी का–का लाई, पारेवरिया ? आठ बिलैया, नौ चकचूंदर, सोलह मूसे लाई, पारेवरिया।।

नवरात्रि व्रत—आश्विन शु० १ से ९ तक के नौ दिनों में इस व्रतोत्सव का आयोजन किया जाता है। यह देवी-पूजा का उत्सव है, जिसे देश के सभी भागों में अत्यंत प्राचीन काल से मनाया जाता है। बंगाल में इसकी बड़ी धूम-धाम होती है और बंगाली इसे अपना सबसे प्रमुख उत्सव मानते हैं। ब्रज में भी उन दिनों घर-घर में देवी की पूजा की जाती है तथा मंदिरों में 'दुर्गा सप्तशती' और 'देवी भागवत' आदि ग्रंथों की कथा होती है।

न्यौरता—ब्रज के गाँवों में देवी-पूजा के उत्सव को बालिकाओं के खेल के रूप में मनाते हैं और उसे 'न्यौरता' कहा जाता है। इसके लिए घरों की दीवारों के सहारे मिट्टी के छोटे-छोटे मंदिर बनाये जाते हैं और उन्हें लोक-चित्रकारी से सजाया जाता है। ग्रामीण बालिकाएँ प्रतिदिन मिट्टी की गौरी-प्रतिमाएँ बना कर उन मंदिरों में रखती हैं और सायंकाल को उनकी पूजा करती हैं। पूजा की आरती करते समय बालिकाएँ जो गीत गाती हैं, उनमें से एक गीत का कुछ अंश इस प्रकार है–

गौरि री गौरि, खोल किंवरिया, बाहर ठाढ़ी तेरी पूजनहारी।
गौरि पुजंतरि बेटी, कहा फल माँगे ?
मातु-पिता कूं राज जु माँगै, भैयन की जोड़ी माँगै,
भाभी की गोद भतीजौ माँगै। गौरि री गौरि०।।

विजया दशमी अथवा दशहरा—आश्विन शु० १० को विजयादशमी का उत्सव अथवा दशहरा का त्यौहार होता है। यह उत्सव शुंभु, निशुंभु, महिषासुर आदि प्रबल दैत्यों पर भगवती दुर्गा की विजय अथवा दुर्दान्त रावण पर भगवान् राम की विजय के उपलक्ष में मनाया जाता है। यह 'शक्ति-पूजा' अथवा 'वीर-पूजा' का त्यौहार है। इसे विशेष रूप से क्षत्रिय वर्ण से संबंधित माना जाता है, किंतु अब यह अनेक रूपों में सभी वर्णों अथवा जातियों के नर-नारियों द्वारा मनाया जाता है। इस त्यौहार को 'दशहरा' भी कहते हैं। प्राचीन काल में उस दिन योद्धा गण विजय अभियान किया करते थे। मध्यकालीन रियासतों में यह उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। उस दिन समस्त अस्त्र-शस्त्रों की सफाई होकर उनकी विधिवत् पूजा की जाती थी और उनका भव्य प्रदर्शन किया जाता था। राजा गण बड़ी तैयारी के साथ जुलूस निकालते थे।

जन साधारण में दशहरा एक प्रसिद्ध लोकोत्सव अथवा जनप्रिय त्यौहार के रूप में मनाया जाता है। उस दिन ब्रज की नारियाँ अपने-अपने घरों की भीत पर दशहरा का थापा बनाती हैं और उसे पूजती हैं। दशहरा से कुछ दिन पहिले घरों में जौ उगाये जाते हैं और उनसे दशहरा का पूजन किया जाता है। बहिनें भाइयों का तिलक करती हैं, उन्हें जौ देती हैं और मिठाई खिलाती हैं। उस दिन सब घरों में अच्छे-अच्छे पकवान बनते हैं। उस अवसर पर शमी (छोंकर) के वृक्ष की पूजा की जाती है और नीलकंठ पक्षी का दर्शन शुभ माना जाता है।

ब्रज के मंदिरों में उस दिन विशेष दर्शन होते हैं और दशहरा के पदों का गायन किया जाता है। ब्रजभाषा के भक्त-कवियों द्वारा उस दिन के उपलक्ष में जिन पदों की रचना की गई है, उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

विजया दसमी अरु विजै महूरत, श्री विट्ठल गिरिधर पहिरावत।
करि सिंगार विचित्र भाँति कौ, निरखि-निरखि नैनन सुख पावत।।
सूथन लाल अरु सेत चोलना, कुलहै जारकसी अति मन भावत।
विविध भाँति भूषन अंग सोभित, केकी-गुंजा कों पहिरावत।।
साजि कनक, नग धारि, हाथ लै कुंकुम, तिलक लिलाट बनावत।
अच्छत दै जौ अंकुर सिर पर, निरखि-निरखि मन मोद बढ़ावत।।
बहौत भोग-बीरा धरि आगै, ब्रजभामिनि मिल मंगल गावत।
निज जन निरखि-निरखि कें श्रीमुख, 'गोविंद' हरषि-हरषि गुन गावत।।

रामलीला—आश्विन महीने के दूसरे पखवाड़े में ब्रज के प्रत्येक नगर और गाँव में रामलीला होती है। इसमें भगवान् रामचंद्र की जीवन-घटनाएँ खुले लोक मंच पर प्रदर्शित की जाती हैं। इससे धार्मिक भावना के साथ ही साथ लोक नाट्य कला को भी प्रोत्साहन मिलता है। ब्रज में 'रासलीला' और 'रामलीला' ऐसे दो लोक नाट्य हैं, जो कई शताब्दियों से इसी रूप में प्रचलित रहे हैं। इन पर युग-परिवर्तन का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। यदि वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार इनमें कुछ सुधार कर दिया जाय; तो इनसे ब्रज के लोक नाट्य मंच के एक बड़े अभाव की पूर्ति हो सकती है। रामलीला के विविध आयोजनों में रामचंद्र जी की बारात और भरत-मिलाप के कार्यक्रम बड़े भव्य होते हैं। ये आयोजन बड़े नगरों में बड़े रूप में और छोटे स्थानों में छोटे रूप में समान उत्साह से किये जाते हैं।

ब्रज प्रदेश में आगरा की रामलीला बहुत बड़े आयोजन के साथ होती है। इस अवसर पर रावण आदि के बड़े–बड़े पुतलों के अतिरिक्त कागज के छोटे-बड़े पुतले, चेहरे, मुग्दर, धनुष-बाण, फूल-चर्खी आदि खिलौने भी बनाये जाते हैं। इनसे विभिन्न प्रकार की कलाओं को प्रोत्साहन मिलता है। इनमें बच्चों के मनोविनोद की पर्याप्त सामग्री होती है। दशहरा को रावण-वध की लीला की जाती है। उस दिन रावण का एक बहुत बड़ा पुतला बना कर उसमें आग लगादी जाती है, तथा आतिशबाज़ी छोड़ी जाती है और पटाखे चलाये जाते हैं। इस प्रकार दशहरा का त्यौहार रावण-वध के उपलक्ष में मनाया जाता है। वैसे दशहरा (क्वार सुदी १०) रावण की वास्तविक मृत्यु–तिथि नहीं है। रावण की मृत्यु संभवतः चैत्र शु० १४ को हुई थी; किंतु रामलीला के क्रम से दशहरा को ही यह लीला होती है।

ओली पर्व—जैन समाज में आश्विन शु० ६ से 'ओली' नामक एक धार्मिक उत्सव का आरंभ होता है, जो १० दिनों तक चलता हुआ आश्विन शु० १५ को समाप्त होता है। उन दिनों जैन महिलाएँ व्रत-उपवास करती हैं और जैन मंदिरों में दर्शन करने जाती हैं। उक्त मंदिरों में उन दिनों बड़ी चहल–पहल होती है।

शरद पूर्णिमा—आश्विन शु० १५ को शरद पूर्णिमा का पावन उत्सव होता है। उस रात्रि को चंद्रमा पूरी आभा से प्रकाशित होकर पृथ्वी पर मानों अमृत की वर्षा करता है। द्वापर युग में इसी रात को भगवान् श्री कृष्ण ने ब्रज-बालाओं के साथ महारास किया था। ब्रज के मंदिर-देवालयों में उसकी स्मृति में यह उत्सव बड़े समारोह पूर्वक संपन्न होता है। उस अवसर पर ठाकुर जी को श्वेत वस्त्र धारण कराये जाते हैं और दूध का भोग लगाया जाता है तथा रास विषयक पदों का गायन और रासलीला का भव्य आयोजन होता है।

शरद पूर्णिमा की चाँदनी रात में ब्रज के ग्रामीण बालक मैदानों में कबड्डी खेलते हैं और बालिकाएँ दगड़ों में विविध भाँति के खेल करती हैं। स्त्रियाँ खीर बना कर अथवा घी-खाँड़ मिला कर चाँदनी रात में रख देती हैं, जिन्हें दूसरे दिन खाने से उनके द्वारा स्वास्थ्य की वृद्धि मानी जाती है। शरद की पूनौ को चाहें चंद्रमा द्वारा अमृत-वर्षा न होती हो; किंतु उसकी ज्योत्स्ना नेत्रों के लिए ज्योतिवर्धक और स्वास्थप्रद अवश्य होती है। शरद पूनौ से स्नान–व्रत की जो शृंखला आरंभ होती है, वह कार्तिक की पूनौ तक चलती है। ब्रज में पूरे कार्तिक भर यमुना–स्नान किया जाता है।

करुवा चौथ—कार्तिक कृ० ४ को ब्रज की महिलाएँ 'करुवा चौथ' का व्रत रखती हैं। इस व्रत में मिट्टी का एक टोंटीदार बर्तन, जिसे 'करुवा' कहते हैं, खाँड़ के बने हुए बर्तन के साथ 'मिनसा' जाता है। इस बर्तन के नाम पर ही कदाचित इस लोकोत्सव का 'करुवा चौथ' नाम पड़ा है। यह व्रत महिलाओं के सौभाग्य-संवर्धन के लिए किया जाता है। इसे सधवा स्त्रियाँ निर्जल रह कर अपने पतियों के दीर्घायु होने की कामना से करती हैं।

उस दिन गोबर, मिट्टी या गेरू से घर की दीवार को लीप-पोत कर उस पर चाँवलों के लेपन द्वारा करुवा चौथ के थापे का अंकन किया जाता है। थापे में नसेनी पर चढ़ कर चंद्रमा को अर्घ्य देती हुई बहिन, उसके सात भाई–भावज, गंगा–जमुना, सती–सुहागिन, कुम्हारी, करुवा, शीशा, कंघी, बिंदी आदि आकृतियाँ बनाई जाती हैं। थापे के निकट भूमि पर चौक पूर कर उस पर पट्टा रखा जाता है। पट्टे पर मिट्टी से बनाई हुई गौरों को पधरा कर उनके पास मिट्टी तथा खाँड़ के

करुवे रखे जाते हैं। रात्रि होने पर स्त्रियाँ नये वस्त्राभूषण पहिन कर, सौभाग्य चिह्न धारण कर और करुवों पर पूरी, पूआ, हलुवा रख कर करुवा चौथ के थापे की पूजा करती हैं। उस समय एक लोक कहानी भी कही जाती है। बाद में चंद्रोदय होने पर चंद्रमा को अर्घ्य देने के उपरांत **सबको** खिला–पिला कर व्रत वाली स्त्रियाँ भोजन करती हैं।

करुवा चौथ की कहानी इसे प्रकार है—''सात भाई थे; उनकी स्त्रियाँ थीं तथा उनकी एक बहिन थी। बहिन का विवाह होने पर जब पहिला कातिक आया, तब उसने अपनी भाभियों के साथ करुवा चौथ का व्रत रखा। सायंकाल होने पर जब सातों भाई भोजन करने बैठे, तब उन्होंने अपनी बहिन को भी बुलाया। बहिन ने कहा कि वह व्रती है; अभी खाना न खाकर बाद में चंद्रोदय होने पर खायेगी। एक छोटे भाई के लिए बहिन बहुत प्यारी थी। उसने वृक्ष की ओट में चलनी के पीछे दीपक जला कर रख दिया। उससे वहाँ निकलता हुआ चंद्रमा जैसा जान पड़ने लगा। तब उसने बहिन से कहा कि चंद्रमा निकल आया है, तुम अर्घ्य देकर हमारे साथ खाने को बैठो। बहिन ने नसैनी पर चढ़ कर देखा तो पेड़ों की ओट में से उसे प्रकाश दिखाई दिया। उसने चंद्रमा का प्रकाश समझ कर उसे अर्घ्य दिया और अपने भाइयों के साथ भोजन करने के लिए बैठ गई। इस प्रकार व्रत–भंग होने पर उसका पति मर गया ! जब उसका समाचार उसे मिला, तो वह विलाप करती हुई सासुरे गई। वहाँ पर किसी ने कहा कि तूने चौथ के व्रत को तोड़ा है, इससे तेरे पति की मृत्यु हुई है। अब तू पति के शव की रक्षा करती हुई चौथ माता की आराधना करेगी, तो तेरा पति जीवित हो जावेगा। इस पर वह बड़ी निष्ठा पूर्वक चौथ माता की आराधना करने लगी। चौथ माता ने प्रसन्न होकर उसके पति को जीवित कर दिया। इस प्रकार वह अपने पति के साथ आनंद पूर्वक रहने लगी।''

अहोई आठै—कार्तिक कृ० ८ को 'अहोई आठै' का त्यौहार होता है। उस दिन स्त्रियाँ भीत पर अहोई का अंकन करती हैं और व्रत रख कर रात को उसकी पूजा करती हैं। यह त्यौहार संतान की दीर्घायु होने के निमित्त किया जाता है। जिस भीत पर अहोई का अंकन किया जाता है, उसी के पास जल से भरी हुई झझरी (मिट्टी की छोटी कलसिया) रखी जाती है। पूजा के समय स्त्रियाँ एक लोक कथा कहती हैं, जो इस प्रकार है—

''कातिक वदी ८ के दिन दीवाली की लिपाई-पुताई के लिए दो ननद-भौजाई खदान से मिट्टी लेने गई थीं। वहाँ पर मिट्टी खोदते समय ननद की कुदाल से 'स्याउ' के बच्चे मर गये। उसी समय 'स्याउ' माता आई और अपने बच्चों को मरा हुआ देख कर वह ननद के काटने को दौड़ी। भौजाई ने कहा—'तू मेरी ननद को मत काट; यह सात भैयों की अकेली बहिन है। इसके बदले में जो मेरे बच्चे हों, उन्हें तू ले जाना। भौजाई के इस आश्वासन पर 'स्याउ' शांत हो गई और वे दोनों भी अपने घर चली आईं। उसके बाद भौजाई के जो बच्चे हुए, वे सब मर जाते थे। इससे वह बड़ी दुखी रहने लगी। किसी वृद्धा स्त्री के कहने पर उसने अहोई आठै का व्रत रखा और 'स्याउ' माता की प्रसन्नता के लिए उसने खूब स्वादिष्ट भोजन बनवाये तथा उसकी तृप्ति के लिए कच्ची नादों में दूध भरवाया। रात को जब 'स्याउ' माता आई, तो उसने पेट भर कर खाना खाया और दूध पिया। फिर वह चलने लगी, तो भौजाई ने उस वृद्धा के कहने से उसके पैर पकड लिये। 'स्याउ' ने पूछा—'तू क्या चाहती है ?' उसने कहा–'तिरवाचा भरो, तब कहूँगी।' उसने तिरवाचा भर कर कहा–'जो तू कहेगी, वही मैं दूँगी।' भौजाई ने कहा,–'तूने मेरे जिन बच्चों को लिया है,

उन्हें दे दे।' 'स्याउ' ने कहा–'तूने मुझे ठग लिया।' फिर उसने अपने कान फड़फड़ाए, जिनसे उसके बच्चे निकल पड़े! इस प्रकार उसने अपनी ननद की प्राण–रक्षा के लिए संतान का जो कष्ट उठाया था, वह दूर हो गया।''

इस लोक कथा में 'स्याउ' का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं होता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि 'स्याउ' से सर्पिणी का अभिप्राय है', जो आदिम युग की सर्प-पूजा का सूचक है। कुछ विद्वान इस त्यौहार को सेनापति स्कंद (कार्तिकेय) की पूजा से संबंधित कर 'स्याउ' को मोरिनी का वाचक मानते हैं। स्कंद का वाहन मोर है। अहोई आठै के अंकन में मोर-मोरिनी जैसी आकृतियाँ भी बनाई जाती हैं। यह लोक कथा और लोक त्यौहार पश्चिमी उत्तर प्रदेश और ब्रज में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। बौद्धों की जातक कथा में मथुरा की एक यक्षिणी का उल्लेख हुआ है, जो यहाँ के निवासियों के बच्चों को उठा ले जाती थी। भगवान् बुद्ध जब मथुरा आये थे, तब उनसे उस यक्षिणी की शिकायत की गई थी। बुद्धदेव ने यक्षिणी के बच्चों को छिपा दिया। जब वह यक्षिणी व्याकुल होकर बुद्ध भगवान के पास गई, तब उन्होंने उसे उपदेश दिया कि तू जिनके बच्चे लाती है, उन्हें भी ऐसी ही व्याकुलता होती है। बुद्ध के उपदेश से यक्षिणी ने अपनी क्रूर प्रकृति छोड़ दी और वह बच्चों की संरक्षिका बन गई। संभव है, उस बौद्ध कथा से भी इस त्यौहार का कुछ संबंध हो।

कार्तिक कृ० ८ (अहोई आठै) की रात में ब्रज के राधाकुंड नामक स्थान पर एक मेला होता है। उस समय वहाँ के कुंड में स्नान करने का बड़ा माहात्म्य माना गया है।

धन तेरस—कार्तिक कृ० १३ को धन तेरस का त्यौहार मनाया जाता है। दीवाली के आगमन की तैयारी में उस दिन नये बर्तन खरीदे जाते हैं और अनेक प्रकार के पकवान बनाये जाते हैं। रात में दीप-दान भी किया जाता है। उस दिन आयुर्वेद के प्रतिष्ठाता भगवान् धन्वन्तरि का जन्म दिवस भी है। उसी उपलक्ष में धन्वन्तरि उत्सव मनाया जाता है। वैद्य लोग धन्वन्तरि जी की पूजा करते हैं और समस्त मानव समाज के स्वास्थ्य-लाभ की कामना करते हैं।

कृष्ण–भक्तों ने इस उत्सव को भी कृष्ण–लीला से संबंधित कर दिया है। उस दिन ब्रज के मंदिरों में विशेष झाँकी होती है और तत्संबंधी पदों का गायन किया जाता है। इस प्रकार का एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

धन तेरस दिन अति सुखदाई।
राधा मन अति मोद बढ्यौ है, मनमोहन धन पाई॥
राखत प्रीति सहित हिरदै में, गुरुजन लाज बहाई।
'द्वारकेस' प्रभु रसिक लाड़िलौ, निरखि-निरखि मन भाई॥

रूप चौदस—कार्तिक कृ० १४ को यह त्यौहार होता है। उस दिन अहोई आठै की पूजा में रखी हुई झझरी के जल से स्नान किया जाता है। स्त्रियाँ उबटना करती हैं और विशेष प्रसाधन सामग्री का उपयोग करती हैं। यह त्यौहार समस्त परिवार की स्वास्थ्य-वृद्धि के निमित्त किया जाता है। इसे 'छोटी दीवाली' भी कहते हैं। ग्रामीण स्त्रियाँ सायंकाल को दिये जला कर घूरे और चौराहे

---

(१) सम्मेलन पत्रिका का 'लोक संस्कृति अंक,' पृष्ठ ३०५

पर रखती हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उस दिन भगवान् कृष्ण ने नरकासुर का वध किया था, अतः इसे 'नरक चतुर्दशी' भी कहते हैं। ब्रज के मंदिरों में उस दिन जो पद गाये जाते हैं, उनमें से एक यहाँ प्रस्तुत है—

न्हवावत सुत कों नंदरानी।
मानत पर्व रूप चौदस कौ, तिलक उबटनौ करि हरषानी॥
बस्तर लाल ज़री आभूषन, पहिरावत रुचि सों मनमानी।
मेवा लै, चले गाय सिंगारन, 'ब्रजजन' देखि-देखि बिहँसानी॥

दीपावली—कार्तिक कृ० १५ को यह उत्सव मनाया जाता है। दीपावली हमारा प्राचीन धार्मिक उत्सव, सांस्कृतिक समारोह और लोक-प्रसिद्ध त्यौहार है। इसे वैश्य वर्ण का खास उत्सव माना जाता है; किंतु आजकल सभी वर्ण और जातियों के व्यक्ति इसे बड़े उत्साह से मनाते हैं। ब्रज के घर-घर में यह उत्सव बड़ी उमंग के साथ मनाया जाता है। उस दिन सभी लोग नये-नये वस्त्राभूषण पहिनते हैं और सायंकाल को दीवाली का पूजन करते हैं। उस रात्रि में खूब दीपदान किया जाता है और रोशनी होती है। बच्चे पटाखे, फूलझड़ी चला कर मनोविनोद करते हैं। सब लोग पकवान, मिठाई आदि स्वादिष्ट पदार्थों का भोजन करते हैं और एक-दूसरे को मिठाई भेजते हैं। व्यापारी वर्ग उस दिन से नये वर्ष का आरंभ करते हैं।

मूल रूप और परंपरा—दीवाली के मूल रूप का अनुसंधान करने पर ज्ञात होता है कि पुरातन काल में यह 'यक्ष-पूजा' का उत्सव था। पुराणों में उस दिन यक्षराज कुवेर के पूजन करने का विधान है। वात्सायन कृत 'कामसूत्र' में 'यक्ष रात्रि' का उल्लेख किया गया है। उसमें दीप जलाने तथा द्यूत-क्रीड़ा करने का भी वर्णन है। इससे जान पड़ता है कि 'यक्ष रात्रि' दीपावली का ही आरंभिक नाम है। ११ वीं शताब्दी के हेमचंद्र कृत 'देशी नाममाला' में 'जक्ख रत्ती' (यक्ष रात्रि) को दीपावली का ही नाम बतलाया गया है। १२वीं शताब्दी के पुरुषोत्तमदेव कृत 'त्रकांड शेष' में भी यक्ष रात्रि का अर्थ दीपावली ही किया गया है। यक्ष संप्रदाय की अवनति होने पर 'यक्ष रात्रि' का संबंध यक्षों के गुण वाले देवी-देवताओं से जोड़ दिया गया। फलतः यह उत्सव कालांतर में धन की अधिष्ठात्री देवी विष्णुप्रिया लक्ष्मी से संबद्ध हो गया। यक्षराज कुवेर भी धन का देवता माना जाता है। लक्ष्मी के अतिरिक्त विद्या-बुद्धि के देवी-देवता सरस्वती और गणेश का पूजन भी दीपावली उत्सव का विशेष अंग बन गया है।

जैन धर्मावलंवियों में प्राचीन काल से ही दीपावली का उत्सव मनाया जाता रहा है। इस धर्म के प्रतिष्ठापक महावीर स्वामी का निर्वाण कार्तिकी अमावस को हुआ था। 'कल्पसूत्र' में लिखा है, महावीर का महाप्रयाण होने पर जब 'लिच्छिवि','मल्ल' आदि १८ राज प्रमुख उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्र हुए; तब उन्होंने अनुभव किया कि ज्ञान का प्रकाश तो गया, अतः दीपकों के भौतिक प्रकाश से ही भविष्य में इस दिन की स्मृति को कायम रखा जाय। तभी से कार्तिकी अमावस को दीपावली के रूप में मनाया जाने लगा। जैन समाज के नर-नारी उस दिन जैन मंदिरों में जाकर महावीर स्वामी की पूजा करते हैं, और व्रतोपवास करते हैं। सायंकाल को मंदिरों और घरों में दीपक जलाते हैं। जैनियों में उस दिन सरस्वती-पूजा भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। एक चौकी पर वे जैन शास्त्रों को रखते हैं और उसके नीचे पुस्तिका, बही, डायरी,

सिक्के आदि रख कर उनकी पूजा करते हैं। बाद में मिष्टान्न का वितरण करते हैं। बौद्ध धर्म में भी दीपावली मनाने की प्रथा है। बौद्ध जातकों में जिस 'कार्तिक पर्व' का उल्लेख मिलता है, वह दीपावली का ही पूर्व रूप कहा जा सकता है। यह उत्सव बौद्ध संस्कृति के प्रमुख केन्द्र श्रावस्ती, वाराणसी आदि में बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था।

दीपावली का संबंध कई पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओं से भी माना जाता है। भगवान् वामन द्वारा असुर नरेश बलि को पाताल भेजने से देवताओं ने जो हर्षोत्सव मनाया था, उसी स्मृति में दीपावली मनाई जाती है। रावण-वध के उपरांत जब अयोध्या में रामचंद्र का राज्याभिषेक हुआ, तब अवध वासियों ने सर्वत्र दीपक जला कर अपना आह्लाद प्रकट किया था। उसी के उपलक्ष में दीपावली प्रचलित हुई है। महाराष्ट्र में दीपावली को श्री कृष्ण से संबंधित त्यौहार माना जाता है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार जब भगवान् श्री कृष्ण ने गोलोक में रासलीला का आयोजन किया, तब योगमाया का आह्वान करने पर उसके वाम अंग से एक अत्यंत तेजोमयी सुंदरी देवी का प्रादुर्भाव हुआ था। उस देवी ने दो रूप धारण किये। उसका एक रूप राधा था, जो श्री कृष्ण के साथ गोलोक में रहा और दूसरा रूप लक्ष्मी था, जो वैकुंठ में विष्णु के साथ रहा। इस प्रकार दीपावली दिवस की आराध्या लक्ष्मी देवी भी प्रकारांतर से कृष्ण-प्रिया ही है।

महाराज विक्रमादित्य के राज्याभिषेक का दिन दीपावली माना जाता है। महावीर स्वामी के निर्वाण से इसका संबंध पहिले ही बतलाया जा चुका है। इस युग में स्वामी रामतीर्थ और दयानंद सरस्वती जैसे महापुरुषों का निर्वाण भी दीपावली के दिन हुआ था। दीपावली से दो दिन पूर्व कार्तिकी त्रयोदशी को भगवान् धन्वन्तरि के आविर्भाव से तथा उससे एक दिन पूर्व चतुर्दशी को भगवान् श्री कृष्ण द्वारा नरकासुर का वध किये जाने से भी इस उत्सव को गौरव प्राप्त हुआ है। फिर यह दिन लक्ष्मी, गणेश, सरस्वती आदि देवी-देवताओं के पूजन, नवान्न की प्राप्ति तथा चातुर्मास्य के उपरांत नवीन व्यापारिक वर्ष का आरंभ होने से और भी महत्वपूर्ण बन गया है।

इस उत्सव के अपूर्व महत्व के कारण ही इसे ब्रज में सभी युगों और कालों में मनाये जाने की अविच्छिन्न परंपरा मिलती है। जैन, बौद्ध, हिंदू काल में ही नहीं; वरन् मुसलमान काल में भी इसे परंपरागत रूप में ही मनाया जाता था। महमूद गजनवी के आक्रमण-काल का वर्णन अलवेरुनी के संस्मरणों से हुआ है। उसने दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी–पूजन, दीप-दान और द्यूत-क्रीड़ा किये जाने का उल्लेख किया है। मुगल काल में तो हिंदुओं के साथ अनेक मुसलमान भी उत्तम वस्त्राभूषण पहिन कर नाँच-रंग और द्यूत-क्रीड़ा द्वारा दीपावली मनाते थे। 'आईन-ए-अकबरी' में लिखा है कि स्वयं सम्राट अकबर बडी धूम-धाम से इस उत्सव का आयोजन करते थे। अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में भी यह उत्सव उसी धूम-धाम से मनाया जाता था। मुसलमान 'शबे रात' की भाँति उस अवसर पर पटाखे चलाते थे, दीपक जलाते थे, गुब्बारे उड़ाते थे और कंडीलों की रोशनी करते थे। वे हिं[illegible] की तरह ही उस अवसर पर खील-बताशे भी खरीदते थे।

मुसलमानों के शास[illegible]-काल [illegible] । [illegible] ब्रज में मराठों तथा जाटों का महत्व बढ़ा, तब हिंदू त्यौहारों को और भी अधिक [illegible] क[illegible] जाने लगा था। फलतः दीपावली की धूम-धाम भी पहिले से कहीं अधिक बढ़ गई [illegible] उस समय ब्रज के मंदिर-देवालयों में विशेष आयोजन के साथ दीपावली तथा उससे संबंधित सभी [illegible]त्सव होने लगे थे और ब्रज के जन साधारण में भी इसके लिए विशेष उत्साह दिखलाई देने लगा था।

दीपावली उत्सव की मुख्य विशेषता लक्ष्मी की पूजा और दीपकों का जलाना है। धन की अधिष्ठात्री देवी की पूजा अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। लक्ष्मी का वाहन उलूक माना जाता है, किंतु इसका कोई प्राचीन आधार ज्ञात नहीं होता है। भला विष्णुप्रिया और समृद्धि की देवी का वाहन उल्लू क्यों कर हुआ ? लक्ष्मी के स्तोत्रों में उसका वाहन हाथी अथवा गरुड़ बतलाया गया है। गज-लक्ष्मी की अनेक प्रतिमाएँ प्राचीन काल की मिलती हैं। विष्णुप्रिया होने के कारण विष्णु-वाहन गरुड़ पर तो उनका आसन होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए लक्ष्मी स्तोत्रों में लक्ष्मी के गरुड़ारूढ़ रूप की वंदना की गई है—

नमस्ते गरुड़ारूढ़े, कोलासुर भयंकरी। सर्व पाप हरे देवि, महालक्ष्मी नमोस्तुते ॥

लोक-जीवन में दीवाली—ब्रज के लोक-जीवन में दीवाली का त्यौहार होली के बाद सबसे अधिक महत्व रखता है। उसके लिए कितने ही दिन पहिले से तैयारी की जाती है। घरों को झाड़-बुहार कर और उनमें सफेदी–सफाई करा कर एकदम नया कर लिया जाता है। सब लोग नये वस्त्राभूषण पहिनते हैं और सायंकाल को दीवाली का पूजन करते हैं। घरों की भीत पर अहोई आठैं को जो अंकन किया जाता है, उसमें बनी हुई जुआरियों की आकृतियों को दीवाली के दिन हलुआ से पूजा जाता है। कहीं-कहीं पर दीवाली के लिए पृथक् अंकन भी किया जाता है। जिस भीत पर दीवाली का अंकन होता है, उसके निकट मिट्टी की हटरी और अनेक प्रकार के खिलौने रखे जाते हैं। खील, बताशे, पकवान, मिठाई रख कर लक्ष्मी-गणेश और हटरी का पूजन किया जाता है। कहीं-कहीं पर उस रात्रि में द्यूत-क्रीड़ा (जुआ) का भी आयोजन होता है।

जूआ जैसे सर्वनाशकारी व्यसन का दीवाली के साथ किस प्रकार संबंध हुआ, यह विचारणीय है। दीपावली आनंद, उल्लास, समृद्धि और मनोविनोद का त्यौहार है। प्राचीन काल में द्यूत क्रीड़ा समृद्धिशाली व्यक्तियों के मनोविनोद का प्रमुख साधन था। उस समय इसे शिष्ट समाज में निंदनीय नहीं माना जाता था। महाभारत काल में जब यह देश भौतिक समृद्धि में सर्वोपरि था, तब समृद्धिशाली व्यक्तियों के मनोरंजन के साधनों में जूआ खेलना भी था। उस समय के सर्वश्रेष्ठ राजपुरुष कौरव–पांडवों की द्यूत-क्रीड़ा प्रसिद्ध है। यही कारण है, दीपावली के मनोविनोदार्थ प्रस्तुत किये जाने वाले साधनों में द्यूत भी सम्मिलित हो गया है। वात्सायन कृत 'कामसूत्र' में दीपावली के दिन द्यूत-क्रीड़ा करने का उल्लेख मिलता है। लोक में यह अंध विश्वास प्रचलित है कि दीपावली पर जुआ खेलने से वर्ष भर के लाभ–हानि का शकुन जाना जा सकता है। यदि दीवाली पर जीत हुई, तब वर्ष भर तक जीत ही जीत होगी। जो लोग कभी जुआ नहीं खेलते हैं, वे भी शकुन के लिए दीवाली पर जुए का दाव लगाते हैं। वैसे शिष्ट-समाज में यह प्रथा बहुत कम हो गई है; तथापि निम्न वर्ग में यह अब भी बुरी तरह प्रचलित है, जिसे सर्वथा बंद करना आवश्यक है।

धार्मिक स्थलों और मंदिरों में दीवाली—ब्रज के विविध धार्मिक स्थलों और मंदिरों में दीवाली को एक महत्वपूर्ण धार्मिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। ब्रज के गोबर्धन नामक स्थान में मानसी गंगा के चारों ओर के घाटों पर उस दिन हज़ारों दीपक जलाये जाते हैं और गिरिराज जी की पूजा की जाती है। ब्रज के मंदिरों में ठाकुर जी को हटरी में विराजमान कर उनका विशेष समारोह के साथ पूजन किया जाता है। उस दिन ठाकुर जी का सुंदर श्रृंगार होता है और मंदिरों में सजावट की जाती है। उस अवसर पर ठाकुर जी के समक्ष जो पद गाये जाते हैं, उनमें से एक यहाँ प्रस्तुत है—

हटरी बैठे श्री गिरिधरलाल ।
सुंदर कुंज सदन अति नीकौ, सोभित परम रसाल ।।
चहुँ ओर पाँत बनी दीपन की, झलकत झाल सुमाल ।
मेवा–मिश्री–पान–फूल सब, भर–भर राखे थाल ।।
कनक-लता सी सँग मृगनैनी, सोभित स्याम-तमाल ।
भाव परस्पर लेत–देत हैं, राजत अंग रसाल ।।
घर–घर तें सब भेंटें लै–लै, आईं सब ब्रज–बाल ।
'रसिक' प्रभू के आगै राखत, गावत गीत रसाल ।।

गोबर्धन पूजा और अन्नकूट—कार्तिक शु० १ को गोबर्धन पूजा का उत्सव मनाया जाता है। यह ब्रज का अत्यंत महत्वपूर्ण धार्मिक समारोह और लोकप्रिय त्यौहार है। पहिले ब्रज में इंद्र की पूजा होती थी। श्री कृष्ण ने उसके स्थान पर गोबर्धन स्वरूप गिरिराज की पूजा प्रचलित की थी। उसके लिए विविध प्रकार के व्यंजन इतने प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किये जाते थे कि वे अन्न के 'कूट' (ढेर या पहाड़) से जान पड़ते थे। उसी परंपरा में 'गोबर्धन-पूजा' और 'अन्नकूट' का यह उत्सव है, जो प्राचीन काल से ब्रज में प्रचलित रहा है। ब्रज की विशेषता उसके गो-धन के कारण रही है और यह उत्सव गो-वंश के संवर्धन का है, इसीलिए इसे ब्रज में अत्यंत धूम-धाम और समारोह पूर्वक मनाया जाता है।

उस दिन ब्रज के घर-घर में गायों की पूजा की जाती है, गोबर से बनाई गई गोबर्धन-गिरिराज की आकृति को पूजा जाता है और नाना प्रकार के व्यंजनों से 'अन्नकूट' का आयोजन कर उससे ठाकुर जी का भोग लगाया जाता है। उस अवसर पर ब्रज के सभी मंदिर-देवालयों में, विशेष कर बल्लभ संप्रदायी मंदिरों में गोबर्धन-पूजा और अन्नकूट के उत्सव होते हैं। उस दिन ब्रज के गोबर्धन ग्राम में श्री गिरिराज जी के पूजन, अन्नकूट और परिक्रमा के आयोजन किये जाते हैं। मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर में यह उत्सव बड़े बृहत् रूप में होता है। उस दिन गोबर्धन-पूजा और कीर्तन आदि के अतिरिक्त जो विशाल अन्नकूट होता है, उसमें 'छप्पन भोग, छत्तीसों व्यंजन' प्रत्यक्ष रूप में दिखलाई देते हैं। इस आयोजन के बृहत् रूप का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इसकी तैयारी आश्विन शु० १० (विजया दशमी) से कार्तिक कृ० १५ (दीपावली) तक होती रहती है। इन २१ दिनों में अगणित भोज्य पदार्थ बनाये जाते हैं, जिनका भव्य प्रदर्शन कार्तिक शु० १ को अन्नकूट के रूप में किया जाता है। इस उत्सव से जहाँ ब्रज में गो–वंश की वृद्धि करने की प्रेरणा मिलती रही है, वहाँ पाक विद्या की प्रगति करने का भी प्रोत्साहन मिला है। अन्नकूट के कारण ही ब्रज में पाक विद्या अत्यंत समुन्नत रूप में अभी तक जीवित है।

ब्रज के भक्त-कवियों ने इस उत्सव से संबधित अनेक छोटे-बड़े पदों की रचना की है। उनमें गोबर्धन-पूजा के मनोरम कथन के साथ ही साथ अन्नकूट के बहुसंख्यक व्यंजनों का भी नामोल्लेख किया गया है। यहाँ इस संबंध के कतिपय पद दिये जाते हैं—

१. गोबर्धन–पूजा कों आये, सकल ग्वाल लै संग ।
बाजत ताल–मृदंग–संख ध्वनि, बीना–पटह–उपंग ।।

नव सत साज चलीं ब्रज-तरुनी, अपने-अपने रंग ।
गावत गीत मनोहर बानी, उपजत तान-तरंग ।।
अति पवित्र गंगाजल लैकें, डारत आनँदकंद ।
ता पाछै दूध धौरी कौ, ढारत 'गोकुलचंद' ।।

२. रोरी-चंदन चर्चन करिकैं, तुलसी-पुहौपमाल पहिरावत ।
धूप-दीप विचित्र भाँतिन सों, पीत वसन ऊपर लै उढ़ावत ।।
भाजन भरि-भरि कै कुनवारौ, लै-लै गिरि कों भोग धरावत ।
गाय खिलाय गोपाल तिलक दै, पीठ थाप सिरपेच बँधावत ।।
यह विधि पूजा करि कै मोहन, सब ब्रज कों आनंद बढ़ावत ।
जय-जय सब्द होत चहुँ दिसि तें, 'गोविंद' विमल-विमल जस गावत ।।

३. गोबर्धन पूजन चले री गोपाल ।
मत्त गयंद देखि जिय लज्जित, निरखि मंद गति चाल ।।
ब्रज नारी पकवान बहुत करि, भरि-भरि लीने थाल ।
अंग सुगंध पहरि पट भूषन, गावत गीत रसाल ।।
वाद्य अनेक बेनु-रव सों मिलि, बजत विविध सुर-ताल ।
ध्वजा-पताका-छत्र-चँवर धरि, करत कोलाहल ग्वाल ।।
बालक वृंद चहूँ दिसि सोहत, मनो कमल-अलिमाल ।
'कुंभनदास' प्रभु त्रिभुवन मोहन, गोबर्धनधर लाल ।।

गोबर्धन की लोक-पूजा—ब्रज के लोक-जीवन में गोबर्धन-गिरिराज की पूजा का महत्व दीवाली के त्यौहार से भी अधिक माना गया है । इसीलिए लोक-कवियों ने गाया है,—'दूल्है गिरिराज की दिवाली दुलहिन है ।' जैसा पहिले कहा गया है, इस पूजा के लिए घरों के आँगनों में गोवर से गोबर्धन-गिरिराज की आकृति बनाई जाती है । ब्रज की ग्रामीण स्त्रियाँ उस आकृति को बनाते समय 'गोवरिया' नामक एक लोक गीत गाती हैं । यह आकृति मानवाकार होती है और उसका एक हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ होता है, जो श्री कृष्ण के गिरिराज-धारण का प्रतीक है । उसके चारों ओर रुई के फाहे लगी हुई सीकें गाढ़ दी जाती हैं, जो गिरिराज के वृक्षों को सूचित करती हैं । उस आकृति की टूंडी में बड़ा सा छेद बना कर उसमें दूध, दही, शहद, खील, बताशे भरे जाते हैं और उसके सिर की ओर दीपक जलाया जाता है । गोबर्धन की बड़ी आकृति के ओर-पास कुछ छोटी आकृतियाँ भी बनाई जाती हैं । वे गूजरी, ग्वालिन, रई, मथनिया, चूल्हा, चक्की, लड़ावनी आदि की प्रतीक होती हैं ।

गोवर से बनी हुई गोबर्धन की उस आकृति को खीर, पूरी, अठावरी और मिष्टान्न से पूजते हैं तथा उसकी परिक्रमा करते हैं । इसके बाद गायों से उसकी परिक्रमा कराई जाती है । उस समय सब लोग घंटा, घड़ियाल बजा कर आरती उतारते हैं और 'श्री गिरिराज महाराज की जय' बोल कर प्रसाद लेते हैं । उस अवसर पर ब्रज के गाँवों में, खास तौर पर गोबर्धन ग्राम में, ब्रजवासी गण सामूहिक रूप से लोक गीत गाते हैं । उन गीतों में 'हीरो' नामक एक लोक गीत का गायन बड़े उल्लासपूर्वक किया जाता है । उस गीत को गाते समय बीच-बीच में 'बोल श्री गिरिराज महाराज की जय' का आनंदपूर्ण तुमुल घोष करते हैं । गीत के कुछ बोल इस प्रकार हैं—

गोबर्धन रे, तू श्रायौ गंगा पार तें, श्रौर उतरचौ जमुना पार।
श्राज रहै रे, काहू गैल में, श्रौर भोर सखीन के द्वार॥ बोल, श्री गिरिराज महाराज की जय॥
गोबर्धन रे, सब सूं तू बड़ौ, श्रौर तो तें बड़ौ न कोइ।
श्ररे, तू तौ पुजायौ श्री कृष्ण नें, तोइ को नहिं जानत होइ॥ बोल, श्री गिरिराज०॥

यमद्वितीया श्रथवा भैयादोज—कार्तिक शु० २ को यह धार्मिक समारोह श्रौर लोक त्यौहार होता है। उस दिन मथुरा में यमुना-स्नान करने का बड़ा माहात्म्य माना गया है। उस श्रवसर पर स्थानीय नर-नारी श्रौर देश के श्रनेक भागों से श्राये हुए यात्री कई लाख की संख्या में यमुना-स्नान करते हैं। मथुरा में यह वर्ष का सबसे बड़ा पर्व श्रौर स्नानोत्सव होता है। यमुना को यमराज की बहिन माना गया है। कृष्णप्रिया यमुना जी के साथ उसके भाई यम की पूजा भी उस दिन की जाती है। मृत्यु के देवता यम की पूजा-श्रर्चना कदाचित मथुरा में ही उस श्रवसर पर होती है। स्नानार्थियों में श्रनेक बहिन-भाई भी होते हैं, जो उस दिन साथ-साथ यमुना-स्नान श्रौर यम-यमुना का पूजन करते हैं।

ब्रज के लोक जीवन में उस दिन 'भैया दोज' का त्यौहार मनाया जाता है। उस श्रवसर पर बहिनें श्रपने भाइयों के तिलक कर उन्हें भोजन कराती हैं श्रौर उनकी दीर्घायु होने की कामना करती हैं। भाई श्रपनी सामर्थ्य के श्रनुसार बहिनों को वस्त्र श्रौर रुपये-पैसे की भेंट देते हैं। भाई बहिन के स्वाभाविक स्नेह-संवर्धन का यह श्रनुपम त्यौहार है। उस दिन घरों में स्त्रियाँ सामूहिक रूप से गोवर की गौर बना कर उसकी पूजा करती हैं श्रौर एक लोक कथा कहती हैं। उस कथा में बतलाया जाता है कि किस प्रकार एक बहिन श्रपने भाई की श्रकाल मृत्यु की श्राशंका से चुपचाप उसकी रक्षा का उपाय करती है श्रौर कई दुर्घटनाश्रों से उसे बचा लेती है। इस प्रकार वह श्रपने भाई की मृत्यु को टालने में सफलता प्राप्त करती है। कतिपय स्थानों में उस कथा का श्रंकन करने के लिए थापा बनाया जाता है, जिसे 'भैया दोज का थापा' कहते हैं। उसमें भाई-बहिन के साथ ही साथ दुर्घटनाश्रों के प्रतीकों का भी श्रंकन होता है।

ब्रज के गाँवों में भैया दोज के दिन स्त्रियाँ लोक कथा कह कर 'बधाए' भी गाती हैं। उस श्रवसर पर गाये जाने वाले कुछ बधाए इस प्रकार हैं—

१. मेरे श्रंगना में मंदिर बनवइयो, मोरे राजा जी, करौं गनेस जी की पूजा।
२. मोहि बिरछ नरियरौ न भावै, जाकी लटकि-लटकि छाया श्रावै।
मोहि ऐसी सासु नाँहिं चहिए, मोढ़लनि पै तें हुकम चलावै॥ मोहि०॥
मोहि ऐसौ ससुर नाँहिं चहिए, श्रथाइन पै तें हुकम चलावै॥ मोहि०॥

पूतना का मेला—कार्तिक शु० ६ को महाबन में पूतना-बध का मेला होता है।

गोपाष्टमी—कार्तिक शु० ८ को ब्रज में गोपाष्टमी का उत्सव होता है, जो भगवान् श्री कृष्ण द्वारा गोचारण किये जाने की स्मृति में मनाया जाता है। उस दिन ब्रजवासी गण श्रपनी गायों को न्हला-धुला कर श्रौर विविध रंगों से चित्रित कर उनका शृंगार करते हैं। फिर कृष्ण-बलराम की सवारी के साथ उनका जुलूस निकालते हैं। यह उत्सव मथुरा श्रौर गोकुल में विशेष श्रायोजन के साथ होता है। वहाँ पर गोशालाश्रों की सैकड़ों गायों का भव्य प्रदर्शन किया जाता है।

उस दिन ब्रज के मंदिरों में जो गो–चारण के पद गाये जाते हैं, उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

गाय चरावन कौ दिन आयौ ।
फूली फिरति जसोदा अँग-अँग, लालन उबटि न्हवायौ ।।
भूषन–बसन विविध पहिराये, कज्जर तिलक बनायौ ।
विप्र बुलाइ वेद-धुनि कीनीं, मोतिन चौक पुरायौ ।।
देति असीस सकल ब्रज–सुंदरि, हरषित मंगल गायौ ।
लटकत चल्यौ भाँवतौ बन कों, 'परमानंद' जिय भायौ ।।

अक्षय नवमी—कार्तिक शु० ६ को अक्षय नवमी (अखै नौमी) का लोकोत्सव मनाया जाता है । उस दिन हज़ारों नर–नारी और बालिका–बालक मथुरा की परिक्रमा करते हैं । उस दिन मथुरा में सरस्वती कुंड पर एक बड़ा मेला होता है ।

कंस का मेला—कार्तिक शु० १० को मथुरा में चौबों द्वारा कंस–वध का प्रदर्शन किया जाता है । उस दिन वे नाना प्रकार के विचित्र वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर और हाथों में लंबी-लंबी लाठियाँ लेकर इस आयोजन में सम्मिलित होते हैं । उस अवसर पर कागज़ के बने हुए कंस के पुतले का जुलूस निकाला जाता है और उस पुतले को मथुरा नगर के बाहर ले जाकर 'कंस–टीला' नामक स्थल पर खड़ा कर दिया जाता है । फिर चतुर्वेदी समाज के अनेक व्यक्ति कृष्ण-बलराम की सवारी के साथ गायन-वादन करते हुए वहाँ पहुँचते हैं और लाठियों से कंस के पुतले को पीटते हैं । बाद में उसके ध्वंसावशेषों को लेकर धूम-धाम के साथ 'कंस खार' नामक स्थल पर जाते हैं और वहाँ पर उन्हें नष्ट कर डालते हैं । यह मथुरा के चौबों का सबसे बड़ा और सबसे अधिक उत्साह-पूर्ण मेला है ।

प्रबोधिनी अथवा 'देवोठान'—कार्तिक शु० ११ को प्रबोधिनी एकादशी का व्रतोत्सव और 'देवोठान' का लोक–त्यौहार मनाया जाता है । उस दिन ब्रज के नर-नारी व्रत रखते हैं तथा मथुरा, गरुड़गोविंद और वृंदाबन की परिक्रमा करते हैं । ब्रज के मंदिरों में उस दिन विशेष उत्सव किया जाता है । वर्षा ऋतु के चातुर्मास्य में सोये हुए देवता गण उस दिन से जागृत हुए माने जाते हैं । इसलिए जो विवाहादि मांगलिक कार्य चार महीनों से बंद थे, वे प्रबोधिनी एकादशी के दिन देवताओं के उठने से फिर होने लगते हैं । इस दिन को 'देवोत्थापन' अथवा 'देवोठान' भी कहा जाता है ।

ब्रज के मंदिरों में उस दिन जो पद गाये जाते हैं, उनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

आज प्रबोधिनी परम मोदकर, चल प्यारी पिय पै लै जाऊँ ।
बहुत ईख रस कुंज पुंज रचि, चहूँ ओर दीपकन सुहाऊँ ।।
चित्र विचित्र भूमि अति चीती, करि उत्पादन हरिहिं जगाऊँ ।
ताल–मृदंग–झाँझ–संखन धुनि, द्वारें बंदनवार बधाऊँ ।।
चार जाम जागरन जागि कै, चार भोग अधरामृत पाऊँ ।
'रसिकराय' के रहसि–सिंधु में, नैनन मीन झकोरि न्हवाऊँ ।।

उन दिन ब्रज की नारियाँ अपने घरों को लीप–पोत कर उन्हें खरिया मिट्टी और गेरू से चित्रित करती हैं। घर के आँगन और फर्श पर खरिया और गेरू से चौकों का चित्रण किया जाता है। इस लोकोत्सव में लोक चित्रकला का अच्छा प्रदर्शन होता है। सायंकाल को स्त्रियाँ देवोठान का रेखांकन कर और उसके निकट नवीन ऋतु-फल, बेर, सिंघाड़े, गन्ना तथा पकवान रख कर उन्हें एक थाली या डलिया से ढक देती हैं। फिर बाल–बच्चों सहित उसके पास बैठ कर देवताओं को जगाने का आह्वान करती हैं। उस अवसर पर स्त्रियाँ एक लोक–मंत्र का गायन करती हैं, जो इस प्रकार है—

उठो देवा, बैठो देवा। आँगुरिया चटकाओ, देवा॥

तुलसी–विवाह—कार्तिक शु० ११ को ब्रज में तुलसी–शालिग्राम के विवाह का लोकोत्सव होता है। उस दिन किसी देवालय में पूजित शालिग्राम शिला के साथ भावुक स्त्रियाँ अपनी तुलसी के विवाह का आयोजन करती हैं। उसमें लोक प्रचलित सभी वैवाहिक विधियों का पालन करते हुए तुलसी के पौधे के साथ शालिग्राम शिला के फेरे डाले जाते हैं। उस अवसर पर विवाह के गीत गाये जाते हैं और दहेज भी दिया जाता है!

गंगा पूर्णिमा—कार्तिक शु० १५ को गंगा–स्नान का बड़ा पर्व होता है। उस दिन विविध स्थानों में लाखों नर–नारी गंगा–स्नान करते हैं। ब्रज में यमुना में स्नान किया जाता है। आगरा जिला के बटेश्वर नामक स्थान पर उस दिन यमुना–स्नान का एक बड़ा मेला लगता है। उसमें आस–पास के कई लाख ग्रामीण नर–नारी एकत्र होकर यमुना–स्नान करते हैं। उस अवसर पर वहाँ पशुओं की प्रदर्शिनी होती है और पशुओं की खरीद–बिक्री की जाती है।

स्वामी का मेला—कार्तिक शु० १५ को ब्रज के तरौली नामक स्थान में यह ग्रामीण मेला होता है। मथुरा के छाता परगना में बच्छ बन के निकट सेही और तरौली नामक दो छोटे गाँव हैं, जिनमें अधिकांश बस्ती गौरवा ठाकुरों की है। यह इस क्षेत्र का प्रसिद्ध मेला है।

कार्तिक न्हान—ब्रज की अनेक स्त्रियाँ कार्तिक के पूरे महीने भर तक यमुना–स्नान करती हैं। गली–मुहल्लों से स्त्रियों की टोलियाँ ब्राह्म मुहूर्त में सुंदर गीत गाती हुई यमुना–स्नान को जाती हैं। स्नान करने के अनंतर वे घाटों पर अथवा निकट के देवालयों में प्रतिदिन राधा–दामोदर की पूजा करती हैं। यह पूजा कई–कई स्त्रियाँ मिल कर सामूहिक रूप में करती हैं। उस अवसर पर राधा–दामोदर के जो गीत गाये जाते हैं, उनमें से एक का कुछ अंश इस प्रकार है—

राधा–दामोदर बलि जइयै।
राधा पूछै बात किसन सों, कैसे कातिक न्हइयै? राधा दामोदर०॥

हेमंत–शिशिर ऋतु [अगहन-पौष-माघ] के उत्सव–त्यौहार—

कार्तिक की देवोत्थापन एकादशी से लेकर अगहन, पौष और माघ के महीनों में विवाहादिक मांगलिक प्रसंगों की ब्रज में बड़ी धूम रहती है; किंतु उत्सव, त्यौहार और मेले इन दिनों अपेक्षाकृत कम होते हैं। इस अवधि में ब्रज में पर्याप्त सर्दी पड़ती है। कदाचित इसीलिए यह मौसम उत्सव-त्यौहारों के लिए सुविधाजनक नहीं समझा गया है। शीत की अधिकता जहाँ समृद्धिशाली व्यक्तियों को सुखोपभोग और विलास की ओर प्रवृत्त करती है, वहाँ जन–साधारण के लिए कष्ट और असुविधा का कारण होती है। समृद्धिशाली व्यक्ति इन महीनों को आनंदपूर्वक विताने के

लिए तूल, तैल, तांबूल के साथ ही साथ शीत निवारक अमीरी साधनों का उपयोग करते हैं; वहाँ जन साधारण को अधिकतर धूप और अग्नि का ही सहारा होता है।

पौष और माघ की कठिन शीत, बर्फीली वायु और ओला-पाला से जब ब्रज के बन–उपबनों और बाग–बगीचों में मनोरम लता–वृक्षों के पुष्प ही नहीं वरन् पत्ते तक झड़ने लगते हैं, तब ब्रज का प्राकृतिक सौन्दर्य समाप्त हुआ सा जान पड़ता है। उस समय वहाँ बन–श्री की सहज शोभा तिरोहित होकर उजाड़ और बरबादी में बदल जाती है। इस प्रकार का अप्रिय और भयावह दृश्य ब्रज में अधिक समय तक नहीं रहता है। माघ के मध्य काल से ही बसंतागमन के आसार दिखलाई देने लगते हैं; तभी 'बसंत पंचमी' के आते ही नाटकीय दृश्य-परिवर्तन की भाँति प्रकृति देवी भी अपना रूप बदल देती है। फलतः वहाँ पर फिर प्राकृतिक सौन्दर्य की सुषमा दृष्टिगोचर होने लगती है। हम इस काल के कतिपय उत्सव, त्यौहार और मेलों का यहाँ उल्लेख करते हैं।

भैरव जयंती—मार्गशीर्ष कृ० ८ भगवान् शिव के प्रमुख गण भैरवनाथ का जन्म–दिवस माना जाता है। उस दिन शिव और भैरव में आस्था रखने वाले ब्रज के नर-नारी भैरवनाथ की पूजा करते हैं और जोगियों को भोजन कराते हैं।

बिहार पंचमी—मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को वृंदाबन में 'विहार पंचमी' का उत्सव होता है। यह श्री बिहारी जी का प्राकट्य दिवस है, अतः हरिदासी संप्रदाय के मंदिरों और देवालयों में उस दिन उत्सव होते हैं।

गीता जयंती—मार्गशीर्ष शुक्ला ११, जिसे 'मोक्षदा एकादशी' भी कहते हैं, 'गीता जयंती' का दिन है। भगवान् श्री कृष्ण ने उसी दिन मोहग्रस्त अर्जुन को गीता का अमर संदेश दिया था। उस दिन मथुरा के 'गीता मंदिर' में उपदेश–प्रवचन और गायन–वादन के धार्मिक आयोजन होते हैं।

व्यंजन द्वादशी—मार्गशीर्ष शुक्ला १२ को ब्रज के मंदिरों में व्यंजन द्वादशी का उत्सव मनाया जाता है। उस दिन वहाँ पर विविध व्यंजनों द्वारा ठाकुर जी का भोग लगाते हैं।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा—वैसे तो मार्गशीर्ष का पूरा महीना ही सब महीनों में श्रेष्ठ माना गया है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्', तथापि एकादशी और पूर्णिमा इस महीने की पावन तिथियाँ हैं। एकादशी 'मोक्षदा' के नाम से गीता के प्राकट्य का शुभ दिन है, तो पूर्णिमा श्री बलदेव जी का दिन माना जाता है। उस दिन दाऊ जी के सभी मंदिरों में विशेष दर्शन और उत्सव होते हैं। ब्रज के बलदेव नामक स्थान में एक बड़ा मेला लगता है और हजारों नर-नारी वहाँ के मंदिर में श्री दाऊ जी के दर्शन करते हैं। उसी दिन दाऊ जी के देव-विग्रह को शीत काल की पोशाक 'गदला' अर्थात् रुई का लवादा धारण कराते हैं, जिसके कारण इस दिन को 'दाऊजी की पूनौ' अथवा 'गदला पूनौ' भी कहते हैं।

धनुर्मास—पौष का महीना 'धनुर्मास' कहा जाता है। इस महीने में देव–पूजा आदि धार्मिक आयोजनों का विशेष माहात्म्य माना गया है। ब्रज की महिलाएँ इस महीने में ठाकुर जी के दर्शन तथा व्रतोपवासादि करती हैं।

मकर संक्रांति—मकर राशि पर सूर्य के आगमन की तिथि 'मकर संक्रांति' कहलाती है। उस दिन से सूर्य उत्तरायण हो जाता है, अतः इस तिथि का विशेष धार्मिक और सांस्कृतिक

महत्व माना गया है। उत्तरायण को 'देव यान' भी कहते हैं। इस छः माही में शरीर छोड़ने वाले ब्रह्मवेत्ता मनीषी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं; जैसा श्रीमद् भगवत गीता में कहा है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति, ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

प्राचीन काल में भारत के ऋषि, मुनि और महात्मा गण उत्तरायण काल में ही देह-त्याग करने की आकांक्षा करते थे। महाभारत से ज्ञात होता है कि भीष्म पितामह मरणासन्न होते हुए भी इसी काल की प्रतीक्षा में शर–शैया पर लेटे रहे थे और सूर्य के उत्तरायण होते ही मकर संक्रांति के दिन उन्होंने अपना शरीर छोड़ा था।

यह पावन तिथि पौष के अंत में अथवा माघ के आरंभ में आती है और ईसवी सन् की प्रायः १४ जनवरी को होती है। उस दिन ब्रज के मंदिरों में बड़ा उत्सव होता है। वृंदाबन के मंदिरों में उस दिन से 'खिचड़ी' की झाँकियाँ होती हैं और बल्लभ संप्रदायी मंदिरों में 'भोगी' के पदों का गायन और उत्सव होते हैं। जन साधारण उस दिन तिल के लड्डू और खिचड़ी के दान के साथ देव–पूजन, स्नानादि धार्मिक कृत्य करते हैं।

माघ स्नान—वैशाख और कार्तिक की भाँति माघ भी पवित्र नदियों में स्नान करने का महीना माना गया है। ब्रज के अनेक श्रद्धालु नर-नारी शीत के आधिक्य की उपेक्षा कर पूरे माघ माह में प्रातःकाल यमुना-स्नान करते हैं।

गणेश चतुर्थी—माघ कृ० ४ को संकटहरण गणेश जी का जन्म दिवस माना जाता है। इसीलिए इस तिथि को 'संकट चौथ' अथवा 'सकट चौथ' भी कहते हैं। उस दिन ब्रज में हज़ारों नर-नारी व्रत रखते हैं और गणेश जी का दर्शन-पूजन करते हैं। उस रात्रि में चंद्रोदय होने पर चंद्रमा को अर्घ्य देकर भोजन किया जाता है और तिल के लड्डुओं से गणेश जी का भोग लगाया जाता है। मथुरा के गणेश टीला पर उस दिन मेला लगता है और नगर के हज़ारों नर-नारी वहाँ पर गणेश जी का दर्शन करते हैं।

षट् तिला एकादशी—माघ कृ० ११ को 'षट् तिला एकादशी' का लोक-त्यौहार होता है। उस अवसर पर विविध प्रकार से तिल के उपयोग करने का माहात्म्य है। उस दिन ब्रज में स्त्रियाँ व्रत करती हैं और तिल के लड्डुओं का दान करती हैं।

मौनी मावस—माघ कृ० १५ को 'मौनी मावस' का लोकोत्सव होता है। उस दिन ब्रज के नर-नारी यमुना-स्नान करते हैं और दान-पुण्य करते हैं।

दुर्वासा का मेला—मथुरा में विश्रामघाट के सामने यमुना पार के एक टीले और कुंड को क्रमशः 'दुर्वासा टीला' और 'दुर्वासा कुंड' कहा जाता है। ऐसी अनुश्रुति है, उक्त स्थान पर महर्षि दुर्वासा ने घोर तप किया था। टीला पर एक छोटा मंदिर बना हुआ है, जिसमें दुर्वासा ऋषि की मूर्ति है। यहाँ माघ महीने की एकादशी, अमावस, पूर्णिमा और बसंत पंचमी को मेला लगता है।

जखैया का मेला—माघ महीने के चारों रविवारों को महाबन में जखैया का मेला होता है। जखैया 'यक्ष' का अपभ्रंश है और यह मेला यक्ष-पूजा के प्राचीन उत्सव का अवशिष्ट रूप जान पड़ता है।

प्रथम अध्याय

आदि काल

प्राक्कथन—

परिभाषा—विगत काल की घटनाओं और उनसे संबंधित परिस्थितियों के यथावत् और विवेचनात्मक विवरण को इतिहास कहते हैं। 'इतिहास' शब्द का अर्थ है,—"यह निश्चय था"। इस प्रकार जो हो चुका है, अर्थात् भूत काल इतिहास का विषय है; जो हो रहा है अथवा होने वाला है, अर्थात् वर्तमान और भविष्य का इतिहास से कोई संबंध नहीं है। पहिले इतिहास को 'कला' समझा जाता था,—'ललित विस्तर' और 'प्रबंध कोश' जैसे प्राचीन ग्रंथों में इसकी गणना कलाओं में ही की गई है; किंतु अब इसे 'विज्ञान' माना जाता है।

साधन-सामग्री—भारतवर्ष में इतिहास और पुराण को अन्योन्याश्रित माना गया है और उन्हें वेद का विशदीकरण कहा गया है,—"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्"। इसीलिए वेदों में, रामायण–महाभारत और पुराणों में तथा उनके साथ जैन–बौद्धों के आगम–पुराण और जातकादि में इस देश के प्राचीनतम इतिहास की सामग्री मिलती है। यह सामग्री श्रुतियों और अनुश्रुतियों के रूप में संकलित हुई है। इतिहास में और विशेष कर सांस्कृतिक इतिहास में तिथि-संवत् का अधिक महत्व नहीं होता है। इसमें किसी देश अथवा समाज के आचार–विचार और उसकी उदात्त प्रवृत्तियों का विशद विवरण प्रस्तुत करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। भारत के उक्त प्राचीन ग्रंथों का भी यही दृष्टिकोण रहा है।

इतिहास और पुरातत्व के वर्तमान विद्वान पहिले उक्त ग्रंथों की सामग्री को ऐतिहासिक महत्व नहीं देते थे। वे लोग मूर्तियों, शिला–लेखों, सिक्कों तथा प्राचीन इमारतों आदि के अवशेषों को ही प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री मानते थे। जब से विभिन्न विद्वानों ने भारत के उन प्राचीन ग्रंथों और विशेषतया पुराणों का गंभीर अध्ययन कर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं[१], तब से इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों को भी भारत की उस गौरवशाली निधि का ऐतिहासिक महत्व स्वीकृत हो गया है। अब वे रामायण, महाभारत और पुराणों की वंशावलियों सहित उनके इतिवृत्तों को तथा जैन–बौद्ध धर्मों की अनुश्रुतियों को भारतीय इतिहास के लिए आवश्यक और उपयोगी साधन समझने लगे हैं। इस विपुल सामग्री की सहायता से अब अनेक विद्वान प्राचीनतम काल से ही भारतवर्ष का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए सचेष्ट हैं। ब्रज के प्राचीन इतिहास के लिए भी उक्त सामग्री की सहायता अनिवार्य है।

जहाँ तक ब्रज के पुरातत्व की प्राचीनतम सामग्री का संबंध है, वह परिमाण में अधिक न होते हुए भी महत्वपूर्ण है। भू–गर्भ विज्ञान और पुरातत्व के अनुसंधानों से सिद्ध हो गया है कि यमुना तट का यह प्रदेश अब से सहस्रों वर्ष पूर्व भी विद्यमान था। इसके गर्भ से प्राप्त हिमयुगीन

---

(१) श्री पार्जीटर कृत 'पुराण टेक्स्ट आफ दि डाइनेस्टीज़ आफ दि कलि एज' तथा 'एन्शिएण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन' आदि ग्रंथ देखिये।

प्राणियों के अवशेषों तथा प्रस्तर युग और ताम्र युग की वस्तुओं से विदित होता है कि यह प्रदेश प्रागैतिहासिक काल में ही बस गया था। मथुरा के चौबारा टीला की खुदाई में उपलब्ध ताम्रयुगीन वस्तुओं से इस प्रदेश की प्राचीनता का समर्थन होता है[1]।

वृहत्तर ब्रज क्षेत्र स्थित बयाना, वैर और अतरंजी ऐसे स्थान हैं, जहाँ से भी पुरातत्व की अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। बयाना सांस्कृतिक ब्रज की दक्षिण–पश्चिमी सीमा पर तथा भरतपुर और आगरा–फतहपुर सीकरी के सीधे मार्गों पर अर्वली के पहाड़ी क्षेत्र का एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। वहाँ नदी की सतह से ३५ फीट नीचे जो नर–कंकाल प्राप्त हुआ है, उसे समाज-शास्त्रियों ने अब तक उपलब्ध मानव–शरीर का सबसे प्राचीन ढाँचा माना है। वैर बयाना के निकट का एक छोटा सा सांस्कृतिक स्थल है। वहाँ से प्राचीन ईंटों की नगर-शृंखला तथा पुरातत्व की जो अन्य सामग्री उपलब्ध हुई है, वह डा० रांगेय राघव के मतानुसार मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा जैसी सिंधु घाटी सभ्यता की सामग्री से मिलती हुई है। अतरंजी ब्रजभाषा क्षेत्र में एटा के निकट का एक प्राचीन खेड़ा है। बौद्ध काल में उक्त स्थान की बड़ी प्रसिद्धि थी। भगवान् बुद्ध ने वहाँ धर्मोपदेश किया था, जिसके उपलक्ष में सम्राट अशोक ने वहाँ एक स्तूप का निर्माण कराया था। चीनी यात्री हुएनसांग ने उसका नाम 'पिलोशन' लिखा है। कालांतर में वह एक निर्जन खेड़ा वन गया था। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा वहाँ की खुदाई कराने पर जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसे विक्रम–पूर्व दो हज़ार वर्ष तक की कहा जाता है। इन सब स्थलों की पुरातन सामग्री के आधार पर वृहत्तर ब्रज क्षेत्र की भी प्राचीनता सिद्ध होती है।

उक्त प्रागैतिहासिक अवशेषों के अतिरिक्त ऐतिहासिक काल की जो प्रचुर सामग्री ब्रज के विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई है, उसमें जैन–बौद्ध काल के आस-पास की सामग्री ही अधिक है। किंतु उसके आधार पर ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास केवल ढ़ाई हज़ार वर्षों से कुछ अधिक का ही लिखा जा सकता है। उससे पूर्व की महत्वपूर्ण सामग्री, जैसा पहिले कहा गया है, संस्कृत तथा पालि–प्राकृत के प्राचीन ग्रंथों में बिखरी पड़ी है। उसके आधार पर ब्रज की सांस्कृतिक गति-विधियों की अविच्छिन्न शृंखला प्राचीनतम काल से जोड़ी जा सकती है।

१. प्रागैतिहासिक काल

वैदिक संस्कृति और शूरसेन प्रदेश—भारतीय मान्यता के अनुसार मानव सृष्टि का आरंभिक स्थल भारतवर्ष का ब्रह्मावर्त प्रदेश है। इसमें और इसके निकटवर्ती ब्रह्मर्षि प्रदेश में संसार की सबसे प्राचीन वैदिक संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ था। मनु ने सरस्वती और दृश्द्वती नदियों के दोआब को ब्रह्मावर्त बतलाया है तथा ब्रह्मर्षि के अंतर्गत कुरु, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन प्रदेशों की स्थिति मानी है। मनु ने यहाँ के निवासियों के आचार–विचार समस्त पृथ्वी के नर–नारियों के लिए आदर्श बतलाये हैं[2]। वैदिक संस्कृति के विकास का क्षेत्र सिंधु नदी से यमुना नदी तक का भू-भाग माना जाता है। इस प्रकार शूरसेन प्रदेश, जो ब्रजमंडल का प्राचीन नाम है, वैदिक संस्कृति के विकास का अन्यतम महत्वपूर्ण प्रदेश रहा है।

---

(१) **यमुना का प्रदेश,** (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ८४८–४९)

(२) **मनुस्मृति,** (२ – १७, १९, २०)

स्वायंभुव मनु और सरस्वती नदी—पुराणों के अनुसार मानव जाति के आदि पिता स्वायंभुव मनु थे, जो मनुयों की परंपरा में प्रथम माने जाते हैं। उनका निवास स्थान. सरस्वती नदी के किनारे बतलाया गया है। महाभारत में सरस्वती नाम की सात नदियों का उल्लेख हुआ है और उनका प्रवाह कई प्रदेशों में बतलाया गया है[1]। ब्रजमंडल की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार एक सरस्वती नदी प्राचीन हरियाना प्रदेश से ब्रज में आती थी और मथुरा के निकट अंबिका वन में बह कर गोकर्णेश्वर के समीपवर्ती उस स्थल पर यमुना नदी में मिलती थी, जिसे 'सरस्वती संगम घाट' कहा जाता है। सरस्वती नदी और उसके समीप के अंबिका वन का उल्लेख पुराणों में हुआ है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सरस्वती नदी की प्राचीन धारा अब प्रवाहित नहीं होती है। उसके स्थान पर सरस्वती नामक एक बरसाती नाला है, जो अंबिका वन के वर्तमान स्थल महाविद्या के जंगल में बह कर यमुना के 'सरस्वती संगम घाट' पर मिलता है[2]। महाविद्या के निकट सरस्वती देवी का मंदिर और सरस्वती कुंड भी है। यह नाला, मंदिर, कुंड और घाट उस प्राचीन नदी की धारा प्रमाणित करने वाले चिह्न समझे जाते हैं। इनसे ब्रज की परंपरा प्रागैतिहासिक कालीन स्वायंभुव मनु से जुड़ जाती है। मथुरा के स्वामीघाट का पुराना नाम संयमन घाट है। इसे भी स्वायंभुव मनु का निवास स्थल कहा जाता है।

ध्रुव का तपस्या स्थल—स्वायंभुव मनु के दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए, जिनकी संतान ही पृथ्वी के समस्त मानव हैं। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव थे। वे अपनी विमाता से अपमानित होकर बाल्यावस्था में ही घर से निकल पड़े थे। उन्होंने नारद मुनि के उपदेश से ब्रज के मधुबन में तपस्या कर सिद्धि प्राप्त की थी[3]। उस काल का मधुबन पुण्यारण्य अथवा तपोभूमि मात्र था। उसमें कोई नगर या ग्राम होने का उल्लेख नहीं मिलता है। वर्तमान काल का मधुबन मथुरा तहसील का एक छोटा सा ग्राम है, जो मथुरा नगर के दक्षिण–पश्चिम की ओर प्रायः ४ मील पर स्थित है। इसमें ध्रुव स्थल, ध्रुव गुफा और विष्णु के चरण चिह्न हैं, जो ध्रुव जी की साधना और भगवान् विष्णु द्वारा उन्हें सिद्धि प्रदान किये जाने की प्राचीन अनुश्रुति को साकार किये हुए हैं। इस प्रकार ब्रज स्थित मधुबन इस देश के प्रागैतिहासिक काल की अनुश्रुति से संबंधित होने के कारण अपना अनुपम ऐतिहासिक महत्व रखता है।

ऋषभदेव का स्थान—पुराणों में स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत के वंश में नाभि के पुत्र ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है[4], जिन्हें विष्णु के चौबीस अवतारों में दशम माना जाता है। उनकी योग-सिद्धि और अवधूत वृत्ति का विशद वर्णन पुराणों में मिलता है[5]। ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था, जिनके नाम पर ही यह देश 'भारतवर्ष' कहलाने लगा[6]। उनसे पहिले यह देश

---

(१) **सप्त सारस्वत तीर्थों का वर्णन** (महाभारत, शल्य पर्व)

(२) **इस ग्रंथ का प्रथम खंड** (पृष्ठ ३५-३६ देखिये)

(३) **भागवत पुराण, स्कंध ४**

(४) **वायु पुराण** (२–३३)

(५) **भागवत, स्कंध ५** (४–५)

(६) **भागवत, स्कंध ५** (७–३)

'अजनाभवर्ष' कहलाता था। कुछ लोग दुष्यंत के पुत्र भरत के नाम पर इस देश के नामकरण की बात कहते हैं, किंतु उनका मत ठीक नहीं है। ऋषभदेव का मथुरा से घनिष्ट संबंध रहा है, जो इसके प्रागैतिहासिक महत्व का परिचायक है।

जैन अनुश्रुति—भारतवर्ष के अवैदिक धर्मों में जैन धर्म सबसे प्राचीन है, जिसके प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव माने जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार भी ऋषभदेव का मथुरा से संबंध था। जैन धर्म में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि नाभि के पुत्र भगवान् ऋषभदेव के आदेश से इंद्र ने इस भूतल पर ५२ देशों की रचना की थी। उन देशों में शूरसेन देश और उसकी राजधानी मथुरा भी थी[1]। जैन 'हरिवंश पुराण' में प्राचीन भारत के जिन १८ महाराज्यों का उल्लेख हुआ है, उसमें शूरसेन प्रदेश और उसकी राजधानी मथुरा का नाम भी है।

जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का विहार मथुरा में हुआ था[2]। उनके विहार स्थल पर कुबेरा देवी द्वारा जो सुंदर स्तूप बनाया गया था, वह जैन धर्म के इतिहास में बड़ा प्रसिद्ध रहा है। चौदहवें तीर्थंकर अनंतनाथ का स्मारक तीर्थ भी मथुरा में यमुना नदी के तट पर था। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ को जैन धर्म में श्री कृष्ण के समकालीन और उनका भाई माना जाता है। इस प्रकार जैन धर्म ग्रंथों की प्रागैतिहासिक अनुश्रुतियों में ब्रज के प्राचीनतम इतिहास के सूत्र मिलते हैं।

बौद्ध अनुश्रुति—बौद्ध धर्म में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि आरंभिक जन-समाज ने सर्व सम्मति से अपना एक नेता निर्वाचित किया था, जो 'महासम्मत' कहलाता था। वह राजा एवं पिता के समान सबका परिपालक था। सर्वास्तिवादी 'विनय पिटक' में कहा गया है कि उस राजा ने मथुरा के पास अपना सर्व प्रथम राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार भी मथुरा इस भू-तल का 'आदि राज्य' है[3]। जिस समय भगवान् बुद्धदेव मथुरा आये थे, तब उन्होंने आनंद से कहा था कि यह आदि राज्य है, जिसने अपने लिए राजा (महासम्मत) चुना था[4]। पालि साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' में भगवान् बुद्ध से पहिले के जिन १६ महाजनपदों का नामोल्लेख मिलता है, उनमें पहिला नाम 'शूरसेन' जनपद का है। इस प्रकार बौद्ध धर्म के साहित्य में भी ब्रज की प्रागैतिहासिक परंपरा के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

वैवस्वत मनु और उनके वंशज—मनुओं की परंपरा में सातवें वैवस्वत मनु थे। उनके समय में जो जल-प्रलय हुई थी, उसका वर्णन भारतीय पुराणों के अतिरिक्त संसार के प्रायः सभी प्राचीन देशों के धार्मिक ग्रंथों में मिलता है। उस खंड प्रलय के पश्चात् वैवस्वत मनु ने मानव सृष्टि-संचालन की पुनर्व्यवस्था की थी। इसीलिए उन्हें मानव जाति का प्रथम राजा माना गया है। उन्होंने समाज व्यवस्था के जो विधि-विधान बनाये थे, उन्हें कालांतर में 'मनुस्मृति' के रूप में संकलित किया गया।

---

(१) **जिनसेनाचार्य कृत 'महा पुराण'** (पर्व १६, श्लोक १५५)

(२) **जिनप्रभ सूरि कृत 'विविध तीर्थ कल्प' का 'मथुरापुरी कल्प' प्रकरण** (पृष्ठ १७ और ८५)

(३) **उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास,** (पृष्ठ ३०)

(४) **वही,** (पृष्ठ १९७)

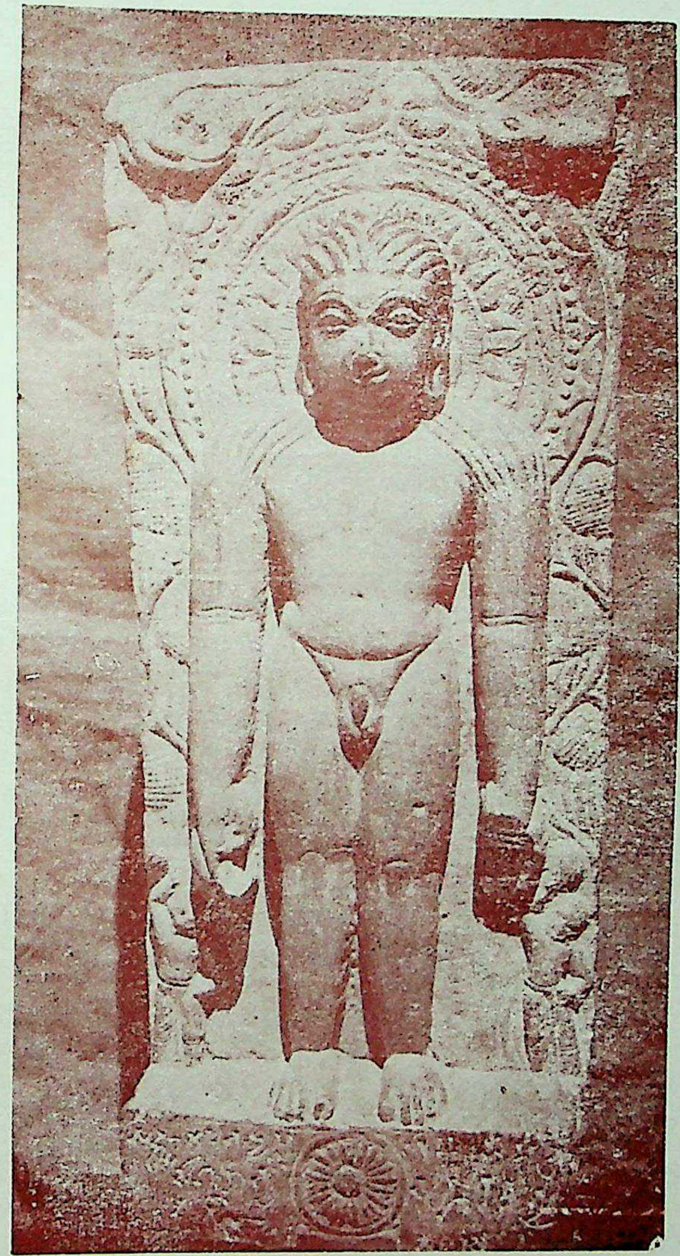

भगवान् ऋषभदेव

भगवान् बुद्ध की मूर्ति

उक्त वैवस्वत मनु की वहुत सी संतानें हुई थीं। उनसे भारतवर्ष के अनेक राजवंशों की उत्पत्ति हुई है। उनके पुत्र इक्ष्वाकु से सूर्यवंश चला है। उनकी पुत्री इला का विवाह चंद्रमा के पुत्र बुध से हुआ था। बुध–इला की संतान से चंद्रवंश की परंपरा प्रचलित हुई है। इन दोनों वंशों में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने भारतवर्ष के नाम को उज्ज्वल किया है। सूर्यवंश में मर्यादा–पुरुषोत्तम राम हुए और चंद्रवंश में लोकनायक कृष्ण हुए। ये दोनों महापुरुष हिंदू धर्म में विष्णु के अवतार माने गये हैं। राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के सर्वाधिक सुदृढ़ आधार स्तंभ हैं, जिनके कारण इसे इतना गौरव और स्थायित्व प्राप्त हुआ है।

ययाति और चंद्रवंश—ययति चंद्रवंश के विख्यात महापुरुष थे। उन्हें भारत का प्रथम सम्राट माना जाता है। उनका शासन देश के विशाल भू–भाग पर था। उनकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। विद्वानों के मतानुसार प्रयाग के निकटवर्ती वर्तमान झूसी और पोहनगाँव का क्षेत्र प्रतिष्ठान था। ययाति के पुत्रों के नाम यदु, तुर्वसु, द्रह्यु, पुरु और अनु थे। ययाति का ज्येष्ठ पुत्र यदु था, किंतु वह अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु से अधिक स्नेह करता था। उसके फल स्वरूप उसने यदु को अधिकारच्युत कर पुरु को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। जब ययाति ने वृद्ध होने पर अवकाश ग्रहण किया, तब उसने अपने राज्य का प्रधान भाग, जो गंगा और यमुना के दोआब में था और जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, पुरु को अर्पित कर दिया। पुरु के वंशज पौरव कहलाये। यदु को दक्षिण–पश्चिम का भाग मिला। उसके वंशज यदुवंशी अथवा यादव कहलाये, जिनकी एक प्रमुख शाखा हैहयवंशियों के नाम से प्रसिद्ध हुई। द्रह्यु को उत्तर–पश्चिम का भाग मिला। उसके वंशज भोज कहलाये। तुर्वसु और अनु को राज्य के वे भाग दिये गये, जहाँ अनार्यों का निवास था; अतः वे दोनों क्रमशः यवनों और म्लेच्छों के अधिपति हुए थे।

शूरसेन प्रदेश के प्राचीन शासक—द्रह्यु का अधिकार यमुना तट के उस प्रदेश पर भी था, जो बाद में शूरसेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इस प्रकार भोजगण शूरसेन के प्रथम ज्ञात शासक कहे जा सकते हैं। यदुवंशियों ने दक्षिण में बड़ी उन्नति की थी। उनके शासन में दशार्ण, अवंती, विदर्भ और माहिष्मती के प्रसिद्ध राज्य थे। यदु के वंश में शशविंदु नामक एक प्रतापी राजा हुआ। उसने द्रह्यु वंशी भोजों को पराजित कर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार शूरसेन प्रदेश भी यदुवंशियों के शासन में आ गया। शशविंदु के उपरांत यादवों का विख्यात राजा मधु था। बह अत्यंत प्रतापी, प्रजा–पालक और धार्मिक नरेश था। पुराणों के अनुसार उसका शासन शूरसेन से आनर्त (उत्तरी गुजरात) तक के विशाल भू–भाग पर था। शशविंदु से मधु तक यादवों के जितने राजा हुए, उनमें से किन–किन का शूरसेन पर अधिकार रहा और उनके शासन में इस प्रदेश की क्या अवस्था रही, इसका निश्चित विवरण पुराणों में नहीं मिलता है।

मधुबन और लवण—वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में असुरवंशी मधु और उसके पुत्र लवण की कथा आती है। उसमें बतलाया गया है कि मधु अत्यंत वीर और धार्मिक वृत्ति का प्रजा–पालक नरेश था। वह यमुना तटवर्ती मधुबन पर शासन करता था। उसका पुत्र लवण अपने पिता के समान शूरवीर तो था, किंतु प्रजा–पालक नहीं था। उसके शासन में प्रजा–पीड़न और अत्याचार इतना बढ़ गया था कि उससे जनता में घोर असंतोष की ज्वाला धधक उठी थी। जिस

काल में लवण मधुबन का शासक था, उसी काल में सूर्यवंशी श्री रामचंद्र अयोध्या के राजा थे। उन्होंने राक्षस नरेश रावण को पराजित कर अपने यश और शौर्य की पताका समस्त देश पर फहरा दी थी। लवण को राम से ईर्ष्या हुई। उसने वीरता के मद में राम को युद्ध के लिए ललकारा। उधर मधुबन निवासियों की ओर से कुछ तपोनिष्ठ ब्राह्मण लवण के अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए रामचंद्र से प्रार्थना करने गये। निदान राम ने लवण के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उन्होंने अपने अनुज शत्रुघ्न को एक बड़ी सेना के साथ मधुबन की ओर भेज दिया। शत्रुघ्न और लवण में घोर युद्ध हुआ, जिसमें लवण मारा गया। शत्रुघ्न ने विजय–दुंदुभी बजाते हुए वेदपाठी ब्राह्मणों के साथ मधुबन में प्रवेश किया। इस प्रकार यह भू–भाग राम–राज्य के अंतर्गत आ गया।

मथुरा की स्थापना—महाबली लवण का बध करने के अनंतर शत्रुघ्न ने मधुबन के एक भाग को साफ़ कराया और वहाँ यमुना नदी के तट पर एक नगरी की स्थापना की, जिसका नाम 'मधुरा' रखा गया। इसका उल्लेख 'विष्णु पुराण' में हुआ है[1]। उक्त मधुरा ही बाद में अपने पालि रूप 'मथुरा' के नाम से प्रसिद्ध हुई थी। 'वाल्मीकि रामायण' से ज्ञात होता है, शत्रुघ्न जी ने उस नगरी की स्थापना श्रावण महीने में की थी और उसे यमुना के तट पर अर्ध चंद्राकार बसाया था[2]। मथुरा की स्थापना श्रावण में होने से ही कदाचित यहाँ उसी महीने में विशेष उत्सवादि करने की परंपरा रही है। शत्रुघ्न जी उस नगरी में बारह वर्ष तक रहे थे। उस काल में मधुरा नगरी इतनी वैभवशाली हो गई कि उसे 'देवनिर्मिता' कहा जाने लगा। वह शूरसेना वाले राजाओं की राजधानी हो गई[3]। बाद में शत्रुघ्न अपने ज्येष्ठ पुत्र सुबाहु को मथुरा का राजा बना कर आप श्री राम के पास अयोध्या चले गये थे। वह आदि मथुरा अथवा मथुरा की प्रथम बस्ती थी, जो विद्वानों के मतानुसार मथुरा तहसील के वर्तमान महोली गाँव के निकट बसी हुई थी[4]। उस प्रागैतिहासिक काल में यमुना की मुख्य धारा अथवा उसकी कोई शाखा वहाँ प्रवाहित होती थी; जब कि वर्तमान काल में यमुना वहाँ से बहुत दूर हो गई है।

'शूरसेन' का नामकरण—प्राचीन मथुरा के ओर–पास जो राज्य क़ायम हुआ, उसका पुराना नाम 'शूरसेन' मिलता है। उसके नामकरण के संबंध में श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी का मत है कि वह शत्रुघ्न के छोटे पुत्र उस शूरसेन के नाम पर पड़ा है, जो कदाचित अपने बड़े भाई सुबाहु के बाद यहाँ का राजा हुआ था। मधुरा के निर्माण के समय देवताओं ने शत्रुघ्न जी को वरदान दिया था कि यह नगरी 'शूरसेना वाले राजाओं की राजधानी होगी'—वाल्मीकि के उक्त कथन को श्री वाजपेयी जी ने अपने मत के समर्थन का अस्पष्ट संकेत समझा है[5]।

---

(१) हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्।
शत्रुघ्नो मधुरा नाम पुरी तत्र चकार वै॥ (विष्णु, ६–१२–४)

(२) वाल्मीकि रामायण, (उत्तरकांड, ७०–८)

(३) वही (उत्तरकांड, ७०–५–६)

(४) १. कनिंघम कृत 'आरक्योलोजीकल रिपोर्ट', (जिल्द २०, पृष्ठ ३१)
२. मुनि कल्याणविजय कृत 'श्रमण भगवान् महावीर', (पृष्ठ ३७९)

(५) ब्रज का इतिहास, (प्रथम खंड, पृष्ठ १४, १५)

हमारे मतानुसार श्री वाजपेयी जी का कथन ठीक नहीं है। वाल्मीकि रामायण में ही लिखा गया है कि इस प्रदेश का शूरसेन नाम शत्रुघ्न तथा उनके पुत्रों का इससे संबंध होने से पहिले ही प्रसिद्ध हो चुका था। अंगद ने सीता जी की खोज के लिए वानर सेना को जिन प्रदेशों में जाने के लिए कहा था, उनमें 'शूरसेन' का भी नामोल्लेख हुआ है[1]। शत्रुघ्न के छोटे पुत्र का नाम रामायण में शत्रुघाती लिखा गया है, न कि शूरसेन। शत्रुघ्न ने उसे वैदिश का राज्य दिया था[2]। कालिदास कृत रघुवंश में शत्रुघाती को मथुरा और सुबाहु को विदिशा का राज्य दिये जाने का उल्लेख मिलता है[3]; किंतु उसमें भी शूरसेन का नामोल्लेख नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि शत्रुघ्न ने मथुरा नगरी की स्थापना अवश्य की थी, किंतु इस प्रदेश का शूरसेन नाम उनसे पहिले ही पड़ चुका था। यह नाम किस शूरसेन राजा के नाम पर प्रसिद्ध हुआ, यह विचारणीय है। यदुवंशियों के एक प्राचीन राजा का नाम कार्तवीर्य अर्जुन या सहस्रार्जुन था। वह बड़ा वीर और प्रतापी राजा था। उसने रावण जैसे प्रसिद्ध योद्धा को भी बाँध लिया था। उसके राज्य का विस्तार नर्मदा से हिमालय तक था, जिसमें यमुना तट का प्रदेश भी सम्मिलित था। उसके वंशज कालांतर में हैहयवंशी कहलाये, जिनकी राजधानी माहिष्मती थी। सहस्रार्जुन के १०० पुत्र थे, जिनमें एक का नाम शूरसेन भी था। 'लिंग पुराण' में लिखा है, उसी शूरसेन के नाम पर इस प्रदेश का नाम 'शूरसेन' प्रसिद्ध हुआ था[4]।

यादवों के वंश और उनके राज्य का विस्तार—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि रामायण में मधुबन के राजा जिस मधु का उल्लेख हुआ है, वह यादव वंशी शशबिंदु का वंशज मधु था; अथवा कोई अन्य नरेश था। रामायण में उसे दैत्य या असुर लिखा गया है, और उसे अत्यंत धार्मिक वृत्ति का प्रजापालक राजा बतलाया गया है। दैत्य अथवा असुर नामों के साथ जो दुर्भावना जुड़ी हुई है, वह प्राचीनतम साहित्य में नहीं मिलती है। पारसियों के आदिम ग्रंथ '**अवेस्ता**' में तो असुर (अहुर) को महान् देवता माना ही गया है; वेदों में भी उसे श्रद्धास्पद स्वीकार किया गया है। प्रहलाद, बलि जैसे अनेक दैत्य वंशी महापुरुषों के पावन चरित्र प्राचीन साहित्य में भरे पड़े हैं। वाल्मीकि ने भी मधु की धार्मिक वृत्ति का कथन किया है। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि असुरों की संस्कृति बड़ी उन्नत थी। वे लोग अनेक विद्याओं और कलाओं में पारंगत थे। बहुत संभव है, यदु वंशी मधु का आकर्षण वेद विहित आर्य संस्कृति की अपेक्षा असुर संस्कृति की ओर अधिक हो गया हो; इसीलिए उसे रामायण में असुर लिखा गया है। यदुवंशी मधु का काल भी महाराज रामचंद्र अथवा असुर मधु के काल के लगभग ही है। यदुवंशी मधु वैवस्वत मनु की चंद्रवंशी शाखा में ६१ वीं पीढ़ी में हुआ था, जब कि महाराज रामचंद्र सूर्यवंशी शाखा में मनु की ६५ वीं पीढ़ी में हुए थे। मधु का पुत्र श्री रामचंद्र का समकालीन बतलाया गया है। इससे यही अनुमानित होता है कि रामायण का मधु ही यदुवंशी मधु था। उक्त मधु के वंश में उत्पन्न होने के कारण ही श्री कृष्ण को 'माधव' कहा जाता है।

---

(१) **वाल्मीकि रामायण** (किष्किंधा कांड, पृ० ४३–११)

(२) **वही** (उत्तर कांड, १०८–११)

(३) **रघुवंश** (१५–३६)

(४) **लिंग पुराण** (६८–१६)

उक्त कथन की पुष्टि हरिवंश से होती है । उसमें लिखा गया है, अयोध्या के सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम हर्यश्व था, जिसका विवाह मधुबन के दैत्य राजा मधु की पुत्री मधुमती के साथ हुआ था । हर्यश्व के बड़े भाई ने उसे किसी कारणवश अयोध्या से निकाल दिया था । वह अपनी पत्नी के परामर्श से अपने ससुर के पास मधुबन चला गया । मधु ने अपने दामाद को सान्त्वना देते हुए बड़े आदर पूर्वक अपने पास रखा था[1] । जैसा पहिले लिखा गया है, मधु का राज्य मधुबन से आनर्त (उत्तरी गुजरात) तक विस्तृत था । उसने अपने राज्य को दो भागों में विभाजित कर मधुबन का निकटवर्ती प्रदेश अपने पुत्र लवरण को दिया और शेष भाग हर्यश्व को प्रदान कर दिया । हर्यश्व ने गिरिवर (रैवतक) पर अपनी राजधानी बसायी और वह पश्चिम तटवर्ती समुद्र तक के प्रदेश पर शासन करने लगा । उसका राज्य आनर्त अथवा सुराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ[2] ।

इस प्रकार सूर्यवंशी हर्यश्व का पारवारिक संबंध चंद्रवंशी मधु के साथ हो जाने के कारण हर्यश्व की संतति चंद्रवंश के ही अंतर्गत मानी गई । उनका सूर्यवंश से संबंध विच्छेद हो गया । हर्यश्व को मधुमती से यदु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ[3], जो अपने पूर्वज ययाति-पुत्र यदु का नामराशी था । हरिवंश–कार के मतानुसार उक्त यदु के वंशजों के ७ कुल प्रसिद्ध हुए, जिनके नाम—१. भीम, २. कुकुर, ३. भोज, ४. अंधक, ५. यादव, ६, दाशार्ह और ७. वृष्णि थे[4] । यदुवंशी सत्वत का पुत्र भीम जब अनर्त देश का राजा था, तब अयोध्या में श्री रामचंद्र का राज्य था । जैसा पहिले लिखा गया है, श्री राम के आदेशानुसार शत्रुघ्न ने मधु के पुत्र लवरण को मार कर मधुबन पर अधिकार कर लिया था और उन्होंने मधुबन के एक भाग में मथुरा पुरी बसायी थी । शत्रुघ्न के मथुरा से चले जाने और श्री राम का तिरोधान होने के पश्चात् भीम ने मथुरा सहित मधुबन को भी अपने राज्य में मिला लिया था ।

अंधक वंश और वृष्णि वंश—श्री राम के पश्चात् जब अयोध्या की गद्दी पर कुश थे और लव युवराज थे, तब मथुरा में भीम का पुत्र अंधक राज्य करता था[5] । उसके बाद अंधक वंशियों का मथुरा पर अधिकार रहा, जो उग्रसेन और उसके पुत्र कंस तक कायम रहा था । भीम के दूसरे पुत्र का नाम वृष्णि था । उसके वंश में उत्पन्न शूर ने शौरपुर (वर्तमान बटेश्वर) बसा कर अपना प्रथक् राज्य स्थापित किया था । शूर के पुत्र वसुदेव हुए, जिनके पुत्र बलराम तथा श्री कृष्ण थे ।

वैदिक साहित्य में उत्तरी पंचाल के पौरव राजा दिवोदास और उसके वंशज सुदास की विजय-गाथाओं का उल्लेख मिलता है[6] । सुदास ने हस्तिनापुर के पौरव राजा संवरण को उसके नौ

---

(१) हरिवंश, विष्णु पर्व, अध्याय ३७
(२) वही, ,, अध्याय ३७, श्लोक १२ से ३२ तक
(३) वही, ,, अध्याय ३७, श्लोक ३४ से ४४ तक
(४) वही, ,, अध्याय ३७, श्लोक ६५
(५) वही, ,, अध्याय ३८, श्लोक ३९ से ४३ तक
(६) ऋग्वेद (७, १८, १९ तथा ९, ६१, २)

साथी राजाओं की विशाल सेना के साथ पराजित किया था। वह साका **'दशराज्ञ युद्ध'** के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें विजयी होने के कारण सुदास की बड़ी ख्याति हुई थी। वह आर्यावर्त का सबसे अधिक शक्तिशाली शासक माना जाने लगा था। उससे पराजित होने वाले राजाओं में एक यादव नरेश भी था। श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी का अनुमान है कि वह यादव नरेश भीम सात्वत का पुत्र अंधक रहा होगा, जो सुदास के समय में यादवों की मुख्य शाखा का अधिपति और शूरसेन जनपद के तत्कालीन गणराज्य का अध्यक्ष था। वह संभवतः अपने पिता भीम के समान वीर नहीं था[1]।

अंधक के वंश में कुकुर हुआ था। कुकुर की कई पीढ़ी बाद आहुक हुआ, जिसके दो पुत्र उग्रसेन और देवक हुए थे। उग्रसेन का पुत्र कंस था और देवक की पुत्री देवकी थी। उग्रसेन, देवक और कंस अपने पूर्वज अंधक और कुकुर के नाम पर अंधक वंशीय अथवा कुकुर वंशीय कहलाते थे। अंधक के भाई वृष्णि के दो पुत्र हुए, जिनके नाम देवमीढ़ूष और युधाजित् थे। देवमीढ़ूष के पुत्र शूर, उनके पुत्र वसुदेव और उनके पुत्र कृष्ण—बलराम थे। युधाजित् के पुत्र प्रश्नि, उनके पुत्र श्वफल्क और उनके पुत्र अक्रूर थे। वृष्णि के वंशज वृष्णि वंशीय अथवा वार्ष्णेय कहलाते थे।

अंधक और वृष्णि वंशियों द्वारा शासित शूरसेन प्रदेशांतर्गत मथुरा और शौरपुर के दोनों राज्य 'गण राज्य' थे। उनका शासन वंश-परंपरागत न होकर समय-समय पर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता था। वे प्रतिनिधि अपने-अपने गणों के मुखिया होते थे, और राजा कहलाते थे। महाभारत युद्ध से पूर्व उन दोनों राज्यों का संघ था, जो 'अंधक-वृष्णि-संघ' कहलाता था। उस संघ में अंधकों के मुखिया आहुक-पुत्र उग्रसेन थे और वृष्णियों के शूर-पुत्र वसुदेव थे। उस संघीय गण राज्य का राष्ट्रपति उग्रसेन था।

उग्रसेन की भतीजी देवकी का विवाह वसुदेव के साथ हुआ था, जिनके पुत्र भगवान् कृष्ण थे। उग्रसेन के पुत्र कंस का विवाह उस काल के सर्वाधिक शक्तिशाली मगध राज्य के स्वामी जरासंध की दो पुत्रियों के साथ हुआ था। वसुदेव की बहिन कुंती का विवाह कुरु प्रदेश के प्रतापी महाराज पांडु के साथ हुआ था, जिनके पुत्र सुप्रसिद्ध पांडव थे। वसुदेव की दूसरी बहिन श्रुतश्रवा हैहयवंशी चेदिराज दमघोष को व्याही थी, जिसका पुत्र शिशुपाल था। इस प्रकार शूरसेन प्रदेश के यादवों का पारिवारिक संबंध भारतवर्ष के कई विख्यात राज्यों के अधिपतियों के साथ था।

उग्रसेन का पुत्र कंस बड़ा शूरवीर और महत्वाकांक्षी युवक था। फिर उसे अपने श्वसुर जरासंध के अपार सैन्य बल का भी अभिमान था। वह गणतंत्र की अपेक्षा राजतंत्र में विश्वास रखता था। उसने अपने साथियों के साथ संघ राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर उपद्रव करना आरंभ किया। अपनी वीरता और अपने श्वसुर की सहायता से उसने अपने पिता उग्रसेन और बहनोई वसुदेव को शासनाधिकार से वंचित कर उन्हें कारागृह में बंद कर दिया और आप अंधक-वृष्णि संघ का स्वेच्छाचारी राजा बन गया था। वह यादवों से घृणा करता था और अपने को यादव मानने में लज्जित होता था। उसने मदांध होकर प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार किये थे। अंत में श्री कृष्ण द्वारा उसका अंत हुआ था।

---

(१) **ब्रज का इतिहास** (प्रथम खंड, पृष्ठ १९)

२. कृष्ण काल

श्री कृष्ण ब्रज संस्कृति के प्रवर्तक और निर्माता थे। उनके जन्म के साथ ही ब्रज संस्कृति के कल्पवृक्ष का बीज-वपन हुआ और उनकी ब्रज-लीलाओं ने इसे पल्लवित कर हरा-भरा बनाया था। फिर उनके जीवन भर के लोक–कल्याणकारी कार्य–कलाप ने इसे पुष्पित कर ब्रज से द्वारका तक के सुविस्तृत क्षेत्र को सुरभित किया था। अंत में उनके गीता ज्ञान ने इसे वह अमर फल प्रदान किया, जो ब्रज या भारत के लिए ही नहीं, बल्कि समस्त जगत् के लिए श्रेयस्कर रहा है। भारत की सनातन संस्कृति के समग्र रूप का दर्शन यदि हम किसी एक ही व्यक्ति में करना चाहें, तो वह निश्चय ही श्री कृष्ण होंगे। उनके द्वारा प्रवर्तित ब्रज संस्कृति भारतीय संस्कृति का पुष्ट अंग और मर्मस्थान है। यह उनकी विश्व के लिए महान् देन है। इस 'सत्यं–शिवं–सुदरं' संस्कृति के प्रादुर्भाव और इसके आरंभिक विकास के कारण इस काल का महत्व स्वयंसिद्ध है।

काल के संबंध में ऊहा-पोह—

भगवान् श्री कृष्ण किस काल में विद्यमान थे, इसके संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आजकल के कई देशी-विदेशी विद्वान कृष्ण–काल को ३५०० वर्ष से अधिक पुराना नहीं मानते हैं, जब कि भारतीय मान्यता के अनुसार वह ५००० वर्ष से भी कुछ अधिक प्राचीन है। यह मान्यता कोरी कल्पना अथवा किंवदंती पर आधारित नहीं है, बल्कि इसका वैज्ञानिक और साथ ही ऐतिहासिक आधार भी है।

ज्योतिष का प्रमाण—प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में ज्योतिष संबंधी कुछ ऐसे उल्लेख हैं, जो उस काल के निर्णय करने में बड़े सहायक होते हैं। मैत्र्युपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण के **'कृत्तिका स्वादधीत'** उल्लेख से तत्कालीन खगोल–स्थिति की गणना कर ट्रेनिंग कालेज पूना के गणित–प्राध्यापक स्व० शंकर बालकृष्ण दीक्षित महोदय ने मैत्र्युपनिषद् को ईसवी सन् से १६०० पूर्व का और शतपथ ब्राह्मण को ३००० वर्ष पूर्व का माना है[1]। मैत्र्युपनिषद् सबसे पीछे का उपनिषद् कहा जाता है और उसमें छांदग्योपनिषद् के अवतरण मिलते हैं, इसलिए छांदोग्य मैत्र्युपनिषद् से पूर्व का उपनिषद् हुआ। शतपथ ब्राह्मण और छांदोग्य उपनिषद् आजकल के विद्वानों के मत के अनुसार एक ही काल की रचनाएँ हैं, अतः छांदोग्य का काल भी ईसा से ३००० वर्ष पूर्व का हुआ। छांदोग्य उपनिषद् में देवकी–पुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है[2]। 'देवकीपुत्र' विशेषण के कारण उक्त उल्लेख के कृष्ण स्पष्ट रूप से वृष्णि वंश के कृष्ण हैं। इस प्रकार कृष्ण का समय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व अर्थात् अब से प्राय: ५००० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है।

आकाश स्थित नक्षत्रों के आधार पर गणना कर अन्य प्रकार से भी कृष्ण–काल का निर्णय किया गया है। परीक्षित के समय में सप्तर्षि[1] मघा नक्षत्र पर थे, जैसा शुकदेव मुनि द्वारा

---

(१) **मानव धर्म का 'श्री कृष्ण विशेषांक'** (श्रावण सं० २००२, पृष्ठ १३६)

(२) **तद्धत घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव** (प्र०३,खंड १७)

अर्थात्—आंगिरस घोर ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण को शिक्षा दी, जिसे पाकर वे (कृष्ण) अपिपास हो गये, अर्थात् उन्हें कुछ और जानने की तृषा नहीं रही।

(३) **आकाश के ७ तारे, जिनके नाम मरीचि, वसिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु हैं।**

परीक्षित से कहे हुए वाक्य[1] से प्रमाणित है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सप्तर्षि एक नक्षत्र पर एक सौ वर्ष तक रहते हैं। आज कल सप्तर्षि कृत्तिका नक्षत्र पर हैं, जो मघा से २१वाँ नक्षत्र है। इस प्रकार मघा से कृत्तिका पर आने में २१०० वर्ष लगे हैं, किंतु यह २१०० वर्ष की अवधि महाभारत काल कदापि नहीं है। इससे यह मानना होगा कि मघा से आरंभ कर २७ नक्षत्रों का एक चक्र पूरा हो चुका था और दूसरे चक्र में ही सप्तर्षि उस काल में मघा पर आये थे। पहिले चक्र के २७०० वर्ष में दूसरे चक्र के २१०० वर्ष जोड़ने से ४८०० वर्ष हुए। यह काल परीक्षित की विद्यमानता का हुआ। परीक्षित के पितामह अर्जुन थे, जो आयु में श्री कृष्ण से १८ वर्ष छोटे थे। इस प्रकार ज्योतिष की गणना के अनुसार कृष्ण काल अब से ५००० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है।

आजकल चैत्र मास से वर्ष का आरंभ माना जाता है, जब कि कृष्ण काल में वह मार्गशीर्ष से होता था। बसंत ऋतु भी उस काल में मार्गशीर्ष माह में ही होती थी। महाभारत में मार्गशीर्ष मास से ही कई स्थलों पर महीनों की गणना की गई है। गीता में जहाँ भगवान् की विभूतियों का वर्णन हुआ है, वहाँ 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' और 'ऋतुनां कुसुमाकरः' के उल्लेखों से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। ज्योतिष शास्त्र के विद्वानों ने सिद्ध किया है कि मार्गशीर्ष में बसंत-सम्पात अब से प्रायः ५००० वर्ष पूर्व होता था[2]। इस प्रकार भी कृष्ण काल के ५००० वर्ष प्राचीन होने की पुष्टि होती है।

श्री कृष्ण द्वापर युग के अंत और कलि युग के आरंभ के संधि–काल में विद्यमान थे। भारतीय ज्योतिषियों के मतानुसार कलि युग का आरंभ शक संवत् ३१७९ वर्ष पूर्व की चैत्र शु० १ को हुआ था। आजकल १८८७ शक संवत् है। इस प्रकार कलि युग को आरंभ हुए ५०६६ वर्ष हो गये। कलि युग के आरंभ होने से ६ माह पूर्व मार्गशीर्ष शुक्ला १४ को महाभारत युद्ध का आरंभ हुआ था, जो १८ दिनों तक चला था। उस समय श्री कृष्ण की आयु ८३ वर्ष की थी। उनका तिरोधान ११९ वर्ष की आयु में हुआ था। इस प्रकार भारतीय मान्यता के अनुसार श्री कृष्ण की विद्यमानता का काल शक संवत् पूर्व ३२६३ की भाद्रपद कृ० ८ बुधवार से शक संवत् ३१४४ तक है। भारत के विख्यात ज्योतिषी वराहमिहिर, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि के समय से ही यह मान्यता प्रचलित रही है। भारत का सर्वाधिक प्राचीन युधिष्ठर संवत्, जिसकी गणना कलि युग से ४० वर्ष पूर्व से की जाती है, उक्त मान्यता को पुष्ट करता है।

पुरातत्त्व का प्रमाण—ज्योतिष के अतिरिक्त पुरातत्व के प्रमाण से भी भारतीय मान्यता का समर्थन होता है। पुरातत्ववेत्ताओं का मत है कि अब से प्रायः ५००० वर्ष पूर्व एक प्रकार की प्रलय हुई थी। उस समय भयंकर भूकम्प और आँधी–तूफानों से समुद्र में बड़ा भारी उफान आया था। उस समय नदियों के प्रवाह परिवर्तित हो गये थे, विविध स्थानों पर ज्वालामुखी पर्वत फूट पड़े थे और पहाड़ों के शृंग टूट-टूट कर गिर गये थे। वह भीषण दैवी दुर्घटना वर्तमान ईराक में बगदाद के पास और वर्तमान मैक्सिको के प्राचीन मय प्रदेश में हुई थी, जिसका काल ५००० वर्ष

---

(१) **ते त्वदीये द्विजाः काल अधुना चाश्रितां मघाः**। अर्थात्—तुम्हारे जन्म के समय में और अब भी सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर स्थित हैं।

(२) **श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित कृत मराठी ग्रंथ "भारतीय ज्योतिष शास्त्र,"** (पृ० ३४)

पूर्व का माना जाता है। उसी प्रकार की दुर्घटनाओं का वर्णन महाभारत और भागवतादि पुराणों में भी मिलता है। उनसे ज्ञात होता है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् उसी प्रकार के भीषण भूकम्प हस्तिनापुर और द्वारका में भी हुए थे, जिनके कारण द्वारका नगरी तो सर्वथा नष्ट ही हो गई थी। बगदाद और हस्तिनापुर तथा प्राचीन मय प्रदेश और द्वारका प्रायः एक से अक्षांशों पर स्थित हैं, अतः उनकी दुर्घटनाओं का पारस्परिक संबंध विज्ञान सम्मत है। बगदाद की प्रलय के पश्चात् वहाँ बसाये गये 'उर' नगर को तथा मैक्सिको स्थित 'मय' प्रदेश के ध्वंस को जब ५००० वर्ष प्राचीन माना जा सकता है, तब महाभारत और भागवत में वर्णित वैसी ही घटनाओं को, जो कृष्ण के समय में हुई थीं, उसी काल का माना जावेगा। ऐसी दशा में पुरातत्व की साक्षी से भी कृष्ण काल ५००० वर्ष प्राचीन सिद्ध होता है। यह दूसरी बात है कि महाभारत और भागवत ग्रंथों की रचना बाद में हुई थी, किंतु उनमें वर्णित कथा ५००० वर्ष पुरानी ही है।

इतिहास का प्रमाण—ज्योतिष और पुरातत्व के अतिरिक्त इतिहास के प्रमाण से भी कृष्ण-काल विषयक भारतीय मान्यता की पुष्टि होती है। यवन नरेश सिल्युकस ने मैगस्थनीज नामक अपना एक राजदूत भारतीय नरेश चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा था। मैगस्थनीज ने उस समय के अपने संस्मरण लेखबद्ध किये थे! इस समय उस यूनानी राजदूत का मूल ग्रंथ तो नहीं मिलता है, किंतु उसके जो अंश एरियन आदि अन्य यवन लेखकों ने उद्धृत किये थे, वे प्रकाशित हो चुके हैं। मैगस्थनीज ने लिखा है—"मथुरा में शौरसेनी लोगों का निवास है। वे विशेष रूप से हरकुलीज़ (हरि कृष्ण) की पूजा करते हैं।" उनका कथन है कि डायोनिसियस से हरकुलीज़ १५ पीढ़ी बाद में और सेंड्राकोटस (चंद्रगुप्त) १५३ पीढ़ी बाद में हुए थे। इस प्रकार श्री कृष्ण और चंद्रगुप्त में १३८ पीढ़ियों का अंतर हुआ। यदि प्रत्येक पीढ़ी २० वर्ष की मानी जाय, तो १३८ पीढ़ियों के २७६० वर्ष हुए। चंद्रगुप्त का समय ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व का है। इस हिसाब से श्री कृष्ण काल अब से (१९६६ + ३२६ + २७६०) ५०५२ वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है।

इस प्रकार भारतीय विद्वानों के सैकड़ों-हजारों वर्ष प्राचीन निष्कर्षों के फल स्वरूप कृष्ण काल की जो भारतीय मान्यता ज्योतिष, पुरातत्व और इतिहास से भी परिपुष्ट होती है, उसे न मानने का कोई कारण नहीं है। आधुनिक काल के विद्वान इतिहास और पुरातत्व के जिन अनुसंधानों के आधार पर कृष्ण काल की अवधि ३५०० वर्ष मानते हैं, वे अभी अपूर्ण हैं। इसकी पूरी संभावना है कि इन अनुसंधानों के पूर्ण होने पर वे भी भारतीय मान्यता का समर्थन करेंगे।

कृष्ण-चरित्र के विविध स्रोत—

प्राचीनतम संस्कृत साहित्य—भारत के प्राचीनतम संस्कृत साहित्य में जिन दिव्य विभूतियों और महापुरुषों के उल्लेख मिलते हैं, उनमें श्री कृष्ण भी हैं। ऋग्वेद भारत ही नहीं, समस्त संसार का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। उसके अष्टम् और दशम् मंडलों के विविध सूक्तों में कृष्ण का नामोल्लेख हुआ है। कई विद्वानों ने उक्त सूक्तों का संबंध भगवान् श्री कृष्ण से जोड़ा है, किंतु यह ठीक नहीं मालूम होता है। यदि ऋग्वेद के सूक्तों की रचना भगवान् श्री कृष्ण से पहिले हुई, तब उनमें श्री कृष्ण का नामोल्लेख नहीं हो सकता। ऋग्वेद के कृष्ण भगवान् श्री कृष्ण से भिन्न कोई वैदिक ऋषि जान पड़ते हैं। वैदिक संहिता के बाद आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रंथों और पाणिनीय सूत्रों में जिन कृष्ण का उल्लेख मिलता है, वे वृष्णिवंशीय श्री कृष्ण ही थे।

तैत्तिरीय आरण्यक (१०–१–६) में वासुदेव कृष्ण तथा छान्दोग्य उपनिषद् (३–१७) में देवकीपुत्र कृष्ण और उनके गुरु आंगिरस के नाम मिलते हैं। कृष्ण के साथ वासुदेव और देवकीपुत्र विशेषण लगाने का कदाचित यह अभिप्राय था कि उन्हें उनके समकालीन दूसरे कृष्ण (द्वैपायन व्यास) से भिन्न सूचित किया जा सके। कौशीतकी ब्राह्मण में भी कृष्ण और आंगिरस का नामोल्लेख मिलता है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि के सूत्रों में जिन कृष्ण का उल्लेख है, उनका संबंध एक गण से बतलाया गया है। पाणिनि के अनुसार कृष्ण और राणा के नाम पर गोत्र चले थे, जो क्रमशः 'कृष्णायन' और 'राणायन' कहलाते थे। कृष्णायन गोत्र ब्राह्मणों में वाशिष्ठों के अंतर्गत था; इससे समझा जा सकता है कि उसका संबंध क्षत्रिय वर्ण के कृष्ण से नहीं होगा। डा० भंडारकर ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि अति प्राचीन काल में क्षत्रिय और वैश्यों के गोत्र प्रायः उन्हें यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों के गोत्रों के अनुसार होते थे। ऐसी दशा में कृष्णायन गोत्र के ब्राह्मणों से यज्ञ कराने वाले वृष्णि वंश के क्षत्रिय भी कृष्ण कहलाते होंगे। कालांतर में जब वृष्णि वंश में वसुदेव के पुत्र वासुदेव हुए, तो वे भी वासुदेव कृष्ण कहे गये। बाद में उनके विशेष महत्व के कारण उनका नाम वासुदेव की अपेक्षा कृष्ण ही अधिक प्रसिद्ध हो गया[1]। संस्कृत के सबसे प्राचीन नाटककार भास की नाट्य रचनाओं में भी कृष्ण चरित्र का कथन हुआ है।

संस्कृत के उक्त प्राचीनतम आर्य किंवा हिंदू साहित्य के अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्मों के प्राचीन साहित्य में भी श्री कृष्ण का उल्लेख मिलता है; किंतु वह स्वभावतया ही उक्त धर्मों की मान्यताओं से प्रभावित है। फलतः उसमें श्री कृष्ण का वह रूप नहीं मिलता, जो हिंदू धर्म में स्वीकृत हुआ है। जैन साहित्य में श्री कृष्ण के प्रति श्रद्धा की कमी दिखलाई नहीं देती, यद्यपि उसमें उनका महत्व तीर्थंकर नेमिनाथ जी से कम बतलाया है; किंतु बौद्ध साहित्य में श्री कृष्ण के प्रति कोई श्रद्धा–भावना व्यक्त नहीं की गई। हम यहाँ पर उक्त धर्मों के श्री कृष्ण संबंधी उल्लेख भी उपस्थित करते हैं, ताकि कृष्ण चरित्र के विकास पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जा सके।

जैन साहित्य—जैन धर्म के प्राचीन साहित्य में श्री कृष्ण को तीर्थंकर नेमिनाथ जी (अरिष्टनेमि) का भाई बतलाया गया है। जैन ग्रंथों में जहाँ तीर्थंकर नेमिनाथ जी का वर्णन हुआ है, वहाँ प्रसंग वश श्री कृष्ण का भी उल्लेख मिलता है। उससे ज्ञात होता है, सौरियपुर अथवा शौरपुर (वर्तमान बटेश्वर, जिला आगरा) में यादवों का राज्य था। उसके अधिपति का नाम समुद्रविजय था, जिसके छोटे भाई वसुदेव थे। समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि थे और वसुदेव के पुत्र कृष्ण–बलराम थे। उस काल में गिरिनगर (संभवतः वर्तमान जूनागढ़) के राजा का नाम उग्रसेन था। उसकी कन्या राजुलमती अथवा राजीमती से अरिष्टनेमि का विवाह निश्चित हुआ था। विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए जो अनेक पशु–पक्षियों को बध के लिए एकत्र किया गया था, उनके प्रति करुणा उत्पन्न होने से अरिष्टनेमि विना विवाह किये ही विरक्त होकर गिरिनार पर्वत पर तपस्या करने चले गये थे। वे ही बाद में नेमिनाथ कहलाये। राजीमती जीवन पर्यंत उनके विरह की वेदना सहन करती रही थी। जैन साहित्य में नेमिनाम–राजीमती के उपाख्यान से संबंधित अनेक ग्रंथ हैं। उनमें राजीमती की विरह–वेदना का करुण कथन हुआ है।

---

(१) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, (पृष्ठ १६)

नेमिनाथ वास्तव में समुद्रविजय के उत्तराधिकारी थे, किंतु वे युवावस्था में ही विरक्त हो जाने के कारण राज्य कार्य से विमुख हो गये थे। उसके फलस्वरूप वसुदेव और फिर कृष्ण-बलराम शौरपुर के अधिपति हुए थे। जैन आगमों में कृष्ण के साथ पांडवों और द्रौपदी का भी उल्लेख हुआ है।

जैन साहित्य में 'वसुदेव हिंडि' कृष्ण-चरित्र का प्रमुख ग्रंथ है। यह प्राकृत भाषा में रचा हुआ चम्पू काव्य है। इसकी रचना ५वीं शती के लगभग गणिवाचक संघदास ने की थी। इसमें विशेष रूप से वसुदेव का चरित्र लिखा गया है, किंतु प्रसंगवश श्री कृष्ण का भी उल्लेख मिलता है। 'वसुदेव हिंडि' के उपरांत ८वीं शती से १६वीं शती तक रचे हुए अनेक जैन ग्रंथों में कृष्ण–चरित्र का कथन किया गया है। इन ग्रंथों में जिनसेन कृत हरिवंश पुराण, गुणभद्र कृत महापुराण और स्वयंभू कृत रिट्ठणेमि (अरिष्टनेमि) चरित्र और देवेन्द्र सूरि कृत कृष्ण चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित्र के अतिरिक्त प्रद्युम्न चरित्र से संबंधित भी अनेक ग्रंथ जैन साहित्य में मिलते हैं।

बौद्ध साहित्य—बौद्ध धर्म के ग्रंथों में जातक कथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ लिखी गई हैं। इनकी गणना 'खुद्दक निकाय' के अंतर्गत होती है और इनका रचना–काल विक्रम पूर्व की द्वितीय शताब्दी माना जाता है[१]। जातकों में बुद्ध कालीन भारतीय संस्कृति से संबंधित प्रचुर सामग्री मिलती है। जातक कथाओं में 'घट जातक' का संबंध कृष्ण चरित्र से है। इसमें जिस प्रकार से कृष्ण का वृत्तांत लिखा गया है, वह भागवतादि में वर्णित कृष्ण चरित्र से सर्वथा भिन्न है। 'घट जातक' के कृष्ण के प्रति वैसी श्रद्धा नहीं होती है, जैसी हिंदू समाज में उनके प्रति परंपरा से प्रचलित रही है। फिर भी बौद्ध साहित्य में कृष्ण–चरित्र के क्या सूत्र मिलते हैं और बौद्धों का श्री कृष्ण के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा था, इसे जानने के लिए 'घट जातक' की कथा यहाँ संक्षिप्त रूप से दी जाती है[२]।

घट जातक की कृष्ण-कथा—प्राचीन काल में उत्तरापथ के कंसभोग राज्यांतर्गत असितंजन नगर में मकाकंस नामक एक राजा राज्य करता था। उसके कंस, उपकंस नामक दो पुत्र थे और देवगम्भा नामक पुत्री थी। पुत्री के जन्म के समय ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि इसके पुत्र से कंसवंश का नाश होगा। राजा मकाकंस स्नेह के कारण पुत्री को मरवा नहीं सका; किंतु यह भविष्यवाणी सब को विदित थी। मकाकंस के मरने पर उसका पुत्र कंस राजा हुआ और उपकंस उपराजा। उन्होंने सोचा यदि हम बहिन को मारेंगे, तो निंदा होगी; अतः इसे अविवाहित रखेंगे, ताकि इसकी संतान न हो। उन्होंने अपनी बहिन के निवास के लिए एक प्रथक प्रासाद बनवा दिया और उसकी पहरेदारी पर नंदगोपा और उसका पति अंधकवेणु नियुक्त कर दिये।

उस समय उत्तर मथुरा में महासागर नाम का राजा राज्य करता था। उसके सागर और उपसागर नाम के दो पुत्र थे। पिता के मरने पर सागर राजा और उपसागर उपराजा हुआ। उपसागर और उपकंस दोनों मित्र थे। उनकी पढ़ाई एक ही आचार्य कुल में साथ–साथ हुई थी।

---

(१) पालि साहित्य का इतिहास, (पृष्ठ २८०)

(२) विस्तृत वर्णन जानने के लिए भदंत आनंद कौसल्यायन द्वारा अनुवादित जातक कथाओं के चतुर्थ खंड में सं० ४५४ की 'घट जातक' कथा को पढ़िये।

उपसागर ने अपने भाई के अंतःपुर में कोई दुष्टता की थी, किंतु पकड़े जाने के भय से वह मथुरा से भाग कर असितंजन नगर में अपने मित्र उपकंस के पास चला गया। कंस-उपकंस ने बड़े आदर-पूर्वक उपसागर को अपने साथ रखा। उपसागर ने किसी प्रकार देवगम्भा को देख लिया और दोनों में स्नेह हो गया। नंदगोपा की सहायता से वे दोनों एकांत में मिलने लगे। देवगम्भा गर्भवती हो गई। भेद खुलने पर कंस-उपकंस ने अपनी बहिन उपसागर को इस शर्त पर विवाह दी कि यदि उससे लड़का होगा तो वे उसे मार देंगे। देवगम्भा ने लड़की को जन्म दिया। उसका नाम अंजन-देवी रखा गया। कंस ने गोवड्ढमान नामक ग्राम उपसागर को दे दिया था। वह अपनी पत्नी और सेविका नंदगोपा तथा सेवक अंधकवेणु सहित वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा।

एक बार संयोग से देवगम्भा और नंदगोपा दोनों साथ-साथ गर्भवती हुई थीं। देवगम्भा के पुत्र हुआ और नंदगोपा के पुत्री। भाइयों द्वारा पुत्र को मार दिये जाने के भय से देवगम्भा ने उसे नंदगोपा को दे दिया और उसकी पुत्री उसने स्वयं ले ली। इस प्रकार देवगम्भा ने क्रमशः १० पुत्र उत्पन्न किये और नंदगोपा ने १० पुत्रियाँ। देवगम्भा के सभी पुत्र नंदगोपा के पुत्र प्रसिद्ध हुए और 'अंधकवेणु दास-पुत्र' कहलाने लगे। उनके नाम क्रमशः १. वासुदेव, २. बलदेव, ३. चंददेव, ४. सूर्यदेव, ५. अग्निदेव, ६. वरुणदेव, ७. अर्जुन, ८. प्रद्युम्न, ९. घटपंडित और १०. अंकुर थे।

वे दसों पुत्र बड़े होने पर अत्यंत शक्तिशाली हुए और लूट-मार करने लगे। लोगों ने राजा कंस से कहा कि 'अंधकवेणु दास-पुत्र' बड़ा उपद्रव कर रहे हैं। राजा ने अंधकवेणु को बुलवाया, तो उसने भय के कारण सब भेद खोल दिया कि वे मेरे पुत्र नहीं हैं, देवगम्भा-उपसागर के पुत्र हैं। कंस उससे बड़ा भयभीत हुआ और उसने अमात्यों से उसका उपाय पूछा। उन्होंने कहा कि वे दसों भाई बड़े पहलवान हैं। उन्हें मल्लशाला में बुलवा कर राजकीय मल्लों द्वारा मरवा दीजिए। राजा कंस ने उन दसों भाइयों को बुलवाया और उनसे अपने मल्ल चाणूर और मुष्टिक से मल्लयुद्ध करने को कहा। उन दसों भाइयों ने नगर में आकर धोबी, गंधी और माली की दूकानें लूट कर उनकी सामग्री से अपना साज-शृंगार किया और फिर कूदते-गर्जते हुए मल्लशाला में जा पहुँचे। बलदेव ने बात की बात में चाणूर को और फिर मुष्टिक को मार डाला। उसके बाद कंस स्वयं उन्हें मारने को उठा, किंतु वासुदेव ने चक्र से कंस और उपकंस दोनों भाइयों को मार दिया।

उन्होंने असितंजन नगर और कंसभोग राज्य पर अधिकार कर लिया और अपने माता-पिता उपसागर और देवगम्भा को भी गोवड्ढमान से बुला लिया। तदुपरांत वे समस्त जम्बु द्वीप का राज्य प्राप्त करने को वहाँ से चल दिये। पहिले उन्होंने अयोध्या के राजा कालसेन को पराजित कर उसका राज्य हस्तगत किया। फिर वे द्वारवती पहुँचे, जहाँ एक ओर समुद्र और दूसरी ओर पर्वत था। वहाँ के राजा को मार कर उन्होंने द्वारवती पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार उन्होंने जम्बु द्वीप के त्रेसठ हजार नगरों के समस्त राजाओं को चक्र से मार कर उनके राज्यों को अपने अधिकार में ले लिया था। फिर द्वारवती में रहते हुए उन्होंने अपने राज्य को १० भागों में बाँट लिया। ९ भाग ९ भाइयों को मिले। उनके एक भाई अंकुर ने राज्य न लेकर व्यापार करना चाहा। उसका भाग उनकी बहिन अंजनदेवी को दे दिया गया। रोहिणेय्य उनका अमात्य था। अंत में वासुदेव महाराज का प्रिय पुत्र मृत्यु को प्राप्त हुआ। इससे उन्हें घोर संताप हुआ। उस समय उनके भाई घटपंडित ने बड़े कौशल पूर्वक उनका पुत्र-शोक दूर किया था। उस समय जो गाथाएँ कही गईं, उनमें वासुदेव के कण्ह (कृष्ण) और केसव (केशव) नाम भी मिलते हैं।

वासुदेवादि दस भाइयों की संतान ने कृष्ण द्वीपायन का अपमान करने के लिए एक तरुण राजकुमार को गर्भवती नारी बतलाकर उसकी संतान के विषय में उनसे पूछा। कृष्ण द्वीपायन ने उनका विनाश काल निकट जान कर कहा कि इससे एक लकड़ी का टुकड़ा उत्पन्न होगा और उससे वासुदेव के कुल का सर्वनाश हो जावेगा। तुम लकड़ी का टुकड़ा जला देना और उसकी राख नदी में फैंक देना। अंत में उसी राख से उत्पन्न अरंड के पत्तों द्वारा परस्पर लड़कर सब लोग मर गये। मुष्टिक ने मर कर यक्ष के रूप में जन्म लिया था। वह बलदेव को खा गया। वासुदेव अपनी बहिन और पुरोहित को लेकर वहाँ से चला गया। मार्ग में जरा नाम के शिकारी ने सूअर के भ्रम से वासुदेव पर शक्ति फेंक कर उसे घायल कर दिया। इससे उसकी भी मृत्यु हो गई। इस गाथा को कह कर गौतम बुद्ध ने उपासक समुदाय से कहा था—"पूर्व जन्म में सारिपुत्र वासुदेव था, आनंद अमात्य रोहिणोय्य था और स्वयं मैं घटपंडित था।"

घट जातक के कथन से श्री कृष्ण के चरित्र का अंतर—कंस के पिता का नाम उग्रसेन न होकर मकाकंस था। उसकी बहिन का नाम देवकी न होकर देवगम्भा (देवगर्भा) था, जो उसकी निजी बहिन थी। कंस की राजधानी मथुरा न होकर असितंजन नामक नगरी थी और उसके राज्य का नाम कंसभोग था। कंस के अनुज का नाम उपकंस था। इसमें देवक का नाम नहीं आता है। कंस और उपकंस अत्याचारी तथा प्रजापीड़क नहीं थे। वे अपनी बहिन के प्रति भी अधिक निर्दय नहीं थे, यद्यपि वे जानते थे कि उसके पुत्र से ही उनका नाश होगा।

मथुरा का राजा सागर और उसका छोटा भाई उपसागर था। उपसागर ही पुराणों का वसुदेव था, जो मथुरा से भाग कर असितंजन में कंस–उपकंस की शरण में चला गया और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा था। उसने छिपकर उनकी बहिन देवगम्भा से सहवास किया। भेद खुल जाने पर भी कंस–उपकंस ने उससे कुछ नहीं कहा, बल्कि उसके साथ अपनी बहिन का विवाह कर गोवड्ढमान (गोवर्धन) ग्राम भी प्रदान कर दिया, ताकि वे दोनों वहाँ सुखपूर्वक रह सकें। उन्होंने केवल यह सावधानी रखी कि देवगम्भा के कोई पुत्र न हो। यशोदा का नाम नंदगोपा बतलाया गया है और उसके पति का नाम नंदराय न होकर अंधकवेणु। नंदगोपा के १० पुत्रियाँ हुईं और देवगम्भा के १० पुत्र। दोनों आपस में बदल लेते हैं, किंतु वे सब जीवित रहते हैं। कंस द्वारा किसी शिशु की हत्या का उल्लेख नहीं किया गया।

देवगम्भा के १० पुत्रों में वासुदेव सब से बड़ा था और बलदेव उससे छोटा। प्रद्युम्न, अर्जुन, अंकुर (अक्रूर) भी वासुदेव के भाई बतलाये गये हैं। वासुदेव सहित दसों भाइयों को बड़ा लुटेरा, निर्दयी और सर्वजन संहारक लिखा है। उन्होंने अपने मामाओं को मार कर जम्बुद्वीप के हजारों राजाओं को भी चक्र से काट डाला था और उन सबका राज्य छीन लिया था। द्वारका में वासुदेव के कुल का प्रचलित कृष्ण–कथा से प्रायः मिलता हुआ है।

यूनानी लेखकों के उल्लेख—विदेशी लेखकों के कुछ ऐसे प्राचीन उल्लेख मिलते हैं, जिनमें श्री कृष्ण और शूरसेन जनपद से संबंधित सूचनाएँ भी उपलब्ध हैं। उनमें यूनानी लेखकों के उल्लेख सब से प्राचीन हैं। चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में नियुक्त यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने अपने जो संस्मरण लिखे थे, वे मूल रूप में इस समय उपलब्ध नहीं हैं, किंतु उनके कुछ अवतरण एरियन नामक एक दूसरे यूनानी लेखक की रचना "इंडिका" में मिलते हैं। उसमें मैगस्थनीज का कृष्ण संबंधी अवतरण इस प्रकार दिया गया है—

"वह भारतीय हरक्लीज़ (हरि कृष्ण) अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति में समस्त जन समुदाय से बढ़े हुए थे। उन्होंने भूमंडल को पाप से मुक्त कर दिया था और अनेक नगरों की स्थापना की थी। उनके देहावसान के पश्चात् उनके प्रति देवताओं के समान श्रद्धा व्यक्त की गई थी। उन हरक्लीज़ (हरि कृष्ण) के प्रति शौरसेनाइ (शूरसेन जनपद के निवासी) लोगों की विशेष रूप से पूज्य दृष्टि है। शौरसेनाइ लोगों के प्रदेश में दो बड़े नगर हैं, जिनके नाम मथुरा तथा क्लीसोवोरा (कृष्णपुरा) हैं और जिनके निकट जोवरेस (जमुना) नदी बहती है, जिसमें नावें चलती हैं[1]।"

एरियन ने स्वयं भी उन राज्यों और नगरों की यात्रा की थी, जिन पर श्री कृष्ण के वंशजों का अधिकार था। उसने स्वयं लिखा है कि मथुरा के निवासियों में प्राचीन काल से ही श्री कृष्ण की पूजा प्रचलित थी। श्री कृष्ण के अलौकिक गुणों और उनकी दैवी लीलाओं का समावेश उस समय की पाश्चात्य पौराणिक गाथाओं में भी हो गया था[2]।

कृष्ण-चरित्र के प्रमुख ग्रंथ—वैदिक वाङ्मय, संस्कृत व्याकरण और नाटक, जैन-बौद्ध धर्म ग्रंथ, तथा यूनानी लेखकों की प्राचीन रचनाओं में कृष्ण–चरित्र के कुछ सूत्र अवश्य मिलते हैं; किंतु उसका विशद ताना–बाना महाभारत, हरिवंश और पुराणों में ही दृष्टिगोचर होता है। महाभारत कृष्ण–चरित्र का प्राचीनतम महत्वपूर्ण ग्रंथ है, किंतु इसमें श्री कृष्ण का उत्तर जीवन ही लिखा गया है। उनका पूरा जीवन–वृत्तांत हरिवंश, विष्णु और भागवतादि पुराणों में मिलता है, और वही आजकल प्रचलित भी है। हम यहाँ पर कृष्ण-चरित्र के इन प्रमुख ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

महाभारत—संस्कृत वाङ्मय के इस अनुपम ग्रंथ में प्राचीन भारत के इतिहास, धर्म, आचार–विचार तथा उसकी संस्कृति–सभ्यता सूचक विविध विद्याओं एवं कलाओं का ऐसा सर्वांगपूर्ण वर्णन हुआ है कि इसे भारत का विश्वकोश ही कहना उचित है। इसके विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि जो कुछ जगत् में जानने योग्य है, वह सब इसमें है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। इसीलिए इसे 'पंचम वेद' भी कहा जाता है। इसमें मुख्य रूप से तो कौरव–पांडवों की कथा है; किंतु इसमें कृष्ण–चरित्र का भी विस्तृत वर्णन हुआ है। महाभारत-के आरंभ में कहा गया है, इस ग्रंथ में सनातन भगवान् वासुदेव का कीर्ति-गान हुआ है,—'**भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः**[3]'। इसीलिए अनेक विद्वानों का मत है कि महाभारत का प्रतिपाद्य विषय श्री कृष्ण की महत्ता का कथन करना है। इसमें वर्णित कृष्ण–चरित्र का महत्व इसलिए और भी अधिक है कि वह ऐसे महापुरुष द्वारा कहा गया है कि जो उनका समकालीन था और साथ ही भारतीय वाङ्मय का सब से बड़ा निर्माता था। उनका शुभ नाम महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास था।

महाभारत एक विशाल ग्रंथ है। इसमें १८ पर्व, १९२३ अध्याय और ८४२४४ श्लोक हैं। इसका १९वां पर्व 'हरिवंश' है, जो इसका 'खिल' (परिशिष्ट) भी कहा जाता है। उसकी श्लोक

---

(१) **श्री ई० जे० चैनोक कृत "इंडिका" के अनुवादित ग्रंथ से।**

(२) **मौन्युमेन्टल क्रिस्टीयनिटी** (पृष्ठ १५१–१५२)

(३) **महाभारत, आदि पर्व** (१–२५६)

संख्या १२००० है, जिसे मूल ग्रंथ में जोड़ देने से कुल श्लोकों की संख्या एक लाख के लगभग होती है। लोक प्रसिद्धि भी यही है कि महर्षि व्यास ने १ लाख श्लोकों में महाभारत की रचना की थी। यह ग्रंथ इतना विशाल है और इसमें इतने अधिक विषयों का सर्वांगपूर्ण समावेश है कि इसे एक ही काल में एक ही व्यक्ति द्वारा रचा जाना संभव नहीं मालूम होता है। इसमें भरतवंशी क्षत्रियों के गौरवपूर्ण इतिहास के साथ ही साथ विविध आख्यान, संवाद, धर्म–चर्चा आदि से परिपूर्ण जिस विशाल ताने–बाने का निर्माण किया गया है, उसका एक छोर वैदिक काल को छूता है, तो दूसरा छोर जैन, बौद्ध और यूनानी काल तक पहुँचता है। ऐसी दशा में यह सोचना ग़लत नहीं है कि यह विशाल ग्रंथ एक ही काल में एक ही व्यक्ति द्वारा नहीं रचा गया होगा।

इस ग्रंथ के कई संस्करणों का तथा उनके रचयिताओं अथवा संपादकों के नामों का उल्लेख तो इस ग्रंथ में ही मिलता है। वे नाम व्यास, वैशंपायन और सौति हैं। भारतीय युद्ध के पश्चात् महर्षि द्वैपायन व्यास ने तीन वर्षों में इस ग्रंथ को जिस संहिता रूप में प्रस्तुत किया, उसका नाम **'जय'** है। उसका आरंभ राजा उपरिचर की कथा से होता है और उसकी श्लोक संख्या केवल ८८०० बतलाई गई है। उसे व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव तथा चार शिष्य सुमंतु, जैमिनि, पैल और वैशपायन को सिखाया था। वैशंपायन ने उसे सर्प-सत्र के अवसर पर परीक्षित के पुत्र जनमेजय के सुनाया। उस समय जनमेजय के प्रश्नों का उत्तर भी वैशंपायन ने दिया था, जिसके कारण व्यास जी के मूल ग्रंथ 'जय' का आकार बढ़ गया था। इस प्रकार वैशंपायन द्वारा कथित ग्रंथ का नाम **'भारत'** हुआ, क्यों कि इसमें भरतवंशी क्षत्रियों का इतिहास है। यह उसका दूसरा संस्करण था। इसका आरंभ आस्तीक के आख्यान से होता है और इसकी श्लोक संख्या २४००० कही जाती है। उसके पश्चात् वैशंपायन के शिष्य सौति उग्रश्रवा ने इसे नैमिषारण्य में एकत्र शौनकादि ऋषियों को सुनाया था। सौति–शौनक प्रश्नोत्तर के फल स्वरूप अनेक उपाख्यानादि के समावेश से इसका आकार बहुत बढ़ गया था। उसके कारण इस वृहत् संस्करण का नाम भारत से **'महाभारत'** हो गया।

यह ग्रंथ श्री कृष्ण के शृंखलाबद्ध जीवन–वृत्त का सर्व प्राचीन स्रोत होते हुए भी उनके समग्र जीवन पर प्रकाश नहीं डालता है। इसमें अधिकतर उनके उत्तर जीवन का ही कथन हुआ है, जो उनकी वीरता, विद्वत्ता और राजनीतिज्ञता से परिपूर्ण है। वे आदि पर्व में कथित द्रोपदी-स्वयंवर के उत्सव में सर्वप्रथम महाभारत के रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। उस समय वे द्वारका के वैभवशाली राज्य के अधिपति थे और भारतवर्ष के अन्य राजाओं की भाँति स्वयंवर में बलरामादि यादव वीरों के साथ सम्मिलित हुए थे। तब पांडवगण अपनी माता कुंती सहित लाक्षागृह से जीवित बच कर कौरवों के भय से गुप्त जीवन व्यतीत कर रहे थे; किंतु श्री कृष्ण उस समय भी देश-प्रसिद्ध राजकीय महापुरुष थे। अपने आरंभिक जीवन की अद्भुत लीलाओं के अनंतर उन्होंने १२ वर्ष की अल्पायु में कंस जैसे पराक्रमी राजा को पछाड़ा था और जरासंध जैसे प्रबल राजाधिराज की विशाल सेना से सत्रह बार सफलतापूर्वक मोर्चा लिया था। फिर व्यर्थ की जन–हानि को रोकने के लिए उन्होंने शूरसेन प्रदेश के अपने परंपरागत राज्य को छोड़ कर द्वारका में एक शक्तिशाली यादव राज्य का निर्माण किया था। वे अनेक पराक्रमी प्रबल शत्रुओं को पराजित कर भारतवर्ष के क्षत्रिय राजाओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने में समर्थ हुए थे।

इसके अनंतर महाभारत के सभापर्व में श्री कृष्ण की नीतिज्ञता से जरासंध–बध और उनकी धैर्यपूर्ण तेजस्विता से शिशुपाल–वध होने का उल्लेख हुआ है। इसी पर्व के अंतर्गत युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित समस्त राजाओं के बीच उन्हें सर्वोपरि मानते हुए उनकी अग्रपूजा का कथन किया गया है। उद्योग पर्व में उनके साहस और राजनीतिज्ञता पूर्ण दौत्य कर्म का उल्लेख है, तथा भीष्मपर्व में मोहग्रसित अर्जुन को कर्तव्य पथ पर आरूढ़ करने के लिए ज्ञान–भक्ति मिश्रित अनासक्त कर्मयोग का कथन हुआ है, जो उनके महान् आध्यात्मिक ज्ञान का परिचायक है। इसके भीष्मपर्व से शल्यपर्व तक उस महा भीषण गृह-युद्ध का वर्णन है, जिसमें भारतवर्ष के प्रायः समस्त राजागण दो शिविरों में विभाजित होकर युद्ध द्वारा नाश को प्राप्त हुए थे। उसमें अर्जुन-भीम जैसे महावीरों के प्रबल पराक्रम से भी अधिक श्री कृष्ण की बुद्धिमत्ता और नीतिज्ञता ने पांडव पक्ष को विजयी बनाया था। इसके मौसल पर्व में यादवों के सर्वनाश और श्री कृष्ण के तिरोधान का विषादपूर्ण वर्णन है। इस प्रकार महाभारत में श्री कृष्ण के पूर्व चरित्र की अपेक्षा उनके उत्तर चरित्र का ताना-बाना है, जो पांडवों के सुख-दुःख की जीवन-गाथा के साथ गुथा हुआ अपने अंतिम छोर तक पहुँच गया है।

महाभारत का रचना-काल—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, इस ग्रंथ की रचना श्री कृष्ण और पांडवों के देहावसान के पश्चात् महामुनि व्यास जी ने की थी, तथा वैशंपायन और सौति उग्रश्रवा ने उसे वृहत् रूप प्रदान किया था। उसके बाद गुरु-शिष्यों की मौखिक परंपरा द्वारा उसका प्रचार होता रहा। इसे लेखबद्ध कब और किसने किया–यह प्रामाणिक रूप से विदित नहीं होता है। स्व० श्री विनायक चिंतामणि वैद्य ने सिद्ध किया है कि ईसवी पूर्व सन् ३२० से २०० तक यह ग्रंथ पूर्ण होकर अपना वर्तमान रूप प्राप्त कर चुका था[1]। उनके निष्कर्ष के आधार पर यह अब से प्रायः २३०० वर्ष पुराना तो अवश्य है। उससे कितने वर्ष पूर्व का है, यह प्रामाणिक रूप से कहना संभव नहीं है।

हरिवंश—जैसा पहिले कहा गया है, महाभारत में श्री कृष्ण के उत्तर चरित्र का ही वर्णन हुआ है, पूर्व चरित्र का नहीं। उस कमी की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न किये गये, उनके फल स्वरूप हरिवंश की रचना कदाचित सर्व प्रथम हुई थी। इस ग्रंथ के आरंभ में ही कहा गया है, जब जनमेजय वैशंपायन से समग्र महाभारत सुन चुके, तब उन्होंने श्री कृष्ण का आरंभिक चरित्र सुनाने का भी उनसे आग्रह किया था। इस पर वैशंपायन ने उन्हें हरिवंश की कथा सुनाई थी। इससे स्पष्ट होता है कि हरिवंश की रचना कृष्ण-चरित्र के उस अंश को पूरा करने के लिए हुई थी, जो महाभारत में नहीं है। यही कारण है, इसे महाभारत का 'खिल भाग' अर्थात् परिशिष्ट कहा जाता है। हरिवंश की श्लोक संख्या सम्मिलित करने पर ही महाभारत की तथाकथित एक लाख श्लोक संख्या की पूर्ति होती है। हरिवंश की गणना मुख्य १८ पुराणों में न होकर उपपुराणों में की जाती है। इसकी रचना महाभारत के पश्चात् हुई, यह तो निश्चित है; किंतु किस काल में हुई, यह बतलाना कठिन है। डा० भंडारकर का मत है, इसका रचना-काल तीसरी शताब्दी है[2]। कुछ विद्वान इसे पहिली शताब्दी की रचना भी मानते हैं। इस प्रकार कृष्ण–चरित्र संबंधी पुराणों में हरिवंश सबसे प्राचीन सिद्ध होता है।

---

(१) **महाभारत मीमांसा,** (पृष्ठ २०)

(२) **वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स,** (पृष्ठ ५१)

हरिवंश के रचयिता के संबंध में श्री ग्राउस का मत है—"यह निश्चय ही ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया, जो ब्रज प्रदेश से अपरिचित था[१]। इसमें तालबन को गोबर्धन के उत्तर में बतलाया गया है, जब कि वह उसके दक्षिण–पूर्व में है। भांडीरबन को हरिवंश में यमुना नदी के उस ओर बतलाया गया है, जिस ओर कालियमर्दन घाट है, जब कि वास्तव में वह यमुना के दूसरी ओर है[२]।" श्री ग्राउस के मतानुसार हरिवंश की रचना दक्षिण प्रदेश में किसी दक्षिणी विद्वान द्वारा हुई होगी, क्यों कि इसमें दक्षिणी उत्सवों का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है।

यह ग्रंथ तीन खंडों में विभाजित है, जिनके नाम १. हरिवंश पर्व, २. विष्णु पर्व और ३. भविष्य पर्व हैं। इनमें क्रमशः ५५, १२८ और १३५ अध्याय हैं। इसके आरंभिक हरिवंश पर्व के ३ (३४, ३५ और ३६) तथा अंतिम भविष्य पर्व के ५१ (७३ से १०२ तक और १११ से १३१ तक) अध्यायों के अतिरिक्त मध्यवर्ती विष्णु पर्व के प्रायः समस्त १२८ अध्यायों में कृष्ण–चरित्र का विस्तृत कथन किया गया है; किंतु वह भागवतादि पुराणों की भाँति उदात्त और संयत नहीं है। इसी ग्रंथ में सर्व प्रथम श्री कृष्ण की ब्रज-लीलाओं का विस्तृत और रास-क्रीड़ा का संक्षिप्त वर्णन मिलता है, जो प्रायः निर्दोष और संयत है; किंतु इसमें वर्णित श्री कृष्ण का द्वारकावासी रूप असंयत हो गया है, विशेषतया उनकी पिंडार–यात्रा के अवसर पर की हुई जल-क्रीड़ा का[३]। जल-बिहार के पश्चात् जो खान-पान और नृत्य-गान का कथन हुआ है, उसमें सुरुचि और मर्यादा का अभाव दिखलाई देता है[४]। मज़ा यह है कि उस स्वच्छंद और कामुकतापूर्ण आयोजन को हरिवंश में 'रास' कहा गया है[५]। भागवतादि अन्य पुराणों में श्री कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का विशद वर्णन हुआ है और उनमें बलराम के तामसी रूप तथा वारुणी के प्रति उनकी आसक्ति का भी कथन किया गया है; किंतु फिर भी उनमें हरिवंश की सी उच्छृंखलता नहीं है। इसके अंतिम 'भविष्य पर्व' में कृष्ण-चरित्र की कुछ ऐसी घटनाएँ लिखी गई हैं, जो अन्य पुराणों में प्रायः नहीं मिलती हैं। श्री कृष्ण द्वारा वदरिकाश्रम और कैलास की यात्रा होना, हंस और डिम्भक की कथा तथा इसमें गोवर्धन पर्वत के समीप यादवों का भीषण युद्ध, नंद-यशोदा और गोप-गोपियों का श्री कृष्ण-बलराम से गोवर्धन पर्वत पर आकर मिलना आदि इसी प्रकार की घटनाएँ हैं। ऐसा जान पड़ता है, इस पर्व का बहुत सा अंश प्रक्षिप्त और भरती का है।

विविध पुराण—मुख्य पुराणों की संख्या १८ है। इनके अतिरिक्त अनेक उप पुराण भी हैं। इन पुराणोपपुराणों में भगवान् के अनेक अवतारों की कथाओं का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। कृष्ण-चरित्र के लिए भी पुराण ही प्रमुख आकर-ग्रंथ हैं, जिनमें किसी में उसका कम और किसी में अधिक वर्णन मिलता है। अग्नि, वायु, नारद, लिंग, कूर्म और पद्म नामक पुराणों में कृष्ण-चरित्र का संक्षिप्त कथन है; किंतु ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त में विस्तृत वर्णन हुआ है।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, (तृ० सं०), (पृष्ठ ६८)

(२) वही , (पृष्ठ ६८ की पाद टिप्पणी)

(३) हरिवंश, विष्णु पर्व, (अध्याय ८८)

(४) वही , (अध्याय ८९)

(५) वही , (अध्याय ८९, श्लोक ३०)

विभिन्न पुराणों में वर्णित कृष्ण-चरित्र का परिमाण वतलाने के लिए यहाँ पर उनके तत्संबंधी अध्यायों की संख्या दी जाती है—

१ अग्नि पुराण में कृष्ण-चरित्र से संबंधित १ अध्याय है।
२. वायु पुराण में ,, ,, २ अध्याय हैं।
३. नारद पुराण में ,, ,, २ ,,
४. लिंग पुराण में ,, ,, २ ,,
५. कूर्म पुराण में ,, ,, २ ,,
६. पद्म पुराण में ,, ,, ८ ,,
७. ब्रह्म पुराण में ,, ,, ३४ ,,
८. विष्णु पुराण में ,, ,, ३८ ,,
९. भागवत पुराण (दशम स्कंध) में ,, ९० ,,
१०. ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्ण जन्म खंड) में ,, १३३ ,,

'अग्नि पुराण' के १२ वें अध्याय में हरि वंश (कृष्ण कुल) का संक्षिप्त कथन किया गया है। **'वायु पुराण'** के अध्याय ९६ में यदुवंश का और ९७ में कृष्ण-चरित्र का वर्णन हुआ है। इसके द्वितीय खंड के ३४ वें अध्याय में स्यमंतकमणि की कथा है और ४२ वें अध्याय में गोलोक-वासी भगवान् श्री कृष्ण की राधा और गोपियों के साथ की हुई लीलाओं का वर्णन किया गया है। **'नारद पुराण'** पूर्व खंड के ८८ वें अध्याय में राधा जी के अवतार का और उत्तर खंड के ४९ वें अध्याय में गोलोक स्थित राधा—कृष्ण का वर्णन है। **'लिंग पुराण'** पूर्वार्ध के ६८ वें अध्याय में यदुवंश का और ६९ वें अध्याय में कृष्णावतार की संक्षिप्त कथा है। **'कूर्म पुराण'** के दो अध्यायों में भी कृष्णावतार की संक्षिप्त कथा कही गई है।

पद्म पुराण—इस विशालकाय पुराण में सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल और उत्तर नामक ५ खंड हैं। इनमें से पाताल और उत्तर नामक अंतिम खंडों में कृष्ण-चरित्र का वर्णन हुआ है। पाताल खंड के अध्याय ६९ से ८३ तक में मथुरा-वृंदाबन माहात्म्य तथा श्री कृष्ण की गोपियों के साथ की हुई लीलाओं का वर्णन है। फिर उत्तर खंड के अध्याय २७२ से २७९ तक के ८ अध्याय भी कृष्ण-चरित्र से संबंधित हैं। इस पुराण में ही सुप्रसिद्ध 'भागवत माहात्म्य' है। इसके अतिरिक्त विष्णु सहस्रनाम, यमुना माहात्म्य और वृंदाबन माहात्म्य भी इसकी अंतर-कथाओं में वर्णित हैं। इस प्रकार ब्रज और कृष्ण-चरित्र से इस पुराण का घनिष्ट संबंध है।

विष्णु पुराण और ब्रह्म पुराण—ये कृष्ण-चरित्र से संबंधित सबसे प्राचीन पुराण हैं की
विष्णु पुराण में ६ अंश हैं। इसके ५ वें अंश के ३८ अध्यायों में कृष्ण-कथा लिखी गई है। कंस के
पुराण में १८० से २१२ तक के ३४ अध्यायों में कृष्ण-कथा है। दोनों पराणों में कृष्ण है ष्ण के जन्म,
लेकर देहावसान काल तक की पूरी कथा लिखी गई है। इन दोनों पुराणों की कृष्ण-क और यमलार्जुन
करते हुए डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—"ब्रह्म पुराण के अध्याय ७२ से १ थुरा और द्वारका नामक
पुराण के ५ वें अंश के ३८ अध्यायों में कृष्ण-चरित्र संबंधी श्लोक लगभग र्क वर्णन हुआ है। इसके
एकाध शब्द और एकाध श्लोक का ही थोड़ा सा अंतर है, अतः वे ित कथन किया गया है। बलभद्र
जान पड़ते हैं[1]।"
थुरा और द्वारका लीलाओं का पुनः
मार्ग और पूजा पद्धति का विवेचन है।

---

(१) भारतीय साधना और सूर साहित्य, (पृष्ठ १५७,

विष्णु पुराण का रचना-काल ५ वीं शताब्दी का माना जाता है और ब्रह्म पुराण उससे कुछ पहिले का बतलाया जाता है। यदि यह ठीक है, तब आदिम पुराणों में ब्रह्मपुराण को ही श्री कृष्ण के संपूर्ण जीवन का प्राचीनतम स्रोत कहा जावेगा। इसमें १८० वें अध्याय से २१२ वें अध्याय तक अर्थात् ३४ अध्यायों में कृष्ण-चरित्र का वर्णन है, जो विष्णु पुराण की अपेक्षा कुछ संक्षिप्त रूप में है।

इन दोनों पुराणों में श्री कृष्ण के बाल्य और कैशोर काल की अनेक लीलाएँ हैं; किंतु उनमें माखनचोरी, पनघट, चीरहरण, भ्रमरगीत आदि के प्रसंगों का वर्णन नहीं हुआ है। उक्त प्रसंग हरिवंश में भी नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का क्रमशः विकास हुआ है और वे भागवत के रचना-काल तक अपना पूर्ण रूप प्राप्त कर सकी थीं।

भागवत पुराण—अष्टादश महापुराणों में श्रीमद् भागवत सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह वैष्णवों की परम निधि और कृष्णोपासकों की प्राणप्रिय रचना तो है ही; किंतु अन्य मतावलंवी भी इसका महत्व स्वीकार करते हैं। इसकी गंभीरता और विद्वत्ता के कारण इसके विषय में कहा जाता है कि विद्वानों की परीक्षा भागवत में होती है—"विद्यावतां भागवते परीक्षा"; फिर भी इसमें अन्य पुराणों के से नीरस इतिवृत्तात्मक वर्णनों के विरुद्ध उच्च कोटि के सरस और साहित्यिक कथन मिलते हैं, जो वक्ता और श्रोता दोनों को ही आनंद-विभोर कर देते हैं।

भागवत में १२ स्कंध हैं, जिनमें १० वें स्कंध की प्रधानता है। इसी स्कंध के दो खंडों में कृष्ण-चरित्र का आद्योपांत वर्णन हुआ है। दशम स्कंध पूर्वार्ध में श्री कृष्ण की ब्रज-लीला और मथुरा-लीला का अत्यंत विस्तार से कथन किया गया है। इसके उत्तरार्ध में उनकी द्वारका-लीला का वर्णन हुआ है। असल में यह ग्रंथ श्री कृष्ण की उन आह्लादकारी ब्रज-लीलाओं का ही सर्व प्रधान आकर ग्रंथ है, जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के समस्त संप्रदायों तथा कृष्णोपासक समस्त कवियों को प्रेरणा प्रदान की है। इसका रचना-काल छटी शताब्दी के लगभग माना जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण—इस पुराण की यह विशेषता है कि इसमें श्री कृष्ण के साथ राधा का सर्व प्रथम विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। महाभारत और हरिवंश के साथ ही साथ किसी भी प्राचीन पुराण में, यहाँ तक कि कृष्ण-लीला के सर्वप्रधान ग्रंथ श्रीमद् भागवत में भी राधा का उल्लेख नहीं हुआ है। ब्रह्मवैवर्त में श्री कृष्ण को परम् तत्व और राधा को उनकी आदि प्रकृति बतलाते हुए उनकी सम्मिलित लीलाओं का विस्तृत कथन किया गया है। इसमें राधा की महत्ता यः कृष्ण के समान ही बतलाई गई है। इस प्रकार इसे राधा पुराण भी कहा जाय, तो कोई न होगी। इसमें ब्रह्म, प्रकृति, गणपति और श्री कृष्ण-जन्म नामक ४ खंड हैं, जिनके ी संख्या क्रमशः ३०, ६७, ४६ और १३१ है। इस प्रकार श्री कृष्ण जन्म खंड इसमें सब पहिले तीनों खंडों के प्रायः बराबर है। इस पुराण का आकार श्रीमद् भागवत के नों की श्लोक संख्या १८-१८ हजार है। जहाँ तक कृष्ण-चरित्र के विस्तार राण में श्रीमद् भागवत से भी अधिक है। फिर भी संयोजन, स्वरूप और का कृष्ण-चरित्र ब्रह्मवैवर्त की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। जिन लीलाओं का बड़े मनोयोग पूर्वक कथन किया है, उन्होंने ब्रह्म- अध्य. माना है।

और

कृष्ण-च

(१) मथुरा-ऐ

(२) वही

(३) हरिवंश, विष्णु प

(४) वही , (

(५) वही , (

'श्री कृष्ण जन्म' नामक चौथा खंड इस पुराण का मुख्य भाग है, जिसमें राधा-कृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन हुआ है। इसके आरंभ में उनके अवतार लेने का कारण बतलाया गया है। उसमें कहा गया है कि एक बार श्री कृष्ण राधा के विहार स्थल से विरजा देवी के निवास स्थल पर चले गये थे। यह बात राधा को अच्छी नहीं लगी। वे अपनी सखियों सहित श्री कृष्ण की खोज में विरजा के भवन को गईं। वहाँ पर द्वारपाल के रूप में नियुक्त श्रीदामा ने उन्हें अंदर जाने से रोक दिया। उससे राधा अत्यंत कुपित हुईं और उन्होंने श्रीदामा को गोलोक छोड़ कर असुर योनि में जन्म लेने का शाप दिया। श्रीदामा इससे अत्यंत क्षुब्ध हुआ। उसने भी राधा को शाप दिया कि वे भी गोलोक छोड़ कर मानुषी योनि में जन्म लें। राधा उस शाप के कारण अत्यंत दुखित हुईं। वे गोलोक में श्री कृष्ण के सहवास से पल भर भी विलग नहीं होना चाहती थीं। इस पर श्री कृष्ण ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि वे स्वयं भी अवतार लेंगे और वृंदाबन में उनके साथ नाना प्रकार की लीलाएँ करेंगे। इस प्रकार वाराह कल्प में श्री कृष्ण और राधा का अवतार हुआ। इसमें श्री कृष्ण के जन्म और उनकी बाल लीलाओं का कथन करने के अनंतर राधा के जन्म का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसमें राधा की माता का नाम कलावती बतलाया गया है, जब कि अन्य पुराणों में कीर्ति या कीर्तिदा लिखा गया है। वृषभानु गोप से कलावती का विवाह और उनसे राधा के जन्म की कथा कदचित इसी पुराण में लिखी गई है। राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन इस पुराण में अत्यंत अद्भुत और रहस्यपूर्ण रीति से बतलाया गया है।

इस पुराण में गोप-बालाओं के साथ श्री कृष्ण की रास-क्रीड़ा बसंत ऋतु में होने का उल्लेख हुआ है; जब कि हरिवंश, विष्णु पुराण और भागवत में शरद ऋतु के रास का कथन है। कंस-वध, उपनयन और सांदीपनि से शिक्षा प्राप्त करने के अनंतर श्री कृष्ण का यादव समूह द्वारा द्वारका जाने का उल्लेख हुआ है, किंतु उससे पहिले जरासंध के साथ भीषण युद्धों को कोई महत्व नहीं दिया गया है। इसका अन्यत्र केवल संकेत मात्र कर दिया गया है। द्वारका में श्री कृष्ण के महाभारतीय रूप का जो विकास हुआ, उसका इसमें उल्लेख तक नहीं किया गया। इस प्रकार यह पुराण श्री कृष्ण की केवल ब्रज लीलाओं से ही संबंधित है। उनके बीच-बीच में भी दूसरे प्रसंगों को अनावश्यक रूप से सम्मिलित किया गया है।

ब्रह्मवैवर्त की रचना और उसका रचयिता—इस पुराण में श्री कृष्ण की अतिशय माधुर्यमयी ब्रज-लीलाओं का तथा राधा जी की महत्ता का जैसा विशद वर्णन मिलता है, वैसा राधा-कृष्णोपासना के विविध संप्रदायों का प्रादुर्भाव होने से पहिले किसी भी प्रमुख धार्मिक ग्रंथ में नहीं मिलता है। फिर वैष्णव पुराण होते हुए भी इस पर शाक्त मत का प्रचुर प्रभाव है। इ रे
दो बातें स्पष्ट होती हैं— म की

१. अन्य पुराणों की अपेक्षा यह अत्यधिक अर्वाचीन है। मत्स्य के दो श्लो में कंस के
पुराण का परिचय अवश्य मिलता है, किंतु वहाँ बतलाये हुए इसके आकार-प्रकार ष्ण के जन्म,
ब्रह्मवैवर्त के आकार-प्रकार से कोई सादृश्य नहीं है। वर्तमान पुराण नई रचना जा और यमलार्जुन

२. इसकी रचना शाक्त मत से प्रभावित प्रदेश में किसी वैष्ण ुरा और द्वारका नामक
शताब्दी में हुई है। इसके संबंध में श्री ग्राउस का कथन है,—"य पूर्वक वर्णन हुआ है। इसके
रचना गो० रूप-सनातन द्वारा हुई थी[1]। अन्य विद्वानों ने विस्तृत कथन किया गया है। बलभद्र

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर्स (तृतीय संस्करण , मथुरा और द्वारका लीलाओं का पुनः
(२) हिन्दी अनुशीलन का 'धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक', (मार्ग और पूजा पद्धति का विवेचन है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस पुराण के रचयिता के रूप में गौड़ीय गोस्वामियों का नाम लेना सकारण है। पहिली बात तो यह है कि उक्त गोस्वामियों से पहिले इस पुराण के वर्तमान रूप का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। गौड़ीय मत में राधा का अतिशय महत्व स्वीकृत है। इसे प्राचीन :परंपरा पर आधारित करने का प्रयास सबसे पहिले रूप-सनातन और उनके भतीजे जीव गोस्वामियों ने ही किया था। विविध पुराणों की छानबीन करने के अनंतर श्रीमद् भागवत में तो उन्हें राधा का केवल संकेत मात्र ही मिला; किंतु पद्म पुराण और मत्स्य पुराण में कुछ उल्लेख मिल गये, पर अत्यंत संक्षिप्त रूप में। इनके अतिरिक्त किसी अन्य पुराण में वे राधा संबंधी उल्लेख प्राप्त नहीं कर सके थे। ब्रह्मवैवर्त में राधा का जैसा विशद वर्णन हुआ है, यदि वह गोस्वामियों के समय में उपलब्ध होता, तो वे निश्चय ही उसे उद्धृत करते। दूसरी बात यह है कि गोस्वामियों के बाद ही ब्रह्मवर्त का अधिक प्रचार दिखलाई देता है। चूंकि गोस्वामी गण इस प्रकार की रचना करने में समर्थ थे और उनके तत्काल बाद वैसे किसी विद्वान का नाम ज्ञात नहीं होता है; इसीलिए गोस्वामियों, विशेषतया रूप गोस्वामी, द्वारा इस पुराण की रचना किये जाने की संभावना व्यक्त की गई है। किंतु सभी गोस्वामियों की रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं; उनमें इस पुराण का नाम प्राप्त नहीं होता है। हमारे मतानुसार किसी अज्ञात वंगीय विद्वान ने १६ वीं शताब्दी के अंत में इस पुराण को वर्तमान रूप दिया है, यद्यपि इसका बहुत सा अंश पुराना भी है।

पुराणेतर ग्रंथ—पुराणों के अतिरिक्त जिन धर्म ग्रंथों में कृष्ण-चरित्र के सूत्र मिलते हैं, उनमें देवी भागवत, गोपालतापनी उपनिषद् और गर्ग संहिता के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनका भी संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

देवी भागवत—पुराणों के उल्लेखानुसार देवी भागवत की गणना उप पुराणों में है, किंतु शाक्त और तांत्रिक ग्रंथों में इसे श्रीमद् भागवत के स्थान पर १८ महापुराणों में गिना गया है। देवी भागवत और श्रीमद् भागवत क्रमशः शाक्तों और वैष्णवों की मान्यताओं के सर्वप्रमुख ग्रंथ हैं। इन दोनों में १२-१२ स्कंध हैं और दोनों के श्लोकों की संख्या प्रायः १८-१८ हजार है। ऐसा मालूम होता है, श्रीमद् भागवत की अधिक प्रसिद्धि होने पर शाक्त विद्वानों ने उसकी प्रतियोगिता में इस पुराण की रचना की थी। इस ग्रंथ के चौथे स्कंध में २० से २५ तक के ६ अध्यायों में कृष्ण-चरित्र लिखा गया है। उसमें कृष्णावतार, ब्रज लीला और द्वारका लीला का संक्षिप्त वर्णन हुआ है। इसके नौवें स्कंध में गोलोक स्थित श्री कृष्ण के साथ उनकी मूल प्रकृति राधा का भी उल्लेख है।

व.

गोपालतापनी उपनिषद्—इसके पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। पूर्व भाग को कृष्णोपनिषद्
यः
औ तर भाग को अथर्वणोपनिषद् कहा गया है। यह आध्यात्मिक रचना है, जो सूत्र शैली में
कृष्ण-च ोने से प्राचीन जान पड़ती है। इसका पूर्व भाग उत्तर भाग की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन
है। इसमें "ब्रज" और "राधा" नामों का उल्लेख नहीं हुआ है। इसके उत्तर भाग में
ा का अलौकिक माहात्म्य, कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति, मथुरा की आध्यात्मिक स्थिति,
देवता आदि का वर्णन मिलता है।

---

(१) **मथुरा-ए-**
(२) **वही** ण म
(३) **हरिवंश, विष्णु पर्व,** कृष्ण के नाम से रचे हुए पौराणिक शैली के इस वृहत् ग्रंथ में
(४) **वही** , (लील सभी प्रकार की लीलाओं का अत्यंत विस्तार पूर्वक वर्णन
(५) **वही** , (अध्या. मथुरा, यमुना और गिरिराज की महिमा के साथ ही साथ

वृंदाबन में होने वाली राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का तथा मथुरा-द्वारका में किये हुए कृष्ण-बलराम के विविध चरित्रों का सर्वांगपूर्ण कथन हुआ है। यह श्री कृष्ण भक्ति का अन्यतम ग्रंथ है। इसे अत्यंत सरल संस्कृत भाषा में लिखा गया है। इस की रचना महामुनि नारद और मिथिलेश वहुलाश्व के संवाद रूप में हुई है। ब्रह्मवैवर्त सहित समस्त पुराणों, सनत्, वशिष्ठ, पुलस्त्य, याज्ञवल्क्य और पाराशर संहिताओं, यहाँ तक कि गोपाल सहस्रनाम की भी रचना हो जाने के उपरांत तथा कृष्ण–भक्ति का देशव्यापी प्रचार और गोबर्धन, वृंदाबन एवं श्रीनाथ जी की महत्ता स्थापित होने के अनंतर यह ग्रंथ रचा गया है। इसके माधुर्य खंड में जहाँ विविध प्रदेशों की गोपियों का वर्णन है, वहाँ मैथिल देश की गोपियों का सर्व प्रथम कथन किया गया है। इससे अनुमान होता है कि इस ग्रंथ का रचयिता कोई मिथिला निवासी विद्वान पंडित होगा। इसकी रचना भी १६वीं शताब्दी के पश्चात् ही होना संभव है।

कृष्ण–भक्ति विषयक रचनाओं में इसका अत्यंत महत्व है। इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें गोलोक और राधा की महिमा के कथन के साथ ही साथ मथुरा और द्वारका में किये गये कृष्ण-चरित्र से संबंधित युद्धों का तथा प्रद्युम्न की दिग्विजय का वीरतापूर्ण विशद वर्णन भी किया गया है, जो कृष्ण की माधुर्यमयी लीलाओं से संबंधित पुराणादि ग्रंथों में प्रायः नहीं मिलता है। इसमें १० खंड हैं, जिनके नाम १. माहात्म्य खंड, २. गोलोक खंड, ३. वृंदाबन खंड, ४. गिरिराज खंड, ५. माधुर्य खंड, ६. मथुरा खंड, ७. द्वारका खंड, ८. विश्वजित् खंड, ९. बलभद्र खंड और १०. विज्ञान खंड हैं। इनमें विश्वजित् खंड सब से बड़ा है और माहात्म्य खंड सब से छोटा है। दसों खंडों के अध्यायों की संख्या २०८ है और उनकी श्लोक संख्या १२००० है। इस प्रकार यह एक वृहत् ग्रंथ है और यह प्रकाशित भी हो चुका है।

इसके गोलोक खंड में गोलोक धाम बड़ा अद्भुत वर्णन हुआ है। गोलोक में गोबर्धन, वृंदावन, रासमंडल, कालिंदी नदी, वंशीवट आदि दिव्य रूप में विद्यमान हैं। वहाँ पर अनेक गोपियों के समुदाय सहित श्री राधा-कृष्ण विराजमान हैं। उसी समय दुष्टों के भार से दबी हुई पृथ्वी गो रूप में देवताओं के साथ वहाँ उपस्थित होती है। देवताओं की प्रार्थना पर श्री कृष्ण ने पृथ्वी पर अवतार लेने का वचन दिया। जब राधा जी ने श्री कृष्ण के वचन सुने, तो वे वियोग की आशंका से अत्यंत व्यथित हुईं। श्री कृष्ण ने उनसे भी अवतार लेने को कहा। इस पर राधा जी ने कहा कि पृथ्वी पर न तो वृंदाबन है, न यमुना है और न गोबर्धन पर्वत है; वहाँ मेरे मन को कैसे सुख मिलेगा ? इस पर श्री कृष्ण ने वृंदाबन और यमुना नदी सहित ८४ कोस की दिव्य भूमि पृथ्वी पर अवतरित की, जो ब्रज भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी खंड में कंस के जन्म और उसकी दिग्विजय का वर्णन हुआ है। तदनंतर राधा, बलदेव और कृष्ण के जन्म, नंदोत्सव, पूतना बध, तृणावर्त बध, राधिका विवाह, दधि चोरी, मृत्तिका भक्षण और यमलार्जुन मोक्ष की कथा लिखी गई है। उसके बाद वृंदाबन, गिरिराज, माधुर्य, मथुरा और द्वारका नामक खंडों में श्री कृष्ण की ब्रज, मथुरा और द्वारका लीलाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। इसके विश्वजित् खंड में कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न की दिग्विजय का अत्यंत विस्तृत कथन किया गया है। बलभद्र खंड में बलदेव जी के अवतार के साथ कृष्ण-जन्म तथा ब्रज, मथुरा और द्वारका लीलाओं का पुनः संक्षिप्त वर्णन हुआ है। इसके अंतिम विज्ञान खंड में भक्ति मार्ग और पूजा पद्धति का विवेचन है।

इस ग्रंथ के गोलोक खंड पर ब्रह्मवैवर्त पुराण का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई देता है। ब्रह्मवैवर्त की तरह इसमें भी गोलोक का अद्भुत वर्णन हुआ है और उसी की तरह राधा जी का विरजा के विहार स्थल पर जाने का उल्लेख है। वहाँ श्रीदामा के रोकने पर राधा जी ने उसे शंखचूड़ दैत्य होने का शाप दिया था। राधा जी के कोप के कारण विरजा नदी होकर बह गई और श्री कृष्ण उसके विहार स्थल से अंतर्धान हो गये। फिर ब्रह्मवैवर्त की तरह इसमें भी रहस्यपूर्ण ढंग से राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन और ब्रह्मा जी द्वारा उनका विवाह कराये जाने का उल्लेख हुआ है। इसके मथुरा खंड में श्री कृष्ण-बलराम का अक्रूर के साथ मथुरा आना, कंस का बध करना, सांदीपनि ऋषि के पास विद्याध्ययन के लिए जाना और उद्धव को ब्रज भेजना आदि घटनाएँ अन्य पुराणों की ही भाँति हैं; किंतु उद्धव को प्रार्थना पर श्री कृष्ण के पुनः ब्रज जाने का उल्लेख भी इस ग्रंथ में हुआ है। उस समय श्री कृष्ण मथुरा की रक्षा का भार बलदेव को सोंप कर आप उद्धव के साथ नंदग्राम गये थे। वहाँ सबसे मिल कर उन्हें आनंदित किया, राधा को सुख दिया, कार्तिक की पूर्णमासी को ब्रज–बालाओं के साथ रास किया और कुछ दिन तक वहाँ रह कर फिर मथुरा वापिस आ गये। इस प्रकार का उल्लेख अन्य पुराणों में नहीं मिलता है। इसके द्वारका खंड में यादवों सहित श्री कृष्ण के निवास और उनके राजकीय स्वरूप से संबंधित प्रसिद्ध घटनाओं के साथ ही साथ उस प्रदेश में राधा-कृष्ण के पुनः मिलन का भी उल्लेख किया गया है। उसके संबंध में लिखा है कि एक बार राधा जी अपनी सखियों सहित आनर्त (प्राचीन गुजरात) प्रदेश के श्रद्धाश्रम तीर्थ में सूर्यपर्व के अवसर पर स्नानार्थ गई थीं। वहाँ पर श्री कृष्ण और पांडव भी अपने परिवार सहित आये थे। उस समय राधा–कृष्ण का मिलन हुआ था। श्री कृष्ण की पत्नियों ने उनसे कहा कि वे राधा-गोपियों के साथ वैसा ही रास करें, जैसा वे ब्रज में किया करते थे। इस पर वहाँ वैशाख मास की पूर्णमासी को पूर्ण चंद्रोदय की शुभ्र ज्योत्सना में रास का आयोजन किया गया था। इसके विश्वजित् खंड में उग्रसेन के राजसूय यज्ञ का आयोजन और उसके निमित्त कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न द्वारा दिग्विजय करने का अत्यंत विस्तृत और वीरतापूर्ण वर्णन है, जो इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है। इस प्रकार का कथन कृष्ण-चरित्र संबंधी किसी अन्य ग्रंथ में कदाचित नहीं किया गया है। इस प्रकार की कई विशेषताओं के कारण कृष्ण-चरित्र संबंधी ग्रंथों में गर्ग संहिता का विशिष्ट स्थान है। इसमें कृष्ण-चरित्र के वे सूत्र मिलते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

निष्कर्ष—श्री कृष्ण-चरित्र संबंधी स्रोतों के उद्घाटनार्थ विविध ग्रंथों का जो विवेचन अब तक किया गया है, उसका यह निष्कर्ष है कि महाभारत श्री कृष्ण के शृंखलाबद्ध जीवन-वृत्त का आदिम स्रोत है; किंतु उसमें उनके उत्तर चरित्र का ही वर्णन हुआ है। उनके पूर्व चरित्र के प्राचीनतम स्रोत हरिवंश, ब्रह्म पुराण और विष्णु पुराण हैं। इनमें पूर्व के साथ उनके उत्तर चरित्र का भी वर्णन है, किंतु उतने विस्तार से नहीं। श्रीमद् भागवत कृष्ण-चरित्र का सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण आधार है, जिसकी रचना हरिवंश तथा ब्रह्म और विष्णु पुराणों के पश्चात् छटी शताब्दी में अथवा उससे कुछ पूर्व हुई थी। ब्रह्मवैवर्त पुराण अपेक्षाकृत आधुनिक है, किंतु इसका महत्व इसलिए है कि इसमें सर्वप्रथम ब्रजेश्वरी राधा का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कृष्ण-चरित्र के प्रमुख स्रोत महाभारत और हरिवंश के अतिरिक्त विष्णु, भागवत, और ब्रह्मवैवर्तादि पुराण हैं तथा गर्ग संहिता है।

श्री कृषण के संबंध में भ्रम और उसका निवारण—

कई कृष्णों की कल्पना—महाभारत में वर्णित कृष्ण–कथा की शृंखला हरिवंश और विविध पुराणों के साथ जोड़ने से कृष्ण-चरित्र की पूर्ति तो हो जाती है, किंतु चरित्र-चित्रण की संगति के विचार से उत्तर और पूर्व कथा-भाग में इतनी विषमता दिखलाई पड़ती है कि महाभारत और पुराणों के कृष्ण भिन्न-भिन्न महापुरुष से ज्ञात होते हैं। पुराणों की अलंकारिक और प्रतीकात्मक शैली ने ब्रजवासी कृष्ण के गोपाल और गोपीवल्लभ स्वरूप को इतना अलौकिक और अतिरंजित बना दिया है कि महाभारत के लोकनायक और नीतिनिपुण लौकिक रूप से उसकी संगति मिलाने में कठिनाई जान पड़ती है। इसीलिए अनेक विदेशी और कुछ देशी विद्वानों ने या तो श्री कृष्ण के अस्तित्व में ही संदेह प्रकट किया है, अथवा एक के स्थान पर कई कृष्णों की कल्पना की है। उनकी समझ में यह नहीं आता कि ब्रज के ग्रामों में गाय चराने वाले और गोप-गोपियों के साथ क्रीड़ा करने वाले गोपाल कृष्ण तथा महाभारत–युद्ध के संचालक और गीता–ज्ञान के व्याख्याता परम नीतिज्ञ एवं तत्वदर्शी कृष्ण दोनों एक कैसे हो सकते हैं !

कृष्ण और क्राइस्ट—जिन विद्वानों ने कृष्ण के अस्तित्व में संदेह प्रकट किया है, उनमें से कुछ ने कृष्ण-कथा को ईसाई मत के प्रवर्त्तक क्राइस्ट के जीवन–वृत्त की अनुकृति बतलाया है। दोनों महापुरुषों के नामों, जीवन घटनाओं और उपदेशों में अद्भुत साम्य देख कर उन्होंने इस प्रकार का कथन किया है। श्री ग्राउस ने भी कृष्ण और क्राइस्ट के साम्य का उल्लेख किया है; किंतु उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों की कल्पना को स्वीकार न कर उसे आकस्मिक माना है[1]। उन्होंने ज़ोर देकर लिखा है,—"मेरा विश्वास है कि कृष्ण और क्राइस्ट के सभी आनुमानिक संबंध काल्पनिक ही हैं[2]।"

क्राइस्ट का काल केवल दो हजार वर्ष का है, जब कि कृष्ण के जीवन-काल की अवधि प्रायः पाँच हजार वर्ष की है। ऐसी दशा में यदि अनुकृति और संबंध की बात मानी जाय, तो क्राइस्ट की जीवन–घटनाएँ ही कृष्ण-कथा की अनुकृति तथा कृष्ण-चरित्र से संबंधित कही जा सकती हैं। भारत के कुछ आर्य समाजी विद्वानों ने ऐसा लिखा भी है। किंतु हम श्री ग्राउस के मतानुसार दोनों संबंधों को आकस्मिक मानने के पक्ष में ही हैं। हमें कृष्ण और क्राइस्ट दोनों की ऐतिहासिकता और उनके प्रथक–प्रथक अस्तित्व स्वीकार हैं।

कृष्ण की ऐतिहासिकता—जहाँ तक ऐतिहासिकता का संबंध है, उसके समर्थन में साहित्य और कला के अनेक प्रमाण प्राप्त हैं। श्री कृष्ण के जीवन-वृत्त का सबसे प्राचीन स्रोत महाभारत है। उसमें जिस भीषण भारतीय युद्ध का वर्णन किया गया है, उसकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। महाभारत के सुप्रसिद्ध शोधक विद्वान श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने उक्त महायुद्ध और उसके संदर्भ में श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—"भारत के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राचीन साहित्य के अध्ययन से मैं यह निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि प्राचीन भारत के इतिहास में भारतीय युद्ध ही सब से पहली ऐतिहासिक घटना है! 'ऐतिहासिक घटना' से मेरा

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, (तृ० सं०, पृष्ठ ६९)
(२) वही , (,, , पृष्ठ ७०)

अभिप्राय यह है कि यह एक ऐसी घटना है कि जिसकी निश्चित तिथि और स्थान बतलाया जा सकता है और वह भी ऐसे प्रमाणों से जो विश्वास के योग्य हैं और केवल दंतकथा अथवा पौराणिक आख्यायनों के रूप में नहीं हैं। श्री कृष्ण ने भारतीय युद्ध में भाग लिया था और इसीलिए वे भी एक ऐतिहासिक पुरुष हैं[1]।"

जब हम महाभारत और पुराणों के कथनों की संगति छांदोग्य उपनिषद, पाणिनीय सूत्र, बौद्ध जातक, जैन आगम, मैगस्थनीज आदि विदेशी लेखकों के प्राचीन विवरणों से मिलाते हैं, तब श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता में संदेह करने की कतई गुंजायश नहीं रहती है। मथुरा, वेसनगर, देवगढ़, बदामी, पथारी, मंडौर, खजुराहो, घोसुंडी, नानाघाट प्रभृति अनेक स्थानों से उपलब्ध प्राचीन शिलापट, स्तंभ, मूर्तियाँ और अभिलेख श्री कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के ऐसे प्रबल प्रमाण हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार महाभारत, गीता और पुराणों से संबंधित श्री कृष्ण का प्रथक–प्रथक व्यक्तित्व मानना भी सर्वथा भ्रमात्मक है। जब गीता महाभारत का ही एक अंश है, तब उन दोनों के नीतिज्ञ और तत्वदर्शी कृष्ण के प्रथक व्यक्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। पुराणों में वर्णित श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का संकेत भी महाभारत में मिलता है। महाभारत के सभापर्व में शिशुपाल द्वारा श्री कृष्ण के जिन बाल-चरित्रों का बखान किया गया है, वे पौराणिक कृष्ण की ब्रज-लीलाओं से सर्वथा मेल खाते हैं। पुराणों में जिस प्रकार श्री कृष्ण को विष्णु का अवतार बतलाया गया है, उसके सूत्र महाभारत में भी मिलते हैं। पांडव, भीष्म, विदुर आदि महाभारत के अनेक विशिष्ट जन कृष्ण को अवतार ही मानते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता में संदेह करना अथवा एक के स्थान पर कई कृष्णों की कल्पना करना सर्वथा भ्रम और प्रमाद है। श्री कृष्ण का चरित्र जैसा अद्भुत और विचित्र है तथा उनका कार्य क्षेत्र जैसा वैविध्य पूर्ण है, वैसा इस लोक में साधारणतया देखने में नहीं आता है; इसीलिए जन साधारण में उनके संबंध में भ्रम पैदा हो जाता है। किंतु श्री कृष्ण कोई साधारण जन तो नहीं थे; वे अनेक गुणों से युक्त विशिष्ट महापुरुष थे। उनकी उस असाधारणता और विशिष्टता के कारण ही तो उन्हें अवतार माना गया है।

कृष्ण–जन्म की पृष्ठभूमि—

अवतारवाद की मान्यता—भारतवासियों की यह परंपरागत मान्यता रही है कि इस भूतल पर जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, जिसके कारण दुष्ट जन सज्जनों पर अत्याचार करने लगते हैं, तब-तब भगवान् अवतार लेकर सज्जनों का संरक्षण और दुष्टों का दलन करते हुए धर्म की स्थापना किया करते हैं[2]। इस प्रकार की विकट परिस्थिति अनेक युगों में अनेक बार हुई है, अतः भगवान् के भी अनेक अवतार हुए हैं। द्वापर युग के अंत में भी ऐसी ही विषम परिस्थिति पैदा हो गई थी, जिसके कारण भगवान् को कृष्ण के रूप में अवतार लेना पड़ा था। इसकी सत्यता कृष्ण-जन्म के पूर्व की स्थिति पर विचार करने से स्वतः सिद्ध होती है।

---

(१) कल्याण का 'कृष्णांक', (पृष्ठ ३३१)

(२) श्रीमद् भगवत् गीता, (अध्याय ४, श्लोक ७–८)

तत्कालीन स्थिति—कृष्ण-जन्म से पूर्व शूरसेन जनपद में ही नहीं, वरन् समस्त भारतवर्ष में अधर्म, अत्याचार और अनाचार की ऐसी आँधी उठी थी कि उसके अंधकार में सद्धर्म, सत्कर्म और सदाचार के सर्वथा लुप्त हो जाने की आशंका उत्पन्न हो गई थी। उस समय इस देश में दुष्ट प्रकृति के ऐसे कई निरंकुश राजा थे, जिन्होंने अपने भीषण अत्याचारों से जनता को पीड़ित कर रखा था। उनके समर्थक कतिपय अधर्मियों और दुराचारियों का तो स्वार्थ-साधन होता था, किंतु सर्व साधारण में हाहा-कार मचा हुआ था। उस विषम परिस्थिति के पैदा करने वाले मुख्यतः तीन राजा थे—

१. जरासंध —जो मगध जनपद (विहार) का स्वेच्छाचारी सम्राट था।
२. भौमासुर—जो नरकासुर भी कहलाता था; जिसने प्राग्ज्योतिषपुर (असम) में अपना क्रूर शासन चलाया था।
३. कंस —जो शूरसेन जनपद (ब्रज प्रदेश) का अत्याचारी राजा था।

वे तीनों दुष्ट जन ऐसे तीन बड़े साम्राज्यों के अधिपति थे, जहाँ अनीति, अधर्म और अत्याचार का बोलबाला था। जरासंध अपने समय का सबसे प्रबल और प्रतापी नरेश था। वह अनेक छोटे-बड़े राज्यों को हड़प कर एक बड़े साम्राज्य का स्वामी बन गया था। उसने छीने हुए राज्यों के अनेक राजाओं को अपने कारागार में बंद कर रखा था और वह जनता पर मनमाने ढंग से शासन करता था। भौमासुर बड़ा ही दुष्ट और प्रजापीड़क राजा था। उसने अपने निकटवर्ती अनेक छोटे राजाओं को दबा कर उनका सर्वस्व छीन लिया था और उनकी अगणित कुमारी कन्याओं का उसने बलपूर्वक अपहरण किया था। कंस का अत्याचार उन दोनों से भी बढ़ा-चढ़ा था। उसने शूरसेन जनपद के परंपरागत जनतांत्रिक शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया और अपने समय के अंधक-वृष्णि राज्य संघ को तोड़ कर वह जनपद का स्वेच्छाचारी राजा बन गया था। इसके लिए उसने अपने सगे संबंधियों को भी नहीं छोड़ा। अपने वृद्ध पिता, आत्मीय बहनोई और अपनी अबला बहिन को कारागार में डाल कर उसने शासन की सत्ता हथियाई थी। उसके राज्य में धार्मिक जनों पर तो भीषण अत्याचार होते ही थे, उसके अतिरिक्त वहाँ नारी-पीड़न और बाल-हत्या का भी बड़ा ज़ोर था। उसने अपनी बहिन की कई संतानों की स्वयं हत्या की थी। इस प्रकार उसका शासन अनीति, अत्याचार और आतंक से भरपूर था। उक्त तीनों स्वेच्छाचारी शासक भारत की आध्यामिकतामूलक आर्य संस्कृति के विरोधी तथा भौतिकवादी अनार्य संस्कृति के समर्थक थे। वे बुरे से बुरे किसी भी कार्य द्वारा अपनी भौतिक शक्ति बढ़ाने में विश्वास करते थे। उसके लिए उन्होंने "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" के सिद्धांत को अपना लिया था। उनके द्वारा स्वार्थी, पाखंडी और चाटुकारों को प्रश्रय मिलता था; किंतु निःस्वार्थ, सदाचारी और स्पष्ट वक्ताओं को अपमानित होना पड़ता था। उस समय ज्ञानी और वयोवृद्धों की वाणी कुंठित हो गई थी। वे असहाय होकर मूक वत् उस समय की स्थिति को देखने और सहन करने के लिए विवश थे।

ऐसी परिस्थिति भगवान् के अवतार के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। फलतः श्री कृष्ण ने कारागार की कोठरी में उस समय अवतार लिया, जब उनके माता-पिता कंस के अत्याचार से कराह रहे थे। कृष्ण के जन्म लेते ही वह दुष्ट उन्हें समाप्त करने की ताक में था, किंतु उसकी समस्त योजना विफल हो गई। कृष्ण को किसी प्रकार कारागार से हटा कर ब्रज के ग्रामीण क्षेत्र में भेज

दिया गया। वहाँ गोप-बालकों के साथ उनका बचपन बीता। फिर उन्होंने समय आने पर कंस को मार कर अपने माता-पिता को बंधनमुक्त किया, तथा शूरसेन प्रदेश में पुनः जन–तांत्रिक संघ राज्य की स्थापना की। उसके अनंतर उन्होंने जरासंध और भौमासुर के साथ ही साथ शिशुपाल और दुर्योधन जैसे अत्याचारी राजाओं को समाप्त कर भारतवर्ष में सुख-शांति की पुनर्प्रतिष्ठा की थी।

श्री कृष्ण के जीवन के कुछ तिथि-संवत्—महाभारत और पुराणों में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे श्री कृष्ण के जीवन संबंधी कतिपय तिथि–संवत् निश्चित किये जा सकते हैं। श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने महाभारत का अनुसंधान कर ऐसी जिन तिथियों का निश्चय किया है, उनका उल्लेख उनकी मराठी पुस्तक 'श्री कृष्ण चरित्र' में किया गया है। उसे आधार मान कर महाभारत और पुराणोंमें वर्णित श्री कृष्ण के जीवन की कुछ घटनाओं के तिथि-संवत् यहाँ दिये हैं।

१. मथुरा में जन्म और गोकुल को प्रस्थान—सं० ३१२८ वि० पूर्व की भाद्रपद कृ० ८, वृष लग्न, रोहिणी नक्षत्र, हर्षण योग, अर्ध रात्रि[१]।

---

(१) १. गर्ग संहिता (१, ११–२३, २४) में इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है—

भाद्रे बुधे कृष्ण पक्षे धात्रर्क्षे हर्षणे वृषे। कर्णेऽष्टम्यामर्धरात्रे नक्षत्रेश महोदये॥

अंधकारावृते काले देवक्यां शौरिमन्दिरे। आविरासीद्धरिः साक्षादरण्यामध्वेऽग्निवत्॥

२. सूरदास ने इन्हीं तिथि-वार आदि का उल्लेख करते हुए ग्रहों के फलादेश का इस प्रकार कथन किया है—

(नंद जू) आदि जोतिषी तुम्हरे घर कौ, पुत्र-जन्म सुनि आयौ।
लगन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ॥
संबत सरस बिभावन, भादौं, आठैं तिथि, बुधवार।
कृष्न पच्छ, रोहिनी, अर्ध निसि, हर्षन जोग उदार॥
वृष है लग्न, उच्च के निसिपति, तनहिं बहुत सुख पैहैं।
चौथें सिंह रासि के दिनकर, जीति सकल महि लैहैं॥
पचएं बुध कन्या कौ जौ है, पुत्रनि बहुत बढ़ैहैं।
छठएं सुक्र तुला के सनि जुत, सत्रु रहन नहिं पैहैं॥
ऊँच नीच जुवती बहु करिहैं, सतएं राहु परे हैं। × ×

—सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद संख्या ७०४

३. कल्याण के 'कृष्णांक' पृष्ठ ४७८ पर श्री लज्जाराम मेहता के लेख में सूरदास का एक अन्य पद है और उसके आधार पर बनी हुई जन्म कुंडली भी है।

४. श्री कृष्ण की दूसरी जन्म कुंडली पद्माकर कवि के पौत्र दतिया निवासी श्री गदाधर भट्ट कृत है, जो 'देशबंधु' वर्ष २, अंक १–२, पृष्ठ ६४ पर प्रकाशित हुई है। तीसरी जन्म कुंडली कर्णाटक निवासी श्री बी० एच० बड़ेर कृत है, जो 'कल्याण' के 'कृष्णांक' में प्रकाशित है।

५. विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर के प्रो० आप्टे ने केतकी मत से गणना कर उक्त तिथि–वार आदि की पुष्टि की है।

२. गोकुल से वृंदावन को प्रस्थान	—आयु ४ वर्ष	—सं० ३१२४ वि० पू०
३. कालिय नाग का दमन	—आयु ८ वर्ष	—सं० ३१२० वि० पू०
४. गोवर्धन-धारण	— ,, १० वर्ष	—सं० ३११८ वि० पू०
५. रास-लीला का आयोजन	— ,, ११ वर्ष	—सं० ३११७ वि० पू०
६. वृंदावन से मथुरा को प्रस्थान और कंस का बध	—आयु १२ वर्ष	—सं० ३११६ वि० पू० की फाल्गुन शु० १४
७. मथुरा में यज्ञोपवीत और सांदीपनि के गुरुकुल को प्रस्थान–	—आयु १२ वर्ष	—सं० ३११६ वि० पू०
८. जरासंध का मथुरा पर आक्रमण	— ,, १३ वर्ष	—सं० ३११५ वि० पू०
९. मथुरा का राजकीय जीवन और जरासंध से १७ वार युद्ध	— ,, १३ से ३० वर्ष की आयु तक—	सं० ३११५–३०९८ वि० पू० तक
१०. द्वारका को प्रस्थान और रुक्मिणी से विवाह	—आयु ३१ वर्ष	—सं० ३०९७ वि० पू०
११. द्रोपदी स्वयंवर और पांडवों से मिलन	—आयु ४३ वर्ष	—सं० ३०८५ वि० पू०
१२. अर्जुन–सुभद्रा विवाह	— ,, ६५ वर्ष	—सं० ३०६३ वि० पू०
१३. अभिमन्यु–जन्म	— ,, ६७ वर्ष	—सं० ३०६१ वि० पू०
१४. युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ	— ,, ६८ वर्ष	—सं० ३०६० वि० पू०
१५. महाभारत युद्ध	— ,, ८३ वर्ष	—सं० ३०४५ वि० पू० की मार्गशीर्ष शु० १४
१६. कलियुग का आरंभ और परीक्षित का जन्म	—आयु ८४वर्ष	—३०४४ वि० पू० की चैत्र शु० १
१७. श्री कृष्ण का तिरोधान और द्वारका का अंत	—आयु १२० वर्ष[1]	—सं० ३००८ वि० पू०
१८. परीक्षित का राज-तिलक और पांडवों का हिमालय प्रस्थान	—	सं० ३००७ वि० पू०

---

(१) श्री कृष्ण पूर्णायु प्राप्त कर १२० वर्ष की अवस्था में परमधाम को गये थे। महाभारत के अनुसार उस समय तक उनके पिता वसुदेव जी जीवित थे। श्री कृष्ण वसुदेव जी के ८ वें पुत्र थे। यदि कृष्ण-जन्म के समय वसुदेव की आयु ४० वर्ष की मानी जाय, तब श्री कृष्ण के तिरोधान के समय वसुदेव जी की आयु १६० वर्ष की होती है; जो कलियुग की पूर्णायु (१२० वर्ष) से भी बढ़ जाती है। किंतु इसमें कोई शंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उस काल के बाद भी १५० से २०० वर्ष तक की आयु वाले व्यक्तियों की विद्यमानता इतिहास से सिद्ध होती है।

राधा का अनुसंधान—ब्रज संस्कृति में श्री कृष्ण के साथ राधा का ऐसा अन्योन्य संबंध है, कि एक के विना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । क्या धर्म, क्या साहित्य और क्या कला सभी क्षेत्रों में श्री कृष्ण के साथ राधा अनिवार्य रूप से दिखलाई देती है । कृष्णोपासक संप्रदायों में से कई में तो राधा का महत्व श्री कृष्ण से भी अधिक माना गया है । जब हम इस विषय का ऐतिहासिक अनुसंधान करते हैं, तब ज्ञात होता है कि राधा के इस अनुपम महत्व की परंपरा अधिक प्राचीन नहीं है । महाभारत, हरिवंश और विष्णु पुराण जैसे कृष्ण-चरित्र के प्राचीनतम ग्रंथों में राधा का नाम तक नहीं मिलता है । यहाँ तक कि श्री कृष्ण की ब्रज-लीलाओं का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ भागवत पुराण तक में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है ।

राधा के महत्व की प्राचीन परंपरा के इस अद्भुत अभाव ने अनेक देशी-विदेशी विद्वानों को राधा संबंधी अनुसंधान करने की प्रेरणा दी है । जिन विद्वानों ने कृष्ण संबंधी व्यापक शोध के एक सामान्य अंग के रूप में राधा का अनुसंधान किया है, उनमें सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का नाम उल्लेखनीय है । उनका मत है कि गोपाल, गोप और गोपियों की तरह राधा का संबंध भी उस विदेशी आभीर जाति से था, जो बाहर से आकर भारतवर्ष में बसी थी । आभीरों ने इस देश के बड़े भाग पर अधिकार कर अपने कई राज्य स्थापित किये थे । जब उनका आर्यों से संपर्क हुआ, तब उनकी राधा विषयक कथा कृष्ण-कथा के साथ सम्मिलित हो गई थी ।

राधा एक आभीर बाला थी, इस संबंध में अधिक विवाद नहीं है । विवाद इस बात में है कि आभीर जाति विदेशी थी या नहीं । आभीरों का विदेशी होना अनेक विद्वानों को स्वीकृत नहीं है । इस संबंध में डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है,—"इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रंथ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है । विष्णु पुराण में आभीर वंश का उल्लेख है । वायु पुराण में आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है ।……आभीर स्वयं अपने आपको यदुवंशी आहुक की संतति मानते हैं । महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ठ संबंध दिखलाया गया और लिखा है कि श्री कृष्ण की एक लाख नारायणी सेना मुख्यतः आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित हुई थी और युद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी[1] ।"

राधा संबंधी अनुसंधान का सबसे महत्वपूर्ण कार्य डा० शशिभूषण दासगुप्त ने किया है । उनका बंगला भाषा में लिखा हुआ शोध प्रबंध 'राधार क्रम विकास' इस विषय का अनुपम ग्रंथ है । यद्यपि उनके निष्कर्षों से पूर्णतया सहमत होना संभव नहीं है, तथापि उनके अनुसंधान से राधा विषयक अत्यंत महत्व की सामग्री उपलब्ध हो सकी है, इसमें संदेह नहीं । उनका मत है कि राधा-वाद का बीज भारतवर्ष के सामान्य शक्तिवाद में है । जो पहिले शुद्ध शक्तिरूपिणी थी, वही कालांतर में परम प्रेममयी राधा के रूप में परिणत हो गई । उन्होंने लिखा है—"क्या विचार की दृष्टि से, क्या भाषा की दृष्टि से—किसी भी दृष्टि से शैव–शाक्त तंत्रोक्त शक्तिवाद और वैष्णव शास्त्रोक्त शक्तिवाद में कोई खास पार्थक्य करना संभव नहीं मालूम होता । समजातीय भाव और विचार ही मानों भिन्न-भिन्न वातावरण में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट हुए हैं[2] ।"

---

(१) **भारतीय साधना और सूर-साहित्य,** (पृष्ठ १६४)

(२) **राधा का क्रम विकास,** (पृष्ठ ८०)

डा० दासगुप्त ने चाहें वैष्णव धर्म के राधापूजक संप्रदायों की मान्यताओं को ठीक तरह से नहीं समझा, फिर भी उनका यह कथन सर्वथा सत्य है कि "साहित्य का अवलंबन करके ही राधा का आविर्भाव और क्रम-प्रसार हुआ है[1] ।" साहित्य में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख हाल सातवाहन द्वारा संकलित 'गाहा सत्तसई' में मिलता है । उक्त रचना के अंतःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि उसका संकलन विक्रम संवत् के आरंभ में किया गया था; किंतु कुछ विद्वानों के मतानुसार उसमें राधा संबंधी गाथाएँ ६वीं शती के लगभग सम्मिलित की गई थीं । 'गाहा सत्तसई' के नाम का सर्व प्रथम उल्लेख भी ७वीं शती के बाणभट्ट कृत 'हर्ष चरित्र' में मिलता है । तथ्य चाहें कुछ भी हों, यह प्रायः निश्चित है कि ५वीं शती के पश्चात् राधा ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त कर लिया था । उस काल से ही राधा साहित्यिक रचनाओं के साथ ही साथ पुराणादि धर्म ग्रंथों में, पुरातात्विक अभिलेखों में तथा कला कृतियों में मिलने लगती है । कला कृतियों में सबसे प्राचीन पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त राधा-कृष्ण की एक युगल मूर्ति है, जो ७वीं अथवा ८वीं शताब्दी की मानी जाती है । राधा के उस आत्म प्रकाश की ज्योति देश के किसी विशेष भाग में ही प्रदीप्त हुई हो, यह बात नहीं है; वरन् उससे प्रायः समस्त भारतवर्ष एक साथ ही जगमगा उठा था ।

दक्षिण में माधुर्य भक्ति का प्रादुर्भाव आलवार भक्तों द्वारा माना जाता है । आलवार गण प्रायः निम्न जातियों के भक्त जन थे, जो ५वीं शती से ६वीं शती तक के विभिन्न काल में हुए थे । तमिल भाषा में 'आभीर' गोप को कहते हैं और तमिल प्रदेश में राधा को आभीरों की देवी माना गया है; किंतु वहाँ पर राधा का तमिल नाम 'नाप्पिन्नाई' मिलता है । आलवारों ने कृष्ण और नाप्पिन्नाई की माधुर्य भक्ति के मनोरम गीत गाये हैं, जो तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ।

विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये राधा संबंधी अनुसंधानों का निष्कर्ष यह है कि श्री कृष्ण का बाल्य जीवन मथुरा के निकट की जिस गोप-बस्ती में बीता था, वहाँ की एक आभीर बाला राधा का उनसे परिचय हुआ था । बाद में उन दोनों में घनिष्ट प्रेम हो गया था । उनके प्रेम की कथा युगों तक आभीर जाति में प्रचलित रही और वह लोक—जीवन के हिये का हार बनी रही । उसके कारण आभीरों में राधा प्रेमदेवी और कृष्ण बालदेवता के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे । राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत सबसे पहिले जन साधारण की प्राकृत भाषा में गाये गये और फिर उन्हें संस्कृत साहित्य में स्थान मिला । जब धार्मिक क्षेत्र में विष्णु की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, तब विष्णु के अवतार रूप में कृष्ण का और उनकी शक्ति के रूप में राधा का उल्लेख पुराणादि धर्म ग्रंथों में भी किया जाने लगा । कालांतर में कृष्णोपासक संप्रदायों के कारण राधा के महत्व की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई । इस प्रकार राधा का जितना पुराना संबंध साहित्य, धर्म और कला से है, उतना इतिहास से नहीं है ।

यदि प्राचीन परंपराओं को ऐतिहासिक रूप दिया जा सके, तो यह कहा जा सकता है कि राधा एक आभीर बाला थी और आभीर गो-पालक जाति थी, जो कृष्ण-काल में मथुरामंडल के आस-पास बड़ी संख्या में बसी हुई थी । आभीरों को विदेशी मानना ठीक नहीं है । वे भी आर्यों

---

(१) राधा का क्रम विकास, पृष्ठ १००

की भाँति भारतीय थे, किंतु उनकी संस्कृति कदाचित आर्यों से कुछ भिन्न थी; इसीलिए उन्हें आर्यों से प्रथक माना जाता है। कृष्ण का जन्म वृष्णि वंश के यादव क्षत्रियों में हुआ था, किंतु परिस्थिति वश उन्हें जन्मते ही गोपालक आभीरों की वस्ती में भेज दिया गया था। उनका बाल्य काल आभीरों के बालक-बालिकाओं के साथ वीता था। वहीं पर गोप बालिका राधा से उनका परिचय हुआ था, जो उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ बालोचित स्नेह में परिणत हो गया था।

श्री कृष्ण तो बाल्यावस्था वीतने पर गोप–बस्ती छोड़ कर मथुरा चले गये थे और फिर राजकीय कार्यों में इतने व्यस्त हुए कि वे अपने बाल संघाती आभीर गोपों के बालक–बालिकाओं को एक प्रकार से भूल ही गये थे; किंतु राधा किसी तरह कृष्ण को नहीं भूल सकी थी। युवा होने पर उसका विवाह रायाण नामक एक आभीर युवक के साथ हो गया, किंतु उन दोनों का दाम्पत्य संबंध कायम नहीं हो सका। राधा ने कभी रायाण को अपना पति नहीं माना। वह जीवन पर्यंत कृष्ण के नाम की ही माला जपती रही थी। इस प्रकार उस विरहणी बाला ने प्रेम की बलि–वेदी पर अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया था।

राधा–कृष्ण की यह प्रेम–कहानी युगों तक आभीर जाति में प्रचलित रही थी। कृष्ण वृष्णि वंश के महापुरुष माने गये और कालांतर में अवतार रूप में पूजे गये। वृष्णि वंश के क्षत्रिय श्री कृष्ण के राजकीय रूप के प्रशंसक और पूजक थे। उन्हें कृष्ण की गोप-लीलाओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। इस प्रकार कृष्ण अपने काल की दो जातियों में दो रूपों में पूजे जाने लगे। कालांतर में जब कृष्णोपासना का व्यापक प्रचार हुआ, तब उनके समग्र जीवन को शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। तभी उनके बाल्य काल की गोप-लीलाओं की संगति उनके युवा और प्रौढ़ काल की राजकीय जीवन घटनाओं से मिलाई गई। उसके फल स्वरूप राधा–कृष्ण की युगल जोड़ी ने पहिले साहित्य में और फिर धर्म में प्रवेश किया; तदनंतर उसकी अद्भुत आभा ने संस्कृति के समस्त अंगों को चमका दिया था।

संस्कृत वाङ्मय के ब्रह्मवैवर्त पुराण और गर्ग संहिता में राधा-कृष्ण की लीलाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ब्रजभाषा साहित्य की अनेक रचनाओं में इसका और भी विस्तृत कथन हुआ है। ब्रजभाषा कवियों ने जैसे मनोयोग पूर्वक राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का गायन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सूरदास ने जहाँ श्री कृष्ण की बाल–लीलाओं का सांगोपांग कथन किया है, वहाँ चाचा वृंदाबनदास ने राधा जी की बाल-लीलाओं पर विशद प्रकाश डाला है। ब्रज के वे दोनों भक्त-कवि अपने–अपने विषयों के विशेषज्ञ रहे हैं। श्री कृष्ण की जन्म तिथि भाद्रपद कृ० ८ मानी जाती है और राधा जी की जन्म तिथि भाद्रपद शु० ८। ब्रजभाषा के कई कवियों ने राधा-कृष्ण की जन्म कुंडलियाँ बना कर उनके ग्रहों से संबंधित फलादेश का भी कथन किया है। सूरदास का तत्संबंधी पद प्रसिद्ध है, जिसमें श्री कृष्ण के जन्म विषयक लग्न, नक्षत्र, योगादि का उल्लेख करते हुए जन्म-ग्रहों का विस्तृत फल भी लिखा गया है[1]। पद्माकर कवि के पौत्र और दतिया निवासी गदाधर भट्ट ने राधा जी की जन्म कुंडली बना कर उनके ग्रहों का फलादेश लिखा है[2]।

---

(१) **सूरसागर,** (नागरी प्रचारिणी सभा), पद संख्या ७०४

(२) **देशबंधु, मथुरा,** (वर्ष २, अंक १–२, पृष्ठ ६६–६७)

श्री कृष्ण का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत—

जन्म–स्थान—श्री कृष्ण के जन्म–स्थान के संबंध में मथुरा का नाम प्रसिद्ध है । पहिले लिखा जा चुका है, शत्रुघ्न जी ने मथुरा की स्थापना प्राचीन मधुवन के उस भाग में की थी, जहाँ अब महोली गाँव है । उस काल में यमुना नदी भी वहीं प्रवाहित होती थी । कालांतर में यमुना का प्रवाह हट जाने से अथवा कुछ अन्य कारणों से मथुरा की आदिम बस्ती अपने पूर्व स्थान से हट कर उस भू-भाग पर बस गई, जहाँ अब भूतेश्वर महादेव, केशवदेव जी और महाविद्या के मंदिर हैं । यमुना नदी भी उस काल में उसी स्थल पर प्रवाहित होने लगी थी । मधुबन का विशाल बन समाप्त होते-होते एक छोटी बनखंडी बन गया था; किंतु १६वीं शताब्दी तक भी मथुरा को मधुवन अथवा मधुपुरी से अभिन्न समझा जाता था । सूरदास ने कृष्ण–लीला के विविध प्रसंगों का कथन करते हुए मथुरा, मधुपुरी और मधुबन को समान अर्थ में प्रयुक्त किया है[1] ।

श्री कृष्ण के जन्म के समय मथुरा का राजा कंस था, जो चंद्रवंशी यादव क्षत्रियों की अंधक शाखा का अधिपति था । कंस बड़ा अत्याचारी राजा था । उसका कारागार उस स्थल पर था, जहाँ अब केशवदेव जी का पुराना मंदिर है । कंस ने उक्त कारागार में अपने पिता उग्रसेन और बहन–बहनोई देवकी–वसुदेव को कैद कर रखा था । वहाँ पर ही श्री कृष्ण का जन्म हुआ था । वह स्थान अब भी 'कृष्ण–जन्मभूमि' के नाम से प्रसिद्ध है । वह मथुरा की दूसरी बस्ती थी, जो कृष्ण–काल से लेकर महमूद गज़नवी के आक्रमण–काल ११वीं शती तक उसी स्थान पर बसी हुई थी; किंतु उसका विस्तार वर्तमान कंकाली टीला से लेकर चौरासी के जैन मंदिर तक था ।

जन्म और आरंभिक जीवन—श्री कृष्ण का जन्म सं० ३१२८ विक्रम पूर्व में मथुरा नगर के राजकीय कारागार स्थित उस सूने गृह में हुआ था, जहाँ राजा कंस ने उनके माता-पिता देवकी और वसुदेव को कैद कर रखा था । कंस को ज्ञात था कि देवकी गर्भवती है और शीघ्र ही उसका प्रसव होने वाला है । उसे बतलाया गया था कि देवकी के पुत्र द्वारा ही उसकी मृत्यु होगी, अतः वह इस ताक में था कि जन्म लेते ही बालक को समाप्त कर दिया जाय । इसके लिए उसने

---

(१) १. इहै सोच अक्रूर परचौ ।
लिए जात इनकों मैं 'मथुरा', कंसहि महा डरचौ ॥३६३१॥
२. 'मथुरा' असुर-समूह बसत है, कर कृपान जोधा हत्यारे ।
सूरदास ये लरिका दोऊ, इन कब देखे मल्ल–अखारे ॥३५८६॥
३. कहा काज मेरे छगन–मगन कौ, नृप 'मधुपुरी' बुलायौ । ३५६१।
४. इन्हैं कहा 'मधुपुरी' पठाऊँ, राम–कृष्ण दोऊ जन बारे ॥३५८६॥
५. सूर तिन्हैं लै चले 'मधुपुरी', हिरदै सूल बढ़ाइ ॥३५६०॥
६. 'मधुबन' चलन कहत हैं सजनी, इन नैननि की मूर । ३५७६।
७. गोपालहिं राखहु 'मधुबन' जात । ३६०७।
८. आतुर रथ हाँक्यौ 'मधुबन' कों, ब्रज जन भए अनाथ । ३६११।
९. 'मधुबन' देस कान्ह कुबिजा संग, बनी सूर रजधानी ॥४२४५॥
—सूरसागर (नागरी प्रचारिणी सभा)

पहिले से ही पूरा प्रबंध कर रखा था। उधर वसुदेव-देवकी भी बड़े चिंतित और सतर्क थे। वे जानते थे कि यदि जन्म लेते ही बालक को कारागार से हटा कर किसी सुरक्षित स्थान पर नहीं भेजा गया, तो निर्दयी कंस उसे अवश्य मार डालेगा। उस बालक की प्राण–रक्षा के लिए उन्होंने अपने कतिपय हितैषी मित्रों की सहायता से यह योजना बनाई थी कि जन्म लेते ही बालक को तत्काल यमुना पार की बीहड़ बस्ती में भेज दिया जाय, जहाँ उनके मित्र नंद गोप गुप्त रीति से उसका पालन–पोषण करें और कंस को भुलावे में डालने के लिए तत्काल जन्मे हुए किसी दूसरे बालक को कारागार में मँगा लिया जाय।

अर्ध रात्रि के समय देवकी के गर्भ से एक अत्यंत सुंदर और तेजस्वी बालक का जन्म हुआ था। माता–पिता अपने प्यारे पुत्र को भली भाँति देख भी नहीं पाये कि वे उसकी सुरक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टा करने लगे। पूर्व योजना के अनुसार बालक को रातों–रात यमुना पार की गोप–बस्ती में भेज दिया गया और नंद गोप की तत्काल उत्पन्न कन्या को वहाँ से मँगा लिया गया। वह कार्य ऐसी सावधानी, शीघ्रता और कुशलता से संपन्न हुआ कि कंस को उस षड्यंत्र की गंध भी नहीं मिली। प्रातःकाल होने पर जब वह कारागार में गया, तो उसने गोपराज की शिशु कन्या को देवकी की गोद में से छीन लिया और एक ही वार में उसका काम तमाम कर डाला। पहिले तो उसने समझा कि उसका प्राणघाती शत्रु सदा के लिए समाप्त हो गया; किंतु शीघ्र ही उसे अपनी भूल मालूम हो गई। वह इस बात के लिए बड़ा दुखी हुआ कि इतनी चेष्टा और सावधानी करने पर भी उसका वास्तविक शत्रु बच कर निकल गया और उस निर्दोष कन्या की व्यर्थ में जान ली गई। इस प्रकार भाद्रपद मास की अँधेरी काली रात में श्री कृष्ण का जन्म हुआ और बड़ी विचित्र तथा भयावह परिस्थिति में उन्हें जन्म लेते ही गोकुल भेज दिया गया था।

गोकुल का शैशव काल—यमुना पार की उस गोप–बस्ती में वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी कुछ समय पहिले से ही विद्यमान थी, जहाँ उसने बालक बलराम को गुप्त रीति से जन्म दिया था। नंद गोप की पत्नी यशोदा ने कृष्ण-बलराम को अपने पुत्र मान कर उनका बड़े स्नेह से पालन–पोषण किया था। गोकुल के समस्त गोप-परिवार भी यही समझते थे कि कृष्ण और बलराम नंद–यशोदा के ही बालक हैं।

गोकुल की वह बस्ती प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण हरे–भरे मैदानों में थी, जहाँ आभीर जाति के गोपगण अपने गो–धन के साथ सुखपूर्वक निवास करते थे। उनकी जीविका का आधार गाय थीं, जिन्हें घास के विस्तृत मैदानों में चराते हुए वे प्रायः विचरण किया करते थे। उसके लिए वे मथुरा के राजा को कुछ वार्षिक कर देते थे। नंद गोप उनका प्रमुख सरदार था। उसके अतिरिक्त वृषभानु, उपनंद आदि अन्य सरदार भी थे।

कृष्ण और बलराम दोनों भाई गोप बालकों के साथ खेलते थे। उनकी तरह ही बनों में जाकर गाय चराते थे और नाना प्रकार की बाल–लीलाएँ करते थे। उनके अद्भूत सुंदर स्वरूप और उनकी विचित्र बाल–क्रीड़ाओं ने गोकुल के समस्त गोप–गोपियों को मोह लिया था। वे लोग उनके क्रीड़ा–कौतुक को देख कर फूले नहीं सँमाते थे और दिन–रात उसी आनंद में मग्न रहते थे।

जब कंस को यह भली भाँति ज्ञात हो गया कि देवकी का वास्तविक पुत्र और उसका शत्रु अभी जीवित है और वह गोप–बस्ती में कहीं छिपा हुआ है, तो उसने पूतना नामक एक माया-

विनी नारी को उन्हें ढूँढ़ कर मार डालने के लिए भेजा। पूतना वेश बदल कर गोकुल में घूमने लगी और तत्काल के उत्पन्न बच्चों को छलपूर्वक मारने लगी। एक दिन वह अपने स्तनों में विष लगा कर नंद के निवास स्थान में भी पहुँच गई। वहाँ पर पालने में सोये हुए कृष्ण को उठा कर वह एकांत में ले गई और उन्हें मारने के विचार से अपने विषैले स्तनों से उन्हें दूध पिलाने लगी। उसका वह कुचक्र सफल नहीं हुआ और कृष्ण को मारने के बजाय वह स्वयं ही मारी गई।

एक दिन कृष्ण एक गाड़ी में सो रहे थे। उनके बार--बार हाथ-पैर हिलाने से वह गाड़ी किसी प्रकार उलट गई। कृष्ण उसके नीचे आ गये, किंतु सौभाग्य से उनके कोई चोट नहीं लगी। जब बालक कृष्ण घुटनों के बल रेंगने लगे, तो वे शयनागार से निकल कर आँगन तक आने लगे। आँगन में अर्जुन के दो जुड़वाँ (यमलार्जुन) वृक्ष लगे हुए थे। एक दिन जब वे रेंगते हुए उन वृक्षों के निकट आये, तब अचानक ही वे विशाल वृक्ष जड़ से उखड़ कर गिर पड़े। कृष्ण उस समय भी बाल-बाल बच गये थे। वृक्षों के गिरने की आहट सुन कर सब लोग नंद--भवन की ओर दौड़ पड़े। नंद-यशोदा भी अपने बालक के चोट लगने की आशंका से बड़े व्याकुल होते हुए वहाँ भाग कर आये, किंतु कृष्ण को सकुशल खेलते हुए देख कर सबको बड़ा आश्चर्य और हर्ष हुआ।

गोकुल से वृंदाबन को—इस प्रकार कई दुर्घटनाओं के लगातार होने से गोप समुदाय को गोकुल में रहना अशुभ जान पड़ने लगा, अतः वे उक्त स्थान को छोड़कर किसी ऐसे स्थल में बसने का विचार करने लगे, जहाँ उनकी गायों के लिए चारा-पानी की बहुतायत हो और साथ ही सुरक्षा का भी प्रबंध हो। नंद, उपनंद, वृषभानु आदि वयोवृद्ध गोप सरदारों ने उस समस्या पर विचार--विमर्श किया और अंत में उन्होंने यमुना पार के विशाल बीहड़ वृंदाबन की ओर जाने का निश्चय किया। ऐसा निश्चय होने पर उन्होंने अपने समस्त सामान को छकड़ों पर लादा और स्त्री, बच्चों तथा गो-समूह को लेकर गोकुल से चल दिये। उस समय श्री कृष्ण की आयु प्रायः ४ वर्ष थी और बलराम की ५ वर्ष की। उस समय का गोकुल संभवतः वर्तमान महाबन के निकट था। वर्तमान गोकुल अब से प्रायः चार सौ वर्ष पूर्व गोसाईं विट्ठलनाथ जी द्वारा बसाया गया था।

वृंदाबन का निवास और बाल लीलाएँ—गोकुल से निष्क्रमण करने वाले गोप समुदाय ने उत्तर दिशा की ओर चल कर और मथुरा नगर की सीमा से पर्याप्त दूर जाने पर यमुना नदी की मुख्य धारा को पार किया। इस प्रकार उन्होंने एक ऐसे विशाल और बीहड़ बन में प्रवेश किया, जहाँ यमुना कई धाराओं में प्रवाहित होती थी। वह विशाल बन्य प्रदेश वृंदाबन कहलाता था। उसके एक ओर गोबर्धन की पहाड़ी थी और दूसरी ओर यमुना की धाराओं से सिंचित कई हरे-भरे मैदान तथा सघन बन थे। वह समस्त प्रदेश सुरक्षा और गायों के चारे-पानी की दृष्टि से अत्यंत सुविधाजनक था। उस समय का वृंदाबन वर्तमान नंदग्राम, बरसाना और कामबन से लेकर गोबर्धन तक विस्तृत था। वर्तमान वृंदाबन उसी का एक छोटा भाग है, जो अबसे प्रायः चार सौ वर्ष पूर्व कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा बसाया गया था।

नंदादि गोपों ने वृंदाबन स्थित यमुना की एक धारा के तटवर्ती रमणीक क्षेत्र में अपना डेरा डाला। वहाँ गायों के लिए पर्याप्त हरे-भरे मैदान थे और बनों में खूब फल-फूल थे। वहाँ से कुछ दूरी पर गोबर्धन पहाड़ी थी; जो वृक्ष, लता, गुल्म, निर्झर और कंदराओं से शोभायमान थी। उसी रम्य स्थल में गोप समुदाय ने अपनी बस्ती बसा कर रहना आरंभ किया था। ऐसा समझा जाता है, पहिले

नंदराय जी के डेरे वर्तमान छटीकरा से रार तक पड़े थे और वृषभानु जी के बसति गाँव तक थे। बाद में वे दोनों गोप सरदार वृंदाबन के उस भाग में जाकर रहे थे, जिसे अब नंदगाँव-बरसाना कहते हैं। वह नई बस्ती जहाँ आवास, सुरक्षा और चारे-पानी की दृष्टि से सुविधापूर्ण थी, वहाँ जंगली हिंसक जीवों तथा नागादि अनार्य जाति के क्रूर लोगों के कारण कुछ असुविधाजनक भी थी। वहाँ सुखपूर्वक रहने के लिए यह आवश्यक था कि उक्त स्थल को उन असुविधाओं से मुक्त किया जाय। उसके लिए कृष्ण-बलराम ने अनेक जंगली जीवों से संघर्ष किया था। उसका वर्णन आगे हुआ है।

बाल–नटखटी—कृष्ण-बलराम आभीर गोपों के बालक-बालिकाओं के साथ नाना प्रकार के खेल खेलते थे। वे आभीर बालाओं को जहाँ अपनी बाल-क्रीड़ाओं से आनंदित करते थे, वहाँ अपने नटखटपन से उन्हें परेशान भी करते थे; किंतु इसमें भी उन्हें सुख ही मिलता था। कभी-कभी कृष्ण अपने बाल सखाओं को लेकर किसी गोपी के सूने घर में घुस जाते थे और उसके दधि-माखन को आपस में बाँट कर खा लेते थे। पकड़े जाने पर वे ऐसी भोली बातें बनाते कि वह गोपी अपना रोष भूल कर हँस पड़ती और उन्हें प्यार से पुचकार कर छोड़ देती थी। कभी पनघट से पानी भर कर लाती हुई नारियों के घड़ों को कंकड़ी की मार से तोड़ कर भाग जाते थे, कभी स्नान करती हुई बालाओं के कपड़े छिपा देते थे और कभी गोशालाओं में जाकर चुपचाप गो-वत्सों को खोल देते थे, जिससे वे गायों का सब दूध पी जाते थे। उन सब बातों से गोप-गोपियों को उन पर क्षणिक रोष भी होता था, किंतु उनकी मधुर मुस्कान और भोली-भाली बातों से वे शीघ्र ही अपना रोष भुला कर उन्हें प्यार करने लगते थे।

गो–चारण—कुछ बड़े होने पर वे गायों को चराने के लिए जंगलों में ले जाने लगे और वहाँ पर नाना प्रकार के खेल करने लगे। इसी प्रकार के खेल-कूद में उन्होंने ऐसे अनेक जंगली जीवों का संहार किया था, जिन्होंने बस्ती के निकटवर्ती बनों में बड़ा उत्पात मचा रखा था। उनमें जंगली बछड़ा (वत्सासुर), विशाल बगुला (बकासुर), अजगर (अघासुर), जंगली गधा (धेनकासुर), जंगली बैल (अरिष्टासुर) और एक जंगली घोड़ा (केशी) के संहार संबंधी घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तब तक कृष्ण-बलराम ८-९ वर्ष के हो गये थे। माखन-दूध का प्रचुरता से खान-पान करने और कुश्ती-कसरत तथा बलवर्धक खेल-कूद में निरंतर लगे रहने से उनका शरीर खूब बलिष्ट और हृष्ट-पुष्ट हो गया था। वे अपनी आयु के अन्य बालकों की अपेक्षा कहीं अधिक बलशाली और वयष्क दिखलाई देते थे।

कालिय नाग का दमन—कृष्ण–बलराम ने गोप–बस्ती और उसके निकटवर्ती बनों को जंगली जीवों के उपद्रव से तो मुक्त कर दिया, किंतु अनार्य जाति के असभ्य नागों का आतंक अभी बना हुआ था। मथुरा के यादवों ने उन नागों को पराजित कर बस्ती से भगा दिया था; इसलिए वे यमुना किनारे के बीहड़ बनों में छिप कर रहते थे। वे लूट-मार और चोरी आदि कुकृत्य किया करते थे। उन लोगों के कई दल थे और उनके कई सरदार थे। दो–एक नाग सरदारों ने यादवों और गोपों से मित्रता कर ली थी, किंतु अधिकांश उनसे शत्रुता का ही व्यवहार करते थे।

उन नागों का एक सरदार अनंत नाग था, जो वसुदेव और नंद का मित्र था। उसने कंस के कारागार से बालक कृष्ण को नंद की गोप बस्ती में पहुँचाने के कठिन काम में बड़ी सहायता की थी। नागों का एक दूसरा सरदार कालिय था, जो दुष्ट प्रकृति का था और गोपों से बड़ी शत्रुता

रखता था। वह वृंदावन की गोप-बस्ती से कुछ दूर यमुना किनारे के एक निर्जन बन में अपने परिवार और साथियों के साथ रहता था। उस तरफ जाने वाले गोपों को वह लूट लेता था और उनके पशुओं को छीन लेता था। उसके आतंक से किसी को भी उधर जाने का साहस नहीं होता था। एक बार कृष्ण अपने साथी ग्वाल बालों को लेकर यमुना किनारे के उस बन में गेंद खेलने चले गये, जहाँ कालिय नाग का डेरा था। वहाँ पहुँचने पर उनका कालिय से संघर्ष हो गया। कृष्ण उससे भिड़ गये और पछाड़ कर उसके ऊपर चढ़ बैठे। उन्होंने उसे इतना झकझोरा कि उसकी हड्डी-पसली ढीली हो गईं। अंत में उसे इस शर्त पर छोड़ा कि वह अपने परिवार सहित वहाँ से हट कर अन्यत्र चला जावेगा। इस प्रकार कालिय नाग को भगा कर श्री कृष्ण ने वृंदावन की गोप बस्ती को एक बड़े संकट से मुक्त कर दिया था।

चीर हरण—गोप-बालाएँ जब यमुना–स्नान के लिए जाती थीं, तब वे अपने वस्त्र उतार कर किनारे पर रख देती थीं और आप नग्न होकर यमुना में प्रवेश करती थीं। उनका वह आचरण श्री कृष्ण को पसंद नहीं आया। उन्होंने उनसे मना किया, किंतु उनके कथन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। एक दिन वे नंगी नहाती हुई गोपियों के सभी वस्त्रों लेकर यमुना किनारे के वृक्ष पर चढ़ गये। जब गोपियाँ स्नान कर चुकीं, तब अपने वस्त्रों को वहाँ न देख कर वे बड़ी हैरान हुईं। तभी उन्होंने कृष्ण को वस्त्रों के साथ पेड़ पर बैठे हुए देखा। उन्होंने विनय पूर्वक अपने वस्त्र माँगे; किंतु कृष्ण ने उन्हें तभी दिया, जब उनसे नग्न होकर स्नान न करने का वचन ले लिया। इस प्रकार उन्होंने गोपियों की उस अशिष्टतापूर्ण आदत को छुड़ा दिया था।

गोबर्धन पूजा—कृष्णकालीन युग में आर्यों का सर्वप्रधान देवता 'इंद्र' था। वर्षा की समाप्ति और शरद के आगमन पर प्राचीन ब्रज प्रदेश के निवासी प्रति वर्ष एक बड़े उत्सव का आयोजन करते थे, जो उस राष्ट्रीय देव इंद्र के निमित्त एक यज्ञ के रूप में होता था। आर्यों के अनुकरण पर वहाँ के गोप समुदाय में भी वह उत्सव प्रचलित हो गया था। उस समय गोपों के घरों में नाना प्रकार के व्यंजन बनते थे और पूजा–सामग्री का संकलन किया जाता था। सभी गोप गण अपने स्त्री-बच्चों सहित नवीन वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर इंद्र की पूजा बड़े उत्साह से करते थे। उनका विश्वास था कि उससे प्रसन्न होकर इंद्रदेव वर्षा द्वारा धन-धान्य की वृद्धि करते हैं। श्री कृष्ण को गोपों की वह पूजा पसंद नहीं आई। उन्होंने बड़ी युक्तिपूर्वक उसका विरोध किया। उन्होंने कहा—"ब्राह्मण मंत्र–यज्ञ करते हैं और कृषक हल-यज्ञ करते हैं। हम न तो ब्राह्मण हैं और न कृषक; हम वणिक भी नहीं हैं; बल्कि बनवासी गोप हैं। हमारे देवता हमारी गायें हैं और वही हमारी जीविका का आधार हैं। उनके भरण-पोषण के आधार बन-पर्वत आदि हैं; जहाँ अपनी गायों को लेकर हम घूमा करते हैं। इसलिए हमें गोबर्धन स्वरूप पर्वत देवता और धरती माता की पूजा के लिए 'पर्वत-यज्ञ' करना चाहिए[१]।" इंद्र से हमको क्या लेना-देना है! जिस गोबर्धन से हमें दूध, दही, घृत और धन-धान्यपूर्ण समृद्धि प्राप्त होती है, उसी की पूजा करना हमारा कर्त्तव्य है। श्री कृष्ण के उस युक्तिपूर्ण परामर्श के अनुसार समस्त गोपों ने इंद्र-पूजा की परंपरागत प्रथा को समाप्त कर बड़े हर्षोल्लास पूर्वक गोबर्धन-पूजा का आयोजन किया था।

---

(१) विष्णु पुराण, (५, १०-२५, ३२, ३३) हरिवंश में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।

उस वर्ष संयोग से बड़ी भारी वर्षा हुई, जिससे समस्त गोप-बस्ती के बह जाने का संकट उपस्थित हो गया था। सब लोग हा-हाकार करने लगे। उन्होंने समझा कि इंद्र की पूजा न होने से ही यह भीषण विपत्ति आई है। कृष्ण ने सब लोगों को सान्त्वना दी और उन्हें परामर्श दिया कि वे वर्षा और बाढ़ से बचने के लिए गोबर्धन देव की ही शरण में जाँय। निदान समस्त गोप–परिवार अपनी गायों को और आवश्यक सामान को लेकर गोबर्धन पहाड़ी की कंदराओं में रहने के लिए चले गये। वे वहाँ पर तब तक रहे, जब तक वर्षा का वेग शांत नहीं हुआ। इस प्रकार कृष्ण ने गोप-बस्ती को वर्षा और बाढ़ के संकट से बचा लिया और इंद्र के कुपित हो जाने का उनका मिथ्या विश्वास भी दूर कर दिया। ब्रजमंडल में सदा के लिए इंद्र की पूजा बंद हो गई और उसके स्थान पर गो-गोपों को चारा–घास और अन्न-जल प्रदान करने वाली धरती माता तथा उसके आधार पर्वत स्वरूप गोबर्धन देव की पूजा प्रचलित हुई। उससे ब्रज में काल्पनिक देवी-देवताओं की अवमानता और प्रत्यक्ष देवता के सन्मान की क्रांतिकारी विचार-धारा का उदय और प्रचार हुआ।

दान—वृंदाबन की गोप-बस्ती में जितना दूध, दही और मक्खन होता था, उसका अधिकांश ब्रज की गोपियों द्वारा मथुरा जाकर बेच दिया जाता था और वह कंस तथा उसके अत्याचारी संगी–साथी तथा सेवकों के उपभोग में आता था। कृष्ण ने उस पौष्टिक आहार के निर्यात को रोकने के लिए उस पर भारी कर (दान) की घोषणा की। इससे वह समस्त सामग्री मथुरा न जाकर ब्रज की गोप–जनता के उपयोग में ही आने लगी। उक्त पौष्टिक खाद्य पदार्थों के सेवन से ब्रज के गोपगण खूब हृष्ट–पुष्ट और बलिष्ट हो गये थे। फिर कृष्ण–बलराम ने उन्हें कुश्ती–कसरत, व्यायाम और सैनिक शिक्षा की व्यवस्था द्वारा एक शक्तिशाली गोप-सेना के रूप में संगठित कर दिया था। इस प्रकार वे कंस के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने और समय आने पर उससे बदला लेने की तैयारी करने लगे।

केलि-क्रीड़ा और रास—श्री कृष्ण की बाल लीलाओं में ब्रज की गोप–बालाओं के साथ और अधिकतर सुंदरी राधा के साथ उनके बाल सुलभ क्रीड़ा–कौतुक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वृंदाबन की गलियाँ, यमुना की कछारें, गिरिराज गोबर्धन की कंदराएँ और सघन बनों की रमणीक कुंजें उनकी केलि–क्रीड़ा से रससिक्त हो गई थीं। वर्षा ऋतु का अंत होने पर जैसे ही शरद ऋतु का आगमन होता कि कृष्ण कालीन ब्रज में नाना प्रकार के खेल-कूद, आमोद–प्रमोद और उत्सव–समारोहों का आयोजन हुआ करता था। शरद की निर्मल चाँदनी रातों में गायन, वादन, नृत्य और नाट्य से संबंधित सामूहिक कार्यक्रम होते थे। उस समय गोपों के बालक और बालिकाएँ खुले मैदानों तथा बन–उपबनों में एकत्र होकर नाना प्रकार के राग–रंग में तल्लीन हो जाते थे। ऐसे ही एक रात्रिकालीन संगीत–समारोह का नाम 'रास' था। वह शरद ऋतु में आश्विन और कार्तिक माह की पूर्णमासी को विशेष समारोह पूर्वक सम्पन्न होता था। वैसे चैत्र और वैशाख की पूर्णमासी को भी रास के आयोजन किये जाते थे, जिन्हें क्रमशः 'शरद रास' और 'बसंत रास' कहते थे। रास में गोप–बालाएँ गायन–वादन के साथ नृत्य किया करती थीं।

कृष्ण बड़े सुंदर, स्वस्थ और आकर्षक बालक थे। वे वंशी बजाने और नृत्य करने में बड़े कुशल थे। रास में जब गोप बालाएँ नृत्य करती थीं, तब कभी-कभी कृष्ण भी उसमें सम्मिलित हुआ करते थे। वे वंशी बजाते थे और स्वयं भी गोप–बालाओं के साथ नृत्य में भाग लेते थे।

उनके सम्मिलित होने पर रास नृत्य का आनंद चौगुना बढ़ जाता था, इसलिए गोपियाँ कृष्ण के साथ रास करने को सदैव इच्छुक रहा करती थीं ।

पुराणों में गोपियों के साथ कृष्ण के रास करने के बड़े सरस वर्णन मिलते हैं, जिनमें कुछ लोगों को उनकी कामुकता का संदेह होने लगता है । किंतु इस प्रकार का संदेह सर्वथा निरर्थक और निराधार है । उस समय श्री कृष्ण ११ वर्ष के बालक थे । उस आयु के बालक से काम-क्रीड़ा अथवा कामुकता की आशंका करना हास्यास्पद है । यदि यह मान लिया जाय कि गोपियाँ वासना-पूर्ण विषय सुख की इच्छा से ही कृष्ण के प्रति प्रेरित हुई थीं, तब भी उससे श्री कृष्ण का महत्व बढ़ जाता है । उन्होंने गोपियों की सकाम वासना को निष्काम प्रेम में परिवर्तित कर दिया था, जिससे उनके हृदय के कपाट खुल गये थे । उसका यह परिणाम हुआ कि जब श्री कृष्ण मथुरा चले गये, तब भी गोपियाँ उनके निकट न जाकर उनसे दूर रह कर ही निष्काम भक्ति में लीन रही थीं ।

कंस की कूटनीति—धीरे-धीरे कंस और उसकी समस्त प्रजा को यह भली भाँति विदित हो गया कि देवकी–वसुदेव के पुत्र जीवित हैं और वे कंस से निर्भय होकर गोप-बस्ती में सुखपूर्वक निवास करते हैं । कंस के अत्याचारों से पीड़ित प्रजा स्वाभाविक रूप से कृष्ण–बलराम के प्रति सहानुभूति रखती थी और उनसे आशा करती थी कि समय आने पर वे अवश्य ही कंस से बदला लेंगे । कंस भी अपनी प्रजा के उस दृष्टिकोण को समझता था, इसलिए विद्रोह की आशंका से वह प्रकट रूप में कृष्ण–बलराम के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करना चाहता था । वह कूटनीति और छल–कपट से ही अपने शत्रुओं को ठिकाने लगाने का उपाय सोचने लगा ।

कृष्ण–बलराम ने बाल्यावस्था में ही ऐसे अद्भुत और अलौकिक कृत्य किये थे तथा गोप समुदाय पर उनके इतने उपकार थे कि वे ब्रज में अत्यंत लोकप्रिय हो गये थे । ब्रज के निवासी स्त्री–पुरुष और बच्चे-बूढ़े सभी उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारा मानते थे और उन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे । कंस को उनकी वह लोकप्रियता काँटे के समान चुभती थी । वह दिन-रात यही सोचा करता था कि किस प्रकार उस चमत्कारी बालक को समाप्त किया जाय ।

बहुत सोच–विचार के पश्चात् कंस ने मथुरा में एक वृहत् उत्सव के आयोजन करने का विचार किया और उसमें सम्मिलित होने के लिए अपने राज्य के समस्त प्रमुख व्यक्तियों को निमंत्रित किया । उसने वह निमंत्रण गोपराज नंद जी के पास भी भेजा और उनसे आग्रह किया कि वे अपने बालकों के साथ उसमें अवश्य सम्मिलित हों । कंस के दानाध्यक्ष के पद पर अक्रूर नामक यादव सरदार था, जो अंधक–वृष्णि संघ का एक प्रभावशाली नेता भी था । वह वसुदेव, नंद और कृष्ण–बलराम का भी सुहृद और हितैषी समझा जाता था । उत्सव की तिथि के निकट आने पर कंस ने अक्रूर को अपना व्यक्तिगत दूत बना कर नंदराय जी के पास भेजा, ताकि वह उन्हें और कृष्ण–बलराम को उत्सव में लिवा लावे । उसने सोचा था कि अक्रूर के साथ आने में उन्हें कोई संदेह भी नहीं होगा । इधर कंस ने गुप्त रूप से ऐसी व्यवस्था की थी कि उत्सव में आने पर कृष्ण-बलराम जीवित बच कर वापिस ही न जा सकें ।

वृंदाबन से प्रस्थान—कंस का संदेश लेकर अक्रूर वृंदाबन की ओर चल दिया । वहाँ पहुँचने पर नंदराय ने उसका बड़ा स्वागत–सत्कार किया । जब उत्सव में जाने का प्रश्न उपस्थित

हुआ, तब नंदराय अपने प्रमुख साथियों सहित स्वयं जाने को तो प्रस्तुत हो गये; किंतु वे कृष्ण–बलराम को साथ में ले जाने को राजी नहीं हुए; क्यों कि वे कंस की कुटिल चालों से शंकित थे। अक्रूर ने उन्हें समझाया कि कृष्ण–बलराम अब बच्चे नहीं रहे। उनकी भविष्यत् उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि वे राजकीय आयोजनों में भाग लिया करें। इसके अतिरिक्त मथुरा जाने पर उन्हें अपने माता–पिता से मिलने का भी सुयोग मिलेगा।

अक्रूर के उक्त कथन पर नंदादि वरिष्ट गोपगण तो किसी प्रकार सहमत हो गये; किंतु कृष्ण–बलराम के साथ क्रीड़ा करने वाले बालकों और बालिकाओं ने उसका बड़ा विरोध किया। वे अपने बाल–सखाओं को पल भर के लिए भी अपने से दूर नहीं होने देना चाहते थे। उन्हें ऐसी आशंका होने लगी कि मथुरा जाने पर फिर कृष्ण–बलराम का वापिस आना संभव नहीं होगा। उस आशंका से उनके हृदय फटने लगे। ब्रज की गोप–बालिकाएँ और बालक गण आँसू बहाते हुए मथुरा जाने वाले रथों के आगे खड़े हो गये। उन्होंने मार्ग को रोक कर कृष्ण-बलराम से मथुरा न जाने का साग्रह अनुरोध किया। अक्रूर बड़े असमंजस में पड़ गया। उसको समझ में नहीं आया कि उन प्रेमाकुल ब्रजवासियों को किस प्रकार समझाया जावे। अंत में स्वयं कृष्ण ने ही समझा–बुझा कर सबको शांत किया। इस प्रकार समस्त गोप-बस्ती को शोक–सागर में निमग्न कर कृष्ण–बलराम नंदादि प्रमुख गोप सरदारों तथा अक्रूर के साथ मथुरा को चल दिये।

मथुरा-आगमन—जब कृष्ण–बलराम सहित गोप मंडली मथुरा पहुँची, तब संध्या हो गई थी। अक्रूर ने गोपों को ठहराने की समुचित व्यवस्था कर दी और कृष्ण–बलराम को वह अपने घर ले गया। उसने उन लोगों के आगमन की सूचना कंस के पास भेज दी, जिसे जान कर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। अब कंस कृष्ण–बलराम को युक्तिपूर्वक ठिकाने लगाने का उपक्रम करने लगा। उसने उत्सव भवन के प्रमुख द्वार पर एक मदमस्त हाथी को खड़ा कर दिया था और अंदर मल्लशाला में बड़े-बड़े मल्लों को नियुक्त किया था। उसने हाथीवान को गुप्त आदेश दिया कि जैसे ही कृष्ण–बलराम उत्सव भवन में प्रवेश करें, वैसे ही वह उन पर हाथी पेल कर उनका बध करा दे। कंस ने समझा था कि उक्त कार्यवाही एक आकस्मिक दुर्घटना मानी जावेगी और लोगों को कंस की नियत पर संदेह नहीं होगा। यदि किसी प्रकार कृष्ण–बलराम हाथी से बच भी गये, तब अंदर मल्लशाला में मल्लयुद्ध के बहाने उनका प्राणांत करा दिया जावेगा।

कृष्ण–बलराम के मथुरा पहुँचने का समाचार सुनते ही नगर निवासियों में बड़ी हल-चल मच गई थी। सब लोग उन्हें देखने को उतावले हो उठे थे। उधर कृष्ण–बलराम भी नगर भ्रमण को चल दिये। उन्होंने इतना बड़ा नगर और वहाँ का ऐसा विशाल वैभव पहिले नहीं देखा था, अतः वे बड़े मनोयोग पूर्वक वहाँ की प्रत्येक वस्तु को देखने लगे। वे जहाँ भी जाते थे, वहीं नर-नारियों की दृष्टि उनके शक्तिशाली सुंदर स्वरूप पर अटक जाती थी। उन्हें देख कर सब लोगों को आशा हो गई कि अब कंस के अत्याचारों से मुक्ति पाने का समय आ गया है। जब कृष्ण-बलराम गोपगण के साथ मथुरा नगर का निरीक्षण कर रहे थे, तब उन्हें कंस के राजकीय सेवक–सेविकाओं से मिलने का सुअवसर मिला था। उनमें से जिसने उनके प्रति सद् व्यवहार किया, उसे उन्होंने पुरस्कार दिया तथा जिसने अशिष्ट व्यवहार किया, उसे उन्होंने निर्भय होकर दंड भी दिया। पुरस्कृत सेवक–सेविकाओं में राजकीय माली और कुब्जा दासी तथा दंडित व्यक्तियों में राजकीय

धोबी के नाम उल्लेखनीय हैं। धोबी से राजकीय कपड़े छीन कर उन्होंने गोपों को पहिना दिया तथा माली से पुष्प–मालाएँ लेकर सबने धारण कर लीं।

कुब्जा–मिलन—कंस की एक दासी सुगंधित अंगराग का पात्र लेकर राज-भवन की ओर जा रही थी। उसकी पीठ पर कूबर था, इसलिए वह कुब्जा कहलाती थी। वह उबटन करने, केश सँभारने और अंगराग लगाने की कला में निपुण थी। श्री कृष्ण ने उससे गोपों को सुगंधित लेपन से विभूषित करने को कहा। उसने प्रसन्नता पूर्वक इसे स्वीकार कर लिया। जिस समय वह सुगंधित द्रव्य का लेप श्री कृष्ण के सुंदर अंगों पर कर रही थी, तब उसे काम-विकार सताने लगा। उसने मंद हास्य पूर्वक अपनी काम-चेष्टा श्री कृष्ण के प्रति प्रकट की और उन्हें अपने निवास-स्थान पर चलने को कहा! बलराम उसकी अनुचित और अशिष्ट चेष्टा पर अत्यंत कुपित हुए; किंतु कृष्ण ने उन्हें यह कहकर शांत कर दिया कि यह मंद बुद्धि की साधारण दासी है; हमें इसकी अनर्गल बातों की ओर ध्यान न देकर इससे लेपन कराना है। श्री कृष्ण स्वभाव से ही विनोदप्रिय थे। उन्होंने विनोदपूर्वक कुब्जा के घर आने की बात स्वीकार कर ली और उससे लेपन करा लिया। कुब्जा–कृष्ण के उस प्रसंग को लेकर ब्रजभाषा के कवियों को गोपियों की ओर से श्री कृष्ण को उपलंभ देने का एक सुंदर सुयोग मिल गया था। उन्होंने बड़े कवित्वपूर्ण ढंग से उस प्रसंग का कथन किया है; किंतु उनकी कटूक्तियाँ कवि–कल्पना मात्र हैं; उनमें वास्तविकता का सर्वथा अभाव है।

हाथी और मल्लों का बध—दूसरे दिन प्रातःकाल नंदादि गोप गण बड़े उत्साह और उमंग के साथ उत्सव भवन की ओर चल पड़े। वे जैसे ही प्रवेश द्वार के निकट पहुँचे, तो पूर्व योजना के अनुसार महावत ने अंकुश लगा कर मस्त हस्ती को कृष्ण–बलराम पर पेल दिया। वह विशालकाय मदांध हाथी सूँड़ उठा कर बड़े वेग से झपटा; किंतु कृष्ण–बलराम ने लपक कर उसके दोनों दाँत पकड़ लिये और फिर बलपूर्वक उन्हें उखाड़ डाला! वह मस्त हाथी खून से लथपथ एवं पीड़ा से चिंघाड़ता हुआ भाग दिया; फिर वह कुछ दूर जाकर गिर पड़ा और मर गया। उस दुर्घटना से उत्सव भवन में खलबली मच गई। जैसे ही कृष्ण–बलराम ने वहाँ प्रवेश किया, कंस के मुष्टिक और चाणूर नामक मल्लों ने उन्हें घेर लिया। वे लोग ताल ठोकते हुए अपने साथ मल्ल–युद्ध करने की उन्हें चुनौती देने लगे। कृष्ण–बलराम चुनौती को स्वीकार करते हुए उन शक्तिशाली भीमकाय मल्लों के साथ युद्ध करने को तैयार हो गये। समस्त उपस्थित जन समुदाय में भय और आतंक छा गया। वे नहीं समझ सके कि बालक कृष्ण–बलराम उन भीमकाय मल्लों से किस प्रकार सफलता पूर्वक युद्ध कर सकेंगे। उपस्थित लोग डरते हुए आपस में काना-फूसी कर रहे थे कि कृष्ण और बलराम ने कंस के शक्तिशाली मल्लों को पछाड़ दिया! उन्होंने ऐसे ज़ोर से उनको भूमि पर दे पटका कि उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

कंस–बध—कृष्ण-बलराम के वे चमत्कारिक कृत्य देख कर कंस के क्रोध का पारावार फूट पड़ा। उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि वे समस्त गोपों को गिरफ्तार कर लें और कृष्ण–बलराम को पकड़ कर मार डालें। कंस के सैनिक उन पर प्रहार करें, उससे पहिले ही कृष्ण ने कंस पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने उसे सिंहासन से भूमि पर खींच लिया और मार डाला। गोपगण कंस के सैनिकों का सफाया करने लगे। मथुरा की अधिकांश जनता ने विद्रोह कर कृष्ण का साथ दिया था। उस संघर्ष में कंस के साथी या तो मारे गये, या मथुरा छोड़ कर भाग गये। मृत्यु के समय कंस की आयु ३५ वर्ष की थी। उसके उपरांत कृष्ण–बलराम कंस के कारागार को

गये, जहाँ उन्होंने अपने माता–पिता देवकी–वसुदेव को तथा नाना उग्रसेन को बंधनमुक्त किया। अपने शक्तिशाली पुत्रों की मनोहर छवि देख कर देवकी–वसुदेव पुलकित हो गये। उन्होंने गद्गद् कंठ से आशीर्वाद देते हुए अपने पुत्रों को छाती से लगा लिया।

इस प्रकार श्री कृष्ण ने कंस के स्वेच्छाचारी राजतंत्र को समाप्त कर शूरसेन प्रदेश में फिर से जन तंत्र की स्थापना की। मथुरा नगर और शूरसेन प्रदेश के प्रमुख नेता कृष्ण को अपना गण-प्रमुख बनाना चाहते थे; किंतु वे उस गौरवशाली पद को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने वयोवृद्ध उग्रसेन को ही पुनः गण–प्रमुख बनवाया और पूर्व पद्धति के अनुसार ही संघीय गण राज्य के संचालन की व्यवस्था का सुझाव दिया।

गोपों की विदा—यह सब होने के बाद नंदादि गोप गण जब मथुरा से ब्रज की गोप–बस्ती में जाने को तैयार हुए, तब कृष्ण–बलराम उनके साथ वापिस नहीं जा सके। उन्हें शूरसेन प्रदेश की अनेक राजनैतिक समस्याओं का समाधान करना था और साथ ही अपने उन चिर दुखी माता–पिता के प्रति भी कर्त्तव्य का पालन करना था, जो उनके जन्म से ही उनका वियोग सहन कर रहे थे। कृष्ण–बलराम ने नंदादि गोपों तथा बाल संघाती गोप–कुमारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की, क्यों कि उन्होंने सदैव ही उन्हें अपना असीम स्नेह प्रदान किया था। समस्त गोप समुदाय कृष्ण–बलराम को छोड़ कर वापिस जाना नहीं चाहते थे, किंतु परिस्थिति वश वे वैसा करने को विवश थे। कृष्ण–बलराम ने बड़े आदर पूर्वक उन्हें नाना प्रकार की भेंट दी और सजल नेत्रों से उन्हें विदा किया। गोप गण भी आँसू बहाते हुए अपने घरों को लौट दिये। उनके साथ विविध भाँति की बहुमूल्य भेंट से लदे हुए बाहन चल रहे थे; किंतु उनको ऐसा लग रहा था कि वे अपना सर्वस्व लुटा कर खाली हाथों मथुरा से लौट रहे हैं।

इस प्रकार कृष्ण के आरंभिक जीवन का एक प्रमुख अध्याय समाप्त हुआ। ब्रज की बाल–लीलाओं तथा गोप–बालकों और गोप-बालिकों के साथ नाना प्रकार की कमनीय क्रीड़ाओं से परिपूर्ण ब्रज के लोक-जीवन से प्रथक होकर अब वे मथुरा के संघर्षपूर्ण राजकीय जीवन से संबद्ध हुए थे।

मथुरा का संघर्षपूर्ण जीवन—गोकुल-वृंदाबन की गोप-बस्तियों में कंस के आतंक वश अज्ञात जीवन व्यतीत करने के कारण कृष्ण-बलराम को राजपुत्रोचित शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का सुयोग नहीं मिला था। ब्रज के एकांत बन्य प्रदेश के निवास और कंस कृत उत्पातों के प्रतिकार की चिंता के कारण उसकी संभावना भी नहीं थी; फिर भी अपनी जन्मजात प्रतिभा और अलौकिक मेधा के कारण अपर्याप्त साधन और विषम परिस्थिति में भी वे सहज ही कतिपय विद्याओं एवं कलाओं में दक्ष हो गये थे। उनके मथुरा आने पर वसुदेव जी ने सर्वप्रथम उनका कुलोचित संस्कार कराने की व्यवस्था की थी। उन्होंने अपने कुल-पुरोहित गर्गाचार्य से कृष्ण-बलराम का यज्ञोपवीत कराया, फिर उन्हें सांदीपनि ऋषि के उज्जयिनी स्थित गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेज दिया; जहाँ पर उन्होंने वेद-वेदांगों और विविध कलाओं के गहन अध्ययन के साथ ही साथ धनुर्विद्या की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उसके अनंतर उन्होंने महर्षि अंगिरा के पुत्र घोर आंगिरस ऋषि से योग और अध्यात्म का भी समुचित ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार वे अद्वितीय योद्धा होने के साथ ही साथ समस्त विद्याओं और कलाओं में निष्णात, वेद-वेदांगों में पारंगत तथा योगीश्वर एवं महाज्ञानी महापुरुष के रूप में प्रसिद्ध हुए।

जरासंध से युद्ध—कंस की मृत्यु के अनंतर उसकी दोनों रानियाँ, जो मगध के शक्तिशाली सम्राट जरासंध की पुत्रियाँ थीं, अपने पितृालय चली गईं; वहाँ उन्होंने रो-रो कर अपने दुर्भाग्य की कथा अपने पिता को सुनाई थी। जरासंध का उस पर शोकाकुल और क्रोधित होना स्वाभाविक ही था। उसने अपनी पुत्रियों को सान्त्वना दी और कृष्ण से उसका शीघ्र बदला लेने का आश्वासन दिया। फलतः उसने अपनी विशाल सेना के साथ शूरसेन जनपद पर आक्रमण कर दिया। जब उग्रसेन प्रभृति यादव सरदारों को अपने गुप्तचरों से जरासंध के अभियान का समाचार मिला; तब वे भी प्रतिरक्षा का उपाय करने लगे। उन्होंने प्रतिरोध का नेतृत्व करने के लिए कृष्ण-बलराम को सांदीपनि ऋषि के गुरुकुल से बुला लिया था।

जरासंध की अपार सेना ने मथुरा नगर को चारों ओर से घेर कर उस पर प्रबल वेग से आक्रमण कर दिया। मागधी सेना की तुलना में यादव सेना नितांत अपर्याप्त थी; किंतु कृष्ण–बलराम के कुशल नेतृत्व में उसने बड़ी वीरता पूर्वक प्रतिरोध किया था। जरासंध २७ दिनों तक मथुरा का घेरा डाले पड़ा रहा। उसने कई बार दुर्ग में प्रवेश करने चेष्टा की, किंतु उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। खाद्य सामग्री समाप्तप्राय होने और यादवों की छापामार रण-नीति के कारण नई रसद की प्राप्ति में कठिनाई उपस्थित हो जाने से जरासंध को विफल मनोरथ ही मगध वापिस जाना पड़ा। पुराणों से ज्ञात होता है कि जरासंध ने अठारह बार मथुरा पर आक्रमण किया था[१]। वर्षा ऋतु के अनंतर वह प्रति वर्ष नई सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई करता था; किंतु हर बार उसे निराश होकर वापिस लौटना पड़ता था।

इस प्रकार सत्तरह बार विफल होने पर उसने अठारहवीं बार बड़ी भारी तैयारी के साथ आक्रमण किया। उस बार उसने कई अन्य राजाओं को भी अपनी सहायता के लिए बुलाया था। ऐसे सहायकों में एक कालयवन भी था, जो अपनी बहुसंख्यक अनार्य सेना के साथ जरासंध की सहायता के लिए आया था। 'हरिवंश' में लिखा है, कालयवन यादवों के पुरोहित गर्ग मुनि का मानस पुत्र था। एक बार कंस ने गर्ग जी का बड़ा अपमान किया, जिससे क्षुब्ध होकर उन्होंने शिव जी से एक ऐसे पुत्र का वरदान माँगा, जो यादवों का संहार कर सके। उसी के फल स्वरूप कालयवन की उत्पत्ति हुई थी[२]। उस अभियान में एक ओर से जरासंध और उसके साथी राजाओं की अपार सेनाओं ने तथा दूसरी ओर से कालयवन के दुर्दांत सैनिकों ने मथुरा की यादव सेना पर भीषण आक्रमण किया था।

मथुरा से निष्क्रमण—जरासंध के साथ होने वाले पिछले युद्धों में यद्यपि यादवों की विजय हुई थी; तथापि उनके जन और धन की अपरिमित हानि भी हुई थी। शूरसेन गण राज्य के अनेक प्रसिद्ध वीर उन युद्धों में काम आ चुके थे। फिर निरंतर युद्धों के कारण कृषि करना कठिन हो गया था तथा उद्योग–व्यापार चौपट हो गये थे। इस बार का आक्रमण पिछले सभी

---

(१) **दश चाष्टौ च संग्रामानेवमत्यन्त दुर्मदः। यदुभिर्मागधो राजा चक्रे कृष्ण पुरोगमैः ।।**

अर्थात्—**अत्यंत दुर्धर्ष मगधराज जरासंध ने कृष्णादि यादवों से १८ बार युद्ध किया था।**

(विष्णु पुराण, ५–२२–११)

(२) **हरिवंश,** (अध्याय १४)

आक्रमणों से भीषण था; क्यों कि उसमें जरासंध के साथ ही साथ कालयवन की सेना से भी मोर्चा लेना था। उस स्थिति में यादवों की अल्पसंख्यक और साथ ही साथ थकी हुई सेना के लिए सफलतापूर्वक प्रतिरोध करना संभव नहीं था।

उस संकटपूर्ण विषम परिस्थिति से त्राण पाने का उपाय सोचने के लिए शूरसेन गण-राज्य के सभी यादव वर्गों के प्रमुख नेता एकत्र हुए। उनमें से अधिकांश ने जहाँ साहसपूर्वक प्रतिरक्षा करने के उपाय सुझाये, वहाँ कुछ लोगों ने इसके लिए कृष्ण पर आक्षेप भी किया। उनका कहना था कि जरासंध का कृष्ण से व्यक्तिगत द्वेष है और वह तब तक शांत नहीं होगा, जब तक कृष्ण मथुरा में रहेंगे। यादवों के अल्पसंख्यक वर्ग की उक्त भावना और समस्त जनपद की जनता के कल्याणार्थ कृष्ण ने यह सुझाव उपस्थित किया कि वे मथुरा छोड़ कर अन्यत्र जाने को तैयार हैं। कृष्ण का उक्त कथन सुन कर सब लोग बड़े दुखी हुए; किंतु उस समय की परिस्थिति में वही वांछनीय समझा गया। फलतः उग्रसेन, वसुदेव, बलराम, अक्रूर, आहुक और उद्धव प्रभृति अंधक–वृष्णि संघ के अनेक नेता गण अपने–अपने वर्गों को लेकर कृष्ण के साथ अपनी जन्म–भूमि का परित्याग करने को उद्यत हो गयें। अब उनके समक्ष यह समस्या थी कि मथुरा छोड़ कर कहाँ जावें। काफ़ी विचार–विमर्श के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि द्वारकापुरी जाना उचित होगा। वह नगरी एक ओर समुद्र और दूसरी ओर रैवत पर्वत से सुरक्षित है तथा मथुरा से पर्याप्त दूर होने के कारण जरासंध की पहुँच के बाहर भी है। फिर वह यादवों का प्राचीन केन्द्र है, जहाँ कई यादव वंश पहिले से ही निवास करते हैं।

इस प्रकार कुछ थोड़े से कुकुर और भोजवंशियों को छोड़ कर शौरसेनी यादवों की वहु–संख्यक सेना तथा अंधक–वृष्णि संघ की अधिकांश जनता योजनाबद्ध रूप में मथुरा से निष्क्रमण कर सुदूर पश्चिम के यादव राज्य द्वारका की ओर चल पड़ी। फलतः पूर्व की दिशा से आने वाली अपार मागधी सेना से तो यादवों का संघर्ष टल गया; किंतु कालयवन की सेना से फिर भी उनका सामना हो गया। कृष्ण ने युक्तिपूर्वक प्रायः सभी यादवों को द्वारका की ओर भेज दिया और आप अपने कुछ थोड़े से साथियों के साथ कालयवन से निवटने को रह गये। कृष्ण और उनके साथी छापामार युद्ध कला में अत्यंत प्रवीण थे। वे कालयवन की वहुसंख्यक सेना से लुक-छिप कर युद्ध भी करते जाते थे और द्वारका की ओर भागते भी जाते थे। कालयवन अपनी विशाल सेना सहित उनका पीछा करता रहा। इस प्रकार श्री कृष्ण लड़ते और भागते हुए कालयवन को उस स्थान की ओर ले गये, जहाँ सूर्यवंश के प्रतापी महाराज मुचकुंद विश्राम कर रहे थे[१]। कृष्ण ने कूटनीति पूर्वक मुचकुंद द्वारा कालयवन का संहार करा दिया और आप अपने साथियों सहित कुशलपूर्वक द्वारका पहुँच गये।

---

(१) राजस्थान का 'मुचकुंद तीर्थ' संभवतः उसी प्राचीन घटना की स्मृति में प्रसिद्ध हुआ है। यह कुंड धौलपुर के पश्चिमी भाग में नगर से दो मील दूर है। इसके चारों ओर भवन वने हुए हैं। वहाँ पर एक घाट 'कालिदास घाट' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके विषय में कहा जाता है कि जब महाकवि कालिदास भारत-भ्रमण करते हुए वहाँ पहुँचे थे, तब उन्होंने उसी घाट पर स्नान किया था। (ब्रज-भारती, वर्ष १३, अंक २ देखिये)

जरासंध के आक्रमण के उपरांत मथुरा की स्थिति—अधिकांश यादवों के निष्क्रमण के उपरांत मथुरा में कुकुर-भोजवंशीय जो थोड़े से यादव रह गये थे, उन्होंने जरासंध का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। शूरसेन प्रदेश तब मगध साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। जरासंध के शासन में मथुरा की क्या स्थिति थी और उस पर मगध सम्राट की ओर से कौन शासन करता था, इसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। जैन आगम 'ज्ञातासूत्र' में द्रोपदी स्वयंवर का उल्लेख किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि द्रुपद राजा ने जिन विविध राज्यों के नरेशों को निमंत्रण भेजा था, उनमें मथुरा का राजा 'धर' भी था[1]। वह धर राजा संभवतः जरासंध की ओर से मथुरा पर शासन करता होगा।

महाभारत से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ होने से पहिले ही कृष्ण ने युक्तिपूर्वक भीमसेन से जरासंध का बध करा दिया था और उसके पुत्र सहदेव से संधि कर उसे मगध का अधिपति बनाया था। इससे अनुमान होता है, शूरसेन जनपद पर अधिक काल तक मगध का आधिपत्य नहीं रहा होगा। वह कौरव-पांडवों का मित्र राज्य था और वहाँ के यादवों तथा आभीरों की सेना ने महाभारत युद्ध में दुर्योधन की सहायता की थी। उनका नेता यदुवंशी कृतवर्मा था।

द्वारका का राजकीय जीवन—शूरसेन जनपद से यादवों के आ जाने के कारण द्वारका के उस छोटे से राज्य की बड़ी उन्नति हुई थी। वहाँ पर दुर्भेद्य दुर्ग और विशाल नगर का निर्माण कराया गया और उसे अंधक-वृष्णि संघ के एक शक्तिशाली यादव राज्य के रूप में संगठित किया गया। भारत के समुद्री तट का वह सुदृढ़ राज्य विदेशी अनार्यों के आक्रमण के लिए देश का एक सजग प्रहरी भी बन गया था। गुजराती भाषा में 'द्वार' का अर्थ बंदरगाह है। इस प्रकार द्वारका या द्वारावती का अर्थ हुआ 'बंदरगाहों की नगरी'। उन बंदरगाहों से यादवों ने सुदूर समुद्र की यात्रा कर विपुल संपत्ति अर्जित की थी। द्वारका के उस नव निर्मित संघ राज्य के प्रमुख नेता कृष्ण थे, किंतु राज-प्रमुख का पद वयोवृद्ध उग्रसेन को दिया गया था। वह राज्य अत्यंत शक्तिशाली और वैभवपूर्ण था। हरिवंश (२-५८-६५) में लिखा है—"द्वारका में निर्धन, भाग्यहीन, निर्बल तन और मलीन मन का कोई भी व्यक्ति न था[2]।"

द्वारका में स्थायी रूप से निवास करने के अनंतर बलराम और कृष्ण के अनेक विवाह हुए थे। बलराम का विवाह आनर्त वंशीय रेवत यादव की पुत्री रेवती के साथ और कृष्ण का विवाह कुंडनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी के साथ हुआ था। बलराम की छोटी बहिन सुभद्रा पांडव वीर अर्जुन को विवाही थी।

श्री कृष्ण की रानियाँ और उनका वंश—श्री कृष्ण की अनेक रानियाँ थीं, जिनमें रुक्मिणी पटरानी थी। अन्य रानियों में से कुछ के नाम सत्यभामा, जाम्बवती, कालिंदी, मित्रविंदा, सत्या और लक्ष्मणा थे। पुराणों में श्री कृष्ण की १०८ अथवा १६१०८ रानियाँ और ८

---

(१) प्राचीन जैन ग्रंथों में कृष्ण-चरित्र, (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ७०७)

(२) ना धनोविद्यते तत्र क्षीण भाग्योदपि वा नरः।
कृशो वा मलिनोवापि द्वारवत्यां कथंचन ॥

पटरानियों का उल्लेख मिलता है। १६१०८ रानियों की अनुश्रुति हास्यास्पद अथवा कवि-कल्पना जान पड़ती है; किंतु उक्त कथन का एक पौराणिक आधार भी है। श्री कृष्ण ने असम के जिस अत्याचारी राजा भौमासुर अथवा नरकासुर का बध किया था, उसके कारागार में १६००० राजकन्याएँ कैद थीं। श्री कृष्ण ने उन्हें बंधनमुक्त करते हुए उनसे अपने-अपने राज्यों को वापिस जाने के लिए कहा। उन कन्याओं ने श्री कृष्ण से निवेदन किया कि उनके माता-पिता कदाचित उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे और उनसे विवाह करने में कुलीन राजाओं को संकोच होगा। ऐसी स्थिति में आप या तो उन सब का बध कर दीजिये या उन्हें स्वीकार कीजिये ! उन कन्याओं ने श्री कृष्ण के सन्मुख रुदन और विलाप करते हुए ऐसा कुहराम मचाया कि वे बड़े धर्म संकट में पड़ गये। अंत में श्री कृष्ण उन्हें स्वीकार करने की विवश हुए थे और रानियों की उस बड़ी भीड़ से उन्हें द्वारका के अंतःपुर को भरना पड़ा था !

श्री कृष्ण के अनेक पुत्र और पुत्रियाँ हुई थीं। पुत्रों में सबसे बड़ा रुक्मिणी पुत्र प्रद्युम्न था, जो अत्यंत रूपवान होने से कामदेव का अवतार माना जाता था। प्रद्युम्न के पुत्र का नाम अनिरुद्ध था। उसका विवाह शोणितपुर के असुर राजा वाण की सुंदरी और गुणवती पुत्री उषा के साथ हुआ था। पुराणों में लिखा है, उषा ने स्वप्न में एक अत्यंत सुंदर राजकुमार को देखा था और उस पर वह मोहित हो गई थी। उसने प्रण किया कि वह उसी राजकुमार से विवाह करेगी। किंतु जब तक स्वप्न में देखे हुए उस राजकुमार के नाम-धाम का पता न हो, तब तक उससे किस प्रकार विवाह किया जा सकता था। उषा की एक कलोकोविदा सखी का नाम चित्रलेखा था। वह चित्र कला में इतनी निपुण थी कि किसी भी देखे हुए व्यक्ति का वह चाहे जब चित्र बना सकती थी। चित्रलेखा ने उस काल के सभी प्रमुख राजकुमांरों के चित्र बना कर उषा को दिखलाये। उनमें से एक को पहिचान कर उषा ने कहा कि उसे ही उसने स्वप्न में देखा है। चित्रलेखा ने बतलाया कि वह द्वारका के अधिपति श्री कृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध है। उषा ने चित्रलेखा से आग्रह किया कि वह किसी तरह अनिरुद्ध को उससे मिला दे। चित्रलेखा ऐसी विद्या जानती थी कि वह द्वारका के राजमहल में अदृश्य रूप से पहुँच गई और सोते हुए अनिरुद्ध का अपहरण कर उसे उषा के पास ले गई। वहाँ पर उषा-अनिरुद्ध का गुप्त रूप से विवाह हो गया। जब उषा के पिता वाण को उसका पता चला, तो उसने अनिरुद्ध को कारागार में डाल दिया। उधर अनिरुद्ध के अकस्मात गायब हो जाने से द्वारका में बड़ा हाहाकार मचा हुआ था। उसे ढूँढ़ने को अनेक दूत विविध स्थानों में भेजे जा रहे थे। बहुत खोज-ढूँढ़ करने पर पता चला कि अनिरुद्ध शोणितपुर के राजा वाणासुर के कारागार में है। श्री कृष्ण ने शोणितपुर पर आक्रमण कर वाणासुर को पराजित किया और अनिरुद्ध के साथ उषा को लेकर द्वारका वापिस आ गये। मार्ग में उन्होंने वरुण को पराजित कर उसकी दुधारू गायों को भी प्राप्त किया था।

शोणितपुर कहाँ था, इसके विषय में कई मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वान उसे वदरी-केदार मार्ग पर स्थित रुद्रप्रयाग के उत्तर में ऊषीमठ के निकट मानते हैं। अन्य विद्वान उसकी स्थिति भारत के जिन दूसरे स्थानों में बतलाते हैं, उनमें वृहत्तर ब्रज क्षेत्र स्थित बयाना भी है, जिसे महाभारत में 'श्रीप्रस्थ' कहा गया है। वहाँ का उषा मंदिर उसी स्मृति में निर्मित हुआ जान पड़ता है। ऐसा कहा जाता है, कृष्ण और वाणासुर के युद्ध में जो प्रचुर रक्त-पात हुआ था, उसी के कारण उस स्थान को 'शोणितपुर' कहा जाने लगा था। श्री अमृतवसंत पंड्या का मत है कि शोणितपुर

भारतीय सीमा से कई सहस्र मील दूर मिस्र देश के निकट असीरिया (वर्तमान इराक) में था[1]। वाणासुर वहाँ का अनार्य राजा था और उषा उसकी अत्यंत रूपवती एवं गुणवती कन्या थी। उसकी राजधानी निनेवा में थी। वाणासुर का मंत्री कुमांड था, जिसकी पुत्री रमा का विवाह कृष्ण के छोटे पुत्र सांब के साथ हुआ था। वाणासुर के पश्चात् असीरिया का शासन–सूत्र कुमांड ने सँभाला था। कुमांड के कोई पुत्र नहीं था, अतः उसकी मृत्यु के अनंतर असीरिया की गद्दी पर कृष्ण–पुत्र सांब बैठा था[2]। असीरिया और भारतवर्ष के बीच में वरुण की राजधानी 'सुसा' थी, जो दक्षिणी इराक का एक नगर है।

पांडव-कौरव—कुरु जनपद के राजा का नाम पांडु था, जिसके साथ कृष्ण की भूआ कुंती का विवाह हुआ था। पांडु की दूसरी रानी माद्री थी, जो भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के मद्र देश की राजकुमारी थी। उन दोनों रानियों से पांडु के ५ पुत्र हुए थे, जिनके नाम १. युधिष्ठिर, २. भीमसेन, ३. अर्जुन, ४. नकुल और ५. सहदेव थे। वे पाँचों भाई पांडव कहलाते हैं। पांडु के बड़े भाई का नाम धृतराष्ट्र था, जो अंधा होने के कारण राज्य का अधिकारी नहीं समझा गया। फलतः पांडु को ही कुरु प्रदेश का राजा बनाया गया था। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे, जो कौरवों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था।

राजा पांडु की अकाल मृत्यु हो गई थी। उस समय पांडव गण वयस्क नहीं थे। उनके संरक्षण और राज्य-शासन के संचालन का दायित्व पांडु के अंधे भाई धृतराष्ट्र को इस शर्त के साथ सोंपा गया था कि ज्येष्ठ पांडव युधिष्ठिर के वयष्क होने पर वह उसे कुरु राज्य का अधिपति बना देगा। धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन आरंभ से ही पांडवों से ईर्ष्या करता था। उसने अपने पिता पर इस बात का दबाब डाला कि युधिष्ठिर को उसके पिता का राज्याधिकार नहीं दिया जाय और उसके स्थान पर दुर्योधन को युवराज घोषित किया जाय। धृतराष्ट्र अपने पुत्र की हठ के कारण विवश था और उस समय के राज–दरबारी तथा विशिष्ट व्यक्ति भी परिस्थिति वश मौन थे। फलतः धृतराष्ट्र की विद्यमानता में ही दुर्योधन ने राज्य के शासन–सूत्र सँभाल लिये थे।

दुर्योधन और उसके बंधु–बांधवादि कौरव गण वड़े प्रबल थे। उन्होंने धृतराष्ट्र को अपने हाथ की कठपुतली बना रखा था। वे नाना प्रकार के अत्याचारों द्वारा पांडवों को सताने लगे और उनके सर्वनाश की चेष्टा करने लगे। दुर्योधन ने अपने इष्ट मित्रों की सहायता से कई वार पांडवों को गुप्त रीति से मार डालने की चेष्टा की थी, किंतु राज्य के कतिपय न्यायप्रिय नेताओं के कारण उसका कुचक्र सफल नहीं हो सका था। अंत में उसने एक प्रपंची जुएबाज़ शकुनी के सहयोग से द्यूत-क्रीड़ा के छल द्वारा पांडवों का सर्वस्व छीन लिया और उनकी पत्नी तथा वृद्धा माता सहित राज्य से बाहर जाने के लिए उन्हें बाध्य किया।

कृष्ण उस समय द्वारका के वैभवशाली राज्य के प्रमुख नेता थे। उनकी वीरता, बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता की देशव्यापी ख्याति थी। उनसे कौरवों का वह अन्याय नहीं देखा गया। फिर पांडव तो उनकी भूआ के पुत्र होने के कारण निकट संबंधी भी थे। उन्होंने पांडवों का पक्ष लिया और उन्हें उनका न्यायोचित राज्याधिकार वापिस दिलाने का पूरा प्रयत्न किया। वे धृतराष्ट्र के

---

(१) **'श्री कृष्ण का असीरिया पर आक्रमण'**, (ब्रज भारती, वर्ष १०, अंक ४)
(२) **वही** (,, ,, ,,)

दरबार में भी उपस्थित हुए और उससे पांडवों के साथ न्याय करने के लिए ज़ोरदार शब्दों में आग्रह किया। धृतराष्ट्र उसके लिए कुछ तैयार भी था; किंतु वह अपने दुष्ट पुत्रों के दुराग्रह के कारण कुछ नहीं कर सका। इस प्रकार कौरवों की हठधर्मी से कृष्ण का प्रयत्न सफल नहीं हो सका था।

महाभारत का भीषण युद्ध और उसका दुष्परिणाम—पांडवों को अपने स्वत्व की रक्षा और न्यायोचित अधिकार की प्राप्ति के लिए तब युद्ध के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रह गया था। निदान युद्ध की घोषणा की गई और दोनों पक्षों द्वारा उसकी तैयारी का बड़ा भारी आयोजन किया गया। उस युद्ध का मूल कारण तो एक राजवंश का पारिवारिक झगड़ा था; किंतु वह इतना बढ़ गया कि उसने देशव्यापी महायुद्ध का वृहत् रूप धारण कर लिया था। उसमें भारत के समस्त राजाओं के अतिरिक्त सीमांत के कतिपय विदेशी राजाओं ने भी इच्छा अथवा अनिच्छा से भाग लिया था। सभी राजा गण अपनी असंख्य सेनाओं के साथ दो विरोधी शिविरों में विभाजित होकर युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये थे।

कौरवों के शासनारूढ़ होने के कारण समस्त कुरु राज्य के प्रभूत साधन जैसे विपुल सेना, कोष और शस्त्रागार आदि दुर्योधन को सहज सुलभ थे। उसके पक्षपाती राजाओं की संख्या भी अधिक थी। पांडवों के राज्यच्युत होने से उनके साधन अपर्याप्त थे। उनका साथ कतिपय न्यायप्रिय राजाओं ने ही दिया था। उनके सबसे प्रमुख साथी कृष्ण थे; किंतु उन्होंने अकेले और निरस्त्र रह कर ही युद्ध में सम्मिलित होने का निश्चय किया था। द्वारका के प्रायः सभी सामंत–सरदार, यहाँ तक कि श्री कृष्ण के बड़े भाई बलराम ने भी पांडवों का साथ नहीं दिया था। वहाँ के सामंत–सरदार तो अपनी सेनाओं के साथ कौरवों के पक्ष में लड़े भी थे; किंतु बलराम अपने अनुज कृष्ण के कारण तटस्थ रहे थे। इस प्रकार कौरवों का सैन्य बल पांडवों की अपेक्षा बहुत अधिक था। भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा जैसे महारथियों ने कौरवों के पक्ष में युद्ध किया था।

महाभारत का वह भयंकर संग्राम केवल १८ दिनों तक चला था; किंतु उस काल की समुन्नत युद्ध कला और अत्यंत परिष्कृत अस्त्र–शस्त्रों के कारण उस अल्प काल में ही जैसा भीषण जन-संहार हुआ, वैसा इतिहास में दूसरा नहीं मिलता है। दोनों पक्षों के बहुसंख्यक राजा गण अपनी असंख्य सेनाओं के साथ उस महा विनाश की बलि-वेदी पर जूझ मरे थे ! श्री कृष्ण के अपूर्व बुद्धि-बल और अद्भुत रण–कौशल से शक्तिशाली कौरवों की पराजय के साथ उनका सर्वनाश हो गया था। उसमें विजय पांडवों की हुई थी; किंतु उन्हें भी अपने सर्वस्व की आहुति देनी पड़ी थी। उस युद्ध का भयानक दुष्परिणाम समस्त भारतवर्ष को भोगना पड़ा। उस काल में देश ने ज्ञान-विज्ञान की जो अनुपम उन्नति की थी और जो अभूतपूर्व भौतिक समृद्धि प्राप्त की थी, वह सब उस महायुद्ध की भीषण ज्वाला में जल कर भस्म हो गई ! उस समय यह देश अवनति के ऐसे गहरे गर्त गिर गया कि जहाँ से कई शताब्दियों तक उसका उद्धार नहीं हो सका था।

कृष्ण का अंतिम काल और यादवों की दुर्दशा—महाभारत के अनंतर युधिष्ठिर को राज्यासीन कर कृष्ण द्वारका चले गये। उस महायुद्ध का कुफल द्वारका को भी भोगना पड़ा था। वहाँ के अनेक वीर और गुणी महापुरुषों की उस युद्ध में मृत्यु हो चुकी थी। जो यादव द्वारका में शेष रहे थे, उनमें से अधिकांश दुर्व्यसनी और अनाचारी थे। कृष्ण–बलराम तब तक वृद्ध हो गये थे और द्वारका के मदांध यादवों पर उनका प्रभाव भी अधिक नहीं रहा था। वहाँ के समुद्र और

रेवत पर्वत के बीच में स्थित प्रभास क्षेत्र में पिंडारक नामक एक तीर्थ था; जहाँ स्नान और आमोद-प्रमोद के लिए यादवगण प्रायः जाया करते थे । एक बार उसी स्थल पर उन्होंने एक वृहत् उत्सव का आयोजन किया, जिसमें समस्त द्वारकावासी सामूहिक रूप में सम्मिलित हुए थे । वहाँ पर सबने स्नान–क्रीड़ा, आमोद–प्रमोद और नृत्य–गान किया । फिर मदिरा-पान करने के कारण सब लोग परस्पर पर वाद–विवाद, कहन–सुनन और लड़ाई–झगड़ा करने लगे । दुर्दैव से वे उस समय ऐसे मदांध हो गये थे कि सब लोग आपस में ही लड़ कर मर गये ! इस प्रकार कौरव–पांडवों के गृह-युद्ध में से जो यादव बच रहे थे, वे प्रभास क्षेत्र के उस गृह-कलह में समाप्त हो गये । वहाँ से बच कर आने वालों में कृष्ण, बलराम और दारुक सारथी थे तथा द्वारका में उग्रसेन, वसुदेव और कुछ स्त्री–बच्चे शेष रहे थे । प्रभास क्षेत्र की उस विनाश-लीला के उपरांत बलराम ने दुखी होकर शरीर छोड़ दिया । ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं कि वे अत्यंत क्षुब्ध होकर समुद्र-यात्रा को चले गये थे, जहाँ से फिर लौट कर वे नहीं आये और न उनका कोई समाचार ही मिला । कृष्ण भारी मन से अपने सारथी दारुक के साथ द्वारका गये । वहाँ पहुँचने पर उन्होंसे दारुक को रथ लेकर हस्तिनापुर जाने का आदेश दिया और कहा कि वह द्वारका के समाचार अर्जुन को सुना कर उसे तत्काल यहाँ ले आवे, ताकि वह यदुवंशियों में बचे हुए वृद्ध जनों और स्त्री-बच्चों को अपने साथ ले जाय ।

श्री कृष्ण का तिरोधान—अंततः श्री कृष्ण अपने तिरोधान का समय निकट जान कर एकांत बन में एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधिस्थ हो गये । ऐसा कहा जाता है कि जब वे समाधि अवस्था में थे, तब 'जरा' नामक व्याध ने हरिण के धोखे में उन पर वाण का घातक प्रहार किया था, जिससे उनका देहांत हो गया । अलंकारिक शैली के उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि जरा अर्थात् वृद्धावस्था रूपी व्याध ने प्राणी मात्र को अपने वाण का लक्ष बना रखा है और समय आने पर वह सबको अपने वाण से वींध देता है । इस संसार में जन्म लेने वाला कोई प्राणी, चाहें वह कितना ही महान् हो, उसके वाण से नहीं बच सका है । इस प्रकार श्री कृष्ण भी यथा समय इस भू-तल से प्रस्थान कर गये । उनके देहावसान का वह स्थल सौराष्ट्र में हिरण्यवती नदी के तट पर 'देहोत्सर्ग तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है ।

द्वारका का अंत—जब अर्जुन ने दारुक से द्वारका का दुःखदायी समाचार सुना तो वह अत्यंत मर्माहत हुआ और दुखी मन से तत्काल द्वारका की ओर चल दिया । वहाँ पहुँचने पर उसने द्वारका के स्त्री–बच्चों और वृद्धजनों को छाती फाड़ कर रुदन करते हुए देखा । उस समय उग्रसेन और वसुदेव भी अपने शरीर छोड़ कर परलोक को प्रस्थान कर गये और उनकी वृद्धा रानियाँ उनके साथ अग्नि में जल गईं । कृष्ण–बलराम का पहिले ही तिरोधान हो चुका था । प्रभास क्षेत्र में मरे हुए यादवों की पत्नियाँ भी भारी संख्या में सती हो चुकी थीं ।

उस महा विनाश के पश्चात् द्वारका में जो यदुवंशी शेष रहे थे, उनमें भी वृद्ध, बालक और स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी । उनमें कृष्ण के दिवंगत पौत्र अनिरुद्ध का बालक पुत्र वज्र भी था । उन सबके संरक्षण का भार अर्जुन पर आ पड़ा था, अतः वे सबको साथ लेकर हस्तिनापुर की ओर चल दिये; द्वारका निर्जन और सूनी होगई । उसके बाद वहाँ पर एक भयंकर तूफान आया, जिसने उस सुंदर महा नगरी को समुद्र के गर्भ में विलीन कर दिया । इस प्रकार यादवों की प्रबल शक्ति के साथ ही साथ द्वारका का भी अंत हो गया !

जब अर्जुन यदुवंशियों के स्त्री-बच्चों को लेकर हस्तिनापुर की ओर जा रहा था, तब मार्ग में पंचनद प्रदेश के असभ्य आभीरों ने उन पर अकस्मात पीछे से आक्रमण कर दिया। उस समय अर्जुन इतना शोक-संतप्त और हतसंज्ञक था कि गांडीव के रहते हुए भी वह उन जंगली लुटेरों का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सका था ! फलतः वे लोग यादवों की बहुत सी संपत्ति और कुछ स्त्रियों को लूट कर ले गये ! शेष को अर्जुन ने दक्षिणी पंजाब और इंद्रप्रस्थ में बसा दिया तथा राज्य की ओर से उनकी देख-रेख की समुचित व्यवस्था भी कर दी। उसके उपरांत पांडवों ने अर्जुन के पौत्र परीक्षित को कुरु प्रदेश के राज्यसिंहासन पर आसीन किया और उसे श्री कृष्ण के प्रपौत्र बालक वज्र का संरक्षक भी नियुक्त किया। फिर वे महा प्रस्थानार्थ हिमालय की ओर चले गये, जहाँ वर्फ में गल कर उन सबका अंत हो गया !

श्री कृष्ण का अनुपम महत्व—श्री कृष्ण अपने काल में ही भारतवर्ष के सर्वाधिक महत्वपूर्ण महापुरुष मान लिये गये थे। इसका प्रमाण महाराज युधिष्ठिर का वह राजसूय यज्ञ है, जिसमें भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ ऋषि–मुनियों, राजा-महाराजाओं, ज्ञानी-विज्ञानियों और वीर-योद्धाओं के होते हुए भी उन्हीं की अग्र-पूजा की गई थी। उनके नाम का अनुमोदन करते हुए वयोवृद्ध भीष्म पितामह ने जो सारगर्भित और प्रभावशाली भाषण दिया था, उससे उनका महत्व स्पष्ट होता है। उन्होंने कहा था,—'श्री कृष्ण सबसे बड़े ज्ञानी, सर्वश्रेष्ठ योद्धा और सबसे अधिक समृद्धिशाली हैं। वे रूप-गुण, शक्ति-सामर्थ्य, बल-विक्रम, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-नीति, कला-कौशल और प्रभाव-प्रसिद्धि में सबसे बढ़े- चढ़े हैं; अतः हम सब में अग्र-पूजा के वही एक मात्र अधिकारी हैं।'

कृष्ण का व्यक्तित्व बड़ा विलक्षण, वैविध्यपूर्ण और अलौकिक था। उन्होंने जो कुछ किया, खूब जी भर कर किया। उन्होंने बचपन में खूब खाया-पिया, खूब उधम-उत्पात किया और खूब प्रेम–प्यार किया था। किशोरावस्था में उन्होंने दुष्टों का खूब संहार किया और युवावस्था में उन्होंने खूब युद्ध किये थे। प्रौढ़ावस्था में उन्होंने नीति-निपुणता, रण-कुशलता और ज्ञान-विज्ञान की पारंगतता का खूब परिचय दिया था। उन्होंने अपनी वीरता, नीतिज्ञता और बुद्धिमत्ता से कंस, जरासंध, भौमासुर, शिशुपाल और दुर्योधन जैसे स्वेच्छाचारी तथा अन्यायी राजाओं को उनके संगी-साथियों सहित समाप्त कर दिया था; किंतु उनके राज्यों को उन्होंने स्वयं नहीं लिया, वरन् उनके निकट संबंधियों को ही दे दिया था। वे स्वयं राज्याधिकार से जीवन पर्यंत निर्लिप्त रहे थे। वे प्रभावशाली जन-नेता, अपूर्व धार्मिक विद्वान और महान् दार्शनिक तत्ववेत्ता थे। उन्होंने भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति कर अपने कुशल नेतृत्व का परिचय दिया था और एक अत्यंत समृद्धिशाली सभ्यता तथा समुन्नत संस्कृति का प्रादुर्भाव किया था। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में उनका गीता ज्ञान एक सर्वोपरि प्रकाश-पुंज के समान देदीप्यमान है। उन्होंने भारत की अनेक विद्याओं और कलाओं को अपनी अपूर्व देन दी है। यही कारण है कि इतना समय बीत जाने पर भी उनके महान् व्यक्तित्व की छाप भारत के जन-जीवन में सर्वत्र दिखलाई देती है। उनके तिरोधान के साथ भारतीय संस्कृति और इतिहास के एक गौरवशाली युग की समाप्ति हुई और एक ऐसे युग का आरंभ हुआ, जो संस्कृति-सभ्यता, धर्म, कला और शासन आदि सभी क्षेत्रों में पूर्व युग की तुलना में कहीं हीन था। पौराणिक काल-गणना के अनुसार कृष्ण के साथ द्वापर युग समाप्त होकर कलियुग का आरंभ हुआ, जिसके अब तक ५०६७ वर्ष व्यतीत चुके हैं।

३. कृष्णोत्तर और बुद्धपूर्व काल

[कलियुग के आरंभ से विक्रमपूर्व सं० ५६६ तक]

परीक्षित का शासन और नागों की प्रबलता—महाभारत के भीषण विनाश के कारण वीर भूमि भारत प्रायः वीर विहीन हो गई थी। उस युग की अत्यंत समुन्नत संस्कृति और समृद्ध सभ्यता का सूर्य मानो अस्ताचल को जाने लगा; जिससे देश भर में सर्वत्र अज्ञान, अविद्या, अधर्म और असभ्यता का अंधकार दिखलाई देने लगा था। पांडवों के उत्तराधिकारी परीक्षित ने बड़ी योग्यता पूर्वक शासन सँभाला था; किंतु महाभारत के दुष्परिणाम से उसकी राज्य सत्ता अधिक दृढ़ नहीं हो सकी थी। फलतः उसके शासन–काल में आर्यावर्त स्थायी शांति का उपभोग भी नहीं कर सका था।

पुराणों से ज्ञात होता है कि परीक्षित के काल में भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा पर नागवंशी राजा अत्यंत प्रबल हो गये थे। उनका अधिपति तक्षक नाग था, जिसका प्रधान केन्द्र तक्षशिला था। तक्षक के नेतृत्व में नागों का उपद्रव इतना बढ़ गया था कि तक्षशिला से लेकर शूरसेन प्रदेश का विस्तृत भू-भाग उनसे आतंकित रहता था। परीक्षित ने नागों के दमन की पूरी चेष्टा की; किंतु वह उनकी प्रबल शक्ति को नहीं रोक सका; यहाँ तक कि वह स्वयं भी तक्षक द्वारा मारा गया। श्रीमद् भागवत में लिखा है कि नागराज तक्षक ने ब्राह्मण का वेश धारण कर छल पूर्वक परीक्षित पर प्राणघाती आघात किया था[१]। परीक्षित की मृत्यु होने पर कुछ काल के लिए नागों का अधिकार तक्षशिला से मथुरा तक हो गया था।

जनमेजय का शासन और नाग-यज्ञ—परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नागों के विरुद्ध युद्ध जारी रखा। उसने सैन्य संग्रह कर बड़े प्रबल वेग से नागों पर आक्रमण कर उनका व्यापक संहार किया था। जनमेजय द्वारा किया गया नागों का वह सामूहिक विनाश इतिहास में **'नाग–यज्ञ'** के नाम से प्रसिद्ध है। उस नागमेध यज्ञ में इतने अधिक परिमाण में नागों की आहुति दी गई थी कि कुरु और शूरसेन जनपदों में नाग जाति का नाम ही शेष रह गया था! तभी उन्हें भ्रम वश मानवों की अपेक्षा सर्प समझा जाने लगा था। 'हरिवंश' से ज्ञात होता है कि जनमेजय ने अपनी विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ भी किया था।

नाग-यज्ञ का स्थल—जनमेजय ने किस स्थल पर नागों का सामूहिक विनाशकारी वह 'नाग–यज्ञ' किया था, इसके संबंध में विद्वानों में विवाद है। इस समय जिन कतिपय स्थलों की प्रसिद्धि है, उनमें गुड़गाँवा ज़िला के सीही गाँव, मैनपुरी ज़िला के पाढ़म स्थान और प्राचीन भारत के ऐतिहासिक नगर तक्षशिला के नाम उल्लेखनीय हैं।

जनमेजय के उत्तराधिकारी—जनमेजय ने अपने राज्य को नागों के आतंक से मुक्त कर सर्वत्र शांति और व्यवस्था स्थापित की और जनता की सुख–समृद्धि के अनेक उपाय किये। उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारी क्रमशः शतानीक, अश्वमेध दत्त, अधिसीम कृष्ण आदि कुरु प्रदेश के राजा हुए थे। फिर कालांतर में नेमिचक्र नामक राजा ने वहाँ पर राज्य किया था।

---

(१) **श्रीमद् भागवत,** (स्कंध १२, अध्याय ६, श्लोक १२–१४)

मथुरा पर वज्रनाभ का शासन—जैसा पहिले कहा गया है, अर्जुन ने यदुवंशियों के स्त्री-बालकों को द्वारका से लाकर इंद्रप्रस्थ में बसाया था । उनमें कृष्ण का प्रपौत्र वज्र भी था, जो उस समय अबोध बालक था । उसे कुरु प्रदेश के राजाओं ने अपना पूर्ण संरक्षण प्रदान किया गया था । उस काल में मथुरा पर पांडवों की ओर से कोई शासक रहा होगा; किंतु यादवों के निष्क्रमण और महाभारत युद्ध के कारण वहाँ की जन संख्या काफ़ी कम हो गई थी । फिर नागों के उपद्रव के कारण भी बहुत से लोग वहाँ से भाग कर सुरक्षित स्थानों में चले गये थे । जब नागों का उपद्रव शांत हो गया, तब मथुरा राज्य की सुव्यवस्था की ओर कुरु प्रदेश के तत्कालीन नरेश जनमेजय का ध्यान गया । उसने कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ के नेतृत्व में यादव राज्य की मथुरा में पुनर्स्थापना की । उसके लिए उसने वज्र को सब प्रकार से सहयोग देने का आश्वासन दिया था । कृष्ण ने पांडवों पर जो असीम उपकार किये थे, उनसे कुछ उऋण होने के लिए ही जनमेजय का वह प्रयत्न था ।

जब जनमेजय की व्यवस्था के अनुसार वज्र ने अपने दल-बल सहित मथुरा में प्रवेश किया, तब उसने उस प्राचीन महानगरी को प्रायः सूनी और निर्जन पाया था । वज्र ने इधर–उधर बिखरे हुए यदुवंशियों को संगठित कर उनसे मथुरा को आबाद किया । फिर भी वहाँ पर उद्योग, व्यापार, विद्या और कलाओं की उन्नति का कोई ढंग नहीं बन रहा था । उसके लिए वज्र की इच्छानुसार जनमेजय ने इंद्रप्रस्थ से अनेक धनी, विद्वान और कलाकार व्यक्तियों को मथुरा में बसने के लिए भेज दिया था । इस प्रकार मथुरा पुनः एक समृद्धिशाली नगरी का रूप धारण करने लगी; यद्यपि उसे पहिले जैसा गौरव प्राप्त नहीं हो सका था ।

श्री कृष्ण के लीला-स्थलों की खोज—मथुरा में राजकीय व्यवस्था क़ायम करने के अनंतर वज्रनाभ की इच्छा हुई कि अपने गौरवशाली प्रपितामह कृष्ण के लीला–स्थलों पर उनके स्मृति–चिह्न बनाये जाँय, ताकि वे यादवों के विगत गौरव की पुनर्स्थापना के लिए प्रेरणा प्रदान कर सकें । शूरसेन जनपद और मथुरा नगर को विगत वर्षों में जिस विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ा, उसके कारण श्री कृष्ण के वे प्राचीन लीला–स्थल अज्ञात हो गये थे । उन्हें बतलाने वाला भी वहाँ कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं रहा था । इस पर जनमेजय के परामर्श से वज्रनाभ ने नंदादि गोपों के वयोवृद्ध कुल–पुरोहित महर्षि शांडिल्य को बुलाया और उनसे श्री कृष्ण के लीला स्थलों की जानकारी प्राप्त की थी । उस समय वे स्थान जंगली लता-गुल्मों से आच्छादित होने के कारण निर्जन और दुर्गम हो गये थे । वज्र ने उनकी सफाई करा कर उन्हें सर्व साधारण के लिए सुगम बनाने का प्रयत्न किया । उसने कृष्ण–लीला के अनुसार उन स्थानों का नामकरण किया और उन पर स्मृति–चिह्न बनवाये । कुछ प्रमुख स्थानों पर उस समय बस्तियाँ भी बसाई गईं । इस प्रकार वज्र का शासन–काल शूरसेन प्रदेश के उच्छिन्न गौरव की पुनर्स्थापना का प्रयास करने के कारण सदा स्मरणीय रहेगा ।

वज्रनाभ के परवर्ती राजा गण—वज्र के पश्चात् शूरसेन प्रदेश पर किन राजाओं ने राज्य किया था और उनमें से कितने वज्रनाभ के वंशज थे तथा उनका क्या नाम था—इन सब बातों का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है । पुराणों से केवल इतना ज्ञात होता है कि महाभारत–काल के बाद से मगध नरेश महापद्म नंद तक शूरसेन प्रदेश पर २३ राजाओं ने राज्य किया था[1] ।

---

(१) पार्जीटर कृत 'डायनेस्टीज आफ कलि एज' (पृष्ठ २३)

उनकी नामावली पुराणों में भी नहीं मिलती है[1]। 'गर्ग संहिता' में वज्र के पुत्र और उत्तराधिकारी का नाम प्रतिवाहु लिखा गया है। प्रतिवाहु का पुत्र और उत्तराधिकारी सुवाहु था, जो बड़ा यशस्वी राजा था[2]। 'गर्ग संहिता' का उल्लेख कहाँ तक प्रामाणिक है, इसे निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। वैसे बौद्ध ग्रंथों में भी बुद्ध के पूर्ववर्ती मथुरा के एक राजा का नाम सुवाहु मिलता है।

पुराणों में शूरसेन जनपद के राजाओं की नामावली नहीं दी गई, जब कि उसी काल के कुरु और पंचाल जनपदों के राजाओं की विस्तृत नामावलियाँ उनमें उपलब्ध हैं। इससे समझा जा सकता है कि उस काल में शूरसेन के राजगण कुरु और पंचाल प्रदेशों के राजाओं के समान महत्वपूर्ण नहीं हुए होंगे। इसीलिए पुराणों में उनके नामों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया।

यदुवंशियों का राज्य विस्तार—श्री कृष्ण के जन्म से पहिले यदुवंशियों के कई राज्य थे। उनमें मथुरा और शौरीपुर (वर्तमान बटेश्वर, ज़िला आगरा) के सुप्रसिद्ध राज्य शूरसेन जनपद में थे; जहाँ अंधक–वृष्णि संघ का गणतांत्रिक शासन था। यादवों के एक प्राचीन दक्षिणी राज्य माहिष्मती और उसके पराक्रमी हैहयवंशी राजा कार्तवीर्य अर्जुन का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। महाभारत काल में चेदि का हैहयवंशी राजा शिशुपाल था, जो अपने निंदनीय आचरण के कारण कृष्ण द्वारा मारा गया था। उसी काल में हैहयवंश का एक राजा नील था, जो कौरवों की ओर से महाभारत के युद्ध में लड़ कर मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण में फैलाव—जरासंध के आक्रमण के कारण जब शूरसेन के यदुवंशियों ने सामूहिक रूप में मथुरा से निष्क्रमण किया था, तब उन्होंने पहिले पश्चिम में, फिर दक्षिण–पश्चिम में और बाद में दक्षिण में कई राज्यों की स्थापना की थी। उनमें धुर पश्चिम का द्वारका राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था, जहाँ श्री कृष्ण और उनके परिवार वाले अंधक–वृष्णि वंशीय यादवों का शासन था। उस काल में कुछ यादव परिवार भारत के पश्चिमी छोर से हट कर दक्षिणी–पश्चिम और दक्षिण में जा कर बस गये थे। उन्होंने महाराष्ट्र, विदर्भ, कर्णाटक, यहाँ तक कि सुदूर दक्षिण के केरल और तमिल प्रदेशों में भी कई राज्य स्थापित किये थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के ऐन्द्र महाभिषेक प्रसंग में यदुवंशी सात्वतों का निवास दक्षिण भारत बतलाया गया है[3]।

अगस्त्य मुनि और दक्षिण के यादव राज्य—दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति के प्रसार का श्रेय महामुनि अगस्त्य को है। उनसे पहिले विंध्याचल के दक्षिण का भारतीय प्रदेश दुर्गम बनों से आच्छादित था और वहाँ आसुरी तथा राक्षसी सभ्यताएँ प्रचलित थीं। अगस्त मुनि उर्वशी और मित्रवरुण के पुत्र थे। उनका जन्म कुंभ से होने के कारण उन्हें 'कुंभज' भी कहा जाता है। वे हिमालय से अपने कुछ साथियों को लेकर दक्षिण गये थे और वहाँ के वाणतीर्थ के निकट पोदिकै पर्वत पर आश्रम बना कर रहे थे। उन्होंने अपने साथियों सहित द्रविड़ कन्याओं से विवाह किया

---

(१) दी वैदिक एज, (पृष्ठ ३२५)

(२) गर्ग संहिता, (माहात्म्य खंड, पृष्ठ ३)

(३) भागवत संप्रदाय, (पृष्ठ १०४)

और फिर वे स्थायी रूप से वहीं बस गये । उनकी पत्नी का नाम लोपामुद्रा था, जो विदर्भ प्रदेश की राज-कन्या थी । उन्होंने तमिल भाषा के प्रथम व्याकरण की सूत्रों में रचना की और वहाँ विविध विद्याओं का प्रसार किया था । उन्हें दक्षिण में तमिल संस्कृति का पिता माना जाता है । उनके संबंध में अनुश्रुति है कि उन्होंने समुद्र को पी लिया था । इसका यह तात्पर्य है कि उन्होंने दक्षिण से समुद्र पार के द्वीपों में भी आर्य संस्कृति की पताका फहराई थी ।

दक्षिण में यादवों के राज्य-स्थापन से संबंधित जो अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उनमें एक अगस्त्य मुनि से भी संबंध रखती है । कहते हैं, जब उन्होंने दक्षिण में मदुरई, तिनेवली और कुमारी नामक नगरों की स्थापना की थी, तब उनके शासन के लिए उन्होंने कृष्ण–वंश के १८ राजकुमारों को द्वारका से बुलवाया था । उक्त राजकुमारों ने दक्षिण पहुँच कर वहाँ का शासन–प्रबंध सँभाला था । उनमें से तीन चेर, चोल और पांड्य थे; जिन्होंने तमिलनाड राज्य का निर्माण किया था ।

जैन अनुश्रुति—जैन धर्म की अनुश्रुति के अनुसार मथुरा के एक यदुवंशी राजकुमार ने दक्षिणी कर्णाटक में जाकर स्वाधीन यादव राज्य की स्थापना की थी । वह अनुश्रुति इस प्रकार है—'कृष्ण के परवर्ती यदुवंशी राजाओं में एक साकार नाम का राजा हुआ था । वह एक भील कन्या पर मोहित होकर उसकी दुरभिसंधि से अपने पुत्र जिनदत्त का भी अनिष्ट करने को उद्यत हो गया था ! जब राजमहिषी श्रियला को उसका पता चला, तो वह बड़ी दुखी हुई । उसने अपने पुत्र की हित–कामना के लिए उसे मथुरा छोड़ कर किसी सुदूर प्रदेश में जाने का आदेश दिया । फलतः राजकुमार जिनदत्त दक्षिण की ओर चला गया और वर्तमान कर्णाटक के हुंक्च नामक स्थान में उसने स्वाधीन यादव राज्य की स्थापना की । उसका विवाह दक्षिण के पांड्य प्रदेश की राज कन्याओं के साथ हुआ था ।'

जिनदत्त के वंशजों ने दक्षिणी कर्णाटक में कई राज्य कायम किये थे । उन्हीं में से एक का राजा वीर पांड्य चक्रवर्ती था, जिसने सं० १४८८ में बाहुवलि गोमटेश्वर की विशाल मूर्ति बनवाई थी । वह ४१½ फीट ऊँची अद्‌भुत मूर्ति दक्षिणी कर्णाटक के कार्कल नामक स्थान में अब भी विद्यमान है । वहाँ की अनुश्रुतियों में उक्त राजवंश का मूल पुरुष जिनदत्त राय उत्तरापथ के मथुरा नगर से आया हुआ माना जाता है । उक्त राजा जिनदत्त किस काल में हुआ, इसे निश्चय पूर्वक बतलाना कठिन है ।

यादवों के अन्य राज्य—डा० कृष्ण स्वामी आयंगर ने द्रविड़ देशीय राजाओं के इतिहास का अनुसंधान कर यह प्रमाणित किया है कि वहाँ के अनेक राजाओं की परंपरा सात्वत वंशीय श्री कृष्ण से जुड़ जाती है । महीसूर (माईसोर) के पूर्वोत्तर भाग में राज्य करने वाले 'इरुन गोवेड़' नामक तमिल सरदार श्री कृष्ण की ४६ वीं पीढ़ी में हुआ था[1] ।

दक्षिण–पश्चिम में देवगिरि का एक यादव राज्य अलाउद्दीन खिलजी के काल तक विद्यमान था । उसके राजा रामचंद्र के अधिकार में वर्तमान महाराष्ट्र का अधिकांश भाग था और उसकी राजधानी देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) में थी । उस यादव राजा को अलाउद्दीन ने धोखे से सं० १३५१ में पराजित किया था । इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यदुवंशियों के प्राचीन

---

(१) **भागवत संप्रदाय,** (पृष्ठ १०४)

राज्य मथुरा और द्वारका के शक्तिहीन हो जाने के बाद भी विद्यमान थे। उन यादव राज्यों का विस्तार पश्चिम, दक्षिण–पश्चिम तथा सुदूर दक्षिण में हुआ था, जहाँ समय–समय पर अनेक शक्तिशाली राजा हुए थे।

उत्तर भारत में यादवों के जो कतिपय राज्य मिलते हैं, उनमें करौली का नाम उल्लेखनीय है। उस राज्य की प्राचीन ख्यातों से सिद्ध होता है कि उसके राजाओं की परंपरा मथुरा के परवर्ती यादव राजाओं से संबंधित थी। करौली राजवंश का संस्थापक विजयपाल यादव श्री कृष्ण की ८८वीं पीढ़ी में हुआ था। इगणोड़ा शिला लेख के अनुसार उसका राज्यकाल सं० ११५० के आस-पास था। शिला लेखों में उसे 'महाराजाधिराज परम भट्टारक' लिखा गया है, जिससे उसे एक शक्तिशाली राजा माना जा सकता है।

४. बुद्ध काल से मौर्यपूर्व काल तक

[विक्रमपूर्व सं० ५६६ से विक्रमपूर्व सं० २६८ तक]

युगांतरकारी धार्मिक क्रांति—श्री कृष्ण ने आर्यों के सर्वप्रधान देव इंद्र की मान्यता घटा कर प्राचीन वैदिक संस्कृति में प्रथम क्रांति की थी। उनके पश्चात् इस देश में जो युगांतरकारी महापुरुष हुए, उनमें बुद्ध और महावीर के नाम इतिहास प्रसिद्ध हैं। वे दोनों महानुभाव श्री कृष्ण की तरह शूरसेन अर्थात् प्राचीन व्रज प्रदेश में उत्पन्न न होकर भारत के पूर्वी भाग में हुए थे; किंतु उनकी क्रांतिकारी विचार–धाराओं से इस देश के अन्य भागों की तरह यह प्रदेश भी प्रचुरता से प्रभावित हुआ था। उन्होंने प्रवृत्ति प्रधान वैदिक कर्मकांड, विशेष कर हिंसापूर्ण यज्ञों के स्थान पर अपने ज्ञान–वैराग्य मूलक निवृत्ति प्रधान धर्मों को प्रचलित किया था। उसके फल स्वरूप जो धार्मिक क्रांति हुई, उसने श्रमण संस्कृति को जन्म दिया और उसका प्रभाव उस काल की राजनैतिक स्थिति पर भी व्यापक रूप से पड़ा था।

बुद्ध और महावीर द्वारा प्रचलित धर्म क्रमशः **'बौद्ध धर्म'** और **'जैन धर्म'** कहलाते हैं। उनका उदय और आरंभिक प्रचार भारत के उस भू-भाग में हुआ था, जिसे आजकल पूर्वी उत्तर-प्रदेश और बिहार कहते हैं। बौद्ध और जैन धर्मों की रचनाओं तथा अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध और महावीर स्वामी दोनों ही अपने–अपने धर्मों के प्रचारार्थ मथुरा आये थे; किंतु वे यहाँ पर बहुत कम समय तक रहे थे। आरंभ में यहाँ के निवासी उनके उपदेशों से बहुत कम प्रभावित हुए; किंतु बाद में मथुरा सहित समस्त शूरसेन प्रदेश जैन–बौद्ध धर्मों के प्रभाव–क्षेत्र में आ गया और उनका एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। यहाँ के राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर उक्त धर्मों का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा था।

उस काल के विभिन्न राज्य—बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध के जन्म से पहिले भारतवर्ष में सोलह बड़े और अनेक छोटे जनपदीय राज्य थे। उस काल के बड़े राज्यों के नाम १. कुरु, २. पंचाल, ३. शूरसेन, ४. मत्स्य, ५. गंधार, ६. कंबोज, ७ चेदि, ८. वत्स, ९. काशी, १०. कोशल, ११. मगध, १२. अंग, १३. वज्जि, १४. मल्ल, १५. अवंति और १६. अस्सक थे[१]। बड़े राज्यों में शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रज प्रदेश भी था। पुराणों में महाभारत

---

(१) अंगुत्तर निकाय, पृष्ठ १९५

के बाद शूरसेन प्रदेश के राजाओं की क्रमबद्ध नामावली नहीं मिलती है। इससे अनुमान किया जाता है कि उस काल में शूरसेन राज्य और उसके राजाओं का अधिक महत्व नहीं था; किंतु जब उसकी गणना बड़े राज्यां में होती थी, तब वह एकदम महत्वशून्य भी नहीं रहा होगा।

बुद्ध–महावीर काल में भी देश में अनेक छोटे–बड़े जनपदीय राज्य थे; किंतु उनमें १. मगध, २. कोशल, ३. वत्स और ४. अवंति के राज्य विशेष महत्वपूर्ण माने जाते थे। मगध पर शिशुनाग वंशीय सम्राट बिंबसार तथा उसके पुत्र अजातशत्रु का शासन था और उनकी राजधानी राजगृह थी। कोशल पर प्रसेनजित तथा उसके पुत्र विडूडभ का राज्य था और उनकी राजधानी श्रावस्ती थी। वत्स या वंश का राजा प्रसिद्ध कलाकार उदयन था और कौशांबी उसकी राजधानी थी। अवंति का राजा महासेन प्रद्योत था, जो अपनी तेजस्विता के कारण चंड प्रद्योत कहलाता था और उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। उन प्रधान राज्यों की तुलना में विगत युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध राज्य कुरु और पंचाल अपना महत्व खो चुके थे। शूरसेन राज्य और उसकी राजधानी मथुरा का महत्व भी उस काल में कम हो गया था।

शूरसेन तथा मथुरा के तत्कालीन राजा—बौद्ध साहित्य में तत्कालीन मथुरा के एक राजा का नाम अवंतिपुत्र मिलता है; किंतु यह स्पष्ट नहीं होता है कि जब भगवान् बुद्ध मथुरा आये थे, तब यहाँ अवंतिपुत्र राज्य करता था या नहीं। बौद्ध साहित्य में बुद्ध से पहिले मथुरा के एक यादव राजा का नाम सुबाहु भी मिलता है[1]; किंतु वह अवंतिपुत्र का पूर्वज था, अथवा कोई दूसरा राजा, यह नहीं लिखा गया है। 'गर्ग संहिता' में मथुरा के यदुवंशी राजा वज्रनाभ के पौत्र का नाम भी सुबाहु बतलाया गया है[2]; किंतु उसमें सुबाहु के वंशजों का नामोल्लेख नहीं किया गया है।

जैन साहित्य में उस काल के मथुरा–नरेश का नाम उदितोदय या भीदाम मिलता है; किंतु उसकी वंश–परंपरा अज्ञात है। उदितोदय का अवंतिपुत्र से क्या संबंध था, यह भी ज्ञात नहीं होता है। वज्रनाभ के पौत्र सुबाहु से लेकर अवंतिपुत्र तक अथवा उदितोदय तक मथुरा के राजाओं के वंश और वंशजों का क्रमवद्ध विवरण न तो बौद्ध साहित्य में मिलता है और न जैन साहित्य में।

अवंतिपुत्र—जैसा पहिले लिखा गया है कि बौद्ध साहित्य के अनुसार मथुरा के तत्कालीन राजा का नाम अवंतिपुत्र था, जो भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से कुछ पहिले यहाँ राज्य करता था। बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने दो बार मथुरा की यात्रा की थी। यहाँ की पहिली यात्रा उन्होंने अपने जीवन के मध्य काल में बारहवें वर्षा–वास के अवसर पर की थी। उस समय मथुरा की राजनैतिक स्थिति बड़ी अस्त–व्यस्त थी और तब संभवतः यहाँ अवंतिपुत्र का शासन नहीं था। बुद्ध की दूसरी मथुरा–यात्रा उनके परिनिर्वाण से कुछ समय पूर्व हुई थी। उस समय यहाँ अवंतिपुत्र के राजा होने की संभावना जान पड़ती है। बुद्ध के जीवन-काल में अवंतिपुत्र मथुरा का राजा तो हो गया था; किंतु वह बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं हुआ था। बाद में अवंति के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान महा कात्यायन ने अवंतिपुत्र को मथुरा के गुंदबन में बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। उस समय जब अवंतिपुत्र ने कात्यायन से बुद्ध का दर्शन कराने की

---

(१) ललित विस्तर (लेफमेन संस्करण), पृष्ठ २१–२२

(२) गर्ग संहिता, माहात्म्य खंड

इच्छा प्रकट की थी, तब उस बौद्ध विद्वान ने उत्तर दिया था कि अब भगवान् बुद्ध विद्यमान नहीं हैं; उनका महा परिनिर्वाण हो चुका है[1]।

अवंति और मथुरा राज्यों का पारस्परिक संबंध—बुद्ध से पहिले भारत के जिन १६ महा जनपदों का उल्लेख किया जा चुका है, उनमें एक अवंति भी था। बुद्ध काल में वह एक विशाल राज्य के रूप में विकसित हुआ और तब वह उस काल के चार सर्व प्रधान राज्यों में गिना जाता था। जैसा पहिले लिखा गया है, उस काल के शेष तीन राज्य मगध, कोशल और वत्स थे। तब शूरसेन की गणना प्रधान राज्यों में नहीं होती थी। अवंति राज्य नर्मदा की घाटी में स्थित प्राचीन मान्धाता नगर से लेकर वर्तमान इंदौर जिले के महेश्वर तक विस्तृत था। इस प्रकार वह मालवा क्षेत्र का पूर्ववर्ती राज्य था। वह उत्तर और दक्षिण के दो भागों में विभाजित था, जिनके बीच में वेत्रवती (बेतवा) नदी बहती थी। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी थी और दक्षिणी भाग की माहिष्मती। कुछ लोग माहिष्मती को महेश्वर से मिलाते हैं; किंतु उसकी स्थिति के कारण उसे मान्धाता नगर से मिलाना अधिक संगत ज्ञात होता है।

बुद्ध काल के चारों प्रधान राज्यों में वत्स या वंस की स्थिति सबसे दुर्बल थी। वह तीनों प्रधान राज्यों के बीच में था, अतः उस पर तीनों के आक्रमण की सदैव आशंका रहती थी। वे तीनों राज्य भी अपने राजनैतिक संतुलन के लिए वत्स पर दृष्टि लगाये रहते थे। वत्स का तत्कालीन राजा उदयन वीणा बजाने में बड़ा कुशल था। वह वीणा–वादन द्वारा हाथियों का आखेट किया करता था। एक वार अवंति राज्य की सीमा के बनों में हाथियों का उसी प्रकार आखेट करते समय वह वहाँ के तत्कालीन राजा चंड प्रद्योत का कैदी बना लिया गया था। उस समय अवंति द्वारा वत्स राज्य पर अधिकार किये जाने की स्थिति उत्पन्न हो गई थी; किंतु उदयन के सौभाग्य से वैसा नहीं हो सका। चंड प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता उस पर मोहित हो गई थी; अतः उसने वत्सराज को गुप्त रूप से कारागार से मुक्त करा दिया और वह स्वयं भी उसके साथ वत्स की राजधानी में पहुँच कर उसकी प्रिय पत्नी बन गई थी। निदान विवश होकर चंड प्रद्योत को वत्स की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी। उस वैवाहिक संबंध के कारण दोनों राज्यों की स्थिति सुदृढ़ हो गई थी। उससे अवंति-राज चंड प्रद्योत का प्रभाव क्षेत्र वत्स राज्य तक विस्तृत हो गया था।

बौद्ध साहित्य में मथुरा के राजा अवंतिपुत्र को चंड प्रद्योत का दौहित्र लिखा गया है[2]। इससे समझा जा सकता है कि प्रद्योत की दूसरी पुत्री मथुरा–नरेश अवंतिपुत्र के पिता को विवाही गई होगी। किंतु वासवदत्ता–उदयन के नामों की जितनी प्रसिद्धि है, उतनी ही प्रद्योत की उस पुत्री और अवंतिपुत्र के पिता के नामों की अप्रसिद्धि भी है। इसके साथ ही यह भी ज्ञात नहीं होता है कि अवंतिपुत्र से पहिले उसका पिता मथुरा का राजा था भी या नहीं। आश्चर्य की बात है, जिस व्यक्ति ने प्रद्योत जैसे प्रतापी नरेश की पुत्री के साथ विवाह किया था, उसके नाम का कहीं उल्लेख नहीं मिलता; जब कि वासवदत्ता–उदयन के नामों की ध्वनि तत्कालीन बौद्ध धर्म ग्रंथों के अतिरिक्त बाद के अनेक काव्य, नाटक और कथा ग्रंथों में भी गूँजती रही है !

---

(१) **'मज्झिम निकाय' का 'माधुरिय सुत्तंत',**

(२) **१. मज्झिम निकाय का 'माधुरिय सुत्तंत' तथा उसकी 'अट्ठकथा'**
२. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २७६

जैसा लिखा जा चुका है, जिस समय बुद्ध प्रथम बार मथुरा आये थे, उस समय यहाँ बड़ी दुर्व्यवस्था थी । उससे समझा जा सकता है कि उस काल में यहाँ पर किसी प्रभावशाली राजा का शासन नहीं था । संभव है, उस स्थिति का लाभ उठा कर चंड प्रद्योत ने अपने दौहित्र को यहाँ का राजा बना दिया हो । ऐसी दशा में मथुरा के प्राचीन यादव वंश से अवंतिपुत्र का संबंध जोड़ना कठिन होगा । कुछ भी हो, बुद्ध-काल में मथुरा का जो राजा अवंतिपुत्र था, वह चंड प्रद्योत का दौहित्र होने से जहाँ उसके प्रभाव में था, वहाँ अपने नाना की प्रबल शक्ति के कारण शक्तिशाली भी था । इस प्रकार यह माना जा सकता है कि बुद्ध–महावीर युग में शूरसेन जनपद का मथुरा राज्य सर्वथा महत्वहीन नहीं होगा ।

भगवान् बुद्ध और शूरसेन प्रदेश—

बुद्ध का जीवन-वृत्तांत और धर्मोपदेश—गौतम बुद्ध का जन्म प्राचीन कोशल जनपद के अंतर्गत शाक्य गण राज्य की राजधानी कपिलवस्तु के लुंबिनी वन में विक्रमपूर्व सं०५६६ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था । उनका जन्म–स्थान इस समय 'रुम्मनदेई' कहलाता है, जो उत्तर-प्रदेश और नेपाल का एक सीमावर्ती गाँव है । गौतम के पिता शाक्यों के गण-प्रमुख शुद्धोदन थे और उनकी माता का नाम महामाया था । उनका आरंभिक नाम सिद्धार्थ था । यद्यपि उन्हें संसार के समस्त भौतिक सुख प्राप्त थे, तथापि उनका मन उनमें नहीं रमता था । फलतः वे २९ वर्ष की युवावस्था में ही वृद्ध माता-पिता, युवा पत्नी और नवजात शिशु तथा राजकीय वैभव को छोड़ कर विरक्त वेश में घर से चल दिये थे । पहिले उन्होंने कई वर्षों तक घोर तपस्या की; किंतु उससे उन्हें शांति प्राप्त नहीं हुई । बाद में वे चिंतन–मनन में लीन रहने लगे । कुछ समय पश्चात् उनके हृदय में ज्ञान की अपूर्व ज्योति जगमगा उठी और उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें सम्यक् 'बोध' हो गया है । इस प्रकार बोध प्राप्त होने से वे सिद्धार्थ की अपेक्षा 'बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए । उसके बाद उन्होंने संसार के दुखी मानवों के कल्याणार्थ उपदेश करना आरंभ किया था ।

बुद्ध का प्रथम धर्मोपदेश विक्रमपूर्व सं० ५३१ की आषाढ़ी पूर्णिमा को वाराणसी के निकटवर्ती सारनाथ नामक स्थान में हुआ था । बौद्ध धर्म में वह उपदेश 'धर्मचक्र प्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है । वे वर्ष में प्रायः ८–९ महीने धर्म-प्रचार के लिए 'चारिका' (विचरण) करते थे और वर्षा ऋतु के ३–४ महीने किसी एक स्थान पर निवास कर धर्मोपदेश करते हुए बिताते थे । बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि 'धर्म चक्र प्रवर्तन' के पश्चात् उन्होंने अपने जीवन में ४५ 'वर्षा-वास' किये थे । उनका परिनिर्वाण ८० वर्ष की आयु में मल्ल गणराज्यांगत कुशिनारा के शालबन में विक्रमपूर्व सं० ४८६ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था । उनका प्रवर्तित धर्म 'बौद्ध धर्म' कहलाता है, जिसने भारतवर्ष के अतिरिक्त विदेशों में भी अपनी पुण्य पताका फहराई थी ।

बुद्ध का मथुरा-आगमन—बौद्ध धर्म के विविध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध अपना धर्मोपदेश करते हुए मथुरा भी आये थे । उनके आवागमन से संबंधित जो उल्लेख मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. 'अंगुत्तर निकाय' से ज्ञात होता है, जब बुद्ध श्रावस्ती में थे, तब वेरंज, वेरंजा अथवा वैरंभ नामक स्थान के निवासियों ने उन्हें अपने यहाँ आने का निमंत्रण दिया था । बुदध ने

उसे स्वीकार कर लिया और अपना बारहवाँ 'वर्षा–वास' उन्होंने वेरंजा में ही किया। इसी निकाय से विदित होता है, वे उसी समय मथुरा गये थे, जहाँ उन्होंने सद्धर्म का उपदेश किया था[1]।

२. गिलगिट (काश्मीर) से प्राप्त संस्कृत बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि जब बुद्ध मथुरा आये थे, तब उन्होंने यहाँ के अनेक उपद्रवी यक्षों को प्रभावित कर उन्हें विनीत बनाया था[2]।

३. 'विमान वत्थु' में लिखा है, एक बार बुद्ध श्रावस्ती से उत्तर मधुरा (मथुरा) गये थे। उस समय उन्होंने एक मरणासन्न महिला का आतिथ्य ग्रहण किया, जिससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी[3]।

४. 'अंगुत्तर निकाय' का उल्लेख है, एक बार जब बुद्ध मथुरा में एक वृक्ष की छाया में बैठे हुए थे, तब वहाँ अनेक गृहस्थों ने उनका आदर–सत्कार किया था[4]।

५. 'दिव्यावदान' से ज्ञात होता है, बुद्ध अपने निर्वाण–काल से कुछ समय पहिले मथुरा गये थे। उस समय उन्होंने वहाँ के रुरुमुंड पर्वत को देख कर अपने शिष्य आनंद से भविष्यवाणी की थी कि वहाँ पर सौ वर्ष पश्चात् 'नटभट विहार' का निर्माण होगा और उस काल में उन्हीं के समान सद्धर्म का एक दूसरा उपदेशक उपगुप्त जन्म लेगा[5]।

६. चीनी यात्री हुएनसांग ने अपने यात्रा–विवरण में लिखा है, एक बार बुद्ध मथुरा से प्राय: ४ मील दक्षिण–पूर्व में एक सूखे तालाब के किनारे घूम रहे थे। उस समय एक बंदर ने उन्हें शहद अर्पित किया था, जिससे उसे मनुष्य योनि प्राप्त हुई थी[6]।

उपर्युक्त उल्लेखों से गौतम बुद्ध का कई बार मथुरा आना ज्ञात होता है। यदि उक्त घटनाओं को काल–क्रम से एकत्र किया जाय, तब भी बुद्ध का दो बार मथुरा आना अवश्य सिद्ध होता है। पहिली बार वे अपने जीवन के मध्य काल में बारहवें वर्षा–वास के अवसर पर वेरंजा या वेरंभ नामक स्थान से यहाँ आये थे। दूसरी बार अपने निर्वाण काल से कुछ समय पूर्व वे अपने प्रिय शिष्य आनंद के साथ आये थे और उन्होंने यहाँ के 'रुरुमुंड पर्वत' को देखा था। इन दोनों में भी वेरंजा से मथुरा आने का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में अधिक प्रामाणिक ढंग से हुआ है। बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी ग्रंथों में बुद्ध के मथुरा–आगमन का उल्लेख जैसे निश्चय के साथ किया गया है, वैसा उक्त धर्म के दूसरे संप्रदायों के ग्रंथों में नहीं हुआ है। फिर भी वेरंजा में किये गये बारहवें वर्षा–वास के संबंध में कोई मतभेद नहीं है। 'अंगुत्तर निकाय' के 'वेरंजक ब्राह्मण सुत्त' में बुद्ध की मथुरा–वेरंजा यात्रा का वर्णन है; "अत: पालि विवरण से भी यह निश्चित जान पड़ता है कि बुद्धत्व–प्राप्ति के बारहवें वर्ष में ही भगवान् बुद्ध ने मथुरा की यात्रा की और उसके बाद लौट कर वे वेरंजा ही आ गये, जहाँ से उन्होंने अपनी श्रावस्ती तक की पूर्वोक्त यात्रा की थी[7]।"

---

(१) **अंगुत्तर निकाय,** (जिल्द २, पृष्ठ ५७ तथा जिल्द ३, पृष्ठ २५७)

(२) **गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स,** (जिल्द ३, भाग १)

(३) **विमान वत्थु की अट्ठकथा,** (भाष्य, पृष्ठ ११८–११९)

(४) **अंगुत्तर निकाय,** (जिल्द २, पृष्ठ ५७)

(५) **दिव्यावदान,** (कावेल संस्करण, पृष्ठ ३४८–३४९)

(६) **आन युवानच्वांग्स ट्रैवल्स इन इंडिया,** (टामस वाटर्स–जिल्द १, पृष्ठ ३०१)

(७) **बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल,** (पृष्ठ १०९)

मथुरा-आगमन का मार्ग—भगवान् बुद्ध के मथुरा–आगमन का मार्ग इस प्रकार मालूम होता है। वे श्रावस्ती से कान्यकुब्ज (कन्नौज), संकाश्य[1], सोरों, वेरंजा होते हुए मथुरा पहुँचे थे। फिर मथुरा से ओतला होकर वेरंजा वापिस चले गये और वहाँ वर्षा–वास करने के अनंतर वे सोरों, संकाश्य, कान्यकुब्ज होते हुए प्रयाग गये थे। वहाँ से प्रतिष्ठान होकर वाराणसी पहुँचे और फिर वैशाली गये, जहाँ से वे श्रावस्ती को वापिस चले गये थे।

वेरंजा की स्थिति—भगवान् बुद्ध जिस वेरंजा नामक स्थान से मथुरा आये थे, वह बुद्ध काल के प्रधान राजमार्ग उत्तरापथ पर स्थित था। वह मार्ग पूर्वी भारत के प्रमुख राज्य मगध की राजधानी राजगृह से चल कर वेरंजा–मथुरा होता हुआ उत्तर–पश्चिमी सीमावर्ती गंधार राज्य की राजधानी तक्षशिला तक पहुँचता था। उस विख्यात मार्ग पर जो शकट–सार्थ राजगृह से चलते थे, वे नालंदा, पाटलिपुत्र, वाराणसी, प्रयाग, प्रतिष्ठान, कन्नौज, सोरों आदि मुकामों में ठहरते हुए वेरंजा में रुकते थे और वहाँ से मथुरा, इंद्रप्रस्थ, स्यालकोट आदि मुकामों में डेरा डालते हुए तक्षशिला जाकर अपनी यात्रा समाप्त करते थे[2]। इस प्रकार सोरों और मथुरा के बीच में होने के कारण वेरंजा की स्थिति मथुरा से पूर्व दिशा में होनी चाहिए। डा० नलिनाक्ष दत्त और श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने पालि 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' में लिखे हुए विवरण से यह निष्कर्ष निकाला है कि वेरंजा अथवा वैरंभ मथुरा के पश्चिम में था[3]। यदि वेरंजा की स्थिति मथुरा और सोरों के बीच में मानी जाती है, तब वह मथुरा के पश्चिम में न होकर पूर्व में ही हो सकता है। ऐसी दशा में उक्त दोनों विद्वानों का कथन मान्य नहीं हो सकता। उन्होंने एक भूल यह भी की है कि सोरों को उन्होंने वर्तमान उत्तर प्रदेश में नहीं माना है[4]; जब कि वह एटा जिला के अंतर्गत होने के कारण निश्चय ही उत्तर प्रदेश राज्य में है।

वेरंजा की पहिचान—वेरंजा नामक स्थान को अभी तक ठीक तरह से नहीं पहिचाना जा सका है। इसका मुख्य कारण यह है कि बौद्ध साहित्य के अनंतर हिंदू साहित्य में उसका उल्लेख नहीं मिलता है। बर्तमान काल में भी मथुरा के आस–पास इस नाम का अथवा इससे मिलते हुए नाम का कोई ऐसा स्थान नहीं है, जिसकी वेरंजा के समान महत्वपूर्ण स्थिति और प्राचीन परंपरा रही हो। डा० मोतीचंद्र ने लिखा है—"वेरंजा की ठीक-ठीक पहिचान नहीं हुई है। पर शायद यह आगरा में बारी तहसील के कहीं आस–पास था, जहाँ से अलबेरुनी के समय में एक रास्ता चलता था[5]।" इसके संबंध में उल्लेखनीय है कि बारी आगरा में न होकर राजस्थान के अंतर्गत धौलपुर के पश्चिम में रेल का एक छोटा स्टेशन है। यह स्थान सोरों और मथुरा से बहुत दूर पड़ जाता है और यह सीधे मार्ग पर भी नहीं है; अतः इसे वेरंजा समझने में कोई तुक नहीं है।

---

(१) संकाश्य (वर्तमान संकिया बसंतपुर) फर्रुखाबाद जिला में काली नदी के पास उत्तरी रेलवे के मोटा स्टेशन के समीप था। (बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १०४)

(२) बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, (पृष्ठ ५३८)

(३) १. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, (पृष्ठ १९९)
२. ब्रज का इतिहास, (भाग २, पृष्ठ ८ की पाद-टिप्पणी)

(४) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, (पृष्ठ १३)

(५) भारतीय व्यापार का इतिहास, (भूमिका, पृष्ठ ७)

डा० भरतसिंह उपाध्याय ने पालि विवरणों में बतलाई हुई वेरंजा की स्थिति का अनुसंधान करने के अनंतर अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है—"आज जहाँ ग्रांड ट्रंक रोड अलीगढ़ और एटा के बीच सिकंदराराव कस्वा (ज़िला अलीगढ़) के पास मथुरा और सोरों के बीच के मार्ग को काटती है, वहीं संभवः कहीं वेरंजा था[1] ।" हम भी उक्त मत से सहमत हैं। सिकंदराराव के आस–पास ऐसा कौन सा स्थान हो सकता है, अब यह विचारणीय है। पहिली बात यह है कि सोरों और मथुरा के बीच का पड़ाव होने के कारण उसे सिकंदराराव से कुछ पश्चिम में मथुरा की ओर होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि उसे मुख्य राजमार्ग पर होना आवश्यक है। तीसरी बात यह है कि उसकी प्राचीन परंपरा भी होनी चाहिए। इन सब बातों पर विचार करने से वेरंजा की पहिचान अलीगढ़ जिला के बरहद अथवा एटा जिला के अतरंजी नामक स्थानों से की जा सकती है।

बरहद सोरों और मथुरा के प्रायः बीचों बीच में है। यह स्थान वर्तमान ग्रांड ट्रंक रोड के निकट है, अतः इसकी स्थिति प्राचीन उत्तरापथ के राजमार्ग पर अनुमानित की जा सकती है। इसकी प्राचीन परंपरा उस अनुश्रुति से सिद्ध होती है, जो इसे ब्रज की पूर्वोत्तरी सीमा पर बतलाने वाले दोहा में व्यक्त की गई है[2]। वेरंजा की पहिचान के लिए बरहद से भी अच्छी स्थिति अतरंजी नामक खेड़ा की कही जा सकती है। जब चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत के बौद्ध तीर्थों की यात्रा कर रहा था, तब वह अहिछत्रा (उत्तरी पंचाल की प्राचीन राजधानी और वर्तमान रामपुर) से गंगा पार कर जिस स्थान पर गया था, उसका नाम उसने 'पिलोशना' (Piloshna) लिखा है। कनिंघम ने पिलोशना की पहिचान करते हुए पहिले उसे सोरों समझा था; किंतु बाद में उनकी सम्मति अतरंजी खेड़ा के पक्ष में हो गई थी। उसका कारण कनिंघम ने यह बतलाया है कि सोरों के आस–पास वही एक मात्र प्राचीन स्थान है; यद्यपि उसकी दूरी ह्वेनसांग द्वारा बतलाई दूरी से कुछ अधिक है। उसका कारण उस चीनी यात्री का भ्रम हो सकता है[3]।

अतरंजी का खेड़ा तीन हजार फीट लंबा, डेढ़ हजार फीट चौड़ा और पेंसठ फीट ऊँचा एक उजड़ा हुआ बड़ा टीला है। यह ग्रांड ट्रंक रोड पर एटा से ८ मील उत्तर की ओर काली नदी के तट पर स्थित है। बौद्ध कालीन प्रसिद्ध स्थान सोरों से यह १५ मील दक्षिण में, संकिसा से प्रायः ५० मील और कन्नौज से प्रायः १०० मील उत्तर–पश्चिम में है। यह एक प्राचीन स्थल है, जो किसी समय एक बड़ा नगर था। इसका प्रमाण वहाँ से उपलब्ध महत्वपूर्ण ध्वंसावशेष हैं और पुरातत्व की सामग्री है। जब मुसलमानों ने उस नगर पर आक्रमण किया, तब वहाँ के राजा बेन ने उन्हें कई बार भगा दिया था। अंत में मुहम्मद गोरी ने उसे पराजित कर उस नगर को बर्बाद कर दिया। तभी से यह उजाड़ पड़ा है। अभी कुछ समय पूर्व अलीगढ़ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग ने इस खेड़ा की खुदाई करा कर महत्वपूर्ण प्राचीन सामग्री उपलब्ध की थी, जिससे इस स्थान की

---

(१) बुद्ध कालीन भूगोल, (पृष्ठ ४२५)

(२) इत बरहद इत सोनहद, उत शूरसेन कौ गाँम।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरामंडल धाम॥

(३) ह्वेनसांग का भारत–भ्रमण, (पृष्ठ ४२०)

अत्यंत प्राचीन परंपरा सिद्ध होती है। यदि इसे हुएनसांग का 'पिलोशना' समझा जाय, तब उसके उल्लेखानुसार वहाँ भगवान् बुद्ध ने ७ दिनों तक धर्मोपदेश किया था और सम्राट अशोक ने वहाँ १०० फीट ऊँचा एक स्तूप बनवाया था। यह स्थान बौद्ध काल में एक प्रसिद्ध नगर और बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। 'आईने अकबरी' में इसका नाम सिकंदरपुर अतरंजी लिखा गया है। अन्यत्र इसका नाम वरंजी या वरंजा भी लिखा मिलता है। इस प्रकार इसे प्राचीन वेरंजा से मिलाने में कोई असंगति नहीं मालूम होती है।

ओतला और उरुमुंड की पहिचान—जैसा पहिले लिखा गया है, बुद्ध भगवान् मथुरा की अपनी प्रथम यात्रा के उपरांत ओतला होते हुए वेरंजा वापिस गये थे और दूसरी यात्रा में उन्होंने यहाँ के उरुमुंड पर्वत को देखा था। उक्त ओतला नामक स्थान और उरुमुंड नामक पर्वत की भी अब तक ठीक तरह से पहिचान नहीं की जा सकी है। ओतला के संबंध में तो विद्वानों ने विचार तक नहीं किया है। डा० भरतसिंह उपाध्याय का ध्यान सर्वप्रथम उसकी ओर गया था, किंतु उन्होंने भी उसे "एक नई समस्या" तथा "उस स्थान का कोई ठीक पता अभी नहीं लग सका है[१] "—कह कर छोड़ दिया है। ओतला वास्तव में एक 'नई समस्या' है और इसके संबंध में अभी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

उरुमुंड अथवा रुरुमुंड पर्वत के संबंध में विद्वानों का झुकाव उसे गोबर्धन पर्वत मानने के पक्ष में रहा है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने पहिले उसे गोबर्धन न मान कर उसके "मथुरा के दक्षिण-पूर्व में कोई बड़ा ऊँचा टीला" होने की संभावना प्रकट की थी[२]। बाद में उन्होंने आनंद के शिष्य मध्यांतिक के निवास स्थल 'उशीर पर्वत' के साथ ही साथ रुरुमुंड या उरुमुंड पर्वत को भी गोबर्धन पर्वत होना संभव बतलाया है[३]। श्री ग्राउस ने उरुमुंड की पहिचान कंकाली टीला से की थी[४]; उसका खंडन करते हुए डा० भरतसिंह उपाध्याय ने रुरुमुंड या उरुमुंड पर्वत को गोबर्धन पर्वत ही बतलाया है। उन्होंने महा कात्यायन द्वारा अवंतिपुत्र को उपदेश देने के स्थल 'गुंदाबन' या 'गुंदवन' की पहिचान भी गोबर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड-कृष्णकुंड से की है[५]।

चीनी यात्री हुएनसांग ने उपगुप्त विहार के संबंध में जो आँखों देखा वृत्तांत लिखा है, उसे प्रामाणिक मानने से उरुमुंड या रुरुमुंड पर्वत के गोबर्धन पर्वत होने की संभावना समाप्त हो जाती है। पूर्वोक्त विद्वानों को गोबर्धन तक दृष्टि फैलाने की आवश्यकता कदाचित इसलिए हुई कि मथुरा की प्राचीन या नवीन सीमाओं के आस-पास कोई तथाकथित 'पर्वत' नहीं है। यदि हम मथुरा के निकटवर्ती ऊँचे टीलों को, जो गोबर्धन से किसी प्रकार ऊँचाई में कम नहीं हैं, 'पर्वत' की संज्ञा दे सकें, तो उरुमुंड पर्वत की ठीक पहिचान हो सकती है। हुएनसांग ने भारत के ऊँचे टीलों को पहाड़ की संज्ञा दी भी है[६]। उसने उपगुप्त विहार को किसी ऊँचे स्थान पर स्थित बतलाया है और उसे

---

(१) **बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल,** (पृष्ठ ४२४)

(२) **दिव्यावदान में मथुरा का उल्लेख,** (ब्रज भारती-वर्ष १०, अंक २)

(३) **ब्रज का इतिहास,** (द्वितीय भाग, पृष्ठ १०)

(४) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर,** (तृतीय संस्करण—पृष्ठ ११६)

(५) **बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल,** (पृष्ठ ४४१-४४३)

(६) **हुएनसांग का भारत भ्रमण,** (पुष्ठ १८३)

मथुरा नगर से ५–६ ली (लगभग १$\frac{१}{४}$ मील) पूर्व दिशा में बतलाते हुए उसके अंदर एक स्तूप और उसके उत्तर में एक बड़ी गुफा होने का उल्लेख किया है[1]।

हुएनसांग के उल्लेखानुसार हमें उरुमुंड पर्वत, जहाँ उपगुप्त विहार भी था, बुद्ध कालीन मथुरा के १$\frac{१}{४}$ मील पूर्व की ओर खोजना चाहिए। बुद्ध कालीन मथुरा कटरा केशवदेव के आस–पास थी, जहाँ से गोबर्धन पर्वत प्रायः १३ मील पश्चिमी दिशा में है। कंकाली टीले को ग्राउस ने "कटरा से कुछ पूर्व में" बतलाया है[2]; किंतु वह भी उसके दक्षिण में है, न कि पूर्व में। कंकाली टीला प्राचीन काल में जैन धर्म का एक बड़ा केन्द्र था, जहाँ उसके अनेक स्तूप–मंदिर आदि थे। बौद्ध धर्म के किसी बड़े स्तूपादि के वहाँ होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। गोवर्धन के विरुद्ध एक बड़ी बात यह है कि उसके उरुमुंड या रुरुमुंड नाम की कोई प्राचीन परंपरा नहीं मिलती है। गोबर्धन पहाड़ी कृष्ण–काल का प्राचीन अवशेष है और पुराणादि ग्रंथों में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। उनमें से किसी में भी उसका उरुमुंड नाम नहीं मिलता है। बौद्ध कथा ग्रंथ 'घट जातक' में भी उसे 'गोवड्ढन' ही कहा गया है। ऐसी दशा में गोबर्धन और कंकाली टीला में से किसी को भी उरुमुंड पर्वत नहीं कहा जा सकता है।

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने उपगुप्त विहार के 'सप्तर्षि टीला' पर या उससे कुछ आगे पूर्व दिशा में स्थित वर्तमान 'बुद्धतीर्थ' पर होने की संभावना प्रकट की है[3]। उपगुप्त विहार के साथ उरुमुंड पर्वत की स्थिति जुड़ी हुई है। जब श्री वाजपेयी जी उरुमुंड पर्वत को गोबर्धन पर्वत होने की संभावना प्रकट करते हैं, तो उपगुप्त विहार का मथुरा में होना असंगत हो जाता है; जब कि हुएनसांग के उल्लेखानुसार उसे मथुरा की प्राचीन बस्ती से १–१। मील पूर्व दिशा में ही होना चाहिए। बुद्ध कालीन मथुरा से प्रायः १ मील पूर्व में एक ऊँचा टीला है, जिस पर बने हुए टूटे दुर्ग को अब भ्रम वश 'कंस का किला' कहा जाता है। उसकी स्थिति सप्तर्षि टीला की अपेक्षा उपगुप्त बिहार की हुएनसांग द्वारा बतलाई हुई स्थिति के अधिक अनुकूल है। किंतु फिर भी उसे उरुमुंड पर्वत नहीं कहा जा सकता।

हमारे मतानुसार बौद्ध साहित्य का रुरुमुंड अथवा उरुमुंड पर्वत वर्तमान गोकर्णेश्वर महादेव के निकटवर्ती टीलों में से कोई ऊँचा टीला था। उसके नाम की परंपरा 'पद्मपुराण' में उल्लिखित रुरु दैत्य की कथा के आधार पर प्रचलित हुई जान पड़ती है। उक्त पुराण में लिखा है, प्राचीन काल में एक अत्यंत बलशाली दैत्य हुआ, जिसका नाम 'रुरु' था। उसने देवताओं को बड़ा कष्ट दिया था। फलतः देवताओं की प्रार्थना पर भगवती शिवदूती ने रुरु दैत्य का मुंड-छेदन किया था[4]। उस रुरुमुंड को धारण करने वाली देवी की जो स्तुति की गई है, उसमें उसे 'चामुंडा' भी कहा गया है—

---

(१) **आन हुनएसांग्स् ट्रेवल्स इन इंडिया,** (जिल्द १, पृ० ३०१–११)
(२) **मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमाअर,** (तृतीय संस्करण—पृ० ११६)
(३) **मथुरा का इतिहास,** (प्रथम भाग–पृष्ठ १२५)
(४) **पद्म पुराण,** (सृष्टिखंड, अध्याय ३१, श्लोक ६२–१४१)

"जयस्व देवि चामुंडे जय भूताप हारिणी। जय सर्वगते देवि काल रात्रि नमोऽस्तुते[1] ।"

मथुरा में चामुंडा देवी का स्थान उसी कथा की स्मृति में निर्मित हुआ जान पड़ता है। यह स्थान गोकर्णेश्वर महादेव के निकटवर्ती टीलों के पास ही है। गोकर्णेश्वर के समीप का एक प्राचीन स्थल गौतम ऋषि का स्थान माना जाता है। गौतम और गोकर्ण जहाँ पौराणिक हिंदू नाम हैं, वहाँ वे बौद्ध नाम भी हैं। गौतम तो स्वयं भगवान् बुद्ध का ही नाम है और गोकर्णेश्वर उक्त धर्म के आठ वीतरागी सिद्धों में से एक माने जाते हैं[2]। गोकर्णेश्वर क्षेत्र प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का एक बड़ा केन्द्र था। वहाँ से बौद्ध मूर्तियाँ यथेष्ट संख्या में उपलब्ध हुई हैं। कुषाण काल में वहाँ एक 'देवकुल' था, जहाँ कुषाणों के दिवंगत राजाओं की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। बौद्ध काल में वहाँ कई विहार होने के प्रमाण मिले हैं; अतः 'उपगुप्त विहार' का वहाँ होना सर्वथा संभव है। बुद्ध कालीन मथुरा से यह स्थान प्रायः १-१। मील पूर्वोत्तर दिशा में भी है। इस प्रकार उरुमुंड अथवा रुरुमुंड पर्वत और उपगुप्त विहार की पहिचान के लिए मथुरा में इससे अच्छी स्थिति का कोई दूसरा स्थल दिखलाई नहीं देता है। उसके लिए गोबर्धन पर्वत, कंकाली टीला, कंस किला और सप्तर्षि टीला में से किसी का भी नाम लेना सर्वथा असंगत कल्पना है।

बुद्ध की पहिली मथुरा-यात्रा और उसका काल—जिस समय भगवान् बुद्ध वेरंजा से प्रथम वार मथुरा आये थे, उस समय उन्हें यह स्थान रुचिकर नहीं लगा था। उन्होंने मथुरा के कई अवगुण बतलाते हुए इसे 'वहुरजा' (अधिक धूल वाली) भी कहा था। उक्त कथन से ज्ञात होता है कि वे वर्षा से पहिले मथुरा आये थे। फिर वेरंजा निवासियों की इच्छानुसार उन्होंने यहाँ से वापिस जा कर वहाँ 'वर्षा-वास' किया था। उन दिनों वेरंजा में दुर्भिक्ष था, अतः बुद्ध और उनके साथी भिक्षुओं के आहार की यथोचित व्यवस्था नहीं की जा सकी थी। उस समय वहाँ पर घोड़ों का एक व्यौपारी अपने पाँचसौ घोड़ों सहित ठहरा हुआ था। वह घोड़ों के दाने में से कुछ जौ बचा कर प्रति दिन भिक्षुओं को दिया करता था। उसी पर निर्वाह करते हुए उन्हें वर्षा-वास का समय पूरा करना पड़ा था। मूल सर्वास्तिवादी विनय पिटक के अनुसार वैरंभ (वेरंजा) के ब्राह्मण राजा अग्निदत्त ने बुद्ध को वहाँ आने के लिए निमंत्रण भेजा था। बाद में अपने पुरोहित की कुमंत्रणा से राजा ने बुद्ध और उनके साथियों का उचित सत्कार नहीं किया था। वह दुर्भिक्ष का बहाना वतला कर उनकी भोजन व्यवस्था के प्रति भी उदासीन हो गया था। इस प्रकार उन्हें वेरंजा में बड़ी असुविधा हुई थी।

बुद्ध किस काल में मथुरा आये थे, इसका निश्चय उनके 'वर्षा-वास' की गणना के आधार पर किया जा सकता है। उन्होंने विक्रम पूर्व सं० ५३० में अपना प्रथम 'वर्षा-वास' सारनाथ में किया था। उसके बाद १२ वाँ वर्षा-वास वेरंजा में हुआ, जिसका काल विक्रमपूर्व सं० ५१८ होता है। वही काल उनकी प्रथम मथुरा-यात्रा का भी है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध मथुरा में प्रथम वार विक्रमपूर्व सं० ५१८ के ज्येष्ठ मास में आये थे।

---

(१) **पद्म पुराण**, (सृष्टिखंड, अध्याय ३१, श्लोक १३५)

(२) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर**, (तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३३)

भगवान् बुद्ध

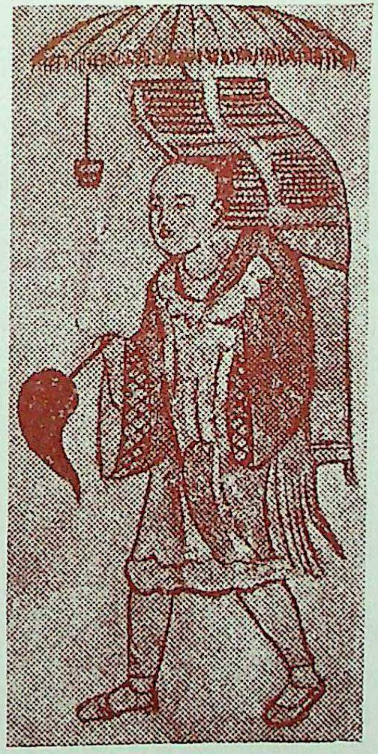

हुएनसांग

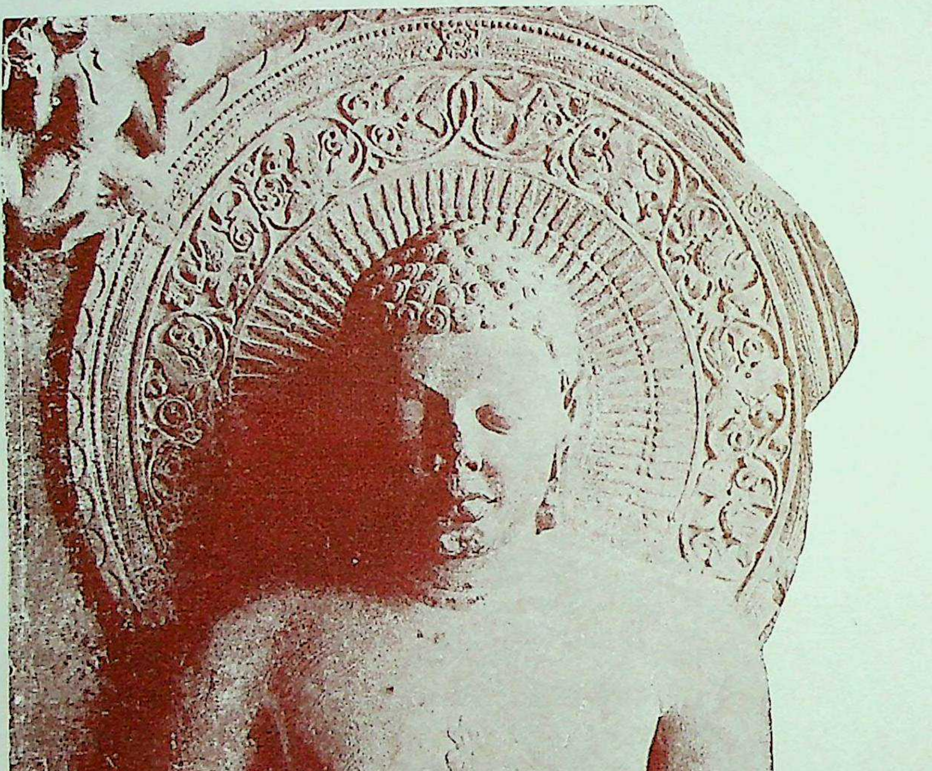

जैन तीर्थंकर

बुद्ध की दूसरी मथुरा–यात्रा और उसका काल—बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध अपने परिनिर्वाण से कुछ समय पहिले भी मथुरा आये थे। वह उनकी दूसरी यात्रा थी, जिसका उल्लेख मूल सर्वास्तिवादी विनय पिटक, अशोकावदान के चीनी अनुवाद और दिव्यावदान में हुआ है। उस समय उनके साथ आनंद सहित कई शिष्य थे। उस अवसर पर आनंद ने उन्हें उरुमुंड पर्वत का हरा–भरा वन दिखलाया था। उसे देख कर बुद्ध ने भविष्य वाणी की थी कि उनके देहावसान के सौ वर्ष बाद नट और भट नामक दो धनी भाई वहाँ बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक विहार का निर्माण करावेंगे। उसी समय एक गंधी–पुत्र उपगुप्त का जन्म होगा। वह उन्हीं के समान सद्धर्म का प्रचार कर अनेक भिक्षुओं को अर्हत् बनावेगा। बुद्ध की उक्त भविष्य वाणी को सर्वास्तिवादी ग्रंथों में बड़ा महत्व दिया गया है। यदि हम भविष्य वाणी की बात को छोड़ कर ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी समीक्षा करें, तब कहा जा सकता है कि सर्वास्तिवादी परंपरा में मथुरा के उरुमुंड पर्वत पर बुद्ध का पधारना मान्य है। इसीलिए उसकी स्मृति में वहाँ पर 'नट–भट विहार' का निर्माण हुआ था। वहाँ पर ही शाणकवासी द्वारा उपगुप्त को दीक्षा दी गई थी और कालांतर में वहाँ पर ही 'उपगुप्त विहार' के नाम से सर्वास्तिवादी बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बनाया गया था।

बुद्ध की दूसरी मथुरा–यात्रा के काल का निश्चय उनके प्रिय शिष्य आनंद की उपस्थिति और उनके परिनिर्वाण–काल की संगति से किया जा सकता है। आनंद बुद्ध–संघ की स्थापना के २० वें वर्ष भगवान् बुद्ध की सेवा में आया था और वह २५ वर्ष तक उनकी सेवा करता रहा था। इस प्रकार विक्रमपूर्व सं० ५११ आनंद का बुद्ध की सेवा में आने का काल होता है और विक्रमपूर्व सं० ४८६ भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण का काल है। इस हिसाब से बुद्ध की दूसरी मथुरा–यात्रा का काल विक्रमपूर्व सं० ४९० के लगभग अनुमानित होता है।

मथुरा का बुद्ध तीर्थ—भगवान् बुद्ध के मथुरा–आगमन की स्मृति के स्थानों में एक यहाँ का 'बुद्ध तीर्थ' भी है। यह सप्तर्षि टीला के समीप यमुना का एक घाट है। संभव है, उस स्थल पर बुद्ध ने विश्राम किया हो, जिसके कारण वह इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उक्त स्थान के निकटवर्ती क्षेत्र में प्राचीन काल से ही बौद्ध स्मारकों का निर्माण होता रहा है। मथुरा के शक क्षत्रप राजुवुल ने उसी स्थल पर एक विहार बनवाया था। गंधार शैली पर बनी हुई नीले पत्थर की एक कलापूर्ण मूर्ति, जो राजुवुल की रानी कंबोजिका की कही जाती है, उसी स्थान से उपलब्ध हुई है।

भगवान् महावीर और शूरसेन प्रदेश—

महावीर का जीवन-वृत्तांत और जैन धर्म—भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रचारक और भगवान् बुद्ध के समकालीन एक प्रसिद्ध धर्माचार्य थे। उनका जन्म बिहार के प्राचीन नगर वैशाली के समीप गंडक नदी के तटवर्ती कुंडपुर अथवा कुंडलपुर राज्य में विक्रमपूर्व सं० ५४२ की चैत्र शु० १३ को हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ, माता का नाम त्रिशला और मामा का नाम चेटक था। उनके पिता और मामा क्रमशः कुंडपुर और वैशाली गण राज्यों के अधिपति थे। उनका आरंभिक नाम बर्धमान था; किंतु बाद में वे महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। यद्यपि वे वैभवशाली राजघराने में उत्पन्न एक राजकुमार थे, तथापि आरंभ से ही वे भौतिक सुखों से

उदासीन और निर्लिप्त रहे थे। उन्होंने ३० वर्ष की युवावस्था में ही विरक्त होकर घर–बार और राजकीय वैभव को त्याग दिया था। उसके बाद उन्होंने १२ वर्ष तक कठिन तपस्या की; जिससे उन्होंने कैवल्य ज्ञान और सिद्ध पद प्राप्त किया। वे जीवन पर्यंत अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, तपस्या, सत्य और समता का प्रचार करते रहे। उनका कार्यक्षेत्र भारत का पूर्वी भाग अर्थात् वर्तमान बिहार, उड़ीसा, बंगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश था, जहाँ उन्होंने प्रायः ३० वर्षों तक भ्रमण करते हुए धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण किया था। उनका निर्वाण ८२ वर्ष की आयु में विक्रमपूर्व सं० ४७० में पावापुर नामक स्थान में हुआ था। इस प्रकार वे भगवान् बुद्ध से २४ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए और १६ वर्ष बाद तक विद्यमान रहे थे। महावीर द्वारा प्रचारित धर्म 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध है।

जैन तीर्थंकरों का मथुरा से संबंध—जैन धर्म में सिद्धि प्राप्त दैवी महापुरुषों को 'तीर्थंकर' कहा गया है और उनकी संख्या २४ मानी गई है। भगवान् महावीर इस धर्म के अंतिम और २४ वें तीर्थंकर थे। इससे समझा जा सकता है कि उनसे पहिले भी जैन धर्म का कोई रूप विद्यमान रहा होगा; किंतु भगवान् महावीर इस धर्म के प्रमुख प्रचारक ही नहीं, वरन् प्रवर्त्तक भी माने जाते हैं। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, सातवें सुपार्श्व नाथ, बाईसवें नेमिनाथ, तेईसवें पार्श्व नाथ और चौबीसवें महावीर स्वामी थे। उन सबका शूरसेन प्रदेश और मथुरा नगर से थोड़ा-बहुत संबंध रहा था।

भगवान् ऋषभदेव को वैष्णव धर्म में भी विष्णु का १० वाँ अवतार माना जाता है। उनकी अवधूत वृत्ति और योग–सिद्धि का महत्व वैष्णव धर्मावलंबियों में भी स्वीकृत है। उनका तथा सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व नाथ का मथुरा से जो संबंध था, उसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जैन मान्यता के अनुसार भगवान् श्री कृष्ण के भाई थे। उनका शूरसेन प्रदेश से जो घनिष्ट संबंध था, उस पर भी विगत पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है[1]। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व नाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। उन्होंने महावीर जी से पहिले अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य और त्याग मूलक अपने श्रमण संप्रदाय का प्रचार कर जैन धर्म की पृष्ठ भूमि का निर्माण किया था।

पार्श्व नाथ और मथुरा—जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् पार्श्व नाथ का मथुरा में विहार हुआ था। जिस समय वे यहाँ पधारे थे, उस समय यहाँ कुवेरा देवी द्वारा निर्मित प्राचीन 'सुपार्श्व स्तूप' विद्यमान था। उस काल में उस दैवी स्वर्ण स्तूप की सुरक्षा के लिए उसे ईंटों से ढक दिया गया था[2]। उक्त स्तूप का नाम परवर्ती अभिलेखों में 'जैन वोद्व स्तूप' लिखा मिलता है और वह जैन धर्म के आरंभिक इतिहास में बहुत प्रसिद्ध रहा है। भगवान् नेमिनाथ की तरह पार्श्व नाथ का भी मथुरा से घनिष्ट संबंध ज्ञात होता है। उसका कुछ संकेत भगवान् बुद्ध के मथुरा आगमन की अनुश्रुति से मिलता है। जिस समय बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचारार्थ मथुरा नगर में प्रवेश करना चाहा, तब एक नग्न स्त्री ने आकर उनका मार्ग रोक दिया था। उस घटना से

---

(१) इस ग्रंथ के पृष्ठ ४ और १३ देखिये।

(२) मथुरापुरी कल्प।

मथुरा में बुद्ध से पहिले भी उन नग्न श्रमणों की विद्यमानता ज्ञात होती है, जो तीर्थंकर नेमिनाथ अथवा पार्श्वनाथ के अनुयायी रहे होंगे। जैन धर्म के मध्यकालीन इतिहास तक में सर्वश्री नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के स्तूपों के कारण ही मथुरा का विशेष महत्व माना गया है। सिद्धसेन सूरि (१२ वीं–१३ वीं शताब्दी) कृत 'सकल तीर्थ स्तोत्र' में मथुरा नगरी की इसलिए वंदना की गई है कि वहाँ श्री पार्श्वनाथ सहित श्री नेमिनाथ के रमणीक महा स्तूप थे[1]।

भगवान् महावीर और मथुरा—जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर और उसके वास्तविक प्रवर्त्तक–प्रचारक भगवान् महावीर थे। उनका जब मथुरा में विहार हुआ था, तब वहाँ का राजा उदितोदय अथवा भीदाम था, जिसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। बौद्ध मान्यता के अनुसार बुद्धकालीन मथुरा के राजा का नाम अवंतिपुत्र था। चूँकि बुद्ध और महावीर प्रायः समकालीन थे, अतः अवंतिपुत्र और उदितोदय के भी एक होने का अनुमान किया जा सकता है। यह समझा जा सकता है कि अवंतिपुत्र का वास्तविक नाम संभवतः उदितोदय था और वह अवंतिरानी का पुत्र होने से अवंतिपुत्र कहा जाता था। पर अधिक संभावना इस बात की है कि उदितोदय अवंतिपुत्र का उत्तराधिकारी रहा होगा। अवंतिपुत्र ने जहाँ महा कात्यायन से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी, वहाँ उदितोदय ने महावीर स्वामी के उपदेश से जैन धर्म स्वीकार किया था। उससे पहिले मथुरा के राज्यश्रेष्ठि (नगर सेठ) जिनदत्त के पुत्र अर्हद्दास ने जैन धर्म की दीक्षा ली थी। उसके बाद राजा उदितोदय, उसके मंत्री तथा अनेक राजकर्मचारी जैन धर्मावलंबी हुए थे। मथुरा तथा उसके निकटवर्ती स्थानों से जैन धर्म के जो प्राचीन अवशेष मिले हैं, उनमें महावीर की मूर्तियाँ पर्याप्त संख्या में हैं। उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में शूरसेन प्रदेश और मथुरा के निवासियों की भगवान् महावीर के प्रति अधिक श्रद्धा रही थी।

जंबू स्वामी और मथुरा का सिद्ध क्षेत्र—भगवान् महावीर के पश्चात् उनकी शिष्य-परंपरा में कैवल्य ज्ञानी जंबू स्वामी का मथुरा से विशेष संबंध रहा था। यद्यपि उनका जन्म विहार की राजधानी राजगृह में हुआ था, तथापि वे १६ वर्ष की किशोरावस्था में ही मुनि वेश धारण कर तपस्या के लिए मथुरा आ गये थे। उन्होंने महावीर के पट्टशिष्य सुधर्मा स्वामी से प्रव्रज्या ली थी। उसके उपरांत वे २० वर्ष तक मुनि वृत्ति धारण करने पर कैवल्य ज्ञानी हुए थे। उनका निर्वाण ८० वर्ष की आयु में मथुरा के 'चौरासी' नामक स्थल पर विक्रमपूर्व सं० ४०८ में हुआ था। जैन धर्म में जंबू स्वामी अंतिम 'केवलि' माने जाते हैं। उनके तप और निर्वाण का पुण्य स्थल होने के कारण मथुरा नगर तभी से जैन धर्मावलंवियों में 'सिद्ध क्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध रहा है।

मगध साम्राज्य का शूरसेन पर प्रभाव—

शिशुनाग वंशीय सम्राट—कृष्ण काल में जरासंध ने मगध को एक विशाल साम्राज्य का रूप दिया था; किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् वह एक साधारण राज्य रह गया था। उसका वह

---

(१) **सिरि पासनाह सहियं रम्मं, सिरि निम्मियं महाथूनं।**
कलिकाल विसुतित्थं, महुरा नयरीउ वंदामि॥
(ब्रज भारती, वर्ष ११, सं० २)

रूप कई शताब्दियों तक रहा। कालांतर में जब वहाँ शिशुनाग वंशीय सम्राटों का शासन हुआ, तब मगध फिर एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ था। बुद्ध–महावीर काल में वहाँ शिशुनाग वंश के सम्राट बिंवसार और उसके पुत्र अजातशत्रु का शासन था। पहिले मगध की राजधानी राजगृह थी, किंतु बाद में पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) हो गई थी। अजातशत्रु ने मगध साम्राज्य का बहुत विस्तार किया था। उसने काशी और कोशल के राज्यों को जीत कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया था। अजातशत्रु के काल में शूरसेन जनपद पर अवंतिपुत्र अथवा उदितोदय का शासन था। उस समय शूरसेन स्वतंत्र राज्य था। यह संभव है, उस पर अवंति का कुछ प्रभाव रहा हो, किंतु मगध साम्राज्य का उस पर कोई प्रभाव नहीं मालूम होता।

नंद वंशीय सम्राट—शिशुनाग वंश के सम्राटों का पतन होने पर मगध पर नंद वंश ने अधिकार कर लिया था। उस वंश का प्रतापी सम्राट महापद्म नंद था। पुराणों में उक्त वंश के नौ सम्राटों का उल्लेख मिलता है। 'विष्णु पुराण' के अनुसार महापद्म नंद जरासंध की ५७ वीं पीढ़ी में हुआ था। बौद्ध ग्रंथों में उसका नाम उग्रसेन मिलता है। महापद्म नंद ने कई छोटे–बड़े राज्यों को पराजित कर मगध साम्राज्य का और भी विस्तार किया था। उसके शासन–काल में शूरसेन के स्वाधीन राज्य की सत्ता समाप्त हो गई और वह भी मगध साम्राज्य में मिला लिया गया था। इस प्रकार महापद्म नंद के काल में मगध साम्राज्य का विस्तार मथुरा तक हो गया था। उसने २८ वर्ष तक शासन किया। उसके बाद उसका पुत्र धन नंद मगध का सम्राट हुआ था।

सिकंदर का आक्रमण—नंद वंशीय शासन के उत्तर काल में यूनानी सम्राट सिकंदर ने भारत के उत्तर–पश्चिमी सीमांत पर विक्रमपूर्व सं० २७० में आक्रमण किया था। उस काल में देश के उत्तर–पश्चिमी भाग में अनेक छोटे राज्य थे, जिनमें कई गणराज्य भी थे। सिकंदर की बहुसंख्यक प्रबल सेना का सामना करना उन छोटे राज्यों के लिए संभव नहीं था। फिर भी उनमें से एक के अधिपति पोरस ने सिकंदर से बड़ा कड़ा मोर्चा लिया था; जिसमें यवन सम्राट को बड़ी कठिनता से विजय मिली थी। उसके बाद उसे इस देश में आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ और वह सिंधु नदी के तट से ही वापिस लौट गया था। उसके साथ आने वाले यूनानियों में से बहुत से इस देश में ही रह गये थे। उनमें से जो विद्वान और कलाविद् थे, उन्होंने भारतीय विद्वानों और कलाकारों से संपर्क स्थापित किया था। इस प्रकार परस्पर आदान–प्रदान से यहाँ कई विद्याओं और कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी।

नंद वंश का पतन और मौर्य वंश का उदय—सिकंदर के आक्रमण के कुछ समय पश्चात् नंद सम्राटों की दुर्नीति के कारण मगध साम्राज्य में असंतोष और अशांति के लक्षण दिखलाई देने लगे थे। उसी काल में मगध में चंद्रगुप्त नामक एक महत्वाकांक्षी युवक योद्धा का प्रादुर्भाव हुआ था। उसने तत्कालीन स्थिति का लाभ उठा कर राजधानी में विद्रोह कर दिया और नंदवंश के तत्कालीन सम्राट धन नंद को राज्याच्युत कर स्वयं मगध का सम्राट बन गया। उस कार्य में उसे चाणक्य नामक एक कूटनीतिज्ञ विद्वान ब्राह्मण से बड़ी सहायता मिली थी। चंद्रगुप्त मौर्य वंश का था; अतः उसके राज्यासीन होने से मगध में नंद वंश की समाप्ति होकर मौर्य वंश का उदय हुआ था।

५.मौर्य–शुंग काल

[विक्रमपूर्व सं० २६८ से विक्रमपूर्व सं० ४३ तक]

चंद्रगुप्त और चाणक्य--मौर्य राजवंश का प्रतिष्ठापक चंद्रगुप्त विक्रमपूर्व सं० २६८ में मगध का सम्राट हुआ और उसने विक्रमपूर्व सं० २४१ तक शासन किया था। उसने राज्यासीन होते ही चाणक्य को अपना महामंत्री नियुक्त किया। उस विलक्षण मेधावी ब्राह्मण के सहयोग से जहाँ चंद्रगुप्त ने राज्याधिकार प्राप्त किया था, वहाँ अपने शासन को सुदृढ़ और व्यवस्थित करने में भी उसे बड़ी सफलता प्राप्त हुई थी। चाणक्य का मूल नाम विष्णुगुप्त बतलाया जाता है। वह चणक गोत्र का होने के कारण चाणक्य और अपने वंश की कूटल (अन्न संग्राहक) वृत्ति के कारण कौटल्य कहलाता था। इस प्रकार विष्णुगुप्त, चाणक्य और कौटल्य एक ही व्यक्ति के नाम हैं। चाणक्य किसी प्रकार नंद राजा से अपमानित हो गया था, इसीलिए उससे क्रोध वश नंद वंश के नाश करने की प्रतिज्ञा की थी। उसी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए वह चंद्रगुप्त का सहायक बन गया था। चाणक्य की विलक्षण बुद्धि और चंद्रगुप्त की अनुपम वीरता के कारण ही नंद सम्राट का पतन हुआ और मगध का राज सिंहासन मौर्य वंश को प्राप्त हुआ था। चाणक्य द्वारा रचित **'कौटिलीय अर्थशास्त्र'** भारत की प्राचीन राजनीति, अर्थनीति और कूटनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है।

चंद्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की मंत्रणा तथा प्रबंध–कुशलता से अत्यंत सुदृढ़ और शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। उसने सिकंदर द्वारा नियुक्त भारत के पश्चिमोत्तर भाग के यूनानी प्रशासक सिल्यूक्स को पराजित कर उस ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। उसके शासन काल में राज्य प्रबंध का संचालन बड़ी योग्यता पूर्वक होता था। उसके साम्राज्य में सब लोग सुखी, संतुष्ट और समृद्धिशाली थे। सिल्यूक्स ने अपनी पुत्री हेलन का विवाह भी चंद्रगुप्त के साथ किया था और अपने राजदूत मेगस्थनीज़ को उसके दरबार में भेजा था।

मैगस्थनीज़ का शूरसेन संबंधी उल्लेख—यूनानी राजदूत मैगस्थनीज़ कई वर्ष तक चंद्रगुप्त के दरबार में रहा था। उसने इस देश की राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का जो लेखा प्रस्तुत किया था, उसका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। खेद है, उसका मूल ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है; किंतु एरियन नामक दूसरे यूनानी लेखक के ग्रंथ 'इंडिका' में उसके कुछ अवतरण मिलते हैं। मैगस्थनीज़ ने श्री कृष्ण, शूरसेन जनपद के निवासी, यहाँ के नगर और यमुना नदी के संबंध में जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है[1]। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि अब से २३०० वर्ष पूर्व तक मथुरा और उसका निकटवर्ती क्षेत्र 'शूरसेन' ही कहलाता था; जब कि बाद में इस भू-भाग को मथुरा राज्य ही कहा जाने लगा था। उस समय शूरसेन जनपद में बौद्ध–जैन धर्मों का प्रचार हो गया था; किंतु मैगस्थनीज़ के अनुसार उस काल में भी यहाँ के निवासियों की श्री कृष्ण के प्रति बड़ी श्रद्धा थी।

'मेथोरा' और 'क्लीसोबोरा' की पहिचान—मैगस्थनीज़ ने शूरसेन के 'दो बड़े नगर मेथोरा और क्लीसोबोरा' का नामोल्लेख किया है। उनमें 'मेथोरा' तो स्पष्ट ही मथुरा है; किंतु

---

(१) इस ग्रंथ का पृष्ठ १७ देखिये।

क्लीसोवोरा (कृष्णपुरा) की पहिचान अभी तक ठीक तरह से नहीं की जा सकी है। कनिंघम ने क्लीसोवोरा को वृंदाबन बतलाते हुए उसका पुराना नाम 'कालिकावर्त' लिखा है। अन्य विद्वानों ने उसे मथुरा का केशवपुरा अथवा आगरा ज़िला का बटेश्वर (प्राचीन शौरीपुर) मानने का सुझाव दिया है। मथुरा और वृंदाबन सदा से यमुना नदी के एक ओर उसके दक्षिण तट पर स्थित रहे हैं; जब कि मैगस्थनीज़ के आधार पर एरियन और प्लिनी ने यमुना नदी उक्त दोनों नगरों के बीच में बहने का उल्लेख किया है। ऐसी दशा में क्लीसोवोरा के वृंदाबन होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। केशवपुरा, जिसे कृष्ण-जन्मभूमि के निकट का वर्तमान मुहल्ला मल्लपुरा समझा गया है, उस काल में मथुरा नगर ही था; अतः वहाँ किसी दूसरे नगर के होने की बात ही असंगत है। बटेश्वर मथुरा से बहुत दूर पड़ जाता है।

ग्राउस ने क्लीसोवोरा की पहिचान वर्तमान महाबन से की है[1], जिसे श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी ने युक्तिसंगत नहीं बतलाया है[2]। अलउत्वी के लेखानुसार महमूद ग़ज़नबी के काल में यमुना पार वर्तमान महाबन के निकट एक बड़े राज्य की राजधानी थी, जिसकी रक्षा के लिए सुदृढ़ दुर्ग भी था। वहाँ के राजा कुलचंद्र ने मथुरा की रक्षा के लिए महमूद से घोर संग्राम किया था। असल में वहाँ पर कोई प्रथक नगर नहीं था, बल्कि वह मथुरा का ही एक भाग था। उस काल तक यमुना नदी के दोनों ही ओर मथुरा नगर की बस्ती थी। चीनी यात्री फाहियान और हुएनसांग ने भी मथुरा में यमुना नदी के दोनों ओर बने हुए बौद्ध संघारामों का उल्लेख किया है। इस प्रकार मैगस्थनीज़ का 'क्लीसोवोरा' (कृष्णपुरा) कोई प्रथक नगर नहीं था, बल्कि उस काल के विशाल मथुरा नगर का ही एक भाग था; जिसे अब गोकुल-महाबन कहते हैं। इस संबंध में हम श्री कृष्णदत्त वाजपेयी के मत से पूरी तरह सहमत हैं—

"प्राचीन साहित्य में मधुरा या मथुरा का नाम तो बहुत मिलता है, पर कृष्णपुर या केशवपुर नामक नगर का प्रथक उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता है। अतः ठीक यही जान पड़ता है कि यूनानी लेखकों ने भूल से मथुरा और कृष्णपुर (केशवपुर) को, जो वास्तव में एक ही थे, अलग-अलग लिख दिया है। भारतीय लोगों ने मैगस्थनीज़ को बताया होगा कि शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा 'केशवपुरी' है। उसने उन दोनों नामों को एक दूसरे से प्रथक समझ कर उनका उल्लेख अलग-अलग नगर के रूप में किया होगा। यदि शूरसेन जनपद में मथुरा और कृष्णपुर नाम के दो प्रसिद्ध नगर होते, तो मेगस्थनीज़ के कुछ समय पहले उत्तर भारत के जनपदों के जो वर्णन भारतीय साहित्य (विशेष कर बौद्ध एवं जैन ग्रंथों) में मिलते हैं, उनमें मथुरा नगर के साथ कृष्णपुर या केशवपुर का भी नाम मिलता[3]।"

अशोक—चंद्रगुप्त मौर्य के पश्चात् उसके पुत्र बिंदुसार ने विक्रमपूर्व सं० २४१ से विक्रमपूर्व सं० २१५ तक मगध पर शासन किया था। उसके बाद अशोक मगध सम्राट हुआ। उसने विक्रमपूर्व सं० २१५ से विक्रमपूर्व सं० १७५ तक शासन किया। उसका शासन-काल भारतीय

---

(१) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर,** (तृ० सं०,) पृष्ठ २७६

(२) **ब्रज का इतिहास** (प्रथम भाग,) पृष्ठ ७३

(३) **मथुरा का इतिहास** (प्रथम भाग) पृष्ठ ७२-७३

इतिहास में वड़ा प्रसिद्ध है। उसने अपने साम्राज्य की भौतिक समृद्धि करने के साथ उसकी अभूतपूर्व धार्मिक उन्नति भी की थी। उसके काल में बौद्ध धर्म इस देश का राज धर्म हो गया था, जिसकी व्यापक प्रगति के प्रयत्न मगध सम्राट की ओर से किये गये थे। अशोक ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को राज्याज्ञाओं के रूप में देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक शिलाओं और स्तंभों पर उत्कीर्ण कराया था। भारत से बाहर भी उसने अपने धार्मिक राजदूतों को भेज कर वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। लंका में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ उसने अपने पुत्र और पुत्री को भेजा था।

शूरसेन में बौद्ध स्तूपों का निर्माण—भगवान् बुद्ध की यात्राओं की स्मृति में अशोक ने विविध स्थानों में अनेक छोटे–बड़े स्तूपों का निर्माण कराया था। उन स्तूपों का उपयोग बौद्ध भिक्षुओं के निवास–स्थल और उपासना–गृह के रूप में होता था। शूरसेन जनपद के कई स्थानों में भी वैसे स्तूपों का निर्माण कराया गया था। मथुरा में बनाये गये स्तूपों का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। मथुरा से २७ मील दूर नोह नामक स्थान की खुदाई में मौर्य कालीन चुनार के पत्थर का एक टुकड़ा मिला है, जिसे अशोक द्वारा बनवाये हुए स्तूप का अवशेष समझा जाता है। हुएनसांग ने पिलोशना नामक स्थान में भी अशोक द्वारा बनवाये हुए एक स्तूप का उल्लेख किया है। उक्त स्थान एटा ज़िला का अतरंजी खेड़ा है, जिसके संबंध में पहिले लिखा जा चुका है।

उपगुप्त—सम्राट अशोक को बौद्ध धर्म के प्रचार और स्तूपादि के निर्माण की प्रेरणा देने वाला मथुरा का विख्यात बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त था। जब भगवान् बुद्ध दूसरी बार मथुरा आये थे, तब उन्होंने भविष्य वाणी करते हुए अपने प्रिय शिष्य आनंद से कहा था कि कालांतर में यहाँ उपगुप्त नामक एक प्रसिद्ध धार्मिक विद्वान होगा, जो उन्हीं की तरह सद्धर्म का प्रचार करेगा और उसके उपदेश से अनेक भिक्षु अर्हत् पद प्राप्त करेंगे। उक्त भविष्य वाणी के अनुसार उपगुप्त ने मथुरा के एक वणिक् के घर में जन्म लिया था। उसका पिता सुगंधित द्रव्यों का व्यापार करता था। उपगुप्त अत्यंत रूपवान और प्रतिभाशाली था; किंतु वह किशोरावस्था में ही विरक्त होकर बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया था। आनंद के शिष्य शाणकवासी ने उसे मथुरा के 'नट–भट विहार' में बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय की दीक्षा दी थी। उपगुप्त उक्त संप्रदाय का महान् आचार्य और उसका सबसे बड़ा प्रचारक हुआ था।

वासवदत्ता का आख्यान—जब उपगुप्त युवा था, तब मथुरा की एक गणिका वासवदत्ता उसके सुंदर स्वरूप पर आसक्त हो गई थी; किंतु उसने उस वारांगना को सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया था। बौद्ध ग्रंथों में वैशाली की नगरवधू आम्रपाली की भाँति मथुरा की जनपद कल्याणी वासवदत्ता का आख्यान भी लिखा मिलता है। आम्रपाली भगवान् बुद्ध द्वारा कृतार्थ हुई थी, तो वासवदत्ता उपगुप्त द्वारा उपकृत हुई थी। मथुरा की वह वारांगना उसी नाम की अवंतिकुमारी तथा वत्सराज उदयन की प्रिय रानी वासवदत्ता से भिन्न और उसकी परवर्ती थी।

मौर्य साम्राज्य की समाप्ति और शुंग सम्राटों का उदय—सम्राट अशोक मगध साम्राज्य का ही सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक नहीं था, वरन् उसकी गणना भारतवर्ष के महान् सम्राटों में की जाती है। उसका देहावसान विक्रमपूर्व सं० १७५ में हुआ था। उसके पश्चात् मगध पर जिन मौर्य सम्राटों ने शासन किया, वे अपने पूर्वजों की अतुल कीर्ति और उनके विशाल साम्राज्य की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए थे। उनके काल में मौर्य साम्राज्य छिन्न–भिन्न होने लगा और

सके कई भागों में स्वाधीन राज्य बन गये थे। देश के उत्तर–पश्चिमी भाग पर फिर से यूनानियों ने अधिकार कर लिया था। विंध्याचल के दक्षिण का प्रदेश आंध्रवंशीय सातवाहन राजाओं के शासन में चला गया था। शूरसेन प्रदेश मगध साम्राज्य के अंतर्गत ही था। अंतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ था। उसके शासन काल में मगध में एक राज्यक्रांति हुई थी, जिसका नेता वृहद्रथ का ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग था। उसने विक्रमपूर्व सं० १२८ में वृहद्रथ को मार कर मगध साम्राज्य का शासन–सूत्र सँभाल लिया था। इस प्रकार मौर्य शासन की समाप्ति हुई और शुंग शासन का आरंभ हुआ।

शुंग सम्राट पुष्यमित्र—वह शुंग राजवंश का प्रतिष्ठापक और एक प्रसिद्ध सम्राट था। उसने मगध साम्राज्य की शक्ति और सीमाओं का काफ़ी विस्तार किया था। उसके पूर्ववर्ती मौर्य सम्राट बौद्ध धर्मावलंवी थे; किंतु वह भागवत धर्म का अनुयायी था। उसने अपने विजय–अभियानों की स्मृति में प्राचीन वैदिक परंपरा के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये; जो जैन–बौद्ध धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण अति काल से बंद हो गये थे। जनमेजय द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ के उपरांत कदाचित पुष्यमित्र ने ही वह महान् आयोजन किया था। उससे ज्ञात होता है कि वह वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक और एक प्रतापी सम्राट था।

शुंग वंशीय सम्राटों का शासन-काल—इस राजवंश का शासन विक्रमपूर्व सं० १२८ से विक्रमपूर्व सं० ४३ तक रहा था। उस काल में मगध साम्राज्य की सीमा उत्तर में कुरु प्रदेश से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत थी। प्रशासन के लिए उसके तीन बड़े केन्द्र थे—१. पाटलिपुत्र, २ अयोध्या और ३. विदिशा। शूरसेन राज्य कदाचित विदिशा के प्रशासनिक केन्द्र के अंतर्गत था। पुष्यमित्र के शासन काल में उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा क्षेत्र का राज्यपाल था। उसे वह स्थान इतना प्रिय था कि जब वह अपने पिता के पश्चात् मगध का सम्राट हुआ, तब भी उसने पाटलिपुत्र के बजाय विदिशा ही अपनी राजधानी रखी थी। परवर्ती शुंग सम्राट काशिपुत्र भागभद्र के शासन काल में भी विदिशा का बड़ा महत्व था। वह शुंग साम्राज्य की दूसरी राजधानी थी।

शुंग सम्राटों ने भागवत धर्म और संस्कृत साहित्य को प्रचुर प्रोत्साहन प्रदान किया था। उनके काल में भागवत धर्म का विस्तार मथुरा से पश्चिम की ओर वर्तमान चित्तौड़ राज्य तक और दक्षिण में विदिशा तक था। जैन, बौद्ध और भागवत धर्मों की देव–मूर्तियाँ बनने लग गई थीं और उनका व्यापक प्रचार होने लगा था। उसी काल में रामायण, महाभारत तथा मनुस्मृति का वर्तमान रूप निश्चित हुआ और महाभाष्य की रचना हुई थी। भास के नाटक भी उसी काल में रचे गये थे।

शूरसेन का महत्व—शुंग सम्राटों के शासन–काल में शूरसेन प्रदेश मगध साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण भाग था। उस काल के प्रसिद्ध नगरों में मथुरा की गणना होती थी। यहाँ से होकर सभी प्रमुख राजमार्ग देश के विभिन्न स्थानों में जाते थे। पुष्यमित्र के शासन काल में प्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि हुआ था, जिसने पाणिनि कृत अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' की रचना की थी। उसने मथुरा के निवासियों की विशिष्टता के विषय में कहा है—"**सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति।**" (महाभाष्य, ५-३-५७) अर्थात्—मथुरा के निवासी संकाश्य और

पाटलिपुत्र में रहने वालों से भी अधिक सुंदर और समृद्ध होते हैं। उस काल में मथुरा बौद्ध, जैन और भागवत तीनों धर्मों का केन्द्र था, इसलिए धार्मिक दृष्टि से भी उसका महत्व बहुत बढ़ा हुआ था। उस समय शुंग सम्राटों के प्रोत्साहन से यहाँ पर भागवत धर्म की विशेष रूप से उन्नति हुई थी।

यूनानियों की स्थिति—सिकंदर के समय से ही यूनानी भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत पर बहुत बड़ी संख्या में जम गये थे। वे भारत पर आक्रमण करने वाले पहिले प्रमुख विदेशी थे, और जब-तब भारतीय सीमाओं में घुस-पैठ करते रहते थे। चंद्रगुप्त मौर्य ने उनके सेनापति सिल्युकस को पराजित कर उसे भारतीय हितों के अनुकूल संधि करने को बाध्य किया था। परवर्ती मौर्य सम्राटों की शक्तिहीनता का लाभ उठा कर यूनानियों ने अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयास किया; किंतु शुंग सम्राट पुष्यमित्र ने उसे विफल कर दिया था। 'युग पुराण' में लिखा है, शुंगों के शासन-काल में यूनानियों ने फिर एक बड़ा आक्रमण किया था। वे मथुरा पहुँच गये थे; किंतु शुंग सेना ने उन्हें पीछे खदेड़ दिया था। उस काल में यूनानियों का अधिकार गंधार से लेकर पंचनद प्रदेश तक था और तक्षशिला उनकी राजधानी थी। परवर्ती शुंग काल में तक्षशिला के यूनानी शासक अंतलिकित (एण्टिअल काइडस) ने शुंग सम्राट काशिपुत्र भागभद्र से संधि कर ली थी और अपने राजदूत होलिओदोर को (होलियोडोरस) उसके दरबार में भेजा था।

होलिओदोर और उसका गरुड़ध्वज—मौर्य-शुंग काल में चाहें विदेशी यूनानी राजनैतिक दृष्टि से निरंकुश थे; किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से वे भारत से पराजित हो गये थे। उनमें से अधिकांश ने भारतीय संस्कृति और धर्म को स्वीकार कर लिया था। अंतलिकित ने अपने जिस राजदूत होलिओदोर को शुंग दरबार में भेजा था, वह भागवत धर्म का अनुयायी था। उसने भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए उस काल की शुंग राजधानी विदिशा में एक 'गरुड़ध्वज' की स्थापना की थी। उक्त स्तंभ के अभिलेख में उस यूनानी राजदूत ने अपने को 'भागवत' घोषित किया है। वह स्तंभ विदिशा के वेसनगर नामक स्थान में अभी तक विद्यमान है।

मिनेंडर—शुंग साम्राज्य के अंतिम काल में तक्षशिला के यूनानी राज्य का अधिपति मिनेंडर था। उसने सिंधु और सौराष्ट्र प्रदेशों को पददलित कर माध्यामिका (वर्तमान चित्तौड़ के समीप का सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल) पर अधिकार कर लिया था। फिर उसने मथुरा और साकेत राज्यों को भी अपने प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित किया था। इस प्रकार वह एक वीर सेनानायक था; किंतु उसका महत्व उसकी वीरता से भी अधिक उसकी विद्वता के कारण है। उसने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और वह अपने काल का एक बड़ा विद्वान, कला-कोविद और धर्म-तत्त्व का ज्ञाता था। उसे धार्मिक विद्वानों से शास्त्रार्थ करने में बड़ी रुचि थी। उसे गर्व था कि धर्म संबंधी विवाद में उसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता। एक बार उसने स्थविर नागसेन से अनेक दार्शनिक प्रश्न किये थे। उस बौद्ध विद्वान ने उनका उत्तर ऐसी उत्तमता से दिया कि मिनेंडर का समस्त ज्ञान-गर्व दूर हो गया और वह नतमस्तक होकर उनका अनुगत हो गया था। उसने अपने पुत्र को राज्याधिकार देकर नागसेन से प्रव्रज्या ग्रहण की और आप बौद्ध धर्म के प्रचार में लग गया था। बौद्ध साहित्य में उसका नाम 'मिलिंद' मिलता है। मिनेंडर और नागसेन के जो प्रश्नोत्तर हुए थे, वे पालि ग्रंथ **'मिलिंद पञ्ह'** (मिलिंद प्रश्न) में संकलित हैं। उसके सिक्के काबुल से मथुरा तक मिले हैं। उन पर उसके नाम के अतिरिक्त धर्म चक्र भी अंकित है, जो बौद्ध धर्म के प्रति उसकी निष्ठा का प्रमाण है।

कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ

ब्रज संस्कृति के इतिहास का आदि काल प्रागैतिहासिक युग से विक्रम संवत् के आरंभ तक की अत्यंत दीर्घ कालीन असंख्य घटनाओं और अनेक विशिष्ट व्यक्तियों की अपार प्रवृत्तियों को अपने विशाल अंचल में समेटे हुए है। उनमें से अगणित घटनाएँ और प्रचुर प्रवृत्तियाँ विस्मृति के अंधकार में अदृश्य हो गईं। जिनका अस्तित्व किसी प्रकार स्मृति के आलोक में जगमगाता रहा; उनमें से भी कुछ का ही अत्यंत संक्षिप्त विवरण गत पृष्ठों में दिया जा सका है। उनसे संबंधित कुछ ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिनका उल्लेख करना अत्यंत आवश्यक है; अतः यहाँ उनका संकेत मात्र किया जा रहा है।

राष्ट्र, राज्य और साम्राज्य—प्रकृति ने हमारे देश भारतवर्ष को एक संपूर्ण राष्ट्र के रूप में निर्मित कर इसे तीन ओर से अलंघ्य पर्वतों और दुर्गम बनों से तथा एक ओर अथाह सागर से सुरक्षित किया है। यहाँ के निवासी प्राचीन आर्यों को अपने राष्ट्र का यह गौरवशाली स्वरूप प्रागैतिहासिक काल में ही ज्ञात और मान्य था। वेदों में 'राष्ट्र' शब्द और उसके स्वरूप का अनेक बार उल्लेख हुआ है। 'राष्ट्र' की इस प्राचीनतम परंपरा से होते हुए भी यहाँ प्रागैतिहासिक काल से ही अनेक छोटे-बड़े 'राज्य' भी रहे हैं; जो अपने विशिष्ट स्वरूप की रक्षा करते हुए विशाल भारतीय राष्ट्र का अपने को अंग मानते रहे हैं। इस देश में ऐसे अनेक चक्रवर्ती राजा हुए, जिन्होंने छोटे-बड़े बहुसंख्यक राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया था; किंतु उनका उद्देश्य राष्ट्राय एकता को सुदृढ़ करना था। उसके लिए उन्होंने उन राज्यों को समाप्त न कर उन्हें अपनी परंपरा और पद्धति के अनुसार प्रगति करने को जीवित रहने दिया था।

सूर्य वंश के प्रतापी महाराजा मान्धाता और चंद्रवंश के यशस्वी नरेश भरत ऐसे चक्रवर्ती सम्राट थे, जिन्होंने पूर्वोक्त दृष्टिकोण से भारतीय साम्राज्य का संगठन किया था। मान्धाता के वंश में महाराज राम हुए, जिन्होंने अयोध्या से लंका तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर उत्तर और दक्षिण की राष्ट्रीय एकता को पुष्ट किया था। उन्होंने लंका के राज्य को जीत कर भी उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे विभीषण को सोंपा था। भरत के वंश की एक शाखा में पांडव और दूसरी में श्री कृष्ण हुए, जिन्होंने द्वारका से प्राग्ज्योतिषपुर (असम) तक अपनी प्रभुता की प्रतिष्ठा कर पश्चिम और पूर्व के राष्ट्रीय एकीकरण को परिपुष्ट किया था। उन्होंने भी मगध, प्राग्ज्योतिषपुर और दूसरे राज्यों को जीत कर उन्हें उनके परंपरागत राजवंशों के अधीन ही रहने दिया था। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक और पश्चिम से पूर्व तक समस्त भारतवर्ष राष्ट्रीय एकता के सुदृढ़ बंधन में बँध गया था।

यूनानियों के आक्रमण काल तक 'राष्ट्र', 'राज्य' और 'साम्राज्य' के पारस्परिक संबंध की यही परंपरा प्रचलित रही थी। जब सिकंदर ने भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत के छोटे राज्यों को पराजित कर इस देश पर अधिकार करना चाहा, तब यहाँ के राजनीति-विशारदों को राज्य परंपरा की उस प्राचीन पद्धति पर पुर्नविचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। उन्होंने अनुभव किया कि विदेशियों के आक्रमण से इस देश की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि छोटे राज्यों के अधिकारों को सीमित किया जाय और उन पर एक चक्रवर्ती राजा के सार्वभौम अधिकार

की प्रतिष्ठा की जाय। उस सिद्धांत का सर्व प्रथम प्रतिपादक विष्णुगुप्त उपनाम चाणक्य था, जो कूटनीति का विलक्षण विद्वान और राजनीति का प्रगाढ़ पंडित था। उसने चंद्रगुप्त के नेतृत्व में अत्यंत शक्तिशाली सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना का आयोजन किया था। उसके कारण ही उस समय यूनानियों के आक्रमण का संकट समाप्त हो सका था। इस प्रकार तात्कालिक परिस्थिति के कारण 'मौर्य साम्राज्य' की स्थापना से भारत में एक नये साम्राज्यवाद का बीजारोपण हुआ था और फिर वह कई शताब्दियों तक मगध में फूलता–फलता रहा था।

राज्य प्रशासन—इस देश में राज्यों के प्रशासन के लिए अत्यंत प्राचीन काल से ही कई प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं; जो उन राज्यों की परंपरा एवं परिस्थिति के अनुसार निश्चित होती थीं। उन्हें आजकल के राजतंत्र, जनतंत्र अथवा गणतंत्र के सदृश कहा जा सकता है। कभी–कभी कई राज्यों का 'संघ' होता था, जिसका अध्यक्ष उन राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित किया जाता था। संघ के अंतर्गत विभिन्न दल होते थे, जिन्हें 'वर्ग' कहा जाता था। श्री कृष्ण के काल में यादवों के कई गण राज्य थे; जिनमें अंधक, वृष्णि, कुकुर और भोज वंशियों के राज्य प्रसिद्ध थे। शूरसेन प्रदेश में अंधक और वृष्णि गण राज्यों का संघ था, जो 'अंधक–वृष्णि संघ' कहलाता था। उस संघ के अंतर्गत विभिन्न राजनैतिक वर्गों के नेताओं के रूप में उग्रसेन, वसुदेव, अक्रूर आदि के नाम मिलते हैं।

राजा और उसके कर्त्तव्य—राज्यों के शासनाध्यक्षों को 'राजा' कहा जाता था। राज्यों की परंपरा के अनुसार राजा समय-समय पर निर्वाचित भी होता था और वंश–परंपरागत भी होता था। निर्वाचित होने पर उसकी नियुक्ति प्रायः सर्व सम्मति से होती थी। बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय की अनुश्रुति के अनुसार मथुरा इस भू–तल का 'आदि राज्य' था और यहाँ का राजा सर्व सम्मति से निर्वाचित होने के कारण 'महा सम्मत' कहलाया था[१]। राजा का कर्त्तव्य होता था कि वह भीतरी और बाहरी शत्रुओं से देश की रक्षा करे और जन–प्रतिनिधियों के परामर्श के अनुसार प्रजा का धर्म पूर्वक पालन करे। उसके लिए राज्याभिषेक के अवसर पर उसे शपथ लेनी पड़ती थी। यदि राजा कर्त्तव्य भ्रष्ट होता था, तो उसे उसके पद से हटा दिया जाता था। राजा वेन के अत्याचारी और प्रजापीड़क होने के कारण ही जनता ने उसे राज्यच्युत कर मार डाला था। इस प्रकार प्राचीन भारत में राजा के स्वेच्छाचारी होने की गुंजायश नहीं थी।

श्री विजयमित्र शास्त्री ने वैदिक साहित्य के प्रमाणों द्वारा राजा के निर्वाचन और उसके कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है,—"वेदों में कहीं भी राजा की पूर्ण स्वतंत्रता का प्रमाण नहीं मिलता। सर्वत्र उसे मंत्री–मंडल तथा साधारण सभा के अधीन रहने का उल्लेख किया गया है। राजा के निर्वाचन के समय के मंत्र हैं;—'हे राजन्! हम तुझे लाये हैं। आओ, स्थिर होकर रहो, चंचल न हो। सब प्रजा तुझे हृदय से चाहे। (अथर्व ६–८७–१) हे राजन्! राज्य की व्यवस्था के लिए प्रजा तुझे निर्वाचित करे। राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ सिंहासन को स्वीकार करो तथा हम लोगों को सब प्रकार का भौतिक सुख प्रदान करो। (अथर्व ३–४–२) राज्याभिषेक के अवसर पर जब राजा शपथ लेता था, तब प्रजा के प्रतिनिधि उससे कहते थे,—'तुम यहाँ पर्वत के समान

---

[१] **उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास,** (पृष्ठ ३०)

अविचल रहो। ऐसा कोई काम न करना कि कहीं तुम्हें पदच्युत होना पड़े। इंद्र के समान पूर्ण निश्चल होकर यहाँ रहो और इस राष्ट्र को अच्छी तरह सँभालो। (ऋग्वेद १०-१३७-२)[१]।"

युवराज—जिन राज्यों में वंशानुगत राजा होने की परंपरा थी, वहाँ राजा का ज्येष्ठ पुत्र युवराज कहलाता था। वह राजा के जीवन काल में उसे प्रशासन में सहायता करता था और उसकी मृत्यु होने पर स्वयं राजा होता था।

मंत्री–मंडल—राजा को परामर्श देने के लिए एक मंत्री–मंडल होता था, जिसमें कई मंत्री होते थे। मंत्री गण अत्यंत बुद्धिमान, अनुभवी तथा विविध विद्याओं और कलाओं के ज्ञाता हुआ करते थे। मंत्रियों में सबसे ऊँचे पद पुरोहित और अमात्य के थे। पुरोहित राजा को धर्म शास्त्रों की व्यवस्था से परिचित रखता था और राज्य संचालन में उसे धर्म से विमुख नहीं होने देता था। राज्य के सभी धार्मिक और शिक्षा संबंधी कार्य पुरोहित की देख–रेख में होते थे। रामचंद्र के काल में रघुवंशी राजाओं के कुल पुरोहित वशिष्ठ ऋषि थे तथा श्री कृष्ण के काल में यदुवंशियों और गोपों के पुरोहित क्रमशः गर्ग मुनि और शांडिल्य मुनि थे। उनका अपने–अपने समय में बड़ा प्रभाव था। अमात्य का काम सभी प्रमुख राजकर्मचारियों की नियुक्ति करना और उन पर अनुशासन रखना था। वह गुप्तचरों द्वारा राज्य की आंतरिक स्थिति और जनता के हाल-चाल की पूरी जानकारी रखता था, परराष्ट्र नीति का संचालन करता था और विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति करता था। उस काल का अमात्य आजकल के गृह मंत्री और विदेशी मंत्री दोनों के सदृश होता था। पहिले पुरोहित और अमात्य के पद प्रथक–प्रथक होते थे; किंतु मौर्य काल में उन्हें मिला कर एक कर दिया था। चंद्रगुप्त मौर्य के काल में सर्व प्रथम चाणक्य को दोनों पदों पर नियुक्त किया गया था। राज्य शासन के अन्य विभागों का दायित्व दूसरे मंत्रियों पर था, जिनमें सेनापति का महत्व अधिक था। वह रक्षा मंत्री के रूप में सेना और युद्ध संबंधी विभागों की देख–भाल करता था। युद्ध में सेना के संचालन का उत्तरदायित्व सेनानायक का था, जो सेनापति के अधीन काम करता था। राजा की मृत्यु होने पर और युवराज के अभाव में मंत्री–मंडल तब तक राजा का काम करता था, जब तक नये राजा की नियुक्ति नहीं होती थी।

समिति और सभा—राजा और उसके मंत्री–मंडल की सहायता के लिए जनता के प्रतिनिधियों की कई संस्थाएँ होती थीं, जिनमें 'समिति' और 'सभा' मुख्य थीं। वेदों में उन्हें प्रजापति की दो कन्याएँ कहा गया है—"सभा च मां समितिञ्चावतां प्रजापतोर्दु हितरौ संविदानो" (अथर्व वेद)। 'समिति' और 'सभा' के वास्तविक स्वरूप और उनके कार्यों के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार समिति 'राष्ट्रीय संसद्' और 'सभा' उसकी 'कार्यकारिणी' थी। श्री लुडविक के मतानुसार वे क्रमशः वर्तमान काल के 'लोअर' और 'अपर' हाउसों के समान थीं। 'सभा में प्रायः वयोवृद्ध और अनुभवी व्यक्ति होते थे, जिन्हें 'सभासद' कहा जाता था। 'सभा' के प्रधान को 'सभापति' कहते थे। 'समिति' और 'सभा' में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक अपना मत प्रकट करता था और वाद–विवाद में भाग लेता था। जो व्यक्ति भाषण कला में कुशल होते थे, वे अपना मन्तव्य पारित कराने में अधिक सफलता प्राप्त करते थे।

---

(१) राष्ट्र और राष्ट्रीयता की वैदिक कल्पना, ('आज', १५-१०-६२)

प्रशासनिक कार्यों के अतिरिक्त 'सभा' में न्याय भी होता था। इस प्रकार वह राष्ट्रीय न्यायालय का काम भी करती थी। प्राचीन भारत में राजा ही प्रधान न्यायाध्यक्ष भी हुआ करता था। सभा के सभासद संभवतः राजा को न्याय संबंधी परामर्श देते थे।

निर्वाचन और मत-दान—'समिति' एवं 'सभा' के प्रतिनिधियों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी और निर्वाचन प्रायः मत-दान द्वारा होता था। उस काल में मत-दान को 'छंद' कहते थे। छंद शब्द का अर्थ है 'स्वतंत्रता'। चूँकि मत-दान में पूरी स्वतंत्रता रहती थी, इसीलिए उसे 'छंद' नाम दिया गया था। मत-दान से पहिले इस बात को चेष्टा की जाती थी कि निर्वाचन सर्व सम्मति से हो। यदि वैसा संभव न होता, तब 'मत' लिये जाते थे। उस काल की मत-दान विधि का उल्लेख करते हुए डा० सत्यप्रकाश ने लिखा है,—"मत प्रदान करने की जो विधि थी, उसे 'शलाका ग्रहण' करते थे। उसमें काठ की चौकोर और लंबूतरी शलाका का उपयोग किया जाता था। वे कई रंग की होती थीं और आसानी से मुट्ठी में आ सकती थीं। उन शलाकाओं को ग्रहण या एकत्र करने वाले अधिकारी को 'शलाका ग्राहायक' कहते थे। वह चुनाव अधिकारी होता था। शलाकाओं को ग्रहण और एकत्र करने पर वह गिनती करता और चुनाव फल की घोषणा करता था। उक्त अधिकारी के लिए आवश्यक था कि वह निष्पक्ष हो, द्वेष रहित हो, मूर्ख न हो, भयभीत न हो। मत-दान अधिकारी को विशेष प्रस्ताव द्वारा नियुक्त किया जाता था। पालि ग्रंथों के अनुसार मत-दान करने का अधिकार हिंदू कुल के आधार पर था; किंतु कुछ अन्य लोगों को 'विशेषाधिकार' भी दिया जा सकता था। विदेशियों को गण राज्य की नागरिकता स्वीकार करने पर ही मत-दान का अधिकार दिया जाता था। मत-दान अधिकारी को इस बात के पूरे अधिकार थे कि अनुचित मत-दान के फल को वह स्थगित या रद्द कर सकता था[1]।"

राष्ट्र-रक्षा और सैनिक प्रबंध—राजा और उसके मंत्रीमंडल का एक प्रमुख कार्य आंतरिक और वाह्य संकट से राष्ट्र की रक्षा करना था। उसके लिए सैनिक प्रबंध और युद्ध संचालन का बड़ा महत्व था। राज्य के सेनापति और सेनानायक उनके लिए विशेष रूप से उत्तरदायी थे। भारत की प्राचीनतम अनुश्रुतियों और ग्रंथ रचनाओं में ऐसे अनेक युद्धों का उल्लेख मिलता है, जो दुष्टों और शत्रुओं का दमन करने के लिए किये गये थे। वैदिक साहित्य में 'देवासुर संग्राम' के रूप में आर्य और अनार्यों के अनेक युद्धों का उल्लेख हुआ है। हिंदू धर्म में मान्य विष्णु के १० अवतारों में से बुद्धावतार को छोड़ कर ९ अवतार दुष्टों का संहार करने के लिए ही हुए हैं। रामायण और महाभारत जैसे गौरवशाली ग्रंथों की रचना युद्ध काव्यों के रूप में हुई है।

युद्ध के देवता और उनके शस्त्रास्त्र—भारतीय संस्कृति में ब्रह्मा को सृष्टिकर्त्ता, विष्णु को पालनकर्त्ता और रुद्र को विनाशकर्त्ता माना गया है। इस प्रकार महादेव रुद्र युद्ध के देवता होते हैं; किंतु विष्णु के स्वरूप, गुण और आयुधों के कारण वे शांति और प्रजा-पालन के साथ ही साथ युद्ध के भी प्रमुख देवता कहे जा सकते हैं। विष्णु अपनी चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करते हैं। वे शंख से युद्ध की घोषणा और शत्रु का आह्वान करते हैं, चक्र एवं गदा से

---

(१) **मतदान व्यवस्था : वेदों से बुद्ध तक,** ('आज', काशी)

शत्रु का संहार करते हैं; फिर शत्रु पक्ष की पूर्ण पराजय के उपरांत वे पद्म से शांति की स्थापना करते हैं। वैसे महिषासुरमर्दिनी महाकाली, असुर–संहारक महादेव और देवताओं के सेनापति कार्तिकेय भी युद्ध से संबंधित देवी–देवता हैं।

विष्णु का प्रमुख आयुध चक्र, महादेव का त्रिशूल, इंद्र का वज्र, काली का असि (तलवार), परशुराम का परशु (फर्सा), राम का धनुष–वाण, हनुमान का गदा (मुग्दर), यम का पाश (रस्सी का फंदा अथवा जाल) और कृष्ण का सुदर्शन (एक प्रकार का चक्र) है। ये सभी शस्त्रास्त्र प्राचीनतम काल से ही युद्धों में प्रयुक्त किये जाते रहे हैं।

युद्ध कला—प्राचीनतम उल्लेखों से ज्ञात होता है कि यहाँ युद्ध कला समुन्नत रूप में विद्यमान थी। सैनिक शिक्षा, नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों का निर्माण और व्यूह रचना के विशद विवरण इसके प्रमाण हैं। यजुर्वेद का उपवेद 'धनुर्वेद' कहलाता है, जिसमें युद्ध विद्या के सभी अंगों का वर्णन किया गया है। वेदों में सैनिकों का गुण गान और उन्हें शस्त्रास्त्रों के अभ्यास की प्रेरणा के अनेक मंत्र मिलते हैं। यथा—"नमो विल्मिने च कवचिने च, नमो वर्मिणे च वरूथिने च। नमः श्रुताय च श्रुत सेनाय च, नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च।।" सैनिक वेश में सजे हुए योद्धा के लिए हमारा नमस्कार हो। कवच धारण करने वाले तथा वर्म धारण करने वाले वीर के लिए हमारा नमस्कार हो। वीरता में विश्वविश्रुत वीर के लिए हमारा नमस्कार हो। सेना के आगे–आगे चलने वाले वीरों को हमारा नमस्कार हो। युद्ध-भूमि में दुंदुभी अर्थात् नगाड़े बजाने वाले तथा सेना को उत्साहित करने वाले को हमारा नमस्कार हो। (यजु० १६–३५) सहस्राणि सहस्रशो वाह्वोस्तव हेतयः। तासामीशानो भगवः पराचीना मुखाकृधि।। हे सेनापते ! बाहुओं से चलाये जाने योग्य हजारों प्रकार के शस्त्रास्त्र हैं। उनको भली भाँति चलाना सीख लो। उन शस्त्रास्त्रों पर अपना आधिपत्य प्राप्त कर लो, जिससे अवसर आने पर उन शस्त्रास्त्रों के द्वारा शत्रुओं को परास्त कर सको। (यजु० १६–५३)

महाभारत काल में युद्ध कला बड़ी उन्नत अवस्था में थी। उस समय क्षत्रिय बालकों को आरंभ से ही इसकी विधि पूर्वक शिक्षा दी जाती थी। उन्हें नाना प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों का चलाना, घुड़सवारी करना, रथ चलाना, व्यूह रचना करना आदि सभी बातें योग्य शिक्षकों द्वारा बतलाई जाती थीं। श्री कृष्ण और शल्य जैसे बड़े योद्धा और नरेश कुशल सारथी भी थे। इससे ज्ञात होता है कि राजकुमारों को भी शस्त्र विद्या के साथ ही साथ अश्व–चालन की भी शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था। महाभारत के युद्ध में अनेक प्रकार के अद्भुत अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग किया गया था। शब्द वेधी वाण, अग्नि–वर्षा करने वाले वाण, आँधी–पानी लाने वाले वाण के अतिरिक्त मंत्र शक्ति से चलाये जाने वाले दिव्य अस्त्रों का वर्णन पढ़ कर आश्चर्य होता है। संमोहनास्त्र एक प्रकार की विषैली गैस छोड़ने वाला आयुध था। पाशुपतास्त्र और नारायणास्त्र आजकल के अणु बमों की तरह ही सर्वसंघारक थे।

बारूदी अस्त्र—साधारणतया यह माना जाता है कि प्राचीन भारत के निवासी बारूद से परिचित नहीं थे। उसका प्रचलन इस देश में मुसलमानी काल में हुआ था। इसके विरुद्ध प्राचीन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस काल में बारूद जैसे किसी पदार्थ से चलने वाले शस्त्रास्त्र विद्यमान थे। वेदों में 'शतघ्नी' का उल्लेख मिलता है, जो एक प्रकार की तोप ही होगी।

शुक्रनीति में 'अग्नि चूर्ण' का नाम आया है, जिसे बारूद ही कहा जा सकता है। रामायण और महाभारत के युद्धों में आग्नेयास्त्रों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ था। उन अस्त्रों को बारूद के बिना चलाना संभव नहीं था।

सेना और उसके चार अंग—प्राचीन काल में सेना के चार अंग होते थे, जिनके कारण वह 'चतुरंगिणी' कहलाती थी। वे अंग १. पदाति (पैदल) २, अश्वारोही (घुड़सवार), ३. रथी (रथ सवार) और ४. हस्ति (हाथी) थे। नौसेना का विकास कुछ बाद में हुआ होगा; अन्यथा उसे भी सेना के प्रमुख अंगों में गिना जाता। वैसे प्राचीनतम अनुश्रुतियों और ग्रंथों में जलयानों का ही नहीं, वायुयानों तक का उल्लेख मिलता है। रामायण काल में पैदल सेना की और महाभारत काल में रथ सेना की प्रमुखता थी। हाथी सेना का उपयोग शत्रु के सैनिकों को रोंदने और दुर्गों को नष्ट करने के लिए किया जाता था। दोनों कालों में युद्ध के प्रधान आयुध धनुष-वाण थे। वैसे अन्य शस्त्रास्त्रों का भी उपयोग किया जाता था। बड़े-बड़े राज्यों में सेना के चारों अंगों के सैनिकों की संख्या बहुत अधिक होती थी। चंद्रगुप्त मौर्य की सेना में ६ लाख पैदल, ३० हज़ार अश्वारोही, २४ हज़ार रथी और ३६ हज़ार हस्ति सैनिक थे। उन सबकी संख्या ६ लाख ९० हजार थी और वे सभी वेतन भोगी थे।

जलपोत और नौसेना—पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष में जलपोतों का निर्माण और नौसेना का संगठन सबसे पहिले मौर्य काल में हुआ था। उसका श्रेय मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त को है[१]। उक्त मत के विरुद्ध भारतीय साहित्य में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे इस देश में जहाज़रानी की बहुत प्राचीन परंपरा सिद्ध होती है। श्री सुमति मोरार जी ने लिखा है,—"भारत में जहाज़रानी उतनी ही प्राचीन है, जितनी उसकी सभ्यता। अपने समुद्री व्यापार के द्वारा ही भारत ने यूनान और मिस्र जैसे प्राचीन देशों से संपर्क स्थापित किया था। वैदिक साहित्य और विशेष कर अथर्ववेद संहिता में भारतीय जलपोतों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। पालि साहित्य में जलपोतों और समुद्री यात्राओं का विशद वर्णन हुआ है। उस काल में कई मस्तूल वाले बड़े–बड़े जहाज़ों का निर्माण किया जाता था[२]।"

पुराणों में भारतीय जलपोतों की बहुत प्राचीन परंपरा मिलती है। माहिष्मती का हैहयवंशी यादव राजा कार्तवीर्य अर्जुन 'सहस्रबाहु' कहलाता था। 'सहस्रबाहु' का अर्थ 'एक सहस्र हाथों वाला' करना हास्यास्पद होगा; क्यों कि किसी व्यक्ति के इतने अधिक हाथ नहीं होते। 'बाहु' का अर्थ 'सेना' भी है। कार्तवीर्य को जहाँ 'सहस्रबाहु' लिखा गया है, वहाँ प्रायः समुद्र का उल्लेख हुआ है; अतः 'बाहु' का संबंध समुद्री सेना से करना ठीक होगा। उदाहरण के लिए 'मत्स्य पुराण', अध्याय ४३ के श्लोक संख्या ६ से ४० तक देखिये। उनमें में कुछ श्लोकों का अभिप्राय है—

"वीर राजा कार्तवीर्य अर्जुन अपने सहस्र बाहुओं से समुद्र को विलोड़ित कर देता था। वह राजा अपने सहस्र बाहुओं से छोटी मछलियों, बड़े मत्स्यों और जल जीवों को चकनाचूर कर देता था। उसके सहस्र बाहुओं से समुद्र में खूब झाग उठते थे और भयंकर भँवरों से समुद्र विक्षुब्ध हो जाता था।"

---

(१) वि० ए० स्मिथ कृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया,' पृष्ठ १३२

(२) प्राचीन भारत में जहाजरानी, (टाइम्स आफ इंडिया, सन् ६० का वार्षिक विशेषांक)

पूर्वोक्त श्लोकों के आधार पर 'सहस्रबाहु' का अर्थ सहस्र जलपोतों अथवा सहस्र डांड़ों वाले बड़े युद्ध पोत का स्वामी करना उचित होगा। इससे अनुमान होता है कि कार्तवीर्य अर्जुन के अधिकार में एक हजार जलपोत थे। महाभारत (आदि पर्व १५१–५) में लिखा है, विदुर जी ने पांडवों के लिए भागीरथी पार करने को यंत्रचालित नौका भेजी थी।

वायुयान—वर्तमान काल में वायुयानों का प्रचार पिछले ५० वर्ष से ही हुआ है; किंतु भारत में उनकी विद्यमानता के संकेत प्राचीन काल में भी मिलते हैं। रामायण में एक बड़े वायुयान 'पुष्पक विमान' का उल्लेख मिलता है। हनुमान द्वारा कई बार आकाश में उड़ने का भी उल्लेख किया गया है। एक बार वे सीता जी की खोज में लंका गये थे और दूसरी बार वे लक्ष्मण जी की मूर्छा दूर करने को संजीवन बूँटी लेने गये थे। उस समय आकाश में उड़ने के लिए उन्होंने वायुयान का ही उपयोग किया होगा। महाभारत में शाल्वराज के एक ऐसे विमान का वर्णन मिलता है, जो आकाश में उड़ता था, जल में तैरता था और भूमि पर चलता था !

सामाजिक व्यवस्था—प्राचीन भारतीय समाज का आधार वर्ण व्यवस्था थी। एक वर्ण का व्यक्ति कर्मानुसार वर्ण–परिवर्तन भी कर सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों को समाज में उच्च माना जाता था और उनके प्रथक–प्रथक कर्म निश्चित थे। शूद्र वर्ण के अंतर्गत कुछ हीन जातियाँ भी थीं; किंतु आजकल की सी अनेक जाति–उपजातियों का अस्तित्व नहीं था। कुछ दास भी थे, जो घरेलू नौकरों की तरह रहते थे। वे अपना मूल्य चुका कर स्वतंत्र हो सकते थे। आश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। पहिले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और बानप्रस्थ आश्रमों का ही पालन किया जाता था। बानप्रस्थी अपनी पत्नियों सहित बनों में एकांत वास कर आध्यात्मिक चिंतन करते थे। जब वे वैदिक कर्मकांड की अपेक्षा ज्ञान मार्ग की ओर अधिक उन्मुख हो गये, तब संन्यास आश्रम भी प्रचलित हो गया था। बौद्ध काल में वर्णों और आश्रमों की प्राचीन व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ था।

आर्यों में संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। सम्मिलित परिवार को 'कुल' और उसके वयोवृद्ध व्यक्ति को 'कुलपति' कहा जाता था। प्रत्येक कुल पर 'कुलपति' का अनुशासन रहता था। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। अनेक स्त्रियाँ विदुषी, ब्रह्मवादिनी और मंत्रद्दष्टा भी थीं। साधारणतया विवाह माता–पिता की इच्छानुसार होते थे; किंतु कन्याएँ स्वयंवर भी कर सकती थीं। सामान्य पुरुष एक स्त्री से ही विवाह करता था; किंतु राजकीय पुरुषों की कई पत्नियाँ तक होती थीं। स्त्रियाँ सदाचारिणी और सुशीला थीं। पति की मृत्यु होने पर स्त्री के सती होने का बहुत कम रिवाज था। निस्संतान विधवा कुल की वृद्धि के लिए देवर अथवा सपिंड व्यक्ति से नियोग द्वारा संतानोत्पत्ति कर सकती थी; किंतु केवल एक संतान। नियोग में काम–वासना अथवा व्यभिचार की भावना नहीं होती थी। विधवा-विवाह भी कुछ अंशों में प्रचलित था। आर्यों का अनार्य जातियों के साथ संसर्ग होने पर उनसे उत्पन्न संतान 'व्रात्य' कहलाती थीं। अनार्यों के अनेक कुल आर्यों में घुल-मिल गये थे। बड़े-बड़े नगरों में कुछ गणिकाएँ भी होती थीं, जो धनाढ्य व्यक्तियों से प्रचुर धन प्राप्त कर उनका मनोरंजन किया करती थीं। मनोविनोद के अन्य साधनों में गायन, वादन, नृत्य, जल बिहार, बन बिहार, द्यूत कर्म, मल्लयुद्ध, आखेट तथा विविध प्रकार के खेल थे। उनमें सामान्य और विशिष्ट सभी वर्गों के व्यक्ति भाग लेते थे।

वस्त्राभूषण—इस देश में प्राचीनतम काल से ही विभिन्न वस्त्राभूषणों के उपयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है। पहिले ऊनी वस्त्रों का प्रयोग होता था, बाद में सूती और रेशमी वस्त्र भी काम में लाये जाने लगे थे। अधिकतर बिना सिले हुए वस्त्रों का व्यवहार किया जाता था। पुरुष एक अधोवस्त्र (धोती) पहिन कर उत्तरीय (चादर) ओढ़ते थे और सिर पर उष्णीश (पगड़ी) धारण करते थे। स्त्रियाँ नीवी (अधोवस्त्र) और वासस (मुख्य वस्त्र) पहिनती थीं। किनारीदार कपड़े भी बनते थे, तथा प्रद्यात नामक एक लैसदार अथवा कामदार वस्त्र का भी उल्लेख मिलता है। साधारणतया सब लोग नंगे पैर रहते थे; किंतु शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शूकर की खाल के बने जूते और चप्पलों का भी उपयोग किया जाता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण पहिनते थे। राजा-महाराजा और विशिष्ट राजकीय पुरुष मुकुट धारण करते थे।

शिक्षा—प्राचीन काल में शिक्षा गुरुकुलों में दी जाती थी। गुरु जन एकांत वनों में निवास करते हुए अपने स्थानों में ही गुरुकुलों का संचालन करते थे। एक–एक गुरुकुल में सैकड़ों विद्यार्थी होते थे, जो गुरुओं के पारिवारिक जनों की भाँति रहते थे। विद्यार्थियों में सामान्य छात्रों के साथ ही साथ राजकुमार और संभ्रांत व्यक्तियों के पुत्र भी होते थे; किंतु सब के साथ बिना किसी भेद-भाव के एक सा व्यवहार किया जाता था। गुरु-शिष्यों का संबंध आत्मीय और मधुर होता था। गुरुओं और अध्यापकों का समाज में बड़ा सन्मान था और राज्य की ओर से उन्हें आर्थिक अनुदान के साथ सब प्रकार की सुविधाएँ दी जाती थीं। शिक्षा प्रायः निःशुल्क होती थी। अति काल तक शिक्षा प्रदान करने की पद्धति मौखिक रही थी; कालांतर में वह लिखित रूप में भी दी जाने लगी थी। शिक्षा के विषय अंगोपांग सहित चारों वेद, सभी शास्त्र, पुराण तथा विविध विद्याएँ और कलाओं से संबंधित थे। ज्ञान–प्रसार के लिए विचार–विमर्श, शास्त्रार्थ और अनुसंधान की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता था।

आर्थिक अवस्था—प्राचीनतम काल से ही इस देश की आर्थिक अवस्था उन्नत रही है और यहाँ के निवासी सुखी, संतुष्ट और समृद्ध रहे हैं। आर्थिक अवस्था पहिले पशु-पालन तथा कृषि पर आधारित थी और बाद में वह व्यापार–वाणिज्य एवं उद्योग–धंधों पर भी निर्भर हो गई थी। व्यापार पहिले वस्तु–विनिमय अथवा गायों के आदान–प्रदान द्वारा होता था; बाद में मुद्राओं और सिक्कों का भी प्रयोग होने लगा था।

पशु–पालन—पशुओं में गाय का महत्व बहुत अधिक था। उस काल में 'गो-धन' सबसे बड़ा धन माना जाता था। जिस व्यक्ति के पास जितनी अधिक गायें होती थीं, उसे समाज में उतना ही बड़ा धनी और समृद्ध समझा जाता था। कृष्ण–काल में यहाँ पर गायों का और भी अधिक महत्व था। श्री कृष्ण ने स्वयं गो-पालन किया था। गायों के अतिरिक्त अन्य पशुओं को भी पाला जाता था। बैल खेती और माल ढोने के लिए, घोड़े सवारी के लिए और कुत्ते रखवाली के लिए पाले जाते थे।

कृषि—प्राचीनतम काल में कृषि केवल वर्षा पर आधारित थी; बाद में सिंचाई से भी काम लिया जाने लगा था। सिंचाई नदी-नाले और कूओं से अथवा कृत्रिम जल-प्रवाह से की जाती थी। खेती के लिए हल और बैलों का उपयोग होता था। गेंहूँ, जौ, धान, उड़द, तिल आदि की खेती खाद्यान्न के लिए और कपास की वस्त्रों के लिए की जाती थी।

व्यापार–वाणिज्य—प्राचीनतम काल से ही यहाँ कृषि-गोरक्षा के साथ-साथ व्यापार–वाणिज्य भी वैश्यों का कर्म रहा है । बाद में उद्योग–धंधे और कला–कौशल के काम करने वालों के अलग–अलग वर्ग बन गये थे; किंतु उनके माल के क्रय-विक्रय करने वाले वैश्य ही थे । सभी पेशेवालों के सामाजिक संगठन थे और वे प्रायः अलग–अलग स्थानों में सामूहिक रूप से रहा करते थे । मथुरा नगर की गली सुनारान, गली कसेरान, गली ठठेरान आदि के नामों से ज्ञात होता है कि इनमें पहिले सुनार, कसेरे और ठठेरे ही रहते थे । पहिले व्यापार वस्तु–विनिमय के आधार पर किया जाता था; बाद में मुद्राओं और सिक्कों का भी उपयोग होने लगा था । सिक्के सोने, चाँदी और तांबे के होते थे । सोने का सिक्का 'निष्क', चाँदी का 'पण' और तांबे का सिक्का 'माषक' कहलाता था ।

व्यापार इस देश के विभिन्न भागों के अतिरिक्त विदेशों से भी किया जाता था । उसके लिए स्थल पर पशुओं और बैल–गाड़ियों द्वारा तथा नदियों पर नौकाओं द्वारा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था । वणिकों और सार्थवाहों के अनेक संघ थे, जो सामूहिक रूप से व्यापारिक यात्राएँ करते थे । मार्ग की लूट–मार से बचने के लिए वे अपने साथ सशस्त्र सैनिक रखते थे । व्यापार–वाणिज्य बड़ी ईमानदारी के साथ होता था । किसी तरह की धोखा-धड़ी अथवा मिलावट करना घोर पातक समझा जाता था । बाद में राज्य की ओर से भी उस पर अंकुश रखा जाने लगा था । चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में मिलावट करने वाले, कम तोलने वाले अथवा अन्य प्रकार से ग्राहकों को धोखा देने वालों पर शासन की ओर से भारी दंड देने का उल्लेख किया है ।

प्रमुख व्यापारी सेट्ठि (सेठ) कहलाते थे । उनका राजा और प्रजा पर भारी प्रभाव होता था । वे धनी-मानी होने के साथ उदार दानी भी होते थे । उनके द्वारा साहित्य, संगीत और कलाओं को संरक्षण प्राप्त होता था । वे विद्वानों, गुणियों और कलाकारों को मुक्त हस्त से आर्थिक सहायता देते थे । उस काल के अनेक देवालय, विद्यालय, औषधालय आदि उन्हीं के अनुदान से चलाये जाते थे ।

स्थानीय स्वशासन—लोकतंत्र की जड़ स्थानीय स्वशासन है, जिसे वर्तमान काल की देन माना जाता है; किंतु भारतवर्ष में यह अत्यंत प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है । मौर्य काल में नगरों और ग्रामों में स्वशासन व्यवस्था प्रचलित थी, जिसका संचालन नगर सभाओं और ग्राम सभाओं द्वारा किया जाता था । मैगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र की नगर सभा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसकी ६ उपसमितियों द्वारा वहाँ सारी व्यवस्था की जाती थी । ग्रामों में स्थानीय स्वशासन वहाँ की ग्राम पंचायतों द्वारा चलाया जाता था । नगर सभाओं और ग्राम पंचायतों को वे सभी अधिकार प्राप्त थे, जो आंतरिक व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक थे । उनके बनाये हुए नियम और किये हुए निर्णय राज्य शासन को मान्य होते थे । उसी प्रकार की व्यवस्था उस काल में मथुरा नगर और शूरसेन के गाँवों में भी प्रचलित थी ।

द्वितीय अध्याय

पूर्व मध्य काल

[विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ६०० तक]

●

ब्रज संस्कृति के इतिहास का यह युग शुंग और उनकी एक शाखा मित्र राजवंशों के समाप्ति–काल सं० ४३ से आरंभ होता है और गुप्त राजवंश के अंतिम काल सं० ६०० के लगभग इसकी समाप्ति होती है । यह सात शताब्दियों का काल इस देश के कई अन्य भागों की तरह शूरसेन प्रदेश के सांस्कृतिक इतिहास में भी 'स्वर्ण युग' के रूप में चिर स्मरणीय है । उस काल में मथुरा नगर का महत्व इतना बढ़ गया था कि प्राचीन 'शूरसेन' के स्थान पर इस जनपद का नाम भी 'मथुरा राज्य' हो गया था । मथुरा के उस अभूतपूर्व सांस्कृतिक महत्व का सूत्रपात शकों के शासन-काल में हुआ था और कुषाण, नाग तथा गुप्त कालों में उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई थी ।

१. शक काल

[विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ९७ तक]

शक जाति—शक लोग मध्य एशिया में निवास करने वाले सीथियनों की एक शाखा युइची या युयिश जाति के थे । उनका उल्लेख भारत के प्राचीन ग्रंथ रामायण, महाभारत, मनु-स्मृति और विविध पुराणों में यवनों (यूनानियों) और पह्लवों के साथ–साथ मिलता है । वे तीनों जातियाँ विदेशों से आकर भारत में बसी थीं; किंतु भारतीय संस्कृति द्वारा आत्मसात् किये जाने से यहाँ के जन–जीवन में समाँ गई थीं । शक जाति के लोग विदेशी और आक्रामक होते हुए भी अत्याचारी नहीं थे । वे अपने परवर्ती हूण, अरब, तुर्क, मंगोल और पठान जातियों के आक्रमण–कारियों की भाँति बर्बर और हिंसाप्रिय भी नहीं थे । शक लोग भारत की संस्कृति से प्रभावित होकर यहाँ के धर्मों के अनुयायी बन गये थे । वे भारतीय जन–जीवन में यहाँ तक घुल–मिल गये थे कि कुछ काल बाद ही उन्हें भारतीयों से प्रथक करना कठिन हो गया था । इस देश की कई महत्वपूर्ण जातियों की नसों में शकों का खून है; किंतु उसे अब पहिचानना बड़ा कठिन है ।

शकों के निवास स्थान—शकों का मूल निवास स्थान मध्य एशिया में था; किंतु उन्हें वहाँ की एक यायावर बर्बर जाति हियंगनू (हूणों) से पराजित होना पड़ा था । उसके फल स्वरूप उन्हें वहाँ से भाग कर मध्य एशिया के पश्चिम और दक्षिण–पश्चिम में जाने को बाध्य होना पड़ा । उनका जो दल दक्षिण–पश्चिम की ओर बढ़ा था, वह वर्तमान अफगानिस्तान में यूनानियों के जमे होने से वहाँ नहीं टिक सका था; इसलिए उन्हें ईरान के पूर्वी और दक्षिण–पूर्वी भाग में शरण लेनी पड़ी थी । फिर वे बोलन दर्रा में होकर सिंधु नदी के पश्चिम तटवर्ती विशाल भू–भाग में फैल गये थे । वह समस्त भू–भाग शकों के नाम पर शकस्थान (सीस्तान) कहलाने लगा । पुराणों में उसे **'शाकद्वीप'** कहा गया है । भूगोल–वेत्ताओं ने उसके आस–पास के भू–भाग को 'इंडो सीथिया' नाम दिया है ।

शकों के भारतीय राज्य—शकों ने सिंधु नदी पार कर भारत के पश्चिमी भाग से बढ़ना आरंभ किया था। उन्होंने अवंति के मालव गण को, शूरसेन के शुंगवंशी मित्र राजाओं को तथा पश्चिमोत्तर के हिंदी यूनानियों को पराजित कर अपने कई राज्य स्थापित किये थे। उनके प्रमुख केन्द्र उज्जयिनी, मथुरा और तक्षशिला थे। उन राजकुलों की उपाधि 'क्षत्रप' थी। उनमें जो अधिक शक्तिशाली हुए, वे 'महाक्षत्रप' कहलाते थे। भारत भूमि पर बस जाने और यहाँ राज्य क़ायम कर लेने पर भी वे काफ़ी दिनों तक अपने प्राचीन स्थान 'शकस्थान' को नहीं भूल सके थे। मथुरा में उनके द्वारा निर्मित पाषाण के एक सिंह–शीर्ष पर उत्कीर्ण 'सर्वस सकस्तनस पुयए'—अभिलेख इसका प्रमाण है।

शकों के राज्य विस्तार की जैन अनुश्रुति—शकों का भारत में प्रवेश और यहाँ पर राज्य स्थापन करने से संबंधित एक जैन अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है। उससे ज्ञात होता है, शुंगों के शासन–काल में उज्जयिनी का राजा गर्दभिल्ल था। उसका नाम गंधर्वसेन अथवा महेन्द्रादित्य भी मिलता है और उसे उज्जयिनी के मालव गणराज्य[1] का अधिपति भी बतलाया जाता है। गर्दभिल्ल के शासन–काल में कालकाचार्य अथवा कालक सूरि नामक एक जैन यति उज्जयिनी गया था। उसके साथ सरस्वती नाम की उसकी रूपवती भगिनी थी, जो युवावस्था में ही जैन धर्म के अनुसार साध्वी अर्थात् भिक्षुणी बना दी गई थी। गर्दभिल्ल ने सरस्वती का अपहरण करा कर उसे बलात् अपने रनिवास में भेज दिया था। जैन यति उस घटना से अत्यंत दुखित हुआ; किंतु राज्य शक्ति के कारण वह विवश था। अपमान और क्रोध की ज्वाला से दग्ध होता हुआ वह वहाँ से चल दिया और घूमता–फिरता सिंधु नदी के पार शकस्थान में पहुँच गया। वहाँ पर उसने शकों को उज्जयिनी पर आक्रमण करने के लिए भड़काया। फलतः शकों की एक बड़ी जमात ने कालकाचार्य के साथ सिंधु नदी की दक्षिणी धारा को पार किया और उज्जयिनी की ओर कूँच कर दिया। मार्ग में उन्हें जैनियों से सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हुई थीं। जब शकों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया, तब वहाँ के जैनियों ने राज–विद्रोह कर उनका साथ दिया था। फलतः भीषण संघर्ष के बाद गर्दभिल्ल की पराजय हुई और उसे अपने प्रमुख राज्याधिकारियों के साथ वहाँ से भागना पड़ा। इस प्रकार उज्जयिनी पर शकों का अधिकार हो गया।

उपर्युक्त जैन अनुश्रुति में उज्जयिनी के गण–प्रमुख गर्दभिल्ल को कामुक और व्यसनी बतलाते हुए उसे साध्वी सरस्वती के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसके अपहरण कराने का दोषी ठहराया है। उसे दंड देने के लिए ही जैनियों को विदेशी शकों की सहायता करने का देश–

---

(१) पंजाब के प्राचीन गण राज्यों में भद्र और रोहितक के साथ मालव भी था। मालव गण विक्रमपूर्व की तीसरी शती तक रावी और चिनाव नदियों के दोआब में नीचे के भाग में बसते थे। सिकंदर के आक्रमण के समय उनका यूनानियों से भीषण संघर्ष हुआ था। उसके बाद वे वहाँ से हट कर इधर–उधर बसने लगे थे। उनका एक बड़ा भाग दक्षिण की ओर उत्तर-पूर्वी राजस्थान में होता हुआ मध्य भारत के उस भाग में बस गया था, जिसे प्राचीन काल में अवंति जनपद कहते थे और जो बाद में उन्हीं के नाम से मालव प्रदेश या मालवा कहा जाने लगा।

द्रोहात्मक कार्य करना पड़ा था। यदि उक्त अनुश्रुति पर से धार्मिकता का आवरण हटा कर उसकी ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा की जाय, तब गर्दभिल्ल के अपराध की गुरुता कम हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है, गर्दभिल्ल वैदिक धर्मावलंबी था और वह जैन धर्मानुसार युवती नारियों को गृहस्थ धर्म से उदासीन कर उन्हें विरक्त बनाये जाने को उचित नहीं समझता था। इसीलिए उसने युवती सरस्वती से गृहस्थ धर्म पालन कराने के लिए उसे अपनी रानी बना लिया था। कारण कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि घर की फूट से ही विदेशी शकों ने उज्जयिनी पर अधिकार किया था। उस घटना का काल सं० १५ विक्रमपूर्व बतलाया जाता है। उज्जयिनी पर आक्रमण करने के साथ ही साथ शकों के दूसरे दलों ने भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर सीमावर्ती राज्यों पर भी भीषण आक्रमण किये थे, जिनके फल स्वरूप मथुरा से लेकर तक्षशिला तक का विशाल क्षेत्र भी उनके अधिकार में आ गया था। वहाँ पर उनके कई राज्य कायम हुए। मध्यदेशीय राज्य की राजधानी मथुरा और पश्चिमोत्तर राज्य की तक्षशिला थी। उस काल के शक नेताओं के नाम नहपान, भोमक, मावेस आदि मिलते हैं। उन्हीं में से कोई उज्जयिनी पर आक्रमण करने वाली शक सेना का सेनापति भी रहा होगा

शकों का 'मथुरा राज्य' और उसके 'महाक्षत्रप'—

शकों के विशाल साम्राज्य के मध्यदेशीय भाग की राजधानी मथुरा थी। उसका राजनैतिक महत्व इतना बढ़ गया था कि प्राचीन शूरसेन जनपद तब 'मथुरा राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार विक्रम संवत् के आरंभ से यह जनपद मथुरा राज्य कहलाने लगा था। शकों के शासन काल में इस राज्य की सीमाएँ उत्तर में वर्तमान दिल्ली तक, पश्चिम में वर्तमान अजमेर तक और दक्षिण में वर्तमान ग्वालियर तक थीं। इस राज्य के शक शासक 'महाक्षत्रप' कहलाते थे। यहाँ पर उनका संक्षिप्त वृत्तांत प्रस्तुत है।

राजुवुल—मथुरा के आरंभिक शक शासकों में राजुवुल का नाम प्रसिद्ध है। सिक्कों पर उसकी उपाधि 'अप्रतिहत चक्र' मिलती है और उसे 'महा छत्रपस' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह एक शक्तिशाली स्वतंत्र शासक था। मथुरा में पाषाण का एक सिंह–शीर्ष मिला है, जो अब लंदन के ब्रिटिश संग्रहालय में है। उस पर खरोष्टी लिपि और प्राकृत भाषा में जो लेख उत्कीर्ण है, उसमें राजुवुल की रानी कुमुइअ और उसके पुत्र शोडास के भी नाम अंकित हैं। उस लेख से ज्ञात होता है कि शक राजमहिषी कुमुइअ (कंबोजिका) ने मथुरा में एक स्तूप और 'गुहा विहार' नामक एक संघाराम का निर्माण कराया था। वह संघाराम बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवादी शाखा के भिक्षुओं को प्रदान किया गया था। इस प्रकार राजुवुल और उसकी रानी की बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय के प्रति बड़ी श्रद्धा थी।

शोडास—राजुवुल के पश्चात् उसका पुत्र शोडास (सुदास) मथुरा का शासक हुआ था। उसका समय विक्रमपूर्व सं० २३ से विक्रम संवत् के आरंभिक काल के लगभग है। उसकी माता ने मथुरा में जिस 'गुहा विहार' का निर्माण कराया था, उसके लिए कुछ भूमि उसने भी दान में दी थी। उसके शासन–काल में जैन महिला अमोहिनी ने मथुरा के जैन क्षेत्र में एक 'आयाग पट्ट' की प्रतिष्ठा की थी और भागवत धर्म के अनुयायी एक वसु नामक व्यक्ति ने कृष्ण जन्म–स्थान पर भगवान् वासुदेव के चतुःशाला मंदिर के निमित्त तोरण तथा वेदिका का निर्माण

कराया था । मथुरा में वासुदेव कृष्ण के मंदिर बनवाये जाने के प्रमाण में वह पहिला अभिलेख है, अतः उसका ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है । शोडास का शासन–काल विक्रम संवत् के आरंभिक वर्ष तक अनुमानित होता है, अतः वही काल उस मंदिर के निर्माण का भी हो सकता है। उक्त धार्मिक कार्यों के सम्पन्न किये जाने से यह सिद्ध होता है कि शक–शासन में मथुरा बौद्ध, जैन और भागवत तीनों धर्मों का केन्द्र था और वे धर्म यहाँ पर एक साथ उन्नति कर रहे थे । इससे शक राजाओं की उदार धार्मिक नीति का परिचय मिलता है ।

शकों की पराजय—शकों के भारत–प्रवेश और उनके द्वारा उज्जयिनी के शासक को पराजित करने में जैनियों की सहायता का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है । ऐसा जान पड़ता है, बाद में जैन यतियों तथा जनता को उसके लिए पश्चात्ताप हुआ था; अतः वे अपने देश–द्रोहात्मक कार्य के प्रायश्चित के लिए शकों के विरुद्ध राज्यक्रांति करने का उपक्रम करने लगे । उन्होंने गर्दभिल्ल के पुत्र को भी उसके लिए उकसाया था । यद्यपि शक लोग धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु तथा भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान थे और उनका शासन भी बुरा नहीं था; फिर भी विदेशी होने के कारण वे यहाँ के अनेक लोगों के प्रीति–भाजन नहीं हो सके थे । ऐसे ही लोगों में अवंति के मालव गण थे, जो उज्जयिनी के शक शासन के विरुद्ध अभियान करने की तैयारी करने लगे ।

शकों से पराजित होकर गर्दभिल्ल और उसके साथी अनेक राजपुरुष उज्जयिनी छोड़ कर प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठन) की ओर चले गये थे । कालांतर में गर्दभिल्ल के पुत्र ने मालव गण को संगठित किया तथा दक्षिणापथ के सातवाहन वंशीय शासक की सहायता प्राप्त की । इस प्रकार पूरी तैयारी के साथ उसने प्रतिष्ठान से बढ़ कर शकों के विरुद्ध उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया । उज्जयिनी के और आस-पास के जैनियों ने भी उसका साथ दिया था । उक्त अभियान का शकों द्वारा कड़ा मुकाबला किया गया; किंतु स्थानीय जनता के विद्रोह के कारण उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई । फलतः शकों की बुरी तरह पराजय हुई और उन्हें उज्जयिनी छोड़ कर भागना पड़ा । अपनी मातृभूमि को विदेशियों से स्वाधीन करने के उपलक्ष में विजेताओं ने बड़ा उत्सव मनाया। वास्तव में वह एक भारी विजय थी, जिसका अवंति की समस्त जनता ने अत्यंत हर्ष पूर्वक स्वागत किया था ।

मालव गण का विजयोत्सव—शकों को पराजित कर मालव गण ने अपने खोये हुए राज्य को फिर से प्राप्त किया था; अतः उसकी स्मृति में विजयोत्सव मनाते हुए उन्होंने कई महत्वपूर्ण कार्य किये थे । पहला कार्य यह किया कि उस अवसर पर मालवों की विजय के सूचक सिक्के चलाये, जिन पर 'मालवानाम् जयः' अथवा 'मालव गणस्य जयः' शब्द अंकित थे । उस प्रकार की विजय सूचक शब्दावली के अनेक सिक्के उस काल के मिल चुके हैं । उसी उपलक्ष में प्राचीन नाम अवंति के स्थान पर वह प्रदेश 'मालव राज्य' अथवा 'मालवा प्रदेश' कहा जाने लगा । दूसरा कार्य यह किया कि जिस वीर सेनानायक की अध्यक्षता में वह अपूर्व विजय प्राप्त हुई थी, उसे 'विक्रमादित्य' उपाधि से विभूषित किया गया । वह उपाधि कालांतर में इतनी प्रसिद्ध हुई कि भारतीय इतिहास के जिन महापुरुषों ने समय–समय पर विदेशियों को पराजित कर अपना अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया, अथवा कोई अन्य महत्वपूर्ण कार्य किया था, उन्होंने 'विक्रम' या 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी । तीसरा सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि एक नया संवत् चलाया गया, जो इस समय 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रसिद्ध है । यह संवत् ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के काल से चलता है ।

विक्रमादित्य और विक्रम संवत्—मालव गण ने उज्जयिनी को शकों के विदेशी शासन से मुक्त कर वहाँ पर अपना राज्य क़ायम किया था, इसमें कोई विवाद नहीं है। विवाद विक्रमादित्य और विक्रम संवत् के नामों पर है। इसका कारण यह है कि जिस काल में उज्जयिनी के शकों को पराजित किया गया था, उस काल के किसी प्रसिद्ध महापुरुष के नाम या उसकी उपाधि के विक्रम या विक्रमादित्य होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उस काल में अथवा उसके कई शताब्दी बाद तक विक्रम नामक किसी संवत् का भी प्रयोग नहीं मिलता है। जिस संवत् को अब विक्रम संवत् कहते हैं, उसका आरंभिक नाम 'कृत' था, जो तीसरी से पाँचवीं शताब्दियों तक के ताम्रपत्रों और शिलालेखों आदि में मिलता है। उसके बाद पाँचवीं से आठवीं शताब्दी तक के अभिलेखों में 'मालव गण स्थिति', 'मालवेश' या 'मालव संवत्' नाम मिलते हैं। उसके पश्चात् नवमी शताब्दी से 'विक्रम संवत्' के नाम का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है, जो अब तक प्रचलित है। इस प्रकार नवमी शताब्दी से पहिले के काल में इस संवत् का नाम 'विक्रम' नहीं मिलता है। वैसे ईसवी सन् से ५७ वर्ष पहिले के काल से अब तक इसकी अविच्छिन्न परंपरा रही है; चाहें इसके नाम पहिले 'कृत' एवं 'मालव' थे और बाद में इसे 'विक्रम' कहा जाने लगा।

क्या विक्रमादित्य कल्पित व्यक्ति थे ?—विक्रमादित्य और विक्रम संवत् के विवाद के कारण कई विद्वानों की यह धारणा हुई है कि विक्रम या विक्रमादित्य नाम या उपाधि का कोई महापुरुष उस काल में नहीं हुआ था। वह तो साहित्यिक अनुश्रुतियों और लोक कथाओं का एक काल्पनिक व्यक्ति है। इस विषय पर वर्षों से अनेक विद्वानों द्वारा पक्ष और विपक्ष में अपने-अपने मत प्रकट किये जाते रहे हैं; किंतु अब तक कोई सर्व सम्मत निर्णय नहीं हो सका है। प्राकृत और संस्कृत के प्राचीन ग्रथों तथा साहित्यिक एवं धार्मिक अनुश्रुतियों में विक्रमादित्य का नाम इतनी प्रचुरता से मिलता है कि उसे कल्पित व्यक्ति मानना संभव नहीं मालूम होता है। उससे संबंधित इतिहास चाहें स्पष्ट नहीं है; किंतु साहित्य और संस्कृति से उसका आरंभ से ही अविच्छिन्न संबंध रहा है, इसलिए उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

सातवाहन नरेश हाल कृत 'गाथा सत्तसई' और गुणाढ्य कृत 'वड्ड कहा' (वृहत् कथा) प्राकृत भाषा की दो प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जिनका काल दूसरी शताब्दी से पहिले का माना जाता है। इस प्रकार वे विक्रमादित्य के काल से कुछ ही बाद की रचनाएँ हैं। उनमें विक्रमादित्य का उल्लेख होने से उन्हें उसके अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण कहा जा सकता है। हाल कृत 'सत्तसई' में विक्रमादित्य की उदारता और दानशीलता को व्यंजित करने वाली एक सरस गाथा है। 'वृहत्कथा' और उसके आधार पर सोमदेव द्वारा रचित संस्कृत ग्रंथ 'कथा सरितसागर' में विक्रमादित्य के यश और प्रताप की अनेक कथाएँ हैं। 'गाथा सत्तसई' और 'वड्ड कहा' के पश्चात् भोज प्रबंध, प्रबंध चिंतामणि, विक्रम चरित्, राजतरंगिणी, वेताल पंचविंशतिका, द्वात्रिंशत् पुत्तलिका सिंहासन, कालकाचार्य कथा आदि बीसों रचनाओं के साथ ही साथ फरिश्ता और अबुलफ़जल के ग्रंथों में भी विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। उनमें उस विख्यात महापुरुष की वीरता, उदारता, गुण-ग्राहकता, पर-दुःखवत्सलता और अलौकिक शक्ति के साथ ही साथ उसके विद्या-व्यसन, सांस्कृतिक प्रेम तथा अनेक विद्याओं के विशेषज्ञ नवरत्नों को प्रश्रय देने से संबंधित विविध कथाएँ संगृहीत हैं। इस प्रकार भारतीय साहित्य और संस्कृति से विक्रमादित्य का घनिष्ट संबंध है। ऐसी दशा में उसे कल्पित व्यक्ति मानना साहित्य और संस्कृति के महत्व की अवहेलना करना है।

विक्रमादित्य और विक्रम संवत् संबंधी समस्या और उसका समाधान—यदि विक्रमादित्य नाम कल्पित नहीं है, तो वह कौन सा महापुरुष था और उसके चलाये हुए संवत् का नाम आरंभ से ही विक्रम संवत् क्यों नहीं मिलता है; ये ऐसी समस्याएँ हैं, जिनके समाधान के लिए विविध विद्वानों ने भिन्न–भिन्न मत प्रकट किये हैं। इस संबंध में हमारा मत है, विक्रम या विक्रमादित्य कोई नाम नहीं है बल्कि उपाधि है। इसे सर्वप्रथम विष्णु ने कृतयुग में असुरों को पराजित करने के उपरांत धारण किया था, जो वेदों में 'विक्रमिन्' के नाम से मिलती है। जब गर्दभिल्ल के पुत्र विषमशील की अध्यक्षता में शकों को पराजित किया गया, तब उक्त घटना को भी कृतयुग की पुनरावृत्ति माना गया। उज्जयिनी की जनता ने तब यह समझा था कि विदेशियों के शासन से मुक्ति मिलने के कारण जनता को अभूतपूर्व सुख-संतोष प्राप्त होगा और सतयुग अथवा कृतयुग की पुनः स्थापना होगी। फलतः उस समय प्रचलित संवत् को 'कृत संवत्' कहा गया। उसके साथ ही कृतयुग की 'विक्रम' नामक गौरवपूर्ण उपाधि विषमशील को प्रदान की गई। जब विदेशियों द्वारा पुनः अधिकार किये जाने पर कृतयुग की संभावना समाप्त हो गई, तब उक्त संवत् को मालव गण के नाम पर 'मालव संवत्' कहा जाने लगा। कालांतर में जब इस देश में गण राज्य समाप्त प्रायः हो गये और राजतंत्र का सर्वत्र बोलबाला हुआ, तब विक्रमादित्य के प्राचीन गौरव को स्थिर रखने के लिए उस संवत् का नाम 'विक्रम संवत्' प्रसिद्ध हुआ, जो अब तक प्रचलित है।

इस प्रकार गर्दभिल्ल का पुत्र विषमशील प्रथम विक्रमादित्य था; जो शकों की पराजय के पश्चात् उज्जयिनी के मालव गण राज्य का प्रथम अधिपति हुआ था। वह अत्यंत वीर, प्रजापालक, उदार और विद्याप्रेमी शासक था। उसकी वीरता और उदारता की अनेक बातें लोक कथाओं के रूप में प्रचलित हो गईं, जो तब से अब तक सभी जगह कही–सुनी जाती रही हैं। उसके समय में जो नया संवत् प्रचलित किया गया था, वही आजकल का 'विक्रम संवत्' है। वह पहिले 'कृत', फिर 'मालव' और तदुपरांत 'विक्रम' के नाम से प्रसिद्ध होता हुआ ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के काल से अब तक निरंतर प्रचलित रहा है। यह संवत् समस्त उत्तर भारत में और विशेष कर उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात आदि राज्यों में प्रयुक्त होता है।

मथुरा में शक शासन की समाप्ति—उज्जयिनी के शकों की भीषण पराजय का प्रभाव भारत के जिन अन्य शक राज्यों पर पड़ा था, उनमें मथुरा राज्य का नाम उल्लेखनीय है। उसके फल स्वरूप मथुरा के शक क्षत्रपों का राज्याधिकार समाप्त हो गया और अन्य राज्यों की शक्ति भी क्षीण हो गई थी। उसके कारण भारत के राजनैतिक रंगमंच पर कुछ काल के लिए शकों का स्थान गौण हो गया था; यद्यपि वे इस देश के कई भागों में पर्याप्त काल तक जमे रहे और उनके कई छोटे राज्य जहाँ–तहाँ किसी प्रकार चलते रहे थे।

दत्त राजवंश का उदय और अंत—मथुरा के शक क्षत्रपों की शक्ति क्षीण होने पर यहाँ दत्त राजवंश का अधिकार हो गया था। इस क्षेत्र की पुरातात्विक सामग्री में दत्त वंशीय राजा पुरुषदत्त, उत्तमदत्त, रामदत्त, कामदत्त, शेषदत्त, भवदत्त तथा बलभूति के नाम मिलते हैं; जिनके सिक्कों पर लक्ष्मी, हाथी और बैल की मूर्तियाँ हैं। दत्त वंश के उक्त राजाओं में से किसका और कितने समय तक राज्याधिकार रहा था, उसका प्रामाणिक विवरण ज्ञात नहीं होता है। ऐसा जान पड़ता है, मथुरा राज्य पर दत्त वंश का अधिकार बहुत थोड़े ही समय तक रहा था; क्यों कि शकों के कुछ समय बाद ही यहाँ कुषाण राजाओं का अधिकार क़ायम हो गया था।

२. कुषाण काल

[विक्रम सं० ६७ से सं० २३३ तक]

कुषाण जाति और उसके राजा—

शकों और दत्तों के पश्चात् मथुरा राज्य पर कुषाण नामक एक विदेशी जाति के राजाओं ने अधिकार कर लिया था। कुषाण लोग मध्य एशिया की युयिश जाति के थे; अतः उन्हें भी शकों की एक दूसरी शाखा का समझा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने कुषाण जाति का नाम ऋषिक तुरुष्क (तुखार) भी लिखा है[1]। कदाचित उसी के आधार पर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने उन्हें 'तुर्क' जाति का बतलाया है[2]। यद्यपि कुषाणों की जातीय परंपरा के संबंध में मतभेद है; तथापि अधिक संभावना इस बात की है कि वे शकों की किसी शाखा से ही संबंधित थे। वे भी शकों की ही भाँति मध्य एशिया से निकाले जाने पर काबुल–कंधार की ओर आ गये थे। उनके काल में वहाँ के हिंदी यूनानियों की शक्ति क्षीण हो गई थी, जिसके कारण उन्हें कुषाणों ने सरलता से पराजित कर दिया था। उसके बाद उन्होंने शकों की तरह इधर–उधर न भटक कर काबुल–कंधार पर अपना राज्याधिकार क़ायम किया। उनके प्रथम राजा का नाम कुजुल कडफाइसिस था। उसने काबुल–कंधार के यवनों (हिंदी यूनानियों) को दबा कर भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा पर बसे हुए पल्लवों को भी पराजित किया था। इस प्रकार कुषाणों का अधिकार पश्चिमी पंजाब तक हो गया था। कुजुल के पश्चात् उसके पुत्र विम तक्षम ने कुषाण राज्य का और भी अधिक विस्तार किया था। शकों की भाँति कुषाणों ने भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर यहाँ के धर्मों को अपना लिया था।

विम तक्षम—मथुरा का प्रथम कुषाण राजा विम तक्षम (विम कडफाइसिस) था। उसने काबुल, कंधार और पंजाब से आगे बढ़ कर मथुरा राज्य पर अधिकार किया था। फिर उसने अपने राज्य की सीमाएँ वाराणसी तक बढ़ाली थीं। मथुरा नगर उसके बड़े राज्य का एक प्रमुख प्रशासिक केन्द्र था। उसके सिक्के पंजाब से बनारस तक काफी तादाद में मिले हैं। उन सिक्कों पर एक ओर विम की तथा दूसरी ओर नंदी सहित शिव की मूर्तियाँ अंकित हैं। उन पर खरोष्टी लिपि में राजा का नाम तथा उसकी उपाधि 'महिश्वरस' (माहेश्वरस्य) भी है। शिव की मूर्ति और उक्त उपाधि से विम का शिव–भक्त और शैव धर्म का अनुयायी होना ज्ञात होता है।

उस राजा की विशाल मूर्ति मथुरा जिला के मांट ग्राम के निकटवर्ती इटोकरी टीला से मिली है, जिस पर ब्राह्मी में एक लेख भी है। लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ पर एक देवकुल, उद्यान, पुष्करिणी और द्वार का निर्माण कराया गया था। 'देवकुल' से अभिप्राय मूर्ति–कक्ष से है, जहाँ कुषाणों के दिवंगत राजाओं की बड़ी–बड़ी पाषाण प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। मथुरा राज्य में कुषाणों के कदाचित दो देवकुल थे,—पहिला मथुरा जिला के वर्तमान गाँव मांट के इटोकरी टीला पर था और दूसरा संभवतः मथुरा नगर के गोकर्णेश्वर टीला पर था। इटोकरी टीला के

---

(१) **ब्रज का इतिहास** (प्रथम भाग), पृष्ठ ८६

(२) **भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री**, पृष्ठ ५२–५७

देवकुल से विम के अतिरिक्त कनिष्क और चष्टन की मूर्तियाँ भी मिली हैं। ये सब मूर्तियाँ मथुरा के संग्रहालय में हैं। विम की मूर्ति का सिर टूटा हुआ है और उस पर उपाधि सहित उसका नाम इस प्रकार अंकित है—'महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाण पुत्र शाहि विम तक्षम'। विम ने सं० ९७ से सं० १३४ के लगभग तक शासन किया था।

कनिष्क—विम का उत्तराधिकारी कनिष्क था। वह कुषाण राजाओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध होने के साथ ही साथ भारतवर्ष के महान् सम्राटों में भी गिना जाता है। उसने सं० १३५ से १५८ तक शासन किया था। उसका राज्य मध्य एशिया से लेकर भारत के पूर्वी भाग तक था। इस प्रकार वह एक विशाल साम्राज्य का शक्तिशाली सम्राट था। धर्मपिटक–निदान सूत्र के चीनी अनुवाद से ज्ञात होता है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र को भी जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। वहाँ से वह भगवान् बुद्ध के कमंडलु सहित अश्वघोष नामक विख्यात बौद्ध विद्वान को अपने साथ ले गया था[1]। उसके विशाल साम्राज्य के उत्तरी भाग को राजधानी पुरुषपुर या पुष्पपुर (वर्तमान पेशावर) थी, मध्य भाग की मथुरा थी और पूर्वी भाग की सरनाथ थी।

कनिष्क ने विदेशी होते हुए भी भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति बड़ी आस्था प्रकट की थी। उसने अश्वघोष से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी; किंतु वह अन्य भारतीय धर्मों के प्रति भी उदार था और उन सब का आदर करता था। उसके भारतीय सिक्कों पर बुद्ध के साथ ही साथ हिंदू देवताओं की मूर्तियाँ और उनके नाम मिलते हैं। वह कलाओं का संरक्षक और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, पार्श्व, चरक, संघरक्ष और माठर जैसे विख्यात विद्वानों के अतिरिक्त अनेक कवि और कलाकार भी थे। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपने साम्राज्य के प्रमुख स्थानों में बौद्ध स्तूप, संघाराम और मूर्तियों का निर्माण कराया था। उसने काश्मीर में एक बौद्ध धर्म परिषद् का आयोजन किया था, जिसमें ५०० बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए थे। उसका सभापति आचार्य वसुमित्र तथा उप सभापति विख्यात कवि और विद्वान अश्वघोष था। उस परिषद् में कई दिनों तक बौद्ध धर्म ग्रंथों पर विचार–विमर्श होता रहा था। उसके बाद प्रमुख बौद्ध ग्रंथों को ताम्रपत्रों पर खुदवाया गया और उन्हें एक स्तूप में सुरक्षित रख दिया गया था। उसके शासन–काल में बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय की विशेष उन्नति हुई थी। महायान के प्रसिद्ध विद्वान वसुमित्र और अश्वघोष का कनिष्क पर बहुत प्रभाव था।

शक संवत्—विक्रम संवत् की भाँति शक संवत् भी भारतवर्ष का एक प्राचीन संवत् है, जो इस देश के अनेक भागों में प्रचलित है। वह विक्रम संवत् से १३५ वर्ष तथा ईसवी सन् से ७८ वर्ष बाद से चलता है। विक्रम संवत् की तरह इसके प्रचलन के संबंध में भी काफी विवाद है। साधारणतया इसके आरंभ करने का श्रेय शकों को दिया जाता है और इसे कनिष्क के राज्यारोहण काल से प्रचलित माना जाता है। भारत सरकार ने सन् १९५२ में 'राष्ट्रीय पंचांग सुधार समिति' नियुक्त की थी। उसके अध्यक्ष डा० मेघनाद शाह का मत है कि जब शकों ने मध्य एशिया से निष्क्रमण किया था, तब ईसवीपूर्व सन् १२९ में उन्होंने बैक्ट्रिया पर विजय प्राप्त की थी। उसके

---

(१) प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ ६३५

बाद ७ वर्ष तक वे पार्थियन राजाओं से युद्ध करते रहे और ईसवी सन् १२३ में उन्हें पराजित किया। तभी उन्होंने शक संवत् प्रचलित किया था। उसके बाद भारत में बस जाने पर कनिष्क के राज्यारोहण-काल से इसका पुनः प्रचलन आरंभ हुआ; किंतु उसे २०० वर्ष आगे हटा दिया था। इस प्रकार भारत में शक संवत् सन् ७८ ई० से चालू हुआ। उक्त सन् से आरंभ होने वाले शक संवत् और ईसवी सन् से १२३ वर्ष पूर्व आरंभ होने वाले शक संवत् में कोई अंतर नहीं है। नये संवत् में केवल २०० वर्ष छूटे हुए हैं। कनिष्क संवत् का प्रथम वर्ष प्राचीन शक संवत् का २०१ वाँ वर्ष होता है।

कनिष्क द्वारा उक्त संवत् का चलाया जाना सर्वथा प्रामाणिक नहीं है, क्यों कि न तो स्वयं कनिष्क ने कभी इसका उपयोग किया था और न उसके चार सौ वर्ष बाद तक इस संवत् का भारत में प्रयोग मिलता है। स्वयं कनिष्क ने अपने अभिलेखों में जिस संवत् का प्रयोग किया था, वह गणना द्वारा मालव संवत् सिद्ध हुआ है, जो वस्तुतः विक्रम संवत् है। शक संवत् का सबसे प्राचीन उदाहरण चालुक्य वल्लभेश्वर के बादामी शिलालेख में मिलता है, जिसमें ४६५ शक संवत् दिया हुआ है। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस संवत् को प्रथम कनिष्क ने नहीं, वरन् द्वितीय कनिष्क ने प्रचलित किया था। उसका आधार जैन मुनि कालकाचार्य का यह श्लोक कहा जाता है— "ततो वर्ष शते पंचत्रिंशत सन्धिके पुनः। तस्य राज्ञोऽन्वयं हत्वा वत्सरः स्थापितः शकैः।।" हिंदू अनुश्रुति के अनुसार इसका प्रचलनकर्त्ता शालिवाहन था; इसीलिए इसे 'शाके शालिवाहने' कहा जाता है। वह शालिवाहन राजा कौन था, यह विचारणीय है।

पहिले लिखा गया है, उज्जयिनी का अधिपति विषमशील प्रथम विक्रमादित्य था। उसी की भाँति शालिवाहन को भी विक्रमादित्य कहा जाता है और उसका अस्तित्व भी प्रथम विक्रमादित्य की तरह ही विवादास्पद है। दोनों के द्वारा ही शकों को पराजित करने की बात कही जाती है। श्री रामचंद्र वर्मा ने 'संक्षिप्त शब्द सागर' में शालिवाहन को एक प्रसिद्ध शक राजा बतलाया है, जो हिंदू मान्यता के विरुद्ध है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के मतानुसार हाल राजा शातवाहन ही शालिवाहन था[१]। ऐसी दशा में यह कहना बड़ा कठिन है कि शक संवत् को कनिष्क ने चलाया था, अथवा शालिवाहन नामधारी राजा हाल शातवाहन ने। यदि इसे कनिष्क ने चलाया, तो इसके साथ शालिवाहन नाम क्यों लगा मिलता है? फिर विदेशी शकों द्वारा प्रचलित संवत् को भारतीयों ने क्यों अपनाया था? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका ठीक तरह से उत्तर देना संभव नहीं है।

शक लोग विदेशी होते हुए भी भारतीय संस्कृति और धर्मों को स्वीकार कर पूरे भारतीय हो गये थे; इसलिए उनके द्वारा प्रचलित संवत् को भी भारतीयों ने अपनाने में कोई संकोच नहीं किया होगा। उक्त संवत् को सबसे पहिले दक्षिणी भारत में बसे हुए उन शाकद्वीपी ब्राह्मणों ने अपनाया था, जिनका संबंध शक जाति से था। वे लोग वर्षफल और जन्मपत्री बनाने में उसका प्रयोग करते थे। उसके बाद वह दक्षिण में सर्वत्र और उत्तर भारत में भी अधिकतर प्रचलित हो गया था। ज्योतिष की गणना में तो प्रायः इसी संवत् का प्रयोग होता है। प्राचीन

---

(१) **'महाराजाधिराज विक्रमादित्य'** (विक्रमोत्सव ग्रंथ, पृष्ठ १२)

शिलालेख और ताम्रपत्रों में भी इसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। इसी संवत् की काल–गणना में किंचित फेर–बदल कर भारत सरकार ने इसे 'राष्ट्रीय संवत्' का गौरव प्रदान किया है और राजकीय कार्यों में ईसवी सन् के साथ ही साथ इसे भी प्रचलित करने की व्यवस्था की है।

परवर्ती कुषाण राजा—कनिष्क के उत्तराधिकारी का नाम वासिष्क था। उसने सं० १५९ से १६३ तक प्रायः ४ वर्ष राज्य किया था। उसके राज्य काल का एक लेख मथुरा के ईसापुर गाँव से मिला है। उससे ज्ञात होता है कि उस काल में मथुरा के कुछ ब्राह्मणों ने 'द्वादश रात्र' नामक वैदिक यज्ञ किया था। मथुरा में उस काल में बौद्ध और जैन धर्मों का ही विशेष प्रचार था; किंतु उक्त लेख से विदित होता है कि उस काल में भी मथुरा के ब्राह्मण वैदिक कर्म-कांड में आस्था रखते थे।

वासिष्क का उत्तराधिकारी हुविष्क हुआ था। उसने सं० १६३ से १९५ तक अर्थात् ३२ वर्ष तक राज्य किया था। कनिष्क की तरह हुविष्क भी बौद्ध धर्म में आस्था रखता था। उसने अपने नाम से मथुरा में एक विशाल बौद्ध विहार बनवाया था और कनिष्क के समय में बने हुए मांट के 'देवकुल' का जीर्णोद्धार कराया था। उसके काल में कनिष्क द्वितीय काश्मीर और उसके निकटवर्ती प्रदेश का शासक था। उसका उल्लेख कल्हण कृत 'राज तरंगिणी' और आरा से प्राप्त एक लेख में हुआ है। उसे कनिष्क प्रथम का पौत्र और वासिष्क पुत्र माना जाता है। संभव है, वह हुविष्क का भाई हो। ऐसा जान पड़ता है, कनिष्क प्रथम के बाद कुषाण साम्राज्य छिन्न–भिन्न होने लगा था। उसका पूर्वी भाग अलग हो गया था तथा उत्तरी और मध्यदेशीय भागों में कुषाणों के कई स्वतंत्र राज्य बन गये थे। उत्तरी भाग कनिष्क द्वितीय के अधिकार में था और मध्यदेशीय राज्य में हुविष्क का शासन था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी कुषाण राजाओं की उपाधि 'देवपुत्र षाहि षानुषाहि' (देव पुत्र शाही शाहानुशाही) थी। इसका उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ वाले लेख में हुआ है। अंतिम कुषाण राजाओं में वासुदेव का नाम प्रसिद्ध है। उसका राज्य काल सं० १९५ से २३३ तक माना जाता है। उसके सिक्कों पर शिव और नंदी की मूर्तियाँ मिलती हैं। इनसे जान पड़ता है कि वह अपने पूर्वज विम तक्षम तथा कनिष्क द्वितीय की भाँति शैव धर्म का अनुयायी था। उसके शासन–काल में हिंदू देवी–देवताओं की मूर्तियाँ प्रचुरता से बनाई गई थीं।

कुषाण शासन में मथुरा राज्य की स्थिति—शकों के शासन काल में मथुरा राज्य के जिस राजनैतिक तथा भौतिक महत्व का सूत्रपात हुआ था, वह कुषाणों के शासन काल में और भी बढ़ गया था। कुषाण साम्राज्य के मध्यदेशीय भाग का प्रशासनिक केन्द्र होने के कारण तब मथुरा की बड़ी प्रसिद्धि थी। उस काल में जो राजमार्ग पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) से पुरुषपुर या पुष्पपुर (वर्तमान पेशावर) तक जाता था, उसके प्रायः बीचोंबीच मथुरा पड़ता था। इसलिए यह नगर उस काल में भारतीय व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था और वह भारत के विभिन्न राज्यों के अतिरिक्त विदेशों से भी अपना व्यापारिक संबंध रखता था। मथुरा नगर के व्यापारी तब देश और विदेश की अनेक वस्तुओं का क्रय–विक्रय कर यथेष्ट धनोपार्जन करते थे।

कुषाण सम्राट विदेशी होते हुए भी भारतीय सांस्कृति के प्रति बड़े आस्थावान थे। उनके प्रोत्साहन से मथुरा राज्य में विद्या–कला और व्यापार–वाणिज्य की बड़ी उन्नति हुई थी।

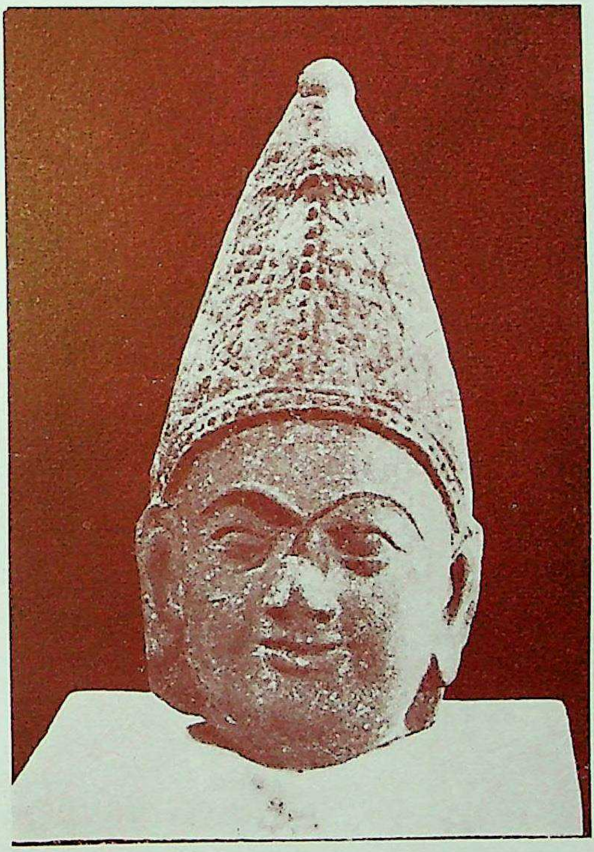

कुषाण राज पुरुष

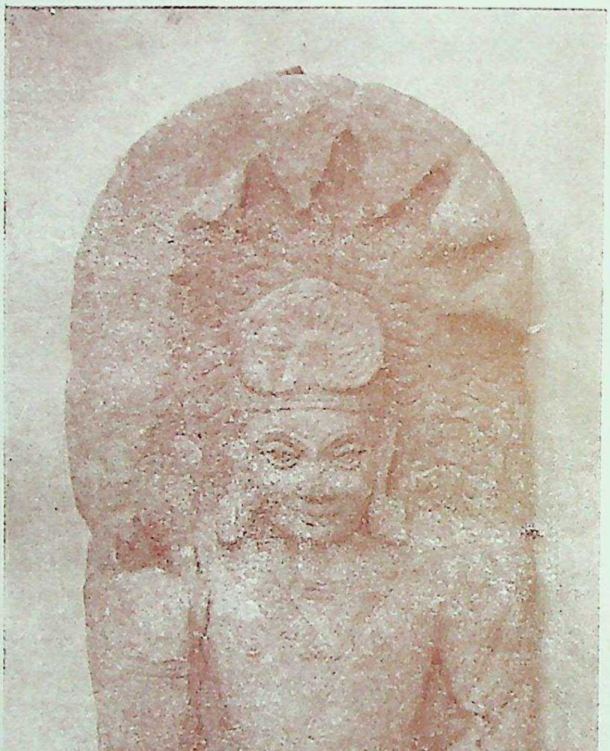

मानवाकार नाग मूर्ति

उस काल में मथुरा मूर्ति कला का बड़ा प्रसिद्ध केन्द्र था। कुषाण शासक अधिकतर बौद्ध धर्मावलंबी थे। उन्होंने उक्त धर्म के महायान संप्रदाय को प्रगति में विशेष योग दिया था; वैसे हीनयानी बौद्ध संप्रदायों के साथ ही साथ जैन और शैव धर्म भी तब उन्नति करते रहे थे। जहाँ तक भागवत धर्म का संबंध है, वह उस काल में कुछ शिथिल हो गया था। शुंग सम्राटों के प्रोत्साहन से विगत काल में भागवत धर्म बौद्ध धर्म से आगे बढ़ गया था; किंतु कुषाण सम्राटों के कारण बौद्ध धर्म ने भागवत धर्म को दबा दिया था। कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि कुषाण सम्राटों ने भागवत धर्म के मंदिर–देवालयों और उनकी मूर्तियों को नष्ट भी किया था[1]। फिर भी मथुरा राज्य में बौद्ध धर्म के हीनयानी संप्रदाय सर्वास्तिवाद और महायान के साथ ही साथ जैन, शैव और भागवत धर्म भी उन्नति के पथ पर थे। उन सबके प्रथक–प्रथक स्तूप, विहार, चैत्य, मंदिर और मठ यहाँ पर प्रचुर संख्या में विद्यमान थे।

कुषाण शासन की समाप्ति—तीसरी शताब्दी के आरंभ होते–होते कुषाणों की महान् शक्ति का ह्रास होने लगा, जिसके कारण उनका विशाल साम्राज्य भी छिन्न–भिन्न हो गया था। यद्यपि कुषाण सम्राट भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रति आस्था रखते थे और उनका शासन भी प्रायः सहिष्णुता का था; फिर भी विदेशी होने के कारण उनका राज्य स्थायी नहीं हो सका। उनके विरुद्ध अनेक भारतीय शक्तियाँ उठ खड़ी हुईं, जिन्होंने उनके शासन को समाप्त कर दिया था। वे शक्तियाँ मघ, नाग, यौधेय, मालव, कुणिंद, वाकाटक आदि भारतीय राज्यों की थीं। मथुरा राज्य तथा उसके निकटवर्ती भू–भाग के कुषाण शासन को समाप्त करने का श्रेय जिन नाग राजाओं को है, उन्हें इतिहास में भारशिव नाग कहा गया है।

३. नाग काल

[सं० २३३ से सं० ४०० के लगभग तक]

नाग जाति और भारशिव नाग—

जैसा पहिले लिखा गया है, नाग जाति भारत की एक अत्यंत प्राचीन अनार्य जाति थी। उसका शूरसेन जनपद अथवा मथुरा राज्य से विविध युगों में बड़ा घनिष्ट संबंध रहा है। किंतु कुषाणों की प्रबल शक्ति से मोर्चा लेने वाले और मथुरा राज्य को विदेशी कुषाण शासन से मुक्त करने वाले जो 'भारशिव नाग' थे, उनका संबंध प्राचीन अनार्य नाग जाति से नहीं मालूम होता है। वे भारशिव नाग कौन थे और उनकी असाधारण उन्नति का क्या रहस्य था, इसका निश्चित उत्तर इतिहास से प्राप्त नहीं होता है। जिन इतिहासज्ञों ने भारशिव नागों को भारत की प्राचीन नाग जाति के वंशज बतलाया है, उनका मत इसलिए संदिग्ध मालूम होता है कि प्राचीन नाग जाति के लोग अनार्य और प्रायः असंस्कृत थे; जब कि भारशिव नाग आर्य और सुसंस्कृत थे। यदि उनका संबंध प्राचीन नाग जाति से ही था, तब यह कहा जा सकता है कि नागों की वह शाखा कालांतर में आर्यों के समान सुसंस्कृत और सभ्य हो गई थी।

भारशिव नागों के राज्य और उनके राजा—ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि नागों का एक प्राचीन केन्द्र विदिशा में था। शुंग सम्राटों का पतन होने पर जब विदिशा

---

(१) **अंधकार युगीन भारत** (काशीप्रसाद जायसवाल), पृष्ठ ९६–१०१

ग्रौर उसके निकटवर्ती क्षेत्र विदेशी शकों के प्रभाव में ग्रा गये थे; तब नाग जाति के ग्रनेक लोग विदिशा से भाग कर नर्मदा के दक्षिणवर्ती जंगलों में जा छिपे थे । वहाँ से वे समीप के भू–भाग पर ग्रपना शासन क़ायम करने का प्रयत्न करते रहे । दूसरी शताब्दी के लगभग उन्होंने पद्मावती (वर्तमान पदमपवाया, मध्य प्रदेश) में ग्रपना राज्य क़ायम कर लिया था । उनकी एक शाखा ने भव नाग के नेतृत्व में कुषाण राज्य के पूर्वी भाग पर ग्रधिकार कर कांतिपुरी (वर्तमान कंतित, ज़िला मिर्ज़ापुर) को ग्रपनी राजधानी बनाया था । नागों की तीसरी शाखा ने कुषाण साम्राज्य के प्रमुख नगर मथुरा पर ग्रधिकार कर लिया था । इस प्रकार पद्मावती, कांतिपुरी ग्रौर मथुरा नागों के प्रमुख शासन केन्द्र हो गये थे । उन राज्यों के नाग नरेशों को ही इतिहास में 'भारशिव नाग' कहा गया है ।

भारशिव नरेश भारतीय संस्कृति के पोषक ग्रौर शैव धर्म के ग्रनुयायी थे । वे ग्रपने वंश ग्रौर धर्म को सूचित करने के लिए शिव लिंग का चिन्ह धारण करते थे । उनके द्वारा ग्रनेक ग्रश्वमेध यज्ञ किये जाने का वर्णन पुराणों ग्रौर ग्रनुश्रुतियों में मिलता है । उनसे ज्ञात होता है कि वे ग्रत्यंत प्रतापी ग्रौर वीर थे । उनके वैवाहिक संबंध उस काल के ग्रनेक शक्तिशाली राजवंशों से हुए थे, जो नागों से संबंध करने में ग्रपना गौरव समझते थे । इतिहास से ज्ञात होता है कि वाकाटक वंश के गौतमी पुत्र का विवाह पद्मावती के शासक भव नाग की पुत्री के साथ हुग्रा था । सुप्रसिद्ध मगध सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की राजमहिषी कुबेरा नागवंश की थी । ग्राग्रेय गण के प्रमुख एवं ग्रग्रवंशियों के पूर्वपुरुष महाराज ग्रग्रसेन ग्रौर संभवतः उनके पुत्रों का भी विवाह नाग कन्याग्रों के साथ हुग्रा था, जिसे वे ग्रत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे । इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि उस काल के नागों का महत्व इतना बढ़ा हुग्रा था कि बड़ी–बड़ी राज शक्तियाँ उनसे वैवाहिक संबंध करने में ग्रपना गौरव समझती थीं ।

नाग राजाग्रों के ग्रनेक सिक्के ग्रौर ग्रभिलेख मिले हैं ग्रौर दूसरे राजाग्रों के ग्रभिलेखों में भी उनका उल्लेख हुग्रा है । नाग राजाग्रों के सिक्कों पर शिव के त्रिशूल ग्रौर नांदी बैल के चिह्न मिलते हैं । विभिन्न सिक्कों ग्रौर ग्रभिलेखों में १४ नाग राजाग्रों के नाम ग्रब तक मिल चुके हैं, जो इस प्रकार हैं—१. भीम नाग, २. विभु नाग, ३. प्रभाकर नाग, ४. स्कंद नाग, ५. वृहस्पति नाग, ६. व्याघ्र नाग, ७. वसु नाग, ८. देव नाग, ९. महेश्वर नाग, १०. भव नाग, ११. वीरसेन नाग, १२. गणपति नाग, १३. कीर्तिसेन नाग ग्रौर १४. नागसेन नाग ।

मथुरा के नाग राजा—उपर्युक्त १४ नाग राजाग्रों में से ग्रंतिम चार—१. वीरसेन नाग, २. गणपति नाग, ३. कीर्तिसेन नाग ग्रौर ४. नागसेन नाग संभवतः मथुरा के राजा थे । ग्रारंभ के दस राजाग्रों का शासन कदाचित पद्मावती राज्य पर था । उन दोनों राजवंशों में किसी प्रकार का पारस्परिक संबंध था या नहीं; इसके विषय में प्रामाणिक, रूप से कहना संभव नहीं है । यहाँ पर मथुरा के उक्त नाग राजाग्रों का उल्लेख किया जाता है ।

वीरसेन नाग—वह ग्रत्यंत प्रतापी राजा था । उसका शासन काल तीसरी शताब्दी का मध्य काल जान पड़ता है । मथुरा में उसके बहुत से सिक्के मिले हैं ग्रौर फर्रुखाबाद के जनखट स्थान में उसका एक लेख मिला है । उक्त लेख के कारण उसका ग्रधिकार मथुरा से फर्रुखाबाद तक होना ज्ञात होता है । उसने संभवतः कुषाणों के ग्रंतिम राजा वासुदेव को पराजित कर मथुरा

पर अधिकार कर लिया था और उसी उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञों का भी आयोजन किया था। उसने कदाचित एक नया संवत् भी चलाया था।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने नागों द्वारा दस अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख किया है; किंतु उन यज्ञों को उन्होंने बनारस के दशाश्वमेध घाट पर किया जाना लिखा है[1]। बनारस में किये गये यज्ञों का संबंध पद्मावती के नाग राजाओं से हो सकता है। वीरसेन ने जो अश्वमेध यज्ञ किये थे, वे मथुरा में हुए होंगे। मथुरा में यमुना नदी के उत्तरी घाटों में एक 'दशाश्वमेध घाट' भी है। उसके निकट गोकर्णेश्वर और नीलकंठेश्वर महादेव के प्राचीन धार्मिक स्थल हैं। मथुरा में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि यहाँ के नाग राजाओं ने इसी स्थान पर अश्वमेध यज्ञ किये थे। इससे अनुमान होता है, वीरसेन नाग के अश्वमेध यज्ञ का यही स्थल होगा।

परवर्ती नाग राजा और नाग शासन की समाप्ति—वीरसेन के पश्चात् मथुरा के जो प्रसिद्ध नाग राजा हुए, उनमें गणपति नाग (शासन सं० ३७२ से सं० ३९७ तक) और नागसेन (शासन सं० ३९७ से ४०१ तक) के नाम उल्लेखनीय हैं। नागसेन मथुरा का अंतिम नाग राजा था। उसे मगध के दिग्विजयी सम्राट समुद्र गुप्त ने पराजित किया था। उसके पश्चात् मथुरा राज्य मगध साम्राज्य में मिला लिया गया था। इस प्रकार नाग शासन के अंत के साथ ही साथ मथुरा के स्वाधीन राज्य की सत्ता भी समाप्त हो गई थी। यद्यपि समुद्र गुप्त के समय में मथुरा और पद्मावती के सुप्रसिद्ध राज्य समाप्त अवश्य हो गये थे; तथापि गुप्त सम्राटों ने नाग जाति के विशिष्ट व्यक्तियों को उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किया था। स्कंद गुप्त ने गंगा–यमुना के मध्यवर्ती अंतर्वेद का शासक (विषयपति) किसी शर्व नाग को बनाया था[2]।

नाग शासन में मथुरा राज्य की स्थिति—शक–कुषाण काल में मथुरा राज्य का जो सांस्कृतिक, धार्मिक और भौतिक महत्व था, वह नाग शासन में भी विद्यमान रहा था; बल्कि एक शक्तिशाली स्वाधीन राज्य होने के कारण उसका राजनैतिक महत्व और भी बढ़ गया था। नाग राजा शिवोपासक थे, अतः उनके काल में मथुरा राज्य में शैव धर्म की विशेष उन्नति हुई थी। वैसे उनकी धार्मिक उदारता और सहिष्णुता के कारण उस काल में बौद्ध, जैन और भागवत धर्म भी अपनी–अपनी उन्नति करते रहे थे। जैन धर्म के ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ निश्चित करने के लिए सं० ३७० के लगभग मथुरा में श्वेतांबर जैनियों द्वारा आचार्य स्कंदल की अध्यक्षता में एक धर्म परिषद् का आयोजन किया गया था। उसमें निश्चित किया हुआ पाठ जैन धर्म में **'माथुरी वाचना'** के नाम से प्रसिद्ध है। उससे ज्ञात होता है कि उस काल में मथुरा जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था।

मथुरा में शैव धर्म की उन्नति का उल्लेख कुषाण काल से ही मिलता है। कुषाण राजाओं में विम तक्षम, कनिष्क द्वितीय और वासुदेव शिवोपासक थे। नाग राजाओं ने अपने काल में शैव धर्म की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया था। उस काल में मथुरा का भूतेश्वर क्षेत्र और गोकर्णेश्वर टीला प्रसिद्ध शैव स्थान थे। गोकर्णेश्वर टीला को उस काल में शिव का कैलास कहा

---

(१) हिस्ट्री आफ इंडिया—सन् १५०–३५० ई० (काशीप्रसाद जायसवाल), पृष्ठ १–३२

(२) गुप्त इंसक्रिप्संस, पृष्ठ ७०

जाता था। पौराणिक परंपरा के अनुसार मथुरा के रक्षक क्षेत्रपाल शिव हैं। उनके चार प्राचीन पूजा-स्थल इस नगर के चारों कोनों पर स्थित हैं,—उत्तर में गोकर्णेश्वर, पूर्व में पिप्पलेश्वर, दक्षिण में रंगेश्वर और पश्चिम में भूतेश्वर। उक्त शैव स्थल संभवतः नाग काल में ही निश्चित हुए थे।

नाग राजाओं के मथुरा में कई स्मारक स्थल भी प्रसिद्ध हैं। इनमें वीरसेन नाग का 'वीर स्थल' वर्तमान भूतेश्वर क्षेत्र है, जहाँ भूतेश्वर महादेव का प्राचीन पूजा–स्थान है। मथुरा के वीर भद्रेश्वर नामक स्थान का संबंध भी वीरसेन नाग से हो सकता है। उनके अतिरिक्त नाग टीला, नाग तीर्थ, कर्कोटक तीर्थ भी नाग काल के प्राचीन स्थान हैं। नाग टीला पर नाग पंचमी के दिन मथुरा की स्त्रियाँ नाग–पूजा करती हैं। यमुना पार का एक गाँव 'नगोड़ा' कहलाता है, जो कदाचित 'नाग गढ़' का परिवर्तित नाम है। वहाँ पर नागों के शासन काल में कोई गढ़ या दुर्ग रहा होगा।

४. गुप्त काल

[सं० ४०० के लगभग से सं० ६०० के लगभग तक]

गुप्त राजवंश का उदय और गुप्त सम्राट—

जिस समय मथुरा राज्य पर नाग राजाओं का शासन था, उस समय मगध में एक ऐसे प्रभावशाली राजवंश का उदय हुआ था, जिसने मौर्य सम्राटों की गौरवपूर्ण परंपरा को आगे बढ़ाते हुए इस देश में एक शक्तिशाली साम्राज्य का संचालन किया था। उक्त वंश के राजाओं को इतिहास में 'गुप्त सम्राट' कहा गया है। उस वंश का प्रथम राजा महाराज गुप्त था। उसका पुत्र घटोत्कच हुआ। घटोत्कच का पुत्र चंद्रगुप्त प्रथम सं० ३७७ में पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था। वह एक शक्तिशाली शासक था और उसके काल में मगध साम्राज्य का विस्तार अयोध्या तक हो गया था। उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की और अपने राज्यारोहण दिवस से एक नया संवत् चलाया, जो 'गुप्त संवत्' कहा जाता है। वह संवत् गुप्त सम्राटों के काल तक प्रचलित था; किंतु बाद में उसका प्रचलन बंद हो गया था।

मौर्य सम्राटों के पश्चात् जिन विदेशी शक–कुषाण राजाओं के शासन की इस देश में धाक रही थी, उनमें कनिष्क सर्वोपरि था। उसके बाद कोई ऐसा सम्राट नहीं हुआ, जो यहाँ सुविस्तृत और सुदृढ़ साम्राज्य का निर्माण करता। फलतः इस देश में अनेक छोटे-बड़े राज्य बन गये थे। उनमें से किसी में राजतंत्र और किसी में जनतंत्र का शासन था। राजतंत्रों में मथुरा और पद्मावती के नाग राज्य तथा प्राचीन वत्स और बघेलखंड के मघ राज्य विशेष प्रसिद्ध थे। जनतंत्रों में यौधेय, मद्र, मालव और अर्जुनायन प्रमुख थे। विंध्याचल के दक्षिण–पश्चिम में वाकाटकों का बड़ा राज्य था और उत्तर–पश्चिमी सीमा के वाह्लीक प्रदेश में शक–कुषाणों के विदेशी राज्य थे। चंद्रगुप्त प्रथम के उत्तराधिकारी समुद्र गुप्त ने शासन सँभालते ही उन छोटे-बड़े राज्यों के स्थान पर एक विशाल और शक्तिशाली भारतीय साम्राज्य की स्थापना की थी।

समुद्र गुप्त—वह चंद्रगुप्त प्रथम के पश्चात् सं० ३९२ में मगध के राज–सिंहासन पर आसीन हुआ और उसने सं० ४३३ तक शासन किया था। उसका शासन-काल भारतीय इतिहास में उस विजय अभियान के लिए प्रसिद्ध है; जिसे उसकी 'दिग्विजय' का नाम दिया गया है।

दिग्विजय—समुद्र गुप्त की ऐतिहासिक दिग्विजय का काव्यात्मक कथन महा दंडनायक हरिषेण कृत उस 'प्रशस्ति' में हुआ है, जो प्रयाग दुर्ग स्थित विजय स्तंभ पर उत्कीर्ण है। उसका आशय इस प्रकार है,—"उस प्रतापी सम्राट ने अपने राज्य की पूर्वी सीमा के बंग राज्य को आधीन कर पश्चिमी सीमा के बाहर वाले प्राचीन राज्य वत्स और बघेलखंड के मघ राजाओं को तथा मथुरा एवं पद्मावती के नाग राजाओं को पराजित किया और उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उसने वाकाटक साम्राज्य को जीत कर उसका दक्षिणी भाग, जिसमें चेदि और महाराष्ट्र के प्रदेश थे, वाकाटक रुद्रसेन के अधिकार में ही रहने दिया था। उसने पश्चिम के अर्जुनायन और मालव गण को तथा पश्चिमोत्तर के यौधेय और मद्र गणों को अपने आधीन किया तथा सप्तसिंधु के पार वाह्लिक राज्य पर विजय प्राप्त की थी। फिर उसने दक्षिण और धुर दक्षिण के राजाओं को पराजित किया था। इस प्रकार उसने अपनी भुजाओं के बल से समस्त भारतवर्ष पर एकाधिकार क़ायम कर अपनी विजय-दुंदभी बजाते हुए 'दिग्विजय' की थी।" समुद्र गुप्त की यह विजय-गाथा इतिहासज्ञों में 'प्रयाग प्रशस्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।

उस अपूर्व दिग्विजय के उपरांत समुद्र गुप्त के साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर में हिमालय तक, दक्षिण में विंध्य पर्वत और नर्मदा नदी तक, पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी तक तथा पश्चिम में चंबल और यमुना नदियों तक हो गई थीं। पश्चिम और पश्चिमोत्तर के मालव, यौधेय और मद्रगणों को तथा दक्षिण के विविध राज्यों को उसने अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया; बल्कि उन्हें अधीनस्थ शासक बनाये रखा था। उसी प्रकार उसने पश्चिम और उत्तर के विदेशी शक तथा 'देवपुत्र शाही शाहानुशाही' कुषाण शासकों से भी आधीनता सूचक उपहार प्राप्त किये थे। ऐसा कहा जाता है, उस महान् विजय के उपरांत उसने अश्वमेध यज्ञ किया था और 'विक्रमादित्य' की गौरवपूर्ण उपाधि धारण की थी।

राज्य शासन—समुद्र गुप्त ने अपने विशाल साम्राज्य के समुचित शासन के लिए उसे कई 'विषयों' (प्रदेशों) में विभाजित किया था। प्रत्येक 'विषय' का शासक एक 'विषयपति' था, जो प्रचुर अधिकार प्राप्त सर्वोच्च श्रेणी का कोई राजपुरुष होता था। मथुरा के नाग राजा को पराजित कर उसने वहाँ किस प्रकार का प्रबंध किया, इसके विषय में ठीक तरह से पता नहीं चलता है। ऐसा जान पड़ता है, उसने मथुरा राज्य को गंगा-यमुना के दोआब स्थित 'अंतर्वेदी विषय' के अंतर्गत रखा था और उसका विषयपति किसी नागवंशी राजपुरुष को ही बनाया था। समुद्र गुप्त के वंशज स्कंद गुप्त के शासन-काल में अंतर्वेद का विषयपति कोई शर्व नाग था।

वह महान् विजेता और यशस्वी सम्राट होने के साथ ही साथ विविध कलाओं का ज्ञाता और प्रश्रयदाता भी था। उसकी एक मुद्रा पर उसे वीणा-वादन करते हुए अंकित किया गया है; जिससे ज्ञात होता था कि वह संगीतज्ञ और कुशल वीणावादक भी था। दिल्ली की कुतुब मीनार गुलाम वंश के सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक अथवा अल्तमश द्वारा बनवाई हुई कही जाती है; किंतु इसके स्थापत्य को देखने से वह मुसलमानी इमारत नहीं जान पड़ती। कुछ विद्वानों का मत है कि यह दिल्ली में समुद्र गुप्त द्वारा बनवाई हुई एक वेधशाला का 'सूर्य स्तंभ' है, जिसे मुसलमानी काल में मीनार का रूप दे दिया गया था। समुद्र गुप्त के दो पुत्र थे—राम गुप्त और चंद्र गुप्त। उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राम गुप्त मगध का सम्राट हुआ था।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

राम गुप्त—वह सं० ४३३ में मगध के राजसिंहासन पर आसीन हुआ और केवल कुछ महीनों तक ही मगध–सम्राट रह सका था। समुद्र गुप्त जैसे दिग्विजयी सम्राट का पुत्र होते हुए भी वह बड़ा कायर और अयोग्य सिद्ध हुआ था। समुद्र गुप्त ने जिन विदेशी शकों को पराजित कर दबा दिया था, वे उसके मरते ही फिर प्रबल हो गये थे। उनकी एक बड़ी सेना ने गुप्त साम्राज्य की सीमा में प्रवेश कर रामगुप्त को युद्ध की चुनौती दी थी। उस घटना का वर्णन विशाख दत्त कृत **'देवी चंद्रगुप्तम्'** नामक नाटक में हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि शकों के आक्रमण से भयभीत होकर राम गुप्त ने उनसे संधि करने का प्रस्ताव किया था। शकों ने संधि की जो शर्तें रखी थीं, उनमें एक यह भी थी कि राम गुप्त को अपनी पटरानी ध्रुवदेवी, जिसे ध्रुवस्वामिनी भी कहा जाता था, शकराज के अर्पित करनी होगी! कहते हैं, राम गुप्त उस शर्त को भी मानने के लिए तैयार हो गया था; किंतु उसका छोटा भाई चंद्र गुप्त उस घोर अपमानजनक बात को मानने की अपेक्षा शकों से युद्ध कर मर जाना अच्छा समझता था। निदान वह ध्रुवस्वामिनी का वेश धारण कर अकेला ही शत्रुओं के शिविर में चला गया और वहाँ अवसर मिलते ही उसने शकराज को मार डाला। फिर उसने शक सेना से वीरतापूर्वक युद्ध कर उसे मगध साम्राज्य की सीमा से बाहर खदेड़ दिया था। चंद्र गुप्त के अदम्य साहस और शौर्य के कारण उस समय मगध के गौरव की रक्षा हुई और उसके नाम की चारों ओर ख्याति हो गई थी।

उक्त घटना किस स्थान पर हुई, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का अनुमान है कि वह घटना मथुरा नगर अथवा उसके समीप ही किसी स्थान पर हुई थी[1]। ऐसा कहा जाता है, शकों को पराजित करने से चंद्र गुप्त की जो अनुपम ख्याति हुई थी, उससे राम गुप्त उससे ईर्ष्या करने लगा था। उसने चंद्र गुप्त को मारने का षड़यंत्र रचा; किंतु उसमें स्वयं राम गुप्त को ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। राम गुप्त की मृत्यु के उपरांत चंद्र गुप्त मगध का सम्राट हुआ था।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—चंद्रगुप्त सं० ४३३ में मगध का सम्राट हुआ और उसने सं० ४७० तक शासन किया था। राज्यासीन होते ही उसने राम गुप्त की विधवा ध्रुवस्वामिनी को अपनी पटरानी बनाया था। उसकी अन्य प्रिय रानी कुबेरा नागा थी, जिससे उसे प्रभावती नामक एक पुत्री हुई थी। शासन–सूत्र सँभालने के बाद उसने अपने राज्य का प्रबंध ठीक किया। फिर उसकी स्थायी सुरक्षा के लिए उसने शकों की शक्ति को समूल नष्ट करने का दृढ़ निश्चय किया। शक लोग पिछली पराजय के कारण मगध साम्राज्य से तो हट गये थे; किंतु वे भारत के पश्चिमी भाग में बसे हुए थे और अवसर मिलते ही पुनः आक्रमण करने की ताक में थे। उनसे सफलता पूर्वक मोर्चा लेने के लिए यह आवश्यक था कि गुप्त साम्राज्य की पश्चिमी सीमा के शक्तिशाली वाकाटक राज्य से घनिष्ट संबंध स्थापित किया जाय। उसके लिए चंद्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर अपनी राजनैतिक सूझ–बूझ का अच्छा परिचय दिया था। इस प्रकार जहाँ दोनों राज्यों में घनिष्ट संबंध होने से गुप्त साम्राज्य की शक्ति बढ़ी थी, वहाँ शकों के विरुद्ध अभियान करने का मार्ग भी साफ हो गया था।

---

(१) **ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग)**, पृष्ठ १०५ की पाद–टिप्पणी

शकों की पूर्ण पराजय—शक्तिशाली शक सेना से टक्कर लेने के लिए चंद्रगुप्त स्वयं एक बड़ी सेना के साथ विदिशा गया और वहाँ से अपना आक्रमण आरंभ किया था। उस युद्ध में शकों की पूर्ण पराजय हुई, जिसके फल स्वरूप पश्चिमी मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र में जमा हुआ शक शासन जड़ से उखड़ गया था। विदेशी शकों की जो शक्ति पिछले कई सौ वर्षों से भारतीयों के लिए घोर संकट बनी हुई थी, उसे पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। उस महान् विजय के कारण चंद्रगुप्त को 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' कहा जाने लगा था।

राज्य शासन—शकों को पराजित करने के पश्चात् चंद्रगुप्त ने मगध साम्राज्य के तीन प्रशासनिक केन्द्र निश्चित किये थे। पश्चिमी भाग का केन्द्र उज्जयिनी को, मध्यवर्ती भाग का अयोध्या को और पूर्वी भाग का पाटलिपुत्र को बनाया गया। उसके साम्राज्य की राजधानी भी पाटलिपुत्र थी। उन तीनों नगरों की उसके काल में बड़ी उन्नति हुई थी। उसके शासन में विद्या, कला और उद्योग–वाणिज्य ने बड़ी प्रगति की थी। उस समय यह देश ज्ञान–गरिमा और सुख–समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इसीलिए गुप्तों के शासन–काल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। कालिदास जैसे महान् कवि ने उसी काल में अपनी अमर रचनाओं द्वारा भारतीय साहित्य को गौरव प्रदान किया था। चंद्रगुप्त के शासन काल में चीनी पर्यटक फाह्यान भारत के बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने को आया था। उसने अपने यात्रा–विवरण में गुप्त सम्राट के शासन की बड़ी प्रशंसा की है।

चंद्रगुप्त के शासन में मथुरा की स्थिति—उस काल में मथुरा का राजनैतिक महत्व कम हो गया था; किंतु उसके धार्मिक और कला संबंधी गौरव में कोई कमी नहीं आई थी। चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है, उस काल में मथुरा राज्य में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार था; किंतु जैन, शैव और भागवत धर्म भी उन्नत अवस्था में थे। उस काल की बौद्ध और जैन मूर्तियों के साथ हिंदू देवी–देवताओं की मूर्तियाँ भी प्रचुर संख्या में मिली हैं। उनसे फाह्यान के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। मथुरा राज्य के विभिन्न स्थानों से उस काल के कई अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनमें से एक में किसी उदिताचार्य द्वारा वर्तमान रंगेश्वर महादेव के निकट उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर नामक दो शिव मूर्तियों की प्रतिष्ठा किये जाने का उल्लेख है। वह अभिलेख गुप्त संवत् ६१ अर्थात् विक्रम सं० ४३७ का है। दूसरे अभिलेख से स्वयं चंद्रगुप्त द्वारा मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान पर कोई महान् धार्मिक कार्य किये जाने का संकेत मिलता है। उस लेख के खंडित हो जाने से यह ज्ञात नहीं होता है कि वह कौन सा धार्मिक कार्य था।

चंद्रगुप्त द्वारा निर्मित कृष्ण–जन्मस्थान का मंदिर—विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान संबंधी पुरातत्व की सामग्री का अनुसंधान और अध्ययन करने के अनंतर यह निष्कर्ष निकाला था कि चंद्रगुप्त ने वहाँ पर "अवश्य ही एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया था। वह अत्यंत विशाल और कला का एक अद्भुत उदाहरण होगा[1]।" चंद्रगुप्त का तत्संबंधी अभिलेख कृष्ण–जन्मस्थान के ऐतिहासिक स्थल से प्राप्त हुआ है और उस पर गुप्त सम्राट की उपाधि 'परम भागवत' लिखी हुई है, अतः डा० अग्रवाल का उक्त निष्कर्ष यथार्थ ही कहा जा सकता है।

---

(१) श्री कृष्ण जन्मभूमि या कटरा केशवदेव, पृष्ठ ६

विष्णुपद गिरि का विष्णुध्वज—दिल्ली नगर के दक्षिण में कुतुब मीनार के निकट मेहरौली नामक स्थल में प्राचीन काल का एक लौह स्तंभ (कीली) है, जिसे अब 'दिल्ली की लाट' कहा जाता है। इसके संबंध में यह निश्चित है कि यह स्तंभ आरंभ से ही वहाँ पर नहीं था, बल्कि इसे किसी अन्य स्थान से ला कर उस स्थल पर लगाया गया था। उक्त स्तंभ पर संस्कृत भाषा के तीन श्लोकों की एक प्रशस्ति है। उससे ज्ञात होता है कि उसे किसी 'चंद्र' राजा के देहावसान के पश्चात् 'विष्णुपद गिरि' पर स्थापित किया था और उस पर उक्त स्वर्गीय राजा की गौरव–गाथा अंकित की गई थी। इस प्रकार उस दिग्विजयी राजा की विजय और कीर्ति की स्मृति में स्थापित वह एक जय स्तंभ था; जिसे 'विष्णुध्वज' कहा गया है[१]।

सर्व श्री जायसवाल, दंडेकर, मुखर्जी, मेहता, सरकार, चट्टोपाध्याय आदि विद्वानों के मतानुसार उक्त स्तंभ में उल्लिखित राजा 'चंद्र' गुप्त वंश का प्रतापी सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य था[२]। उसके देहावसान के पश्चात् गुप्त वंश के किसी राजा ने उसकी स्थापना की होगी। श्रीराम गोयल का मत है कि उक्त स्तंभ पर गुप्त वंश के दिग्विजयी सम्राट समुद्र गुप्त की प्रशस्ति लिखी गई है। समुद्र गुप्त भी 'चंद्र' अथवा 'चंद्र प्रकाश' के नाम से प्रसिद्ध था[३]। इस मत को मानने पर उक्त स्तंभ को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा स्थापित किये जाने की संभावना हो सकती है। श्री गौरी-शंकर हीराचंद ओझा ने बहुत पहिले ही लिखा था कि उक्त स्तंभ को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्थापित किया था[४]। श्री राय चौधरी का मत है कि चंद्रगुप्त ने उस स्तंभ को चौथी शताब्दी में संभवतः मथुरा में स्थापित किया था। वहाँ से अनंगपाल तोमर ने उसे मँगवा कर सं० ११०९ में वर्तमान स्थान पर लगाया था। जिस स्थान पर वह लगाया गया वहाँ पहिले अनेक मंदिर भी थे, जिन्हें बाद में मुसलमान आक्रमणकारियों ने तोड़ दिया था और उनके मसाले से उन्होंने एक बड़ी मसजिद बनवाई थी[५]।

समुद्र गुप्त भी अपने यशस्वी पुत्र चंद्रगुप्त की भाँति भागवत धर्म का अनुयायी रहा होगा, क्यों कि गया और नालंदा के अभिलेखों में उसे 'परम भागवत' लिखा गया है। उसके सिक्कों पर उसका राजचिह्न गरुड़ भी मिलता है। ऐसी दशा में उसका कीर्ति–स्तंभ मथुरा जैसे भागवत धर्म के केन्द्र में स्थापित करना समीचीन कहा जावेगा। 'परम भागवत' चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा मथुरा के कृष्ण–जन्म स्थान पर भगवान् वासुदेव के मंदिर बनवाये जाने का उल्लेख किया जा चुका है; अतः अनुमान होता है कि उसने अपने यशस्वी पिता के कीर्ति–स्तंभ को भी 'विष्णुध्वज' के रूप में उक्त मंदिर में ही स्थापित किया होगा। वैष्णव धर्म के मंदिरों के साथ उस प्रकार के ध्वज स्तंभ लगाये जाने की प्राचीन परंपरा रही है।

---

(१) **दिल्ली या इंद्रप्रस्थ,** पृष्ठ ७६

(२) **समुद्रगुप्त : मेहरौली–स्तंभ–अभिलेख का नरेश,**

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६९ अंक ३, पृष्ठ २७०

(३) ,, वही ,, ,, (पृष्ठ २८१)

(४) **भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री,** पृष्ठ ५३

(५) **हिस्ट्री आफ ऐंशियेंट इंडिया,** पृष्ठ ६९ और ४०१

यदि उक्त संभावना को स्वीकार किया जाय, तो यह भी मानना होगा कि उक्त विष्णुध्वज का मूल स्थल **'विष्णुपद गिरि'** भी मथुरा में और संभवतः कृष्ण–जन्मस्थान पर रहा होगा। विष्णुपद गिरि की ठीक-ठीक पहिचान करने में अभी तक विद्वानों को सफलता नहीं मिली है। वाल्मीकि रामायण में विष्णुपद गिरि को वाह्लिक प्रदेश में सुदामा पर्वत तथा विपाशा (व्यास) और शालमली नदियों के साथ स्थित बतलाया गया है[1]। इस प्रकार उसकी स्थिति पंचनद प्रदेश में अथवा उसके निकटस्थ भाग में सिद्ध होती है। डा० जायसवाल के मतानुसार विष्णुपद हरिद्वार के समीप का कोई पहाड़ था और वाह्लिक बैक्ट्रिया प्रदेश था[2]। उक्त स्थानों में विष्णुपद गिरि का होना असंगत मालूम होता है; अतः उचित यह है कि उसे भागवत धर्म के विख्यात केन्द्र मथुरा में ही खोजा जाय। इस संबंध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मथुरामंडल में गिरिराज गोवर्धन के अतिरिक्त कोई दूसरा तथाकथित 'गिरि' नहीं है। संभव है, मथुरा के किसी ऊँचे टीले का नाम उस काल में 'विष्णुपद गिरि' रहा हो। कृष्ण–जन्मस्थान अवश्य ही एक ऊँचे टीले पर स्थित है, जो निकस्थ भूमि से काफी ऊँचाई पर है। श्री कृष्ण के जन्म स्थल के महत्व के कारण उस काल में वहाँ के टीले को ही 'विष्णुपद गिरि' कहा जाता हो तो इसमें कोई असंगति नहीं होगी; क्यों कि अभी तक इस नाम का कोई दूसरा पर्वत नहीं मिला है। इस प्रकार अधिक संभावना इस बात की है कि उक्त 'विष्णुध्वज' को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसी मंदिर में स्थापित किया होगा, जिसे उसने भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर बनवाया था। वह मंदिर मुसलमानों के आक्रमण–काल तक विद्यमान था और उसे महमूद गज़नवी ने ११ वीं शताब्दी में तोड़ा था। उसी काल में वह 'ध्वज स्तंभ' भी उखाड़ कर फेंक दिया गया होगा; जो बाद में वहाँ से हटा कर दिल्ली के मेहरौली नामक स्थान पर स्थापित किया गया था।

कुमार गुप्त—चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चात् उसका पुत्र कुमार गुप्त (प्रथम) मगध का सम्राट हुआ। उसने सं० ४७१ से ५०२ तक शासन किया था। उसके शासन काल में आंतरिक शांति और सुव्यवस्था क़ायम रही तथा विद्याओं और कलाओं की यथेष्ट उन्नति हुई थी। उसने नालंदा में एक महा विहार की स्थापना की थी, जो उस समय भारत का सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय माना जाता था। उसके शासन के अंतिम काल में राज्य की शांति और व्यवस्था में गड़बड़ी हो गई थी। उसका कारण कुछ देशी और विदेशी उपद्रवियों की आक्रमणकारी हलचलें थीं। विदेशी उपद्रवियों में एक हूण जाति के लोग थे, जो मध्य एशिया से इस देश में आकर यहाँ लूट–मार और गड़बड़ी करने लगे थे। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा पराजित होने से शकों की प्रबल शक्ति तो सदा के लिए समाप्त हो गई थी; किंतु हूणों के नये उपद्रव आरंभ हो गये थे। उन हूण आक्रमणकारियों ने भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा से आगे बढ़ कर पंजाब तथा पूर्वी

---

(१) वयुर्मध्येन वाह्लिकान् सुदामानम् च पर्वतम् ।
विष्णोःपदम् प्रेषमाणाविपाशाम् चापि शालमलीम् ॥
—रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६८, श्लोक १८–१९

(२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (वर्ष ६९, अंक ३, पृष्ठ २६८)

मालवा में अपने अड्डे बना लिये थे और गुप्त साम्राज्य के कुछ पश्चिमी भाग पर भी अधिकार कर लिया था। इस प्रकार वे यहाँ की शांति और सुव्यवस्था के लिए बड़ा संकट बन गये थे।

स्कंद गुप्त—कुमार गुप्त के पश्चात् उसका सुयोग्य पुत्र स्कंद गुप्त मगध का सम्राट हुआ, जिसने सं० ५०२ से सं० ५२४ तक शासन किया था। राज्यासीन होते ही उसने हूणों से भीषण युद्ध कर उन्हें पराजित किया और अपने साम्राज्य का खोया हुआ भाग उनसे वापिस ले लिया। इस प्रकार उसने दुर्दान्त हूणों को मालवा और दक्षिणी पंजाब से खदेड़ कर उत्तर-पश्चिम की ओर भगा दिया था। उसके जीवन काल में हूणों ने फिर सिर नहीं उठाया था। स्कंद गुप्त कुशल सेनानी, योग्य प्रशासक और यशस्वी सम्राट था। उसने बड़ी कठिन परिस्थिति में मगध साम्राज्य का शासन-सूत्र सँभाला था। उस समय आंतरिक और बाहिरी ऐसी अनेक कठिनाइयाँ थीं, जिन्होंने मगध साम्राज्य को हिला दिया था; किंतु उसने योग्यता पूर्वक उन पर विजय प्राप्त की थी। हूणों को पराजित करने के उपलक्ष में उसे 'विक्रमादित्य' की गौरवपूर्ण उपाधि से अलंकृत किया गया। उसका देहावसान सं० ५२४ में हुआ था। उसके निधन से भारतवर्ष का एक योग्य प्रशासक जाता रहा। वह समुद्र गुप्त और चंद्र गुप्त जैसे महान् सम्राटों की यशस्वी परंपरा का अंतिम महापुरुष था।

परवर्ती गुप्त सम्राट—स्कंद गुप्त के पश्चात् कई गुप्त सम्राट हुए; किंतु वे गुप्तों की गौरवशाली परंपरा के अनुरूप नहीं थे। उनके विषय में पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि वे विशाल गुप्त साम्राज्य की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए थे, जिससे वह छिन्न-भिन्न होता हुआ कालांतर में समाप्त हो गया था। इधर जो नवीन तक्ष्य प्रकाश में आये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि स्कंद गुप्त के उत्तराधिकारी गुप्त सम्राट अपने साम्राज्य की रक्षा करने में असमर्थ नहीं थे। वे चाहें स्कंद गुप्त के समान पराक्रमी और विजयी नहीं थे, किंतु उनके काल में गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था। ऐसे गुप्त सम्राटों में बुद्ध गुप्त का नाम उल्लेखनीय है, जिसने सं० ५३३ से ५५३ तक शासन किया था। उसका अधिकार पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में मालवा तक के विस्तृत क्षेत्र पर था।

गुप्त साम्राज्य की समाप्ति—बुद्ध गुप्त के बाद जो गुप्त सम्राट हुए, वे गुप्त साम्राज्य के ह्रास को नहीं रोक सके थे। सं० ५५७ के बाद से हूणों ने फिर आक्रमण आरंभ कर दिया था। उसे विफल करने में गुप्त शासक असमर्थ सिद्ध हुए, फलतः गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर हूणों ने अधिकार कर लिया था। साम्राज्य के दूसरे कई भागों को वे सामंत और प्रशासक दाव बैठे, जो गुप्त सम्राटों की शक्तिहीनता का लाभ उठा कर स्वतंत्र बन गये थे। अंतिम गुप्त सम्राट भानु गुप्त और वज्र गुप्त थे, जो सं० ५९० के लगभग विद्यमान थे। भानु गुप्त के शासन काल में हूणों के एक सरदार तोरमाण ने प्रबल हूण सेना के साथ भीषण आक्रमण किया था, जिसे रोकने में गुप्त सम्राट को सफलता नहीं मिली थी। वज्र गुप्त के शासन काल में गुप्त साम्राज्य समाप्त हो गया था।

हूण और उनके आक्रमण—हूण भी शक और कुषाण जातियों की भाँति मध्य एशिया के निवासी थे; किंतु वे अत्यंत क्रूर, बर्बर और असभ्य थे। वे अपने मूल स्थान से निकल कर जीविका की खोज में पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम और फिर दक्षिण की दिशाओं में टिड्डी दल की

भाँति दूर-दूर तक छा गये थे। उनके एक दल ने यूरोप पहुँच कर वहाँ के शक्तिशाली रोम साम्राज्य का ग्रंत किया। दूसरा दल ग्रफगानिस्तान में होकर भारत के पश्चिमोत्तर सीमांत पर ग्राया ग्रौर वहाँ से बढ़ता हुग्रा तक्षशिला पहुँचा। उसने भारत की उस सांस्कृतिक वैभव सम्पन्न प्राचीन नगरी को उसके विश्वविद्यालय सहित पूर्णतया नष्ट कर दिया था।

भारत के ग्रांतरिक भाग में हूणों का सर्वप्रथम प्रवेश मगध सम्राट कुमार गुप्त के शासन के उत्तर काल सं० ५०२ में हुग्रा था, जिससे मगध साम्राज्य की नींव हिल गई थी। स्कंद गुप्त ने उनकी बाढ़ को रोक दिया ग्रौर सं० ५२२ में उन्हें बुरी तरह पराजित कर भारत से खदेड़ दिया था, जिससे वे कुछ काल तक इधर बढ़ने का साहस नहीं कर सके थे। सं० ५४१ में उन्होंने ईरानी राज्य को ध्वंस कर ग्रफगानिस्तान की बर्बादी की ग्रौर फिर तूफान की सी तेज़ी से भारत में बढ़ते चले ग्राये। उनके नेता तोरमाण ने सं० ५५० के लगभग तत्कालीन गुप्त सम्राट से पूर्वी मालवा छीन लिया; किंतु परवर्ती गुप्त शासक बालादित्य द्वितीय ने उन्हें वहाँ से निकाल दिया था। उसके बाद वे भारत के उत्तर–पश्चिमी भाग में जम कर बैठ गये ग्रौर जब ग्रवसर मिलता, तब लूट–मार करते हुए ग्रागे बढ़ते रहे। इस प्रकार उनका ग्रधिकार कश्मीर पर भी हो गया था। सं० ५७२ के लगभग तोरमाण की मृत्यु हो गई। उसके बाद मिहिरकुल हूणों का नेता हुग्रा। वह तोरमाण से भी ग्रधिक क्रूर, ग्रत्याचारी ग्रौर हिंसक था। उसे क्रूरता ग्रौर हिंसा के पाशविक कृत्यों में बड़ा सुख मिलता था!

हूणों द्वारा मथुरा की लूट—सं० ५८० के लगभग हूणों की एक विशाल सेना ने मिहिरकुल के नेतृत्व में बड़ा धुँग्राधार ग्राक्रमण किया था। वे पंजाब के नगरों को लूटते ग्रौर उजाड़ते हुए मथुरा तक ग्रा गये थे ग्रौर फिर वहाँ से ग्वालियर होते हुए मध्य भारत में पहुँच गये थे। उसी ग्रवसर पर उन्होंने मथुरा के समृद्धिशाली सांस्कृतिक नगर को लूटा था। उस समय मथुरामंडल गुप्त साम्राज्य के ग्रंतर्गत था। गुप्त सम्राटों की ग्रोर से वहाँ कोई राज्याधिकारी होगा; किंतु वह हूणों के ग्राक्रमण से मथुरा की रक्षा करने में ग्रसमर्थ रहा था। उस काल में मथुरा विविध धर्मों का केन्द्र होने के कारण धार्मिक जगत् में प्रसिद्ध था। वहाँ पर बौद्ध, जैन ग्रौर हिंदू धर्मों से संबंधित ग्रनेक स्तूप, संघाराम, चैत्य ग्रौर मंदिर थे। उनमें प्रचुर संख्या में मूर्तियाँ ग्रौर कला कृतियाँ थीं, तथा ग्रगणित हस्तलिखित ग्रंथ थे। उस बहुमूल्य सांस्कृतिक निधि ग्रौर ज्ञान-भंडार पर बर्बर हूणों की क्रूर दृष्टि पड़ी थी।

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने उस काल के मथुरा नगर की समृद्धि ग्रौर हूणों द्वारा उसकी बर्बादी का उल्लेख करते हुए लिखा है—"मथुरा नगर उस समय बहुत समृद्ध था ग्रौर यहाँ ग्रनेक बौद्ध स्तूपों ग्रौर संघारामों के ग्रतिरिक्त विशाल जैन तथा हिंदू इमारतें विद्यमान थीं। हूणों के द्वारा ग्रधिकांश इमारतें जलाई ग्रौर नष्ट की गईं, प्राचीन मूर्तियाँ तोड़ डाली गईं ग्रौर नगर को बर्बाद किया गया। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में जिस विशाल मंदिर का निर्माण श्री कृष्ण–जन्मस्थान पर किया गया था, वह भी हूणों की क्रूरता का शिकार हुग्रा होगा[1]।"

---

(१) **ब्रज का इतिहास** (प्रथम भाग), पृष्ठ ११४

हूणों के आक्रमण के प्राय: सौ वर्ष पश्चात् जब चीनी यात्री हुएनसांग मथुरा आया था, तब उसने विभिन्न धर्मों से संबंधित अनेक प्राचीन इमारतें यहाँ देखी थीं। उक्त साक्ष्य से यह समझा जा सकता है कि हूणों द्वारा मथुरा नगर की अधिकांश धार्मिक इमारतें नष्ट नहीं हुई होंगी। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के काल का श्रीकृष्ण–जन्मस्थान वाला मंदिर भी हूणों की क्रूरता का शिकार नहीं हुआ होगा। कारण यह है कि ११ वीं शताब्दी में महमूद गज़नवी ने उसी स्थान पर जैसा विशाल और वैभवशाली मंदिर तोड़ा था, वैसा वहाँ हूणों के आक्रमण के बाद फिर से बनवाये जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

हमारा अनुमान है, हूणों ने बड़ी–बड़ी धार्मिक इमारतों को तोड़ने में अपना समय नष्ट नहीं किया होगा; क्यों कि उन्हें मुसलमानों की तरह उनसे धार्मिक विद्वेष नहीं था। वे तो अपनी बर्बर प्रकृति के कारण उन्हें नष्ट–भ्रष्ट करते थे और धन–संपत्ति के लोभ से उन्हें लूटते थे। इससे उनके द्वारा छोटी इमारतों के साथ वह विशाल ग्रंथ–भंडार अवश्य नष्ट हुआ होगा, जो शताब्दियों से संचित ज्ञान–कोष के रूप में यहाँ के मंदिर–मठों में सुरक्षित था। इस प्रकार हूणों द्वारा मथुरा की धन–संपत्ति लूटी गई, छोटे मंदिर–स्तूप आदि नष्ट किये गये और ग्रंथ–राशि जलाई गई, जिससे इस नगर की अपार सांस्कृतिक हानि हुई थी। फिर भी उनके प्रहार से यहाँ विविध धर्मों के बड़े–बड़े संघाराम, स्तूप, मंदिर और चैत्यादि कुछ क्षतिग्रस्त होने पर भी बच गये थे।

मथुरा में लूट-मार करने के उपरांत भी हूणों ने इस नगर को छोड़ नहीं दिया था; बल्कि इसे अपना स्थायी अड्डा बना लिया था। यहाँ की खुदाई में उनके अनेक सिक्के मिले हैं, जो उनके यहाँ टिके रहने के प्रमाण हैं। मथुरा के चौबिया पाड़ा में रत्नकुंड के पास 'मिहारपुरा' नामक एक मुहल्ला है, जहाँ के रहने वाले चतुर्वेदी 'मिहारी' कहलाते हैं। संभव है, उस स्थान पर पहिले हूणों की बस्ती रही हो, जिसका नाम उनके नेता 'मिहिरकुल' के नाम पर मिहारपुरा पड़ा हो। मथुरा में अपना अड्डा जमाने के उपरांत हूणों की संहारकारिणी सैन्य शक्ति ग्वालियर, बुंदेलखंड और मध्यभारत तक के भागों में छापे मारती रही थी। अपनी क्रूर प्रकृति के अनुसार उन्होंने वहाँ पर भी बर्बादी का वातावरण उपस्थित कर दिया था।

यशोधर्मन् का प्रादुर्भाव और हूणों की पराजय—जिस समय यह देश मिहिरकुल और उसके बर्बर हूण सैनिकों के अत्याचार से कराह रहा था, उसी समय मुक्ति दूत के रूप में यशोधर्मन् नामक एक शक्तिशाली महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ था। उसने सं० ५८७ के लगभग हूणों के बढ़ते हुए बवंडर को रोक दिया और उन्हें पराजित कर उत्तर की ओर भगा दिया था। यशोधर्मन् की उस ऐतिहासिक विजय गाथा का उल्लेख मंडसर (मालवा) के सं० ५८९ के शिलालेख में हुआ है। उससे ज्ञात होता है, यशोधर्मन् मालवा का राजा था और उसकी राजधानी मंडसर थी। वह वैश्य जाति का एक महान् वीर पुरुष था। उसने हूणों को पराजित करने के उपरांत उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया था। मगध के अंतिम सम्राट वज्र गुप्त से संधि कर उसने लड़खड़ाते हुए गुप्त साम्राज्य का बहुत सा भाग भी अपने राज्य में सम्मिलित किया था[1]। मथुरामंडल पर भी उस काल में कदाचित उसी का अधिकार था।

---

(१) १. **बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास**, पृष्ठ २२

२. **गुप्त इंसक्रिप्संस**, पृष्ठ १४६

यशोधर्मन् के विषय में सं० ५८९ के मंडसर शिलालेख के अतिरिक्त कोई अन्य प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हुई, अतः उस महापुरुष का विशेष वृत्तांत भी नहीं मिलता है। उसका कब जन्म हुआ, किस प्रकार उसने शक्ति संचित की, उसकी आश्चर्यजनक उन्नति का क्या रहस्य था, उसने कब तक शासन किया और उसका कब देहांत हुआ, उसका वंश चला या नहीं— ये सभी बातें भारतीय इतिहास के एक अंधकारपूर्ण अध्याय में ऐसी लुप्त हो गई हैं कि उन्हें आलोक में लाने का अभी तक कोई साधन नहीं मिल सका है। इस पर विस्मय प्रकट करते हुए श्री गौरीशंकर चटर्जी ने लिखा है—"भारत के प्राचीन इतिहास के रंगमंच पर यशोधर्मन् का लोप हो जाना उतना ही रहस्यमय है, जितना कि उस पर उसका प्रवेश करना[1]"।

यशोधर्मन् के शासन–काल की जो दो घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, वे हैं— १. गुप्त साम्राज्य की समाप्ति और २. हूणों के भयंकर आक्रमण तथा उनकी पूर्ण पराजय। यशोधर्मन् से पराजित होकर हूण लोग भारत के उत्तर और उत्तर–पश्चिमी भाग में चले गये थे, जहाँ से वे फिर आगे नहीं बढ़ सके थे। उनके नेता मिहिरकुल का शासन कश्मीर और गंधार तक के भू–भाग में ही सीमित रह गया था। उसी स्थिति में मिहिरकुल का देहांत सं० ६०० के लगभग हुआ था। हूणों को पराजित करने की घटना इतनी महत्वपूर्ण मानी गई कि उसके कारण यशोधर्मन् की गणना भारतीय इतिहास के विख्यात वीरों में होने लगी थी। उसने अपनी विजय के उपरांत एक अश्वमेध यज्ञ किया और फिर 'विक्रमादित्य' की गौरवपूर्ण उपाधि धारण की थी। इस प्रकार अश्वमेध यज्ञकर्त्ता और विक्रमादित्य उपाधिधारी वह अंतिम महापुरुष था। उसके बाद फिर किसी को भी वह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था।

विक्रमादित्यों की परंपरा—विदेशी आक्रमणकारियों की पराधीनता से मातृभूमि को मुक्त करने वाले अथवा कोई अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य करने वाले महापुरुषों की परंपरा में जो कई 'विक्रमादित्य' हुए हैं, उनकी तालिका इस प्रकार है—

१. **विषमशील विक्रमादित्य**—वह प्रथम विक्रमादित्य था, जिसने मालव गण को संगठित कर उज्जयिनी से शकों को भगाया था और 'विक्रम संवत्' की स्थापना की थी।

२. **शालिवाहन विक्रमादित्य**—वह सातवाहन वंशीय राजा हाल था, जिसने 'शक संवत्' का प्रचलन किया था।

३. **समुद्र गुप्त विक्रमादित्य**—वह गुप्त वंश का प्रतापी सम्राट था, जिसने 'दिग्विजय' द्वारा अनेक राज्यों को अधीन कर विशाल गुप्त साम्राज्य की स्थापना की थी।

४. **चंद्रगुप्त विक्रमादित्य**—वह गुप्त वंश का सबसे प्रसिद्ध सम्राट था, जिसने शकों को पूर्णतया पराजित कर उनकी शक्ति का मूलोच्छेदन किया था; इसीलिए वह 'शकारि' कहलाता था।

५. **स्कंद गुप्त विक्रमादित्य**—वह गुप्त वंश का विजयी सम्राट था, जिसने हूणों की प्रबल शक्ति से सर्व प्रथम मोर्चा लेकर उन्हें पराजित किया था।

६. **यशोधर्मन् विक्रमादित्य**—वह मंडसर (मालवा) का शासक था, जिसने हूणों की दुर्जय शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर भारतवर्ष को सदा के लिए उनके संकट से मुक्त किया था।

---

(१) **हर्षवर्धन**, पृष्ठ १३

कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ

ब्रज संस्कृति के इतिहास का 'पूर्व मध्य काल' सात शताब्दियों से भी कम का होने के कारण अपने पूर्ववर्ती 'आदि काल' की अपेक्षा बहुत छोटा है, अतः इसकी उपलब्धियाँ भी अपेक्षाकृत कम हैं। फिर भी यह काल विदेशी शक, कुषाण और हूण जातियों के आक्रमण, राज्य संस्थापन और अंततः उनके पूर्ण पराभव के कारण अपना अनुपम ऐतिहासिक महत्व रखता है। वे जातियाँ बड़े दल–बल के साथ भारत में आई थीं और उन्होंने यहाँ की संस्कृति पर भला-बुरा प्रभाव भी डाला था; किंतु बाद में वे यहाँ के जन–जीवन में इस प्रकार घुल–मिल गईं कि आज उनका केवल नाम ही शेष रह गया है। इसी काल में नाग और गुप्त जैसे भारतीय राजाओं के गौरवशाली राज्यों का उद्भव, विकास और ह्रास हुआ था। उनका शासन काल जहाँ भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' कहलाता है, वहाँ मथुरामंडल के लिए भी अपना अनुपम महत्व रखता है। हम इस काल की कुछ उपलब्धियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

राष्ट्र रक्षा और धर्मोन्नति—आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म में राष्ट्रीय रक्षा और धार्मिक उन्नति दोनों पर समान रूप से बल दिया गया है। यहाँ राष्ट्र रक्षा को भी वस्तुतः धर्म का ही एक अंग माना गया है। वेदों में इस आशय के अनेक मंत्र मिलते हैं। आर्यों की वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों को धर्म और क्षत्रियों को रक्षा का उत्तरदायित्व देते हुए उन दोनों को ठोस आधार पर स्थापित करने के साथ ही साथ उन्हें संतुलित करने की भी चेष्टा की गई थी। यही कारण था कि असुरों और अनार्यों से निरंतर संघर्ष होते रहने पर भी आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म की उत्तरोत्तर उन्नति होती रही थी। जब वैदिक कर्मकांड के अनाचार की प्रतिक्रिया में अवैदिक जैन–बौद्धादि निवृत्ति प्रधान धर्मों का प्रभाव बढ़ा, तब धर्म और रक्षा के संतुलन में शिथिलता के लक्षण दिखलाई देने लगे थे। फलतः यूनानी आदि विदेशियों ने इस देश पर आक्रमण करने का साहस किया था। किंतु तब तक भी राष्ट्र रक्षा का प्रश्न इतना गौण नहीं हुआ था कि उन विदेशियों को यहाँ अधिकार जमाने में सफलता प्राप्त होती। उस समय जो थोड़ी शिथिलता आई थी, उसको चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञ महामनीषी ने दूर कर दिया था। तभी चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल में एक ओर यूनानियों के आक्रमण की आशंका को समाप्त किया गया और दूसरी ओर सभी क्षेत्रों में राष्ट्र की अपूर्व उन्नति की गई।

कालांतर में मौर्य सम्राट अशोक ने निवृत्ति प्रधान धर्म के प्रचार पर इतना अधिक बल दिया कि राष्ट्र–रक्षा का प्रश्न तब गौण बन गया था। उस काल में बौद्ध धर्म के कारण आर्यों की वर्ण व्यवस्था भी भंग होने लगी थी। फलतः धर्म और रक्षा का संतुलन बिगड़ गया, जिसके परिणाम स्वरूप विदेशी शक–कुषाणादि जातियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण ही नहीं किया, वरन् उन्होंने यहाँ राज्याधिकार क़ायम करने में भी सफलता प्राप्त की थी। इस देश के मनीषियों ने **'शस्त्र'** और **'शास्त्र'** के पारस्परिक संबंध का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—**'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते।'** अर्थात् शस्त्रों से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्रों का चिंतन संभव है। ब्रज संस्कृति के 'आदि काल' में इस ध्रुव सत्य को भली भाँति समझा गया। बाद में उसकी उपेक्षा होने से जो सांस्कृतिक हानि हुई, उसका परिज्ञान इस काल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

राष्ट्र की अरक्षा का लाभ उठा कर विदेशी शक–कुषाण जातियों ने यहाँ अपने राज्य क़ायम किये और आरंभ में उनके द्वारा 'शास्त्र–चिंतन' में कुछ बाधा भी उपस्थित की गई; किंतु बाद में वे यहाँ की संस्कृति से प्रभावित होने के कारण इसके सहायक हो गये थे। जहाँ तक मथुरा राज्य का संबंध है, यहाँ की संस्कृति के मूलाधार भगवान् वासुदेव कृष्ण का सबसे प्राचीन 'महा स्थान' (मंदिर) शक क्षत्रप शोडास (सुदास) के शासन–काल में ही किसी वसु द्वारा बनवाये जाने का उल्लेख मिला है। श्री कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति के रूप में कृष्ण–लीला का एक शिलाखंड कुषाण काल का उपलब्ध हुआ है। इन पुरातात्विक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शक–कुषाण राजा यहाँ की धर्मोन्नति में सहायक हुए थे। उनके विपरीत हूणों ने 'शास्त्र' का सदा ही तिरस्कार किया था। उन्होंने तक्षशिला के विख्यात सांस्कृतिक केन्द्र को समाप्त कर मथुरा राज्य के ज्ञान–विज्ञान, धर्म–संस्कृति तथा यहाँ की विद्या–कला को बड़ी हानि पहुँचाई थी। इस प्रकार व्रज संस्कृति पर विदेशी राज्यों के भले–बुरे प्रभाव का लेखा–जोखा इस काल की उल्लेखनीय उपलब्धि कहा जावेगा।

इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि नागों और गुप्तों के भारतीय राज्य हैं, जिन्होंने व्रज संस्कृति को भी गौरव प्रदान किया है। नाग और गुप्त राजागण धर्म और रक्षा दोनों के प्रति समान रूप से जागरूक रहे थे। नागों ने जहाँ कुषाणों की पराधीनता से मथुरा राज्य को मुक्त किया था, वहाँ गुप्तों ने शकों के संकट को सदा के लिए समाप्त कर हूणों के प्रबल वेग को रोकने में सफलता प्राप्त की थी। नाग राजा मथुरा के अंतिम स्वाधीन शासक थे। यद्यपि उनके राज का अंत गुप्तों द्वारा किया गया; किंतु उनका उद्देश्य एक ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य का संगठन करना था, जो राष्ट्र–रक्षा और राष्ट्रोन्नति का अत्यंत सुदृढ़ साधन सिद्ध हो सके। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने अन्य चिरस्मरणीय कार्यों के साथ ही साथ मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर जो मंदिर बनवाया था, वह कई शताब्दियों तक यहाँ की सांस्कृतिक चेतना और धार्मिक भावना को जीवित–जागृत बनाये रखने का प्रधान प्रेरणा–स्रोत रहा था।

प्रशासनिक और सैनिक व्यवस्था—इस काल में मथुरा राज्य की प्रशासनिक और सैनिक व्यवस्था किस प्रकार की थी, उसका ठीक–ठीक उल्लेख नहीं मिलता है। नाग शासन के थोड़े से समय को छोड़ कर इस काल में मथुरा राज्य विदशी और देशी साम्राज्यों का एक अंग मात्र रहा था, अतः यहाँ का प्रशासन आदि भी उन्हीं साम्राज्यों की व्यवस्था के अनुसार होता होगा। शक–कुषाण काल में मथुरा राज्य उनके विशाल साम्राज्य के दक्षिण–पूर्वी भाग की एक महत्वपूर्ण इकाई था, जिसकी राजधानी मथुरा नगरी थी। यहाँ के शासक शक महाक्षत्रप और कुषाण सेनापति थे, जो स्वायत्व अधिकार प्राप्त राजाओं के समान थे। इसलिए उस काल में और उसके पश्चात् नाग राजाओं के काल में यहाँ की प्रशासनिक और सैनिक व्यवस्था स्वतंत्र रूप से संचालित होती थी। गुप्तों के काल में मथुरा राज्य और नगर की वैसी महत्वपूर्ण स्थिति नहीं रही थी। गुप्त साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था के अनुसार इस राज्य और नगर की स्थिति एक 'भुक्ति' (प्रांत) और 'विषय' (जनपद) के रूप में जान पड़ती है। गुप्त काल में भुक्ति–पति प्रायः राजकुल का व्यक्ति होता था, जिसकी नियुक्ति स्वयं सम्राट करता था। उसके अधीन सेनापति, दंडनायक, बलाधिकृत, भांडागाराधिकृत, दंडपाशिक, विनय–स्थिति–स्थापक आदि बड़े-

बड़े सैनिक और असैनिक अधिकारी होते थे। गुप्तों ने मथुरा के स्वतंत्र नाग राज्य को समाप्त करने के पश्चात् नाग जाति के राज पुरुषों को बड़े-बड़े महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया था। मथुरा भुक्ति के सर्वोच्च अधिकारी भी प्रायः नाग जाति के राजपुरुष थे।

आर्थिक अवस्था और समृद्धि—इस काल में मथुरा राज्य की आर्थिक अवस्था अत्यंत उन्नत थी और यहाँ के निवासी सब प्रकार से समृद्ध एवं सम्पन्न थे। विदेशी शक–कुषाणों के काल में भी यह राज्य धन-धान्य से पूर्ण रहा था। उस काल में मथुरा नगर व्यापार–वाणिज्य और उद्योग–धंधों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र माना जाता था। उसकी यह स्थिति नागों और गुप्तों के काल में भी अक्षुण्ण रही थी। हूणों के आक्रमण काल में जब यहाँ भीषण लूट–मार हुई थी, तब यहाँ की परंपरागत समृद्धि में अंतर आया था; किंतु उसकी पूर्ति कालांतर में हो गई थी।

रहन–सहन—इस काल में लोगों का रहन–सहन किस प्रकार का था, इसे जानने का सर्वोत्तम साधन उस समय रचे हुए काव्य–नाटकादि ग्रंथ हैं। यदि कालिदास के कथन को गुप्त कालीन समाज का चित्रण माना जाय, तब यह कहा जा सकता है कि उस काल में राजा और प्रजा सभी लोग आश्चर्यजनक रूप से समृद्धिशाली और सम्पन्न थे। उस समय मानों यहाँ सर्वत्र इंद्र का सा वैभव, सुखोपभोग एवं ऐश-आराम था और कुबेर की सी संपदा सभी जगह बिखरी हुई थी। कालिदास के उक्त कथन में निश्चय ही अत्यंत अतिशयोक्ति है; फिर भी गुप्तकालीन समाज सब प्रकार से सुखी और संतुष्ट था। यहाँ के निवासियों के रहन–सहन का स्तर बहुत ऊँचा था।

वस्त्राभूषण और साज–शृंगार—उस काल की मूर्तियों और कला कृतियों में नर-नारियों के वस्त्राभूषण की अच्छी झाँकी मिलती है। उनसे ज्ञात होता है, तब वस्त्रों का अधिक व्यवहार नहीं किया जाता था; किंतु जो वस्त्र भी पहिने जाते थे, वे कलात्मक होते थे। राजा–महाराजा भी कम वस्त्र पहिनते थे; किंतु जवाहरात से लदे रहते थे। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कुछ अधिक वस्त्र पहिनती थीं। पुरुष और स्त्री दोनों ही आभूषण पहिनते थे। राजागण सिर पर मुकुट धारण करते थे और सामान्य पुरुष उष्णीश (पगड़ी) पहिनते थे। स्त्रियाँ साड़ी, लहँगा और चोली पहिनती थीं, जिन्हें सुन्दर झीने वस्त्रों से बनाया जाता था। स्त्रियों को साज–शृंगार करने का बड़ा ध्यान रहता था। वे अपने केशों को सजाने, अंगराग लगाने और विविध भाँति के आभूषण धारण करने में बड़ी रुचि लेती थीं। उस काल की नारियों के केश-शृंगार और वेणी-गूँथन के विविध प्रकारों को देखने से उनकी अनुपम कलात्मक भावना का परिचय मिलता है।

आमोद–प्रमोद—इस काल में लोगों के मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार के आमोद गृह थे; जिनमें रंगशाला, संगीतशाला, नृत्यशाला, चित्रशाला, व्यायामशाला, द्यूत-गृह आदि उल्लेखनीय हैं। विविध प्रकार के उत्सवों और गोष्ठियों आदि का प्रचलन था, जिनमें जन साधारण से लेकर धनी-मानी राजा-महाराजा तक सभी योग देते थे। बन-विहार, जल-क्रीड़ा, चौगान के खेल, द्वंद्व युद्ध, जानवरों की लड़ाई, कबूतरों की उड़ान, मछली मारना, शिकार खेलना आदि नाना प्रकार के आयोजनों में सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भाग लेते थे। वे समस्त आमोद-प्रमोद सुखी, समृद्ध और निश्चित जन-जीवन के चिह्न हैं, जिनसे ज्ञात होता होता है कि उस समय यहाँ की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी।

तृतीय अध्याय

मध्य काल

[विक्रम सं० ६०० से सं० १२६३ तक]

मौखरी–बर्धन राज्य और कन्नौज की महत्व–वृद्धि—

गुप्त साम्राज्य के समाप्त होने से इस देश में एक सार्वभौम शासन–सत्ता का अभाव हो गया था, जिसके कारण यहाँ अनेक छोटे–बड़े राज्य बन गये थे। समुद्र गुप्त से पहिले भी उसी प्रकार के अनेक राज्य थे, जो आपस में लड़ कर देश की शांति और व्यवस्था में गड़बड़ी करते रहते थे। गुप्त सम्राटों ने उन्हें एक शक्तिशाली साम्राज्य के अंतर्गत संगठित कर देश में शांति और व्यवस्था क़ायम की थी। अब गुप्त साम्राज्य के छिन्न–भिन्न हो जाने से फिर वही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उस काल में इस देश के राजनैतिक मंच पर यशोधर्मन् जैसे शक्तिशाली वीर योद्धा का उदय हुआ था; किंतु उसके सहसा लुप्त हो जाने से कोई ऐसा महापुरुष नहीं रहा, जो देश की बिगड़ी हुई परिस्थिति को सँभालने में समर्थ होता। उस काल के बहुसंख्यक राज्यों में दो अधिक महत्वपूर्ण थे—१. मौखरियों का कन्नौज राज्य और २. बर्धनों का थानेश्वर राज्य। उन राज्यों की स्वतंत्रता अंतिम गुप्त सम्राटों की निर्बलता के कारण अस्तित्व में आई थी।

मौखरी राजवंश—मौखरियों का आदिम स्थान मगध था और वे गुप्त सम्राटों के अधीनस्थ सामंत थे। गुप्तों की निर्बलता का लाभ उठा कर उन्होंने प्राचीन मध्यदेश में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था[1]। उस वंश का प्रथम राजा ईशानवर्मन था, जिसने सं० ६०७ से ६३३ तक राज्य किया था। उसने सं० ६११ में 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। उसका अधिकार प्रायः समस्त मध्यदेश पर था और मथुरा राज्य भी उसी के अनुशासन में था। कालांतर में उस वंश का प्रसिद्ध राजा ग्रहवर्मन हुआ, जिसका विवाह थानेश्वर के राजा प्रभाकर बर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था।

बर्धन राजवंश—बर्धनों ने अपने राज्य की स्थापना भारतीय संस्कृति के प्राचीन केन्द्र कुरु जनपद में की थी और थानेश्वर उनकी राजधानी थी। उस वंश को 'पुष्यभूति' अथवा 'बैस' भी कहा जाता था। बर्धन राजवंश के विषय में 'मंजुश्री मूलकल्प' के रचयिता के अतिरिक्त चीनी यात्री हुएनसांग का भी मत है कि वह वैश्य वर्ण का था। 'बर्धन' नाम से भी उस राजवंश के राजागण वैश्य ही ज्ञात होते हैं[2]। उस वंश का प्रसिद्ध राजा प्रभाकर बर्धन हुआ, जिसने सं० ६४० से प्रायः ६६२ तक राज्य किया था। उसका पुत्र हर्ष बर्धन बड़ा प्रतापी और यशस्वी नरेश हुआ था।

कन्नौज का महत्व—भारतवर्ष के राजनैतिक और सांस्कृतिक महत्व का केन्द्र स्थल प्रागैतिहासिक काल में कुरु–पंचाल जनपदों का भू–भाग था। जब से इस देश के प्रामाणिक इतिहास का आरंभ हुआ है, तब से उस महत्व का केन्द्र मगध हो गया था। मगध साम्राज्य और उसकी राजधानी राजगृह एवं पाटलिपुत्र का वह महत्व प्रायः एक हज़ार वर्षों तक रहा था। उसके

---

(१) **हर्षबर्धन**, पृष्ठ १३

(२) **हर्षबर्धन**, पृष्ठ ४८, १०३

उपरांत गुप्त साम्राज्य के अंत होने पर मगध का वह महत्व भी समाप्त हो गया। जब हर्षबर्धन का उदय हुआ, तब कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि उसे इच्छा न रहते हुए भी थानेश्वर के साथ ही साथ कन्नौज का राज्याधिकार भी ग्रहण करना पड़ा था। इस प्रकार वह पंजाब से लेकर पूर्वी उत्तरप्रदेश तक के विशाल भू-भाग का अधिपति हो गया था। उसके काल में कन्नौज का राजनैतिक और सांस्कृतिक महत्व इतना बढ़ गया कि उसकी तुलना मगध से की जाने लगी। उसका वह महत्व छहसौ वर्ष अर्थात् मुसलमानों द्वारा जयचंद्र के पराजित होने तक रहा था।

१. बर्धन काल

[विक्रम सं० ६४० से सं० ७०४ तक]

प्रभाकर बर्धन—वह थानेश्वर के बर्धन वंश का प्रसिद्ध राजा था, जिसने सं० ६४० से सं० ६६२ तक राज्य किया था। उसका शासन वर्तमान पंजाब, राजस्थान और मालवा राज्यों के अधिकांश भाग पर था। उसके राज्य की दक्षिणी सीमा पर कन्नौज का मौखरी राज्य था, जिसका अधिपति ग्रहवर्मन था। उसकी उत्तरी सीमा पर हूणों द्वारा अधिकृत उत्तरी पंजाब का प्रदेश था। प्रभाकर बर्धन की उपाधि 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' थी और वह सूर्य का उपासक था। उसके दो पुत्र थे और एक पुत्री थी। पुत्रों के नाम राज्यबर्धन और हर्षबर्धन थे तथा पुत्री का नाम राजश्री था। राजश्री का विवाह कन्नौज के राजा ग्रहवर्मन के साथ हुआ था। उस वैवाहिक संबंध के कारण उत्तर भारत के दो सर्वाधिक प्रसिद्ध मौखरी और बर्धन राज्य प्रेम–सूत्र में बँध गये थे, जिससे उन दोनों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी।

प्रभाकर बर्धन की मृत्यु और थानेश्वर की स्थिति—प्रभाकर बर्धन के शासन के अंतिम काल में उत्तर के हूणों ने उपद्रव आरंभ कर दिया था, जिसे दबाने के लिए उसने अपने बड़े पुत्र राज्यबर्धन को एक प्रबल सेना के साथ भेजा था। जिस समय राज्यबर्धन हूणों से युद्ध कर रहा था, उसी समय उसका वृद्ध पिता असाध्य रूप से रुग्ण हो गया। प्रभाकर बर्धन की इच्छा थी कि उसके बाद उसका छोटा पुत्र हर्ष थानेश्वर का राजा हो। उसके अनेक दरबारी भी उसी मत के थे; किंतु हर्ष ने उसे एक दम अस्वीकार कर दिया था। उसने अपने बड़े भाई राज्यबर्धन के पास दूतों को भेज कर महाराज की असाध्य बीमारी से उसे अवगत कराया और शीघ्रातिशीघ्र राजधानी में आने का आग्रह किया। राज्यबर्धन हूणों को पराजित कर अपने पिता के अंतिम दर्शन के लिए शीघ्रता पूर्वक राजधानी की ओर चल पड़ा; किंतु उसके आने से पहिले ही महाराज का स्वर्गवास हो गया था।

हर्ष, थानेश्वर राज्य के सरदार–सामंत तथा प्रजाजन सभी शोकग्रस्त थे। राज्यबर्धन भी बड़ा दुखी था। वह अपनी मानसिक खिन्नता से अथवा महाराज की अंतिम इच्छा के कारण थानेश्वर का राज्य लेने को तैयार नहीं हुआ। वह हर्ष को राज्याधिकार सोंप कर आप विरक्त और तपस्वी का जीवन बिताना चाहता था। हर्ष को उससे अपार कष्ट हुआ। उसने राजा बनने से कतई इंकार कर दिया और बड़े आग्रह पूर्वक राज्यबर्धन से राज्यासीन होने की प्रार्थना की। उन दोनों भाइयों का वह दृश्य त्रेता युग के राम और भरत की कथा का स्मरण दिलाता था। वह दृश्य बाद के मुसलमानी काल से कितना भिन्न था, जब कि राज्य के कारण पारवारिक जनों की हत्या करना भी एक साधारण बात हो गई थी !

कन्नौज का संकट—जिस समय थानेश्वर में बड़ी विषम परिस्थिति थी, उस समय कन्नौज में भी युगांतरकारी घटनाएँ घट रही थीं । थानेश्वर और कन्नौज के राजाओं के वैवाहिक संबंध को देख कर उत्तर भारत के कई राजागण शंकित और भयग्रस्त हो गये थे । उक्त दोनों राज्यों की सम्मिलित शक्ति के विरोध में मालवा के शासक देवगुप्त और गौड़ के शासक शशांक ने अपना संघ बना लिया था । हुएनसांग ने शशांक को कर्णसुवर्ण का राजा लिखा है । कर्णसुवर्ण वर्तमान काल का मुर्शिदाबाद ज़िला है, जो उस समय गौड़ प्रदेश की राजधानी था ।

उस काल में गौड़ प्रदेश बंगाल के एक भाग का नाम था, जो उत्तर मध्य काल तक रहा था; किंतु प्राचीन काल में इस देश के कुछ दूसरे भाग भी 'गौड़' कहलाते थे । थानेश्वर के निकट का भू–भाग किसी काल में गौड़ प्रदेश कहलाता था और वहाँ के ब्राह्मणों को गौड़ ब्राह्मण कहा जाता था[1] । कूर्म (१, २०), लिंग (१, २०) और मत्स्य (१२, ३०) पुराणो में उत्तर कोशल (वर्तमान फ़ैज़ाबाद कमिश्नरी) को गौड़ प्रदेश कहा गया है, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी । वर्तमान 'गोंडा' ज़िला उसी प्राचीन नाम को पुष्टि करता है । शशांक का राज्याधिकार उस काल में संभवतः वर्तमान गोंडा से मुर्शिदाबाद तक था ।

जैसे ही मालवा के शासक देवगुप्त को प्रभाकर बर्धन की असाध्य बीमारी और राज्यबर्धन का हूणों के संघर्ष में फँसे रहने का समाचार मिला, वैसे ही उसने एक विशाल सेना के साथ कन्नौज पर आक्रमण कर दिया । कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मन ने वीरता पूर्वक मोर्चा लिया, किंतु दुर्भाग्य से उसकी मृत्यु हो गई । कन्नौज पर शत्रुओं का अधिकार हो गया और ग्रहवर्मन की रानी राजश्री को कारागार में डाल दिया गया ।

जब उस भयंकर दुर्घटना का समाचार थानेश्वर पहुँचा, तब विरक्त जीवन बिताने की इच्छा रखने वाले राज्यबर्धन को बाध्य होकर अपना विचार त्यागना पड़ा । वह थानेश्वर के प्रबंध का भार हर्ष पर छोड़ कर आप एक विशाल सेना के साथ देवगुप्त को दंड देने के लिए चल दिया । उसका उद्देश्य ग्रहवर्मन की मृत्यु का बदला लेना और राजश्री को बंधन-मुक्त करना था । उसने देवगुप्त को परास्त कर दिया था; किंतु गौड़ के शासक शशांक ने उसे धोखा देकर मार डाला । इस प्रकार जीती हुई बाज़ी पलट गई । जब वह दुःखदायी समाचार थानेश्वर पहुँचा, तो वहाँ बड़ा कुहराम मच गया था ।

हर्ष बर्धन—ऐसी भीषण परिस्थिति में हर्ष को सं० ६६३ में थानेश्वर का शासन-सूत्र सँभालना पड़ा था । वह उन लगातार आने वाली आपत्तियों से तनिक भी हताश नहीं हुआ, बल्कि साहस पूर्वक उनका सामना करने को तैयार हो गया । वह शीघ्र ही अपनी सेना लेकर युद्ध स्थल को चल दिया । उसे सबसे पहिले अपनी बहिन राजश्री को बंधनमुक्त करना था और फिर शशांक तथा देवगुप्त को दंड देना था । जब हर्ष अपनी सेना सहित युद्ध अभियान के लिए जा रहा था, तब मार्ग में उसे कन्नौज की सेना मिल गई । उसके सेनापति भांडी से उसे समाचार मिला कि राजश्री कन्नौज के कारागृह से भाग कर विंध्याचल के बन्य प्रदेश में चली गई है । हर्ष ने भांडी को शत्रु से मोर्चा लेने का भार सोंपा और वह स्वयं राजश्री की खोज में चल पड़ा ।

---

(१) राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास, पृष्ठ १००

जिस समय हर्ष राजश्री के निकट पहुँचा, उस समय वह सती होने के लिए चिता पर बैठने की तैयारी कर रही थी। हर्ष ने बड़ी कठिनता पूर्वक उसे जलने से रोका और फिर उसे साथ में लेकर भांडी की सेना से आ मिला। उसके बाद वह कन्नौज पर अधिकार करने के लिए आगे वढ़ा। गौड़ाधिपति शशांक ने हर्ष से युद्ध करना उचित न समझ कर कन्नौज से अपना अधिकार हटा लिया और वह अपने राज्य को वापिस चला गया। इस प्रकार हर्ष ने राजश्री के साथ ही साथ कन्नौज का भी उद्धार किया। उसने कन्नौज की राजगद्दी पर राज्यश्री को बैठने के लिए कहा, किंतु उसने अस्वीकार कर दिया। वह अपने पति की मृत्यु से इतनी दुखी थी कि या तो अपने जीवन का अंत करना चाहती थी, अथवा विरक्त होकर तपस्विनी की तरह रहना चाहती थी।

राज्यश्री ने अपने भाई हर्ष से कन्नौज के शासन का भी भार सँभालने के लिए कहा। कन्नौज राज्य के सरदार–सामंत भी यही चाहते थे; किंतु हर्ष उसके लिए तैयार नहीं हुआ। जहाँ थानेश्वर के पैतृक राज्य को सँभालने में भी उसकी अनिच्छा थी, वहाँ वह बहिन का राज्य किस प्रकार स्वीकार कर सकता था; किंतु परिस्थिति ने जहाँ थानेश्वर का राज्य भार उस पर डाला था, वहाँ कन्नौज का भी शासन–सूत्र सँभालने को उसे विवश किया। प्रकृति का नियम है, जो व्यक्ति किसी वस्तु को लेने की जितनी अनिच्छा करता है, वह वस्तु उसे उतनी ही अधिकता से मिलती है !

थानेश्वर और कन्नौज दोनों का राज्याधिकारी—हर्ष बर्धन ने सं० ६७० के लगभग अत्यंत असाधारण परिस्थिति में थानेश्वर के साथ ही साथ कन्नौज का भी राज्याधिकार ग्रहण किया था। वह उत्तर भारत के दो बड़े राज्यों का स्वामी होने के कारण अपने समय में इस देश का सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट था। उसने 'शीलादित्य' की उपाधि धारण की थी और वह 'सकलोत्तरापथेश्वर' कहलाता था। अपने शासन को दृढ़ता और व्यवस्था पूर्वक चलाने के लिए उसने अपने साम्राज्य के केन्द्र स्थल कन्नौज में अपनी राजधानी रखी थी। जो महत्व पिछले एक हज़ार वर्ष से मगध की राजधानी पाटलिपुत्र को प्राप्त था, वह हर्ष के काल में कन्नौज को मिल गया और उसके बाद भी मुसलमानों के आक्रमण काल तक बना रहा था।

योग्यता और शासन—हर्ष वीर योद्धा, सुयोग्य शासक, उदार दानी, विद्या व्यसनी और उच्च कोटि का कवि था। उसके रचे हुए तीन नाटक रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानंद उपलब्ध हैं। वह विद्वानों, धर्माचार्यों और कवियों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्ट था, जिसका रचा हुआ 'हर्ष चरित्' प्रसिद्ध ग्रंथ है। वह पहिले सूर्योपासक था; किंतु बाद में उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। वैसे वह सभी धर्मों का समान रूप से आदर करता था और उन्हें प्रश्रय देता था। वह धार्मिक और जनोपयोगी कार्यों में बड़ी उदारता पूर्वक दान दिया करता था। प्रति पाँचवें वर्ष वह प्रयाग में एक विशाल धर्मोत्सव करता था, जिसमें सभी धर्म वाले बड़ी संख्या में उपस्थित होते थे। उत्सव के अंतिम दिन वह अपने राजकोष का समस्त धन धर्मार्थ वितरण कर दिया करता था।

उसके काल की एक महत्वपूर्ण घटना चीनी यात्री हुएनसांग का भारत आना था। हुएनसांग ने अपने यात्रा–विवरण में हर्ष के शासन–काल का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। हर्ष के दरबारी कवि बाणभट्ट कृत 'हर्ष चरित्' में भी उसके राज्य काल का विस्तृत वर्णन मिलता है।

उनके अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथ 'मंजुश्री मूलकल्प' में तथा उस काल के कई अभिलेखों में भी हर्ष संबंधी पर्याप्त सामग्री मिलती है। इन सब साधनों से हर्ष के राज्य काल का प्रामाणिक विवरण प्राप्त हो जाता है। वह एक बड़ा सुयोग था कि हर्ष को बाणभट्ट जैसा कवि और हुएनसांग जैसा लेखक मिल गया था, जिनके कारण हर्ष का नाम भारतीय इतिहास में अमर हो गया है।

मृत्यु और महत्व—हर्ष की मृत्यु सं० ७०४ वि० में हुई थी। वह भारत का अंतिम हिंदू सम्राट था। उसके शासन का ४० वर्ष का काल राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसीलिए उसकी गणना अशोक, कनिष्क और चंद्रगुप्त जैसे महान् सम्राटों की परंपरा में की जाती है।

हुएनसांग और उसकी भारत-यात्रा—हुएनसांग एक चीनी विद्वान और बौद्ध भिक्षु था। उसका जन्म और देहावसान चीन देश में क्रमशः संवत् ६५३ और संवत् ७२१ में हुआ था। उसने अपने देश में बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवाद पढ़े थे, जो उसे अशुद्ध मालूम हुए थे। इसलिए उसने भारत जाकर उक्त ग्रंथों के पालि और संस्कृत भाषाओं में लिखे हुए मूल संस्करण उपलब्ध करने का निश्चय किया, ताकि वह स्वयं उनका शुद्ध चीनी अनुवाद कर सके। उक्त निश्चय की पूर्ति के लिए वह भारत चल पड़ा और मध्य एशिया के मार्ग से होता हुआ बड़ी कठिनता पूर्वक यहाँ पहुँचा था। इसने उत्तर-पश्चिमी सीमा से सं० ६८६ में भारत में प्रवेश किया था। वह सबसे पहिले कश्मीर में सं० ६८७ में पहुँचा और वहाँ २ वर्ष तक रहा था। फिर पंचनद प्रदेश में होता हुआ वह वैराट गया और वहाँ से मथुरा आया था। इस प्रकार वह प्रायः १७ वर्ष तक समस्त भारत में घूमता रहा था। उसने बौद्ध धर्म से संबंधित विविध स्थानों की यात्रा की और बौद्ध ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करण प्राप्त किये। वह अपने साथ बहुसंख्यक हस्त लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त इस देश से कुछ अन्य दुर्लभ वस्तुएँ भी ले गया था। जब वह दीर्घ कालीन प्रवास के पश्चात् अपनी बहुमूल्य भारतीय सामग्री सहित चीन पहुँचा, तब वहाँ के सम्राट ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया था। उसके बाद उसने अपना शेष जीवन भारत से उपलब्ध बौद्ध ग्रंथों के चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगाया था।

सम्राट हर्षबर्धन से भेंट—हुएनसांग अपनी भारत यात्रा में सम्राट हर्षबर्धन से भेंट करने कन्नौज भी गया और वहाँ कई महीनों तक रहा था। वह सं० ७०० में कन्नौज पहुँचा था। उस समय तक हर्ष ३० वर्ष से भी अधिक काल तक शासन कर चुका था और उसके यश, प्रताप, बल, विक्रम और वैभव की देश भर में धूम थी। उसने हुएनसांग का बड़ा आदर करते हुए उसे अपने दरबार के समस्त धर्माचार्यों में उच्चतम स्थान प्रदान किया था। उसके कारण वह विभिन्न धर्मों के अनेक विद्वानों का कोप-भाजन भी हुआ, किंतु फिर भी उसने उस विदेशी पर्यटक के आदर-सन्मान में कोई कमी नहीं आने दी। वह प्रयाग में होने वाले अपने पंचवार्षिक धर्मोत्सव में भी हुएनसांग को ले गया था और वहाँ उसने अन्य धर्म वालों के साथ उसके शास्त्रार्थ की व्यवस्था कराई थी। किंतु बिना शास्त्रार्थ कराये ही उसने हुएनसांग को विजयी घोषित कर दिया था, ताकि उस विदेशी विद्वान की किसी प्रकार अप्रतिष्ठा न हो। यह हर्ष की उदारता का ही फल था कि हुएनसांग भारतवर्ष में रह कर अत्यधिक आदर-सन्मान और सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त करता रहा। जब वह यहाँ से जाने लगा, तब उसे इस देश की बहुमूल्य सामग्री को अपने साथ ले जाने की सभी राजकीय सुविधाएँ दी गई थीं।

यात्रा–वृत्तांत—हुएनसांग की भारत–यात्रा का वृत्तांत चीनी भाषा में लिखा हुआ मिलता है, जो 'सी–यु–की' (Si-Yu-Ki) कहा जाता है। उससे पहिले दूसरे चीनी यात्री फाह्यान ने भी भारत की यात्रा की थी, जिसका यात्रा–वृत्तांत 'फो–क्यु–की' (Fo-Kue-Ki) कहलाता है। इन दोनों के अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। हुएनसांग का यात्रा–विवरण फाह्यान की अपेक्षा अधिक विस्तृत और पूर्ण है। उन दोनों यात्रियों ने जिन स्थानों की यात्रा की थी, उनकी पारस्परिक दूरी का भी उन्होंने उल्लेख किया है। उसके लिए फाह्यान ने जहाँ 'योजन' का व्यवहार किया, वहाँ हुएनसांग ने 'योजन' के साथ ही साथ 'ली' का भी प्रयोग किया है। कनिंघम का मत है कि वर्तमान काल की एक 'मील' फाह्यान की ६·७१ 'ली' के बराबर और हुएनसांग की ६·७५ 'ली' के समतुल्य है[1], तथा फाह्यान का 'योजन' ६·७५ मील के बराबर होता है। कनिंघम के मतानुसार हुएनसांग द्वारा उल्लिखित दूरी के संबंध में कुछ भ्रांतियाँ भी हैं। जहाँ हुएनसांग ने एक हज़ार 'ली' और 'पश्चिम' दिशा लिखा है, वहाँ कभी–कभी वह एक सौ 'ली' और 'पूर्व' दिशा ही सिद्ध होती है[2]।

मथुरा–आगमन—हुएनसांग सं० ६९२ (सन् ६३५ ई०) में मथुरा आया था। यहाँ आने से पहिले उसने जालंधर में चातुर्मास्य किया था और फिर वैराट होकर मथुरा पहुँचा था। श्री कनिंघम ने उसकी यात्रा के विविध स्थानों की तारीखें निश्चित की हैं। उसके अनुसार वह सन् ६३५ , की १५ मार्च को जालंधर में था। वहाँ से २५ सितंबर को वह वैराट गया था और ५ अक्टूबर को मथुरा आया था। मथुरा से चल कर वह २५ अक्टूबर को थानेश्वर पहुँचा था। इस प्रकार वह शरद ऋतु में मथुरा आया और १५ दिन के लगभग यहाँ ठहरा था[3]।

मथुरा राज्य और मथुरा नगर संबंधी उल्लेख—हुएनसांग के यात्रा–विवरण में उसके समय के मथुरा राज्य और मथुरा नगर के संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उसमें लिखा है—"मथुरा राज्य का विस्तार ५ हज़ार ली (८३३ मील के लगभग) है और उसकी राजधानी मथुरा नगर का विस्तार २० ली (साड़े तीन मील के लगभग) है[4]।" इस पर श्री कनिंघम का कथन है, "यदि हुएनसांग का उक्त अनुमान ठीक है, तब उस काल में मथुरा राज्य में न केवल वैराट और अतरंजी जनपदों के बीच का समस्त प्रदेश ही होगा, वरन् आगरा से परे दक्षिण में नरवर और श्योपुरी तक तथा पूर्व में सिंध नदी तक का विशाल क्षेत्र भी सम्मिलित होगा। इन सीमाओं से घिरे हुए उस राज्य की परिधि सीधी नाप से ६५० मील और सड़क मार्ग से ७५० मील से भी ऊपर है। इसमें वर्तमान मथुरा ज़िला के साथ भरतपुर, खिरावली (करौली ?) और धौलपुर की छोटी रियासतें तथा ग्वालियर राज्य का उत्तरार्ध सम्मिलित था। पूर्व में उसकी सीमा जिझौती तक और दक्षिण में मालवा तक होगी[5]। हुएनसांग ने उन दोनों को प्रथक–प्रथक

---

(१) ऐंश्येंट ज्यागरफ़ी आफ इंडिया, (प्रस्तावना, पृष्ठ XXXI)

(२) ,, वही ,, , (,, पृष्ठ XX)

(३) ऐंश्येंट ज्यागरफ़ी आफ इंडिया, पृष्ठ ६४६

(४) हुएनसांग्स ट्रैविल्स इन इंडिया (जिल्द १, पृष्ठ ३०१–११)

(५) 'मालवा' से अभिप्राय मालवा नदी जान पड़ता है, जिसे अब बेतवा कहते हैं।

राज्य बतलाया है[1] ।" कनिंघम के ग्रंथ के संपादक श्री मजूमदार की इस पर टिप्पणी है, हुएनसांग के समय का मथुरा राज्य चंबल नदी से लेकर मथुरा नगर के प्रायः ५० मील उत्तर तक फैला हुआ था[2] ।"

हुएनसांग ने उस काल के मथुरामंडल की उपज और यहाँ के निवासियों के संबंध में लिखा है—"यहाँ की भूमि बड़ी उपजाऊ और अन्न की पैदावार के लिए अधिक उपयुक्त है। यहाँ पर आमों के पेड़ इतनी अधिकता से पाये जाते हैं कि कहीं–कहीं उनके जंगल ही खड़े हैं। ये आम दो प्रकार के होते हैं। एक का फल छोटा होता है, जो कच्चा होने पर हरा और पकने पर पीला हो जाता है। दूसरे का फल बड़ा होता है, जो पकने पर भी हरा ही रहता है। यहाँ पर कपास की अच्छी फसल होती है और सोना भी मिलता है।......मथुरा राज्य के निवासी विनम्र और संतोषी हैं। धार्मिक और तात्विक अध्ययन करना उन्हें अधिक पसंद है। वे सदाचार और विद्या को विशेष महत्व देते हैं[3] ।

हुएनसांग के विवरण में मथुरा के संबंध में जो विशेष बातें हैं, वे प्रायः आजकल यहाँ दिखलाई नहीं देती हैं। वर्तमान मथुरा की भूमि अधिक उर्वरा नहीं है, इसलिए यहाँ पर अन्न की पैदावार दूसरे अन्न क्षेत्रों की तुलना में कम ही होती है। यहाँ पर आमों के जंगल तो क्या, वृक्ष भी अधिक संख्या में नहीं हैं। कपास की अच्छी फसल भी यहाँ नहीं होती है और सोने के तो यहाँ दर्शन भी दुर्लभ हैं। ऐसी दशा में यह शंका होती है कि हुएनसांग ने मथुरा के नाम पर किसी अन्य स्थान का विवरण तो नहीं लिखा है ! किंतु उक्त शंका के समाधान के लिए श्री ग्राउस का मत है—"मथुरा राज्य का विस्तार हुएनसांग के समय में पूर्व में मैनपुरी ज़िला कीं ओर रहा होगा, क्यों कि वहीं पर आमों की अच्छी फसल होती है। उस समय मथुरा राज्य में वर्तमान ज़िले के पूवी अर्ध भाग के साथ आगरा का कुछ भाग तथा शिकोहाबाद, मुस्तफाबाद और मैनपुरी जिले के कुछ परगने भी सम्मिलित होने की संभावना है[4] ।"

हुएनसांग के लिखे हुए मथुरा राज्य के विवरण से डा० रमाशंकर त्रिपाठी का मत है कि उस काल में मथुरा का राज्य हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत नहीं होगा[5] । हुएनसांग मथुरा में हर्ष के शासन के उत्तर काल में आया था। यह समझा जा सकता है, उस समय मथुरा के शासक ने स्वतंत्रता की घोषणा कर अपना प्रथक राज्य बना लिया हो, जैसा कि हर्ष के बाद उसके विशाल साम्राज्य के अन्य भागों में हुआ था। हर्ष की मृत्यु होते ही उसका साम्राज्य निश्चय ही छिन्न-भिन्न हो गया था और उसके कई भाग स्वतंत्र राज्य बन गये थे; किंतु उसके जीवन–काल में इस प्रकार के विघटन होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

---

(१) ऐंश्येंट ज्यागरफ़ी आफ इंडिया, पृष्ठ ४२७–४२८

(२) ,, वही ,, , पृष्ठ ७०६

(३) हुएनसांग्स ट्रेवल्स इन इंडिया, (जिल्द १, पृष्ठ ३०१–११)

(४) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमायर, (तृतीय संस्करण,) पृष्ठ ४

(५) हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृष्ठ ११९

२. हर्षोत्तर काल

[विक्रम सं० ७०४ से सं० ८१० तक]

युगांतरकारी घटनाएँ—हर्षबर्धन की मृत्यु के उपरांत इस देश में ऐसी अनेक अभूत-पूर्व युगांतरकारी घटनाएँ हुईं, जिन्होंने यहाँ के इतिहास को नया मोड़ दिया था। हर्ष का विशाल साम्राज्य छिन्न–भिन्न होकर अनेक छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। फिर शताब्दियों तक कोई ऐसा प्रभावशाली सम्राट नहीं हुआ, जो हर्ष की तरह इस देश को एकता के सूत्र में बाँध कर यहाँ व्यापक रूप से शांति और व्यवस्था क़ायम करता। उस काल में यहाँ जो छोटे–बड़े अनेक राज्य बने थे, उनके राजागण अधिकतर राजपूत जातियों के थे। राजपूत जातियों का उदय और प्रसार उस काल की ऐसी महत्वपूर्ण घटना है, जिसने बाद में कई शताब्दियों तक इस देश की राजनैतिक स्थिति पर अपनी महत्ता की छाप लगाई थी। जिस बौद्ध धर्म ने विगत अनेक शताब्दियों से इस देश के सांस्कृतिक जीवन को समृद्धिशाली बनाते हुए विदेशों को भी अपना अमर संदेश दिया था और जो हर्ष के काल तक अपना गौरव बनाये हुए था, वह पतन के गर्त में गिर कर लुप्तप्राय हो गया। उस प्राचीन धर्म का अपने जन्म के देश में ही इस प्रकार समाप्त हो जाना उस काल की एक कल्पनातीत घटना है। उसी काल में भारत के सुदूर पश्चिम में इस्लाम के रूप में एक नई शक्ति का उदय और प्रसार हुआ था। उसने अन्य देशों के साथ ही साथ भारत में भी अपना विस्तार कर यहाँ के जन–जीवन को पूरी तरह झकझोर दिया था और इस देश की धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थिति को अद्भुत रीति से प्रभावित किया था। उन युगांतरकारी घटनाओं का इस काल पर और उसके बाद भी पूरा प्रभाव पड़ा था।

हर्ष के उत्तराधिकारी—हर्ष के कोई संतान नहीं थी और उसका कोई योग्य संबंधी भी नहीं था; अतः उसके उत्तराधिकार के लिए झगड़े होना स्वाभाविक था। उनके कारण ही हर्ष का विशाल साम्राज्य टुकड़े–टुकड़े होकर अनेक राज्यों में बँट गया था। उन राज्यों पर हर्ष के सरदार–सामंतों ने अधिकार कर अपना स्वतंत्र शासन चलाया था। मथुरा राज्य भी तब संभवतः स्वाधीन हो गया था। उसका राजा मथुरा के प्राचीन यादव या नाग वंश का था, अथवा कसी अन्य वंश का, इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

अर्जुन—हर्ष के पश्चात् कन्नौज के राजसिंहासन पर कौन आसीन हुआ और वह किस राजवंश का था, इसका प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं है। चीनी सूत्रों के अनुसार हर्ष का उत्तराधिकारी उसका मंत्री अर्जुन हुआ था; किंतु वह राज्य में शांति और व्यवस्था क़ायम करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। फलतः वह बहुत थोड़े काल तक ही राज्याधिकारी रहा था। उक्त चीनी उल्लेख इतना भ्रमात्मक है कि उसके आधार पर अर्जुन के अस्तित्व की बात संदिग्ध हो जाती है।

चीनी इतिहासकारों ने लिखा है, हर्ष के बाद उसके मंत्री अर्जुन ने राज्याधिकार ग्रहण किया था। उसके शासन–काल में चीन देश का एक राजदूत वाङ्–ह्यन्–त्से भारत आया था। अर्जुन ने उसके अंग-रक्षकों को मार कर उसे भगा दिया था। इस पर चीनी राजदूत ने तिब्बत और नेपाल से ८ हज़ार अश्वारोहियों की सेना लाकर अर्जुन को पराजित किया और उसे चीन सम्राट की अधीनता स्वीकार करने को विवश किया था। इस कपोलकल्पित उल्लेख में तथ्य

की बात यह है कि हुएनसांग के कारण तब भारत और चीन में राजदूतों का आवागमन होने लगा था। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् जो चीनी राजदूत भारत आया था, उसे यहाँ की राजनैतिक अशांति के कारण कुछ असुविधा हुई होगी। किंतु उसके अंग–रक्षकों को मार डालने तथा तिब्बत एवं नैपाल की मुट्ठी भर सेना द्वारा हर्ष के उत्तराधिकारी को पराजित कर उससे चीन की अधीनता स्वीकार कराने की बात सर्वथा मिथ्या और हास्यास्पद है।

यशोवर्मन—हर्ष की मृत्यु के प्रायः ५० वर्ष पश्चात् कन्नौज की राजगद्दी पर यशोवर्मन नामक एक योग्य राजा का अधिकार था। इसका उल्लेख यशोवर्मन के राजकवि वाक्पति कृत प्राकृत काव्य 'गौडवहो' में हुआ है। उक्त ग्रंथ में यशोवर्मन के अनेक विजय–अभियानों का कथन किया गया है; किंतु उसकी वंश-परंपरा पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया। ऐसा ज्ञात होता है, वह उस मौखरी राजवंश का था, जो हर्ष से पहिले कन्नौज राज्य का स्वामी था। यशोवर्मन ने आठवीं शताब्दी के प्रायः मध्य से अंत तक शासन किया था। इस प्रकार वह कन्नौज की गद्दी पर प्रायः सं० ८०० वि० तक आसीन था। उसका राज्याधिकार अंतर्वेद के बड़े भू–भाग पर था, जिसमें संभवतः मथुरा राज्य भी सम्मिलित था। वह एक शक्तिशाली और विद्या-प्रेमी राजा था। उसके दरबार में अनेक कवि और विद्वान थे। प्राकृत कवि वाक्पति के अतिरिक्त संस्कृत का सुप्रसिद्ध कवि भवभूति भी उसके आश्रय में था। कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' से ज्ञात होता है, यशोवर्मन के शासन के अंतिम काल में कश्मीर के विख्यात शासक ललितादित्य ने कन्नौज राज्य पर आक्रमण किया था, जिसमें यशोवर्मन की पराजय हुई थी। फलतः कुछ काल के लिए मथुरा सहित कन्नौज राज्य पर ललितादित्य का अधिकार हो गया था। इस प्रकार हर्ष की मृत्यु के काफ़ी समय बाद तक मथुरा राज्य की स्थिति अनिश्चित और डाँवाडोल रही थी।

३. राजपूत काल

[विक्रम सं० ८१० से सं० १२६३ तक]

राजपूत जातियाँ और उनके राज्य—

राजपूतों की विभिन्न जातियाँ—प्राचीनतम काल में आर्यों में केवल चार वर्ण थे, जिनके अंतर्गत बाद में अनेक जातियाँ बन गई थीं। क्षत्रिय वर्ण की अनेक जातियों को तथा उनमें मिश्रित कई देशी–विदेशी जातियों को कालांतर में 'राजपूत' कहा जाने लगा था। कवि चंद वरदायी के कथनानुसार राजपूतों की ३६ जातियाँ थीं। प्राचीन काल में क्षत्रिय वर्ण के अंतर्गत सूर्य वंश और चंद्र वंश के राजघरानों का बड़ा विस्तार हुआ था। जब उन वंशों की जातियाँ बनीं, तब सूर्यवंशी राजपूतों में गुहिल (गहिलोत या शीशोदिया), कछवाहा और राठौड़ तथा चंद्रवंशी राजपूतों में यादव (जादों), भाटी और तँवर (तोमर) जातियाँ अधिक प्रसिद्ध हुईं थीं। उनके अतिरिक्त अग्निवंशी राजपूत जातियाँ भी थीं, जो अपेक्षाकृत बाद में बनी थीं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार अग्निवंशीय राजपूतों की उत्पत्ति ऋषियों के अग्निकुंड से हुई थी। उसका यह अभिप्राय मालूम होता है कि जो देशी–विदेशी जातियाँ क्षत्रिय वर्ण स्वीकार कर क्षत्रिय जातियों में मिल गई थीं, उन्हें ऋषि–मुनियों ने अग्नि–होम द्वारा शुद्ध कर क्षत्रित्व की मान्यता प्रदान की थी। अग्निवंशियों में चौहान (चाहमान), पँवार (प्रमार या परमार), सोलंकी (चालुक्य) और पड़िहार (प्रतिहार) नामक राजपूत जातियों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी।

राजपूतों के विविध राज्य—जिन राजपूत जातियों ने उस काल में तथा उसके बाद अपने राज्यों की स्थापना कर उनका योग्यता पूर्वक संचालन किया था, उनमें गुर्जर-प्रतिहार, गहिलोत, चालुक्य, राष्ट्रकूट, परमार, चंदेल, चौहान और तोमर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमें गुर्जर–प्रतिहारों का शासन मारवाड़ में, गहिलोतों का मेवाड़ में, चालुक्यों का गुजरात में, राष्ट्रकूटों का विन्ध्याचल के दक्षिण में, परमारों का मालवा में, चंदेलों का बुंदेलखंड में, चौहानों का पूर्वी राजस्थान में और तोमरों का हरियाना प्रदेश में था। उनके अतिरिक्त अन्य जातियों के भी अनेक राज्य थे, जिनमें पाल वंशियों का बंगाल में प्रसिद्ध राज्य था। उन सभी राज्यों के राजागण एक दूसरे के क्षेत्र को हथियाने के लिए आपस में युद्ध कर देश की शांति और व्यवस्था को भंग किया करते थे। उनमें कोई ऐसा प्रभावशाली और सूझ–बूझ का राजा नहीं हुआ, जो विविध राज्यों को संगठित कर देश की एकता को सुदृढ़ करता। उस काल में देश की पश्चिमी सीमा पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे; किंतु वे भविष्यत् संकट की ओर से बिलकुल बेखबर थे। उनका लक्ष अधिकतर कन्नौज राज्य पर अधिकार करना होता था। यद्यपि हर्ष जैसे किसी यशस्वी सम्राट की राजधानी न होने से कन्नौज का पहिले जैसा गौरव नहीं रहा था; तथापि देश के हृदय–स्थल अंतर्वेद में स्थित होने के कारण उस काल में भी उसका राजनैतिक और सांस्कृतिक महत्व कम नहीं माना जाता था। मथुरा राज्य भी उस काल में प्रायः कन्नौज राज्य से संबद्ध रहा था, अतः उसके कुछ तत्कालीन राजाओं का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा—सम्राट हर्ष के शासन काल में प्रतिहार वंश का एक राज्य दक्षिणी बुंदेलखंड में था और वहाँ के शासक हर्ष के मांडलिक थे। उनका राज्याधिकार वहाँ चंदेलों से पहिले रहा था[१]। हर्ष की मृत्यु के प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् नवमी शताब्दी के मध्य काल में प्रतिहार वंश के राजाओं ने कन्नौज राज्य पर अधिकार कर लिया था, जो प्रायः दो शताब्दी तक रहा था। उस काल में मथुरा राज्य भी प्रायः उन्हीं के शासन में था। उस वंश में कई शक्तिशाली राजा हुए, जिन्होंने उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर अपना अनुशासन रखा था। उस काल में बंगाल में पालवंशियों और विन्ध्याचल के दक्षिण में राष्ट्रकूटों के प्रसिद्ध राज्य थे। उनके राजागण कन्नौज राज्य पर अधिकार करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे, अतः प्रतिहार राजाओं को उनसे निरंतर संघर्ष करना पड़ता था। उस वंश के राजाओं में नागभट्ट, मिहिरभोज, महेन्द्रपाल और महिपाल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नागभट्ट—(सं० ८६७–८८७)—वह कन्नौज राज्य पर शासन करने वाले प्रतिहार वंश का राजा था। वह बड़ा प्रतापी और यशस्वी नरेश था। उसका अधिकार उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर हो गया था, जिसमें मथुरा राज्य भी सम्मिलित था। उसके राज्य के पूर्व में पाल वंशियों और दक्षिण में राष्ट्रकूटों के शक्तिशाली राज्य थे। उनके राजाओं ने नागभट्ट के अधिकार को चुनौती दी थी। नागभट्ट ने पाल वंश के प्रसिद्ध राजा धर्मपाल को तो पराजित कर दिया; किंतु राष्ट्रकूट राजा गोविंदचंद्र (तृतीय) से उसे हारना पड़ा था। उसके फल स्वरूप कुछ काल तक उसका कन्नौज पर प्रभुत्व नहीं रहा था। बाद में प्रतिहारों ने पुनः कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। नागभट्ट का पुत्र रामभद्र सं० ८९० में कन्नौज की गद्दी पर आसीन था।

---

(१) **बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास**, पृष्ठ २७ और ४१

मिहिरभोज—(सं० ८९३–९२४)—वह नागभट्ट का पौत्र और रामभद्र का पुत्र था, जो प्रतिहार वंश का बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ था। उसके काल में भी पाल और राष्ट्रकूट वंश के राजाओं के साथ संघर्ष होता रहा; किंतु उसने उन दोनों को पराजित कर दिया था। उसका शासन अंतर्वेद के साथ ही साथ मालवा और पंजाब पर भी था। मथुरा राज्य भी उसके अनुशासन में था।

महेन्द्रपाल—(सं० ९२४–९६७)—उसने प्रतिहार राज्य की सीमाओं को और भी बढ़ा कर उत्तरी बंगाल को भी अपने अधिकार में कर लिया था। उसके बाद उसका पुत्र भोज (द्वितीय) कन्नौज का राजा हुआ, जिसने २–३ वर्ष तक राज्य किया था।

महिपाल—(सं० ९६९–१०००) वह महेन्द्रपाल का द्वितीय पुत्र था। उसके शासन काल में प्रतिहार राज्य का अधिकार और गौरव बहुत बढ़ गया था। उसके समकालीन संस्कृतज्ञ विद्वान राजशेखर ने उसकी विजय गाथाओं का कथन करते हुए उसे 'आर्यवर्त का महाराजाधिराज' लिखा है। उसके राज्य की सीमाएँ पश्चिम में सिंध प्रदेश के कुछ भाग से लेकर पूर्व में बंगाल तक थीं और उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में राष्ट्रकूट राज्य से मिलती थीं। इस प्रकार प्रायः समस्त उत्तर भारत उसके अनुशासन में था। उस काल में भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर भाग में मुसलमानों की नई शक्ति का उदय हुआ था। भारत की पश्चिमी सीमा के सिंध प्रदेश पर तो अरब के मुसलमानों ने प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहिले ही अधिकार कर लिया था; किंतु उस काल में उत्तर–पश्चिमी भाग पर भी उनका संकट बढ़ गया था। महिपाल को अपने विशाल राज्य की रक्षा के लिए बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ी थी। उस काल में भारत आने वाले मुसलमान यात्री अल–मसूदी ने लिखा है कि महिपाल की सेना में नौ लाख सैनिक तथा हज़ारों घोड़े और ऊँट थे।

प्रतिहार राज्य का ह्रास और अंत—महिपाल के लंबे शासन के अंतिम काल में उसका प्रभाव और अनुशासन कम हो गया था। उसी समय राष्ट्रकूटों ने उसके राज्य पर एक बहुत बड़ा आक्रमण किया, जिससे कन्नौज नगर को बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी और प्रतिहार राज्य का एक बड़ा भाग राष्ट्रकूटों के अधिकार में चला गया। महिपाल के पश्चात् जो प्रतिहार राजा हुए, वे अपने राज्य का ह्रास रोकने में असमर्थ सिद्ध हुए थे। उनके काल में अनेक सरदार–सामंतों ने स्वतंत्र होकर स्वाधीन राज्य क़ायम कर लिये थे। इस प्रकार क्रमशः घटते–घटते कालांतर में प्रतिहार राज्य का अंत हो गया। उस काल में जो अनेक छोटे राज्य क़ायम हुए थे, वे भी आपस में लड़ते रहे थे। इससे देश में बड़ी अव्यवस्था फैल गई और पश्चिमोत्तर सीमा की ओर से आने वाले मुसलमान आक्रमणकारियों को यहाँ लूट-मार करने का अवसर मिल गया।

मथुरा राज्य की तत्कालीन स्थिति—राजपूत काल में मथुरा राज्य की क्या स्थिति रही थी, उसका क्रमबद्ध प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। नाग राजाओं के पश्चात् मथुरा राज्य को स्वाधीन रहने का बहुत कम अवसर मिला था। मथुरा के प्राचीन यादव वंशियों ने भी यहाँ से हट कर अन्य स्थानों में अपने राज्य क़ायम कर लिये थे। उस काल में कन्नौज राज्य पर जिस राजा का अधिकार होता, मथुरा राज्य भी प्रायः उसी के शासन में रहा करता था। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से तब मथुरा राज्य का कोई महत्व नहीं रहा था; किंतु धार्मिक दृष्टि से उसकी महत्ता और भी बढ़ गई थी। इस देश का प्रभावशाली बौद्ध धर्म हर्षबर्धन के पश्चात्

प्रभावहीन ही नहीं हुआ, वरन् समाप्तप्राय ही हो गया था । उसके स्थान पर पौराणिक (हिंदू) धर्म अपनी कई शाखा–प्रशाखाओं के साथ बड़े विशद रूप में फैल गया था । मथुरा इस धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था । यहाँ पर इस धर्म की विभिन्न शाखाओं के अनेक मंदिर–देवालय बन गये थे, जिनके प्रति उस काल के सभी राजाओं की बड़ी श्रद्धा थी । विविध राजाओं की अधिकार–लिप्सा के कारण उस काल में कन्नौज राज्य निरंतर लड़ाई–झगड़े, लूट–मार और राज्य परिवर्तन के कष्ट उठाता रहा; किंतु मथुरा राज्य उनसे प्रायः अछूता रहा था । वे राजागण मथुरा को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाने के बजाय यहाँ के मंदिर–देवालयों को प्रभूत संपत्ति अर्पित कर राज्य की वैभव–वृद्धि करने में सहायक होते थे ! जिन राष्ट्रकूट राजाओं ने कन्नौज के प्रतिहार राजाओं से निरंतर संघर्ष करते हुए उनके विशाल राज्य को भारी क्षति पहुँचाई थी, उन्होंने भी मथुरा के धार्मिक महत्व को स्वीकार किया था । श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने नवम शताब्दी का एक ऐसा लेख बतलाया है, जिससे 'राष्ट्रकूटों के उत्तर भारत आने तथा मथुरा के श्री कृष्ण–जन्मस्थान पर धार्मिक कार्य करने का पता चलता है[१] ।' मथुरा की उस धार्मिक महत्ता के कारण यहाँ के मंदिर–देवालयों में इतनी संपत्ति संचित हो गई थी और यहाँ के निवासी इतने समृद्ध हो गये थे कि विगत काल में हूणों द्वारा की हुई भीषण लूट–मार की बात एक कहानी सी जान पड़ती थी ! उस समय के मथुरा नगर की समृद्धि को देख कर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि हूणों ने कभी यहाँ के सर्वस्व का अपहरण किया था । मथुरा की वह धार्मिक महत्ता और उसकी समृद्धि ही मुसलमानों के आक्रमण काल में उसके सर्वनाश का कारण हुई थी ।

मुसलमानी आक्रमण—

इस्लाम का उदय और प्रसार—जिस समय भारतवर्ष में हर्षवर्धन का राज्य था, उस समय अरब देश में इस्लाम के रूप में एक नये धर्म का उदय हुआ था । उसके अनुयायी मुसलमान कहलाते हैं । इस्लाम के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद थे और उनके उत्तराधिकारियों को ख़लीफ़ा कहा गया है । ख़लीफ़ा इस्लाम के सबसे बड़े धर्म–गुरु तथा मुसलमानों के सबसे बड़े धार्मिक और राजनैतिक नेता थे । इस्लाम का उदय एक धर्म के साथ ही साथ राजनैतिक शक्ति के रूप में हुआ था और ख़लीफ़ाओं ने उसी दृष्टिकोण से इसके प्रसार का आयोजन किया था । उनके आदेशानुसार अरब के मुसलमान बड़े मज़हबी जोश से निकल पड़े और उन्होंने संसार के विभिन्न देशों पर आक्रमण कर वहाँ बलपूर्वक इस्लाम का प्रचार किया । उसके लिए उन्होंने उन देशों की मूल संस्कृति और वहाँ के धर्मों को बलात् समाप्त करने की पूरी चेष्टा की थी । इस प्रकार थोड़े ही समय में पश्चिमी एशिया, दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के विभिन्न देशों में इस्लामी धर्म और संस्कृति का प्रसार हो गया था ।

सिंध पर आक्रमण—भारत में इस्लाम के प्रचारार्थ मुसलमानों ने सबसे पहिले सिंध प्रदेश पर आक्रमण किया था । सिंध भारत की पश्चिमी सीमा का एक ऐसा प्रदेश था, जो राजस्थान के विस्तृत मरुस्थल के पार होने के कारण देश के अन्य भागों से कटा–छटा सा था और वहाँ बहुत कम जन–संख्या थी । फिर भी वहाँ के राजा ने उनका वीरता पूर्वक सामना

---

(१) **ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ १२९**

किया और उनके आक्रमण को कई बार विफल कर दिया। अंत में मुसलमानों की जोशीली और बहुसंख्यक सेना से सिंध के तत्कालीन राजा दाहर की अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक सेना को पराजित होना पड़ा। फलतः सिंध और मुलतान पर ख़लीफ़ा का अधिकार हो गया। आक्रमणकारियों ने वहाँ के निवासियों को बलात् मुसलमान बनाने की चेष्टा की और उनकी धन-संपत्ति को लूट लिया। इस प्रकार सिंध प्रदेश मुसलमानों के आक्रमण का प्रथम शिकार हुआ। सिंध का तत्कालीन राजा दाहर कन्नौज के राजा यशोवर्मन का समकालीन था।

सिंध के बाद मुसलमानों ने भारत में आगे बढ़ने की बहुत चेष्टा की; किंतु राजस्थान के गुर्जर–प्रतिहार राजाओं ने उनके आक्रमणों को विफल कर दिया था। सिंध और मुलतान पर अरबी मुसलमानों का शासन प्रायः १५० वर्ष तक रहा था; किंतु वे चेष्टा करने पर भी इस देश के किसी अन्य भाग पर अधिकार नहीं कर सके थे। अंत में भारत का वह भाग भी अरबों की पराधीनता से मुक्त हो गया था। सिंध की पराजय का प्रभाव भारत के अन्य भागों पर कुछ भी नहीं पड़ा था; अतः उस काल के भारतीय राजा विदेशी आक्रमण के उस संकट की गुरुता को नहीं समझ सके। वे उसकी ओर से बेफिक्र होकर आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहे थे!

पश्चिमोत्तर सीमांत से आक्रमण—जब पश्चिमी सीमा की ओर से भारत के आंतरिक भाग में पहुँचना संभव ज्ञात नहीं हुआ, तब मुसलमानों ने पश्चिमोत्तर सीमांत से आक्रमण करना आरंभ किया। उधर से आक्रमण करने वाले वे तुर्क जाति के लोग थे, जो कुछ समय पहिले मुसलमान हो गये थे। उनके एक नेता सुबुक्तगीन ने अफगानिस्तान के ग़ज़नी नगर पर अधिकार कर लिया था। उसके बाद वह भारत पर आक्रमण करने का आयोजन करने लगा; किंतु वहाँ के 'हिंदू शाही' राजाओं ने उसके उद्देश्य को सफल नहीं होने दिया था।

'हिंदू शाही' राजाओं की वंश–परंपरा और उनका मुसलमानों से संघर्ष—मुसलमानों के आरंभिक आक्रमणों को रोकने में भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा के 'हिंदू शाही' राजाओं ने बड़ा संघर्ष किया था। उनके राज्य की सीमाएँ चिनाब नदी से हिंदूकुश पर्वत तक थीं। इस प्रकार पश्चिमी पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश और काबुल सहित अफगानिस्तान पर उनका अधिकार था। उनके राज्य की स्थिति ऐसी थी कि पश्चिमोत्तर से भारत पर आक्रमण करने वालों का प्रथम प्रहार उन्हीं को सहन करना पड़ता था। जब से मुसलमानों का सिंध राज्य पर आक्रमण हुआ, तब से महमूद ग़ज़नबी के काल तक वह 'हिंदू शाही' राज्य अकेला ही मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना करता रहा था। इस प्रकार उसने प्रायः तीन सौ वर्ष तक मुसलमानों को भारत में प्रवेश नहीं करने दिया था। इतिहासकारों ने 'हिंदू शाही' राजाओं के प्रतिरोध को तो बड़ा महत्व दिया है; किंतु वे उनकी वंश–परंपरा पर प्रकाश डालने में असमर्थ रहे हैं। वे राजागण किस वर्ण अथवा जाति के थे और उनका उस प्रदेश में कब से निवास था, इसका प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है।

राजस्थान के जैसलमेर राज्य के विगत भाटी राजाओं की वंश–परंपरा का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि वे श्री कृष्ण की वंश–परंपरा में उन यादवों के वंशज थे, जो शूरसेन राज्य से इधर आ बसे थे। उसी प्रसंग में यह भी बतलाया गया है कि उनमें से बहुत से यदुवंशी भारत के पश्चिमोत्तर भाग में जाकर बस गये थे और वहाँ उन्होंने अपने राज्य क़ायम किये थे।

श्री कृष्ण की १२ वीं पीढ़ी में गज नामक एक राजा हुआ, जिसने खैबर घाटी के पार एक गढ़ बनवाया था, जो उसके नाम से 'गजनी' कहलाता है। राजा गज की नवीं पीढ़ी में राजा मर्यादपति हुआ, जिसने गजनी से लेकर पंजाब तक शासन किया था। मुसलमानों के आक्रमण काल में उसकी वंश-परंपरा के यदुवंशियों ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बड़ा संघर्ष किया था; किंतु उनमें से बहुतों को बलात् मुसलमान बना लिया गया था। वहाँ रहने वाले चगताई, बलोच और पठान उन्हीं यदुवंशियों की संतान हैं[1]। इस उल्लेख से समझा जा सकता है कि 'हिंदू शाही' राजा भी उन यदुवंशियों की परंपरा में ही होंगे। इस प्रकार उनका श्री कृष्ण के वंशज होने के कारण मथुरा के प्राचीन यादव राजाओं से पारिवारिक संबंध जुड़ जाता है। हमने गत पृष्ठों में यदुवंशियों के राज्य का विस्तार बतलाते हुए उनके पश्चिम, दक्षिण–पश्चिम और दक्षिण-वर्ती फैलाव का उल्लेख किया है[2]। यहाँ उनके उत्तर–पश्चिमी राज्यों में से एक 'हिंदू शाही' राज्य की संभावना भी व्यक्त की गई है।

'हिंदू शाही' राजाओं की पराजय और आक्रमणकारियों का भारत प्रवेश—ग़ज़नी के मुसलमान शासक सुबुक्तगीन के काल में 'हिंदू शाही' वंश के राजा का नाम जयपाल था। उसका सुबुक्तगीन से कई बार संघर्ष हुआ था। सुबुक्तगीन का पुत्र महमूद जब गजनी का शासक हुआ, तब उसने एक विशाल सेना के साथ जयपाल पर आक्रमण किया। सं० १०५८ (२७ नवंबर सन् १००१) में दोनों का भीषण संग्राम हुआ, जिसमें जयपाल को पराजित होना पड़ा। उस अपमान से दुखित होकर वह जीते जी चिता पर बैठ गया और उसने अपने जीवन का अंत कर दिया ! जयपाल के पुत्र आनंदपाल और उसके वंशज त्रिलोचनपाल तथा भीमपाल ने भी महमूद से कई युद्ध हुए थे, जिनमें उनकी पराजय हुई थी। सं० १०७१ में हिंदू शाही राजाओं का परंपरागत राज्य समाप्तप्राय हो गया और तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा भारत में प्रवेश करने का मार्ग साफ़ हो गया। डा० आशीर्वादीलाल ने लिखा है, 'हिंदू शाही' राज्य एक बाँध की भाँति तुर्की आक्रमणों की बाढ़ को रोके हुए था। उसके टूट जाने से समस्त उत्तरी भारत मुसलमानी आक्रमणों की बाढ़ में डूब गया[3]। महमूद ग़ज़नबी पहिला मुसलमान आक्रमणकारी था, जिसने सर्व प्रथम भारत के आंतरिक भाग में दूर-दूर तक जा कर भीषण लूट-मार की थी।

महमूद ग़ज़नबी—महमूद यमीनी वंश का तुर्क सरदार था और वह गजनी के शासक सुबुक्तगीन का पुत्र था। उसका जन्म सं० १०२८ वि० में हुआ और २७ वर्ष की आयु होने पर सं० १०५५ में उसने राज्याधिकार प्राप्त किया था। वह बचपन से ही अपने देश के व्यापारियों द्वारा भारतवर्ष की अपार समृद्धि और धन–दौलत के विषय में सुनता रहा था। उसके पिता ने एक बार 'हिंदू शाही' राजा जयपाल के राज्य को लूट कर प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त की थी; अतः महमूद भी भारत की दौलत को लूट कर मालामाल होने का स्वप्न देखा करता था। अपने मज़हबी जोश के कारण वह भारत के विरुद्ध 'जिहाद' (धर्म युद्ध) छेड़ कर वहाँ के लोगों को

---

(१) इतिहास राजस्थान, पृष्ठ २२८–२२९

(२) इस ग्रंथ का पृष्ठ ५५ देखिये।

(३) दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ ५२

मुसलमान बनाने के लिए भी बड़ा लालायित था। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस काल की प्रथा के अनुसार उसने बग़दाद के खलीफ़ा से मान्यता प्राप्त की और भारत पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा। वह इस देश में दूर-दूर तक धावा मार कर लूट–मार करने वाला पहिला मुसलमान शासक था। उसने १७ बार भारत पर आक्रमण किया था और यहाँ की अपार सम्पत्ति को वह लूट कर गज़नी ले गया था। उसके आक्रमण और लूट–मार के काले कारनामों से तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रंथों के पन्ने भरे पड़े हैं।

गज़नवी आक्रमणों के लेखक और उनके ग्रंथ—महमूद गज़नवी के आक्रमणों का वर्णन उसके समकालीन अलउत्वी और अलबेरुनी ने तथा उसके परवर्ती मिन्हा जुस्सिराज और मुहम्मद कासिम फरिश्ता आदि लेखकों ने अपने–अपने ग्रंथों में किया है। उनका वर्णन पक्षपातपूर्ण है और उन्होंने भारतीयों की दुर्बलता तथा मुसलमान आक्रमणकारियों की वीरता का अतिशयोक्ति-पूर्ण कथन किया है। किंतु उस काल के अन्य प्रामाणिक विवरण न मिलने से सभी इतिहासकारों ने उन्हीं का आधार लिया है। फिर भी विवेक बुद्धि से उनके कथनों पर विचार करने से सत्यासत्य का निर्णय किया जा सकता है।

महमूद अलउत्वी—वह महमूद गज़नवी का सचिव था, यद्यपि उसके आक्रमणों में वह साथ नहीं रहा था। उसने सुबुक्तगीन तथा महमूद के शासन-काल का सं० १०७७ तक का इतिहास अरबी भाषा में अपने ग्रंथ 'किताब–उल–यमीनी' में लिखा है। इस ग्रंथ में महमूद के सं० १०७७ तक के आक्रमणों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

बुरिहां अलबेरुनी—वह ज्योतिष तथा अन्य विषयों का एक विद्वान मुसलमान था, जो महमूद गज़नवी के काल में भारत आया और यहाँ कई वर्ष तक रहा था। उसने यहाँ रह कर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया और हिंदुओं के आचार–विचारों को समझने की चेष्टा की। उसने सं० १०८८ के लगभग अपना 'तारीख–उल–हिंद' नामक एक बड़ा ग्रंथ अरबी भाषा में लिखा था। डा० एडवर्ड साचू (Dr. Edward Sachu) ने उस ग्रंथ का अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया है।

मिन्हा जुस्सिराज—उसने विविध हिंदू राज्यों पर मुसलमानों के आक्रमणों का वर्णन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'तबकाते नासिरी' में किया है, जिसकी रचना सं० १३१६ में हुई थी। उसका अंगरेजी अनुवाद रावर्टी (Raverty) ने किया था और यह जो बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की 'बिब्लिग्राथिका इंडिका' नामक ग्रंथमाला में प्रकाशित हुआ है।

महम्मद कासिम हिंदूशाह—उसका उपनाम 'फरिश्ता' था। वह मुगल सम्राट अकबर के काल में विद्यमान था। उसने बीजापुर में रह कर मुसलमानों के इतिहास का गहन अध्ययन किया था। फारसी भाषा में लिखा हुआ 'तारीखे फरिश्ता' उसका प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसमें सं० १६६६ तक के भारतीय मुसलमान शासकों तथा उनके द्वारा विभिन्न हिंदू राज्यों को नष्ट किये जाने का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस ग्रंथ के दो अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें एक जान ब्रिग्ज़ (John Briggs) का है, जिसे उसने अपने अंगरेजी ग्रंथ 'हिस्ट्री आफ दी राइज़ आफ दि मुहम्मडन पावर' (जिल्द २) में मूल फारसी ग्रंथ से अनुवादित किया है।

ग़जनबी के आक्रमण—महमूद ग़ज़नबी ने १७ बार भारत पर आक्रमण किया था। उसके आरंभिक कई आक्रमण तो 'हिंदू शाही' वंश के राजाओं के विरुद्ध ही हुए थे। उस वंश के जयपाल और उसके पुत्र आनंदपाल ने पर्याप्त हानि उठा कर भी महमूद को पंजाब से आगे नहीं बढ़ने दिया; किंतु अंत में उन्हें पराजित होना पड़ा। इस प्रकार भारत में आगे बढ़ने के लिए महमूद को खुला मार्ग मिल गया और बाद के आक्रमणों में उसने मुलतान, लाहौर, नगरकोट और थानेश्वर तक का विशाल भू-भाग रोंध डाला था! उन आक्रमणों में उसने खूब मार-काट और लूट-खसोंट की थी तथा भारतीयों को बलात् मुसलमान बनाया था। उसका नवाँ (कुछ लेखकों के मतानुसार बारहवाँ) आक्रमण सं० १०७४ में कन्नौज के विरुद्ध हुआ था। उसी अवसर पर उसने मथुरा पर भी आक्रमण कर उसे बुरी तरह लूटा था।

मथुरा की लूट का अभियान और महाबन का युद्ध—मथुरा नगर को लूटने से पहिले महमूद गज़नबी को यहाँ एक भीषण युद्ध करना पड़ा था। वह युद्ध मथुरा के निकटवर्ती महाबन में वहाँ के शासक कूलचंद के साथ हुआ था। महमूद के सचिव अलउत्वी ने उसका विस्तृत वर्णन अपने ग्रंथ 'तारीखे यमीनी' में किया है। उसके बाद फरिश्ता और बदायूनी आदि दूसरे मुसलमान लेखकों ने भी उस पर प्रकाश डाला है। उत्वी ने महमूद की उस लूट और उसके युद्ध का वर्णन करते हुए मथुरा या महावन का स्पष्ट रूप से नामोल्लेख नहीं किया; किंतु उक्त विवरण की सूचनाओं के अनुसार परवर्ती लेखकों ने उन्हें मथुरा और महाबन से ही संबंधित माना है।

फरिश्ता ने लिखा है—"सं० १०७४ (सन् १०१७) के बसंत में महमूद ने विशाल सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया था। उसका इस बार का लक्ष कन्नौज था। वहाँ के राजा कुँवरराज (राज्यपाल) को पराजित कर वह मेरठ गया और वहाँ के शासक हरिदत्त को भी उसने हरा दिया। फिर उसने महावन के दुर्ग पर आक्रमण किया था। महाबन के शासक कूलचंद ने उसका कड़ा मुकाबला किया था; किंतु उसे पराजित होना पड़ा। महाबन के दुर्ग पर महमूद का अधिकार हो गया। उसके बाद उसने मथुरा पर आक्रमण कर उसे लूटा था।"

अलउत्वी के वर्णन को ग्राउस ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"राजा कूलचंद का दुर्ग महाबन में था। उसको अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था; क्यों कि तब तक कोई भी शत्रु उससे पराजित हुए विना नहीं रहा था। वह ऐसे विस्तृत राज्य, अपार वैभव, अगणित वीरों की सेना, विशाल हाथी और सुदृढ़ दुर्गों का स्वामी था, जिनकी ओर किसी को आँख उठा कर देखने का भी साहस नहीं होता था। जब उसे ज्ञात हुआ कि महमूद उस पर आक्रमण करने के लिए आ रहा है, तब वह अपने सैनिक और हाथियों के साथ उनका मुकाबला करने को तैयार हो गया। अत्यंत वीरता पूर्वक युद्ध करने पर भी जब महमूद के आक्रमण को विफल नहीं किया जा सका, तब उसके सैनिक गढ़ से निकल कर भागने लगे, ताकि वे यमुना नदी को पार कर अपनी जान बचा सकें। इस प्रकार प्रायः ५०००० (पचास हजार) व्यक्ति उस युद्ध में मारे गये, अथवा नदी में डूब गये! तब कूलचंद ने हताश होकर पहिले अपनी रानी को और फिर स्वयं अपने को भी तलवार से समाप्त कर दिया। उस अभियान में महमूद को लूट के अन्य सामान के अतिरिक्त १८५ सुंदर हाथी भी प्राप्त हुए थे[१]।"

---

(१) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमायर**, (तृ० सं०), पृष्ठ ३२

फरिश्ता ने भी उस युद्ध का उत्वी से मिलता हुआ वर्णन इस प्रकार किया है—

"मेरठ से आकर सुलतान ने महाबन के दुर्ग पर आक्रमण किया था। महाबन के शासक कूलचंद से उसका सामना हुआ। उस युद्ध में अधिकांश हिंदू सैनिक यमुना नदी में धकेल दिये गये थे। राजा ने निराश होकर अपने स्त्री–बच्चों का स्वयं बध किया और फिर अपना भी काम तमाम कर डाला। दुर्ग पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। महाबन की लूट में उसे प्रचुर धन–संपत्ति तथा ८० हाथी मिले थे[१]।"

मथुरा नगर की भीषण लूट—महाबन में लूट–मार कर और वहाँ के मंदिर-देवालयों को बर्बाद कर महमूद ने अपनी युद्धोन्मत्त विजय–वाहिनी के साथ यमुना नदी को पार किया और वह मथुरा के अरक्षित नगर पर चढ़ दौड़ा। नगर में प्रवेश करते ही वह वहाँ के भव्य भवन, सुंदर मंदिर–देवालय और उनके अपार वैभव को देख कर चकित रह गया। मथुरा के मंदिरों में और विशेष रूप से यहाँ के कृष्ण–जन्मस्थान वाले प्राचीन देवालय में सोने–चाँदी की अनेक देव–मूर्तियाँ जवाहरात के आभूषण धारण किये हुए विराजमान थीं। धर्मप्राण राजा-महाराजा और सेठ–साहूकारों द्वारा भेंट की हुई अपार धन–सम्पत्ति वहाँ कई शताब्दियों से संचित होती रही थी। उस 'कारूँ के ख़ज़ाने' को देख कर महमूद की ललचायी हुई आँखें खुली की खुली रह गईं! उसने अपने सैनिकों को वहाँ लूट–मार करने का आदेश दिया। अलउत्वी ने महमूद के उस आक्रमण का विशद वर्णन किया है। उसने लिखा है,—"नगर को यमुना की बाढ़ से बचाने के लिए उसके चारों ओर पक्की संगीन दीवार थी, जिसके दो द्वार नदी की ओर थे। नगर में दोनों बगल हज़ारों मकान और अनेक मंदिर बने हुए थे। वे सब अत्यंत मजबूत थे। उनके सन्मुख लकड़ी के खंभों की कुछ अन्य इमारतें भी थीं। महमूद ने आदेश दिया कि सब मंदिरों में आग लगा कर उन्हें धराशायी कर दिया जाय। उस समय बीस दिनों तक नगर की लूट होती रही थी। उस लूट में जो अपार सामग्री मिली, उसमें शुद्ध सोने की बनी हुई मूर्तियाँ थीं, जिनकी आँखों में लाल जड़े हुए थे और जो बहुमूल्य रत्नों के आभूषण पहिने हुए थीं। उनके अतिरिक्त बहुसंख्यक चाँदी की प्रतिमाएँ भी थीं। उन सबको ध्वंस करने के बाद जब लूट का सामान इकट्ठा किया गया, तब वह १०० से अधिक ऊँटों पर लादने लायक हो गया! लूटा हुआ सामान अनुमानतः ३० लाख के मूल्य का होगा। उसके अतिरिक्त महमूद ५००० हिंदुओं को गुलाम बना कर भी ले गया[२]।"

डा० आशीर्वादीलाल ने लिखा है,—"उत्वी के कथनानुसार उन मंदिरों में सोने की बहुमूल्य मूर्तियाँ थीं, उनमें ५ पाँच–पाँच हाथ ऊँची थीं और एक में ५० हज़ार दीनार के मूल्य की लाल मणि जड़ी हुई थी। एक अन्य मूर्ति में शुद्ध ठोस नीलम जड़ा हुआ था, जिसका मूल्य ४ सौ मिश्काल था। आक्रमणकारियों को अनेक मूर्तियों के नीचे गड़ा हुआ बहुत सा धन मिला। एक मूर्ति के चरणों के नीचे तो उसे ४ लाख स्वर्ण मिश्काल के मूल्य का कोष मिला था। अनेक

---

(१) **हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि महम्मडन पावर** (जान ब्रिग्ज़), जिल्द १, पृष्ठ ५७-५८

(२) **मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमाअर** (तृतीय संस्करण), पृष्ठ ३२–३३

मूर्तियाँ चाँदी की बनी होने के कारण बहुमूल्य थीं। महमूद ने समस्त नगर को धूल में मिला दिया और उसका कोना-कोना लूट लिया। वृंदाबन में भी बध, लूट, दाह, हत्या और बलात्कार का कांड हुआ[1]।"

कृष्ण–जन्मस्थान के मंदिर का ध्वंस—महमूद की उस विनाश लीला का सबसे दुःखदायी प्रसंग कृष्ण–जन्मस्थान के उस प्राचीन और भव्य मंदिर का ध्वंस किया जाना था, जो प्रायः छह शताब्दी पूर्व चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनवाया था। उस काल में वह मंदिर मथुरा नगर के मध्य में बना हुआ था और उसके चारों ओर सैकड़ों मंदिर देवालयों और भवनादि थे। अलउत्वी ने उस मंदिर के विषय में लिखा है,—"नगर के बीचों बीच एक मंदिर था, जो सभी इमारतों से अधिक विशाल और सुंदर था। उसका यथार्थ वर्णन करना किसी प्रकार संभव नहीं है। उसके बारे में वहाँ के निवासियों का ख्याल था कि उसे मनुष्यों ने नहीं देवताओं ने बनाया है। सुलतान ने उसके संबंध में स्वयं लिखा है—'यदि कोई व्यक्ति वैसी इमारत बनवाना चाहे, तो वह १० करोड़ दीनार खर्च कर दो सौ वर्षों में भी वैसी नहीं बना सकेगा और वह भी तब, जब उसके बनाने में बहुत होशियार और तजुर्वेकार कारीगर लगाये जावें[2]!" महमूद ने भारतीय स्थापत्य की उस अनुपम कला–कृति को नष्ट कर दिया और वहाँ की बहुमूल्य देव–मूर्तियों को तोड़ कर वह समस्त रत्न–राशि, सोना–चाँदी और क़ीमती सामान लूट कर ले गया।

महमूद ग़ज़नवी का मथुरा पर आक्रमण ऐसा संहारकारी और यहाँ की लूट ऐसी भयानक थी कि उन्होंने पिछली सभी दुःखांत घटनाओं को मात कर दिया था। प्रायः ५०० वर्ष पहिले हूणों ने मथुरा की बड़ी बर्बादी की थी; किंतु महमूद की विनाश–लीला उससे कहीं बढ़ कर थी। हूणों ने धन के लोभ से मथुरा में लूट–मार तो खूब की; किंतु उन्होंने यहाँ के विशाल मंदिर–देवालयों को नष्ट नहीं किया था; क्यों कि उन्हें उनसे कोई धार्मिक विद्वेष नहीं था। महमूद लालची होने के साथ ही साथ धर्मोन्मादी भी था। उसने लूट–मार के साथ ही साथ यहाँ के प्रायः सभी मंदिर–देवालयों को भी नष्ट कर दिया था। इस प्रकार हर्ष की मृत्यु के ३७० वर्ष बाद मथुरा:राज्य के सांस्कृतिक इतिहास की वह सबसे बड़ी दुःखांत घटना थी।

कुलचंद्र—मथुरा में लूट–मार करने से पहिले महमूद ग़ज़नबी को एक वीर सेनानायक से भीषण युद्ध करना पड़ा था। अलउत्वी ने उसका नाम कूलचंद (कुलचंद्र) लिखा है और उसके सुदृढ़ दुर्ग, मंदिर–भवनादि तथा उसकी विशाल सेना का आश्चर्यजनक वर्णन किया है। अकबर कालीन इतिहासज्ञ बदायूनी के उल्लेख में उस वीर योद्धा का नाम गोविंदचंद्र मिलता है[3]; किंतु वह ठीक नहीं मालूम होता। उस काल के लगभग गोविंदचंद्र नाम के दो प्रसिद्ध राजा हुए थे। एक गोविंदचंद्र राष्ट्रकूट राजा था, जिसका समय महमूद के आक्रमण से प्रायः दो सौ वर्ष पहिले का है। दूसरा गोविंदचंद्र कन्नौज का गाहड़वालवंशी राजा था, जिसके विशाल राज्य में

---

(१) **दिल्ली सल्तनत** (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ५३

(२) **मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमाअर** (तृतीय संस्करण), पृष्ठ ३२–३३

(३) **मुंतखबुत्तवारीख,** पृष्ठ २४–२५

मथुरा भी सम्मिलित था; किंतु उसका समय महमूद के आक्रमण से प्राय: सौ वर्ष बाद का है। ऐसी दशा में अलउत्वी के कथन को मान्यता देते हुए महमूद से युद्ध करने वाले उस वीर सेनानायक का नाम कुलचंद्र मानना ही उचित होगा।

वह कुलचंद्र नामक योद्धा मथुरा राज्य का कोई स्वाधीन राजा था अथवा किसी दूसरे राजा की ओर से यहाँ का रक्षक सेनापति अथवा सरदार–सामंत था, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यदि वह यहाँ का स्वाधीन राजा था, तब वह किस वंश का था और उस वंश का मथुरा राज्य पर कब से अधिकार रहा था तथा उसके राज्य की सीमाएँ कहाँ से कहाँ तक थीं; उसकी वंश–परंपरा से संबंधित सिक्के, ताम्रपत्र, अभिलेख आदि कोई पुरातत्विक सामग्री क्यों नहीं मिलती — इन प्रश्नों का उत्तर देने वाला कोई प्रामाणिक साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। ऐसा जान पड़ता है, मुसलमानी शासन काल में यहाँ अनेक बार विध्वंस होने से अन्य ऐतिहासिक महापुरुषों की तरह कुलचंद्र की गौरव–गाथा के सूत्र भी दुष्प्राप्य हो गये हैं। फिर भी न तो कुलचंद्र के अस्तित्व को अस्वीकार किया जा सकता और न मथुरा की रक्षा के लिए किये गये उसके वीरतापूर्ण बलिदान की ही उपेक्षा की जा सकती है। ऐसी दशा में उसका अनुसंधान करना अत्यंत आवश्यक है।

कुलचंद्र के अस्तित्व और वंश का अनुसंधान—श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी ने करौली के यादव राजाओं का उल्लेख करते हुए उनकी परंपरा मथुरा के राजाओं से संबंधित बतलाई है। यदि वह ठीक है, तब उससे कुलचंद्र के अस्तित्व और उसकी वंश–परंपरा पर प्रकाश पड़ सकता है। श्री चतुर्वेदी ने लिखा है—"प्राचीन ख्यातों से सिद्ध होता है कि विक्रम सं० ९३६ (सन् ८७९ ई०) में इच्छपाल नामक एक यादव नरेश मथुरा का राजा था। उसके दो पुत्र ब्रह्मपाल तथा विनयपाल हुए। इच्छपाल के अनंतर ब्रह्मपाल मथुरा का शासक हुआ तथा उसकी मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र जयेन्द्रपाल (इंद्रपाल) वि० सं० १०२३ (ई० ९६६) में गद्दी पर बैठा और सं० १०४९ में उसका देहांत हुआ। उसके ११ पुत्रों में से ही एक महाराजा विजयपाल थे, जो वर्तमान करौली राज्य के मूल संस्थापक माने जाते हैं। उन्हीं महाराजा विजयपाल ने अपनी राजधानी मथुरा से हटा कर वहाँ से लगभग ५० मील दूर पश्चिम की ओर, प्राचीन श्रीपथ तथा वर्तमान भरतपुर जिले के अंतर्गत, बयाना के समीप की पहाड़ी पर स्थापित की। उन्होंने वहाँ विक्रम सं० १०९७ (सन् १०४० ई०) में 'विजय मंदिर गढ़' नाम से एक सुदृढ़ और विशाल दुर्ग का निर्माण किया, जो आज भी वहाँ उसी स्थिति में खड़ा हुआ अपनी अनुपम अजेयता का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है। राजधानी के उस स्थानान्तरण का कारण उसको पर्वत श्रेणियों के मध्य एक सुरक्षित स्थान पर स्थापित करना ही था, ताकि वह आये दिन के तत्कालीन मुसलमानी आक्रमणों का आखेट बनने से बच सके। महाराजा विजयपाल अपने समय के एक बड़े प्रबल प्रतापी नरेश हुए, जिनको तत्कालीन शिलालेखों में 'महाराजाधिराज परम भट्टारक' लिखा है[1]।"

प्राचीन ख्यातों के उक्त विवरण को यदि सत्य माना जाय, तब जयेन्द्र (इंद्रपाल) के ११ पुत्रों में से किसी एक को कुलचंद्र समझा जा सकता है। उसके भाई विजयपाल को यहाँ से

---

(१) **ब्रज–भारती** (वर्ष १२, अंक ४), पृष्ठ २१–२२

हट कर अपनी राजधानी अन्यत्र बसाने की आवश्यकता ही इसलिए हुई कि उनका परंपरागत राज्य महमूद ग़ज़नबी के आक्रमण से संकटग्रस्त हो गया था। इस प्रकार कुलचंद्र को यादववंशीय राजा जयेन्द्रपाल (इंद्रपाल) का पुत्र और संभवतः उत्तराधिकारी मानना समीचीन होगा। वह मथुरा राज्य का स्वामी था और दुर्ग सहित उसकी सैनिक छावनी महाबन में थी। यद्यपि महमूद के आक्रमण से वह राजवंश बिखर गया, कुलचंद्र की मृत्यु हो गई और विजयपाल अन्यत्र चला गया; फिर भी शेष भाइयों में से किसी का वहाँ राज्य बने रहने की संभावना जान पड़ती है, चाहें उसकी स्थिति कितनी ही दुर्बल क्यों न हो। महाबन से प्राप्त एक प्रशस्ति–अभिलेख से ज्ञात होता है कि सं० १२०७ में वहाँ पर अजयपाल और सं० १२२७ में हरपाल नामक राजाओं का शासन था। वे राजा कुलचंद्र के ही वंशज होंगे। उस काल में यादव राजवंश के जो व्यक्ति मथुरा से हटे थे, उन्होंने कामबन, बयाना और करौली में विविध राज्यों की स्थापना की थी तथा वहाँ की पहाड़ियों पर उन्होंने सुदृढ़ दुर्ग, दर्शनीय देवालय और सुंदर सरोवरादि का निर्माण कराया था। कालांतर में वे राज्य भी आक्रमणकारियों द्वारा संकट ग्रस्त हुए थे।

यादव राजा कुलचंद्र और उसके वंश का महत्व इसलिए अधिक है कि मथुरा के इतिहास में कृष्णकालीन अथवा उनके परवर्ती यादव राजाओं के पौराणिक विवरण के बाद उसी यादव वंश की स्वतंत्र राजसत्ता का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है और वह भी एक समकालीन विदेशी लेखक द्वारा किया हुआ। उस राजवंश से पहिले मथुरा राज्य पर जिन महान् राजाओं का शासन रहा था, वे नाग राजाओं को छोड़ कर सभी दूसरे स्थानों के थे। मथुरा राज्य तो उनके विशाल साम्राज्य का एक भाग मात्र था।

मथुरा के ध्वंस की प्रतिक्रिया और ग़ज़नबी के अन्य आक्रमण—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, जब महमूद कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए आया था, तभी उसने मथुरा को भी लूटा था। वह पहिले कन्नौज गया अथवा मथुरा आया, इस संबंध के विभिन्न उल्लेख मिलते हैं। अधिकतर इतिहासकारों का मत है, महमूद बुलंदशहर–मेरठ के राजा हरिदत्त को पराजित कर मथुरा आया था। मथुरा लूटने के बाद वह कन्नौज गया था। वहाँ के अंतिम प्रतिहार राजा राज्यपाल ने भयभीत होकर बिना लड़े ही उसकी अधीनता मान ली थी। मथुरा में महमूद को लूट का इतना अधिक सामान मिला था कि उससे लदे हुए जानवरों की लंबी कारबाँ को लेकर कन्नौज जाना संभव नहीं था। ऐसा मालूम होता है, मथुरा में महमूद ने अपने कुछ सैनिकों को मंदिर–देवालय नष्ट करने तथा लूट का सामान एकत्र करने को छोड़ दिया था और वह स्वयं अपनी अधिकांश सेना के साथ कन्नौज पर चढ़ दौड़ा था। इस प्रकार उसने एक ही झपाटे में मथुरा और कन्नौज दोनों नगरों को बर्बाद किया था। महमूद को कन्नौज में भी लूट का बहुत सामान मिला था। उसे लेकर वह मथुरा आया, फिर यहाँ की लूट के सामान सहित वह ग़ज़नी चला गया था। उस आक्रमण से मथुरा का समृद्धिशाली धार्मिक नगर बर्बाद हो गया और कन्नौज के प्रतिहार राज्य की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। मथुरा के विख्यात मंदिर–देवालयों के नष्ट हो जाने का दुःखदायी समाचार जहाँ हिंदू धर्म के प्रति आस्था रखने वाली इस भू–भाग की धार्मिक जनता को मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने वाला था, वहाँ हिंदू राजाओं के खून को खौला देने वाला भी था। इस प्रकार की प्रतिक्रिया जिन राजाओं पर विशेष रूप से हुई, उनमें कन्नौज के दक्षिणवर्ती चंदेल राज्य के अधिपति गंडदेव का नाम उल्लेखनीय है।

गंडदेव का प्रतिरोध—गंडदेव बड़ा शक्तिशाली राजा था, जिसने सं० १०५६ में राज्याधिकार प्राप्त किया था। वह धार्मिक प्रवृत्ति का एक वीर पुरुष था। उसे मथुरा के ध्वंस से बड़ा दुःख हुआ; किंतु उसका दोषी उसने कन्नौज के प्रतिहार राजा राज्यपाल को समझा था, जिसने न तो मथुरा के राजा कुलचंद्र को सहायता दी थी और न वह अपने राज्य की ही रक्षा कर सका था। गंडदेव ने राज्यपाल को दंड देने के लिए कन्नौज पर आक्रमण कर दिया और सं० १०७७ में उस पर अधिकार कर लिया। उस समाचार को सुन कर आगामी वर्ष महमूद ने गंडदेव के विरुद्ध आक्रमण किया और वह कालिंजर तक पहुँच गया। गंडदेव ने उसका ऐसी वीरता से सामना किया कि आक्रमणकारी को वापिस लौटना पड़ा। यदि गंडदेव अपने रोष का पात्र कन्नौज–नरेश को न बना कर उसके सहयोग से महमूद पर आक्रमण करता, तो दोनों की सम्मिलित शक्ति उसका पूरी तरह मान–मर्दन कर सकती थी। किंतु देश के दुर्भाग्य से उस समय के राजपूत राजाओं में वह सुबुद्धि नहीं आई थी। वे सदैव आपस में लड़ते रहे और विदेशी आक्रमणकारी एक-एक कर उनको पराजित करते रहे थे।

सोमनाथ के मंदिर का ध्वंस—महमूद का सोलहवाँ आक्रमण सं० १०८२ में सौराष्ट्र पर हुआ था। उस अवसर पर उसने वहाँ के विख्यात सोमनाथ मंदिर को लूट कर बड़ा धन प्राप्त किया था। वह महमूद का सबसे बड़ा और सबसे अधिक साहसपूर्ण अभियान था। ग़ज़नी से सैंकड़ों मील दूर आकर और राजस्थान के विस्तृत रेगिस्तान की बाधा को पार कर उसने सोमनाथ पर चढ़ाई की थी। अन्हिलवाड़े के चालुक्य राजा भीमदेव ने महमूद का सामना किया; किंतु दुर्भाग्य से वह पराजित हो गया। सोमनाथ के भारतप्रसिद्ध देवालय में कई शताब्दी से जो अपार संपत्ति संचित थी, उसे वह लुटेरा एक ही झपाटे में उठा कर ले गया और पुजारियों की आँखों के आगे उनके उपास्य देव सोमनाथ की मूर्ति के भी टुकड़े–टुकड़े कर गया! जो पुजारीगण भगवान् सोमनाथ द्वारा अलौकिक चमत्कार किये जाने की आशा से वहाँ निर्भय होकर बैठे थे, उनका महमूद ने कत्लेआम करा दिया था।

महमूद के उन तूफानी आक्रमणों से प्रत्येक व्यक्ति को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। एक विदेशी आक्रमणकारी सैंकड़ों मील दूर से आकर यहाँ के अनेक राजाओं को पराजित कर देता है। वह उनके राज्यों को लूटता है, धार्मिक मूर्तियों को नष्ट कर धर्मप्राण जनता के हृदय को चोट पहुँचाता है और यहाँ के निवासियों को धर्म–परिवर्तन करने के लिए बाध्य करता है। जो लोग उसके लिए तैयार नहीं होते, उनका वह कत्ले-आम कराता है और हज़ारों नर-नारियों को गुलाम बना कर ले जाता है। इस पर भी यहाँ के अनेक राजाओं और उनकी असंख्य प्रजा के करे-धरे कुछ नहीं होता है! बात वास्तव में आश्चर्य की मालूम होती है; किंतु उस काल में इस देश की जैसी दुर्वस्था थी, उसे देखते हुए इस पर आश्चर्य नहीं किया जा सकता।

महमूद के परवर्ती राजपूत राज्य और उनके राजा—जैसा पहिले लिखा गया है, महमूद के आक्रमण–काल में यह देश अनेक छोटे–छोटे राज्यों में विभाजित था। उन राज्यों के राजागण अपनी सीमाओं के विस्तार के लिए आपस में युद्ध किया करते थे। मथुरा के चारों ओर भी ऐसे ही राज्य स्थित थे। इसके उत्तर में हरियाना के तोमर बंशी राजाओं ने पांडव कालीन प्राचीन इंद्रप्रस्थ के स्थान पर दिल्ली बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया था। पश्चिम

में चाहमान राजाओं का प्रभुत्व था, जिनकी राजधानी अजमेर थी। दक्षिण में कछवाहे और चंदेल राजाओं के राज्य थे, जिनकी राजधानी क्रमशः ग्वालियर तथा खजुराहो और महोवा थी। पूर्व में गाहड़वाल वंशीय राजाओं का अधिकार था, जिनकी राजधानी कन्नौज थी। सुदूर पूर्व में पाल और बाद में सेन वंशीय राजाओं का अधिकार क्षेत्र था। देश के दुर्भाग्य से वे सभी राज्य एक दूसरे से शत्रुता रखते थे और आपस में युद्ध करते हुए अपनी शक्ति का ह्रास किया करते थे। तोमर और चाहमान, चाहमान और चंदेल, चंदेल और गाहड़वाल तथा गाहड़वाल और सेन राजाओं के बीच उस काल में जो निरंतर युद्ध हुए थे, उनसे इतिहास के पन्ने रँगे हुए हैं।

गोविंदचंद्र (सं० ११६६–१२१२)—उस काल में कन्नौज में गाहड़वाल वंश का राज्य था। उस राजवंश में गोविंदचंद्र बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ था। उसने अपने निकटवर्ती राजाओं से संघर्ष कर एक बड़े राज्य का निर्माण किया था। उसके राज्य की सीमाएँ मथुरा से मगध तक थीं। उसके सुदीर्घ शासन–काल में कन्नौज को फिर से अपना पहिले जैसा गौरव प्राप्त हुआ था। गोविंदचंद्र हिंदू धर्मावलंवी था, किंतु वह अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णु और उदार था। उसने वाराणसी में अनेक दान–पुण्य किये थे, जिनका उल्लेख उसके द्वारा प्रदत्त विविध ताम्रपत्रों और अभिलेखों में हुआ है। उसने हिंदू धर्माचार्यों के साथ ही साथ बौद्ध भिक्षुओं को भी उदारता पूर्वक दान दिया था। उसकी रानी कुमारदेवी ने सारनाथ में एक बौद्ध विहार बनवाया था। चूँकि मथुरा उसके राज्य में था, अतः वाराणसी और सारनाथ की तरह उसने यहाँ की धार्मिक उन्नति में भी योग दिया होगा; किंतु उसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

विजयपाल अथवा विजयचंद्र (सं० १२१२–१२२७)—गोविंदचंद्र के पश्चात् उसका पुत्र विजयपाल या विजयचंद्र कन्नौज का राजा हुआ था। वह अपने पिता के समान ही यशस्वी और धार्मिक था। वह विद्याप्रेमी, कवियों का आश्रयदाता और उदार प्रकृति का नरेश था। कहते हैं, उसने 'विजयपाल देव रासो' ग्रंथ के रचयिता नल्ह कवि को सात सौ गाँव पुरस्कार में दिये थे। मथुरा के लिए उसका एक महत्वपूर्ण कार्य यहाँ वासुदेव कृष्ण का मंदिर बनवाना था।

वासुदेव कृष्ण का मंदिर—विजयपाल अपने पिता गोविंदचंद्र के शासन काल में मथुरा का राज्यपाल रहा था। उसी समय उसने यहाँ के कृष्ण–जन्मस्थान में महमूद ग़ज़नबी द्वारा तोड़े हुए मंदिर के ध्वंसावशेषों पर एक नये मंदिर का निर्माण कराया था, जो सं० १२१२ में पूर्ण हुआ था। उसका उल्लेख कृष्ण–जन्मस्थान से प्राप्त एक तत्कालीन अभिलेख में हुआ है। उस अभिलेख में मंदिर के दैनिक व्यय के लिए २ मकान, ६ दूकान और १ बाटिका के दिये जाने तथा उसके प्रबंध के लिए १४ नागरिकों की एक समिति बनाये जाने की व्यवस्था का भी उल्लेख है। उस समिति के अध्यक्ष का नाम जज्ज (यज्ञ) लिखा गया है, जो मथुरा का कोई प्रतिष्ठित नागरिक अथवा विशिष्ट राजकर्मचारी था। मथुरा राज्य में किसी धार्मिक ट्रस्ट की योजना का यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेख मिला है, जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है।

जयचंद्र और पृथ्वीराज—विजयपाल के पश्चात् जिन दो राजाओं ने उस काल में विशेष ख्याति प्राप्त की थी, वे जयचंद्र और पृथ्वीराज थे। जयचंद्र कन्नौज के राजा विजयपाल का पुत्र था, जिसे उसके पिता ने अपने जीवन काल में ही राज्याधिकारी बना दिया था। उसने सं० १२२७ से सं० १२५१ तक शासन किया। वह बड़ा वीर, प्रतापी और विद्वानों का आश्रय-

दाता था। उसने अपनी वीरता से गाहड़वाल राज्य का काफी विस्तार किया था और कन्नौज के महत्व की वृद्धि की थी। उसने एक राजसूय यज्ञ भी किया था। अंत में वह मुसलमान आक्रमण-कारी महम्मद गोरी से पराजित हो गया, जिसके फल स्वरूप उसकी जान गई और कन्नौज की गौरव–गरिमा भी समाप्त हो गई। मुसलमान आक्रमणकारियों को भारत में बुला कर देश–द्रोह करने की जो अनुश्रुति उसके संबंध में प्रचलित है, वह सर्वथा निराधार और अप्रामाणिक है।

पृथ्वीराज अथवा राय पिथौरा चाहमान (चौहान) राजवंश का अत्यंत प्रसिद्ध राजा था। वह तोमर वंश के राजा अनंगपाल के पश्चात् दिल्ली राज्य का अधिपति हुआ था। उसे अनंगपाल का दौहित्र और उत्तराधिकारी कहा जाता है। उसके राज्य में दिल्ली से लेकर अजमेर तक का विस्तृत भू–भाग था। उसने सं० १२२० से सं० १२४८ तक शासन किया था। उसने अपनी राजधानी दिल्ली नगर के नव निर्माण में बड़ा योग दिया था। उससे पहिले तोमर नरेश ने दिल्ली में एक गढ़ के निर्माण का आयोजन किया था, जिसे पृथ्वीराज ने विशाल रूप देकर पूर्ण किया था। दिल्ली का वह पुराना किला 'राय पिथौरा का गढ़' कहलाता है, जो वर्तमान दिल्ली के निकट महरौली में साढ़े चार मील के घेरे में था। उसमें अनेक महल और मंदिर–देवालय भी थे, जो अब खंडहर हो गये हैं। उस विशाल दुर्ग का निर्माण सं० १२३७ से सं० १२४३ की अवधि में हुआ था। उसके अंदर वह प्रसिद्ध मीनार और लोहे की कीली थी, जिसे अब 'कुतुब मीनार' और 'दिल्ली की लाठ' कहते हैं। किंवदंती के अनुसार उन दोनों को भी अनंगपाल अथवा पृथ्वीराज ने ही बनवाया था; किंतु यह कथन ठीक नहीं है। 'कुतुब मीनार' संभवतः उस बेधशाला का स्तंभ है, जिसे समुद्र गुप्त ने आकाश के ग्रहों की चाल का ज्योतिष के अनुसार अध्ययन करने के लिए यहाँ बनवाया था। 'दिल्ली की लाठ' वह विष्णुध्वज है, जिसे समुद्रगुप्त के यशस्वी पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने संभवतः मथुरा में स्थापित किया था। ऐसा जान पड़ता है, पृथ्वीराज के पूर्ववर्ती तोमर राजा अनंगपाल ने उसे मथुरा से लाकर दिल्ली में लगाया था। पृथ्वीराज अपने समय का सबसे प्रसिद्ध वीर पुरुष था। उसने अपने समय के विदेशी आक्रमणकारी महम्मदगोरी को कई बार पराजित किया था; किंतु अंत में अपने प्रमाद और तत्कालीन राजपूत राजाओं के पारस्परिक विद्वेष के कारण उसकी पराजय हुई थी। वह कन्नौज के राजा जयचंद्र का समकालीन था। उन दोनों प्रसिद्ध राजाओं में कतिपय कारणों से बड़ा विद्वेष हो गया था, जिसके कारण उन दोनों को महम्मद गोरी से पराजित होना पड़ा था। उनसे संबंधित घटनाओं का काव्यात्मक कथन 'पृथ्वीराज रासो' में हुआ है।

'पृथ्वीराज रासो' का कथानक तथा जयचंद्र–पृथ्वीराज की कलह—'पृथ्वीराज रासो' एक वृहत् महाकाव्य है, जिसे पृथ्वीराज के समकालीन और उसके दरबारी कवि चंद द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर रचा हुआ कहा जाता है। किंतु अब यह सिद्ध हो गया है कि न तो इसकी रचना पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि द्वारा हुई और न इसमें वर्णित घटनाएँ ही ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक हैं। कुछ विद्वानों का मत है, यह १६ वीं शती से पहिले की रचना नहीं है। उसी काल के किसी चंद नामक भाट कवि ने पृथ्वीराज संबंधी अनुश्रुतियों के आधार पर इस काव्य की रचना की थी। उसमें तिथि-संवत् भी उसने मनमाने ढंग से लिखे हैं, जो प्रायः अशुद्ध हैं। यदि पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि ने ही इसे रचा था, तो उसकी मूल रचना का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बहुत थोड़ा अंश इसमें शेष रह गया है। इसका अधिकांश भाग किसी अज्ञात कवि द्वारा बाद का रचा हुआ है। इस प्रकार यह एक ऐतिहासिक काव्य न होकर लोक काव्य जैसा है; किंतु इसका साहित्यिक मूल्य किसी भी लोक रचना से कहीं अधिक है।

इस काव्य ग्रंथ में जयचंद्र और पृथ्वीराज के पारिवारिक संबंध और उनके विद्वेष का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री का विवाह कन्नौज–नरेश विजयपाल के साथ हुआ था, जिससे जयचंद्र उत्पन्न हुआ था। अनंगपाल की छोटी पुत्री कमला अजमेर के चाहमान राजा सोमेश्वर को विवाही थी, जिससे पृथ्वीराज पैदा हुआ था। इस प्रकार जयचंद्र और पृथ्वीराज दोनों मौसेरे भाई तथा अनंगपाल के दौहित्र थे। अनंगपाल के कोई पुत्र नहीं था, इसलिए उसने अपना राज्य पृथ्वीराज को सोंप दिया था। फलतः पृथ्वीराज अजमेर और दिल्ली दोनों राज्यों का स्वामी हो गया था। उसके कारण जयचंद्र उससे ईर्ष्या करने लगा था। जयचंद्र की पुत्री का नाम संयोगिता था, वह पृथ्वीराज के रूप-गुण पर मोहित थी। जयचंद्र ने संयोगिता के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया था। उसी अवसर पर पृथ्वीराज उसका हरण करके ले गया; जिससे जयचंद्र और पृथ्वीराज में द्वेष की ज्वाला और भी प्रबलता से भड़क उठी थी। उसके कारण उन दोनों के राज्य ही नष्ट नहीं हुए, बल्कि समस्त देश ही कालांतर में मुसलमानी शासन के अधीन हो गया था।

इस ग्रंथ में अनंगपाल और पृथ्वीराज का जो संबंध बतलाया गया है, वह अप्रामाणिक है। अनंगपाल की पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चाहमान राजा सोमेश्वर से होना और उसके पुत्र तथा अपने दौहित्र पृथ्वीराज को अनंगपाल द्वारा दिल्ली का राज्य सोंपना आदि बातें भी काल्पनिक हैं। "ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय न तो अनंगपाल दिल्ली का राजा था और न उसकी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर से हुआ था। उस समय दिल्ली का राज्य तो पहिले से ही सोमेश्वर के छोटे भाई विग्रहपाल (चतुर्थ) ने अजमेर राज्य के आधीन कर लिया था। सोमेश्वर का विवाह हैहयवंशी चेदिराज नरसिंहदेव की कन्या कर्पूर देवी के साथ हुआ और उसके गर्भ से दो पुत्र पृथ्वीराज तथा हरिराज उत्पन्न हुए थे। इस कथन की पुष्टि 'हम्मीर महाकाव्य', 'सुर्जन चरित्' तथा शिलालेखों द्वारा हो चुकी है[1]।"

इस प्रकार जयचंद्र और पृथ्वीराज का मौसेरा भाई होना तथा दिल्ली राज्य के कारण दोनों में वैमनस्य होना आदि बातें अप्रामाणिक हैं। फिर भी उन दोनों में भारी वैमनस्य था, यह सर्वथा प्रामाणिक है। पृथ्वीराज द्वारा जयचंद्र की पुत्री संयोगिता का हरण भी इतिहास की कसौटी पर खरा सिद्ध नहीं हुआ है; किंतु उन दोनों के वैमनस्य का संबंध कुछ न कुछ उस घटना से भी जान पड़ता है। जयचंद्र ने जो राजसूय यज्ञ किया था, उसी अवसर पर उसने अपनी पुत्री के स्वयंवर का भी आयोजन किया होगा। पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता का हरण कर जयचंद्र के राजसूय यज्ञ को भंग करना उन दोनों के वैमनस्य का प्रधान कारण हो सकता है। इस प्रकार संयोगिता-स्वयंवर होने की और पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता के हरण की घटनाएँ सर्वथा अप्रामाणिक नहीं मालूम होती हैं।

---

(१) पृथ्वीराज रासो–लघु संस्करण, भूमिका, पृष्ठ ५७

'आल्हखंड' और महोबा का युद्ध—'आल्हखंड' एक लोक काव्य है, जिसका रचयिता जगनिक या जगनायक नामक कोई भाट कवि कहा जाता है। इस ग्रंथ में पृथ्वीराज और महोबा के विख्यात योद्धा आल्हा–ऊदल के युद्धों का अत्यंत वीरतापूर्ण वर्णन हुआ है। पृथ्वीराज ने अपनी वीरता के प्रदर्शन और राज्य विस्तार के लिए अपने समकालीन कई राजाओं से अनेक युद्ध किये थे। उनमें महोबा के युद्ध ने लोक–गाथाओं में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उसी का वर्णन 'आल्हखंड' में किया गया है; किंतु इसमें वर्णित घटनाओं का ऐतिहासिक मूल्य नगण्य है।

'आल्हखंड' से ज्ञात होता है, पृथ्वीराज के समय महोबा का चंदेल राजा परमाल था, जो इतिहास में परमर्दि देव के नाम से प्रसिद्ध है। परमाल स्वयं तो कोई बड़ा वीर नहीं था; किंतु उसके सामंत आल्हा–ऊदल के कारण उसकी शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। आल्हा–ऊदल दोनों भाई थे। आल्हा के पुत्र का नाम इंदल था। वे तीनों वीर योद्धा बनाफर जाति के राजपूत थे। आल्हा का एक मौसेरा भाई मलखान था, जो चंदेल राज की ओर से सिरसा का शासक था। वह भी प्रबल वीर था। उन सबने परमाल की तरफ से पृथ्वीराज से युद्ध किया था। परमाल की सैन्य शक्ति पृथ्वीराज की अपेक्षा बहुत कम थी; किंतु अपने उन महावीर योद्धाओं के कारण उसने पृथ्वीराज से कड़ा संघर्ष किया था। 'आल्हखंड' में आल्हा–ऊदल की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण कथन किया मया है। उसमें कई अवसर पर पृथ्वीराज की हार बतलाई गई है; जो कल्पना मात्र है। महोबा के युद्ध में पृथ्वीराज के अनेक वीर सेनानायक मारे गये थे; किंतु परिणाम में उसकी जीत और परमाल की हार हुई थी। आल्हा–ऊदल भी संभवतः उसी युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुए थे। वह युद्ध सं० १२३९ के लगभग हुआ था।

'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हखंड' की तुलना—ये दोनों ही ऐतिहासिक काव्य कहे जाते हैं; किंतु दोनों की घटनाएँ इतिहास द्वारा प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज की और 'आल्हखंड' में आल्हा–ऊदल की वीरता का अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण कथन किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता चंद और 'आल्हखंड' का रचयिता जगनिक दोनों ही भाट थे। उन दोनों की रचनाएँ ही मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं। जो रचनाएँ इस समय मिलती हैं, वे प्रक्षिप्त होने के कारण मूल रूप से सर्वथा भिन्न हैं। 'आल्हखंड' तो बिलकुल आधुनिक रचना है। दोनों ही रचनाएँ लोक काव्य की श्रेणी की हैं और दोनों ही अपने–अपने क्षेत्रों में बड़ी लोकप्रिय रही हैं। जहाँ तक लोकप्रियता और प्रसिद्धि का प्रश्न है, 'आल्हखंड' का स्थान 'पृथ्वीराज रासो' से कहीं ऊँचा है; किंतु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से उसकी रासो से कोई तुलना नहीं है। 'पृथ्वीराज रासो' आल्हखंड की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट काव्य है।

महम्मद ग़ोरी—जिस समय उत्तरी भारत में पृथ्वीराज और जयचंद्र जैसे वीर राजाओं के राज्यों की धूम थी, उसी समय अफगानिस्तान में शाहबुद्दीन महम्मद नामक एक मुसलमान सरदार ने महमूद ग़ज़नबी के वंशजों से राज्याधिकार छीन कर एक नये मुस्लिम राज्य की स्थापना की थी। वह ग़ोर नामक स्थान का निवासी था, इसलिए महम्मद ग़ोरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। वह बड़ा महत्वाकांक्षी और साहसी सैनिक था। महमूद ग़ज़नबी की तरह वह भी भारत पर आक्रमण करना चाहता था; किंतु उसका उद्देश्य लूट–मार के साथ ही साथ यहाँ राज्य–स्थापन करना भी था। उस काल में भारत के पश्चिमोत्तर सीमांत से लेकर एक ओर

पश्चिमी पंजाब तक और दूसरी ओर मुलतान एवं सिंध तक मुसलमानों का अधिकार था, जिसके अधिकांश भाग पर महमूद के वंशज ग़ज़नबी सरदार शासन करते थे। महम्मद ग़ोरी को भारत के आंतरिक भाग तक पहुँचने के लिए पहिले उन मुसलमान शासकों से और फिर वहाँ के वीर राजपूतों से युद्ध करना था; अतः वह पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण करने का आयोजन करने लगा।

ग़ोरी के आक्रमण—महम्मद ग़ोरी ने अपना पहिला आक्रमण सं० १२३२ में मुलतान पर किया था, जिसमें वहाँ के मुसलमान शासक को पराजित होना पड़ा। उससे उत्साहित होकर उसने अपना दूसरा आक्रमण सं० १२३५ में गुजरात के बघेल राजा भीम द्वितीय की राजधानी अन्हिलवाड़ा पर किया; किंतु राजपूत वीरों की प्रबल मार से वह पराजित हो गया। इस प्रकार भारत के हिंदू राजाओं की ओर मुँह उठाते ही उसे आरंभ में ही चोट खानी पड़ी थी। किंतु वह महत्वाकांक्षी मुसलमान आक्रांता उस पराजय से हतोत्साह नहीं हुआ। उसने अपने अभियान का मार्ग बदल दिया। वह तब पंजाब होकर भारत–विजय का आयोजन करने लगा। उस काल में पेशावर और पंजाब के शासक महमूद के जो वंशज थे, वे शक्तिहीन हो गये थे, अतः उन्हें पराजित करना ग़ोरी को सरल ज्ञात हुआ। फलतः सं० १२३६ में उसने पेशावर पर आक्रमण कर वहाँ के ग़ज़नबी शासक को परास्त किया। उसके बाद उसने पंजाब के अधिकांश भाग को भी ग़ज़नबी के वंशजों से छीन लिया और वहाँ पर अपनी सुदृढ़ किलेबंदी कर भारत के हिंदू राजाओं पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा।

ग़ोरी के भारतीय राज्य की सीमा तब दिल्ली के विख्यात चाहमान वीर पृथ्वीराज के राज्य से जा लगी थी; अतः आगे बढ़ने के लिए उसे एक पराक्रमी शत्रु से मोर्चा लेना था। उससे पहिले महमूद के वंशज ग़ज़नबी शासकों से हिंदू राजाओं के भी कई संघर्ष हुए थे; किंतु वे छोटी-मोटी स्थानीय लड़ाइयाँ थीं और उनमें प्रायः हिंदू राजाओं की ही विजय हुई थी। महम्मद ग़ोरी ने पृथ्वीराज के विरुद्ध जो अभियान किया, वह एक प्रबल आक्रमण था। इसलिए महमूद ग़ज़नबी के बाद महम्मद ग़ोरी ही भारत पर चढ़ाई करने वाला दूसरा मुसलमान आक्रांता माना गया है।

ग़ोरी और पृथ्वीराज का युद्ध—महम्मद ग़ोरी और पृथ्वीराज में कितने युद्ध हुए थे, इस विषय में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। किंवदंतियों के अनुसार ग़ोरी ने १८ बार पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था, जिनमें १७ बार उसे पराजित होना पड़ा। किसी भी इतिहासकार को किंवदंतियों के आधार पर अपना मत बनाना कठिन होता है। इस विषय में इतना निश्चित है कि ग़ोरी और पृथ्वीराज में कम से कम दो भीषण युद्ध अवश्य हुए थे, जिनमें प्रथम में पृथ्वीराज विजयी और दूसरे में पराजित हुआ था। वे दोनों युद्ध थानेश्वर के निकटवर्ती तराइन या तरावड़ी के मैदान में क्रमशः सं० १२४७ और १२४८ में हुए थे।

उन युद्धों से पहिले पृथ्वीराज कई हिंदू राजाओं से अनेक लड़ाइयाँ कर चुका था। चंदेल राजाओं को पराजित करने में उसे अपने कई विख्यात सेनानायकों और अनेक वीरों को खोना पड़ा था। जयचंद्र के साथ होने वाले संघर्ष में भी उसके बहुत से वीरों की हानि हुई थी। फिर उन दिनों पृथ्वीराज अपने वृद्ध मंत्री पर राज्य भार छोड़ कर आप संयोगिता के साथ विलास-क्रीड़ा में लगा हुआ था। उन सब कारणों से उसकी सैन्य शक्ति अधिक प्रभावशालिनी नहीं थी, फिर भी उसने ग़ोरी के दाँत खट्टे कर दिये थे।

सं० १२४७ में जब पृथ्वीराज से महम्मद ग़ोरी की विशाल सेना का सामना हुआ, तब राजपूत वीरों की विकट मार से मुसलमान सैनिकों के पैर उखड़ गये। स्वयं ग़ोरी भी पृथ्वीराज के अनुज के प्रहार से बुरी तरह घायल हो गया था। यदि उसका खिलजी सेवक उसे घोड़े पर डाल कर युद्ध भूमि से भगाकर न ले जाता, तो वहीं पर उसके प्राण पखेरू उड़ जाते। उस युद्ध में ग़ोरी की भारी पराजय हुई थी और उसे भीषण हानि उठाकर भारत भूमि से भागना पड़ा था। भारतीय राजा के विरुद्ध युद्ध अभियान में वह उसकी दूसरी बड़ी पराजय थी, जो अन्हिलवाड़ा के युद्ध के पश्चात् उसे सहनी पड़ी थी।

पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु—महम्मद गोरी उस अपमानजनक पराजय का बदला लेने के लिए भारी तैयारी करने लगा। अगले वर्ष वह १ लाख २० हजार चुने हुए अश्वारोहियों की विशाल सेना लेकर फिर तराइन के मैदान में आ डटा। उधर पृथ्वीराज ने भी उससे मोर्चा लेने के लिए कई राजपूत राजाओं को आमंत्रित किया था। कुछ छोटे राजाओं ने तो अपनी सेनाएँ भेज दीं; किंतु उस काल का सबसे प्रबल गाहड़वाल वंशीय कन्नौज नरेश जयचंद्र उससे तटस्थ रहा था। ऐसी किंवदंती है कि पृथ्वीराज से विद्वेष रखने के कारण जयचंद्र ने ही महम्मद ग़ोरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया था! उस किंवदंती की सत्यता का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है, अतः जयचंद्र पर देश–द्रोह का दोषारोपण करना भी अप्रामाणिक ज्ञात होता है। उसमें केवल इतनी ही सत्यता है कि उसने उस अवसर पर पृथ्वीराज की सहायता नहीं की थी। पृथ्वीराज के राजपूत योद्धाओं ने उस बार भी मुसलमानी सेना पर भीषण प्रहार कर अपनी वीरता का परिचय दिया था; किंतु देश के दुर्भाग्य से उन्हें पराजित होना पड़ा। इस प्रकार सं० १२४८ के उस युद्ध में महम्मद ग़ोरी की विजय और पृथ्वीराज की पराजय हुई थी।

युद्ध में पराजित होने के पश्चात् पृथ्वीराज की किस प्रकार मृत्यु हुई, इस विषय में इतिहासकारों के विभिन्न मत मिलते हैं। कुछ के मतानुसार वह पहिले बंदी बनाकर दिल्ली में रखा गया था और बाद में गोरी के सैनिकों द्वारा मार दिया गया था। कुछ का मत है कि वह बंदी बनाकर ग़ज़नी ले जाया गया था और वहाँ पर उसकी मृत्यु हुई थी। ऐसी भी किंवदंती है कि पृथ्वीराज का दरबारी कवि और सखा चंद अपने स्वामी की दुर्दिन में सहायता करने के लिए ग़ज़नी गया था। उसने अपने बुद्धि–कौशल से पृथ्वीराज द्वारा ग़ोरी का संहार करा कर उससे बदला लिया था। फिर गोरी के सैनिकों ने उन दोनों को भी मार डाला था। उस किंवदंती का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, अतः वह प्रामाणिक ज्ञात नहीं होती है।

जयचंद्र की पराजय और वीर-गति—महम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज के पराजित होने से मुसलमानों का आधिपत्य पंजाब से आगे दिल्ली के बड़े राज्य तक हो गया था। उस विशाल भू–भाग पर अपना अधिकार स्थिर रखने के लिए गोरी ने अपने सेनानायक कुतुबुद्दीन एवक को वहाँ का शासक नियुक्त किया। उसके बाद उसने कन्नौज के विरुद्ध अपना अभियान आरंभ किया। कन्नौज का राजा जयचंद्र उस काल का सबसे शक्तिशाली हिंदू नरेश था; किंतु उसकी शक्ति भी बंगाल के सेन राजाओं से निरंतर युद्ध करते रहने से क्षीण हो गई थी। फिर भी उसने बड़ी वीरता से गोरी की सेना का सामना किया; किंतु दुर्भाग्य से उसे भी सं० १२५१ में पराजित होना पड़ा था। उस युद्ध का वर्णन करते हुए डा० आशीर्वादीलाल ने लिखा है—"जयचंद्र की सेना ने

शत्रु पर भयंकर प्रहार किये। गोरी घुटने टेकने ही वाला था कि राजा की आँख में एक घातक वाण लगा और वह मारा गया। उस दुर्घटना से हिंदू सेना में घबराहट फैल गई और भाग्य से गोरी जीत गया। जिस स्थान पर वह निर्णायक युद्ध हुआ था, उसका नाम चंदावर लिखा गया है। वह स्थान पहिले कन्नौज तथा इटावा के बीच यमुना के किनारे का चंदावर समझा जाता था; किंतु आधुनिक अनुसंधानों से वह फीरोजाबाद के निकट का चंदवार गाँव निश्चित हुआ है[1]।' वह युद्ध मुसलमानों के लिए ऐतिहासिक महत्व का सिद्ध हुआ; क्यों कि उसके बाद ही भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना संभव हुई थी।

ग़ोरी और उसके सेनापतियों के अन्य आक्रमण—जयचंद्र को पराजित करने के बाद महम्मद ग़ोरी अपने गुलाम सेनापति कुतुबुद्दीन एवक को भारत में छोड़ कर स्वयं स्वदेश चला गया था। कुतुबुद्दीन ने ग़ोरी के भारतीय राज्य का शासन सँभालने की चेष्टा की; किंतु उसके लिए उसे हिंदू राजाओं से बड़ा संघर्ष करना पड़ा था। हिंदू राजाओं ने पहिले यह समझा था कि ग़ोरी भी इस देश में लूट–मार कर चला जावेगा; किंतु जब उसके प्रतिनिधि यहाँ जम कर बैठ गये, तब उन्होंने उनको उखाड़ने के लिए कई बार विद्रोह किये थे। कुतुबुद्दीन तथा दूसरे मुस्लिम सेनानायक उन्हें दबाने के लिए जहाँ–तहाँ दौड़ते फिरते थे। उन्होंने वयाना के यादव राजा को पराजित कर वहाँ के 'विजय मंदिर गढ़' पर अधिकार कर लिया और फिर ग्वालियर के दुर्ग पर घेरा डाला। वे लोग बड़ी कठिनता और कड़े संघर्ष के बाद उस दुर्ग पर भी अधिकार करने में सफल हो गये। कुतुबुद्दीन ने मालवा, गुजरात तथा बुंदेलखंड में मार–काट मचा दी थी और उसके साथी बख्तियार ख़िजली ने विहार को बर्बाद कर दिया था। वहाँ की बर्बादी का सबसे दुःखांत प्रकरण नालंदा और विक्रमशिला के विख्यात विश्वविद्यालयों का सर्वनाश करना था! बर्बर आक्रमणकारियों ने उन विद्या–केन्द्रों के अनेक विद्वान प्राध्यापकों तथा शिक्षा प्राप्त करने वाले वहुसंख्यक छात्रों की हत्या की और वहाँ के प्राचीन ग्रंथ भंडारों को जला डाला! भारतीय ज्ञान–विज्ञान और विद्या–कला के वे विश्वविख्यात केन्द्र सं० १०६० के लगभग नष्ट किये गये थे।

विहार को वर्बाद करने से बख्तियार का साहस बहुत बढ़ गया था। वह फिर बंगाल पर चढ़ दौड़ा। वहाँ का वृद्ध राजा लक्ष्मणसेन राज्य प्रबंध और रक्षा व्यवस्था के प्रति उदासीन होकर दिन–रात विद्या–विनोद और साहित्य–चर्चा में लगा रहता था। उसकी राजसभा में महाकवि जयदेव के अतिरिक्त उमापति, शरण, धोयी और गोवर्धन जैसे दिग्गज विद्वान थे। लक्ष्मणसेन को स्वप्न में भी आशंका नहीं थी कि विदेशी आक्रमणकारी उसके सुदूर राज्य तक धावा मारेंगे। बख्तियार ने बेख़बर राजा को अकस्मात जा दबाया और उसे पराजित कर दिया। लक्ष्मणसेन की पराजय से उसकी विद्यासभा भी बिखर गई, फलतः देश के अन्य भागों की तरह बंगाल में भी अज्ञान का अंधकार छा गया।

ग़ोरी की मृत्यु और भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना—इधर ग़ोरी के सेनापति उत्तर भारत में दूर–दूर तक धावा मार कर वहाँ के भारतीय राजाओं से संघर्ष कर रहे थे, उधर दिल्ली और पंजाब में विद्रोह हो गया था। कुतुबुद्दीन दिल्ली के विद्रोहियों को दबाने में व्यस्त था,

---

(१) **दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ ७६**

अतः पंजाब की जनता को दंड देने के लिए स्वयं महम्मद गोरी को आना पड़ा। जब वहाँ की स्थिति को ठीक कर वह स्वदेश वापिस जा रहा था, तभी मार्ग में विद्रोहियों ने उसे मार डाला। इस प्रकार सं० १२६३ (१५ मार्च, सन् १२०६) में महम्मद गोरी का अंत हुआ था। उसका समस्त जीवन मार–काट और लड़ाई–झगड़े करते हुए ही बीता था; इसलिए उसे कभी चैन से बैठने का सुयोग नहीं मिला था। फिर भी वह भारत में उस मुसलमानी राज्य की नींव डाल गया, जो उसके बाद कई शताब्दियों तक यहाँ क़ायम रहा था।

कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ

राजनैतिक स्थिति—ब्रज संस्कृति के इतिहास का 'मध्य काल' केवल ६६३ वर्ष का है; किंतु इसमें होने वाली अभूतपूर्व घटनाओं से इसका महत्व बहुत बढ़ गया है। हर्ष के साम्राज्य का उदय और अंत, राजपूतों की शक्ति का विस्तार और उनके बहुसंख्यक राज्यों का प्रसार तथा मुसलमानों के आक्रमण का आरंभ और फिर उनके राज्य संस्थापन का सूत्रपात इस काल की ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं, जिन्होंने मथुरा राज्य की राजनैतिक स्थिति पर युगांतरकारी प्रभाव डाला था। इस काल के आरंभ में हर्षवर्धन जैसा यशस्वी सम्राट हुआ, जो भारतवर्ष के अत्यंत प्रसिद्ध राज्याध्यक्षों की परंपरा में माना जाता है। वह वीर योद्धा और सुयोग्य शासक था और उसने साम्राज्य की व्यवस्था भी ठीक रखी थीं; किंतु अपनी प्रकृति से वह राजकीय पुरुष की अपेक्षा सांस्कृतिक व्यक्ति अधिक था। वह भी अशोक की भाँति राज्य शासन से उदासीन होकर धर्मोन्नति के कार्यों में अधिक रुचि लेता था। फलतः उसके बाद उसके साम्राज्य की भी वही दशा हुई, जो अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य की हुई थी। हर्ष के शासन काल में मथुरा राज्य उसके साम्राज्य का एक अंग था। उस समय की किसी विशेष राजनैतिक घटना का तो उल्लेख नहीं मिलता है; किंतु हर्ष के साम्राज्य की दो महत्वपूर्ण इकाइयों—थानेश्वर और कन्नौज के राज्यों के बीच में होने के कारण उसका राजनैतिक महत्व मान्य था। हर्ष के बाद उसके साम्राज्य के कई अन्य भागों की तरह मथुरा राज्य भी संभवतः स्वाधीन हो गया था; किंतु उसके राजाओं की गति–विधियों का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है।

महमूद ग़ज़नबी के आक्रमण काल में मुसलमानी सूत्रों के अनुसार मथुरा में एक वीर योद्धा कुलचंद्र (कूलचंद) हुआ था। उसने विदेशी आक्रमणकारियों से मथुरा राज्य की रक्षा करते हुए अपने सर्वस्व की आहुति दी थी। यदि कुलचंद्र की वंश परंपरा, उसके राज्य का विस्तार और तत्संबंधी राजकीय घटनाओं का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता, तो वह इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता। फिर भी ग़ज़नबी काल के लेखक अलउत्वी के उल्लेख से यह भली भाँति ज्ञात होता है कि उस समय मथुरा एक शक्तिशाली और समृद्ध राज्य था। उसके राज्याध्यक्ष के अधिकार में विशाल सेना सहित सुदृढ़ दुर्ग और सम्पन्न नगर थे। मथुरा नगर की उस काल की समृद्धि अपूर्व थी। अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य का केन्द्र और इस देश के प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने से यहाँ के नर–नारी धन–धान्य से पूर्ण थे। उनके बड़े–बड़े भवन, मंदिर और बाग–बगीचे थे। यहाँ के मंदिर–देवालयों में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों द्वारा प्रदत्त अपार संपत्ति संचित थी। इन सब बातों से मथुरा राज्य की समुन्नत राजनैतिक अवस्था का बोध होता है। ग़ज़नबी और ग़ोरी के आक्रमणों ने उसे विकृत कर दिया था।

धार्मिक स्थिति—इस काल में मथुरा राज्य की धार्मिक स्थिति अत्यंत उन्नत थी। यहाँ पर विविध धर्मों के मंदिर–देवालय थे, जो देश के सभी स्थानों की धर्म–प्राण जनता के आकर्षण–केन्द्र थे। महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण में यहाँ के कृष्ण–जन्मस्थान वाले सुप्रसिद्ध मंदिर का ध्वंस हुआ था और दूसरे मंदिर–देवालयों की भी बड़ी क्षति हुई थी; किंतु उसकी बहुत-कुछ पूर्ति उस समय के राजपूत राजाओं ने कर दी थी। उस काल में पौराणिक हिंदू धर्म का नवोत्थान हुआ था और मथुरा उसका एक बड़ा केन्द्र एवं प्रसिद्ध तीर्थ स्थान माना जाता था। उस काल के प्रायः सभी राजपूत राजागण पौराणिक हिंदू धर्म के अनुयायी थे; अतः उन सब को मथुरा की धार्मिक महत्ता मान्य थी। वे राजागण आपस में लड़ते हुए एक दूसरे के राज्य को क्षति पहुँचाते रहते थे; किंतु मथुरा के प्रति उन सब की श्रद्धा थी। श्री कृष्ण–जन्मस्थान से प्राप्त १० वीं शताब्दी के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि दक्षिण के जिन राष्ट्रकूटों ने प्रतिहार राज्य पर आक्रमण कर कन्नौज को बड़ी हानि पहुँचाई थी, उन्होंने मथुरा में आकर यहाँ के कृष्ण–जन्मस्थान पर धार्मिक आयोजन किये थे। मुसलमानों के आक्रमण और उनके राज्य की स्थापना से यहाँ की राजनैतिक स्थिति की भाँति धार्मिक स्थिति पर भी बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था।

मुसलमानों से पहिले भी इस देश पर विदेशियों के आक्रमण हुए थे और उन्होंने मुसलमानों की तरह यहाँ लूट–मार भी की थी; किंतु उनके द्वारा यहाँ की धार्मिक स्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था। उसका कारण यह था कि उन आक्रमणकारियों को अपने किसी धर्म का आग्रह नहीं था और वे अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु भी नहीं थे। यहाँ तक कि वे भारतीय धर्मों को स्वीकार कर स्वयं उनके समर्थक और प्रचारक हो गये थे। उनके विरुद्ध मुसलमानों के आक्रमण का उद्देश्य ही अपने धर्म का प्रचार करना था; जिसे उन्होंने तलवार के बल पर किया था। उस काल के प्रायः सभी धर्मों में मूर्ति–पूजा मान्य थी और मथुरा में उन सबके मंदिर–देवालय और पूजा–स्थान थे। इस्लाम में मूर्ति–पूजा को कुफ़्र माना गया है; अतः उस काल के मुसलमान आक्रमणकारी देव–स्थानों को नष्ट–भ्रष्ट कर उनकी मूर्तियों को तोड़ना अपना मज़हबी फ़र्ज समझते थे। महमूद ग़ज़नवी ने जहाँ मथुरा की अपार धन–संपत्ति को लूटा था, वहाँ उसने यहाँ के मंदिरों और उनकी मूर्तियों को भी नष्ट किया था। उसके बाद के मुसलमान आक्रमणकारी भी वही करते रहे थे। उनके कारण मथुरा की धार्मिक स्थिति सदैव बड़ी शोचनीय रही थी।

राजपूतों की पराजय और मुसलमानों की सफलता का कारण—उस काल में यहाँ राजपूत राजाओं के अनेक राज्य थे, जिन्होंने अपनी प्रबल सैन्य शक्ति से मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना किया था। राजपूत वीर, साहसी और शक्ति सम्पन्न होते हुए भी क्यों पराजित हो गये और विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों को क्यों इतनी सफलता मिली ?—ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समुचित उत्तर इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है। राजपूतों की पराजय और मुसलमानों की सफलता के कई कारण थे, जिन्हें संक्षेप में यहाँ लिखने की चेष्टा की गई है।

उस काल के राजपूत राजाओं में संगठन और एकता का बड़ा अभाव था, जब कि आक्रमणकारी पूरी तरह संगठित और मज़हबी एकता के सूत्र में आबद्ध थे। राजपूत राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य और विद्वेष के कारण उन्हें मुसलमानों ने एक–एक कर पराजित कर दिया।

फिर राजपूतों की रणनीति मुसलमानों की अपेक्षा दोषपूर्ण थी। राजपूती सेना युद्ध के समय दक्षिण, वाम और मध्य—इन तीन भागों में विभाजित होकर शत्रु का सामना करती थी; जब कि मुसलमानी सेना में उन तीन भागों के अतिरिक्त एक चौथा भाग सुरक्षित सैन्य टुकड़ी का भी होता था। जब दोनों सेनाएँ भीषण युद्ध करते–करते थक जाती थीं, तब मुसलमानों के ताज़ादम सुरक्षित सैनिक अचानक राजपूतों पर टूट पड़ते थे, जिससे उन्हें पराजित होना पड़ता था। राजपूत सेना में छोटे घोड़े और विशालकाय हाथी थे, जो मुसलमानों के तेज़ घोड़ों की तुलना में निकम्मे सिद्ध हुए थे। उनके हाथी तो कभी–कभी ऐसे भड़क जाते थे कि वे शत्रुओं की अपेक्षा उनकी सेना को ही रोंद डालते थे। राजपूत सदैव धर्म युद्ध करते थे; किंतु आक्रमणकारियों को छल–कपट का व्यवहार करने में भी कोई संकोच नहीं था। कभी–कभी आक्रमणकारी युद्ध क्षेत्र से भागने का दिखावा करते थे, जिसके धोखे में राजपूती सेना की व्यूह–रचना भंग हो जाती थी। उसी समय आक्रमणकारी लौट कर बड़े प्रबल वेग से धावा बोल देते थे। वे कूए–तालाबों में गो–मांस डाल कर उन्हें भ्रष्ट कर देते थे, जिससे राजपूती सेना को पीने के पानी का अभाव हो जाता था। वे ऐसे ही अनेक जघन्य कृत्य करते थे, जिनके बारे में राजपूत कभी सोच भी नहीं सकते थे।

ग़ज़नवी काल के इतिहासज्ञ अलबेरुनी ने लिखा है कि भारत में भंगी, चमार और जुलाहे आदि आठ श्रेणियों के व्यक्तियों को नगरों के बाहर रहने का अधिकार था, जब कि चातुर्वर्ण्य के लोग नगरों में अंदर रहते थे। उसके आधार पर मुसलमानों की विजय का निष्कर्ष प्रो० महम्मद हबीब और ख़लीक अहमद निज़ामी ने यह निकाला है कि जब मुसलमानों ने उन नगरों पर आक्रमण किया, तब उन निम्न श्रेणियों के लोगों ने विद्रोह और क्रांति कर दी थी, जिसके फल स्वरूप नगर के अंदर के व्यक्तियों को आक्रमणकारियों के सन्मुख झुकना पड़ा था। अलबेरुनी को यहाँ की नगर योजना को समझने में कुछ भ्रम हुआ है; फलतः उस पर आधारित मुस्लिम विद्वानों के निष्कर्ष भी यथार्थ नहीं हैं। प्राचीन भारत की नगर–योजना से संबंधित अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि नगरों के अंदर ही सब जातियों, वर्गों और धंधों के लोगों के निवास स्थान नियत किये जाते थे। निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा विद्रोह अथवा क्रांति कर विदेशी आक्रमणकारियों को सहायता देने का एक भी उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता है।

उक्त मुस्लिम विद्वानों ने हिंदुओं के कठोर और जटिल जाति-विधान को भी मुसलमानों की विजय में सहायक माना है; किंतु वह भी कपोल-कल्पना मात्र है। उस काल में निम्न जातियों को चाहें कितनी ही सामाजिक असुविधा होती थी; किंतु उन्होंने कभी देश-द्रोह कर मुसलमान आक्रमणकारियों को सहायता दी हो, अथवा स्वेच्छा से उनके धर्म को स्वीकार किया हो, इसके भी उदाहरण नहीं मिलते हैं। उस काल में यहाँ के धार्मिक विद्वानों और विचारकों ने स्वयं ही जाति-विधान की कठोरता को कम करने और निम्न जातियों के लोगों की असुविधाओं को दूर करने का प्रबल प्रयत्न किया था। उसके लिए बौद्ध सिद्धों, नाथों और योगियों ने जो धार्मिक क्रांति की थी, वह इतिहास से प्रमाणित है।

मुस्लिम विद्वानों के उपर्युक्त तर्कों और निष्कर्षों का प्रामाणिक एवं युक्तिसंगत खंडन करते हुए श्री बुद्धप्रकाश ने लिखा है कि मुसलमानों की विजय और हिंदू राजाओं की पराजय का कारण न तो उस काल की नगर-योजना थी, न निम्न जातियों का विद्रोह था और न जाति-पाँति

का भेद-भाव ही था; बल्कि भारतीयों की विचित्र सामाजिक मनोवृत्ति थी। उस काल के कतिपय धर्म-संप्रदायों ने जगत् को असार और शून्य बतला कर लोगों में पलायनवादी भावना को भर दिया था। उसके कारण राजा लोग राज्य प्रबंध और रक्षा-व्यवस्था के प्रति उदासीन होकर सिद्धों एवं योगियों के आश्रमों के चक्कर काटा करते थे और साधारण जनता 'कोउ नृप होइ, हमहिं का हानी' की शोचनीय तटस्थ वृत्ति के वशीभूत थी। जो लोग पलायनवाद और तटस्थ वृत्ति से परे रहे थे; वे उस काल के तांत्रिकों और वाममार्गियों के चंगुल में फँस कर इंद्रिय-सुख और विलासिता के महोदधि में आकंठ मग्न हो गये थे।

श्री बुद्धप्रकाश ने लिखा है,—"साहित्य और इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि जब मुसलमान सेनाएँ दुर्गों के द्वारों को तोड़ रही थीं, तो परमर्दि नग्न स्त्रियों का नाँच देख रहा था, लक्ष्मणसेन मातंगी से खेल कर रहा था, पृथ्वीराज नींद में ऊँघ रहा था और हरिराज नर्तकियों एवं वेश्याओं पर कोश खाली कर रहा था!... उस समय सिद्ध योगी की शक्ति राजा की सैनिक शक्ति से कहीं अधिक समझी जाती थी। जब सिद्ध लोग अपनी सिद्धियों द्वारा ही विदेशियों के आक्रमणों को विफल कर सकते थे तो स्थानीय सामंतों को सेना जमा करके खून बहाने की क्या ज़रूरत थी! पूर्वोक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमानों के आगमन के समय भारतीय जनता एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति में पहुँच चुकी थी, जहाँ पलायनवाद और भोगवाद का सामंजस्य हो गया था। लोग संसार के सुखों का पूरा आनंद लेना; किंतु उसके दायित्वों और कर्तव्यों से बचना चाहते थे। समाज और जीवन की यातनाओं से दूर एकांत में सुखों का उपभोग करें—यही प्रचलित मनोवृत्ति थी। शून्यवाद ने जनता पर सुषुप्ति का मंत्र फूंका तो भोगवाद ने उसकी शक्ति चूस कर उसे ढीला कर दिया। इस प्रकार जनता पर सुस्ती, निराशा, उन्माद और विलासिता का पर्दा पड़ गया था[१]।"

उस काल में यहाँ के राजा–प्रजा की जैसी मानसिक अवस्था थी, वही वास्तव में मुसलमानों की विजय और हिंदुओं की पराजय का कारण हुई थी। यह सब होते हुए भी यदि उस काल के राजागण तनिक भी बुद्धि से काम लेकर आपस में लड़ने के बजाय देश के सामान्य शत्रु से मोर्चा लेते, तो वे विदेशी आक्रमणकारियों से कदापि पराजित नहीं होते। फलतः भारत भूमि को भी पराधीनता के बंधन में न बँधना पड़ता। कम से कम उस काल के दो वीर राजा पृथ्वीराज और जयचंद्र में ही यदि विद्वेष न होता और वे दोनों ही मिल कर शत्रु से युद्ध करते, तब भी आक्रमणकारियों की पराजय निश्चित थी। किंतु देश के दुर्भाग्य से वैसा नहीं हुआ और भारत भूमि पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। उसका शिलान्यास जयचंद्र की पराजय वाले जिस युद्ध-स्थल में हुआ था, वह फीरोजाबाद के निकटवर्ती चंदवार ग्राम मथुरामंडल का ही एक स्थान है। इसे दैव की विडंबना ही कहा जावेगा कि इस पावन प्रदेश में ही भारत माता को विदेशियों की पराधीनता के पाश में बँधना पड़ा था!

●

---

(१) **भारत पर मुसलमानों के आक्रमण की पृष्ठभूमि** (ना. प्र. पत्रिका, मालवीय विशेषांक)

चतुर्थ अध्याय

उत्तर मध्य काल

[विक्रम सं० १२६३ से सं० १८८३ तक]

मुसलमानी राज्य की स्थापना—पृथ्वीराज और जयचंद्र जैसे प्रबल राजपूत राजाओं की सं० १२४८ और सं० १२५१ में पराजय होने के उपरांत महम्मद ग़ोरी द्वारा भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना की गई और दिल्ली उसकी शासन-सत्ता का प्रधान केन्द्र निश्चित हुई । उसके बाद महम्मद गोरी इस नये राज्य की देख–भाल का काम अपने सेनापति कुतुबुद्दीन पर छोड़ कर आप स्वदेश वापिस चला गया । जब तक महम्मद ग़ोरी जीवित रहा, तब तक कुतुबुद्दीन उसके अधीनस्थ शासक के रूप में मुसलमानी सत्ता को जमाने के लिए दौड़–धूप करता रहा था । सं० १२६३ में ग़ोरी की मृत्यु हो गई । उसके बाद कुतुबुद्दीन भारत के मुसलमानी राज्य का प्रथम स्वतंत्र शासक बन गया और उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया । इस प्रकार आरंभ से ही दिल्ली मुसलमानी राज्य की राजधानी हुई और उसके अंत तक बनी रही थी । मुगल काल में आगरा को भी दूसरी राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था; किंतु शाहजहाँ ने फिर दिल्ली को ही एक मात्र राजधानी रखा था ।

दिल्ली की राजकीय परंपरा—दिल्ली का प्राचीन नाम इंद्रप्रस्थ है, जहाँ कृष्ण–काल में पांडवों की राजधानी थी । महाभारत के पश्चात् दिल्ली का वह महत्व समाप्त हो गया । कालांतर में पहिले राजगृह–पाटलिपुत्र (पटना) को और फिर कन्नौज को भारत की प्रमुख राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था । राजपूती काल में अनंगपाल तोमर ने उजड़ी हुई दिल्ली को ११ वीं शताब्दी में फिर से बसाया और पृथ्वीराज चौहान के काल में उसका महत्व बहुत बढ़ गया था । जब मुसलमानों ने भारत में अपने राज्य की स्थापना की, तब उन्होंने दिल्ली को ही अपनी राजधानी बनाया था । उसके बाद फिर अब तक दिल्ली ही भारत की एक मात्र राजधानी रही है । इस प्रकार १२ वीं शताब्दी से अभी तक उसका वह गौरव अक्षुण्ण रहा है ।

भारतीय राजाओं के शासन काल में उनकी राजधानियाँ राजनैतिक केन्द्र होने के साथ ही साथ सांस्कृतिक केन्द्र भी रही थीं । मुसलमानी काल में दिल्ली राजनैतिक केन्द्र तो थी; किंतु सांस्कृतिक केन्द्र नहीं हो सकी थी । उसका कारण मुसलमानी शासकों का संकीर्ण दृष्टिकोण था । वे ज़ोर–ज़ब्र से इस्लामी मज़हब के साथ ही साथ इस्लामी संस्कृति का भी प्रचार करना चाहते थे । मज़हब तो बलपूर्वक लादा भी जा सकता है; किंतु संस्कृति का प्रचार सहिष्णुता और सद्भावना से ही होना संभव है । चूँकि अधिकांश मुसलमान शासकों में इन गुणों का अभाव था; अतः वे अपनी राजधानी दिल्ली को भारत का सांस्कृतिक केन्द्र बनाने में असफल रहे थे । दिल्ली छह शताब्दियों तक मुसलमानी शासन की राजधानी रही थी; अतः इस पर मुस्लिम संस्कृति का प्रचुर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था; किंतु फिर भी इसका महत्त्व इसकी राजकीय परंपरा के कारण ही माना गया है ।

१. सल्तनत काल

[विक्रम सं० १२६३ से सं० १५८३ तक]

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, भारत में मुसलमानी राज्य का प्रथम स्वतंत्र शासक कुतुबुद्दीन था। उसने सं० १२६३ में दिल्ली को अपनी राजधानी बना कर पहिले 'मलिक' और फिर 'सुलतान' की पदवी धारण की थी। कुतुबुद्दीन से लेकर इब्राहीम लोदी तक दिल्ली में अनेक सुलतान हुए, जिनके कारण सं० १२६३ से सं० १५८३ तक का प्रायः ३२० वर्ष का समय 'सल्तनत काल' कहलाता है। दिल्ली के वे सुलतान कई वंशों के थे। इतिहास में वे गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश और लोदी वंश के नामों से प्रसिद्ध हैं। वे सभी वंश तुर्क जाति के थे, केवल एक लोदी वंश पठान जाति का था। यहाँ पर सुलतानों के उन विविध राजवंशों का नामोल्लेख करते हुए उनमें से प्रमुख सुलतानों की कुछ कारगुजारियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

१. गुलाम वंश (सं० १२६३ से सं० १३४७ तक)—

कुतुबुद्दीन (सं० १२६३–सं० १२६७)—इस वंश का आरंभकर्त्ता कुतुबुद्दीन एबक था। वह अपने आरंभिक जीवन में महम्मद गोरी का गुलाम रह चुका था, इसलिए यह वंश गुलाम वंश के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है। इस वंश में कुतुबुद्दीन के बाद इल्तमश और बलवन जैसे प्रसिद्ध सुलतान हुए; किंतु अपने आरंभिक जीवन में वे सभी गुलाम रह चुके थे। कुतुबुद्दीन वीर सैनिक और सुयोग्य सेनापति था। अपनी प्रतिभा के बल पर ही वह गुलाम की निम्नतम स्थिति से उठ कर सुलतान के उच्चतम पद को प्राप्त कर सका था।

उसने दो मसजिदें बनवा कर भारत में इस्लामी इमारतों के निर्माण का आरंभ किया था। वे मसजिदें हिंदू मंदिरों को तोड़ कर उनके मसाले से एक दिल्ली में और दूसरी अजमेर में बनाई गई थीं। दिल्ली की 'कुतुब मीनार' उसी के नाम से प्रसिद्ध है; किंतु उसे बाद में बनवाया गया था।

इल्तमश (सं० १२६७–सं० १२९२)—उसका पूरा नाम शमसुद्दीन इल्तमश था। बचपन में वह कुतुबुद्दीन एबक का गुलाम रहा था; किंतु अपनी योग्यता के कारण वह पहिले अपने स्वामी का दामाद और फिर उत्तराधिकारी हुआ था। उसने भारत के मुसलमानी इलाके को गोरी के वंशजों की प्रभुता से मुक्त कर उसे स्वतंत्र राज्य की स्थिति प्रदान की थी; अतः वैधानिक रूप से वही दिल्ली का प्रथम सुलतान था।

दिल्ली की 'कुतुब मीनार' इल्तमश के द्वारा बनवाई हुई कही जाती है; किंतु यह अनुश्रुति ठीक नहीं है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, यह मीनार समुद्रगुप्त द्वारा दिल्ली में बनवाई हुई एक वेधशाला का सूर्य स्तंभ है। बाद में अनंगपाल तोमर और पृथ्वीराज चाहमान के काल में उसके निकट अनेक मंदिर तथा भवन बनवाये गये थे, जिन्हें मुसलमान आक्रमणकारियों ने दिल्ली पर अधिकार करते ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। कुतुबुद्दीन ने उनके मसाले से 'कुवत-उल-इस्लाम' नामक एक मसजिद बनवाई थी और इल्तमश ने उक्त सूर्य स्तंभ में कुछ तोड़-फोड़ कर उसे मुसलमानी मीनार का रूप दिया था। तब तक नव स्थापित मुसलमानी राज्य के

पैर भी नहीं जम पाये थे; अतः उस काल में वैसी बढ़िया इमारत का पूरी तरह बनवाना असंभव था। फिर इस मीनार की मूल स्थापत्य कला से भी यह हिंदू इमारत ही जान पड़ती है। मुसलमानी काल में इसका उपयोग मुल्ला द्वारा 'अजाँ' देने के लिए किया जाता था।

२. ख़िलज़ी वंश (सं० १३४७ से सं० १३७६ तक)—

अलाउद्दीन (सं० १३५३–सं०१३७३)—वह ख़िलजी वंश का सबसे प्रसिद्ध सुलतान था। अपने उपकारी चाचा की हत्या करा कर उसने राज्याधिकार प्राप्त किया था और वह जीवन भर युद्धों द्वारा अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ाता रहा था। वह क्रूर और हिंसक प्रकृति का महत्वकांक्षी शासक तथा एक कुशल सेनानायक था। अपने २० वर्ष के शासन काल में उसने भारत के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया था। उसके काल में ही देवगिरि, गुजरात, राजस्थान, मालवा और दक्षिण के अधिकांश भाग पर सर्व प्रथम मुसलमानों का शासन हुआ था। उसने चित्तौड़ की रानी पद्मिनी के लिए राजपूतों से छलपूर्ण संघर्ष किया, जिसमें हज़ारों राजपूत नर–नारियों का बलिदान हुआ था। राज्याधिकार प्राप्त करते ही उसकी क्रूर दृष्टि मथुरा पर पड़ी थी। उसने सं० १३५४ में यहाँ के असिकुंडा घाट के निकटवर्ती प्राचीन मंदिर को तोड़ कर उसके मसाले से एक मसजिद बनवाई थी, जो बाद में यमुना की बाढ़ से नष्ट हो गई थी।

यद्यपि वह पढ़ा–लिखा नहीं था, तथापि साहित्य और कला का प्रेमी था। उसके दरबार में विद्वानों और कलाकारों को आश्रय प्राप्त हुआ था। अमीर खुशरू जैसा प्रसिद्ध विद्वान और कला-मर्मज्ञ उसके दरबार में था। उसी के काल में अमीर खुशरू और गोपाल नायक की संगीत प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें भारतीय कला का प्रथम बार विदेशी कला से संघर्ष हुआ था।

अमीर खुशरू—उसका पिता मध्य एशिया से आया हुआ एक विदेशी मुसलमान था; किंतु खुशरू का जन्म एटा ज़िला के पटियाली ग्राम में सं० १३१० के लगभग हुआ था। वह दिल्ली के गुलाम वंशी सुलतान गयासुद्दीन बलबन के समय में शाही नौकरी में आया था और अलाउद्दीन ख़िजली के काल तक विद्यमान था। उसका देहावसान प्रायः ७२ वर्ष की आयु में सं० १३८२ के लगभग दिल्ली में हुआ था, जहाँ उसका मक़बरा बना हुआ है। वह कई भाषाओं का ज्ञाता, फारसी का महाकवि और संगीत का विख्यात विद्वान था। उसने भारतीय संगीत में अरबी, ईरानी और तूरानी तत्वों का समावेश कर मिश्रित राग और नवीन वाद्य यंत्रों का आविष्कार किया था। उसने मनोरंजक शैली की कुछ हिंदी कविताएँ भी लिखी थीं, जिनसे उसका भारतीय भाषा के प्रति प्रेम प्रदर्शित होता है।

अमीर खुशरू के समय में दक्षिणी भारत के एक विख्यात संगीतज्ञ गोपाल नायक की बड़ी ख्याति थी। संगीत संसार में खुशरू और गोपाल की संगीत–प्रतियोगिता प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख फकीरुल्ला, विलर्ड और भातखंडे जैसे विख्यात संगीतज्ञों के ग्रंथों में हुआ है। गोपाल दक्षिण से दिल्ली गया था और उसने अलाउद्दीन ख़िजली के दरबार में उपस्थित होकर दरबारी संगीतज्ञों को गायन–प्रतियोगिता की चुनौती दी थी। अमीर खुशरू उस काल में ख़िलजी दरबार का सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ था। उसकी गोपाल से संगीत–प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें खुशरू ने छलपूर्वक गोपाल को पराजित किया था; किंतु उसके प्रकांड संगीत ज्ञान का लोहा खुशरू को मानना पड़ा था[1]।

---

(१) **लेखक कृत 'संगीताचार्य बैजू और गोपाल'**, पृष्ठ १४–१७

३. तुग़लक वंश (सं० १३७७ से सं० १४७० तक)—

महम्मद तुग़लक (सं० १३८२–सं० १४०८)—इस वंश के सुलतानों में महम्मद तुग़लक का नाम अपने प्रयोगात्मक क्रांतिकारी कार्यों के लिए प्रसिद्ध है। पूर्ववर्ती सुलतानों की राजस्व, कृषि और मुद्रा विषयक नीति में परिवर्तन करने और अपनी राजधानी को दिल्ली से हटा कर देवगिरि ले जाने के उसके ऐसे विचित्र प्रयोग थे, जिनके कारण वह जनता में बड़ा अप्रिय हो गया था। यद्यपि वह विद्वान, कुशाग्रबुद्धि और सूझ–बूझ का व्यक्ति था; तथापि व्यवहार-कुशल न होने के कारण उसका शासन असफल माना जाता है। अनेक इतिहासकारों ने उसके चरित्र का मूल्यांकन किया है; किंतु उनके निष्कर्ष एक–दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इस प्रकार दिल्ली के सुलतानों में उसका चरित्र जैसा विवादग्रस्त और मनोरंजक था, वैसा किसी दूसरे का नहीं मिलता है। कुछ इतिहासकारों ने उसे पागल बतलाया है, किंतु वह निश्चय ही पागल नहीं था। उसके शासन काल में इब्नबतूता नामक एक मुसलमान यात्री भारत यात्रा के लिए आया था। वह सं० १३९० में दिल्ली पहुँचा था और वहाँ कई वर्ष तक रहा था। उसने अपने यात्रा–विवरण में महम्मद तुग़लक के शासन का विस्तृत उल्लेख किया है।

फीरोज तुग़लक (सं० १४०८–सं० १४४५)—वह महम्मद तुग़लक का चचेरा भाई था। उसकी माता भट्टी राजपूत जाति की एक सुंदर रमणी थी, जिसके साथ उसके पिता ने बलपूर्वक निकाह किया था। एक हिंदू माता का पुत्र होने के कारण उस काल के तुर्क सरदार उसे पक्का मुसलमान नहीं मानते थे। इसलिए फीरोज अपने को किसी भी तुर्क से कम मुसलमान सिद्ध न होने देने के लिए हिंदुओं के साथ बड़ी कठोरता और अहिष्णुता का व्यवहार करता था। हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाना और उनके धर्म–स्थानों को नष्ट करना वह अपना मज़हबी फ़र्ज समझता था। उसने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान वाले उस मंदिर को क्षतिग्रस्त किया, जिसे प्रायः दो शताब्दी पहिले विजयपाल देव ने बनवाया था। वह मंदिर बाद में ठीक करा दिया गया था; क्यों कि सिकंदर लोदी के काल में फिर उसके ध्वंस किये जाने का उल्लेख मिलता है।

तैमूर का आक्रमण—तुग़लक वंश के परवर्ती सुलतान अयोग्य थे। उन्हीं में से एक नासिरुद्दीन महमूद था, जो शक्तिहीन शासक था। उसके शासन-काल में मध्य एशिया के क्रूर आक्रांता तैमूर लंग का भारत पर भीषण आक्रमण हुआ था। उसने सं० १४४५ में पंजाब और दिल्ली पर आक्रमण कर वहाँ के लाखों नर–नारियों का कत्ले–आम कराया था। उसका आक्रमण एक मुसलमानी राज्य पर हुआ था और उसमें मुसलमान भी मारे गये थे; किंतु जनता में अधिकांश हिंदू होने के कारण हानि अधिकतर हिंदुओं की हुई थी। दिल्ली पर आक्रमण करने से पहिले उसने पंजाब में एक लाख हिंदुओं को गुलाम बनाने के लिए बंदी बनाया था। जब वह दिल्ली पहुँचा, तब उसकी सेना के साथ बंदियों की भी भारी भीड़ थी। उस भीड़ के कारण आक्रमण में बाधा न पड़े, इसलिए उस नर–पिशाच ने उन सब का कत्ल करा दिया था! फिर दिल्ली में नागरिकों के खून से उसने वह होली खेली, कि तभी से उसका नाम भय और आतंक के साथ लिया जाता है। तैमूर के समान नरघाती राक्षस विश्व के इतिहास में शायद ही कोई दूसरा हुआ हो! तत्कालीन सुलतानों की अयोग्यता के कारण उनके राज्य की पहिले ही बहुत बुरी अवस्था थी। फिर तैमूर के आक्रमण से ऐसी तबाही और बर्बादी हुई कि तुग़लक राज्य ही समाप्त हो गया।

४. सैयद वंश (सं० १४७१ से सं० १५०८ तक)—

वह तुर्क जाति के सुलतानों का अंतिम राजवंश था। उक्त वंश का शासन थोड़े काल तक रहा था। उसमें जो ३–४ सुलतान हुए, उनके शासन–काल की कोई घटना उल्लेनीय नहीं है।

५. लोदी वंश (सं० १५०८ से सं० १५८३ तक)—

सिकंदर लोदी (सं० १५४६–सं० १५७४)—इस वंश के सुलतान पठान जाति के थे। उनमें सिकंदर लोदी सबसे अधिक धर्मांध शासक था। वह एक हिंदू सुनारिन का पुत्र था, अतः हीन भावना से ग्रसित रहता था। अपने को किसी विदेशी मुसलमान सरदार से कम पक्का मुसलमान सिद्ध न होने देने के लिए वह हिंदुओं पर बड़े अत्याचार करता था! उसने अपने राज्य के हिंदू मंदिरों को नष्ट करने और अपनी हिंदू प्रजा को बल–पूर्वक मुसलमान बनाने में बड़ा उत्साह दिखलाया था।

उसके जीवन का उत्तरार्ध ग्वालियर के कलाप्रिय हिंदू राजा मानसिंह तोमर के विरुद्ध युद्ध करने में बीता था। उसने मानसिंह को पराजित करने का कई बार प्रयत्न किया; किंतु हर बार उसे विफल होकर वापिस लौटना पड़ा था। दिल्ली से ग्वालियर पर सीधा आक्रमण करने में असुविधा समझ कर उसने सं० १५६१ में आगरा को अपनी सैनिक छावनी बनाया था और उसी स्थान से ग्वालियर पर आक्रमण करने की उसने व्यवस्था की थी। आजकल जहाँ सिकंदरा है, वहीं उसकी सेना का पड़ाव था। उसी के नाम पर उक्त स्थल का नाम 'सिकंदरा' पड़ा है। सिकंदर से पहिले आगरा एक छोटा नगर था। जब से वह लोदी सुलतान की सैनिक राजधानी बना, तभी से उसका विस्तार होने लगा था। सिकंदर ने वहाँ पर ईंट–चूने का एक छोटा दुर्ग भी बनवाया था, जो कालांतर में मुगल सम्राट अकबर द्वारा बड़े आकार में पक्का संगीन किया गया था। मुगलों के काल में आगरा को भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था।

मथुरा के लिए सिकंदर का शासन विशेष रूप से संकटप्रद रहा था। उसने यहाँ के हिंदुओं के धार्मिक कृत्यों पर पूरी पाबंदी लगा दी थी। यहाँ तक कि कोई हिंदू न तो बाल बनवा सकता था और न यमुना–स्नान कर सकता था! उसने विविध भाँति से मथुरा की धार्मिक जनता को त्रस्त करने में ही अपने राजकीय कर्त्तव्य की पूर्ति समझी थी।

कृष्ण–जन्मस्थान के मंदिर का ध्वंस—सिकंदर के काल की सबसे दुःखद घटना मथुरा के श्री कृष्ण–जन्मस्थान वाले उस मंदिर का ध्वंस होना था, जिसे कन्नौज के गाहड़वालवंशी राजा विजयपाल देव ने सं० १२१२ में बनवाया था। वह मंदिर विगत युग में मथुरा के हिंदुओं का प्रमुख पूजा–स्थल था, जो सुलतानों के भीषण काल में भी यहाँ के हिंदुओं की धार्मिक भावना जागृत रखने में बड़ा सहायक रहा था। उसे पहिले फ़ीरोज तुग़लक ने क्षतिग्रस्त किया था; किंतु बाद में कदाचित उसका जीर्णोद्धार करा दिया गया था। सिकंदर लोदी ने उसे पुनः पूरी तरह नष्ट कर दिया था। जब श्री वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव मथुरा आये थे, तब उन्होंने उस मंदिर में केशव भगवान् के दर्शन किये थे। इससे सिद्ध होता है कि वह मंदिर मथुरा में सं० १५७३ तक विद्यमान था। उसके बाद सं० १५७३ के अंत में सिकंदर लोदी ने उसे नष्ट कराया होगा। सं० १५७४ में सिकंदर की मृत्यु हुई थी। इस प्रकार अपने जीवन के अंतिम वर्ष में उस धर्मांध सुलतान ने मथुरा

के उस प्रसिद्ध देवालय का विध्वंस करा कर आखिरी शवाब्र लूटा था। उसका मक़बरा दिल्ली में बना हुआ है, जो इस समय अरक्षित सा पड़ा है !

इब्राहीम लोदी (सं० १५७४– सं० १५८३)—वह लोदी वंश का अंतिम सुलतान था। उसके शासन–काल में बाबर ने भारत पर आक्रमण कर उसे पराजित किया था। उसके परिणाम स्वरूप दिल्ली के सुलतानों की परंपरा समाप्त हुई और भारत में मुगल राज्य की स्थापना हो गई थी।

सुलतानी शासन में मथुरामंडल (ब्रज) की स्थिति—

ब्रज या ब्रजमंडल नाम का प्रचलन—महमूद ग़ज़नबी द्वारा मथुरा के शासक कुलचंद्र की पराजय होने से मथुरा राज्य समाप्त हो गया था। उसके बाद सुलतानों के शासन में उसका कोई राजनैतिक महत्व नहीं था। उस काल में 'मथुरा राज्य' जैसी किसी राजनैतिक इकाई का कोई अस्तित्व नहीं था, अतः उस नाम का प्रचलन भी नहीं रहा था। उस समय वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा इसके जिस धार्मिक रूप का निर्माण हुआ, उसे 'ब्रज' अथवा 'ब्रजमंडल' कहा जाने लगा। उस काल से लेकर अब तक धार्मिक जगत् में मथुरामंडल का यही नाम प्रचलित रहा है।

सुलतानों द्वारा ब्रज का उत्पीड़न—कुतुबुद्दीन एबक से लेकर इब्राहीम लोदी तक, सं० १२०६ से सं १५८३ तक के काल में ब्रज पर दिल्ली के सुलतानों का शासन रहा था। उन्होंने इस प्रदेश के राजनैतिक महत्व को तो कभी स्वीकार किया ही नहीं, इसके धार्मिक महत्व को भी नष्ट करने की उन्होंने पूरी चेष्टा की थी। सुलतानों ने एक 'इस्लामी सैनिक राज्य' की स्थापना की थी और उनका शासन उसी के अनुरूप होता था। राज्य के समस्त क़ानून शरीयत के अनुसार थे, जिन्हें सैनिक शक्ति से मनवाया जाता था। उस प्रकार के शासन में इस्लाम और मुसलमानों को सब प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी गई थीं और दूसरे धर्मों तथा उनके मानने वालों के साथ उपेक्षा, घृणा, उत्पीड़न एवं अत्याचार का व्यवहार किया जाता था। चूँकि ब्रजमंडल उस काल में पौराणिक हिंदू धर्म का एक बड़ा केन्द्र था; अतः यहाँ के निवासियों को सुलतानों के उत्पीड़न से सदा ही कष्ट उठाना पड़ा था। दिल्ली के सुलतानों की नाक के नीचे रहने के कारण चाहे जब उनकी क्रूर दृष्टि ब्रजमंडल पर पड़ जाती थी। तभी यहाँ के मंदिर–देवालयों को तोड़ने, लोगों को बलात् मुसलमान बनाने अथवा लूट-मार और क़त्लेआम करने की एक आँधी सी चल पड़ती थी, जो ब्रज के धार्मिक स्वरूप को धूमिल कर देती थी। निज़ामुद्दीन, फरिश्ता और बदायूनी आदि मुसलमान इतिहास–लेखकों के ग्रंथ ही सुलतानों के उन काले कारनामों से भरे पड़े हैं।

धर्म-स्थानों का विध्वंस—सुलतानी शासन से पहिले मथुरामंडल जैन और पौराणिक हिंदू धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ पर श्वेतांवर–दिगंवर जैन तथा वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्मों के अनेक मंदिर–देवालय थे। सुलतानों ने उन्हें एक-एक कर नष्ट कर दिया। कामबन की पहाड़ी पर एक विख्यात विष्णु मंदिर था, जिसे यादव वंशीय राजा पर्जन्यदामा ने सं १२५० के लगभग बनवाया था। उस कलापूर्ण विशाल देवालय को गुलाम वंश के सुलतान इल्तमश ने क्षतिग्रस्त किया और बाद में उसे फीरोज़ तुग़लक ने पूरी तरह बर्बाद कर दिया था। उसके स्थान पर एक मसजिद बनवा दी गई थी। मथुरा के असिकुंडा घाट पर बने हुए प्राचीन मंदिर को

अलाउद्दीन खिलजी ने सं० १३५४ में तोड़ कर उसके स्थान पर भी एक मसजिद का निर्माण कराया था। मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर कन्नौज के राजकुमार विजयपाल देव ने सं० १२१२ में जो मंदिर बनवाया था, उसे पहिले फीरोज़ तुग़लक ने क्षतिग्रस्त किया और फिर सिकंदर लोदी ने सं० १५७३ में उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया था। इसी प्रकार ब्रजमंडल के प्रायः सभी मंदिर-देवालय सुलतानी शासन में बर्बाद कर दिये गये थे। जो किसी प्रकार बच रहे, वे जीर्ण–शीर्ण होकर स्वतः समाप्त हो गये; क्यों कि उस काल में मंदिर–देवालयों का जीर्णोद्धार करना भी शासन की ओर से वर्जित था। सुलतानों की असहिष्णुता और उनके मजहबी तास्सुब के कारण यहाँ के धर्म स्थानों का ऐसा व्यापक विनाश किया गया कि उस काल का कोई ध्वंसावशेष तक नहीं मिलता है। इस समय ब्रजमंडल में जो प्राचीन मंदिर–देवालय हैं, उनमें से कोई भी मुगल सम्राट अकबर से पहिले का नहीं है।

ग़ैर मुस्लिमों पर अत्याचार—सुलतानी शासन का एक प्रमुख उद्देश्य इस देश में इस्लाम का प्रचार करना था। उसके लिए सुलतानों ने उचित–अनुचित सभी प्रकार के साधनों को अपनाया था। उनके कर्मचारी यहाँ के लोगों को मुसलमान बनाने के लिए अनेक प्रकार के प्रलोभन देते थे। जो मुसलमान बन जाते थे, उन्हें सब प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी जाती थीं और जो नहीं बनते थे उनके साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया जाता था। मुसलमानी क़ानून 'शरीयत' के अनुसार इस्लाम पर विश्वास न करने वालों को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं था। काज़ी और मुल्लाओं की गैर मुसलमानों के लिए एक ही शर्त होती थी कि वे या तो इस्लाम स्वीकार करें अथवा मरने के लिए तैयार हो जावें ! चूंकि उस काल के मुट्ठी भर मुसलमानों द्वारा यहाँ के करोड़ों निवासियों को एक दम न तो मुसलमान बनाया जा सकता था और न उन्हें मारा ही जा सकता था; इसलिए सुलतानों को मुस्लिम क़ानून में कुछ संशोधन करने को वाध्य होना पड़ा था। उन्होंने मुसलमान न बनने वालों को जीवन-दान देने के लिए भारी कर लगा दिया, जिसे 'ज़ज़िया' कहा जाता था।

डा० आशीर्वादीलाल ने लेनपोल, स्मिथ, वूल्जले, हेग, जदुनाथ सरकार आदि लेखकों के आधार पर लिखा है,—"ज़ज़िया कर सिर्फ हिंदुओं पर लगता था और वह इसलिए कि वे अपने को हीन महसूस करें और उन पर आर्थिक–सामाजिक दबाव डाल कर मजहब–परिवर्तन के लिए उन्हें बाध्य किया जा सके। इस टैक्स की दरें भी काफी ऊँची थीं। अमीरों को ४८, सामान्य व्यक्तियों को २४ तथा ग़रीबों को भी कम से कम १२ रजत मुद्राएँ इस टैक्स के फल स्वरूप देनी होती थीं। शुरू में ब्राह्मण इस कर से मुक्त थे; किंतु फीरोज़ तुग़लक के ज़माने में उन्हें भी टैक्स से मुक्त नहीं किया गया। आदेश यह था कि इस कर का दाता स्वयं कलक्टर के सामने हाज़िर होकर विनम्रता और पूर्ण हीनता प्रदर्शित करते हुए कर जमा करे[1] !" इस प्रकार सुलतानों के शासन-काल में ब्रज के हिंदुओं को सुखी और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करना असंभव हो गया था। वे हीन श्रेणी के नागरिकों की भाँति अर्थ-कष्ट और सामाजिक अपमान सहते हुए अपना जीवन बिताने के लिए वाध्य थे।

---

(१) **'सैनिक' विशेषांक और दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ ३५७**

वैष्णव धर्माचार्यों का साहसपूर्ण अभियान—

धर्माचार्यों का ब्रज-आगमन—जिस काल में उत्तरी भारत में मुसलमानों के आक्रमण और इस्लामी राज्य की स्थापना के प्रयत्न हो रहे थे, उसी काल में दक्षिण भारत के विविध धर्माचार्य वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार और कृष्ण-भक्ति के प्रचार का व्यापक आयोजन कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्री कृष्ण के लीला-धाम में ही अपने केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया; ताकि वे उस भीषण काल में लोगों को सान्त्वना देते हुए उन्हें श्री कृष्ण पर ही आश्रित रहने का संदेश दे सकें। इस प्रकार व्रज में आने वाले धर्माचार्यों में श्री निम्वार्काचार्य कदाचित पहिले महानुभाव थे। उन्होंने ब्रज के गोवर्धन स्थित उस स्थान पर निवास किया था, जिसे अब निंवग्राम अथवा नीमगाँव कहा जाता है। उनके पश्चात् निंवार्क संप्रदाय के अनेक आचार्यों और उनके अनुयायियों का व्रज से घनिष्ट संबंध रहा था। उस काल में जिन धर्माचार्यों ने यहाँ की विषम परिस्थिति के कारण अनेक असुविधाएँ और कष्ट उठाते भी अपने असीम साहस, अद्भुत आत्मबल और सुदृढ़ धार्मिक विश्वास का परिचय दिया था, उनमें निंवार्क संप्रदाय के आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट, माध्व संप्रदाय के आचार्य माधवेन्द्र पुरी तथा पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री बल्लभाचार्य और गौड़ीय संप्रदाय के प्रतिष्ठाता श्री चैतन्य महाप्रभु के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

केशव काश्मीरी भट्ट—सुलतानी काल में ब्रज में आकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने वाले धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों में श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी का नाम प्रसिद्ध है। वे तैलंग प्रदेशीय दाक्षित्य ब्राह्मण थे; किंतु कश्मीर में अधिक काल तक निवास करने के कारण काश्मीरी कहलाते थे। वे श्री निंवार्काचार्य की शिष्य-परंपरा में उन्हीं के जन्म-स्थान वैदूर्यपत्तन (आंध्र राज्य) में उत्पन्न हुए थे[1], और उनकी गद्दी के ३३ वें आचार्य थे[2]। उन्होंने श्री गंगल भट्ट से दीक्षा ली थी। वे दिग्विजयी विद्वान, तपस्वी महातमा, परम भक्त और प्रकांड शास्त्र-वेत्ता थे। उन्होंने तीन वार समस्त भारत की यात्राएँ की थीं, जिनमें उन्होंने विभिन्न धर्मावलंवियों को पराजित कर कृष्णोपासना का प्रचार किया था। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। प्रस्थानत्रयी पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य और भागवत की विस्तृत टीका आदि ग्रंथ उनके पांडित्य के परिचायक हैं। उनके जीवन-काल की घटनाओं में मथुरा के विश्राम घाट की यंत्र-बाधा और मुसलमान काज़ी से उनके विवाद की घटना अधिक प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख आगे किया गया है।

माधवेन्द्र पुरी—उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत अज्ञात है। ऐसा कहा जाता है, वे तैलंग प्रदेश के दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। वे माध्व संप्रदाय के आचार्य, सर्व शास्त्रों के ज्ञाता और परम भक्त संन्यासी थे। उन्होंने अनेक बार विविध स्थानों की यात्राएँ कर कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार किया था। कालांतर में उनके भक्ति-सिद्धांत को और भी समृद्ध करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने गौड़ीय संप्रदाय कि प्रतिष्ठा की थी। 'चैतन्य चरितामृत' में उनके ब्रज में आने और गोबर्धन में श्रीनाथ-गोपाल की देव प्रतिमा का प्राकट्य करने की कथा लिखी गई है। उससे ज्ञात होता है, जिस सुलतानी काल में ब्रज में मूर्ति-पूजा की बात करना भी बड़े संकट का काम था,

---

(१) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५०६

(२) श्री आचार्य परंपरा परिचय, पृष्ठ १३

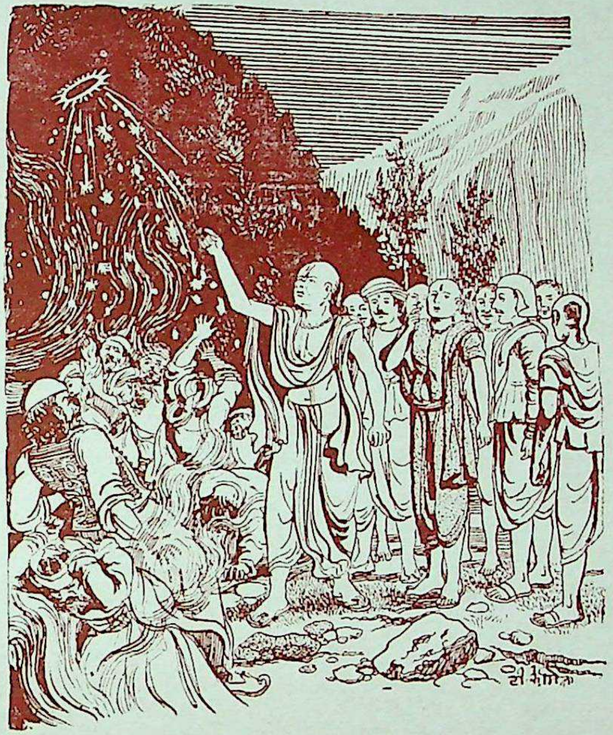

श्री केशव काश्मीरी भट्ट

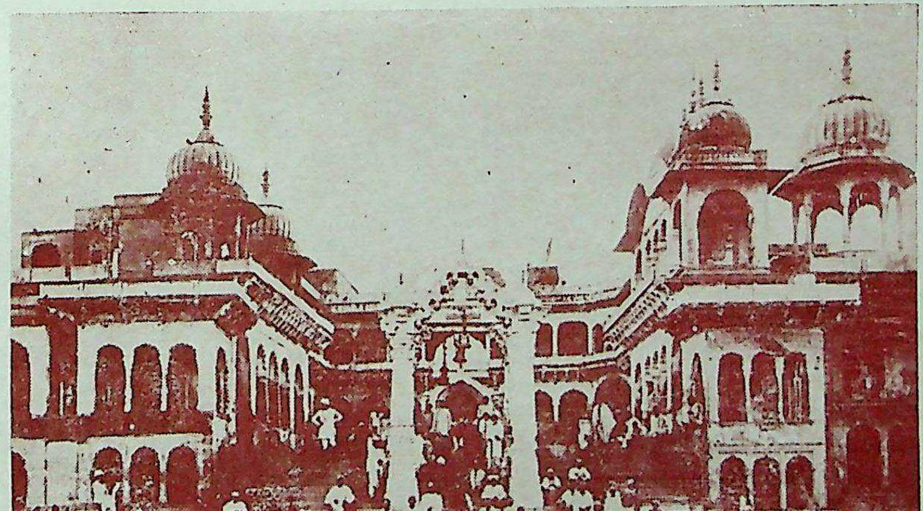

यंत्र-बाधा का स्थल विश्रामघाट

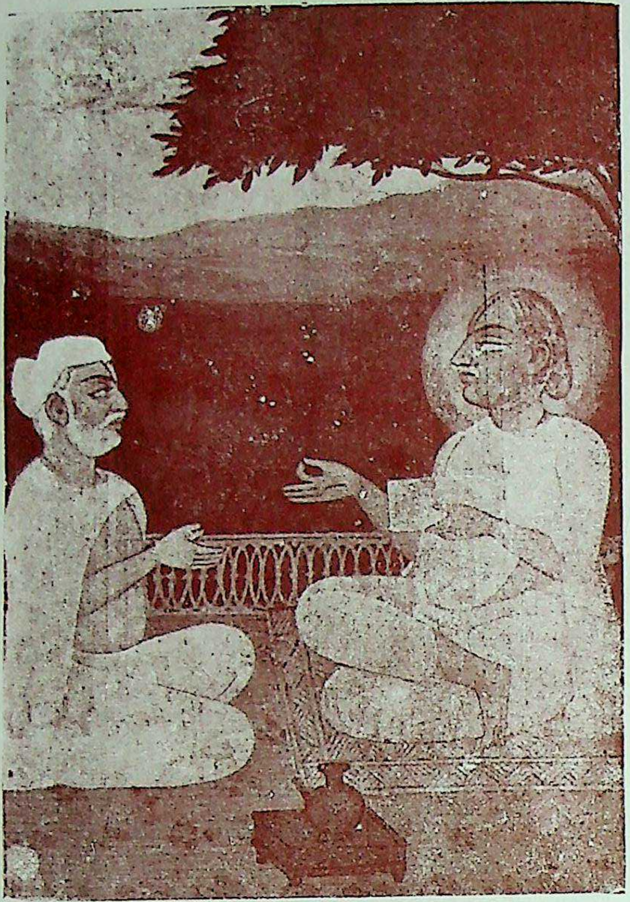

महाप्रभु बल्लभाचार्य

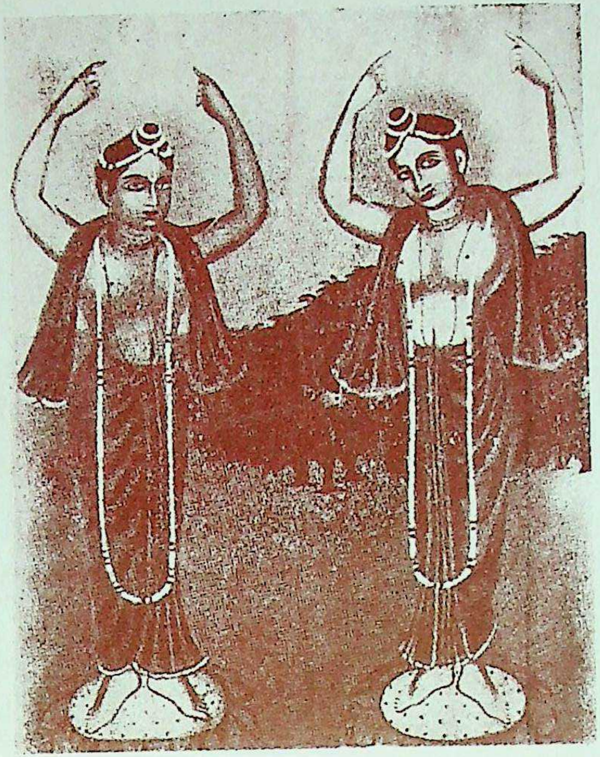

चैतन्य महाप्रभु और नित्यानंद प्रभु

उसी काल में उन्होंने यहाँ बड़े साहस पूर्वक श्रीनाथ जी की देव प्रतिमा को प्रकट कर उनकी सेवा-पूजा का आयोजन किया था। वे निर्भय होकर ब्रज में विचरण करते हुए कृष्णोपासना का प्रचार किया करते थे। उनके जीवन-वृत्तांत से संबंधित तिथि–संवत् अनिश्चित हैं। ऐसा अनुमान है, वे सं० १५०० से पहिले उत्पन्न हुए थे और सं० १५४६ के लगभग ब्रज में आये थे। उनका देहावसान सं० १५५० के लगभग दक्षिण प्रदेश में हुआ था।

महाप्रभु बल्लभाचार्य—सुलतानी काल में ब्रज में कृष्ण–भक्ति के प्रचार का समुचित आयोजन वाले धर्माचार्यों में श्री बल्लभाचार्य जी का स्थान अद्वितीय है। उनके महान् व्यक्तित्व, प्रखर पांडित्य और अनुपम आत्मबल से ब्रज के संकटग्रस्त हिंदू धर्म को जो शक्ति प्राप्त हुई थी, वह उनकी महान् देन है। उनका जन्म सं० १५३५ की वैशाख कृ० ११ को ज़िला रायपुर (म. प्र.) के चंपारण्य नामक स्थान में हुआ था। वे आंध्र प्रदेशीय तैलंग ब्राह्मण थे। उनका आरंभिक जीवन काशी में बीता था और वहीं पर उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके अध्ययन की व्यवस्था की गई थी। वे प्रकांड विद्वान, समस्त शास्त्रों के अपूर्व ज्ञाता और धार्मिक सिद्धांतों के बड़े धर्मोपदेष्टा थे। उन्होंने अपने भक्ति–ज्ञान और पांडित्य के वल पर अपने समय के विद्वत् समाज में सर्वोपरि स्थान प्राप्त किया था तथा पुष्टि संप्रदाय की स्थापना की थी।

वे सं० १५५० में प्रथम वार ब्रज में आये थे। उसके बाद उन्होंने यहाँ की कई यात्राएँ की थीं। उन्होंने सुलतानों के संकट काल में ही गोबर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की समुचित व्यवस्था की थी और एक नये मंदिर के निर्माण का उपक्रम किया था। वे निर्भय होकर ब्रज में कृष्ण-भक्ति और कृष्णोपासना के व्यापक प्रचार का आन्दोलन करते रहे थे। उनका देहावसान सं० १५८७ में काशी में हुआ था। मथुरा के विश्राम घाट की यंत्र-बाधा वाली जिस घटना का संबंध श्री केशव काश्मीरी जी से बतलाया जाता है, वह श्री बल्लभाचार्य जी से भी संबंधित कही जाती है।

चैतन्य महाप्रभु—सुलतानी काल में कृष्ण–भक्ति का व्यापक प्रचार करने वाले महानुभावों में श्री चैतन्य महाप्रभु अन्यतम थे। वे बंगाली ब्राह्मण थे और उनका जन्म सं १५४२ की फाल्गुन शु० १५ को बंगाल के नवद्वीप नामक स्थान में हुआ था। वे प्रतिभाशाली विद्वान और भक्ति-सिद्धांत के अद्वितीय व्याख्याता थे। उन्होंने युवावस्था में ही घर-बार छोड़ कर संन्यास की दीक्षा ली थी और फिर जीवन भर कृष्ण–भक्ति के प्रचार में वे लगे रहे थे। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बंगाल में मुसलमान काज़ी का डट कर विरोध किया था और ब्रज में अपने शिष्य-सेवकों द्वारा कृष्ण–भक्ति के प्रचार का भारी प्रयत्न किया था। वे स्वयं भी सं० १५७३ में ब्रज में आये थे। तभी उन्होंने सिकंदर लोदी के दमन काल में ही कृष्णोपासना के प्रचार का वृहत् आयोजन किया था। उनका देहावसान सं० १५९० में जगन्नाथपुरी में हुआ था।

मथुरा के विश्राम घाट की यंत्र–बाधा—नाभा जी और प्रियादास जी कृत 'भक्तमाल' में श्री केशव काश्मीरी भट्ट की महिमा का कथन करते हुए मथुरा के विश्राम घाट की 'यंत्र–बाधा' विषयक एक घटना का उल्लेख हुआ है। उससे ज्ञात होता है, 'जब भट्ट जी कश्मीर में थे, तब उन्होंने सुना कि मथुरा के विश्राम घाट पर वहाँ के काज़ी ने एक चमत्कारपूर्ण 'यंत्र' लगा रखा है। जब कोई हिंदू अपने धार्मिक कृत्य के लिए उधर जाता है, तभी यंत्र के प्रभाव से

उसकी सुन्नत (इस्लामी संस्कार–क्रिया) हो जाती है। फिर काज़ी के कर्मचारी उस व्यक्ति को बलात् मुसलमान बना लेते हैं। उसके कारण मथुरा के हिंदू बड़े दुखी और भयभीत थे। भट्ट जी उनके कष्ट के निवारणार्थ मथुरा आये और अपनी शिष्य–मंडली के साथ विश्राम घाट पर जम कर बैठ गये। उनके भक्ति–प्रताप से वह यंत्र प्रभावशून्य हो गया। जब काज़ी के कर्मचारी उनके पास आये, तो उन्होंने उन्हें फटकार दिया। उक्त कर्मचारियों ने मुसलमान सूबेदार से फरियाद की। सूबेदार ने वहाँ पर सैनिक भेज दिये; किंतु भट्ट जी और उनके शिष्यों ने उन्हें पराजित कर मार भगाया। इस प्रकार भट्ट जी की आध्यात्मिक शक्ति का परिचय प्राप्त कर मथुरा के काज़ी और मुसलमान शासक सभी भयभीत हो गये थे[1]।'

'भक्तमाल' में मथुरा की यंत्र–बाधा विषयक जिस घटना का संबंध श्री केशव काश्मीरी जी से बतलाया गया है, बल्लभ संप्रदायी साहित्य में उसी को श्री बल्लभाचार्य जी से संबंधित कहा गया है। 'श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' और श्री यदुनाथ जी कृत 'बल्लभ दिग्विजय' (सं० १६५८) में उक्त घटना का उल्लेख करते हुए उसका श्रेय श्री बल्लभाचार्य जी को दिया गया है। 'श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में लिखा है, जब आचार्य जी मथुरा आये थे, तब वहाँ के विश्रामघाट के दरवाज़े पर सिकंदर लोदी के कर्मचारी रुस्तम अली ने एक ऐसा यंत्र टाँग रखा था, जिसके प्रभाव से जो भी हिंदू उधर से निकलता था, उसकी चोटी कट जाती थी और डाढ़ी निकल आती थी। इस प्रकार मुसलमान किये जाने के भय से कोई भी हिंदू यमुना-स्नान नहीं कर सकता था। आचार्य जी पर उस यंत्र का कोई प्रभाव नहीं हुआ। उन्होंने अपने साथियों सहित आनंद पूर्वक यमुना–स्नान किया था। बाद में मथुरा के चौबों ने उनसे सदा के लिए उस यंत्र-बाधा को दूर कराने की प्रार्थना की। उस पर बल्लभाचार्य जी ने अपने दो सेवक वासुदेवदास और कृष्णदास को दूत बना कर और उन्हें 'पातसाह' के लिए अपना पत्र देकर दिल्ली भेजा था। पादशाह ने बल्लभाचार्य जी की इच्छानुसार मथुरा से यंत्र-बाधा हटवा दी थी। उसने अपने कर्मचारी रुस्तम अली को आदेश दिया कि 'वह मथुरा से तत्काल अपना यंत्र हटा ले और फिर कभी किसी के मज़हब पर निगाह न डाले[2]।'

उक्त घटना दिल्ली के किस 'पातसाह' के काल में हुई थी, उसके नाम का उल्लेख न तो 'भक्तमाल' में हुआ है और न 'वार्ता' में। निंवार्क संप्रदायी विद्वानों ने उक्त घटना को अलाउद्दीन ख़िलजी के काल (सं० १३५३–सं० १३७३) की अथवा उससे भी पहिले (सं० १२१७) की बतलाते हुए श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की विद्यमानता भी उसी काल की सिद्ध करने का प्रयास किया है[3]। उक्त विद्वानों का यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। ऐतिहासिक और सांप्रदायिक उल्लेखों के आधार पर उक्त घटना अलाउद्दीन ख़िलज़ी अथवा उसके पहिले के काल की न होकर उसके बहुत बाद की—सिकंदर लोदी के काल (सं० १५४८ – सं० १५७४) की सिद्ध होती है। इतिहास

---

(१) भक्तमाल, छप्पय सं० ७५ और कवित्त सं० ३३७

(२) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १०-११

(३) श्री आचार्य परंपरा परिचय, पृष्ठ १३; निंवार्क माधुरी, पृष्ठ ७-६ भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ३२१ और युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १३

से ज्ञात होता है, सिकंदर लोदी की आज्ञा से हिंदुओं को यमुना में स्नान करना तथा वहाँ के घाटों पर बाल बनवाना सर्वथा वर्जित था। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सुरक्षित 'तबक़ाते अकबरी' की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रोफेसर हलीम ने लिखा है कि सिकंदर लोदी के शासन में राज्य की ओर से मथुरा के घाटों पर कर्मचारी नियुक्त थे, जो यमुना में स्नान नहीं करने देते थे और बाल नहीं बनवाने देते थे। प्रोफेसर हलीम की तरह डा० ईश्वरीप्रसाद और डा० आशीर्वादी लाल ने भी लिखा है कि सं० १५४६ के आस-पास मथुरा में हिंदुओं को यमुना में स्नान करने की स्वतंत्रता प्राप्त न थी। 'तारीखे दाऊदी' में भी इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है[१]।

'तारीखे दाऊदी' जहाँगीर कालीन इतिहास-लेखक अब्दुल्ला की रचना है। उसमें सिकंदर लोदी के धर्मोन्माद और अत्याचारों का जो उल्लेख है, उसे श्री ग्राउस ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"सिकंदर ने मथुरा के हिंदुओं पर सिर और दाढ़ी मुड़ाने तथा धार्मिक कृत्य करने की कड़ी पाबंदी लगा दी थी। उसके आदेश के कारण मथुरा में हिंदुओं को नाई मिलना कठिन हो गया था[२]।" अब्दुल्ला से पहिले अकबर कालीन इतिहास-लेखक फरिश्ता ने भी 'तारीखे फरिश्ता' में उसी प्रकार का कथन करते हुए लिखा था,—"सिकंदर का आदेश था कि कोई हिंदू यमुना-स्नान न करे। उसने नाइयों को कड़ी हिदायत की थी कि वे हिंदुओं के सिरों और दाढ़ियों को न मूँड़ें। उसके कारण हिंदू अपनी धार्मिक क्रियाएँ नहीं कर सकते थे[३]।"

'भक्तमाल' और 'वार्ता' में मथुरा की यंत्र-बाधा विषयक जिस बात का उल्लेख हुआ है, वह सुलतानी काल के उत्पीड़न की एक ऐतिहासिक घटना है; किंतु उनमें भट्ट जी और आचार्य जी के व्यक्तित्व की अलौकिकता बतलाने का व्यर्थ प्रयास किया गया है। उसके कारण सांप्रदायिकता के आवरण ने ऐतिहासिक तथ्य को ऐसा ढक दिया है कि उसका महत्व ही समाप्तप्राय हो गया है। मुसलमान काजी अथवा रुस्तम अली द्वारा चमत्कारपूर्ण यंत्र लगाना, उसके कारण हिंदुओं की 'सुन्नत' होना अथवा चोटी कटना, भट्ट जी और आचार्य जी पर यंत्र का कोई प्रभाव न होना, भट्ट जी के द्वारा मथुरा के काज़ी के कर्मचारियों और सूबेदार के सैनिकों को मार कर भगाना आदि सभी बातें कपोलकल्पित हैं। उनमें तथ्य की बात यह है कि सिकंदर लोदी ने अपनी असहिष्णुता और मज़हबी तास्सुब के कारण मथुरा के हिंदुओं को तंग करने के लिए उन्हें यमुना में स्नान करने की मनाही करदी थी और उन्हें अपने धार्मिक कृत्य करने से रोक दिया था। उसने हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने के लिए और भी कई अमानवीय आज्ञाएँ प्रचारित की थीं। उनके कारण मथुरा के हिंदुओं में बड़ा असंतोष, आतंक और भय का वातावरण बना हुआ था। श्री भट्ट जी और आचार्य जी जैसे तत्कालीन संतों ने साहस पूर्वक हिंदुओं के कष्ट को दूर करने की चेष्टा की थी।

'भक्तमाल' में मुसलमान काज़ी के कर्मचारियों और सूबेदार के सैनिकों के विरुद्ध भट्ट जी के जिस आक्रमणात्मक प्रतिरोध का उल्लेख किया गया है, वह सुलतानी काल की आतंक-

---

(१) **वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन**, पृष्ठ ५४१

(२) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर** (तृतीय संस्करण), पृष्ठ ३४

(३) **हिस्ट्री आफ़ दि राइज आफ़ दि महम्मडन पावर**, जिल्द २, पृष्ठ ५८६

पूर्ण स्थिति में कदापि संभव नहीं था। उसकी अपेक्षा 'वार्ता' का यह कथन कि बल्लभाचार्य जी ने मुसलमान अधिकारियों की अमानवीय आज्ञा को न मानने का साहस दिखलाया था और उसके विरुद्ध सुलतान से फरियाद करने के लिए अपने दो दूतों को दिल्ली भेजा था, अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है। आचार्य जी को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिली थी, इसका उल्लेख इतिहास के ग्रंथों में नहीं मिलता है। ऐसा जान पड़ता है, उन्होंने किसी प्रकार सिकंदर के कर्मचारियों से हिंदुओं को यह सुविधा दिलादी थी कि वे राजकीय कर देने पर यमुना में स्नान कर सकते हैं और अपने बाल बनवा सकते हैं। इस प्रकार का तीर्थ-कर सुलतानों के शासन में मथुरा में लगता था, जिसे सं० १६२० में मुगल सम्राट अकबर ने हटवाया था।

'श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार सुलतान से फरियाद करने को दिल्ली जाने वाले व्यक्ति श्री बल्लभाचार्य जी के दो सेवक थे। उसमें उस कार्य के लिए श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है; किंतु श्री बल्लभाचार्य जी की 'निज वार्ता' में भट्ट जी का नाम भी जाने वालों में मिलता है। इससे सिद्ध होता है, केशव काश्मीरी भट्ट जी और बल्लभाचार्य जी के सम्मिलित प्रयत्न से ही मथुरा के हिंदुओं को सिकंदर लोदी की उस अमानवीय आज्ञा से कुछ राहत मिली थी। वार्ताकार का यह लिखना कि आचार्य जी के प्रभाव से सिकंदर लोदी ने अपने कर्मचारियों को यह आदेश दिया था कि 'किसी के मजहब पर निगाह मत करना' सर्वथा इतिहास विरुद्ध कथन है। यदि सिकंदर लोदी में उस प्रकार की सहिष्णुता होती; तो वह उक्त घटना के पश्चात् ब्रज के मंदिरों को क्यों नष्ट-भ्रष्ट करवाता! मथुरा का सुप्रसिद्ध केशवराय जी का मंदिर उस घटना के बाद ही सिकंदर की आज्ञा से नष्ट किया गया था।

उक्त घटना से सिद्ध होता है कि श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्री बल्लभाचार्य जी समकालीन थे और वे सिकंदर लोदी के काल में विद्यमान थे। उसी काल में श्री माधवेन्द्र पुरी और श्री चैतन्य महाप्रभु भी हुए थे। सर्वश्री भट्ट जी और पुरी जी पर्याप्त वयोवृद्ध थे; जब कि आचार्य जी और चैतन्य देव जी युवा थे। वह घटना किस काल में हुई, उसका निश्चय करने के लिए श्री आचार्य जी के ब्रज-आगमन काल का अनुसंधान करना होगा। बल्लभ संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि श्री बल्लभाचार्य जी ब्रज में पहिली बार सं० १५५० के लगभग आये थे और दूसरी बार सं० १५५६ में तथा तीसरी बार सं० १५६४ में आये थे[1]। ऐसा अनुमान होता है, यंत्र-बाधा विषयक घटना उनकी दूसरी अथवा तीसरी यात्रा के अवसर पर हुई थी। इस प्रकार उसका काल सं० १५५६ अथवा १५६४ माना जा सकता है।

श्रीनाथ जी की सेवा और उनका मंदिर—सुलतानों के कठोर शासन काल में मूर्ति-पूजा और मंदिर-निर्माण पर कड़ी पाबंदी लगाई गई थी। सिकंदर लोदी ने उनके संबंध में और भी कड़े आदेश जारी किये थे। श्री बल्लभाचार्य जी ने उनकी उपेक्षा कर अपने अदम्य साहस और आत्मबल का परिचय दिया था। सं० १५५६ में जब वे दूसरी बार ब्रज में आये थे, तब मथुरा से गोबर्धन जाने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वहाँ की गिरिराज पहाड़ी पर एक देव-विग्रह का प्राकट्य हुआ है। श्री माधवेन्द्र पुरी ने उनका नाम 'गोपाल' रख कर उनकी सेवा का आरं-

---

(१) **अष्टछाप-परिचय**, पृष्ठ ७-८

भिक आयोजन किया था; किंतु उसकी यथोचित व्यवस्था नहीं हो सकी थी। शायद सुलतानी शासन के भय से वहाँ के निवासी उसके लिए कोई दिखावा करने का साहस नहीं कर पाते थे। श्री बल्लभाचार्य जी ने उस देव-विग्रह का नाम 'श्री गोबर्धननाथ' अथवा 'श्रीनाथ जी' रखा और गिरिराज पहाड़ी पर एक छोटा सा कच्चा मंदिर बनवा कर उसमें उन्हें विराजमान कर दिया था। फिर उन्होंने वहाँ के ब्रजवासियों को उनकी यथोचित सेवा-पूजा करने के लिए उत्साहित किया, जिसमें उन्हें पूरी सफलता प्राप्त हुई थी।

उसी समय सद्दू पांडे, रामदास चौहान, कुंभनदास, अच्युतदास सनाढ्य प्रभृति अनेक ब्रजवासी गण श्री बल्लभाचार्य जी के शिष्य-सेवक हुए थे। आचार्य जी ने माधवेन्द्र पुरी के सेवक बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथ जी की सेवा करने के लिए नियुक्त किया। सद्दू पांडे और रामदास चौहान श्रद्धा-भक्ति पूर्वक सेवा में सहयोग देते थे और कुंभनदास कीर्तन करते थे। श्रीनाथ जी की सेवा की वह आरंभिक व्यवस्था कर आचार्य जी पुनः अपनी यात्रा को चले गये। गोबर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा के प्रचलन से मानों ब्रज में धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आधार-शिला ही रख दी गई थी, जिसका श्रेय श्री बल्लभाचार्य जी को है।

उसके बाद जब श्री बल्लभाचार्य जी सं० १५५८ में ब्रज में आये, तब उन्होंने अम्बाला के एक धनाढ्य हरिभक्त पूरनमल खत्री को श्रीनाथ जी का पक्का मंदिर बनवाने की आज्ञा दी थी। आचार्य जी के प्रोत्साहन से वह श्रद्धालु जन मंदिर-निर्माण की आवश्यक व्यवस्था करने लगा। उसके लिए आगरा से हीरामन नामक एक कुशल शिल्पी बुलाया गया, जिसने मंदिर का मानचित्र बनाया और उसके निर्माण का आवश्यक प्रबंध किया था। उस समय की स्थिति को देखते हुए किसी नये मंदिर के निर्माण का आयोजन करना बड़े ही साहस का काम था। 'वार्ता' साहित्य से ज्ञात होता है, उस मंदिर के निर्माण का आरंभ सं० १५५६ की वैशाख शु० ३ (अक्षय तृतीया) को हुआ था। उसका अधिकांश भाग बन गया था; किंतु मंदिर पूरा नहीं हो सका था। उसका कारण 'वार्ता' में द्रव्याभाव बतलाया गया है। उसमें लिखा है, पूरनमल जितना धन अपने साथ लाया था, वह समाप्त हो गया था, इसीलिए मंदिर बनते-बनते रुक गया था[1]।

हमारे मतानुसार मंदिर के पूर्ण न होने का कारण द्रव्याभाव से भी अधिक उस काल के सुलतानी शासन का मज़हबी तास्सुब था। ऐसा जान पड़ता है, सिकंदर लोदी के आदेश से या तो मंदिर को तोड़ दिया गया, या उसके निर्माण-कार्य को रोक दिया गया था। उसका संकेत चैतन्य संप्रदायी साहित्य में मिलता है, जिसके आधार पर लिखा गया है,—"सिकंदर लोदी के क़ाज़ी ने जब ब्रज के मंदिरों पर अत्याचार करना आरंभ किया, तब यवनों के उपद्रव के डर से गौड़ीय पुजारी श्रीनाथ-गोपाल को मंदिर से नीचे उतार कर तीन मील दूर 'टोड़ का घना' नामक घने बन में ले गये और वहाँ गुप्त भाव से सेवा करने लगे। उधर सुलतान के लोगों ने पूरनमल द्वारा बनवाये हुए मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यवनों का उपद्रव शांत होने पर एक मील दूर 'श्याम ढाक' नामक स्थान पर एक 'पर्ण मंदिर' बनवा कर उसमें श्रीनाथ-गोपाल को विराजमान किया था[2]।"

---

(१) **श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १७-१६**

(२) **श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य, पृष्ठ १७-१८**

कालांतर में सं० १५६४ में श्री बल्लभाचार्य जी ने पूरनमल के अपूर्ण मंदिर में ही श्रीनाथ जी को विराजमान कर दिया था। सं० १५७४ में सिकंदर लोदी की मृत्यु हुई थी। उसके मरने पर ब्रजवासियों ने संतोष की साँस ली थी। उसका पुत्र इब्राहीम लोदी जौनपुर और कड़ा–मानिकपुर के युद्ध अभियानों में उलझा हुआ था, इसलिए उस काल में ब्रज में कुछ शांति थी। उस परिस्थिति का लाभ उठा कर श्रीनाथ जी के अधूरे मंदिर को बनाना आरंभ किया गया। सं० १५७६ की वैशाख शु० ३ को मंदिर पूरा बन कर तैयार हो गया था। उस समय बल्लभाचार्य जी ने गोबर्धन आकर एक बड़ा उत्सव किया था। इस प्रकार सुलतानों के आतंकपूर्ण काल में ब्रज में किसी हिंदू मंदिर के निर्माण का एक मात्र उदाहरण वह श्रीनाथ जी का मंदिर ही था, जो बाद में औरंगजेब के शासन काल में तोड़ा गया था।

श्रीनाथ जी को टोड़ के घने में ले जाकर छिपाना—बल्लभ संप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है, सिकंदर लोदी के सैनिकों द्वारा जब मथुरा के मंदिरों को नष्ट–भ्रष्ट किया जा रहा था, तब गोबर्धन आदि ब्रज के अन्य धार्मिक स्थानों में भी भय का वातावरण उत्पन्न हो गया था। गोबर्धन के सद्दू पांडे, रामदास चौहान, कुंभनदास प्रभृति ब्रजवासियों को आशंका होने लगी कि कदाचित सिकंदर के सैनिकों की क्रूर दृष्टि श्रीनाथ जी पर भी पड़े। उससे बचने के लिए वे लोग श्रीनाथ जी के देव–विग्रह को 'टोड़ का घना' नामक एक निर्जन और बीहड़ बनस्थली में गये थे। ब्रजवासी गण खान–पान और रहन–सहन की कठिनाइयों को सहन करते हुए भी उस दुर्गम स्थल में तब तक रहे, जब तक भय की आशंका बनी रही थी। शांति स्थापित होने पर वे पुनः श्रीनाथ जी को लेकर गोबर्धन लौट आये थे। उस घटना के समय कुंभनदास भी श्रीनाथ जी के साथ 'टोड़ के घने' में गये थे। उन्होंने उस स्थिति का उल्लेख अपने दो पदों में किया है[1]। उक्त पदों की उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें आक्रमणकारियों के प्रति रोष व्यक्त न करते हुए श्रीनाथ जी के प्रति ही व्यंगोक्ति की गई है! कुंभनदास प्रभृति ब्रजवासियों की भावना थी कि वे घटनाएँ श्रीनाथ जी की लीला मात्र हैं। श्रीनाथ जी अपनी इच्छा से ही इस प्रकार के खेल कर रहे हैं, वरना उस तुच्छ सुलतान की क्या सामर्थ्य है कि वह श्रीनाथ जी का बाल भी बाँका कर सके!

उक्त घटना का उल्लेख चैतन्य मत के साहित्य में भी हुआ है, जहाँ उसका काल सं० १५५५ लिखा गया है[2]। वार्ता साहित्य में उस घटना की तिथि सं० १५५२ की श्रावण शुक्ला ३ बुधवार बतलाई गई है[3]। गणना के अनुसार उक्त तिथि में वार की भूल मालूम हुई है[4]। हमारे मतानुसार वह घटना सं० १५५६ के कुछ समय बाद की है, जब कि आचार्य जी श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की आरंभिक व्यवस्था कर अपनी यात्रा के लिए चले गये थे[5]।

---

(१) कुंभनदास (कांकरौली), पद सं० ३६८–३६६

(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य, पृष्ठ १७

(३) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १७

(४) वार्ता साहित्यः एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५४२

(५) अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ८-१०

२. मुगल काल

[विक्रम सं० १५८३ से सं० १८०५]

इस काल का सिंहावलोकन—भारत में मुसलमानी शासन काल के अंतर्गत 'मुगल काल' अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। सल्तनत काल के विरुद्ध इस काल में देश की राजनैतिक प्रगति के साथ ही साथ इसकी भौतिक समृद्धि और सांस्कृतिक उन्नति भी हुई थी। जहाँ तक व्रजमंडल का प्रश्न है, इसका उसी काल में पुनरुत्थान हुआ था और इसके सांस्कृतिक स्वरूप को सँभारा–सजाया गया था। इसका श्रेय उस काल के वैष्णव धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों के साथ ही साथ मुगल सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति को है। पूर्ववर्ती सुलतानों के मजहबी तास्सुब के कारण उनके काल में यहाँ की जो अभूतपूर्व सांस्कृतिक क्षति हुई थी, उसकी पूर्ति इस काल में हो गई थी, जिसका बहुत बड़ा श्रेय सम्राट अकबर को है। इसीलिए अकबर का शासन काल व्रज के इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जा सकता है। अकबर की नीति का थोड़ा–बहुत अनुसरण जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी किया था; अतः उनका शासन–काल भी व्रज संस्कृति की प्रगति में कुछ न कुछ सहायक ही हुआ था। उनके बाद औरंगज़ेब की कुटिल नीति ने जहाँ मुगल साम्राज्य की जड़ खोदने का काम किया, वहाँ व्रज संस्कृति को भी भीषण क्षति पहुँचाई थी। इस प्रकार उसने अपने पूर्वजों के प्रयत्नों पर पानी फेर दिया था।

मुगल राजवंश—इस देश में मुगल राजवंश की स्थापना का श्रेय बाबर को है। बाबर और उसके वंशज 'मुगल' कहे जाते हैं; किंतु वास्तव में वे मुगल न होकर अपने पूर्ववर्ती सुलतानों की भाँति तुर्क ही थे। उनके मुगल कहलाने की इतनी ही सार्थकता है कि बाबर की माता मंगोल जाति की महिला थी। मध्य एशिया में मंगोलों का राजवंश बड़ा गौरवशाली माना जाता था। चंगेज़खाँ उसी वंश का एक विख्यात विजेता हुआ है, जिसने १३ वीं शताब्दी में एशिया और यूरोप के विस्तृत भू–भाग को हस्तगत कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। बाबर का पिता तुर्क जाति के बदनाम आक्रांता तैमूर का वंशज था और उसकी माता मुगल जाति के विख्यात चंगेजखाँ के वंश में खान यूनस की पुत्री थी। इस प्रकार बाबर की नसों में तुर्कों के साथ मंगोलों का भी रक्त था। जब बाबर ने काबुल पर अधिकार किया, तब वहाँ के पठानों पर अपना रौब जमाने के लिए उसने अपने को 'मुगल' प्रसिद्ध किया था। वही नाम बाद में भारत में भी प्रचलित हो गया। इस प्रकार इतिहास में इस राजवंश का गलत नाम चल पड़ा है।

बाबर—मुगल राजवंश और मुगल साम्राज्य के संस्थापक जहीरुद्दीन बाबर का जन्म मध्य एशिया के फ़रगाना राज्य में हुआ था। उसका पिता वहाँ का शासक था, जिसकी मृत्यु के पश्चात् बाबर को उक्त राज्य का अधिकार प्राप्त हुआ था। पारिवारिक कठिनाईयों के कारण वह मध्य एशिया के अपने पैतृक राज्य पर शासन नहीं कर सका था; किंतु उसने केवल २२ वर्ष की आयु में काबुल पर अधिकार कर सं० १५६१ में अफगानिस्तान में अपना राज्य कायम किया था। वह २२ वर्ष तक काबुल का शासक रहा था। उस काल में उसने अपने पूर्वजों के राज्य को हस्तगत करने की कई बार चेष्टा की; किंतु वह सफल नहीं हो सका था। जब उसे मध्य एशिया में बढ़ने की आशा नहीं रही, तब वह भारत की सीमा में प्रवेश करने का उपक्रम करने लगा।

पानीपत का युद्ध और इब्राहीम लोदी की पराजय—उस काल में इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुलतान था और उसकी ओर से दौलतखाँ लोदी पंजाब का राज्यपाल था। दौलतखाँ इब्राहीम से असंतुष्ट था; अतः उसने दिल्ली सल्तनत से विद्रोह कर दिया और बाबर को अपनी सहायता के लिए काबुल से बुलाया था। बाबर स्वयं ही भारत पर आक्रमण करने का आयोजन कर रहा था और उसने इस देश की उत्तर–पश्चिमी सीमा के कुछ भाग पर अधिकार कर आगे बढ़ने का मार्ग भी साफ़ कर रखा था। उसने दौलतखाँ लोदी के निमंत्रण को अपने उद्देश्य की सिद्धि का एक स्वर्ण सुयोग समझा और उसके लिए वह बड़ी भारी तैयारी करने लगा। उस काल में तुर्क–अफगान सैनिक भारत पर आक्रमण करने के किसी भी आयोजन में योग देकर यहाँ की लूट से मालामाल होने के लिए सदैव लालायित रहते थे। इसलिए थोड़े प्रयत्न से ही बाबर के पास एक बहुत बड़ी सेना हो गई, जिसे लेकर वह पंजाब की ओर चल दिया। उधर इब्राहीम लोदी ने जब दौलतखाँ के विद्रोह और बाबर के आक्रमण का समाचार सुना, तब वह भी उनका सामना करने के लिए अपनी विशाल सेना के साथ आगे बढ़ा। दोनों ओर की सेनाएँ पानीपत के मैदान में एक दूसरे से भिड़ गईं। इब्राहीम की सेना बाबर की सेना से संख्या में अधिक थी, किंतु वह उत्साहहीन और अव्यवस्थित थी; जब कि बाबर की सेना उत्साह और जोश से भरपूर थी। उसके अतिरिक्त इब्राहीम की सेना में बंदूक–तोप धारी सैनिकों की संख्या बहुत कम थी, क्यों कि भारत में तब तक गोला–बारूद का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। उसके विरुद्ध बाबर की सेना में बंदूकचियों और तोपचियों की संख्या काफ़ी थी, जो गोला–बारूद की युद्ध कला में बड़े निपुण थे। उन सब कारणों से सुलतानी सेना की पराजय हो गई और इब्राहीम लोदी अपने प्रमुख सामंतों और सहायकों के साथ युद्ध में मारा गया। उसी युद्ध में ग्वालियर के तोमर राजा विक्रमाजीत की भी मृत्यु हुई थी। इस प्रकार सं० १५८३ (२१ अप्रैल, सन् १५२६ ई०) में पानीपत के युद्ध में विजयी होने से बाबर को अपनी चिरकालीन अभिलाषा की पूर्ति का सुयोग प्राप्त हुआ था। उसने दौलतखाँ लोदी को पंजाब के कुछ भाग का शासक बना दिया और आप दिल्ली–आगरा पर अधिकार कर भारत में लोदी राज्य के स्थान पर मुगल राज्य की स्थापना का आयोजन करने लगा।

राणा सांगा और बाबर का युद्ध—उस काल में उत्तरी भारत में दिल्ली के सुलतान के बाद सबसे अधिक शक्तिशाली शासक चित्तौड़ का राजपूत नरेश राणा सांगा (संग्रामसिंह) था। उसने दो मुसलमान अधिनायक इब्राहीम और बाबर के युद्ध में तटस्थता की नीति अपनायी थी। वह समझता था कि अन्य आक्रमणकारियों की भाँति बाबर भी लूट–मार कर वापिस चला जावेगा और तब लोदी शासन को हटा कर दिल्ली में हिंदू राज्य क़ायम करने का उसे सुयोग प्राप्त होगा। किंतु जब उसने देखा कि बाबर भारत में जम कर बैठ गया है और वह यहाँ मुगल राज्य की स्थापना का आयोजन कर रहा है, तब वह उसके प्रयत्न को विफल करने के लिए तैयार हो गया। राणा सांगा विख्यात वीर और कुशल सेनानी था। वह तब तक अनेक युद्ध कर चुका था, जिनमें उसका शरीर क्षत–विक्षत हो गया था, किंतु उसे सदैव विजय प्राप्त हुई थी। बाबर के विरुद्ध युद्ध में भी उसे विजय की पूरी आशा थी; अतः वह राजपूत वीरों की सेना के साथ विदेशी आक्रमणकारी से युद्ध करने को चल दिया।

उधर बाबर ने भी भली भाँति समझ लिया था कि राणा सांगा के रहते हुए भारत में मुगल राज्य की स्थापना करना संभव नहीं है; अतः उसने भी अपनी सेना के साथ राणा से युद्ध

करने का निश्चय किया। तुर्क-अफगान सैनिक राजपूतों वीरों से भीषण युद्ध करने की अपेक्षा अपने घरों को वापिस जा कर ऐश–आराम करना चाहते थे; किंतु बाबर ने बड़े आग्रह पूर्वक उन्हें रोका था। उसने अपने जोशीले भाषण में उन्हें उत्साहित करते हुए कहा कि विदेश में विजयी होने के बाद अब पराजित की तरह भागना उनके लिए उचित नहीं है। निदान मुसलमान सैनिक भी मरने-मारने के लिए तैयार हो गये। दोनों ओर की सेनाएँ एक–दूसरी से भिड़ गईं और उनमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा।

राजस्थान के ऐतिहासिक काव्य 'वीर विनोद' में सांगा और बाबर के उस युद्ध का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। उससे ज्ञात होता है, बाबर बीस हज़ार मुगल सैनिकों को लेकर सांगा से युद्ध करने आया था। उसने सांगा की हिरावल सेना के लोदी सेनापति को प्रलोभन देकर अपनी ओर कर लिया था, जिससे वह सांगा को धोखा देकर अपनी सेना के साथ बाबर से जा मिला था। फिर भी बाबर को सांगा से युद्ध जीतने में शंका हो रही थी। उसने खुदा से दुआ माँगी कि वह उसे कामयाब करे! उसके काबुली ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि यदि वह शराब न पीने का अहद करे, तो खुदा उसे कामयाबी दे सकता है। निदान बाबर ने उसी समय शराब छोड़ने का अहद किया और फिर जीवन भर उसने उसे नहीं छूआ। उसी स्मृति में वहाँ एक मसजिद बनाई गई थी, जिसके खंडहर अभी तक विद्यमान हैं।

बाबर और सांगा की पहिली मुठभेड़ बयाना में और दूसरी उसके निकटवर्ती खनुवाँ नामक स्थानों में हुई थी। राजपूतों ने अत्यंत वीरता पूर्वक युद्ध किया था और राणा सांगा ने अपने प्रबल प्रहारों से बाबर के छक्के छुड़ा दिये थे; किंतु अंत में सांगा की पराजय हुई और बाबर विजयी हुआ था। उसका कारण बाबर के सैनिकों की वीरता नहीं थी; बल्कि उनके नये प्रकार के अस्त्र–शस्त्र थे और उन्नत तोपखाना था। राजपूतों से सन्मुख युद्ध करते हुए तुर्कों के पैर उखड़ गये थे, जिससे राजपूतों की विजय और तुर्कों की पराजय दिखाई देने लगी थी। किंतु जब बाबर के तोपखाने ने आग बरसाना आरंभ किया, तब सांगा की जीती हुई बाज़ी हार में बदल गई। फिर भी सांगा और उसके राजपूत वीर भीषण अग्नि–वर्षा में भी मरते दम तक शत्रुओं का संहार करते रहे थे। बाबर ने राजपूतों के संबंध में लिखा है,—'वे मरना-मारना तो जानते हैं; किंतु युद्ध करना नहीं जानते!' सांगा और बाबर का वह निर्णायक युद्ध सीकरी के निकटवर्ती खनुवाँ नामक स्थान में सं० १५८४ (१६ अप्रैल, सन् १५२७) में हुआ था। इस प्रकार उस काल के ब्रजमंडल की पावन धरा पर ही जयचंद्र के पश्चात् सांगा की भी पराजय हुई थी, जिससे एक बार फिर भारत के भाग्य का पाँसा पलट गया था।

मुगल राज्य की स्थापना और बाबर की मृत्यु—इब्राहीम लोदी और राणा सांगा की पराजय के पश्चात् बाबर ने भारत में मुगल राज्य की विधिवत् स्थापना की थी और आगरा को अपनी प्रमुख राजधानी बनाया था। उससे पहिले सुलतानों की राजधानी दिल्ली थी; किंतु बाबर ने उस पर अधिकार करने पर भी उसे राजधानी बनाना उचित नहीं समझा था। कारण यह था कि वहाँ सुलतानी काल के पठानों का प्राबल्य था, जो तुर्कों की शासन–सत्ता को पसंद नहीं करते थे। फिर वहाँ विदेशी आक्रमण की सदैव आशंका रहती थी। इसलिए प्रशासन और प्रतिरक्षा दोनों ही दृष्टियों से बाबर को दिल्ली की अपेक्षा आगरा में अधिक सुविधा मालूम हुई थी। मुगल राज्य की राजधानी आगरा में होने से उसका आरंभ से ही ब्रज से घनिष्ट संबंध रहा था।

मध्य एशिया में वहाँ के शासकों का सबसे बड़ा पद 'ख़ान' था, जो मंगोल वंशियों को ही दिया जाता था। दूसरे बड़े से बड़े शासक 'अमीर' कहलाते थे। बाबर का पूर्वज और तुर्क वंश का प्रबल आक्रांता तेमूर भी 'अमीर' ही कहलाता था। भारत में दिल्ली के मुसलमान शासक 'सुलतान' कहे जाते थे। बाबर ने मध्य एशिया और भारत के मुसलमान शासकों से बढ़ कर अपना पद 'बादशाह' घोषित किया था, जिससे वह मुसलमान शासकों और हिंदू राजाओं पर अपना बढ़प्पन स्थापित कर सके। बाबर के बाद सभी मुगल सम्राट 'बादशाह' कहलाये थे।

बाबर केवल ४ वर्ष तक भारत में राज्य कर सका था। उस काल में उसने अपने शासन को दृढ़ करने के साथ ही साथ अपनी राजधानी आगरा में एक महल का निर्माण कराया, सुंदर स्नानागार बनवाया तथा बाग लगवाया था। उसकी मृत्यु सं० १५८७ (२६ दिसंबर, सन् १५३०) में आगरा में हुई थी। उस समय उसकी आयु केवल ४८ वर्ष की थी। बाबर की अंतिम इच्छा के अनुसार उसका शव काबुल ले जाकर दफ़नाया गया था, जहाँ उसका मक़बरा बना हुआ है। उसके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र हुमायू मुगल बादशाह हुआ था।

हुमायू—बाबर के पुत्रों में हुमायू सबसे बड़ा था। वह वीर, उदार और भला मानस था; किंतु बाबर के समान कुशल सेनानी और नीति निपुण शासक नहीं था। वह सं० १५८७ में अपने पिता की मृत्यु होने के अनंतर बादशाह हुआ था और १० वर्ष तक अपने राज्य को दृढ़ करने के लिए शत्रुओं के अतिरिक्त अपने भाइयों से भी संघर्ष करता रहा था। उसे शेरखां नामक एक पठान सरदार ने शाहबाद ज़िला के चौसा नामक स्थान में सं० १५९६ में पराजित कर दिया था। वहाँ से पराजित होने पर हुमायू ने अपनी शक्ति को संचित किया और कन्नौज नामक स्थान पर शेरखां की सेना से सं० १५९७ (१७ मई, सन् १५४०) में उसने मोर्चा लिया; किंतु दुर्भाग्य वश फिर भी उसकी पराजय हुई। उससे हताश होकर वह इस देश से भाग दिया और प्रायः १४ वर्ष तक भारत और उससे बाहर ईरान एवं अफगानिस्तान के विभिन्न स्थानों में भटकता फिरा था।

१४ वर्ष बाद सं० १६११ में उसने काबुल से भारत पर चढ़ाई की और लाहौर तक के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। उसके बाद उसने शेरशाह वंश के तत्कालीन बादशाह सिकंदर सूर के विरुद्ध आक्रमण किया और उसे पराजित करने में सफल हो गया। उसके फल स्वरूप सं० १६११ (२३ जुलाई, सन् १५५५) में वह पुनः भारत का बादशाह हुआ; किंतु केवल ७ महीने राज्य करने के बाद सं० १६१२ (२४ जनवरी, सन् १५५६) में अपने पुस्तकालय–भवन की सीढ़ी से फिसल कर गिरने से उसकी मृत्यु हो गई। उसका मक़बरा दिल्ली में बना हुआ है। जिस समय हुमायू की मृत्यु हुई थी, उस समय उसका पुत्र अकबर केवल १३–१४ वर्ष का बालक था।

शेरशाह सूर—हुमायू को पराजित कर भारत से भगाने वाला वीर सेनानी शेरखां सूर वंश का एक पठान सरदार था। वह सं० १५९७ ने शेरशाह के नाम से बादशाह हुआ और उसने आगरा को अपनी राजधानी बनाया था। अपने पूर्ववर्ती दिल्ली के सुलतानों की हिंदू विरोधी नीति के विपरीत उसने हिंदुओं से मेल–जोल करने की नीति अपनाई थी, जिससे उसे अपनी शासन-व्यवस्था को दृढ़ करने में बड़ी सुविधा हुई थी। उसका दीवान और सेनापति हेमू (हेमचंद्र) एक हिंदू वीर था तथा उसकी सेना में भी हिंदुओं की पर्याप्त संख्या थी।

उसने अपने अधिकृत क्षेत्र में शांति स्थापित कर जनता को सुखी और समृद्ध बनाने के अनेक प्रयास किये थे। उसने यात्रियों एवं व्यापारियों की सुरक्षा का पूरा प्रबंध किया था और लगान तथा मालगुज़ारी वसूल करने की उसने संतोषजनक व्यवस्था की थी। वह पहिला बादशाह था, जिसने बंगाल के सोनारगाँव से सिंध नदी तक दो हजार मील लंबी पक्की सड़क बनवाई थी। उस सड़क पर घुड़सवारों द्वारा डाक लाने–ले जाने की व्यवस्था की गई थी, जिसके लिए एक-एक कोस पर घुड़सवार और हरकारे रखे गये थे। उसके सिक्कों पर नागरी को स्थान मिला था और उसके फ़रमान फारसी के साथ नागरी अक्षरों में भी जारी किये जाते थे।

मलिक महम्मद जायसी, फरिश्ता और बदायूनी आदि ने शेरशाह के शासन की बड़ी प्रशंसा की है। बदायूनी ने लिखा है, बंगाल से पंजाब तक तथा आगरा से मालवा तक, सड़क पर दोनों ओर छाया के लिए फल वाले वृक्ष लगाये गये थे। कोस–कोस भर पर एक सराय, एक मसजिद और एक कूआ का निर्माण किया था। मसजिद में एक इमाम और अजाँ देने वाला एक मुल्ला था। निर्धन यात्रियों का भोजन बनाने के लिए एक हिंदू और एक मुसलमान नौकर था। "प्रबंध की यह व्यवस्था थी कि बिलकुल अशक्त बुड्ढा अशरफियों का थाल हाथ पर लिये चला जाय और जहाँ चाहें वहाँ पड़ रहे। चोर या लुटेरे की मजाल नहीं कि आँख भर कर उसकी ओर देख सके[1] !"

शेरशाह केवल ५ वर्ष तक ही शासन कर सका था; किंतु उस थोड़े काल में ही उसने अपनी योग्यता और प्रबंध–कुशलता का सिक्का जमा दिया था। सं० १६०२ (२४ मई, सन् १५४५) में जब वह कालिंजर के दुर्ग की घेराबंदी कर रहा था, तब बारूदखाने में अकस्मात आग लग जाने उसकी अकाल मृत्यु हो गई थी।

शेरशाह के उत्तराधिकारी—शेरशाह सूर के मरने पर उसका पुत्र इस्लामशाह सं० १६०२ (२४ मई, सन् १५४५) में गद्दी पर बैठा। उसने अपने शासन–काल में शेरशाह की नीति को क़ायम रखा; किंतु उसके समय में शांति और व्यवस्था क़ायम नहीं रह सकी थी। उसका अधिकांश समय संघर्षों में बीता था। फिर भी वह काव्य और संगीत के लिए समय निकाल लेता था। 'असलमसाह' के नाम से उसकी कुछ हिंदी रचनाएँ भी मिलती हैं[2]। वह अपनी राजधानी आगरा से बदल कर ग्वालियर ले गया था और वहाँ पर ही उसकी सं० १६१० (३० अक्टूबर, सन् १५५३) में मृत्यु हुई थी।

इस्लामशाह के पश्चात् उसका चचेरा भाई मुहम्मद आदिलशाह गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा ऐयाश, शराबी और मस्त तबियत का व्यक्ति था। उसके काल में शासन की व्यवस्था शिथिल हो गई, जिससे सर्वत्र अशांति फैलने लगी थी। शासन कार्य में अयोग्य होने पर भी वह संगीत कला का बड़ा विद्वान था। उस काल में बड़े–बड़े संगीतज्ञ भी उसका लोहा मानते थे। उसने अपने दरबार में अनेक संगीतज्ञों को आश्रय दिया था। बाबा रामदास तथा तानसेन जैसे विख्यात गायक पहिले उसी के दरबार में रहे थे और बाद में वे अकबर के दरबारी गायक हुए थे।

---

(१) **अकबरी दरबार** (दूसरा भाग), पृष्ठ ४५४

(२) **संगीत राग कल्पद्रुम** (प्रथम खंड), पृष्ठ १६२, १६३ और ३०३

आदिलशाह की शासन विषयक अयोग्यता के कारण अनेक लोग उसके विरोधी हो गये थे और राज्य में सर्वत्र विद्रोह होने लगा था। अंत में उसे अपनी राजधानी से भाग कर विहार में शरण लेनी पड़ी थी। उस समय सिकंदरशाह सूर उसके स्थान पर गद्दी पर बैठ गया था। उस काल की अव्यवस्था से लाभ उठा कर ही हुमायू ने कावुल से भारत पर आक्रमण किया था और वह सिकंदर सूर को हराकर सं० १६११ में पुनः भारत में मुगल राज्य की स्थापना कर सका था।

हेमचंद्र—वह शेरशाह का सुयोग्य दीवान, कोषाध्यक्ष और सेनानायक था। उसकी प्रबंध–कुशलता और वीरता का शेरशाह की सफलता में बड़ा योग रहा था। आर्थिक और सामरिक सूझ–बूझ में उसकी तुलना का कोई दूसरा व्यक्ति उस काल में नहीं था। वह किस जाति का था और उसका कहाँ जन्म हुआ था, इस विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। मुसलमान इतिहास लेखकों ने उसे पश्चिमी प्रदेश का वनिया (वणिक–वैश्य) लिखा है। आज़ाद ने उसे 'ढूसर' वतलाया है[1]। श्री भगवतमुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' में उसे तथा हित हरिवंश के एक शिष्य नवलदास को 'धूसर' लिखा गया है[2]। राहुल सांस्कृत्यायन के मतानुसार वह सहसराम (जि० आरा) का रौनियार वैश्य था। उसी क्षेत्र में शेरशाह का अभ्युदय हुआ था, जिसके साथ हेमचंद्र भी प्रकाश में आया था[3]। राहुल जी का उक्त मत प्रामाणिक नहीं मालूम होता है।

शेरशाह के बाद जब उसका पुत्र इस्लामशाह बादशाह हुआ, तब वह हेमचंद्र पर अपने शासन का समस्त भार डाल कर निश्चित हो गया था। इस्लामशाह के बाद जब आदिलशाह बादशाह हुआ, तब राज्य के पठान सरदारों में फूट पड़ने से पारस्परिक संघर्ष होने लगा था। हेमचंद्र आदिलशाह का वज़ीर और प्रधान सेनापति था। वह विहार में वहाँ की गड़बड़ी और अव्यवस्था को दूर करने में लगा हुआ था, उसी समय हुमायू ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया; किंतु ७ महीने बाद ही उसकी मृत्यु हो गई थी। हुमायू के बाद जब उसका बालक पुत्र अकबर उत्तराधिकारी घोषित किया गया और उसका संरक्षक बैरमखां बनाया गया, तब हेमचंद्र अपनी सेना लेकर दिल्ली आया था और वहाँ से उसने मुगलों को भगा दिया था।

हिंदू राज्य की स्थापना का विफल प्रयास—हेमचंद्र ने तब तक पठानों के राज्य को व्यवस्थित और सुदृढ़ करने के लिए बड़ी ईमानदारी से प्रयत्न करता रहा था; किंतु वह शेरशाह के वंशजों की अकर्मण्यता और पठान सरदारों की फूट से बड़ा परेशान हो गया। उसने देखा कि सूर पठानों में अब इतना दम नहीं है कि वे मुगलों के मुक़ाबले में पुनः शासन का उत्तरदायित्व सँभाल सकें। इसलिए उसने स्वयं ही मुगलों को पूरी तरह पराजित कर दिल्ली में स्वतंत्र हिंदू राज्य की स्थापना करने का निश्चय किया। उसके लिए वह सं० १६१२ में '**विक्रमादित्य**' की पदवी धारण कर दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठ गया। वह राय पिथौरा (पृथ्वीराज) और जयचंद्र जैसे महान् हिंदू राजाओं की परंपरा को आगे बढ़ाना चाहता था।

---

(१) **अकबरी दरबार** (प्रथम भाग), पृष्ठ २६७

(२) **श्री नवलदास की परचई** (रसिक अनन्य माल), पृष्ठ १५

(३) **अकबर**, पृष्ठ ८

उसका वह महान् उद्देश्य तत्कालीन मुगल शक्ति को पूरी तरह समाप्त किये विना संभव नहीं था। उसने मुगल सरदारों से कई बार युद्ध किये और उन्हें दिल्ली राज्य से खदेड़ कर पंजाब की ओर भगा भी दिया। फिर भी मुगल सरदार भारत छोड़ कर जाने को तैयार नहीं हुए। वे एक बार फिर हेमचंद्र से बड़ा युद्ध कर अंतिम निर्णय करना चाहते थे। उसके लिए मुगल सेना ने खानजमाँ अलीकुलीखां और बैरमखां के नेतृत्व में पानीपत में एकत्र होकर अपना भाग्य-निर्णय करने का निश्चय किया। हेमचंद्र भी अपनी सेना सहित उनसे मोर्चा लेने को वहाँ पहुँच गया था। दोनों सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। हेमचंद्र हाथी पर बैठा हुआ स्वयं सेना का संचालन कर रहा था। उसी समय शत्रुओं की सेना का एक तीर उसकी आँख में लगा और वह आँख को फोड़ कर पार हो गया। हेमचंद्र को असह्य पीड़ा होने लगी; किंतु उस वीर ने उस तीर को अपने हाथ से निकाल फेंका और खून की धार रोकने के लिए आँख पर रूमाल बाँध लिया! वह उस अवस्था में भी युद्ध करने लगा; किंतु बहुत खून बह जाने से बेहोश होकर हाथी के हौदा में गिर गया।

हेमचंद्र के गिरते ही उसकी सेना की हिम्मत टूट गई और वह तितर-वितर होने लगी। इसे देख कर मुगलों ने बड़े ज़ोर का हमला कर शत्रु सेना को पराजित कर दिया। वेहोश हेमचंद्र मुगलों का बंदी वना लिया गया। जव उसे होश हुआ, तब वह हथकड़ी-बेड़ियों से जकड़ा हुआ मुगलों के मनोनीत बालक बादशाह अकबर के सन्मुख उपस्थित था। मुगल सरदार बैरमखां ने अकबर से कहा कि वह उस काफिर को अपने हाथ से मार कर गाज़ी बने! अकबर ने उस पर वार करना उचित नहीं समझा। इस पर बैरमखां ने स्वयं ही उसका अंत कर दिया। उस समय अकवर १३-१४ वर्ष का बालक था; किंतु फिर भी उसने मरणासन्न वीर पर हाथ न उठा कर अपने बड़प्पन का परिचय दिया था। उस समय तक उसमें इतनी समझ नहीं आई थी कि वह हेमचंद्र को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करता। यदि हेमचंद्र जैसी अद्भुत योग्यता का वीर पुरुष अकबर के साथ हो जाता, तो वह उसके नवरत्नों में से किसी से भी कम योग्य सिद्ध नहीं होता। हेमचंद्र की पराजय सं० १६१३ (६ नवंबर सन् १५५६) में पानीपत के मैदान में हुई थी। उसी दिन स्वतंत्र हिंदू राज्य के संस्थापन की आशा समाप्त हुई और बालक अकबर के नेतृत्व में मुगलों की शासन सत्ता जम गई।

ब्रजमंडल का आकर्षण—

कृष्णोपासक भक्तों की अभिलाषा—वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा कृष्ण-भक्ति का प्रचार किये जाने से विभिन्न संप्रदायों के कृष्णोपासक भक्त जनों का ब्रज के प्रति बड़ा आकर्षण हो गया था। देश के अनेक भागों में रहने वाले भक्त जनों की बड़ी अभिलापा रहती थी कि वे ब्रजमंडल में पहुँच कर भगवान् श्री कृष्ण के लीला-स्थलों का दर्शन करें और वहाँ निवास कर अपने जीवन को सार्थक करें। उस सात्विक अभिलाषा की पूर्ति के लिए वे भक्त जन उस काल की संकटपूर्ण स्थिति की उपेक्षा कर और मार्ग की अनेक कठिनाइयों को सहन कर ब्रज में पहुँचने का प्रयास करते थे। मुसलमान अधिकारियों की असहिष्णुता और उनके कठोर व्यवहार के कारण उक्त काल में भक्त जनों का मथुरा में रहना बड़ा कठिन था; अतः वे गिरिराज पहाड़ी के पुराण प्रसिद्ध गोबर्धन क्षेत्र में जाकर निवास करते थे। श्रीनाथ जी के मंदिर की स्थापना और वहाँ की समुचित सेवा-पूजा के कारण तत्कालीन ब्रज में गोबर्धन कृष्ण-

भक्ति का प्रमुख केन्द्र था। उसके अतिरिक्त गोकुल, राधाकुंड, वृंदाबन, नंदगाँव, बरसाना आदि लीला-स्थल भी भक्त जनों के आकर्षण केन्द्र थे; किंतु उन निर्जन और बीहड़ स्थानों की अनेक कठिनाइयों के कारण कतिपय वैष्णव साधु-संत और विरक्त जन ही वहाँ पहुँच पाते थे। उन स्थानों में निवास करने का साहस तो बहुत थोड़े ही भक्त जन कर सकते थे।

बल्लभ संप्रदायी भक्तों का ब्रज-वास—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री बल्लभाचार्य जी द्वारा श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा का आरंभ किये जाने पर उनके शिष्य रामदास चौहान और कुंभनदास को क्रमशः सेवा और कीर्तन का काम सोंपा गया था। उसके बाद जब सं० १५६७ में सूरदास, सं० १५६८ में कृष्णदास और सं० १५७७ में परमानंददास भी आचार्य जी से दीक्षा लेकर गोवर्धन में निवास करने के लिए आ गये, तब श्रीनाथ जी की सेवा और भी समुचित रूप में होने लगी थी। कृष्णदास को श्रीनाथ जी के मंदिर का अधिकारी बनाया गया और सूरदास तथा परमानंददास को कीर्तन करने के लिए नियुक्त किया गया था। बल्लभाचार्य जी के देहावसान के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे। किंतु जब सं० १५९९ में उनका भी देहावसान हो गया, तब उनके अनुज श्री विट्ठलनाथ जी ने आचार्यत्व का उत्तरदायित्व सँभाला था। उन्होंने अधिकारी कृष्णदास के सहयोग से श्रीनाथ जी की सेवा का विस्तार कर उसके लिए शृंगार, भोग और राग की समुचित व्यवस्था की थी। उसके कारण श्रीनाथ जी का मंदिर कृष्णोपासना का प्रसिद्ध केन्द्र होने के साथ ही साथ ब्रज की विविध कलाओं के प्रसार का माध्यम भी बन गया था। उस समय देश के विभिन्न स्थानों के भक्त जन वहाँ प्रचुर संख्या में निवास करने लगे थे। उनमें अनेक कवि, संगीतज्ञ और कलाकार भी थे, जो अपनी-अपनी कलाओं को श्रीनाथ जी की सेवा में समर्पित करते थे।

'अष्टछाप' की स्थापना—बल्लभ संप्रदायी सेवा-विधि में भगवान् श्री कृष्ण के लीलागान को बड़ा महत्व दिया गया है। उसके लिए 'राग' में गायन करने का विधान है। जब श्री विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की सेवा का विस्तार किया, तब सं० १६०२ में उन्होंने संप्रदाय के आठ संगीतज्ञ भक्त-कवियों की एक मंडली का संगठन भी 'अष्टछाप' के नाम से किया था। उस मंडली के चार सदस्य कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास और परमानंददास श्री बल्लभाचार्य जी के शिष्य थे तथा शेष चार गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास स्वयं श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। अष्टछाप के उन आठों महानुभावों ने गोबर्धन में निवास कर श्रीनाथ जी के कीर्तन के लिए जिन अगणित पदों की रचना की थी, उनसे ब्रज की भक्ति-भावना के प्रसार के साथ ही साथ ब्रज के साहित्य और संगीत की बड़ी समृद्धि हुई थी।

चैतन्य संप्रदायी भक्तों द्वारा ब्रज का अनुसंधान—चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल में कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार होने से वहाँ के भक्त जनों में श्री कृष्ण का नाम-कीर्तन और भागवतादि पुराणों का प्रवचन हुआ करता था। पुराणों में श्री कृष्ण के जिन लीला-स्थलों का उल्लेख हुआ है, उनमें वृंदाबन का महत्व सबसे अधिक है; अतः बंगीय भक्तों को इस लीला-धाम के प्रति सहज आकर्षण था। वे ब्रज में जाकर वृंदावन तथा अन्य लीला-स्थलों में निवास करने के लिए बड़े लालायित रहते थे। उस काल में यात्रा की कठिनाइयों के कारण बंगाल के दूरस्थ प्रदेश से ब्रज में पहुँचना बड़ा संकटपूर्ण था। फिर सिकंदर लोदी के दमनकारी शासन से उस समय

ब्रज में आतंक और भय का वातावरण बना हुआ था। तब भी चैतन्य संप्रदायी भक्त जनों के मन में ब्रज-वास करने का बड़ा उत्साह था। सं० १५६६ में चैतन्य देव के दो अनुचर लोकनाथ और भूगर्भ ब्रज में आये थे। उनसे पहिले चैतन्य जी के दो गुरुजन सर्वश्री माधवेन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी भी ब्रज की यात्रा कर चुके थे। किंतु वे चारों महानुभाव ब्रज के समस्त लीला स्थलों का दर्शन नहीं कर पाये थे; क्यों कि उस काल में प्रायः सभी लीला-स्थल सघन वनों से आच्छादित होने के कारण दुर्गम और अज्ञात थे। चैतन्य देव का उद्देश्य उन लीला स्थलों का अनुसंधान कर उन्हें भक्त जनों के निवास योग्य बनाना था। उसके लिए वे स्वयं सं०१५७३ में ब्रज में आये थे। उन्होंने तब गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड तीर्थ का उद्धार किया था और ब्रज के अन्य लीला-स्थलों की यात्रा कर उनकी कठिनाइयों को दूर करने का आयोजन किया था। वे स्वयं तो यहाँ रह कर उस कार्य को नहीं कर सके; किंतु उन्होंने अपने अनेक शिष्य-सेवकों को उसके लिए प्रेरित किया था। उनकी प्रेरणा से सर्व प्रथम रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी क्रमशः सं० १५७४ और सं० १५७६ में ब्रज में आकर स्थायी रूप से रहे थे। फिर सं० १५८८ में गोपाल भट्ट, सं० १५९० में कृष्णदास कविराज, सं० १५९१ में रघुनाथदास, सं० १५९८ में जीव गोस्वामी और सं० १६०२ में नारायण भट्ट भी यहाँ आकर रहने लगे थे। उनके अतिरिक्त समय-समय पर और भी अनेक चैतन्य संप्रदायी भक्त जन आये थे। उन्होंने ब्रज के विविध लीला-स्थलों का अनुसंधान किया और ब्रज की भक्ति-भावना के प्रसार के लिए विविध ग्रंथों का निर्माण किया था। ब्रज के अनुसंधानात्मक ग्रंथों में नारायण भट्ट जी की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं और भक्ति-ग्रंथों में सर्वश्री सनातन, रूप और जीव गोस्वामियों की रचनाओं के साथ ही साथ कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' अधिक महत्वपूर्ण हैं। चैतन्य संप्रदाय के इन सिद्धांत ग्रंथों को उक्त विद्वत्जनों ने ब्रज के विविध स्थानों में निवास करते हुए रचा था।

हित हरिवंश जो का वृंदाबन-निवास—राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्त्तक हित-हरिवंश जी देवबन (ज़ि० सहारनपुर) के निवासी थे; किंतु अपनी भक्ति-भावना की सिद्धि के लिए वे ब्रज के उस पावन स्थान में आकर रहने लगे थे, जिसे अब वृंदाबन कहा जाता है। उनके आगमन का काल सं० १५९० है। यह वह समय था, जब नव स्थापित मुगल राज्य के अस्तित्व की रक्षा के लिए हुमायू अपने शक्तिशाली शत्रुओं से संघर्ष करता हुआ फिर रहा था। उस समय ब्रज में शासन की ओर से उत्पीड़न तो नहीं था; किंतु यहाँ अराजकता और अव्यवस्था फैली हुई थी। उस काल में वर्तमान वृंदाबन एक निर्जन बन था, जहाँ बस्ती प्रायः नहीं थी। उसके अधिकांश भाग में हिंसक जीवों और चोर-डाकुओं का भय था। वहाँ नरवाहन नामक एक तस्कर ने अपनी लूट-मार से बड़ा आतंक पैदा कर रखा था। 'रसिक अनन्य माल' नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि नरबाहन ब्रज के भैंगाँव नामक स्थान का निवासी था। उसकी तस्करी वृत्ति से ब्रजमंडल में बड़ा आतंक छाया हुआ था। वह इतना निर्भीक था कि शाही अनुशासन की उपेक्षा कर चाहें जहाँ लूट-मार करने लगता था। उसके नाम से बड़े-बड़े सरदार-सामंत भी काँपते थे। ऐसी विषम परिस्थिति में हित हरिवंश जी अपने घर-बार और ठाकुर-सेवा के साथ निर्जन वृंदाबन में निवास करने को आये थे। उससे नरबाहन को बड़ा विस्मय हुआ। वह एक दिन अकस्मात उनसे मिलने चला आया और हित जी के दर्शन तथा उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि अपनी कठोरता और दस्यु वृत्ति को छोड़ कर उनका शरणागत हो गया था। हित

हरिवंश जी वृंदाबन में आकर उस स्थल पर रहे थे, जिसे अब 'सेवा-कुंज' कहा जाता है। उस बनस्थली में ही उन्होंने श्री राधाबल्लभ जी का पाटोत्सव सं० १५९१ में किया था।

इस प्रकार हित जी ने वृंदाबन में आते ही वहाँ के एक बड़े संकट को दूर किया और ब्रजवासियों पर अपने महत्व की छाप लगायी थी। उसके बाद शेरशाह ने हुमायू को पराजित कर एक सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना की थी। उसके काल में ब्रज में शांति और व्यवस्था क़ायम रही थी। उस समय सड़कों का निर्माण और मार्ग की सुरक्षा होने से आवागमन की भी कठिनाई दूर हो गई थी, जिससे ब्रज के प्रेमी दूरस्थ स्थानों से आकर यहाँ निवास करने लगे थे। फलतः वृंदाबन तथा ब्रज के अन्य लीला-स्थल आबाद हो गये। उसके बाद सम्राट अकबर के शासन काल में इन स्थानों की बड़ी उन्नति हुई थी।

अन्य भक्त जनों का ब्रज-वास—निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट और मथुरा की 'यंत्र-बाधा' का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। उक्त घटना के बाद उन्होंने मथुरा के 'ध्रुव टीला' पर निवास किया था। उक्त भट्ट जी के पश्चात् उनके शिष्य सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यासदेव जी भी मथुरा के उसी स्थल पर निवास करते रहे थे और वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था। उन तीनों की समाधियाँ मथुरा के 'नारद टीला' पर बनी हुई हैं।

ब्रज के विख्यात संत स्वामी हरिदास जी भी उसी काल में वृंदाबन में आकर रहे थे। उनका निवास उस स्थल पर था, जिसे अब 'निधुबन' या 'निधिवन' कहा जाता है। वे परम भक्त और संगीत कला के अद्वितीय ज्ञाता थे। ऐसा कहा जाता है, अकबरी दरबार के श्रेष्ठतम गायक तानसेन ने स्वामी हरिदास जी से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। मुगल सम्राट अकबर उनकी संगीत कला से इतना प्रभावित हुआ था कि वह स्वयं उनसे मिलने के लिए निधुबन में आया था।

अकबर (शासन-काल सं० १६१३ से १६६२)—

आरंभिक जीवन—मुगल सम्राट अकबर का जन्म सिंध के रेगिस्तान में अमरकोट के पास सं० १५९९ (२३ नवंबर, सन् १५४२) में उस समय हुआ था, जब उसका पिता हुमायू शेरशाह से पराजित होकर विदेश भागने की तैयारी में था। हुमायू की दयनीय दशा के कारण अकबर की बाल्यावस्था बड़े संकट में बीती थी और कई बार उसकी जान पर भी ज़ोखम आगई थी। जिस समय वह ५ वर्ष का था, उसके स्वार्थी चाचा ने तोपों की गोलावारी के बीच में उसे बैठा दिया था; किंतु दैवी इच्छा से उसका बाल भी बांका नहीं हुआ था ! जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सं० १६१२ में हुमायू ने भारत पर आक्रमण कर अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त कर लिया था; किंतु वह केवल ७ माह तक ही जीवित रहा था। उसकी मृत्यु सं० १६१२ के अंत में दिल्ली में हुई थी। उस समय अकबर पंजाब में था। मृत्यु के २१ दिन बाद (१४ फरवरी, सन् १५५६ में) पंजाब के ज़िला गुरदासपुर के कलानूर नामक स्थान में बड़ी सादगी के साथ उसकी गद्दीनशीनी की रस्म पूरी की गई थी। तब तक हुमायू की मृत्यु का समाचार गुप्त रखा गया और अकबर के गद्दीनशीन हो जाने पर ही हुमायू को दिल्ली में दफ़नाया गया था। उसका सुंदर मकबरा उसकी दूसरी पत्नी रानी बेगम ने अपने निजी धन से बनवाना शुरू किया था, जो १३-१४ वर्ष बाद (अप्रैल, सन् १५७० में) बन कर तैयार हुआ था। यह मकबरा अकबर कालीन मुगल स्थापत्य शैली का एक दर्शनीय नमूना है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अकबर बाल्यावस्था से ही अपने अनुपम गुणों का परिचय देने लगा था। जिस समय हुमायू ने भारत से निष्कासित होने के बाद काबुल पर अधिकार किया, उस समय उसने १० वर्ष के बालक अकबर को सं० १६०९ (जनवरी, सन् १५५२) में गज़नी का राज्यपाल बनाया था। जब हुमायू पुनः भारत में आया, तब १३ वर्ष का अकबर पंजाब का राज्यपाल था। जिस समय कलानूर में उसे हुमायू का उत्तराधिकारी घोषित किया गया, उस समय उसकी आयु केवल १३–१४ वर्ष की थी। किंतु उस छोटी अवस्था में ही वह अनेक वयष्क व्यक्तियों से अधिक दुःख–सुख और उतार–चढ़ाव के अनुभव प्राप्त कर चुका था। फिर भी आरंभ में बैरमख़ां उसका संरक्षक बनाया गया, जो उसकी तरफ से राज्य का संचालन करता हुआ सब झगड़े–झंझट निपटाता रहा था।

अकबर के शासन काल के आरंभिक ५ वर्ष उसके संरक्षक बैरमखां के प्रभुत्व थे। अकबर को बैरमखां की कठोर नीति क़तई पसंद नहीं थी। इधर उन वर्षों में उसने अपनी योग्यता, वीरता और प्रबंध–कुशलता का भी पूरा परिचय दिया था। फलतः वह बैरमख़ां के हाथ की कठपुतली बना रहना नहीं चाहता था। उसने सं० १६१७ में बैरमखां को हज जाने के लिए विवश किया और आप स्वतंत्रता पूर्वक राज्य की व्यवस्था करने लगा। हज के मार्ग में बैरमखां की मृत्यु हो गई थी। उस समय उसका एक मात्र पुत्र रहीम केवल ४ वर्ष का बालक था। अकबर ने रहीम को अपने संरक्षण में रखा और उसके पालन–पोषण तथा उसकी पढ़ाई–लिखाई की यथोचित व्यवस्था कर दी थी।

हिंदुओं से सद् व्यवहार और राजपूतों से वैवाहिक संबंध—बैरमखां के अनुशासन से मुक्त होते ही अकबर ने उसकी कठोर नीति के बजाय अपनी उदार नीति से शासन करना आरंभ किया था। उसने शेरशाह का अनुकरण करते हुए हिंदुओं के साथ सद् व्यवहार किया और उनके सहयोग से राज्य के विस्तार तथा शासन को सुदृढ़ करने में सफलता प्राप्त की थी। वह राजपूतों की वीरता और उनकी प्रतिज्ञा–पालन की प्रकृति से बड़ा प्रभावित हुआ था। उसने राज्याधिकार प्राप्त करते ही अपनी कुशाग्र बुद्धि से यह समझ लिया था कि यदि भारत में मुगल राज्य को सुदृढ़ और स्थायी बनाना है, तो राजपूत वीरों का सहयोग और उनकी सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। उसके लिए वह राजपूत राजाओं से मित्रतापूर्ण वैवाहिक संबंध स्थापित करने का आयोजन करने लगा। उससे पहिले सुलतानों के काल में बड़े घरों की सुंदर हिंदू लड़कियों को मुसलमानी शासक बलात् पकड़ कर उनके साथ निकाह कर लेते थे, जिससे पारस्परिक कटुता की निरंतर वृद्धि होती रही थी। अकबर ने बल–प्रदर्शन के स्थान पर मित्रता का व्यवहार किया था। इस प्रकार उसने सुलतानी काल की कुप्रथा का रूप बदल कर कटुता के स्थान पर हिंदुओं का प्रेम अर्जित किया था।

सं० १६१९ (१४ जनवरी, सन् १५६२) में जब उसने अपनी प्रथम अजमेर यात्रा की थी, तब मार्ग में वह आमेर के राजा बिहारीमल से मिला था और राजपूत वीरों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर उनका सहयोग प्राप्त करने में सफल हुआ था। इस प्रकार राजपूत राजाओं में कछवाहा नरेश सबसे पहिले अकबर के संबंधी और सहायक हुए थे[1]। राजा बिहारीमल ने अपनी

---

(१) **अकबरनामा (अंगरेजी संस्करण), भाग २, पृष्ठ ८८०**

पुत्री का विवाह अकबर के साथ कर दिया और विवाह की रस्म सांभर नगर में हुई। उस समय अकबर की आयु १९ वर्ष की थी और तब उसके राज्यारोहण का छटा वर्ष था। वह विवाह अकबर की उन्नति का प्रमुख आधार बन गया। उसके द्वारा उसने राजपूतों का हार्दिक सहयोग प्राप्त कर उनकी सहायता से अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। बिहारीमल का पुत्र भगवानदास और पौत्र मानसिंह उसी समय (सं० १६१९) से अंत तक अकबर के प्रमुख सहयोगी और सहायक बने रहे थे। उनके अनुकरण पर और भी कितने ही राजपूत नरेशों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर उसकी सहायता में अपना जीवन अर्पित किया था।

अकबर ने जहाँ हिंदू कन्याओं से विवाह किया था, वहाँ वह यह भी चाहता था कि हिंदू भी मुसलमान कन्याओं से विवाह करें। उसने राजपूत राजाओं से मुसलमान सरदारों और राजवंश वालों की कन्याओं से विवाह करने को विशेष रूप से कहा भी था। उन्होंने जवाब दिया—'जहाँपनाह ! आप बड़े हैं, आप हमारी लड़कियाँ ले सकते हैं; मगर हम आपकी लड़कियाँ नहीं ले सकते हैं।'' इस प्रकार अपने को छोटा बतला कर राजपूत राजाओं ने अपने विचारानुसार अपने रक्त को अशुद्ध होने से बचा लिया था। उनका कहना था कि लड़की देने से उनका रक्त नहीं बिगड़ेगा। उसे तो उन्होंने शरीर के दूषित भाग की तरह काट कर फैंक दिया; किंतु मुसलमानों की लड़कियों के साथ विवाह करने से उनकी वंश–परंपरा ही दूषित हो जावेगी ! राजपूतों का वह तर्क उनके दृष्टिकोण से चाहें ठीक रहा हो; किंतु उससे हिंदुओं को पूरा घाटा और मुसलमानों को बड़ा लाभ रहा था। यदि उस समय हिंदू–मुसलमानों में पारस्परिक विवाहों का प्रचलन हो जाता, तो मुसलमान भी विशाल हिंदू समाज के वैसे ही अंग बन जाते; जैसे जैन, सिक्ख आदि हैं।

आगरा में राजधानी का निर्माण—आगरा का प्राचीन नाम अग्रबन, अर्गलपुर अथवा उग्रसेनपुर[1] कहा जाता है और इसका इतिहास भी काफ़ी पुराना बतलाया जाता है; किंतु सिकंदर लोदी के शासन काल (सं० १५४६–सं० १५७४) से पहिले यह एक साधारण कस्बा था। मुसलमानी शासन के आरंभ से लेकर सुलतानों के अंतिम काल तक दिल्ली ही भारत की राजधानी रही थी। सिकंदर लोदी के शासन के उत्तर काल में उसकी राजनैतिक गति–विधियों का केन्द्र दिल्ली की अपेक्षा आगरा हो गया था। उसका कारण चाहें ग्वालियर के तोमर राजा मानसिंह के विरुद्ध युद्ध करने की सुविधा हो, चाहें उत्तर के निरंतर आक्रमणों से सुरक्षा हो। इस प्रकार सल्तनत काल के अंत होते–होते आगरा सैनिक राजधानी अवश्य था, चाहें उसे संपूर्ण राजधानी होने का महत्व प्राप्त नहीं हुआ था। मुगल राज्य के संस्थापक बाबर ने आरंभ से ही आगरा में अपनी राजधानी क़ायम की थी। उसके बाद हुमायू ने और फिर शेरशाह तथा उनके उत्तराधिकारियों ने भी आगरा में ही अपनी राजधानी रखी थी।

मुगल सम्राट अकबर ने भी पुरानी परंपरा को क़ायम रखा था। वह अपनी गद्दीनशीनी के तीसरे वर्ष सं० १६१५ (३० अक्टूबर, सन् १५५८) में आगरा आया था। तभी उसने वहाँ महल, क़िला आदि शाही इमारतें बनवाने का निश्चय किया था, ताकि उसे राजधानी के उपयुक्त

---

(१) ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ ८१–२४४

बनाया जा सके; किंतु उस कार्य को वह बैरमखां के संरक्षण से स्वतंत्र होने के बाद ही कर सका था। अकबर के काल में आगरा की बड़ी उन्नति हुई थी और वह एक विशाल नगर बन गया था। उसके बाद जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में उसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती रही थी। आगरा की उस अभूतपूर्व उन्नति के कारण मुगल काल में ब्रजमंडल और उसके प्रमुख नगर मथुरा का भी महत्व बढ़ गया था।

आगरा का क़िला—आगरा में जहाँ वर्तमान क़िला है, वहाँ पहिले ईंट–चूने का बना हुआ एक छोटा सा दुर्ग था, जो 'बादलगढ़' कहलाता था। ऐसी अनुश्रुति है, उस दुर्ग को बादलसिंह नामक एक राजपूत सरदार ने बनवाया था, जिसका अधिकार वहाँ सिकंदर लोदी से पहिले रहा था। जब वहाँ लोदी सुलतान की सैनिक छावनी बनी, तब उस दुर्ग की मरम्मत कराई गई थी। अकबर ने उसे एक विशाल संगीन किला का रूप देने का निश्चय कर सं० १६२२ (११ मार्च, सन् १५६५) में उसकी नींव रखी थी। वह क़िला क़ासिमखाँ नामक एक कुशल शिल्पी के नियंत्रण में सं० १६२८ में बन कर पूरा हुआ था। जहाँगीर ने अपने संस्मरण में लिखा है, उस किले के निर्माण में तब ३५ लाख रुपया लगा था। यह लाल पत्थर का विशाल दुर्ग अकबर कालीन स्थापत्य का एक भव्य नमूना है।

सीकरी में राजधानी का स्थानान्तरण—अकबर की कई रानियाँ और बेगमें थीं; किंतु दुर्भाग्य से उनमें से किसी से भी कोई पुत्र नहीं हुआ था। अकबर उसके लिए पीरों-फकीरों से दुआ माँगता फिरता था। आगरा ज़िला का फतहपुर–सीकरी उस काल में एक छोटा सा गाँव था, जिसे 'सीकरी' के नाम से धौलपुर के राजपूतों ने १४ वीं शती में बसाया था। उस समय वहाँ शेख़ सलीम चिश्ती नामक एक मुसलमान फ़क़ीर रहता था। उसने बादशाह को शीघ्र ही पुत्र प्राप्त होने की दुआ दी थी। दैवयोग से अकबर की बड़ी रानी, जो कछवाहा राजा बिहारीमल की पुत्री और भगवानदास की बहिन थी, गर्भवती हुई। इसे शेख़ की दुआ का प्रभाव माना गया। अकबर की इच्छा हुई कि उसकी रानी का प्रसव शेख़ के सान्निध्य में ही हो! इसके लिए उसने गर्भवती रानी को सीकरी भेज दिया और उसके रहन–सहन के लिए उस छोटे से गाँव में ही सब व्यवस्था कर दी। उसी समय वहाँ कई राजकीय भवन बनवाये गये थे। सं० १६२६ (३० अगस्त, सन् १५६९) में कछवाहा रानी ने सीकरी में एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम शेख़ के नाम पर 'सलीम' रखा गया। वही बाद में जहाँगीर के नाम से अकबर का उत्तराधिकारी होकर मुगल सम्राट हुआ था।

अकबर शेख़ से प्रभावित होकर उसके निवास स्थान को इतना शुभ समझने लगा कि उसने अपनी राजधानी को भी वहीं क़ायम करने का निश्चय किया। उसके लिए सं० १६२६ में वहाँ बड़े–बड़े राजकीय भवन बनाये जाने लगे, जो २ वर्ष तक दिन–रात बनते रहे थे। आगरा से केवल १२ कोस दूर एक दूसरा बड़ा नगर बन कर तैयार हो गया; जहाँ राजधानी का स्थानान्तरण कर दिया गया। इस प्रकार सं० १६२८ (७ अगस्त, सन् १५७१) में आगरा के बजाय सीकरी मुगल साम्राज्य की राजधानी हो गई। उसी साल अकबर ने गुजरात को फतह किया था, जिसके उपलक्ष में नई राजधानी का नाम 'फतहपुर सीकरी' रखा गया।

सं० १६२८ से १६४१ (७ अगस्त १५७१ से फरवरी १५८५) तक के प्राय: १४ वर्ष तक फतहपुर–सीकरी ही सम्राट अकबर के मुगल साम्राज्य की राजधानी रही थी। उस काल में उसकी बड़ी उन्नति हुई थी। अकबर ने वहाँ पर अपनी बेगमों के लिए अनेक महल बनवाये थे। उसके सामंत–सरदारों के भी वहाँ भवन बने थे। शाही कार्य के लिए दीवाने–आम, दीवाने–खास, सचिवालय आदि के अतिरिक्त वहाँ एक विशाल इबादतख़ाना भी सं० १६३२ (जनवरी, १५७५) में बनवाया गया था। उस समय समस्त देश की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि प्रवृत्तियों की प्रमुख हलचलों का वही केन्द्र था और इनमें आगरा से उसकी प्रतियोगिता होने लगी थी। सं० १६४१ में एक अंगरेज़ व्यापारी अपने व्यापार के सिलसिले में अकबर की राजधानी में गया था। उसने लिखा है,—"आगरा और फतहपुर दोनों बड़े शहर हैं। उनमें से हरेक लंदन से बड़ा और अधिक जनसंकुल है। सारे भारत और ईरान के व्यापारी यहाँ रेशमी तथा दूसरे कपड़े, बहुमूल्य रत्न, लाल, हीरा और मोती बेचने के लिए लाते हैं[1]।"

संत–भक्ति की धुन में अकबर ने बिना सोचे–विचारे और वास्तु कला विशेषज्ञों से बिना पूछे ही सीकरी को राजधानी बना दिया था, जिसका प्रायश्चित्त बाद में करना पड़ा था। उस स्थान में पानी की बड़ी कमी थी, जिसकी पूर्ति के लिए पहाड़ी पर बाँध बना कर एक कृत्रिम झील बनाई गई थी। उसी का पानी राजधानी में आता था। सं० १६३९ (अगस्त १५८२) में वह बाँध टूट गया, जिसके कारण नगर की पर्याप्त हानि हुई थी। १४ वर्ष तक सीकरी में राजधानी रखने पर अकबर को अनुभव हुआ कि वह स्थान अनेक दृष्टियों से इसके उपयुक्त नहीं है, अतः सं० १६४१ में वहाँ से राजधानी हटा कर पुनः आगरा लाई गई। राजधानी के हटते ही फतहपुर-सीकरी का ह्रास होने लगा और अब वह एक छोटा सा कस्बा मात्र रह गया है।

दरबारी नवरत्न—भारत में महाराजा विक्रमादित्य के नवरत्नों की अनुश्रुति बड़ी प्रसिद्ध है। कदाचित उसी से प्रेरणा प्राप्त कर अकबर ने अपने ९ प्रमुख दरबारियों को नवरत्न का पद प्रदान किया था। उन नवरत्नों के नाम इस प्रकार हैं,—१. महाराजा मानसिंह, २. राजा टोडरमल, ३. राजा बीरबल, ४. मिर्ज़ा अब्दुर्रहीम खानख़ाना, ५. महाकवि फ़ैज़ी, ६. मुंशी अबुलफ़ज़ल, ७. संगीत–सम्राट तानसेन, ८. हकीम हुमाम और ९. मुल्ला दोपियाज़ा। उनमें से मानसिंह, टोडरमल, बीरबल, रहीम और तानसेन ने अकबरी दरबार की गौरव–वृद्धि करने के साथ ही साथ ब्रज संस्कृति के विकास में भी योग दिया था, अतः उनके संक्षिप्त वृत्तांत यहाँ लिखे जाते हैं—

१. महाराजा मानसिंह—वह आमेर के कछवाहा राजा भगवानदास का भतीजा और उसका दत्तक पुत्र था। उसका जन्म सं० १५८७ में आमेर में हुआ था। जब आमेर नरेश बिहारीमल की पुत्री और भगवानदास की बहिन का विवाह अकबर के साथ हुआ, तब आमेर का राजवंश मुगल सम्राट का प्रधान सहयोगी बन गया था, जिससे उसके साम्राज्य के विस्तार में बड़ी सहायता मिली थी। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह जन्म भर अकबरी दरबार में रह कर अकबर के सर्वप्रधान सहायक बने रहे थे।

---

(१) **अकबर, पृष्ठ २१०**

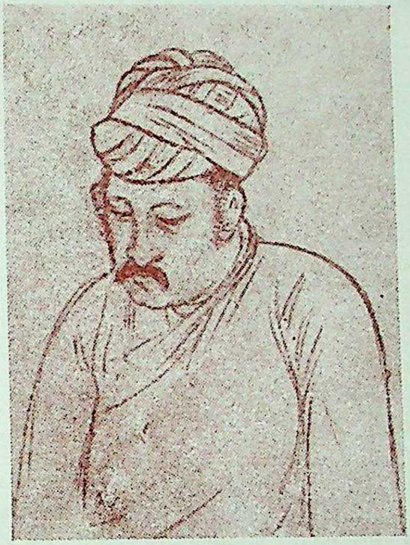

सम्राट अकबर

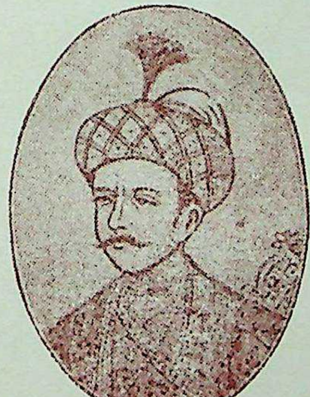

महाराजा मानसिंह

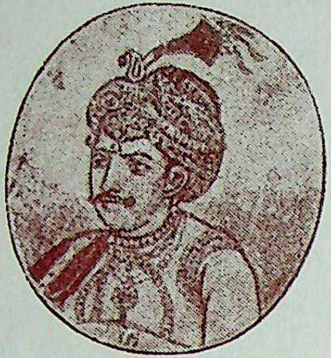

राजा टोडरमल

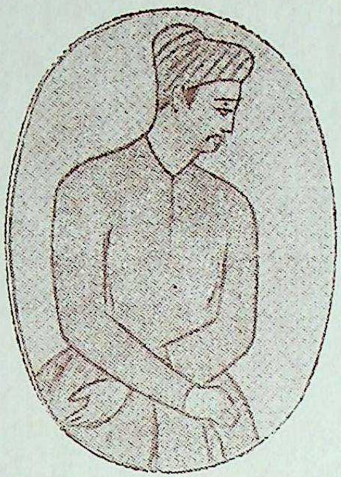

राजा बीरबल

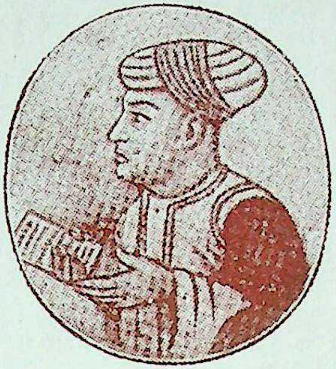

मुंशी अबुलफज़ल

राजा मानसिंह बड़ा वीर, कुशल सेनानायक और प्रतापी राजपुरुष था। उसकी भूआ सम्राट अकबर की प्रधान रानी और जहाँगीर की माता थी, जो 'मरियम जमानी' कहलाती थी। उसकी बहिन जहाँगीर की प्रमुख रानी और खुसरो की माता थी। इस प्रकार मुगल राजवंश से उसका घनिष्ट पारिवारिक संबंध था। वह अकबर का प्रधान सेनापति और सबसे बड़ा मनसबदार था। उसका मनसब साड़े सात हज़ारी था। उससे पहिले किसी भी अमीर को पाँच हजारी से बड़ा मनसब नहीं दिया गया था। तुर्क सरदारों का सबसे बड़ा पद 'अमीर' होता था और शाहजादों को 'अमीरज़ादा' कहा जाता था। अमीरज़ादा शब्द ही बदल कर (मीरज़ादा-मीरज़ा) 'मिरज़ा' कहलाने लगा था। अकबर ने अपने जिन तीन सबसे बड़े सेनापतियों को मिरज़ा का ओहदा दिया था, वे राजा मानसिंह, ख़ानखाना अब्दुर्रहीम और खानआज़म अजीज़ कोकलताशख़ां थे। वे क्रमशः मिर्ज़ा राजा, मिर्ज़ा खान और मिर्ज़ा अज़ीज़ कहलाते थे। सम्राट अकबर स्वयं उन्हें इन्हीं नामों से संबोधित करता था।

मिर्ज़ा राजा मानसिंह ने अकबर के लिए बड़े–बड़े युद्ध किये थे और उन सब में सफलता प्राप्त की थी। उसने बंगाल से लेकर काबुल–कंधार तक का विस्तृत क्षेत्र अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से जीत कर उससे अकबर के विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। यदि अकबर का साम्राज्य राजा मानसिंह द्वारा जीता हुआ कहा जाय, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। वह कई सूबों का राज्यपाल रहा था और बंगाल उसकी ज़िमीदारी में था। आगरा में जहाँ ताजमहल बनाया गया है, वह भूमि भी राजा मानसिंह की मिल्कियत थी। उसे बाद में जहाँगीर के कहने से उसे देदी गई थी[1]।

राजा भगवानदास और राजा मानसिंह ब्रज संस्कृति के बड़े अनुरागी थे और वे ब्रज के संत–महात्माओं के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। जब वे आगरा में होते और उन्हें राजकीय कार्य से अवकाश मिलता, तब वे ब्रज के महात्माओं के सत्संग का लाभ उठाने की अवश्य चेष्टा करते थे। अकबर से पहिले ब्रज में देव–मंदिर बनवाने पर रोक लगी हुई थी। भगवानदास और मानसिंह के प्रभाव से अकबर ने वह रोक हटा दी थी। उसके फल स्वरूप ही वृंदाबन, गोबर्धन और गोकुल आदि स्थानों में मंदिर बन सके थे। राजा भगवानदास ने गोबर्धन में श्री हरिदेव जी का मंदिर बनवाया था और राजा मानसिंह ने वहाँ के मानसीगंगा तीर्थ को पक्का करवाया था। राजा मानसिंह ने वृंदाबन में श्री गोविंददेव जी का विशाल मंदिर भी बनवाया था, जो सं० १६४७ में पूरा हुआ था। वह मंदिर उस काल में उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ देवालयों में गिना जाता था। उसका छोटा भाई माधवसिंह भी साहित्य और कला का बड़ा अनुरागी तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। उसका 'माधव भवन' उस काल में साहित्य और संगीत का प्रधान केन्द्र था। विख्यात संगीतशास्त्री पुंडरीक विट्ठल ने माधवसिंह के प्रोत्साहन से ही उस काल में कई सुप्रसिद्ध संगीत ग्रंथों की रचना की थी।

शाहज़ादा सलीम (जहाँगीर) ने अपने उद्धत व्यवहार से सम्राट अकबर को इतना अप्रसन्न कर दिया था कि वह सलीम के बजाय उसके पुत्र खुसरो को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। उसमें राजा मानसिंह की भी सम्मति थी। अकबर के बाद भी राजा मानसिंह ने

---

(१) आईन–ए–अकबरी, पृष्ठ ३६१

अपने भानजे खुसरो को जहाँगीर के स्थान पर मुगल सम्राट बनाना चाहा था; किंतु उसे सफलता नहीं मिली थी। उसकी मृत्यु जहाँगीर के राज्यारोहण के नवें वर्ष सं० १६७१ में हुई थी

२. राजा टोडरमल—राजा मानसिंह के बाद राजा टोडरमल अकबरी दरबार का सबसे बड़े स्तंभ था। यदि राजा मानसिंह ने अपने पुरुषार्थ से विभिन्न प्रदेशों को जीत कर मुगल साम्राज्य का निर्माण किया था, तो राजा टोडरमल ने अपनी बुद्धिमत्ता से उसका यथोचित प्रबंध कर और प्रशासन में कुशलता ला कर उसे सुदृढ़ता प्रदान की थी। वह भूमि-कर और आर्थिक मामलों का सबसे बड़ा विशेषज्ञ माना जाता था। उसने इनके संबंध में जो नियम बनाये थे, उनका अनुसरण मुगल साम्राज्य में ही नहीं, बल्कि बाद में अंगरेजी राज्य में भी किया जाता रहा। भारतवर्ष में चाणक्य के बाद राजा टोडरमल ही ऐसा व्यक्ति हुआ, जिसके बुद्धि-कौशल की ऐसी स्थायी छाप भारतीय प्रशासन पर लगी थी।

'शिवसिंह सरोज' के अनुसार टोडरमल का जन्म सं० १५८० में और देहावसान सं० १६४३ में हुआ था[1]। वह जाति का खत्री था और उसकी अल्ल टंडन थी। उसका जन्म स्थान पंजाब का लाहौर नगर माना जाता है। इधर एशियाटिक सोसाइटी की जाँच से निश्चय हुआ है कि उसका जन्म अवध में सीतापुर जिले के लाहरपुर गाँव में हुआ था। उक्त गाँव का नाम तारापुर भी बतलाया गया है[2]।

टोडरमल की आरंभिक नियुक्ति राजकीय भूमिकर विभाग में मुजफ्फरखां के आधीन एक मुंशी के रूप में हुई थी। फिर वह अकबर के मुसद्दियों में हो गया, जहाँ उसने अपनी योग्यता और कार्य-कुशलता से सम्राट को प्रसन्न कर लिया था। जब अकबर ने सं० १६३० में गुजरात को फतह किया, तव वहाँ की बिगड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था और भूमि-कर के कुप्रबंध को ठीक करने का काम टोडरमल को सोंपा गया था। उसे उसने ऐसे सुंदर ढंग से पूरा किया कि वह अकबर की नज़रों में चढ़ गया और फिर उत्तरोत्तर उन्नति करता गया था। सं० १६३४ में उसने टकसाल का पुनर्गठन किया था और भूमिकर विभाग में सुधार के अनेक नियम बनाये थे। उनके कारण राज्य कोश की आय बहुत बढ़ गई थी और साम्राज्य माला-माल हो गया था। अकबर ने उसकी कार्य-कुशलता से प्रसन्न होकर उसे 'राजा' का पद प्रदान किया और उसे 'दीवान-कुल' अर्थात् प्रधान वित्त मंत्री बना दिया था। उसका मनसब चार हज़ारी था।

राहुल सांस्कृत्यायन ने टोडरमल की योग्यता की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"टोडरमल राज्य शासन के सारे रहस्यों के ज्ञाता और हिसाब-किताब के काम में बेनज़ीर थे। वह मंत्रालय के कायदे-कानून, सल्तनत के विधान, रैयत की भलाई, दफ्तर के कायदे को ठीक-ठाक से चलाने के गुर जानते थे। कोश को भरपूर रखना, यातायात के साधनों को कायम रखना, परगनों की मालगुजारी की दर निश्चित करना, जागीरों की तनखाह, अमीरों के मनसबों के नियम उन्होंने ही बनाये थे, जो बाद में अंगरेज़ों के आने तक चलते रहे थे[3]।"

---

(१) **शिवसिंह सरोज,** पृष्ठ ४२५

(२) **अकबरी दरबार** (तीसरा भाग), पृष्ठ ११६, **वार्ता साहित्यः एक बृहत् अध्ययन,** पृष्ठ २७६

(३) **अकबर,** पृष्ठ १३५

टोडरमल वित्त, प्रशासन और दफ्तर के कामों में माहिर होते हुए भी एक साहसी योद्धा और कुशल सेनापति भी था। उसने कई बड़े युद्धों में सेनापति के रूप में तलवार के जौहर दिखलाये थे और युद्ध–संचालन विषयक अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया था। वह कायदे–कानून की पाबंदी का कठोर समर्थक था। वित्तीय और प्रशासकीय कार्यों में तनिक सी अनियमितता को भी वह सहन नहीं कर सकता था। उस काल के बड़े–बड़े तुर्क-पठान ओहदेदार इसीलिए उससे असंतुष्ट थे कि वह हिंदू होते हुए भी उन पर कठोरता से शासन करता था। टोडरमल की ईमानदारी और कार्य–कुशलता की ऐसी धाक थी कि बड़े से बड़ा मुसलमान ओहदेदार भी उसका कुछ भी बिगाड़ करने में असमर्थ था।

मुगल साम्राज्य का इतना बड़ा उत्तरदायित्व सँभालते हुए भी वह अपने धार्मिक नित्य नियम और पूजा–पाठ का बड़ा ध्यान रखता था। लंबी यात्राओं में और भीषण युद्धों में भी उसकी पूजा–पाठ का क्रम नियमित रूप से चलता रहता था। जब तक वह अपना धार्मिक कृत्य पूरा नहीं कर लेता, तब तक न तो कोई काम करता था और न अन्न का दाना मुँह में डालता था। एक बार युद्ध के मैदान में उसकी सेवा–पूजा का सामान उसके उपास्य देव की प्रतिमा सहित चोरी चला गया था। चोर ने उसे वित्त मंत्री का खजाना समझ कर चुराया होगा। बहुत तलाश करने पर भी जब वह सामान नहीं मिला, तब टोडरमल ने खाना छोड़ दिया ! उससे अकबर बड़ा परेशान हुआ। उसने कहा—"ठाकुर जी चोरी गये तो कोई चिंता नहीं, तुम्हारा अन्नदाता ठाकुर तो मौजूद है ! उसी का ध्यान धर कर खाना खाओ; फिर ठाकुर जी की तलाश करते रहना।" आखिर बहुत समझाने–बुझाने पर वह अन्न–ग्रहण करने को रज़ामंद हुआ था।

पश्चिमोत्तर सीमावर्ती पठानों के विरुद्ध युद्ध करता हुआ जब बीरबल मारा गया, तब टोडरमल और मानसिंह को पठानों का दमन करने के लिए भेजा गया था। टोडरमल ने वहाँ की सामरिक व्यवस्था ठीक कर शत्रुओं को पराजित कर दिया। उसके बाद का बाकी काम मानसिंह को सौंप कर वह वहाँ से वापिस चला आया। जब वह बूढ़ा हो गया, तब अपना अंतिम काल हरिद्वार में गंगा तट पर बिताना चाहता था। उसके लिए उसने पद से मुक्त होने के लिए अकबर से आज्ञा माँगी थी। अकबर उसके जैसे सुयोग्य व्यक्ति को छोड़ना नहीं चाहता था, अतः इच्छा रहते हुए वह अपना अंतिम जीवन हरिद्वार में नहीं बिता सका था। उसकी मृत्यु सं० १६४६ (नवंबर, सन् १५८९) में लाहौर के निकट हुई थी।

दिल्ली के सुलतानों के शासन–काल में फारसी राजभाषा थी; किंतु मुगलों के शासन–काल में देशी भाषा हिंदी भी राज–काज में चल पड़ी थी। 'आइने अकबरी' से ज्ञात होता है कि टोडरमल ने सभी राजकीय दफ्तरों में फारसी को अनिवार्य कर दिया था। उसके लिए अनेक विद्वान उसे दोष देते हैं। उनका कहना है, यदि टोडरमल ने उस काल में फारसी को अनिवार्य राजभाषा न बनाया होता, तो हिंदी की बड़ी उन्नति हुई होती। कुछ लोगों की राय है, उससे हिंदुओं को राजकीय उच्च पदों पर पहुँचने में बाधा पड़ती थी। फारसी अनिवार्य हो जाने पर हिंदुओं ने उसे सीख कर बड़े–बड़े राजकीय पदों का उत्तरदायित्व सँभाला था और वे उसी के कारण मुगलों के शासन काल में बड़े–बड़े ओहदों पर पहुँच सके थे।

मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने इस संबंध में लिखा है—"सिकंदर लोदी के समय तक धार्मिक हिंदू फारसी या अरबी नहीं पढ़ते थे। उन्होंने उनका नाम 'म्लेच्छ विद्या' रख छोड़ा था। राजा टोडरमल ने निश्चय किया कि समस्त भारतवर्ष के दफ्तर केवल फारसी भाषा में हो जाँय। उसका परिमाण यह हुआ कि लिखने-पढ़ने वाले व्यापारी और कृषक हिंदुओं के लिए फारसी पढ़ना आवश्यक हो गया।...कुछ ही वर्षों में बहुत से हिंदू फारसी पढ़ने वाले और उसके अच्छे ज्ञाता हो गये और वे दफ्तरों में विदेशी लोगों के बराबर बैठने लगे। ज़रा राजा साहब की युक्ति को देखना चाहिए कि उन्होंने कैसी सुंदरता से (हिंदू) जाति के राजनीतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए राजमार्ग खोला है। बलिक सच पूछिये तो उसी समय से फारसी तथा अरबी शब्दों को हिंदुओं की भाषाओं, बलिक घरों में जाने के लिए मार्ग मिल गया। यहीं से रेखता के द्वारा उर्दू की नींव दृढ़ हुई[1]।"

टोडरमल अर्थ, वित्त, राजस्व, प्रशासन और रण-कौशल का ही अनुपम ज्ञाता नहीं था; वरन् वह ग्रंथ-रचयिता, कवि और साहित्यकार भी था। 'आज़ाद' ने उसके एक ग्रंथ 'ख़ज़ाने इसरार' का उल्लेख किया है, जिसकी प्रति टोडरमल की मृत्यु के ८ वर्ष बाद की लिखी हुई मिलती है। उसके दो भाग हैं,—एक में धर्म, ज्ञान और पूजा-पाठ आदि के प्रकरण हैं; दूसरे में नीति, गृह-प्रबंध आदि के अतिरिक्त मुहूर्त्त, संगीत, स्वरोदय, पक्षियों के शब्दों के शकुन और उनकी उड़ान आदि के संबंध की बातें लिखी गई हैं। हिसाब-किताब से संबंधित एक छोटी सी पुस्तिका भी उसकी रची हुई बतलाई गई है[2]। 'कवि विनोद' नामक ग्रंथ में टोडरमल के कुछ ऐसे छंदों का संकलन है, जो हिसाब-किताब के 'गुरों' से संबंधित हैं। वे शायद उसी पुस्तिका से लिये गये हैं। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने वैसे कुछ छंदों को अपने शोध प्रबंध में भी उद्धृत किया है[3]।

डा० सी० कुन्हन राजा जब बीकानेर के सुप्रसिद्ध 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में वहाँ के हस्त लिखित ग्रंथों का अनुसंधान कर रहे थे, तब उन्होंने वहां 'टोडरानंद' नामक एक बड़ा ग्रंथ देखा था। उनके मतानुसार यह टोडरमल की रचना है। उन्होंने उक्त ग्रंथ की विस्तृत समीक्षा करते हुए अंगरेज़ी में एक लेख लिखा था, जो 'साप्ताहिक भारत' में अनूदित होकर प्रकाशित हुआ था। उसका सारांश इस प्रकार है,—"यह धर्म, कानून और राष्ट्रीय जीवन से संबंधित अनेक आवश्यक विषयों का विश्वकोश है। इसमें लगभग ८,००० दोहे हैं और यह आकार में महाभारत के (हरिवंश परिशिष्ट को छोड़ कर) बराबर है। इसमें ज्योतिष, धर्म, मंदिर, पूजा, भूगोल, राजनीति, चिकित्साशास्त्र, सामाजिक रीति-रिवाज, विश्व-इतिहास, अंतरिक्ष शास्त्र आदि सभी विषयों की सामग्री का समावेश है। यह मूल कृति नहीं है, वरन् शोध-संकलन का ऐसा विशद ग्रंथ है, जिसमें युगों का संचित ज्ञान जनता की सूझ-बूझ की परिधि में लाकर रखा गया है। इसमें हर विषय की अत्यधिक व्यापक सामग्री है। इसकी रचना के लिए टोडरमल ने अपने समकालीन अनेक विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया होगा। किंतु यह निश्चित है कि ग्रंथ का

---

(१) **अकबरी दरबार** (तीसरा भाग), पृष्ठ १४१

(२) **वही** „ , पृष्ठ १४२-१४३

(३) **अकबरी दरबार के हिंदी कवि** (परिशिष्ट), पृष्ठ ४५२

अधिकांश उन्होंने स्वयं ही तैयार किया होगा और समूचे ग्रंथ की तैयारी उन्हीं की देख–रेख में हुई होगी । इस ग्रंथ के नाम से ही ज़ाहिर है कि वह इसके लेखक थे ।"

टोडरमल ने व्रजभाषा में नीति और उपदेश से संबंधित कवित्तों की भी रचना की थी । इस प्रकार के कुछ कवित्त डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने प्रकाशित किये हैं[1] । कांकरौली विद्या विभाग के बंध संख्या $\frac{४३}{१६}$ की पोथी में भी टोडरमल के कुछ कवित्त और पद मिलते हैं । उनमें से एक पद की प्रथम पंक्ति है,—"जसुमति के भवन में कछु किंकिनी की धुनि सुनि ।" इससे ज्ञात होता है कि टोडरमल ने कृष्ण–लीला के भक्तिपूर्ण पद भी रचे थे । 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' सं० १९ और सं० ७५ में टोडरमल का उल्लेख मिलता है, जिससे उसका बल्लभ संप्रदाय से संबंध ज्ञात होता है । किंतु उसने अपने राजकीय प्रभाव से ब्रज की तत्कालीन धार्मिक और सांस्कृतिक प्रगति में विशेष योग दिया हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता है । कुछ संप्रदायों में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि ब्रज संस्कृति के पुनरुद्धार काल में राजा टोडरमल ने यहाँ के कुछ देवालयों का जीर्णोद्धार और रासमंडलों का निर्माण कराया था[2]; किंतु इसके समर्थन में कोई विश्वनीय प्रमाण नहीं मिलता है । राजा टोडरमल का समकालीन भटानिया (ज़िला अलीगढ़) का निवासी साहू टोडर नामक एक जैन सेठ था । उसने अकबर के शासन–काल में ब्रज के जैन स्तूपों और मंदिरादि का पुनरुद्धार कराया था । संभव है, उसके निर्माण कार्यों के उल्लेख से नाम–साम्य के कारण इस प्रकार का भ्रम हुआ हो ।

३. राजा बीरबल—अकबर कालीन प्रतिष्ठित हिंदुओं में बीरबल की ख्याति बहुत अधिक है । उसका नाम अकबर के साथ उसी प्रकार जुड़ा हुआ है, जिस प्रकार अरस्तू का सिकंदर के साथ और चंद का पृथ्वीराज के साथ; किंतु बीरबल का प्रभाव अरस्तू और चंद दोनों से कहीं अधिक था । वह न तो बड़ा विद्वान था, न भारी योद्धा, न कुशल प्रशासक और न प्रचंड सेनानी; किंतु अकबरी दरबार में उसका प्रभाव किसी भी बड़े से बड़े विद्वान, योद्धा, प्रशासक और सेनाध्यक्ष से कम नहीं था । उसका कारण यह था कि वह विलक्षण बुद्धिमान, प्रत्युत्पन्न मति, अपूर्व मेधावी, अद्भुत सूझ–बूझ वाला होने के साथ ही साथ हाज़िर जवाब और विनोदी स्वभाव का था । उसकी बुद्धिमत्ता और विनोद–प्रियता से अकबर की बड़ी से बड़ी चिंता दूर हो जाती थी । इसलिए वह बीरबल को सदैव अपने साथ रखता था और एक क्षण का विछोह भी उसे सहन नहीं होता था । दरबार से लेकर अंतःपुर तक सब जगह बीरबल की पहुँच थी । वह दरबारी नवरत्नों में से एक होने के साथ ही साथ सम्राट का अभिन्न मित्र भी था । उसकी अपूर्व प्रतिष्ठा के कारण अकबर के बड़े–बड़े दरबारी और ओहदेदार उससे ईर्ष्या करते थे और उसे नीचा दिखाने का अवसर ढूँढ़ा करते थे; किंतु बीरबल की बुद्धिमत्ता और सूझ–बूझ से सदा उन्हें ही नीचा देखना पड़ता था ।

उसका नाम महेशदास अथवा ब्रह्मदास था और बीरबल उसकी उपाधि थी, जो बदायूनी के उल्लेखानुसार अकबर द्वारा प्रदान की गई थी[3] । वह अपने नाम के बजाय उक्त

---

(१) अकबरी दरबार के हिंदी कवि, पृष्ठ ५२–५३

(२) श्री सर्वेश्वर का 'वृंदाबनांक', पृष्ठ २६२

(३) अकबरी दरबार (दूसरा भाग), पृष्ठ २२१

उपाधि से ही प्रसिद्ध हुआ था। वह जाति का ब्राह्मण था और उसका जन्म काल्पी (जिला जालौन) में हुआ था। वह अकबर के राज्यासीन होने के आरंभिक काल में ही उसकी सेवा में आ गया था और अपनी प्रतिभा के बल पर उन्नति करता हुआ प्रतिष्ठा के उच्च शिखर पर पहुँच गया था। अकबर के प्रताप की वृद्धि के साथ ही साथ बीरबल की प्रतिष्ठा भी बढ़ती रही थी। मुल्ला बदायूनी कट्टर मुसलमान होने के कारण बीरबल की उन्नति से प्रसन्न नहीं था; इसलिए उसने उसके प्रति कुछ अपशब्द भी लिखे हैं; फिर भी उसकी योग्यता का वह भी क़ायल था। उसने लिखा है,—"बीरबल अपनी बुद्धिमत्ता और स्वभाव परखने के गुण के कारण हर बात पर अपनी इच्छानुसार बादशाह की आज्ञा प्राप्त कर लेते थे। इसीलिए बड़े–बड़े राजा–महाराजा, अमीर और ख़ान आदि लाखों रुपये के उपहार उनके पास भेजा करते थे। बादशाह भी प्रायः राजाओं के पास उन्हें दूत बनाकर भेजता था और उनसे वे ऐसे काम निकाल लाते थे, जो बड़े–बड़े लश्करों से भी न निकलते थे[1]।"

अकबर–बीरबल के अनेक लतीफ़े तथा निम्न कोटि के बाज़ारू मज़ाक प्रचलित हैं। उनमें बीरबल अपनी मनोरंजक बातों से अकबर को प्रसन्न करने वाला एक हाज़िर जवाब मशखरा से अधिक ज्ञात नहीं होता है। किंतु यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि अकबर जैसे महान् सम्राट के प्रीति–भाजन बनने के लिए उक्त बाजारू बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य दुर्लभ गुणों की भी आवश्यकता थी, जो निश्चय ही बीरबल में थे। जिस सम्राट के दरबार में देश भर के चुने हुए विद्वान और गुणी जन एकत्र थे, वहाँ अपनी प्रतिष्ठा का सिक्का जमाने के लिए उन बाज़ारू लतीफों से काम नहीं चल सकता था ! इससे सिद्ध होता है, वे बाद में लोगों द्वारा गढ़ लिये गये हैं और जिनका बीरबल से कोई संबंध नहीं था।

अकबर ने जब 'दीन इलाही' नामक एक नया संप्रदाय चलाया था, तब हिंदू दरबारियों में से केवल बीरबल ने ही उसे स्वीकार किया था। राजा मानसिंह और राजा टोडरमल जैसे निकटतम प्रधान दरबारी भी उस संप्रदाय में सम्मिलित नहीं हुए थे। इससे ज्ञात होता है, बीरबल हवा के रुख को देख कर चलना जानता था। बल्लभ संप्रदायी वार्ता साहित्य में 'दोसौ बाबन वैष्णवन की वार्ता' के अंतर्गत बीरबल की बेटी की वार्ता, छीतस्वामी की वार्ता, रूपमंजरी की वार्ता, चांपाबाई की वार्ता और 'भावसिंधु' के अंतर्गत ताजबीबी की वार्ता में बीरबल का उल्लेख हुआ है। 'छीतस्वामी की वार्ता' से विदित होता है, छीतस्वामी बीरबल के पुरोहित थे। वे प्रति वर्ष उससे वार्षिक वृत्ति प्राप्त करने के लिए गोकुल से आगरा जाया करते थे। एक बार उसी प्रसंग में जब वे आगरा में बीरबल के निवास–स्थान पर थे, तब प्रातःकालीन कीर्तन करते हुए उन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथ जी को भगवद्रूप में वर्णित किया था। उससे बीरबल को भय हुआ कि यदि सम्राट अकबर ने उसे सुन लिया, तो कदाचित उसे बुरा लगेगा। फिर मुसलमानी राज्य की राजधानी में उस प्रकार का गायन करने से छीतस्वामी के लिए शायद कोई संकट पैदा हो जावे; इस आशंका से बीरबल ने छीतस्वामी से उस प्रकार का गायन न करने की प्रार्थना की। इस पर छीतस्वामी ने उसे बुरा–भला कहा और उसकी वृत्ति का परित्याग कर वे गोकुल वापिस आ गये और फिर कभी उन्होंने बीरबल का मुँह भी नहीं देखा[2] !

---

(१) अकबरी दरबार (दूसरा भाग), पृष्ठ २२५

(२) अष्टछाप (छीतस्वामी की वार्ता), पृष्ठ ६१०-६१५

'ताज बीबी की वार्ता' से ज्ञात होता है कि बीरबल की पुत्री शोभावती गोसाईं विट्ठलनाथ जी की बड़ी भक्त थी। वह अकबर की एक बेगम ताजबीबी की परिचर्या में रहा करती थी। शोभावती धार्मिक विचारों की एक चतुर महिला थी। उसका ताजबीबी से उसी प्रकार घनिष्ट संबंध था, जिस प्रकार अकबर से बीरबल का था। शोभावती के कारण ताजबीबी भी गोसाईं विट्ठलनाथ के प्रति श्रद्धा रखती थी[१]। इस वार्ता से सिद्ध होता है कि शोभावती पूर्ण आस्थावान वैष्णव महिला थी, यद्यपि उसका पिता 'दीन इलाही' में सम्मिलित होने के कारण हिंदू धर्म से कुछ विचलित हो गया था।

बीरबल विलक्षण बुद्धिमान और चतुर राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ उत्तम कवि भी था। सम्राट अकबर ने उसे 'कविराय' की उपाधि प्रदान की थी। उसकी रचनाएँ 'ब्रह्म' के उपनाम से मिलती हैं, जिनमें रीतिकालीन शैली के काव्य-चमत्कार के साथ शृंगार रस, भक्ति और उपदेश का कथन हुआ है। कांकरौली विद्या विभाग के बंध सं० $^{५}_{१}$ की पोथी में बीरबल के कुछ पद और कवित्तों का संकलन है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपने शोध प्रबंध में बीरबल की रचनाएँ प्रकाशित की हैं[२]। उसकी रचनाओं में उपमा अलंकार का चमत्कार अधिक है, इसीलिए उसके संबंध में यह उक्ति प्रचलित हो गई है,—'उत्तम पद कवि गंग के, उपमा में बलबीर।' वह कवि होने के साथ ही साथ कवियों का प्रशंसक और पुरस्कर्त्ता भी था। केशवदास की रचनाओं पर प्रसन्न होकर उसने पुष्कल पुरस्कार प्रदान किया था, और उसके आश्रयदाता ओरछा-नरेश पर किये गये भारी जुर्माने को भी सम्राट अकबर से माफ़ करा दिया था।

बीरबल का मनसब तो 'दो हज़ारी' ही था; किंतु उसका रुतबा बड़े-बड़े मनसबदारों से भी अधिक था। सं० १६३० में बादशाह ने नगरकोट (ज़ि० कांगड़ा) का धार्मिक क्षेत्र उसकी जागीर के लिए प्रदान किया था। उसके अतिरिक्त कालिंजर भी उसकी जागीर में था। उसके दो पुत्र थे; बड़े का नाम लाला और छोटे का हरमराय था। उन दोनों में से किसी में भी अपने पिता का कोई गुण नहीं था; इसीलिए उनकी उन्नति नहीं हुई थी। बीरबल की मृत्यु स्वात के पठान यूसुफजाई कबालियों का दमन करते हुए सं० १६४२ में हुई थी। उसके देहावसान का समाचार सुनते ही अकबर को इतना दुःख हुआ कि जितना उसे अपने सगे-संबंधी की मृत्यु पर भी कभी नहीं हुआ था। उसने उसी दुःख में कई दिनों तक खाना भी नहीं खाया था।

४. **रहीम**—अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना उपनाम 'रहीम' अकबरी दरबार का विशिष्ट रत्न और हिंदी का प्रसिद्ध कवि था। उसका पिता बैरमखां ख़ानख़ाना था, जो अकबर के आरंभिक काल में उसका संरक्षक रहा था। उसकी माता जमालखां मेवाती की छोटी बेटी थी, जिसकी बड़ी बहिन हुमायू को विवाही थी। रहीम का विवाह भी अकबर की धाय मा माहम अनगा की बेटी माहबानू से हुआ था। इस प्रकार रहीम का मुगलों के शाही खानदान से घनिष्ट पारिवारिक संबंध था। उसका जन्म सं० १६१३ में अकबर की गद्दीनशीनी के प्रायः १० माह बाद लाहौर में हुआ था। जब उसका पिता बैरमखां अकबर के आदेशानुसार हज को जा रहा था, तब पाटन

---

(१) **भावसिंधु** (ताजबीबी की वार्ता), पृष्ठ ३००-३०२

(२) **अकबरी दरबार के हिंदी कवि, पृष्ठ ३४५-३५६**

(गुजरात) के एक पठान ने पिछले बैर के कारण उसकी हत्या कर दी थी । उस समय रहीम की आयु केवल ४ वर्ष की थी । अकबर ने बालक रहीम को अपने संरक्षण में रख कर उसके पालन–पोषण एवं शिक्षण का यथोचित प्रबंध किया था । रहीम आरंभ से ही बड़ा प्रतिभावान था । उसने उच्च कोटि की सैनिक शिक्षा के साथ ही साथ तुर्की, फारसी, हिंदी, संस्कृत आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था ।

अकबर के शासन–काल में रहीम ने बड़ी उन्नति की थी । वह मान–प्रतिष्ठा, धन–वैभव और यश–कीर्ति में अपने समय के किसी दरबारी से कम नहीं था । उसने गुजरात, सिंध और बीजापुर के युद्धों में बड़ी–बड़ी विजय प्राप्त की थीं, जिनके कारण उसे कई बड़े सूबों की सूबेदारी मिली थी तथा 'खानखाना' का खिताब और पाँच हजारी का मनसब दिया गया था । राजा टोडरमल की मृत्यु के बाद उसे 'वकील–कुल' भी बनाया गया था, जो मुगलों के राज्य में सबसे बड़ा प्रशासनिक पद था । उसका धन–वैभव अपार था; किंतु उसकी दानशीलता की भी कोई सीमा नहीं थी । उसकी प्रसिद्धि का अधिकांश कारण उसकी अपूर्व उदारता, गुणग्राहकता और दानशीलता थी ।

वह प्रतिष्ठित राजपुरुष होने के साथ ही साथ फारसी, तुर्की, अरबी, हिंदी आदि भाषाओं का विद्वान, ब्रजभाषा का उत्कृष्ट कवि और कवियों का बड़ा आश्रयदाता था । उसके दरबार में कवियों की भीड़ लगी रहती थी और वह मुक्त हस्त से उन्हें लाखों रुपया पुरस्कार में दिया करता था । उस काल के अनेक हिंदी कवियों ने रहीम की प्रशंसा में अगणित छंद रचे थे । केशवदास और गंग जैसे विख्यात कवियों के अतिरिक्त मंडन, प्रसिद्ध, जाड़ा, संत, हरिनाथ, अलाकुली, तारा, मुकुंद आदि अनेक कवियों द्वारा रची हुई रहीम की प्रशंसासूचक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं । उसने प्रचुर परिमाण में हिंदी कविताएँ रची थीं, जिनमें उसके दोहे बड़े प्रसिद्ध हैं । उसकी रचनाओं पर हिंदू धर्म और ब्रज संस्कृति की ऐसी गहरी छाप है, जैसी रसखान के अतिरिक्त किसी अन्य मुसलमान हिंदी कवि की रचनाओं में दिखलाई नहीं देती है । उनसे किसी को आभास तक नहीं होता है कि वे किसी मुसलमान की कृतियाँ हैं । रहीम कृत नीति और उपदेश के दोहे लाखों व्यक्तियों को कहावत के रूप में कंठस्थ हैं । उक्त दोहावली के अतिरिक्त रहीम की रचनाओं के नाम १. बरवा नायिकाभेद, २. नगर-शोभा, ३. मदनाष्टक आदि हैं । उनका संकलन श्री मयाशंकर याज्ञिक कृत 'रहीम रत्नावली' नामक ग्रंथ में हुआ है ।

रहीम का दीवान सुंदरदास नामक एक कायस्थ था । वह राधाबल्लभीय संप्रदाय का अनुयायी था और उसने हित हरिवंश जी के छोटे पुत्र गोपीनाथ जी से दीक्षा ली थी । उसने ठाकुर राधाबल्लभ जी का मंदिर बनवाया था । वह मंदिर ३ वर्ष में पूरा हुआ था और मंदिर बनने के एक वर्ष के अंदर ही उसका देहावसान हो गया था । राधाबल्लभ संप्रदायी उल्लेखों के अनुसार उस मंदिर का निर्माण–काल सं० १६४१ कहा जाता है[1] ।

अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर के शासन–काल में रहीम की मान–प्रतिष्ठा बहुत कम हो गई थी और उसका उत्तर जीवन बड़े दुःख में बीता था । उसकी पत्नी, तीन पुत्र, एक मात्र

---

(१) रसिक अनन्य माल (प्रस्तावना), पृष्ठ १८

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुत्री तथा दामाद सब की मृत्यु उसके सामने ही हुई थी। जहाँगीर काल के राजनैतिक प्रपंचों में फँस जाने के कारण उसका सारा मान–सन्मान जाता रहा था। जीवन के इतने चढ़ाव-उतार देखने पर भी उसने सदैव धैर्य और दृढ़ता का परिचय दिया था और कभी हिम्मत नहीं हारी थी। अंत में संवत् १६८३ के फागुन मास में उसकी मृत्यु हुई। उस समय उसकी आयु ७१ वर्ष की थी। उसे दिल्ली में दफ़नाया गया था, जहाँ उसका मकबरा बना हुआ है। इस समय वह मकबरा जीर्णावस्था में है।

५. **तानसेन**—भारत के महान संगीतज्ञों और गायकों में तानसेन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह अकबर का दरबारी गायक और अपने समय का विख्यात संगीतशास्त्री था; इसीलिए उसे संगीत–सम्राट भी कहा जाता है। उसके जन्म–स्थान और जन्म–संवत् का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसी अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि उसका जन्म ग्वालियर में अथवा उसके निकटवर्ती बेहट ग्राम में हुआ था। उसके जन्म–संवत् के विषय में भी कई मत प्रचलित हैं। श्री शिवसिंह सेंगर ने उसका जन्म–संवत् १५८८ लिखा है[1], जो हिंदी साहित्य में प्रसिद्ध है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने उसका जन्म–संवत् १५७८ निश्चित किया है[2]। इधर जो नवीन सामग्री उपलब्ध हुई है, उसके कारण उक्त मतों में सुधार करने की आवश्यकता हो गई है। हमारे मतानुसार तानसेन का जन्म सं० १५६३ में हुआ था[3]।

उसका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि वह बाद में मुसलमान हो गया था; किंतु इसका भी कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा जान पड़ता है, मुसलमानों के साथ अधिक संपर्क और सहवास तथा आहार–विहार की स्वच्छंदता के कारण उस काल के कट्टरपंथी हिंदुओं ने उसे मुसलमान घोषित कर दिया था। उसने स्वेच्छा ने कभी मुसलमान मज़हब स्वीकार किया हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता है। तानसेन की मृत्यु होने पर उसकी शब–यात्रा का जैसा उल्लेख अबुलफज़ल कृत 'अकबरनामा' में किया गया है[4], उससे सिद्ध होता है कि वह मृत्यु–काल तक भी मुसलमान नहीं हुआ था। इस प्रकार यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह स्वयं तो जीवन पर्यन्त हिंदू रहा था; किंतु उसके वंशज मुसलमान हो गये थे[5]।

उसकी आरंभिक संगीत–शिक्षा ग्वालियर में हुई थी। वहाँ के सूफी संत ग़ौस महम्मद को उसका गुरु बतलाया जाता है; किंतु यह मत सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है[6]। यह किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है कि उसने वृंदाबन के संत-संगीतज्ञ स्वामी हरिदास से संगीत–शिक्षा प्राप्त की थी। यद्यपि उक्त किंवदंती का भी कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं हुआ है, तथापि वह सर्वथा अप्रामाणिक भी नहीं मालूम होती है। तानसेन ने किसी समय और किसी रूप में स्वामी

---

(१) **शिवसिंह सरोज**, पृष्ठ ४२६

(२) **सम्मेलन पत्रिका** (ज्येष्ठ–आषाढ़, सं० २००३) में प्रकाशित लेख

(६) **लेखक कृत 'संगीत सम्राट तानसेन'**, पृष्ठ ५–८

(४) **अकबरनामा** (अंगरेजी अनुवाद), जिल्द २, पृष्ठ ८८०

(५) **संगीत–सम्राट तानसेन**, पृष्ठ १०–१२ और ४६

(६) **वही**, ,, पृष्ठ १२–१६

हरिदास से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी, यह प्रायः मान लिया गया है[1]। बल्लभ संप्रदाय के वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि उसने अपने उत्तर जीवन में अष्टछाप के विख्यात संगीताचार्य गोविंदस्वामी से भी कीर्तन पद्धति की गायन कला का शिक्षण प्राप्त किया था[2]।

'अकबरनामा' और 'आईन अकबरी' से ज्ञात होता है कि तानसेन सं० १६१९-२० में अकबरी दरबार में आया था[3]। उससे पहिले वह ग्वालियर नरेश विक्रमाजीत, शेरशाह सूरी के वंशज आदिलशाह और बांधवगढ़ के राजा रामचंद्र के दरबारों में रह चुका था। उक्त राजाओं के आश्रय में उसने विपुल संपत्ति और पर्याप्त कीर्ति अर्जित की थी। अकबरी दरबार में आने पर तो उसकी ख्याति समस्त देश में व्याप्त हो गई थी और अकबर द्वारा उसे असीम आदर और अपार वैभव प्राप्त हुआ था। अब्दुलफज़ल ने लिखा है, सम्राट ने उसके प्रथम गायन पर ही उसे दो लाख का पुरस्कार दिया था[4]।

तानसेन ब्रज की ध्रुपद गायन शैली का विख्यात गायक और दीपक राग का विशेषज्ञ था। उसने कई नये राग भी बनाये थे। उसके रचे हुए ध्रुपद ब्रज की भक्ति-भावना से अनुप्राणित हैं, जिसे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सत्संग तथा गोविंदस्वामी के संपर्क का प्रभाव कहा जा सकता है। ब्रज की संगीत कला के विकास में तानसेन और उसके वंशजों का बड़ा योग रहा है। उसके रचे हुए ध्रुपद उस काल से अब तक संगीतज्ञों के घराने में प्रसिद्ध रहे हैं। उनकी रचना-शैली से ज्ञात होता है कि तानसेन उच्च कोटि का कवि भी था। उक्त ध्रुपदों के अतिरिक्त उसके रचे हुए कुछ ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम संगीतसार, रागमाला और गणेश स्तोत्र हैं। इनमें से कौन सा ग्रंथ प्रामाणिक है, यह अभी तक निश्चय नहीं हुआ है।

अबुलफज़ल ने लिखा है, तानसेन की मृत्यु अकबर के शासनारूढ़ होने के ३४ वें वर्ष अर्थात् सं० १६४६ (२६ अप्रेल, सन् १५८९) में आगरा में हुई थी[5]। उसका अंतिम संस्कार भी संभवतः आगरा में हुआ था; किंतु उसकी समाधि उसके जन्म-स्थान ग्वालियर में बनाई गई थी। यह समाधि ग्वालियर किले के नीचे ग़ौस महम्मद के मक़बरा के पास बनी हुई है।

धार्मिक नीति—सम्राट अकबर की धार्मिक नीति उसकी प्रशासन पद्धति का ही एक अंग थी, जिसके कारण उसे अपने राज्य काल में इतनी सफलता प्राप्त हुई थी। सुलतानों के काल में उनके मज़हबी तअास्सुब के कारण ग़ैर मुसलमानों के साथ अहिष्णुता का व्यवहार किया जाता था; किंतु अकबर ने सभी धर्म वालों के साथ सहिष्णुता और न्याय की नीति अपनायी थी। ऐसा कहा जाता है, बाबर ने अपने पुत्र हुमायू को एक वसीयतनामा लिखा था, जिसकी प्रति भोपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित बतलाई जाती है। उसमें हुमायू को उपदेश देते हुए

---

(१) **संगीत-सम्राट तानसेन**, पृष्ठ १६-२०

(२) **दोसौ बावन बैष्णवन की वार्ता** (द्वितीय खंड), पृष्ठ १५६

(३) **अकबरनामा** (अंगरेजी संस्करण), जिल्द १, पृष्ठ २७९-२८० तथा
आईन अकबरी (एच. ब्लोचमैन), द्वितीय संस्करण, पृ० ४४५

(४) **आईन अकबरी** (एच. ब्लोचमैन), पृष्ठ ४४६

(५) **अकबरनामा** (अंगरेजी संस्करण), भाग २, पृष्ठ ८८०

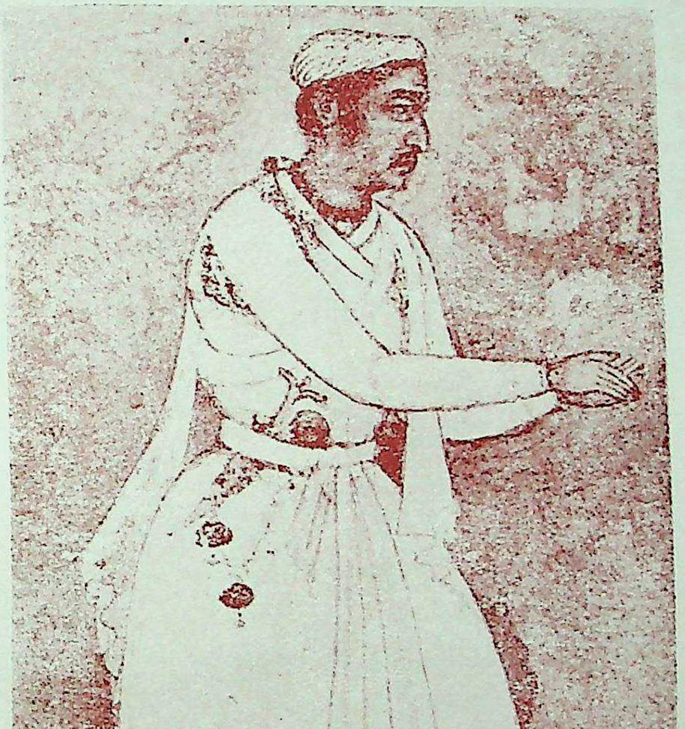

संगीत-सम्राट तानसेन

लिखा है—"हिंदुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान् को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का राजा बनाया है। तुम तअास्सुब से काम न लेना, निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मों के लोगों की भावना का ख्याल रखना। गाय को हिंदू पवित्र मानते हैं, अतएव जहाँ तक हो सके, गोबध नहीं करना और किसी भी संप्रदाय के पूजा स्थानों को नष्ट न करना[1]।" बाबर की उक्त वसीयत के अनुसार हुमायू को आचरण करने का अवसर नहीं मिला; क्यों कि उसने थोड़े काल तक ही शासन किया था और उसमें भी वह युद्धों तथा संघर्षों में फँसा रहा था। हुमायू के बाद शेरशाह का शासन भी थोड़े ही समय तक रहा; किंतु उसने उक्त नीति का अनुसरण कर बड़ी सफलता पूर्वक प्रशासन किया था। शेरशाह के बाद अकबर ने उसका पूरी तरह पालन कर अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी।

इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण—आरंभ में अकबर का इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण श्रद्धा का था, यद्यपि उसमें मज़हबी कट्टरता नहीं थी। उसका कारण उसकी माता मरियम मकानी हमीदा-बानू और उसके संरक्षक बैरमख़ां का शिया होना था। उनका प्रभाव अकबर पर काफ़ी रहा था; जिससे आरंभ से ही उसमें सुन्नियों की सी कट्टरता नहीं आई थी। अपने आरंभिक जीवन में वह एक श्रद्धालु मुसलमान की भाँति पीरों एवं फ़कीरों के पास उनकी दुआ लेने जाता था और जियारत करने में उसे बड़ी दिलचस्पी थी। उसने कई बार आगरा से अजमेर शरीफ़ तक की पैदल यात्रा की थी। वह हज जाने वाले मुसलमान यात्रियों का पूरा ख़र्चा शाही खजाने से देता था।

बाद में विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के विद्वानों एवं संत-महात्माओं से धार्मिक विचार-विमर्श करते रहने से वह बड़े उदार विचारों का हो गया था। उस समय इस्लाम के प्रति उसकी श्रद्धा में शिथिलता आ गई थी और उसके विचार हिंदू तथा जैन धर्मों से विशेष प्रभावित हो गये थे। अपने उत्तर जीवन में उसकी इस्लाम से बिलकुल अरुचि हो गई थी और उसका आचार-व्यवहार प्राय: हिंदुओं जैसा हो गया था। उसके परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण उस काल के काज़ी-मुल्ला और कट्टरपंथी मुसलमान मन ही मन उससे कुढ़ा करते थे।

ब्रज के हिंदुओं के साथ उदारता—अकबर ने सभी धर्म वालों के साथ जो सहिष्णुता और न्याय की नीति अपनायी थी, उसी के अनुरूप उसने ब्रज के हिंदुओं के साथ भी बड़ी उदारता का व्यवहार किया था। सुलतानों के शासन-काल में ब्रज के हिंदुओं पर तीर्थ कर और ज़ज़िया कर लगाये गये थे तथा उनके मंदिर-देवालयों के पुनरुद्धार और निर्माण पर रोक लगी हुई थी। उनके कारण उन्हें बड़ा आर्थिक और मानसिक कष्ट था। फिर मुसलमानों द्वारा खुले-आम गो-हत्या किये जाने से उनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचता था। अकबर ने राज्याधिकार प्राप्त करते ही हिंदुओं की उन कठिनाइयों को दूर कर दिया था, जिससे उन्होंने बड़े संतोष की साँस ली थी। यहाँ पर अकबर के उन उदारतापूर्ण कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

तीर्थ कर और ज़ज़िया बंद—अकबर अपने राज्यारोहण के ८ वें वर्ष सं० १६२० में प्रथम बार मथुरा आया था। तब निकट के जंगलों में उसने शिकार की थी और ५ बाघ मारे थे। उसी समय उसे ज्ञात हुआ कि मथुरा में तीर्थ-यात्रियों से कर लिया जाता है। उसने उसी समय

---

(१) **संस्कृति के चार अध्याय**, पृष्ठ २७७

अपने सारे राज्य में तीर्थ कर बंद करने का हुक्म दे दिया, यद्यपि उससे शाही खज़ाने को १० लाख सालाना की आमदनी होती थी[१] ।

मुसलमानी शासन के आरंभिक काल से ही ग़ैर मुस्लिमों पर एक कर लगाया गया था, जो 'ज़ज़िया' कहलाता था। उस कर से मुसलमान शासक एक ओर हिंदुओं पर हीनता का आरोपण करते थे और दूसरी ओर अपने खज़ाने को भरते थे। उस कर से शासन को पर्याप्त आय होती थी। सम्राट अकबर ने अपने राज्यारोहण के नवें वर्ष सं० १६२१ (मार्च, सन् १५६४) में उस कर को भी हटा दिया था। उससे हिंदुओं ने, जो कई शती से अपमान का अनुभव करते थे, सुख और संतोष की साँस ली थी और वे हृदय से अकबर के शुभचिंतक बन गये थे। उस कर को हटवाने में अकबर की हिंदू रानियों और हिंदू दरबारियों का विशेष रूप से हाथ रहा था।

धर्म–स्थानों के निर्माण की आज्ञा—सुलतानों के काल में मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलंवियों के धार्मिक स्थानों तथा मंदिर–देवालयों के निर्माण पर रोक लगी हुई थी। यहाँ तक कि उनकी मरम्मत भी नहीं करने दी जाती थी। उसके फल स्वरूप ब्रज में विभिन्न धर्मावलंवियों के पूजा–स्थल नाम मात्र को रह गये थे। सम्राट अकबर ने उस पुरानी आज्ञा को रद्द कर सभी धर्म वालों को अपने–अपने मंदिर–देवालय आदि बनवाने की स्वतंत्रता प्रदान की थी। उसके कारण ब्रज के विभिन्न स्थानों में पुराने पूजा–स्थलों का पुनरुद्धार किया गया और नये मंदिर–देवालयों का बनना आरंभ हुआ था।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा ब्रजमंडल का पुनरुद्धार किये जाने से पहिले मथुरा जैन धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ पर श्वेतांवर और दिगंवर दोनों संप्रदायों के अनेक जैन-मंदिर और स्तूपादि थे; जो सुलतानी काल की असहिष्णुता के कारण या तो नष्ट हो गये थे, या जीर्णावस्था में पड़े हुए थे। सम्राट अकबर की आज्ञा से उत्साहित होकर विभिन्न स्थानों के जिन धनाढ्य जैनों ने मथुरा के प्राचीन स्तूपों और जैन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था; उनमें साहू टोडर, कविवर दयाकुशल और बीकानेर के राज्यमंत्री कर्मचंद के नाम उल्लेखनीय हैं। साहू टोडर भटानिया ज़िला अलीगढ़ का एक अग्रवाल सेठ था। वह सं० १६३० में मथुरा सिद्ध क्षेत्र के जैन तीर्थों की यात्रा करने आया था। उसी समय उसने यहाँ के पुराने जैन स्तूपों के पुनरुद्धार का आयोजन किया था। कवि दयाकुशल सं० १६४८ में जैन तीर्थों की यात्रा करते हुए मथुरा आया था। उसने यहाँ के जैन धर्म स्थानों का जीर्णोद्धार कराया था। उसी काल के लगभग बीकानेर नरेश रायसिंह के जैन मंत्री कर्मचंद ने भी मथुरामंडल के चैत्यों का जीर्णोद्धार किया था[२] ।

देव स्थानों के पुनरुद्धार और निर्माण संवंधी सम्राट अकबर की उक्त आज्ञा से ब्रज के कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों को बड़ा लाभ हुआ था। उन संप्रदायों के अनुयायी राजा–महाराजा और धनी–मानी व्यक्तियों ने उसी काल में यहाँ के लीला–स्थलों में मंदिर–देवालय बनवाना आरंभ किया था, जिनसे ब्रज की धार्मिक भावना के प्रसार में बड़ा योग मिला था। बल्लभ संप्रदाय के आचार्य गो० विट्ठलनाथ जी ने सम्राट अकबर से सुविधा प्राप्त कर सं० १६२८ में गोकुल की नयी बस्ती बसायी थी। उस समय उन्होंने वहाँ कई मंदिर भी बनवाये थे। सं० १६३० में उन्होंने

---

(१) **अकबर**, पृष्ठ १८६ (२) **ब्रज-भारती**, वर्ष ११ अंक २; वर्ष १५ अंक २

गोपालपुर (गोवर्धन) स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर में 'मणिकोठा शैया मंदिर' का निर्माण कराया था। उसी काल में आमेर के राजा भगवानदास ने गोबर्धन में श्री हरिदेव जी का और राजा मानसिंह ने वृंदाबन में श्री गोविंददेव जी का मंदिर बनवाया था। वृंदाबन में उसी काल में जो और देवालय बने थे, उनमें श्री राधाबल्लभ जी, श्री मदनमोहन जी, श्री गोपीनाथ जी और श्री युगलकिशोर जी के पुराने मंदिर उल्लेखनीय हैं।

गो–बध पर रोक—समस्त हिंदू समुदाय में गो को पवित्र माना गया है। सभी हिंदू उसे 'गो माता' कह कर उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। ब्रजमंडल में तो गोपाल श्री कृष्ण के कारण गो का और भी अधिक महत्व माना गया है। सुलतानी काल में मुसलमान जान-बूझ कर और हिंदुओं को आतंकित करने के लिए गो–बध किया करते थे। उससे ब्रज के हिंदुओं को घोर मानसिक क्लेश था। सम्राट अकबर ने गो–बध को बंद करने की आज्ञा प्रचारित कर अपनी हिंदू जनता के मन को जीत लिया था। शाही आज्ञा से गो–हत्या के अपराध की सज़ा मृत्यु नियत थी। उसके कारण उस काल में गो–हत्या बिलकुल बंद हो गई थी। ऐसा कहा जाता है, अकबर की हिंदू रानियों और उसके हिंदू दरबारियों के प्रभाव के कारण ही सम्राट ने वह आज्ञा प्रचारित की थी।

इसके संबंध में एक ऐतिहासिक अनुश्रुति भी प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार गो-हत्या बंद कराने का श्रेय अकबर के दरबारी कवि नरहरि को दिया जाता है। वह अनुश्रुति इस प्रकार है— 'कविराज नरहरि बंदीजन अकबर का दरबारी कवि था। वह मुसलमानों द्वारा गोहत्या किये जाने से अत्यंत दुखी था। उसे बंद कराने के लिए उसने बीरबल के परामर्श से एक गाय के गले में तख्ती बाँध कर उसे उस राजमार्ग में खड़ा कर दिया, जहाँ से होकर सम्राट अकबर की सवारी निकलती थी। जब अकबर वहाँ होकर निकला, तो उसने उस गाय को भी वहाँ देखा। उसे देख कर उसने बीरबल से उसके विषय में पूछा। बीरबल ने कहा—'जहाँपनाह, यह बेज़बान जानवर आपसे कुछ अर्ज़ करना चाहता है। उसकी अर्ज़ी उसके गले में बँधी हुई है।' अकबर की आज्ञा से गाय के गले की तख्ती खोल कर पढ़ी गयी। उस पर लिखा था—

अरिहु दंत तृन धरहिं, ताहि मारत न सबल कोइ।
हम संतत तृन चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमिय छीर नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरुकहिं न पिबावहिं॥
कहै कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरैं करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुए हु चाम सेवहिं चरन॥

बीरबल ने अपनी स्वाभाविक बुद्धिमत्ता के साथ उक्त कविता का ऐसा युक्तिपूर्ण, करुणोत्पादक और मार्मिक अर्थ किया कि उससे अकबर बड़ा प्रभावित हुआ। उसने अपने दरबारियों की ओर देखा। उन्होंने बादशाह का रुख़ देख कर कहा—"हुजूर, अगर गाय खुदा के लिए पवित्र वस्तु न होती, तो कुरान का सबसे पहिला सूरा (अध्याय) गाय (बकर) क्यों होता ?' इस पर बादशाह ने गाय के मांस को हराम कर दिया और हुक्म निकाल दिया कि जो गाय को मारेगा, वह मारा जायगा[1]।"

---

(१) **अकबर, पृष्ठ २३३**

धार्मिक विद्वानों एवं संतों का सत्संग—जिस काल में अकबर ने अपनी राजधानी फ़तहपुर–सीकरी में स्थानान्तरित की थी, उस समय उसकी धार्मिक जिज्ञासा बड़ी प्रबल थी। उसने वहाँ अन्य राजकीय इमारतों के साथ ही साथ एक 'इबादतखाना' (उपासना गृह) भी सं० १६३२ में बनवाया था, जहाँ वह विभिन्न धर्मों के आचार्यों, संत–महात्माओं और विद्वानों के प्रवचन सुनता था और उनसे धार्मिक विचार–विमर्श किया करता था। राजकीय कार्यों से अवकाश मिलते ही वह महीनों तक सीकरी में निवास कर अपना अधिकांश समय धर्म–चर्चा में ही लगाता था। उसने वहाँ मुस्लिम धर्म के विद्वानों के साथ ही साथ ईसाई, जैन और वैष्णव धर्माचार्यों के प्रवचन सुने थे और कभी–कभी उनके शास्त्रार्थ भी कराये थे। सं० १६३३ (जनवरी सन् १५७६) में वहाँ धार्मिक विचार–विमर्श का ज़ोर बढ़ गया था, जो ३ वर्ष तक चलता रहा था। उस काल में सम्राट ने विविध धर्मों की अच्छाइयों और बुराइयों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उस पर जिन धर्माचार्यों का विशेष प्रभाव पड़ा था, उनमें जैनाचार्य हीरविजय सूरि और वैष्णव धर्माचार्य श्री विट्ठलनाथ जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हीरविजय सूरि श्वेतांवर जैन धर्म के विद्वान आचार्य थे। सम्राट ने उन्हें बड़े आदरपूर्वक गुजरात से फतहपुर–सीकरी बुलाया था और कितने ही दिनों तक उनका धर्मोपदेश सुना था। उसके विचारों पर जैन धर्म के सिद्धांतों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

गो० विट्ठलनाथ जी का ब्रज–वास और सन्मान—श्री विट्ठलनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र और श्री गोपीनाथ जी के छोटे भाई थे। उनका जन्म सं० १६७२ की पौष कृ० ६ को काशी के निकटवर्ती चरणाट (चुनार) नामक स्थान में हुआ था। उनकी शिक्षा–दीक्षा काशी में हुई थी। उन्होंने सांगोपांग वेद, विविध शास्त्र और भागवतादि पुराणों का विशद ज्ञान प्राप्त कर सांप्रदायिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था। उनकी विद्वता का परिचय उनके रचे हुए ग्रंथों से भली भाँति मिलता है। श्री वल्लभाचार्य जी के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे। जब सं० १५६६ में गोपीनाथ जी का देहांत हो गया, तब उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी केवल १२ वर्ष के बालक थे। फलतः संप्रदाय की व्यवस्था का समस्त उत्तरदायित्व विट्ठलनाथ जी पर ही आ गया था। वे सं० १६०० में सह कुटुंब ब्रज में आये थे और अपने ज्येष्ठ भ्राता की पुण्य स्मृति में उन्होंने ब्रज–यात्रा की थी। उससे निवृत्त होकर वे गोबर्धन स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर की व्यवस्था और पुष्टि संप्रदाय की उन्नति में लग गये थे। सं० १६०२ में उन्होंने 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। सं० १६०५ में गोपीनाथ जी के पुत्र पुरुषोत्तम जी का भी असामयिक निधन हो गया था। उसके पश्चात् उन्होंने विधि पूर्वक आचार्यत्व ग्रहण किया था। उनके द्वारा पुष्टि संप्रदाय की जो अभूतपूर्व उन्नति हुई, वह सर्व विदित है।

यद्यपि पुष्टि संप्रदायी आचार्यों का सं० १५५० से ही ब्रज से घनिष्ट संबंध रहा था, तथापि वे स्थायी रूप में वहाँ सं० १६२३ से पहिले नहीं रहे थे। उनका स्थायी निवास पहिले काशी एवं चरणाट (चुनार) में था और फिर प्रयाग के निकटवर्ती अड़ैल में रहा था। उक्त स्थानों से ही उन्होंने समय–समय पर ब्रज में आकर श्रीनाथ जी की सेवा–पूजा की देख–भाल करते हुए यहाँ की धार्मिक प्रगति में अपना महत्वपूर्ण योग दिया था। जब अकबर के शासन–काल में ब्रज में पूरी तरह शांति और व्यवस्था क़ायम हो गई, तब श्री विट्ठलनाथ जी अड़ैल से हट कर

स्थायी रूप से व्रज में निवास करने को आ गये थे। यहाँ आने से पहिले वे गोंडवाना की रानी दुर्गावती के आग्रह से उसकी राजधानी गढ़ा (मध्य प्रदेश) में गये और वहाँ उन्होंने कुछ समय तक निवास किया था। जब रानी को विट्ठलनाथ जी के व्रज-वास करने की बात मालूम हुई, तब उसने मथुरा में उनके रहने के लिए एक विशाल भवन बनवा दिया था। सं० १६२१ में जब दुर्गावती के राज्य पर अकबर के आक्रमण की आशंका हुई, तब वे वहाँ से चल दिये और घूमते-फिरते अड़ैल पहुँचे। वहाँ से अपने घर-बार को उठा कर वे परिवार सहित मथुरा आगये और रानी के बनवाये हुए भवन में रहने लगे। उधर अकबर की विशाल सेना से वीरता पूर्वक युद्ध करने हुए रानी दुर्गावती का सं० १६२१ में देहावसान हो गया था। मथुरा के जिस भवन में विट्ठलनाथ जी का निवास था, उसमें उनके लिए और उनके छहों पुत्रों के लिए सात घर बनवाये गये थे, जिनके कारण वह 'सतघरा' कहलाता था। इस समय वह प्राचीन भवन तो नहीं रहा, किंतु उसके स्थान पर एक दूसरा छोटा मकान बना हुआ है। मथुरा में जिस स्थान पर वह भवन था, उसका निकटवर्ती मुहल्ला अब भी 'सतघरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

जब विट्ठलनाथ जी मथुरा में निवास करते थे, तब सं० १६२३ में उनका सम्राट अकबर से संपर्क हुआ और फिर वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया था। बल्लभ संप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है, विट्ठलनाथ जी की विद्वत्ता तथा उनके धार्मिक ज्ञान से अकबर बड़ा प्रभावित हुआ था और वह उनका बड़ा आदर-सन्मान करता था। मथुरा की राजकीय हलचलों के कारण विट्ठलनाथ जी को वहाँ रहना असुविधाजनक ज्ञात होने लगा; अतः वे यमुना पार गोकुल के उस एकांत स्थान में निवास करने का विचार करने लगे, जो बल्लभाचार्य जी के समय से ही पुष्टि संप्रदाय का एक पुण्य स्थल बन गया था। सं० १६२७-२८ में विट्ठलनाथ जी ने सम्राट अकबर से राजकीय सुविधाएँ प्राप्त कर गोकुल में नयी बस्ती बसायी थी, जहाँ शीघ्र ही अनेक मकान और मंदिर-देवालय बन गये थे। सम्राट ने समय-समय पर शाही फरमान जारी कर विट्ठलनाथ जी को गोकुल में सुखपूर्वक निवास करने की आवश्यक व्यवस्था की थी।

विट्ठलनाथ जी के महत्व से अनभिज्ञ कोई राजकीय कर्मचारी कभी उनकी अवज्ञा न कर बैठे, उसकी रोक-थाम के लिए सम्राट अकबर ने सं० १६३४ (सन् ९८५ हिजरी) में एक फरमान जारी किया था, जिसमें 'ख़लायक पनाह के नौकरों व ग़ैरों' को हिदायत की गई थी कि वे विट्ठलनाथ जी के साथ 'किसी क़िस्म की मुजाहमत न करें और किसी भी वजह से कोई चीज़ न माँगें[1]।' सं० १६३८ में सम्राट ने सीकरी के इबादतख़ाने में एक धर्म परिषद् का आयोजन किया था; जिसमें सम्मिलित होने के लिए विविध धर्मों के अनेक विद्वानों को बुलाया गया था। श्री विट्ठलनाथ जी भी उक्त अवसर पर आमंत्रित होकर वहाँ गये थे। उन्होंने परिषद् में उपस्थित विद्वानों के समक्ष अपने पांडित्य का अपूर्व प्रदर्शन किया था। उससे प्रसन्न होकर सम्राट ने एक फ़रमान जारी किया, जिसमें व्यवस्था की गई थी कि विट्ठलनाथ जी 'आज़ादी से गोकुल में रहें,' उनकी 'गायें जहाँ कहीं होवें चरें। ख़ालसा व जागीरदार कोई उनको तकलीफ़ न देवें न रोकें-टोकें व चरने से मुमानियत न करें[2]।' ऐसा ही एक फरमान सम्राट की माता हमीदाबानु बेगम ने

---

(१) वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५११

(२) वही ,, , पृष्ठ ५११

भी उसी वर्ष जारी किया था, जिसमें विट्ठलनाथ जी की गायों को स्वतंत्रता पूर्वक चरने की पुष्टि की गई थी[१]।

वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है, सम्राट अकबर की इच्छानुसार एक बार विट्ठलनाथ जी ने सूरत के एक साहूकार की पुत्र-बधू का न्याय बड़ी कुशलता पूर्वक किया था[२]। बल्लभ संप्रदाय में यह अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है कि उस न्याय से प्रसन्न होकर सम्राट ने विट्ठलनाथ जी को 'गोसाईं जी' का पद और न्यायाधीश का अधिकार प्रदान किया था। विट्ठलनाथ जी का एक चित्र न्यायाधीश की राजकीय वेश-भूषा का प्राप्त भी होता है[३]। सम्राट ने गोसाईं जी के सन्मान के लिए उन्हें 'ख़िलअत' दी थी तथा घोड़े की सवारी, दमामा, इत्र और पंखा आदि के प्रयोग करने का अधिकार दिया था। ये सब बातें मुसलमानी शासन काल में सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही विशेष राजकीय आज्ञा से प्राप्त होती थीं। उनसे सिद्ध होता है कि सम्राट अकबर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का कितना सन्मान करता था।

सम्राट अकबर द्वारा जारी किये गये दो फ़रमान ऐसे मिलते हैं, जिनमें गो० विट्ठलनाथ जी और उनके वंशजों को जतीपुरा गाँव, जहाँ 'गोबर्धननाथ जी का मंदिर, मकानात, बाग़ात व गायों के खिड़क' थे और गोकुल गाँव, जहाँ विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित निवास करते थे, माफ़ी में 'नसलन बाद नसल मुर्क़रिर कर सुपुर्द' किये गये थे। वे दोनों फरमान सं० १६५१ (सन् ९८६ हिज़री) के हैं[४]। उस समय तक गो० विट्ठलनाथ जी का देहावसान हो चुका था; किंतु उनमें नाम उन्हीं का है।

ब्रज के संत-महात्माओं की उपेक्षा-वृत्ति—सम्राट अकबर ने ब्रज के संत-महात्माओं और भक्त कवियों के संपर्क में आने की बड़ी चेष्टा की थी। उसके लिए उसने कुंभनदास को बड़े सन्मान पूर्वक सीकरी में बुलाया था और वह स्वयं सूरदास से मथुरा में तथा स्वामी हरिदास से वृंदावन में जाकर मिला था। किंतु उन सभी ने सम्राट की उपेक्षा की थी और उसके संपर्क से बचने का प्रयास किया था। वे त्यागी महात्मा अपनी एकांत साधना और भगवत् सेवा को छोड़ कर सम्राट के संपर्क में आना तो दूर रहा, उसका मुँह तक देखना नहीं चाहते थे! कुंभनदास को जब विवश होकर सीकरी जाना पड़ा था, तब उन्होंने सम्राट के समक्ष ही निर्भय होकर गाया था,—"संतन कहा सीकरी काम ?...जाकौ मुख देखैं दुख उपजै, ताकौं करनी पड़ी प्रनाम[५] !" इसी प्रकार जब अकबर ने सूरदास से मथुरा में भेंट की थी, तब उन्होंने सम्राट का यश वर्णन करने की बजाय ये उपदेशात्मक पद गाये थे,—"मन रे, तू कर माधौ सों प्रीत।" और "नाहिन रह्यौ मन में ठौर[६]।"

---

(१) **कांकरोली का इतिहास**, पृष्ठ १०५

(२) **दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता** (द्वितीय खंड), पृष्ठ ३३३

(३) **अष्टछाप परिचय**, पृष्ठ ३७

(४) **वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन**, पृष्ठ ५११-५१२

(५) **अष्टछाप-परिचय**, पृष्ठ १०२

(६) **सूर-निर्णय**, पृष्ठ ९४ और **अष्टछाप-परिचय**, पृष्ठ १३८

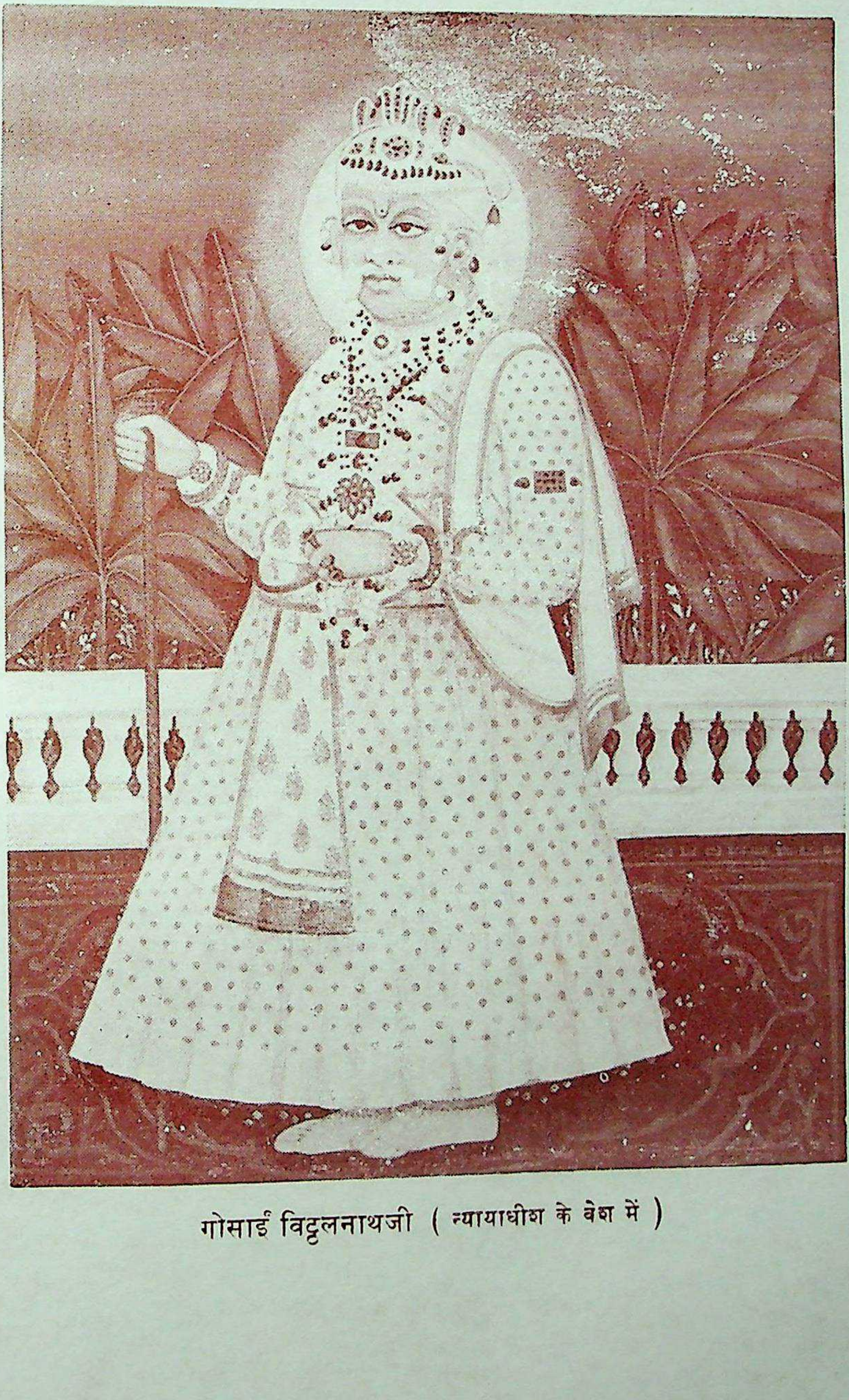

गोसाईं विट्ठलनाथजी (न्यायाधीश के वेश में)

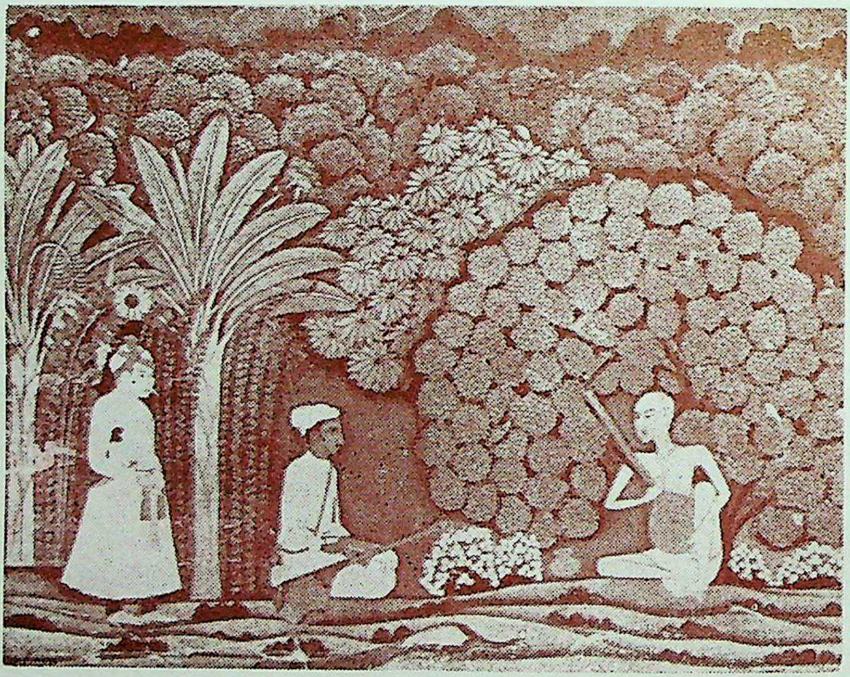

अकबर–हरिदास भेंट

(स्वामी हरिदास के समक्ष तानसेन बैठे हैं और अकबर खड़े हैं)

गो० तुलसीदास जी सम्राट अकबर के समकालीन थे। वे अष्टछाप के अन्यतम कवि नंददास के ज्येष्ठ भ्राता और अकबर के प्रसिद्ध दरबारी कविवर रहीम के मित्र थे। उनका नंददास और रहीम से बराबर संबंध रहा था; किंतु वे सम्राट अकबर के संपर्क में भी कभी आये हों, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। ब्रज के भक्त कवियों की भाँति उनका भी शाही मान–सन्मान के प्रति उपेक्षा का ही दृष्टिकोण रहा होगा। इसका प्रमाण उनका एक प्रसिद्ध दोहा है,—"हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखौ दरबार। 'तुलसी' अब का होहिंगे नर के मनसबदार॥"

हिंदू धर्म का प्रभाव—हिंदू रानियों और हिंदू सरदार–सामंतों के संपर्क से तथा हिंदू धर्माचार्य, संत और महात्माओं के सत्संग से अकबर पर हिंदू धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उसकी हिंदू रानियाँ अपने धर्म–कर्म और पूजा–पाठ में पूर्ण आस्था रखती थीं। उनके महलों में हिंदू देवी–देवताओं की उपासना होती थी और वहाँ दैनिक कृत्य, रहन–सहन तथा तीज–त्यौहारों में हिंदू विधि का पालन किया जाता था। उसकी मुस्लिम बेगमों में भी एक ताजबीबी वल्लभ संप्रदायी साहित्य के अनुसार परम वैष्णव और गो० विट्ठलनाथ जी की सेविका थी[1]। अकबर की पतोहू और जहाँगीर की मारबाड़िन रानी जोधाबाई[2] अकबर के काल में ही 'जगत गोसाइन' कहलाती थी। उसके महल में राम और कृष्ण की मूर्तियाँ थीं, जिनकी हिंदू विधि से पूजा होती थी और वहाँ यज्ञ-होमादि बराबर होते रहते थे। उसके घर में तुलसी के बिरवा थे। वह रानी अपने धर्म–कर्म में इतनी पक्की थी कि अकबर और जोधाबाई के महलों के मार्ग में हरम की किसी बेगम को भी बिना आज्ञा जाने की मुमानियत थी! अकबर के हिंदू सामंतों में राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, राजा टोडरमल, राजा बीरबल, राजा पृथ्वीराज आदि सभी पक्के हिंदू थे। उनमें राजा टोडरमल नियमित रूप से पूजा–पाठ करने में सबसे बढ़ा हुआ था।

अकबर हिंदू धर्म के प्रति इतना आकर्षित हुआ था कि उसका रहन–सहन और कार्य–व्यवहार सभी प्रायः हिंदुओं की तरह होने लगा था। उसने ब्राह्मणों से पूजा–पाठ और उपासना के मंत्र सीखे थे। वह प्रातः सूर्य का दर्शन करता था, सूर्य के मंत्र का जाप करता था और गंगा–जल पीता था। उसने मांस खाना प्रायः छोड़ दिया था और गो-हत्या बंद कर दी थी। वह कभी–कभी हिंदुओं की तरह तिलक–छापे लगाकर जनेऊ धारण करता था और हिंदुओं के से वस्त्राभूषण पहिनता था। वह डाढ़ी नहीं रखता था और आत्मीय जन की मृत्यु पर सिर मुड़वाता था। जब उसकी माता मरियम मकानी और धाय माता माहम अनगा की मृत्यु हुई थी, तब उसने हिंदुओं की तरह मुंडन कराया था। जब अनगा की मृत्यु हुई, तब उसके निजी पुत्र ख़ानआज़म मिर्जा अज़ीज़ कोकलताश ने भी अकबर की तरह मुंडन कराया था। श्री राहुल जी ने लिखा है, "उन दोनों के मुड़े सिर देख कर बड़े–बड़े मुसलमान दरबारी भी भद्र कराने लगे! जब उसका पता अकबर को लगा, तो उसे रोकने के लिए जब तक संदेश पहुँचा, तब तक चार सौ सिर और मुँह सफाचट हो गये थे[3]!"

---

(१) ताजबीबी की वार्ता (भावसिंधु, पृष्ठ ३००-३०२)

(२) कुछ विद्वानों ने भ्रम से जोधाबाई को अकबर की प्रधान रानी लिखा है। उदाहरणार्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' पृष्ठ २७८ देखिये।

(३) अकबर, पृष्ठ २३७

अकबर के जन्म–दिन और राज्यारोहण–दिवस पर जो उत्सव होते थे, उन्हें भी हिंदू रूप दिया गया था। उन अवसरों पर वह सोने की तराजू में बैठ कर अपनी तुला करवाता था और अपने को १२ वस्तुओं (सोना, चाँदी, रेशम, सुगंध, लोहा, ताँबा, जस्ता, तूतिया, घी, तैल, चाँवल और सतनजा) तथा १२ प्रकार की मेवा–मिठाइयों से तुलवाता था। वे सब वस्तुएँ ब्राह्मणों और भिखारियों में बँटवा दी जाती थीं। उन अवसरों पर ब्राह्मण हवन–पूजन करने के उपरांत पुष्कल दक्षिणा प्राप्त करते थे। वह हिंदुओं के प्रमुख त्यौहार जैसे होली, दिवाली, दशहरा और श्रावणी आदि बड़े उत्साह पूर्वक मनाता था। होली पर राजमहलों में कई दिनों तक रंग–गुलाल की धूम रहती थी। अकबर स्वयं अपनी रानियों के साथ होली खेलता था। दीवाली पर बड़ी भारी रोशनी की जाती थी। दशहरा पर वह ब्राह्मणों से पूजा करवाता तथा माथे पर टीका लगवाता था और श्रावणी पर मोती–जवाहर की जड़ी हुई राखी हाथ में बँधवाता था। उसके अनुकरण पर सारा दरबार भी हिंदू त्यौहारों को मनाता था। आरंभ में अकबर शिकार खेलने का बड़ा शौकीन था; किंतु जब उसे जीव–हिंसा से अरुचि हो गई, तब उसने शिकार खेलना भी बंद कर दिया था। वह सभी प्राणियों पर दया करने लगा था और गोमांस नहीं खाता था। अपने अंतिम काल में तो उसने सभी प्रकार का मांस खाना छोड़ दिया था। साल में विशेष अवसरों पर कसाईखाने बंद रहते थे और मांस की दूकानों पर ताले पड़ जाते थे।

उसने साधु–संतों, योगियों और फकीरों के रहन–सहन तथा खान–पान की सुविधा के लिए आगरा में दो विशाल दातव्य भवन बनवाये थे, जिन्हें 'धर्मपुरा' और 'खैरपुरा' कहा जाता था। 'धर्मपुरा' में हिंदू साधु–संतों के रहने और खाने–पीने का प्रबंध किया था तथा 'खैरपुरा' में मुस्लिम फकीरों को ठहराया जाता था। जब साधु-संतों की संख्या बढ़ कर 'धर्मपुरा' में नहीं सँमाने लगी, तब 'जोगीपुरा' नामक एक दूसरा भवन बनवाया गया था। राहुल जी ने लिखा है,—"अकबर कुछ ख़िदमतगारों के साथ रात को स्वयं वहाँ सत्संग करने जाता और योग की बातें सीखता था। आगरा में शिवरात्रि के मेले के समय कितनी बार संतों के साथ बादशाह भी भोजन करता था[1]।" इन सब बातों से ज्ञात होता है कि अकबर पर हिंदू धर्म का बड़ा गहरा रंग चढ़ गया था। यदि उस समय हिंदू उसे अपनाने की बुद्धिमत्ता दिखलाते, तो उसका पूरी तरह हिंदू हो जाना संभव था। फिर उसके अनुकरण पर अनेक मुसलमान भी हिंदू धर्म को अंगीकार कर लेते; जिसके कारण भारतीय इतिहास का रूप ही बदल जाता !

दीन इलाही—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, फतहपुर-सीकरी के इबादतखाने में विभिन्न धर्मों के आचार्यों और संत–महात्माओं के साथ विचार–विमर्श करते रहने से अकबर के धार्मिक विचारों में बड़ी क्रांति हुई थी। उस समय इस्लाम से उसकी अरुचि थी और हिंदू धर्म स्वीकार करना उसके लिए संभव नहीं था; अतः सं० १६३६ में उसने एक नये धार्मिक संप्रदाय को प्रचलित करने का निश्चय किया। उसने अपने दृष्टिकोण से इस्लाम, हिंदू, जैन, ईसाई आदि सभी धर्मों की अच्छाइयों को लेकर उस नये संप्रदाय की स्थापना की थी और उसका नाम 'दीन इलाही' (भगवान् का धर्म) रखा था। उक्त संप्रदाय का संस्थापक होने से अकबर का स्थान

---

(१) अकबर, पृष्ठ २५६

स्वभावतया ही सर्वोच्च था। वह सम्राट के साथ ही साथ पैगंबर भी बन गया और अबुलफज़ल उस नये संप्रदाय का ख़लीफ़ा हुआ। उसके मुरीदों में दो दर्जन से भी कम प्रमुख दरबारी थे और कुछ हज़ार अन्य लोग थे। यद्यपि उनमें मुसलमान और हिंदू दोनों ही थे, तथापि उनकी संख्या उँगलियों पर गिनने लायक थी। अधिकांश मुसलमानों और हिंदुओं ने उस नये संप्रदाय के प्रति उपेक्षा का व्यवहार किया था। प्रमुख दरबारियों में मुसलमानों में शेख मुबारक, फैजी, अबुल-फज़ल तथा १०–१२ और थे। हिंदुओं में केवल एक बीरबल ने उसे स्वीकार किया था। अकबर के निकट संबंधी और प्रमुख दरबारी राजा भगवानदास तथा मानसिंह ने उसके प्रति कोई रुचि नहीं दिखलाई थी। अकबर के अंतःपुर में से किसी रानी या बेगम ने भी उसे स्वीकार नहीं किया था।

'दीन इलाही' में सूर्य की उपासना को प्रधानता दी गई थी। अग्नि की पूजा और दीपक को नमस्कार करने का भी विधान था। प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रि में चार बार पूर्व दिशा की ओर मुँह करके सूर्य की पूजा की जाती थी। सूर्य सहस्रनाम का जप किया जाता था। प्रातःकाल और मध्य रात्रि को प्रार्थना करने की सूचना नगाड़े बजा कर दी जाती थी। "साल में सौ से अधिक दिन मांस भोजन वर्जित था। यह हुक्म केवल राजधानी ही नहीं, बल्कि सारे राज्य पर लागू था। 'दीन–इलाही' के अनुयायी के लिए दाढ़ी मुँड़ाना आवश्यक था। उसके लिये गोमांस ही नहीं, लहसुन–प्याज खाना भी वर्जित था। बादशाह के सामने सिजदा (दंडवत) करना आवश्यक था। इसे दीन के बाहर के लोग भी मानने के लिये मजबूर थे[1]।" धार्मिक विधियों के अतिरिक्त उक्त संप्रदाय में कुछ सामाजिक सुधार की बातें भी थीं। इस्लाम में बहु विवाह मान्य है; किंतु उस संप्रदाय में स्त्री के बांझ होने की अवस्था के अतिरिक्त एक से अधिक विवाह करना वर्जित था। सती प्रथा बंद कर दी थी। किसी भी लड़के का नाम मुहम्मद अथवा देववाची नहीं रखा जाता था। यदि वैसा नाम होता, तो दीक्षा के समय बदल दिया जाता था। कहा जाता है, "उसने नई मसजिदें बनवाना रोक दिया था और पुरानी की मरम्मत करने की आज्ञा नहीं थी[2]।"

उस नये संप्रदाय से संबंधित धार्मिक क्रिया और पूजा–पद्धति की कई पुस्तिकाएँ लिखी गई थीं तथा धर्मशास्त्र तैयार कराये गये थे; किंतु अकबर की मृत्यु होते ही उन सबका लोप हो गया। जो लोग 'दीन इलाही' के मुरीद बने थे, वे सब अपने–अपने धर्मों में वापिस चले गये। कारण यह था, कि हिंदू और मुसलमान सभी ने उस नये संप्रदाय का विरोध किया था। अकबर के समय वह विरोध ऊपर उभर कर नहीं आ सका था; किंतु उसकी मृत्यु होते ही वह फूट पड़ा। राजा से प्रजा तक सब उसके विरोधी थे। ऐसी परिस्थिति में 'दीन इलाही' के मुरीद बने रहने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक थी। इस प्रकार अकबर के बाद 'दीन इलाही' का नाम केवल इतिहास में ही शेष रह गया। सम्राट अकबर को अपने अर्ध शताब्दी के शासन काल में अनेक सफलताएँ प्राप्त हुई थीं। वह राजनीति और प्रशासन के साथ ही साथ वास्तु, चित्र, संगीतादि के सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सफल रहा था; किंतु धर्म के क्षेत्र में उसे सफलता नहीं मिली थी।

---

(१) **अकबर**, पृष्ठ २५६

(२) **वही**, पृष्ठ २५६

विद्या, साहित्य और कलाओं का संरक्षण—अकबर पढ़ा-लिखा नहीं था; किंतु उसने विद्या, साहित्य और कलाओं के प्रोत्साहन तथा संरक्षण में बड़ी रुचि प्रदर्शित की थी। वह रात्रि में सोने से पहिले नियमित रूप से नये-नये ग्रंथों को पढ़वा कर सुनता था और उनकी बातों को हृदयंगम करता था। 'उसकी स्मरण शक्ति-बहुत अच्छी थी, जिससे उसे अनेक ग्रंथ कंठस्थ हो गये थे। इस प्रकार पढ़ा-लिखा न होने पर भी वह बहुत 'गुना' था, जिसके कारण अनेक पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा भी वह अधिक ज्ञानवान था। वह सदैव विद्वानों और गुणी जनों से घिरा रहता था और उनके साथ विचार-विमर्श तथा शास्त्रार्थ करता था। उसके दरबार में जो अनेक विद्वान और पंडित आया करते थे, उनमें मधु सरस्वती, नारायण मिश्र, दामोदर भट्ट, रामतीर्थ और आदित्यराम आदि के नाम मिलते हैं।

उसने संस्कृत के उत्तम ग्रंथों का फारसी में अनुवाद करने की आज्ञा दी थी, जिसके फल स्वरूप योग वाशिष्ठ, अथर्ववेद, रामायण, महाभारत और हरिवंश के अतिरिक्त पंचतंत्र, लीलावती, नल दमयंती तथा सिंहासन बत्तीसी के फारसी अनुवाद किये गये थे। अनूदित ग्रंथों के अतिरिक्त उस काल में फारसी में अनेक मौलिक रचनाएँ भी हुई थीं। फैज़ी उस काल का सर्वश्रेष्ठ फारसी कवि था। वह अमीर खुशरू के बाद भारत का सबसे बड़ा फारसी भाषा का कवि माना जाता है।

उसके दरबार में अनेक हिंदी कवि थे और दूसरे कितने ही कवियों को उसने सन्मानित किया था। नरहरि, गंग, मनोहर, चतुर्भुज ब्राह्मण उसके दरबार में स्थायी वृत्ति पाते थे। कुंभनदास, सूरदास, हरिदास स्वामी को उसने सन्मानित किया था। उसके कई प्रमुख दरबारी भी हिंदी में कविता करते थे, जिनकी रचनाओं को अकबर द्वारा सदैव प्रोत्साहन मिलता था। ऐसे कवियों में बीरबल, पृथ्वीराज, आसकरन, सूरदास मदनमोहन, भगवानदास और टोडरमल के नाम उल्लेखनीय हैं। रहीम अकबरी दरबार का सर्वश्रेष्ठ मुसलमान कवि था, जो हिंदी साहित्य के साथ ही साथ हिंदू संस्कृति का भी उपासक था।

इस्लाम में मूर्ति-पूजा को 'कुफ्र' (पाप) माना गया है, अतः मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत की जैन, बौद्ध और हिंदू धर्म की मूर्तियों को तोड़ दिया था तथा उनके स्तूप, मठ, संघाराम और मंदिरों को नष्ट किया था। इस प्रकार सुलतानों के काल में भारत की प्राचीन वास्तु कला का कोई समूचा नमूना शेष नहीं रहा था। मुसलमानों को वास्तु कला के प्रति कोई अभिरुचि नहीं थी, अतः दिल्ली के सुलतानों ने केवल कुछ मसजिदें बनवाने के अतिरिक्त कोई दूसरी अच्छी इमारत नहीं बनवाई थी। मुसलमान शासकों में अकबर ने सर्व प्रथम वास्तु कला की ओर विधिवत् ध्यान दिया था। उसके शासन काल में जहाँ 'हिंदू वास्तु कला' का पुनरुद्धार हुआ, वहाँ 'मुगल वास्तु' नामक एक नवीन शैली का भी प्रादुर्भाव हुआ था। वह शैली हिंदू और ईरानी वास्तु शैलियों का मिश्रित रूप थी, जो अकबर के समय प्रचलित हुई और जिसका पूर्ण विकास शाहजहाँ के काल में हुआ था। शाहजहाँ के बाद औरंगजेब की मज़हबी दुर्नीति के कारण हिंदू शैली के साथ ही 'मुगल वास्तु शैली' का भी ह्रास हो गया था। मुगल कालीन हिंदू वास्तु कला के उल्लेखनीय नमूने वृंदाबन के प्राचीन मंदिरों के साथ ही साथ मथुरा का सती बुर्ज भी है। मुगल शैली के नमूने फतहपुर-सीकरी की इमारतें, दिल्ली में हुमायू का मकबरा तथा आगरा और इलाहाबाद के किले आदि हैं। मंदिर-मूर्तियों की तरह चित्रों के प्रति भी सुलतानों का विरोधी भाव था। वे इस

कला को भी 'कुफ्र' मानते थे। उन्होंने भारत के प्राचीन चित्रों को नष्ट कर दिया था और नये बनाने का निषेध किया था। सम्राट अकबर अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला का भी बड़ा प्रेमी और आश्रयदाता था। उसके प्रोत्साहन से चित्र कला की उस नई शैली का विकास हुआ, जो 'मुगल चित्र शैली' कहलाती है।

आमोद-प्रमोद और मनोरंजन—अकबर के समय में आमोद–प्रमोद और मनोरंजन के जो अनेक साधन प्रचलित थे, उनमें शिकार, घुड़सवारी, नाव की सैर, तैराकी, कबूतरबाज़ी, पतंगबाज़ी, चौपड़, शतरंज, चौगान आदि के खेल उल्लेखनीय हैं। उनसे सम्राट अकबर, उसके दरबारी, सरदार–सामंत तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साथ ही साथ साधारण लोग भी अपना मनोरंजन करते थे।

शराब और तंबाकू—हिंदू धर्म की तरह मुसलमानी मज़हब में भी शराब पीना वर्जित है; किंतु उसका प्रचार हिंदू और मुसलमान सभी बड़े–बड़े दरबारियों तथा ओहदेदारों में था। उसे प्राचीन काल से ही शौक़–मौज का साधन माना जाता था। तंबाकू का प्रचार इस देश में पहिले नहीं था। उसे पुर्तगाली अपने साथ भारत में लाये थे और वह गोआ में मिलता था। वहाँ से वह पहिले दक्षिण में प्रचलित हुआ और अकबर के काल में सर्व प्रथम उत्तरी भारत में लाया गया था। उसे लाने वाला असदबेग नामक एक प्रतिष्ठित मुसलमान था। उसने आगरा आकर अन्य वस्तुओं के साथ तंबाकू भी अकबर को भेंट किया था। इसके संबंध में उसने लिखा है,—

"बीजापुर में मुझे तंबाकू मिला। हिंदुस्तान में ऐसी चीज़ कभी नहीं देखी थी, इसलिए मैंने उसे ले लिया और एक जड़ाऊ सुंदर हुक्का तैयार किया।...आग के लिए एक सुनहली चिलम भी तैयार की।...हुजूर (अकबर) मेरी भेंट स्वीकार कर बड़े खुश हुए। उसे तैयार करने के लिए मुझे हुक्म हुआ। मेरी प्रसन्नता के लिए नैचे को मुँह में डाल कर दो-तीन कश खींचे। उससे शाही हकीम को बड़ी परेशानी हुई। उसने और कश खींचने नहीं दिया। मैं अपने साथ काफी तंबाकू लाया था। मैंने थोड़ा–थोड़ा कितने ही अमीरों के पास भेजा। तंबाकू पीने का रवाज तेज़ी से चल पड़ा। तब भी आला हज़रत (अकबर) ने उसे फिर पीना स्वीकार नहीं किया[1]।"

प्रशासन व्यवस्था—सुलतानों के शासन काल में प्रशासनिक अथवा राजनैतिक दृष्टि से ब्रजमंडल का कोई महत्व नहीं था। वही स्थिति अकबर के काल में भी थी; यद्यपि उस समय इसका धार्मिक महत्व बढ़ गया था। अकबर के काल में वित्त मंत्री राजा टोडरमल ने राज्य के प्रशासन का सारा ढाँचा ही बदल दिया था। उसने भूमि का नया बंदोवस्त कर समस्त साम्राज्य को १५ सूबों में विभाजित किया था। प्रत्येक सूबा में कई सरकारें (ज़िले), प्रत्येक सरकार में कई परगने और प्रत्येक परगना में कई मुहालें होते थे। सूबे के शासक को सिपहसालार और सरकार के हाकिम को फौजदार कहा जाता था। बड़े–बड़े शहरों में कोतवाल भी होते थे। साम्राज्य के समस्त सूबों में आगरा का सूबा सब से बड़ा और महत्वपूर्ण था। आगरा सूबा में १३ सरकारें और २०३ परगने थे। आगरा सरकार में ३१ परगने थे; जिनका क्षेत्रफल १८६४ वर्गमील था।

उस काल में मथुरामंडल आगरा सरकार के अंतर्गत था और उसका प्रशासनिक केन्द्र महावन था। मथुरा नगर तब एक साधारण मुहाल था, जिसका कोई प्रशासनिक महत्व नहीं

---

(१) **अकबर**, पृष्ठ २८९–२९०

था। सुलतानों के काल से ही मथुरामंडल का प्रशासनिक केन्द्र महाबन रहा था और मुगल काल में भी वही व्यवस्था क़ायम रही थी। जब बाबर ने इस भू–भाग पर अधिकार किया, तब उसने मरगूब नामक एक गुलाम को महाबन का हाकिम बनाया था। अकबर के काल में महाबन का हाकिम अलीखान था। उसका पिता ब्रज के बच्छगाँव का रहने वाला गोरवा क्षत्रिय था, जो पठानों के शासन काल में मुसलमान हो गया था। अलीखान की पुत्री पीरज़ादी बचपन से ही कृष्ण–भक्त थी। उसके प्रभाव से अलीखान कृष्ण–भक्त हो गया था। वे दोनों पिता-पुत्री गो० विट्ठलनाथ जी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे[1]।

राजस्व की वसूली के लिए एक करोड़ दाम (प्रायः ढाई लाख रुपया) की मालगुज़ारी पर एक अफसर होता था, जिसे 'करोड़ी' कहा जाता था। करोड़ी लोग सरकारी कर वसूल करने में जनता पर प्रायः अत्याचार किया करते थे। उनके अत्याचारों की शिकायत यदि अकबर के कानों तक पहुँच जाती थी, तो वह उन्हें दूर करने की पूरी चेष्टा करता था। टोडरमल ने भी करोड़ियों पर अनुशासन रखने के लिए कड़ाई से काम लिया था। मथुरा मुहाल का तब विस्तार ३७,३४७ बीघा था और उसकी मालगुज़ारी ११, ५५,८०७ दाम थी[2]।

आर्थिक स्थिति—अकबर के काल में देश की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी और जनता सुखी एवं संतुष्ट थी। उस समय जीवन–यापन की सभी वस्तुएँ बहुत सस्ती थीं और लोगों को किसी प्रकार का अभाव नहीं था। अकबरी सेर आजकल के हिसाब से साड़े दस छटाँक का होता था और मन २६ सेर का। आजकल का रुपया अकबर कालीन ४० दामों का था और एक दाम में आजकल के ढाई नये पैसे होते थे। 'दाम' फारसी शब्द 'दिरहम' का अपभ्रंश था और वह तांबे का सिक्का था। ४० दामों का एक रुपया और ९ रुपयों की एक सुनहरी मुहर होती थी, जिसे अशर्फी कहते थे। वह मुहर या अशर्फी शुद्ध सोने की थी, जिसका वज़न ११·३ माशा का था। इस प्रकार अकबर के काल में सोने का भाव प्रायः १०) तोला था।

उक्त काल में खाद्य वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं कि आज के लोग उस पर सहसा विश्वास नहीं कर सकते हैं। आजकल के हिसाब से तब गेहूँ ४७ पैसे मन, चना ६० पैसे मन, मूंग ७१ पैसे मन, उड़द ६० पैसे मन और घटिया चावल ७५ पैसे मन था। तब तिली का तेल ३ रुपया मन और घी ४ रुपया मन था तथा चीनी ४ रुपया ७९ पैसे मन थी। नमक ६० पैसे मन, दूध ७५ पैसे मन और मांस २ रुपये मन था। एक मज़दूर की दैनिक मज़दूरी २ दाम अर्थात् आजकल के ५ पैसे तथा कारीगर की ७ दाम अर्थात् १५ पैसे थी। उतनी कम मजदूरी में भी वह खाने-पीने की इतनी वस्तुएँ खरीद सकता था, कि एक दिन की मजदूरी कई दिनों के लायक सामान खरीदने को पर्याप्त होती थी[3]।

अंतिम काल और मृत्यु—शाहंशाह अकबर अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता और सूझ–बूझ से एक बड़े साम्राज्य का स्वामी हुआ था। उसका यश, वैभव और प्रताप अनुपम था;

---

(१) **पीरज़ादी और अलीखान की वार्ता** (दोसौ बावन वैष्णव की वार्ता, प्रथम खंड, पृष्ठ २९९

(२) **मथुरा गजेटियर** (ड्रेक ब्लाकमैन), पृष्ठ १९२

(१) **अकबर** (राहुल सांस्कृत्यायन)

इसीलिए उसकी गणना भारतवर्ष के महान् सम्राटों की जाती है। फिर भी उसका अंतिम काल बड़े क्लेश और दुःख में बीता था। उसने ५० वर्ष तक शासन किया था। उस दीर्घ काल में मानसिंह और रहीम के अतिरिक्त उसके सभी विश्वसनीय सरदार–सामंतों का देहांत हो गया था। बीरबल, टोडरमल, पृथ्वीराज, अबुलफज़ल जैसे प्रिय दरबारी उसे छोड़ कर परलोक जा चुके थे। उसके दोनों छोटे पुत्र मुराद और दानियाल का भरी जवानी में देहांत हो चुका था। बड़ा पुत्र सलीम शेष था; किंतु वह अपने पिता के विरुद्ध सदैव षड़यंत्र और उपद्रव करता रहा था। उसके कारण अकबर बड़ा दुखी रहता था।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, अकबर को काफ़ी समय तक कोई पुत्र नहीं हुआ था। बड़ी मिन्नतों और दुआओं के बाद सलीम उत्पन्न हुआ, अतः अकबर उससे बड़ा स्नेह करता था। वह प्यार से उसे 'शेखू बाबा' कहा करता था। सलीम आरंभ से ही ऐयाश और शराबी था। वह अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर उसके जीते जी स्वयं गद्दी पर बैठने का षड़यंत्र करने लगा था। अकबर ने उसे ठीक रास्ते पर लाने की बड़ी चेष्टा की; किंतु वह सदैव उसकी इच्छाओं के विपरीत आचरण करता रहा और अपने प्रत्येक व्यवहार से वृद्ध पिता को कष्ट पहुँचाता रहा था। उसने अकबर के परम विश्वासी और विद्वान दरबारी अबुलफज़ल को इस भ्रम से मरवा डाला था कि वह उसे अपने विरुद्ध अकबर को मंत्रणा देने वाला समझता था। अबुलफज़ल की हत्या सं० १६५६ (१६ अगस्त, सन् १६०२)में ग्वालियर के निकटवर्ती आंतरी गाँव में उस समय की गई थी, जब वह सम्राट के आदेशानुसार दक्षिण से उसके पास आगरा जा रहा था। उसकी मृत्यु का समाचार सुनते ही अकबर को फिर वैसा ही दुःख हुआ, जैसा उसे बीरबल के देहावसान पर हुआ था। बीरबल ने तो रणक्षेत्र में वीर गति पायी थी; किंतु अबुलफज़ल की मौत का कारण उसका लाड़िला, किंतु दुःखदायी बेटा सलीम था। उस समय अकबर ने विह्वल होकर कहा था—"शेखू जी, तुमने यह क्या किया ! यदि तुम्हें गद्दी लेनी थी, तो मुझे मारते; अबुलफ़ज़ल जैसे फरिश्ते को क्यों मारा ?"

जब तक अकबर जीवित रहा, तब तक सलीम अपने दुष्कृत्यों से उसे दुखी करता रहा; किंतु वह सदैव उसके अपराधों को क्षमा करता रहा था। आखिर क्षमा की भी कोई सीमा होती है ! जब वह सलीम के विद्रोहों से तंग आ गया, तब अपने उत्तर काल में उसने उस के बड़े बेटे शाहज़ादा खुसरो को अपना उत्तराधिकारी बनाने का विचार किया था। किंतु फिर सोच–समझ कर उसने वह विचार त्याग दिया था। यद्यपि भविष्यत् दुष्परिणाम की आशंका से अकबर ने खुसरो को अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाया, तथापि उस महत्वाकांक्षी युवक के मन में राज्य प्राप्ति की जो लालसा जागृत कर दी थी, वह उसकी अकाल मृत्यु का कारण हुई थी।

जिस समय अकबर अपनी मृत्यु–शैया पर पड़ा हुआ था, उस समय उसने सलीम के सभी अपराधों को क्षमा कर दिया और वह अपना ताज एवं खंजर देकर उसे ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर गया था। उस समय अकबर की आयु ६३ वर्ष की और सलीम की ३८ वर्ष की थी। अकबर का देहावसान सं० १६६२ (अक्टूबर, सन् १६०५) में हुआ था। उसे आगरा के निकटवर्ती सिकंदरा में दफ़नाया गया, जहाँ उसका कलापूर्ण मक़बरा बना हुआ है।

जहाँगीर (शासन काल सं० १६६२-१६८४)—

आरंभिक जीवन—अकबर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से मुगल सम्राट हुआ था। उसका जन्म सं० १६२६ (३० अगस्त, सन् १५६९) में सीकरी में हुआ और वह अपनी प्रौढ़ावस्था में सं० १६६२ में गद्दी पर बैठा था। उससे पहिले वह एक शराबी ऐशपसंद और आबारा शाहज़ादा के रूप में बदनाम था। अकबर ने उसकी बुरी आदतें छुड़ाने की बहुत चेष्टा की थी; किंतु उसे सफलता नहीं मिली। इसीलिए समस्त सुख होते हुए भी वह अपने उस बेटे की ओर से जीवन पर्यंत बड़ा दुखी रहा था। ऐसे व्यक्ति के बादशाह हो जाने पर जनता में असंतोष होना स्वाभाविक था। अकबर के शासन-काल में इस देश के निवासियों ने बहुत समय बाद सुख और शांति का अनुभव कर एक सुदृढ़ तथा समृद्धिशाली शासन का सुखोपभोग किया था। जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही सब लोगों को आशंका होने लगी कि अब सुख-शांति के दिन विदा हो गये तथा अशांति-अव्यवस्था और लूट-खसोट का ज़माना फिर आ गया!

जनता में घबराहट—उस समय लोगों में कितना भय और आतंक था, इसका उल्लेख जैन कवि बनारसीदास कृत 'अर्द्ध कथानक' में हुआ है। बनारसी कवि अकबर की मृत्यु के समय १९ वर्ष का युवक था और वह उस समय जौनपुर में निवास करता था। वहाँ पर जैसे ही अकबर की मृत्यु का समाचार पहुँचा, लोगों में भारी घबराहट फैल गयी। बनारसी तो उस समाचार के सुनते ही बेहोश होकर गिर पड़ा था! उसने उस काल की आशंकापूर्ण स्थिति का मार्मिक कथन करते हुए कहा है—

संवत सोलह सै बासटा। आयौ कातिक पावस घटा॥
छत्रपति अकबर साहि जलाल। नगर आगरे कीनों काल॥
आई खबर जौनपुर माह। प्रजा अनाथ भई बिनु नाह॥
पुरजन लोग भये भयभीत। हिरदै व्याकुलता मुख पीत॥
अकसमात बनारसी, सुनि अकबर कौ हाल।
सीढ़ी पर बैठ्यौ हुतौ, भयौ भरम चित जाल॥
आइ तमारौ गिरि पर्‌यौ, सक्यौ न आपा राखि।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यौ देव मुख भाखि॥
इस ही बीच नगर में सोर। भयौ उदंगल चारिहु ओर॥
घर-घर दर-दर दिये कपाट। हटवानी नहिं बैठें हाट॥
भले वस्त्र अरु भूषन भले। ते सब गाड़े धरती तले॥
घर-घर सबन्हि बिसाहे अस्त्र। लोगन पहिरे मोटे वस्त्र॥

ख़ुसरो का विद्रोह—जहाँगीर का प्रथम विवाह आमेर के राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहिन मानबाई के साथ सं० १६४२ में हुआ था। उससे दो संतान हुई थीं,—एक पुत्र खुसरो और दूसरी पुत्री सुलतानुन्निसा। शाहज़ादा खुसरो बड़ा सुंदर जवान, वीर योद्धा, कलाकोविद और विद्वान था। उसने अकबरी दरबार के विख्यात विद्वान मुंशी अबुलफज़ल से शिक्षा प्राप्त की थी। शिवदत्त भट्टाचार्य नामक एक प्रसिद्ध पंडित से उसे हिंदू धर्म और हिंदू

संस्कृति का ज्ञान प्राप्त हुआ था। वह बहुत से गुणों में अपने बाबा अकबर के समान था, इसीलिए जनता में वह बड़ा प्रिय था। अकबर भी उसे बहुत प्यार करता था।

जहाँगीर के कुकृत्यों से जब अकबर बहुत दुखी हो गया, तब अपने अंतिम काल में उसने खुसरो को अपना उत्तराधिकारी बनाने का विचार किया था। स्वयं खुसरो भी उसका आकांक्षी था, अतः उसका पिता उससे द्वेष रखने लगा। पिता–पुत्र के उस वैमनस्य का दुष्परिणाम खुसरो के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ था। जहाँगीर की बड़ी रानी और खुसरो की माता मान-बाई पिता–पुत्र के उस विद्वेष से बड़ी दुखी रहा करती थी। जब उसने अपने पुत्र के विद्रोह का समाचार सुना तो उसने कई दिनों तक अन्न–जल ग्रहण नहीं किया। एक दिन अपने पति की अनुपस्थिति में उसने अधिक मात्रा में अफीम खा कर अपने जीवन का अंत कर दिया! उसकी मृत्यु सम्राट अकबर के देहावसान और जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के प्रायः एक वर्ष पूर्व सं० १६६१ (१६ मई, सन् १६०४) में हुई थी।

गद्दी पर बैठने के उपरांत जहाँगीर ने खुसरो का अपराध क्षमा कर दिया; किंतु उसे अपने कठोर नियंत्रण में आगरा में ही रहने को बाध्य किया था। खुसरो उस नज़रबंदी की स्थिति से ऊब कर फिर विद्रोह कर बैठा। वह एक दिन चुपचाप आगरा से भाग कर सिकंदरा होता हुआ मथुरा पहुँच गया। जहाँगीर का एक सरदार हुसेनबेग बदख्शी अपने सवारों के साथ शाही आज्ञा से आगरा आ रहा था। वह मथुरा में खुसरो से मिला और उसके विद्रोही मनसूबे में उसका मददगार बन गया। उसके सैनिकों ने मथुरा में लूट–मार कर वहाँ से धन एकत्र किया। उसके बाद खुसरो और उसके साथी मथुरा से दिल्ली पहुँचे। वहाँ नरेला की सराय को जला कर वे पानीपत गये और फिर उन्होंने लाहौर की ओर कूंच किया। मार्ग में सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव से वे लोग तरनतारन में मिले थे। गुरु ने उन्हें आशीर्वाद दिया। खुसरो ने गुरू से रुपयों की माँग की। गुरू ने कहा,—"मेरे पास जो कुछ है, वह ज़रूरतमंदों के लिए है; बादशाह और शाहज़ादों के लिए नहीं।" खुसरो ने कहा—"मैं भी इस समय ज़रूरतमंद हूँ। मेरी मदद कीजिये।" इस पर गुरु ने उसे पाँच हज़ार रुपया दिया था।

जहाँगीर की सेना खुसरो का पीछा करती हुई लाहौर के निकट पहुँची। उससे युद्ध करने पर खुसरो पराजित होकर भाग निकला; किंतु अपने साथियों सहित पकड़ लिया गया। उसके साथियों को बड़ी यंत्रणाएँ देकर मारा गया और खुसरो को बादशाह की आज्ञा से अंधा कर कैद में डाल दिया गया। गुरु अर्जुनदेव को खुसरो की सहायता करने के कारण अपराधी माना गया और उन पर एक लाख रुपया जुर्माना किया गया। उन्होंने जुर्माना देने से इंकार कर दिया, इसलिए उन्हें मृत्यु दंड दिया गया।

अंधा खुसरो नज़रबंदी की दशा में अपने छोटे भाई शाहज़ादा खुर्रम की देख–रेख में रखा गया था। खुर्रम उसे अपने मार्ग का कांटा समझता था, अतः उसके इशारे से खुसरो की हत्या सं० १६७७ में कर दी गई और जहाँगीर को सूचित किया गया कि कैदी की मृत्यु 'कौलंज' रोग के कारण हुई है। जहाँगीर को अपने अभागे पुत्र की मृत्यु का बहुत दुःख हुआ था। शाही आदेशानुसार खुसरो को प्रयाग के उस बाग़ में दफनाया गया, जो उसी के नाम से 'खुसरो बाग' कहलाता है। खुसरो की बहिन शाहजादी सुलतानुन्निसा भी उसी बाग़ में दफनाई गई थी। दोनों के मकबरे वहाँ बने हुए हैं।

शाही परिवार—जहाँगीर के कई विवाह हुए थे। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उसका प्रथम विवाह आमेर की राजकुमारी मानबाई के साथ हुआ था, जिससे खुसरो और सुलतानुन्निसा नामक दो संतान हुई थीं। उसका दूसरा विवाह जोधपुर के राजा उदयसिंह उपनाम मोटा राजा की पुत्री जोधाबाई के साथ सं० १६४३ में हुआ था। वह मुगलों के हरम में रहती हुई भी हिंदू धर्म के अनुसार रहन–सहन और पूजा-पाठ करती थी, इसीलिए वह 'जगत् गोसाइन' कहलाती थी। सलीम की मुस्लिम बेगमों में से एक का पुत्र खुर्रम था, जो जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के नाम से मुगल सम्राट हुआ था। जहाँगीर की अंतिम बेगम नूरजहाँ थी, जिससे उसने सं० १६६८ में निकाह किया था।

नूरजहाँ का आरंभिक नाम मेहरुन्निसा था। जहाँगीर अपनी युवावस्था में ही उससे प्रेम करने लगा था और वह उसके साथ विवाह करने का बड़ा इच्छुक था। ऐसा कहा जाता है, अकबर ने उस विवाह की स्वीकृत नहीं दी थी। फलतः उस अपूर्व सुंदरी युवती का विवाह अकबर के एक सरदार शेरअफगन से हुआ था। जब जहाँगीर बादशाह हुआ, तब शेरअफगन बर्दमान का फौजदार था। ऐसी प्रसिद्धि है, जहाँगीर के इशारे पर शेरअफगन को सं० १६६३ में मार दिया गया और मेहरुन्निसा को उसकी संतानों सहित जहाँगीर के हरम में भेज दिया गया। पाँच वर्ष बाद सं० १६६८ में जहाँगीर ने मेहरुन्निसा से निकाह कर लिया और उसका नाम नूरजहाँ रखा। उसके बाद जहाँगीर नूरजहाँ का अंध भक्त हो गया था कि वह साम्राज्य का शासन–भार उसी पर छोड़ कर आप शराब और ऐश में अपना जीवन बिताने लगा था। नूरजहाँ जहाँगीर की मृत्यु तक मुगल साम्राज्य की कर्ता–धर्ता बनी रही थी।

प्रशासन—जहाँगीर ने गद्दी पर बैठते ही अपनी पुरानी बदनामी को दूर करने के लिए अपने विशाल साम्राज्य का सुंदर प्रशासन करने की ओर ध्यान दिया था। उसने यथा संभव अपने पिता अकबर की शासन नीति का ही अनुसरण किया और पुरानी व्यवस्था को क़ायम रखा था। जिन व्यक्तियों ने आरंभ से ही उसका साथ दिया था और उसके षड़यंत्र में सहायक होकर अकबर के बुरे बने थे, उन्हें तो उसने मालामाल कर दिया; मगर जिन्होंने अकबर के काल में उसका विरोध किया था, उनसे बदला लेने का उसने कोई प्रयास नहीं किया। जो कर्मचारी जिन पदों पर अकबर के काल में थे, उनको उन्हीं पदों पर रखते हुए उनकी प्रतिष्ठा को यथावत् बनाये रखा गया था। कुछ अधिकारियों की तो उसने पदोन्नति भी कर दी थी। इस प्रकार के उदारतापूर्ण व्यवहार का उसके शासन पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा था।

न्याय—जहाँगीर ने अपने काल में न्याय व्यवस्था ठीक रखने की ओर विशेष ध्यान दिया था। न्यायाधीशों के अतिरिक्त वह स्वयं भी जनता के दुःख-दर्द को सुनने की चेष्टा करता था। उसके लिए उसने अपने निवास–स्थान से लेकर नदी के किनारे तक एक जंज़ीर बँधवाई थी और उसमें बहुत सी घंटियाँ लटकवा दी थीं। उसकी आज्ञा थी, यदि किसी को कुछ फरियाद करनी हो, तो वह उस जंज़ीर को पकड़ कर खींच सकता है, ताकि उसमें बँधी हुई घंटियों की आवाज़ सुन कर बादशाह उस फरियादी को अपने पास बुला सके। जहाँगीर के आत्मचरित से ज्ञात होता है, वह जंज़ीर सोने की थी और उसके बनवाने में बड़ी लागत आई थी। उसकी लंबाई ४० गज़ थी और उसमें ६० घंटियाँ बँधी हुई थीं। उन सबका वज़न १० मन के लगभग था[1]।

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित, पृष्ठ १४

उससे जहाँ बादशाह के वैभव का प्रदर्शन होता था, वहाँ उसके न्याय का भी ढिंढ़ोरा पिट गया था। किंतु इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि किसी व्यक्ति ने उस जंज़ीर को हिलाकर बादशाह को कभी न्याय करने का कष्ट दिया हो। उस काल में मुसलमान शासकों का ऐसा आतंक था कि उस जंज़ीर में बँधी हुई घंटियों को बजा कर बादशाह के ऐशो–आराम में विघ्न डालने का साहस करना बड़ा कठिन था।

राजधानी की स्थिति—जहाँगीर के शासन काल में मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा थी। सम्राट अकबर के काल में आगरा नगर की बड़ी उन्नति हुई थी। जब जहाँगीर गद्दी पर बैठा था, तब यह नगर अत्यंत विशाल और वैभवशाली था। उसके संबंध में जहाँगीर ने लिखा है—"आगरा हिंदुस्तान के बड़े नगरों में से है। यह नगर यमुना नदी के दोनों ओर बसा हुआ है। नदी के इस ओर दस कोस लंबा और चार कोस चौड़ा है, तथा नदी के उस ओर तीन कोस लंबा और दो कोस चोड़ा है। बड़ी मसजिदों, स्नानघरों तथा सरायों की इतनी अधिकता है कि इसके समान नगर ईराक और खुरासान में कुछ ही होंगे। बहुधा मनुष्यों ने तीन–तीन और चार–चार खंडों के मकान बनवाये हैं। इस नगर में इतनी प्रजा बसी है कि प्रातःकाल से एक प्रहर रात्रि तक मार्ग में कठिनता से चला जा सकता है; यहाँ तक कि लोग एक दूसरे पर गिरे पड़ते हैं। यह कहा जाता है कि आगरा हिंदुस्तान के सभी नगरों में ऐश्वर्य में बढ़ गया है[1]।"

आगरा की वह स्थिति जहाँगीरी शासन के अंतिम काल तक नहीं रही थी। उसका कारण जहाँगीर का आगरा में बहुत कम रहना था। वहाँ का मौसम उसे अनुकूल नहीं पड़ता था, अतः वह अधिकतर पंजाब और कश्मीर में रहा करता था। उस काल में बादशाह के साथ ही साथ उसका रनबास, बड़े–बड़े हाकिम–हुक्काम, शाही दफ्तर और भारी सैन्य दल भी चलता था। उसके कारण जहाँ बादशाह का पड़ाब पड़ता था, वहाँ एक नगर सा बस जाता था। जहाँगीर के राजधानी में न रहने से वहाँ की समृद्धि और शान–शौकत में बहुत कमी हो गई थी।

प्लेग का प्रकोप—जहाँगीर के शासन–काल में प्लेग नामक भयंकर बीमारी का कई बार प्रकोप हुआ था। सं० १६७५ में जब वह बीमारी दोबारा आगरा में फैली थी, तब उससे बड़ी बर्बादी हुई थी। उसके संबंध में जहाँगीर ने लिखा है—"आगरा में पुनः महामरी का प्रकोप हुआ है, जिससे लगभग एक सौ मनुष्य प्रति दिन मर रहे हैं। बगल, पट्ठे या गले में गिल्टियाँ उभर आती हैं और लोग मर जाते हैं। यह तीसरा वर्ष है कि यह रोग जाड़े में जोर पकड़ता है और गर्मी के आरंभ में समाप्त हो जाता है। इन तीन वर्षों में इसकी छूत आगरा के आस–पास के ग्रामों तथा बस्तियों में फैल गई है।...जिस आदमी को वह रोग होता था, उसे ज़ोर का बुखार आता था और उसका रंग पीलापन लिये हुए स्याह हो जाता था। कै और दस्त होते थे और दूसरे दिन ही वह मर जाता था। जिस घर में एक आदमी बीमार होता, उससे सभी को उस रोग की छूत लग जाती और घर का घर बरबाद हो जाता था[2]।"

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित्, पृष्ठ ८

(२) वही, पृष्ठ ५७५–५७७

व्यक्तित्व और चरित्र—जहाँगीर का व्यक्तित्व बड़ा सुंदर और आकर्षक था तथा उसका चरित्र बुरी और भली आदतों का अद्भुत मिश्रण था। अपने आरंभिक जीवन में वह कुसंग के कारण जिन बुराइयों के वशीभूत हो गया था, उनमें कामुकता और मदिरा–पान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उसने गद्दी पर बैठते ही अपनी अनेक बुरी आदतों को छोड़ कर अपने को बहुत कुछ सुधार लिया था; किंतु मदिरा–पान को वह अंत समय तक भी नहीं छोड़ सका था। अतिशय मद्य सेवन के कारण उसके चरित्र की बहुत सी अच्छाईयाँ दब गई थीं। साधारणतया वह आरामतलब और शांत स्वभाव का था। उसका प्रकृति प्रेम अपूर्व था और उसकी कलाभिरुचि अनुपम थी। राजधानी के झगड़े–झंझटों से दूर रह कर उसे कश्मीर की प्राकृतिक सुषुमा और वहाँ के मनोरम उद्यानों में निवास करना अत्यंत प्रिय था।

मदिरा-पान की लत—जहाँगीर को युवावस्था से ही मदिरा–पान की ऐसी लत लगी थी कि उसने अंत समय तक भी उसका पीछा नहीं छोड़ा था। इसके संबंध में उसने अपने आत्मचरित में लिखा है,—"हमने सोलह वर्ष की आयु से मदिरा पीना आरंभ कर दिया था। हमारा मदिरा–पान यहाँ तक बढ़ गया था कि प्रति दिन बीस प्याला तथा कभी–कभी इससे भी अधिक पीते थे। इस कारण हमारी ऐसी अवस्था हो गई कि यदि एक घड़ी भी न पीते तो हाथ काँपने लगते तथा बैठने की शक्ति नहीं रह जाती थी। ..हमने निरुपाय होकर इसे कम करना आरंभ कर दिया और छह महीने के समय में बीस प्याले से पाँच प्याले तक पहुँचा दिया[1]।"

शराबबंदी की आज्ञा—शराब के प्रति स्वयं इतनी रुचि होने पर भी उसके दुष्परिणाम से जनता को बचाने के लिए जहाँगीर ने गद्दी पर बैठते ही शराब बनाने और बेचने पर पाबंदी लगा दी थी। उसने शासन–भार सँभालते ही एक शाही फरमान निकाला था, जिसमें १२ आज्ञाओं को साम्राज्य भर में मानने का आदेश दिया गया था। उसमें तोसरी आज्ञा शराबबंदी से संबंधित थी। उस प्रकार की आज्ञा होने पर भी वह स्वयं शराब पीता था और उसके प्रायः सभी सरदार–सामंत, हाकिम और कर्मचारी भी शराब्र पीने के आदी थे। ऐसी स्थिति में शराबबंदी की शाही आज्ञा का कोई प्रभावकारी परिणाम निकला हो, इसमें बड़ा संदेह है।

साहित्य और कला के प्रति अभिरुचि—जहाँगीर की साहित्य और कला के प्रति अभिरुचि उसके लिए पैतृक देन थी। यद्यपि उसने अकबर की तरह उनके संरक्षण और प्रसार में विशेष योग नहीं दिया था, तथापि उनका ज्ञान उसे अपने पिता से भी अधिक था। वह अरबी, फारसी और हिंदी का ज्ञाता तथा फारसी का अच्छा लेखक था। उसकी रचना 'तुजुके जहाँगीरी' संस्मरणात्मक आत्मचरित की उत्कृष्ट कृति है। चित्रकला का वह कुशल पारखी और विशेषज्ञ था। इसके संबंध में उसका ज्ञान इतना बढ़ा हुआ था कि वह चित्र को देखते ही बतला देता था कि उसे एक चित्रकार ने बनाया है अथवा कई ने। यदि उसे कई ने बनाया है, तो उसका कौन सा भाग किसके द्वारा चित्रित किया गया है। वह स्थापत्य कला का भी प्रेमी और प्रोत्साहनकर्त्ता था। उसने फतेहपुर–सीकरी में शेख सलीम चिश्ती का और आगरा के सिकंदरा नामक स्थान में अपने पिता अकबर का सुंदर मकबरा बनवाया था। सम्राट अकबर का मकबरा जहाँगीरकालीन स्थापत्य कला का दर्शनीय नमूना है, जो सं० १६७० में पूरा हुआ था।

---

(१) **जहाँगीर का आत्मचरित, पृष्ठ १७–१८**

जहाँगीर की प्रिय बेगम नूरजहाँ अपने अन्य गुणों के साथ एक सुरुचिपूर्ण महिला थी। उसका कला–प्रेम प्रसिद्ध है। वह संगीत कला की प्रेमिका और गायिका थी। उसे सुंदर उद्यानों और सुगंधित पुष्पों से बड़ा प्रेम था। गुलाब का इत्र उसी के द्वारा आविष्कृत कहा जाता है। स्थापत्य कला के लिए उसकी देन आगरा का सुप्रसिद्ध 'एतमादुद्दोला' है, जिसे उसने अपने पिता के मकबरा के रूप में बनवाया था।

ब्रजमंडल की दशा—मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा का ब्रजमंडल से घनिष्ट संबंध होने के कारण उसकी उन्नति–अवनति, शासन व्यवस्था तथा शाही रीति–नीति का ब्रज पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। अकबर के शासन काल में ब्रज की जैसी प्रगति हुई थी, वैसी जहाँगीर के काल में नहीं हुई; फिर भी यहाँ की दशा संतोषजनक थी। हिंदुओं की सुविधा के लिए सम्राट अकबर ने जो व्यवस्था की थी, वह जहाँगीर के काल में बनी रही थी और ब्रज में मंदिरों के निर्माण का जो सिलसिला अकबर के काल में चला था, वह जहाँगीर के काल में भी जारी रहा था। उसने अधिकतर अपने पिता की उदार धार्मिक नीति का अनुसरण किया था, अतः उसके काल में ब्रजमंडल में प्रायः शांति और व्यवस्था क़ायम रही थी। उसके २२ वर्षीय शासन काल में दो–तीन बार ही ब्रज में शांति भंग होने का अवसर आया था; किंतु फिर शीघ्र ही उस स्थिति पर काबू पा लिया गया था। हम यहाँ पर उन प्रसंगों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं।

मथुरा की लूट—ब्रज में शांति–भंग होने का प्रथम अवसर जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही उस समय आया था, जब उसके ज्येष्ठ पुत्र खुसरो ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया था। जैसा पहिले लिखा गया है, आगरा से भाग कर खुसरो मथुरा पहुँचा था, जहाँ उसके साथी हुसेनबेग बदख्शी ने लूट–खसोट और मार–धाड़ की थी। उसके सैनिकों ने मथुरा में जो अत्याचार किये, उनका उल्लेख स्वयं जहाँगीर ने इस प्रकार किया है—"हिंदुओं के तीर्थ स्थान मथुरा से समाचार मिला कि हुसेनबेग बदख्शी ने वहाँ बड़ी लूट–मार तथा अत्याचार किया है और जो कुछ लोगों के पास मिला, उसे ले लिया है। यहाँ तक की लोगों की पुत्रियों और बहिनों की रक्षा नहीं रह गई है। मार्ग में जिस व्यापारी को पा गये, उसे लूट कर रात्रि के लिए खाने को भी उसके पास न छोड़ा। इन लोगों ने ऐसा अत्याचार और उपद्रव प्रजा में मचा दिया था तथा ऐसी कठोरता का बर्ताव किया था कि खुसरो भी इन लोगों से त्रस्त तथा भयभीत हो उठा और अपने कर्म से लज्जित तथा दुखी होकर आश्चर्य के साथ अपने सेवकों से बोला कि मैं कहाँ जा रहा हूँ और किससे अपने को अलग कर रहा हूँ। मेरा वह सन्मान और आदर कहाँ गया? मेरे पिता के देश में ये लोग जो अत्याचार करें, उसमें इच्छा या अनिच्छा से मुझे भी राजी होना पड़ेगा[1]।"

ग्रामीणों का विद्रोह—जहाँगीर के शासन–काल में एक बार ब्रज में यमुना पार के किसानों और ग्रामीणों ने विद्रोह करते हुए कर देना बंद कर दिया था। जहाँगीर ने खुर्रम को उसे दबाने के लिए भेजा। विद्रोहियों ने बड़े साहस और दृढ़ता से युद्ध किया; किंतु शाही सेना से वे पराजित हो गये थे। उनमें से बहुत से मार दिये गये और स्त्रियों तथा बच्चों को कैद कर लिया गया। उस अवसर पर सेना ने खूब लूट की थी, जिसमें उसे बहुत धन मिला था। उक्त घटना

---

(१) **जहाँगीर का आत्मचरित्**, पृष्ठ ११०–१११

का उल्लेख स्वयं जहाँगीर ने अपने आत्म चरित में किया है[1]; किंतु उसके कारण पर प्रकाश नहीं डाला । संभव है, वह विद्रोह हुसेनबेग बदख्शी की लूट–मार के प्रतिरोध में किया गया हो ।

ब्रज के जंगलों में शिकार—उस काल में ब्रज में अनेक बीहड़ बन थे, जिनमें शेर आदि हिंसक पशु भी पर्याप्त संख्या में रहते थे । मुसलमानी शासक उन बनों में शिकार करने को आते थे । जहाँगीर बादशाह ने भी नूरजहाँ के साथ वहाँ कई बार शिकार की थी । जहाँगीर बड़ा अचूक निशानेबाज़ था । उसका निशाना कभी खाली नहीं जाता था । उसने अपने जीवन में अनेक बार शिकार की थी और सैकड़ों जीव–जंतु मारे थे । सं० १६७१ में जब जहाँगीर मथुरा में था, तब अहेरियों ने सूचना दी कि पास के जंगल में एक शेर है, जो जनता को बड़ा कष्ट दे रहा है । यह सुन कर बादशाह ने हाथियों द्वारा जंगल पर घेरा डाल दिया और आप नूरजहाँ के साथ शिकार को चला । उस काल में जहाँगीर ने जीव–हिंसा न करने व्रत लिया था, अतः स्वयं गोली न चला कर उसने नूरजहाँ को ही गोली चलाने की आज्ञा दी थी । नूरजहाँ ने हाथी पर से एक ही निशाने में शेर को मार दिया था[2] ।

सं० १६८३ में जब जहाँगीर मथुरा में नाव में बैठ कर यमुना की सैर कर रहा था, तब अहेरियों ने उसे सूचना दी कि पास के जंगल में एक शेरनी अपने तीन बच्चों के साथ मौजूद है । वह नाव से उतर कर जंगल में गया और वहाँ उसने शेरनी को मार कर उसके बच्चों को जीवित पकड़वा लिया था । उस अवसर पर जहाँगीर ने अपने जन्म–दिन का उत्सव भी मथुरा में ही मनाया था । उसके जीवन के तब ५६ वर्ष पूरे हुए और ५७ वाँ वर्ष आरंभ हुआ था । उसके उपलक्ष में उसने तुलादान किया और बहुत सा दान–पुण्य किया था[3] ।

माला–तिलक पर रोक—जहाँगीर के शासन काल में ब्रज में शांति–भंग होने का एक बड़ा अवसर तब आया, जब शाही आज्ञा से वैष्णवों की कंठी–माला और तिलक पर रोक लगा दी गई थी । मुसलमान हाकिमों ने शाही आदेश के पालनार्थ ब्रज के माला–तिलकधारी वैष्णवों पर अत्याचार करना आरंभ कर दिया था । उसके कारण बहुत से लोगों ने विवश होकर कंठीमाला उतार कर रख दी और तिलक लगाना बंद कर दिया था । जिन्होंने ऐसा करना पसंद नहीं किया, वे मुसलमान हाकिमों की दृष्टि से बचने के लिए ब्रज छोड़ कर अन्य स्थानों में जाने लगे । उस काल में विभिन्न संप्रदायों के अनेक धर्माचार्य तथा उनके हज़ारों शिष्य–सेवक ब्रज के विभिन्न स्थानों में विद्यमान थे; किंतु उस शाही आज्ञा के विरोध करने का किसी को भी साहस नहीं हुआ था । पुष्टि संप्रदाय में यह धार्मिक अनुश्रुति बड़ी प्रसिद्ध है कि गो० गोकुलनाथ जी के प्रयास से जहाँगीर ने वह आज्ञा वापिस लेली थी; जिसके कारण उस काल में वैष्णव संप्रदायों के गौरव की रक्षा हुई थी । यहाँ पर उस घटना का कुछ विस्तार से उल्लेख किया जाता है ।

गोकुलनाथ जी का सफल प्रयास—श्री गोकुलनाथ जी गो० विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र थे । उनकी विद्यमानता का काल सं० १६०८ से सं० १६९७ तक माना जाता है । वे अपने छहों भाइयों की अपेक्षा अधिक विद्वान, व्यवहार कुशल और लोकप्रिय थे । उनके बड़े भ्राता गिरिधर जी (सं० १५९७–सं०१६७७) पुष्टि संप्रदाय के तिलकायत आचार्य अवश्य थे; किंतु

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित्, पृष्ठ ८०६; (२–३) जहाँगीर का आत्मचरित्, पृष्ठ ६१५

संप्रदाय, कुटुंब–परिवार और समाज में गोकुलनाथ जी का ही अधिक प्रभाव था। जब शाही आज्ञा के कारण ब्रज के मुसलमान हाकिमों ने वैष्णवों की कंठीमाला और तिलक के विरुद्ध अपना कठोर अभियान आरंभ किया, तब संघर्ष से बचने के लिए श्री गोकुलनाथ जी अपने परिकर के साथ गोकुल छोड़ कर सोरों नामक तीर्थ स्थान में चले गये थे, जहाँ उनकी बैठक बनी हुई है।

उस काल में जो वैष्णव ब्रज में रहे आये, उनका माला–तिलक के कारण मुसलमान अधिकारियों से प्रायः प्रति दिन झगड़ा होता था। एक बार ३०० शस्त्रधारी राजपूतों ने उस आज्ञा का उल्लंघन किया और वे मरने–मारने पर उतारू हो गये। जब गोकुलनाथ जी ने वह समाचार सुना, तब वे मथुरा आये और उन राजपूत वैष्णवों को शांत किया। फिर उस झगड़े को दूर करने के लिए उन्होंने शाही दरबार में फरियाद करने का निश्चय किया था। उस समय सम्राट जहाँगीर कश्मीर में था। श्री गोकुलनाथ जी ७० वर्ष की वृद्धावस्था में लंबी यात्रा करते हुए कश्मीर पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने बादशाह से मिल कर तिलक–माला के पक्ष में शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत किये और सम्राट अकबर की धार्मिक सहिष्णुता तथा गो० विट्ठलनाथ जी के साथ उसके घनिष्ट संबंध का स्मरण दिलाया। उसके फल स्वरूप जहाँगीर ने अपनी आज्ञा वापिस लेली थी[१]। इस प्रकार सफलता प्राप्त कर जब वे ब्रज में वापिस आये, तब सभी वैष्णवों ने उनका उल्लासपूर्ण स्वागत किया था। वे हर्ष पूर्वक 'जय जय श्री गोकुलेश' कह कर उनका जय–जयकार करने लगे। यह जय–ध्वनि तभी से बल्लभ संप्रदाय में प्रचलित हुई है। पुष्टि संप्रदायी उल्लेखों के अनुसार जहाँगीर ने उक्त आज्ञा सं० १६७४ में जारी की थी और १६७७ में उसे वापिस लिया था[२]।

उक्त घटना का उल्लेख उस काल के किसी फ़ारसी ग्रंथ में नहीं मिलता है; किंतु बल्लभ संप्रदायी साहित्य के साथ ही साथ तत्कालीन अनेक कवियों की रचनाओं में भी उसका विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। गोकुलनाथ जी के शिष्य व्यारा वाला गोपालदास द्वारा सं० १६९९ में रचे हुए 'मालोद्धार' काव्य में तथा कल्याण भट्ट कृत 'कल्लोल' (रचना काल सं० १६८५–९३) में उक्त घटना का विस्तृत वर्णन हुआ है[३]। गोकुलनाथ जी के सेवक जिस प्रसिद्ध नामक कवि ने उसका छंदोबद्ध कथन किया था, उसके १९ छंद पुराने संग्रहों में से खोज कर डा० भवानीशंकर याज्ञिक द्वारा प्रकाशित किये गये हैं[४]। जिन अन्य कवियों ने उस घटना का कथन किया है, उनमें प्राणनाथ, वृंदाबनदास, बिहारी, श्रीपति, शेख, गहरगोपाल और खेम के नाम उल्लेखनीय हैं[५]। श्री गोकुलनाथ जी की जन्म–बधाई के एक बड़े पद में भी उसका उल्लेख किया गया है। उस पद की आरंभिक पंक्ति इस प्रकार है,—"जयति विट्ठल–सुवन प्रकट बल्लभ बली, प्रबल पन करी तिलक–माल राखी[६]।"

---

(१) **पुष्टिमार्ग नो इतिहास**, (गुजराती) पृष्ठ ७९, १०१, १०६

(२) **अष्टछाप–परिचय**, पृष्ठ ७६–७७

(३) **वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास** (गुजराती), पृष्ठ २६९ की टिप्पणी

(४) **समिति वाणी**, वर्ष १ अंक २, पृष्ठ २९–३४

(५) **वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन**, पृष्ठ ३८५–३८७

(६) **लेखक के निजी हस्त लिखित संग्रह से**

गोसाईं जदरूप की प्रेरणा—बल्लभ संप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है, जहाँगीर ने वैष्णवों की कंठीमाला श्रौर उनके तिलक पर जो रोक लगायी थी, उसकी प्रेरणा गोसाईं जदरूप (चिद्रूप) नामक एक दंडी संन्यासी से उसे मिली थी। जहाँगीर की श्रात्म कथा से ज्ञात होता है, गोसाईं जदरूप पहिले उज्जैन के निकटवर्ती बन की एक गुफा में तपस्या करता था श्रौर बाद से वह मथुरा श्राकर यमुना के किनारे भजन करने लगा था। जहाँगीर ने सं० १६७३ श्रौर १६७५ में उज्जैन में तथा सं० १६७६ में मथुरा में उससे कई बार भेंट की थी। वह उसकी विद्वता, त्याग वृत्ति श्रौर तपस्या से बड़ा प्रभावित हुश्रा था। उसके उल्लेखों से ज्ञात होता है, उस संन्यासी से सत्संग करने में जहाँगीर को इतनी शांति श्रौर इतना श्रानंद मिलता था कि जब उसे श्रवसर मिलता, तभी वह उससे मिल कर ज्ञान–चर्चा किया करता था[1]।

जहाँगीर के उल्लेखों में एक शब्द भी ऐसा नहीं है, जिससे सिद्ध हो सके कि संन्यासी जदरूप ने वैष्णवों की कंठीमाला श्रौर उनके तिलक पर रोक लगाने के लिए कभी कुछ कहा हो। उस जैसे तपस्वी संत से यह श्राशा भी नहीं की जी जा सकती है कि वह सांप्रदायिक ईर्ष्या–द्वेष से प्रेरित होकर कोई ऐसी बात कहेगा। फिर जहाँगीर की धार्मिक नीति से भी उस घटना की संगति नहीं होती है। इसलिए डा० हरिहरनाथ टंडन ने उक्त घटना की श्रालोचना करते हुए लिखा है कि उसका संबंध जहाँगीर की श्रपेक्षा शाहजहाँ से हो सकता है; क्यों कि उसी ने हिंदुश्रों के पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार रोक कर एक बार सारे उत्तर भारत की शांति भंग कर दी थी[2]। हमारे मतानुसार उक्त घटना का संबंध शाहजहाँ से जोड़ने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। इस विषय के साहित्यिक उल्लेखों में स्पष्ट रूप से जहाँगीर का नाम श्राया है; शाहजहाँ का नाम किसी में नहीं है। फिर उस घटना को जिस जदरूप संन्यासी की प्रेरणा से होना बतलाया गया है, वह जहाँगीर के काल में ही हुश्रा था। जहाँगीर ने उससे प्रभावित होने का उल्लेख स्वयं श्रपने श्रात्मचरित में किया है। ऐसी दशा में उस घटना का जहाँगीर के काल में ही होना संभव है।

जहाँगीर के श्रात्मचरित से ज्ञात होता है कि संत जदरूप ने एक बार उससे उस काल के प्रचलित सेर के दामों में परिवर्तन करने को कहा था[3]। संतों की विचित्र बातें होती हैं। वे बड़ी से बड़ी बात पर प्राय: ध्यान नहीं देते हैं; किंतु छोटी–छोटी बातों पर कभी–कभी बहुत जोर देते हैं। जब सेर के दाम बदलवाने जैसी तुच्छ सांसारिक बात के लिए संत जदरूप बादशाह से कह सकता था, तब यह समझा जा सकता है कि वैष्णव भक्तों के श्राचार–विचार श्रौर वेश–भूषा के संबंध में बादशाह से चर्चा करते हुए कदाचित उसने कंठीमाला श्रौर तिलक के प्रति भी श्रपना भिन्न मत प्रकट किया हो। जदरूप वेदांती संन्यासी था, श्रत: वैष्णवों के वाह्याचार के प्रति उसका श्रसहमत होना स्वाभाविक था। संभव है माला–तिलक पर रोक लगाने के लिए उसने स्वयं न कहा हो श्रौर बादशाह ने ही उसके विचारों के समर्थन में वह श्राज्ञा प्रचारित कर दी हो। कारण कुछ भी रहा हो; किंतु वह घटना श्रवश्य हुई जान पड़ती है। उसका प्रतिकार गोकुलनाथ जी के श्रदम्य साहस से ही संभव हो सका था।

---

(१) **जहाँगीर का श्रात्मचरित**, पृष्ठ ४१७–४१६; **उज्जयिनी दर्शन**, पृष्ठ १०१–१०२

(२) **वार्ता साहित्य : एक बृहत् श्रध्ययन**, पृष्ठ ३६३

(३) **जहाँगीर का श्रात्मचरित**, पृष्ठ ६१८; **उज्जयिनी दर्शन**, पृष्ठ १०२

राजा वीरसिंह और मथुरा का केशव-मंदिर—जहाँगीर के शासन काल में ब्रज की एक महत्वपूर्ण घटना मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर श्री केशवराय जी के नये मंदिर का निर्माण होना है । उसका निर्माता ओड़छा का बुंदेला राजा वीरसिंह था, जो जहाँगीर का अत्यंत कृपापात्र सामंत था । वह ओड़छा के भक्त–राजा मधुकरशाह (सं० १६११–१६५०) का पुत्र और रामशाह का छोटा भाई था । सम्राट अकबर के शासन काल में रामशाह ओड़छा का राजा और मुगल दरबार का सामंत था । उसका भाई वीरसिंह बड़ा तेजस्वी और महत्वाकांक्षी युवक था । वह रामशाह को हटा कर स्वयं ओड़छा की गद्दी पर बैठना चाहता था; किंतु सम्राट अकबर उसकी इच्छा में बाधक था । फलतः उसने रामशाह और अकबर दोनों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था । उन दिनों युवक जहाँगीर ने भी अपने पिता अकबर से विरोध कर रखा था; अतः उसने वीरसिंह को अपनी ओर मिला लिया । जहाँगीर की धारणा थी कि अबुलफज़ल उसके विरुद्ध अकबर के कान भरा करता है; अतः उसने वीरसिंह को ओड़छा राज्य का प्रलोभन देकर उसके द्वारा अबुलफज़ल का बध करा दिया था ।

जब अकबर की मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर बादशाह हुआ, तब उसने अपने वचन के अनुसार रामशाह को हटा कर वीरसिंह को ओड़छा का राजा बना दिया था । मुगल सम्राट जहाँगीर का कृपापात्र होने के कारण वीरसिंह ने ओड़छा राज्य की बड़ी उन्नति की थी । उसने अपनी योग्यता और शासन–कुशलता से इतनी लोकप्रियता प्राप्त की थी कि लोग उसके आरंभिक जीवन के उद्धत कार्यों को, यहाँ तक कि अबुलफज़ल के बध को भी, भूल गये थे । किंतु स्वयं वीरसिंह उसे नहीं भूल सका था । वह समझता था कि उसने अपने स्वार्थ के लिए एक निरपराध विद्वान का बध कर भारी पाप किया है । उसके प्रायश्चित के लिए वह जीवन पर्यंत अनेक दान-पुण्य और धार्मिक कृत्य करता रहा था ।

'श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव' और 'ओड़छा स्टेट गज़ेटियर' से ज्ञात होता है कि वीरसिंह ने सं० १६७१ में ब्रज–यात्रा की थी । उस अवसर पर उसने मथुरा के विश्रामघाट पर अपनी सोने की तुला कराई थी । तुला में अपने भार बराबर स्वर्ण–दान के साथ ही साथ उसने ८१ मन सोने का और भी धर्मार्थ संकल्प किया था ! उस विशाल स्वर्ण–राशि के धन से विविध स्थानों में ५२ भवन एक साथ बनवाये गये थे । उन सब का शिलान्यास एक ही मुहूर्त्त—सं० १६७५ की माघ शु० ५ रविवार को हुआ था[१] । उन ५२ भवनों में मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर निर्मित श्री केशवराय जी का मंदिर भी था, जो वीरसिंह के निर्माण कार्यों में सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्वपूर्ण था ।

श्री केशवराय जी का मंदिर—मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर कन्नौज के युवराज विजयपाल ने सं० १२०७ में जो मंदिर बनवाया था, उसे सिकंदर लोदी ने सं० १५७३ में नष्ट कर दिया था । उसके बाद वहाँ ओड़छा–नरेश वीरसिंह द्वारा सं० १६७५ में बनवाये गये मंदिर का ही इतिहास में उल्लेख मिलता है । उससे यह समझा जाता है कि प्रायः एक शताब्दी तक वहाँ कोई मंदिर नहीं था । सिकंदर लोदी की मृत्यु के पश्चात् बाबर, हुमायू और शेरशाह के काल में जिस उदार धार्मिक नीति का सूत्रपात हुआ था, उससे ब्रज का वातावरण ही बदल गया था ।

---

(१) **ओड़छा स्टेट गजेटियर**, पृष्ठ ३ और २२

उस काल में जहाँ श्री वल्लभाचार्य जी की प्रेरणा से गोबर्धन में श्रीनाथ जी का मंदिर पूर्ण हुआ था और श्री हित हरिवंश जी द्वारा वृंदाबन में श्री राधाबल्लभ जी का पाटोत्सव किया गया था; वहाँ मथुरा का कृष्ण–जन्मस्थान जैसा महत्वपूर्ण प्राचीन स्थल सूना रहा हो, यह समझ में आने वाली बात नहीं है।

वल्लभ संप्रदायी वार्ता साहित्य में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अकबर के शासन काल से पहिले ही मथुरा में श्री केशव भगवान् का मंदिर था और वहाँ ठाकुर-सेवा होती थी। श्री वल्लभाचार्य जी के सेवक गोविंददास भल्ला और बाबा वेणु की वार्ताओं में लिखा है कि उन्होंने मथुरा में श्री केशवराय जी के मंदिर में ठाकुर-सेवा की थी और वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था[१]। श्री अगरचंद नाहटा ने रामानंदी भक्त–कवि सासदास कृत 'भगति भावती' नामक एक रचना का उल्लेख किया है। उसकी पुष्पिका में लिखा गया है, सासदास ने सं० १६०९ की आश्विन कृ० ११ रविवार को मथुरा में परिक्रमा की थी और 'केशवालय' में रात्रि–जागरण किया था। उस दिन छह प्रहर अर्थात् १८ घंटों में उसने 'भगति भावती' पुस्तिका की रचना कर उसे केशव भगवान् के अर्पित किया था[२]। उससे भी यही सिद्ध होता है कि अकबर के शासन काल से पहिले मथुरा में केशवराय जी का मंदिर विद्यमान था।

सम्राट अकबर ने ब्रज में मंदिर–निर्माण करने की खुली छूट दी थी, जिसके कारण सं० १६२० के वाद गोकुल, वृंदाबन और गोवर्धन में अनेक बड़े–बड़े मंदिर बनाये गये थे। उस समय मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर भी श्री केशवराय जी का कोई मंदिर अवश्य रहा होगा, चाहें वह छोटा देवालय ही हो। उसकी पुष्टि गो० विट्ठलनाथ जी के सेवक गोविंदस्वामी की वार्ता से होती है। वार्ता में लिखा है, एक बार विट्ठलनाथ जी गोविंदस्वामी के साथ गोकुल से मथुरा गये थे। वहाँ उन्होंने श्री केशवराय जी के मंदिर में जा कर दर्शन किये थे। उस समय गर्मी का मौसम होते हुए भी ठाकुर जी को शीत काल के से भारी वस्त्र धारण कराये गये थे, जिससे गोविंदस्वामी ने व्यंगोक्ति की थी[३]। उस घटना का काल सं० १६२८ से १६४२ तक के बीच का हो सकता है; क्यों कि सं० १६२८ से श्री विट्ठलनाथ जी गोकुल में स्थायी रूप से रहने लगे थे और सं० १६४२ में उनका देहावसान हुआ था।

ओड़छा के राजा वीरसिंह ने जहाँगीर के काल में कृष्ण–जन्म स्थान के उस छोटे और जीर्ण देवालय के स्थान पर एक अत्यंत विशाल और कलापूर्ण मंदिर बनवाया था। उसके निर्माण की कथा और उसके कलात्मक रूप का वर्णन वीरसिंह के राजकवि और उस मंदिर के निर्माण कार्य के निरीक्षक श्री मित्र मिश्र कृत 'आनंदकंद चम्पू', बुंदेली कवि प्रतीतराय लक्ष्मणसिंह कृत 'श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव' और 'ओड़छा स्टेट गजेटियर' में वर्णित है। जिन देशी–विदेशी यात्रियों ने उस मंदिर को समय–समय पर देखा था, उन्होंने भी उसका प्रशंसात्मक उल्लेख किया है।

---

(१) 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में गोविंददास भल्ला की वार्ता, प्रसंग २ तथा बाबा बेणु की वार्ता, प्रसंग १

(२) ब्रजभारती, वर्ष १३ अंक ३

(३) 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में गोविंदस्वामी की वार्ता, प्रसंग १७

उक्त मंदिर के निर्माण–निरीक्षक मित्र मिश्र ने उसके भव्य रूप का कलात्मक वर्णन करते हुए लिखा है,—"वह मंदिर पर्वत के समान विशाल, सुदृढ़ और ऊँचे शिख़र वाला था; जिस पर केसरिया ध्वजा फहराती थी। उसके शिखर में अनेक आले बने हुए थे, जिन पर हजारों कबूतरों का आवास था। जिस समय वे कबूतर वहाँ से एक साथ उड़ कर आकाश पर छा जाते थे, तब बड़ा ही सुहावना दृश्य दिखलाई देता था। देवमूर्ति का स्थान चारों ओर से बंद था, जिससे वह 'गुहा मंदिर' सा जान पड़ता था। मंदिर में सर्वत्र सुंदर नक्काशी और बढ़िया चित्रकारी की गईं थी[१]।"

वह मंदिर इतना विशाल और भव्य था कि उसे देखने के लिए प्रति वर्ष अनेक यात्री मथुरा आया करते थे। उनमें से कई यात्रियों के नाम और मंदिर के संबंध से लिखे हुए उनके विवरण उपलब्ध हैं। एक फ्रेंच यात्री टेर्वानियर ने सं० १७०७ में, दूसरे यूरोपियन यात्री बर्नियर ने सं० १७२० में तथा एक बीकानेरी सेठ ने सं० १७१३ में उस मंदिर के दर्शन कर अपने वृत्तांत लिखे थे। एक इटालियन यात्री मनूची का भी उसके संबंध में लिखा हुआ विवरण मिलता है। टेर्वानियर ने उसके संबंध में लिखा है,—"यह मंदिर भारत भर के अत्यंत उत्कृष्ट मंदिरों में से एक है।...यह इतना विशाल है कि नीची जगह में अवस्थित होते हुए भी ५–६ कोस की दूरी से दिखाई पड़ता है। मंदिर की इमारत बहुत ही ऊँची और भव्य है[२]।" मनूची ने लिखा है,—"इसका स्वर्णाच्छादित शिखर इतना ऊँचा था कि वह १८ कोस दूर आगरा से भी दिखाई पड़ता था[३]।" जन्माष्टमी की रात्रि में जब उसके शिखर के चारों ओर बने हुए आलों में हज़ारों दीपक जलाये जाते थे, तब उनकी ज्योति से झिलमिलाता हुआ वह स्वर्ण मंडित शिखर गले हुए स्वर्ण पुंज के सदृश दिखलाई देता था। उसका वह भव्य रूप हज़ारों-लाखों नर–नारियों द्वारा बड़ी दूर से कौतुहल पूर्वक देखा जाता था। उसकी विशालता का अनुमान आगरा किले की तुलना से किया जा सकता है। उस काल में उस किले के बनवाने में ३० लाख रुपया लगा था, जब कि मथुरा के उस मंदिर की लागत ३३ लाख आई थी। वह विशाल, भव्य और कलापूर्ण देव-स्थान बाद में औरंगजेब के शासन–काल में नष्ट कर दिया गया था। इस समय उसका वह कौतुहलोत्पादक वृत्तांत ही शेष रह गया है।

कतिपय इतिहासकारों ने उस मंदिर का निर्माण काल सं० १६७० (सन् १६१३) लिखा है[४]; किंतु हमारे मतानुसार वह उससे कुछ काल बाद में बना था। 'श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव' और 'ओड़छा स्टेट गजेटियर' के अनुसार उक्त मंदिर का शिलान्यास सं० १६७५ में हुआ था[५]। उस जैसे विशाल मंदिर के बनने में कम से कम ५ वर्ष अवश्य लगे होंगे; अतः उसका निर्माण–काल सं० १६८० मानना उचित होगा।

---

(१) **आनंदकंद चम्पू, अष्टम उल्लास,** श्लोक सं० ७१ से ९४ तक

(२) **पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ,** पृष्ठ ८३४

(३) **मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोअर,** पृष्ठ ११८

(४) **श्री कृष्ण–जन्मस्थान का इतिहास** (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ ८

(५) **ओड़छा स्टेट गजेटियर,** पृष्ठ ३

अंतिम काल और मृत्यु—जहाँगीर ने अपने उत्तर जीवन में शासन का समस्त भार नूरजहाँ को सोंप दिया था। वह स्वयं शराब पीकर निश्चिंत पड़े रहने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता था। शराब की बुरी लत और ऐश–आराम के रहन–सहन ने उसकी काया को इतना निकम्मा कर दिया था कि वह कोई महत्वपूर्ण कार्य कर ही नहीं सकता था। सौभाग्य से अकबर के काल में मुगल साम्राज्य की नींव इतनी दृढ़ता पूर्वक रखी गई थी कि जहाँगीर के निकम्मेपन से उसमें कोई खास कमी नहीं आई थी। अपने पिता द्वारा स्थापित नीति और परंपरा का पल्ला पकड़े रहने से जहाँगीर अपने शासन–काल के २२ वर्ष बिना खास झगड़े–झंझटों के प्राय: सुख–चैन से पूरे कर गया था। नूरजहाँ अपने सौतेले पुत्र खुर्रम को नहीं चाहती थी। इसलिए जहाँगीर के उत्तर काल में खुर्रम ने दो-एक बार विद्रोह भी किया था; किंतु वह असफल रहा था।

सं० १६८४ में जब जहाँगीर कश्मीर से वापिस आ रहा था, तब लाहौर के निकट उसकी मृत्यु हो गई थी। उस समय उसकी आयु ५८ वर्ष की थी। उसे लाहौर के समीपस्थ शाहदरा के रमणीक उद्यान में दफ़नाया गया था। बाद में वहाँ उसका सुंदर मकबरा बना था। जिस समय जहाँगीर की मृत्यु हुई, उस समय खुर्रम दक्षिण में था। उस समाचार को सुनते ही वह दल–बल सहित कूँच करता हुआ आगरा आ पहुँचा। उसने अपने को सम्राट घोषित किया और शाहजहाँ के नाम से मुगल–साम्राज्य का संचालन करने लगा।

शाहजहाँ (शासन काल सं० १६८४ से सं० १७१५ तक)—

प्रारंभिक काल और प्रशासन—शाहजहाँ सम्राट जहाँगीर का छोटा पुत्र था, जो अपने पिता के पश्चात् मुगल सम्राट हुआ था। उसका जन्म सं० १६४६ (५ जनवरी, सन् १५६२) में लाहौर में हुआ और उसका आरंभिक नाम खुर्रम था। वह बड़ा कुशाग्रबुद्धि, वीर, कलाप्रिय और बड़े ठाट–वाट का बादशाह था। चूँकि जहाँगीर अपने ज्येष्ठ पुत्र खुसरो से उसकी राज्य-प्राप्ति की महत्वाकांक्षा के कारण बड़ा असंतुष्ट रहता था, अत: खुर्रम को ही जहाँगीर का उत्तराधिकारी समझा जाता था। उसका विवाह नूरजहाँ की भतीजी और आसफखाँ की पुत्री अरजुमंद बानू से सं० १६६६ में हुआ था। वही बाद में मुमताल महल के नाम से उसकी प्रियतमा बेगम हुई थी। उस समय वह २० वर्ष का युवा था; किंतु उसी आयु में वह राज्य का एक शक्तिशाली स्तंभ समझा जाता था। फिर उस विवाह के कारण उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। नूरजहाँ, आसफखाँ और उनका पिता एतमादुद्दौला, जो जहाँगीरी शासन के कर्ता–धर्ता थे, शाहजहाँ के समर्थक हो गये थे।

जब नूरजहाँ की पुत्री, जो उसके पूर्व पति शेरअफगन से उत्पन्न हुई थी, खुर्रम के छोटे भाई शहरयार को विवाही गई, तब नूरजहाँ खुर्रम की अपेक्षा शहरयार की पक्षपातिनी हो गई थी। उसके कारण जहाँगीर के हरम में ही दो गुट बन गये थे—एक खुर्रम का और दूसरा शहरयार का। उन दोनों गुटों की प्रतिद्वंदिता से प्रशासन में बड़ी गड़बड़ पैदा हो गई थी। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् खुर्रम के गुट की जीत हुई और शहरयार को गिरफ्तार कर अंधा बना दिया गया। उस समय नूरजहाँ का प्रभाव समाप्त हो गया था और उसे लाहौर में अपना अंतिम जीवन शांति पूर्वक बिताने के लिए विवश किया गया था। खुर्रम बड़ी धूमधाम से सं० १६८४ में जहाँगीर के नाम से मुगल सम्राट हो गया।

शाहजहाँ के काल में मुगल साम्राज्य की समृद्धि, शान–शौकत और ख्याति चरम सीमा पर पहुँच गई थी। उसके दरबार में देश–विदेश के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति आते रहते थे, जो उसके वैभव, रौब–दौब और ठाट-वाट को देख कर चकित रह जाते थे। उसके शासन का अधिकांश काल सुख–शांति से बीता था, अतः उसके राज्य में खुशहाली और बहबूदी रही थी। उसके शासन की सबसे बड़ी देन उसके द्वारा निर्मित सुंदर, विशाल और भव्य भवन हैं। उस प्रकार का निर्माण कार्य वही बादशाह कर सकता है, जिसके राज्य में सुख–शांति हो, युद्ध एवं शत्रु का भय न हो, और जिसके राजकोश में अपार धन हो। शाहजहाँ को वे सब सुविधाएँ प्राप्त थीं।

निर्माण–कार्य—शाहजहाँ का नाम उसके द्वारा निर्मित भवनों के कारण इतिहास में प्रसिद्ध है। उक्त भवनों में आगरा का ताजमहल सर्वश्रेष्ठ है, जो अपनी भव्यता और सुंदरता के लिए संसार भर में विख्यात रहा है। उसके अतिरिक्त आगरा क़िला की सुंदर मसजिद, दिल्ली का सुप्रसिद्ध लाल किला और उसके अंतर्गत दीवाने–आम, दीवाने–ख़ास, मोती महल, मोती मसजिद तथा विशाल जामा मसजिद उसके स्थापत्य प्रेम की अमर यादगार हैं। शाहजहाँ की एक फतहपुरी बेगम ने दिल्ली में फतहपुरी मसजिद बनवाई थी। उसकी पुत्री जहानआरा बेगम ने आगरा किले के पास जामा मसजिद का निर्माण सं० १७०६ में कराया था। ये सभी इमारतें मुगल वास्तु कला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। कश्मीर का शालीमार बाग़ शाहजहाँ की उद्यान प्रियता का अच्छा उदाहरण है। उसका राजसिंहासन 'तख़्त ताऊस' उसकी समृद्धि और कलाभिरुचि का अनुपम प्रतीक था। शाहजहाँ के निर्माण कार्यों में 'ताजमहल' और 'तख़्त ताऊस' की अधिक प्रसिद्धि है, अतः उनका कुछ विशद वर्णन किया जाता है।

ताजमहल—आगरा का ताजमहल ऐसी भव्य और उत्कृष्ट इमारत है कि इसकी गणना संसार के सप्त आश्चर्यों में की जाती है। इसे शाहजहाँ ने अपनी प्रिय बेगम मुमताज महल के मरने पर उसकी स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए बनवाया था। इसके निर्माण का आरंभ सं० १६८८ में हुआ और १८ वर्ष के अथक परिश्रम के उपरांत इसे सं० १७०५ में पूरा किया गया था। कहते हैं, २० हज़ार कारीगर इसके बनाने में लगे थे! उन लोगों की वहाँ एक बस्ती ही बस गई थी, जिसे अब 'ताजगंज' कहा जाता है।

सफ़ेद संगमरमर से बनी हुई इस अद्भुत इमारत को एक सुंदर उद्यान के बीच में ऊँचे चबूतरे पर बड़े कलात्मक ढंग से बनाया गया है। चबूतरे के चारों ओर गगन चुंबी चार मीनारें हैं और बीच में सुंदर गुम्मजदार विशाल मकबरा है। इसकी संगतराशी, पच्चीकारी और नक्काशी को देख कर दर्शक आश्चर्य से चकित रह जाता है। यद्यपि इसे बने हुए तीन सौ वर्ष से अधिक हो गये, तब भी यह ऐसा मालूम होता है, मानो अभी बन कर तैयार हुआ हो! शरद पूर्णिमा की रात में इसकी आभा और भी खिल उठती है। तब इसका स्वच्छ श्वेत रूप परी लोक के दृश्य को भी मात करता है! उस समय इसके सौन्दर्य की झांकी करने के लिए हज़ारों नर–नारी एकत्र होते हैं। यह मुगल सम्राट शाहजहाँ के पत्नी–प्रेम का उज्ज्वल प्रतीक है। इसीलिए इसे 'संगमरमर का एक प्रणय–गीत' भी कहा गया है।

इसके निर्माण में उस काल के जग विख्यात वास्तु विशेषज्ञों ने योग दिया था। प्रमुख शिल्पियों की संख्या ३८ थी, जिनकी देख–रेख में कई हज़ार संगतराश और कारीगर नियुक्त थे।

आगरा निवासी उस्ताद ईसाखाँ प्रमुख निर्माता और प्रधान शिल्पी था । उस्ताद पीरां प्रधान मिस्त्री तथा भट्टमल और जोरावर प्रमुख संगतराश थे । अमानतखाँ शीराजी नक्काशी तथा रायमल काश्मीरी और चिरंजीलाल पच्चीकारी के माहिर थे । इसका वास्तु शिल्प भारतीय और ईरानी कलाओं का मिश्रण है, जो मुगल स्थापत्य शैली की विशेषता मानी जाती है । जब यह बन कर तैंयार हो गया, तब इसे देख कर शाहजहाँ इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने लिए भी संगमूसा (कीमती काले संगमरमर) का वैसा ही मकबरा बनवाने का निश्चय किया था; किंतु उसकी वह मनोभिलाषा पूरी नहीं हो सकी थी ।

इसके निर्माता के रूप में शाहजहाँ का नाम जग ज़ाहिर है; किंतु अब इसकी सत्यता में संदेह किया जाने लगा है । संदेह का मुख्य कारण यह है कि ऐसी अनुपम और अपार व्यय-साध्य शाही इमारत के निर्माण का लेखा–जोखा उस समय के सरकारी काग़ज–पत्रों में नहीं मिलता है । वर्तमान काल के कुछ शोधक विद्वानों का मत है कि इसका मूल निर्माता शाहजहाँ नहीं था, बल्कि राजा मानसिंह अथवा उसके उत्तराधिकारी कछवाहा नरेश थे, जो मुगल दरबार के सबसे बड़े स्तंभ माने जाते थे । सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री पी० एन० ओक ने इस मत के समर्थन में कई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये हैं । उनका कथन है, यदि इसे मूल रूप में मुसलमानी मकबरा की तरह बनाया गया होता, तब इसकी वास्तु शैली में हिंदू प्रतीकों और उनके अंगीभूत लक्षणों का इस प्रकार समावेश नहीं होता । इसके फर्श और दीवारों पर जो घनी समुज्ज्वल शंखक सजावट है, वह भी न होती । इससे सिद्ध होता है कि यह मूल रूप में एक हिंदू इमारत है । श्री ओक की स्थापना है, ताजमहल पहिले राजा मानसिंह के परिवार का राजमहल था । अकबर के बाद मानसिंह और उसके वंशजों का प्रभाव कम हो गया था । तब शाहजहाँ ने मुमताज महल की मृत्यु बहाने से उस पर अधिकार कर लिया था और उसके रूप में कुछ परिवर्तन कर उसे राजमहल के बजाय मक़बरा बना दिया था[1] ।

उपर्युक्त मत को पूर्णतया स्वीकार करना कदापि संभव नहीं है; किंतु यह एक दम कपोलकल्पित भी नहीं मालूम होता है । उस काल के सरकारी काग़ज़ों में ही लिखा गया है कि जिस भूमि पर ताजमहल बना है, उसको शाहजहाँ ने राजा मानसिंह के वंशज मिर्ज़ा राजा जयसिंह से प्राप्त किया था । संभव है, उस भूमि पर उक्त राजाओं का महल भी रहा हो, जिसे शाहजहाँ ने पुनर्निर्मित कर ताजमहल का रूप प्रदान किया था । शाहजहाँ के समकालीन मुल्ला हमीद लाहौरी ने इसके निर्माण का व्यय केवल ५० लाख रुपया लिखा है ! ताजमहल जैसी महान् कलाकृति के निर्माण पर इतनी कम लागत तभी आ सकती थी, जब वह पूरी तरह शाहजहाँ द्वारा न बनवायी गई हो । किंतु उसका एक दूसरा कारण भी हो सकता है । उसी काल के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उसके निर्माण में हिंदू राजाओं और मुसलमान ओहदेदारों ने पुष्कल धन प्रदान किया था । उसके लिए संगमरमर और दूसरा पाषाण अधिकतर सरकारी कर या भेंट के रूप में निःशुल्क प्राप्त हुआ था । इस प्रकार यह निश्चित है कि उसके निर्माण में जितनी लागत आई थी, उसका थोड़ा अंश ही सरकारी ख़ज़ाने से दिया गया था । ऐसी दशा में शाहजहाँ को इसके निर्माण के श्रेय से पूरी तरह वंचित करना उचित नहीं है ।

---

(१) **मुस्लिम स्मारकों के असली निर्माता कौन ?** (साप्ताहिक भारत का उल्लेख)

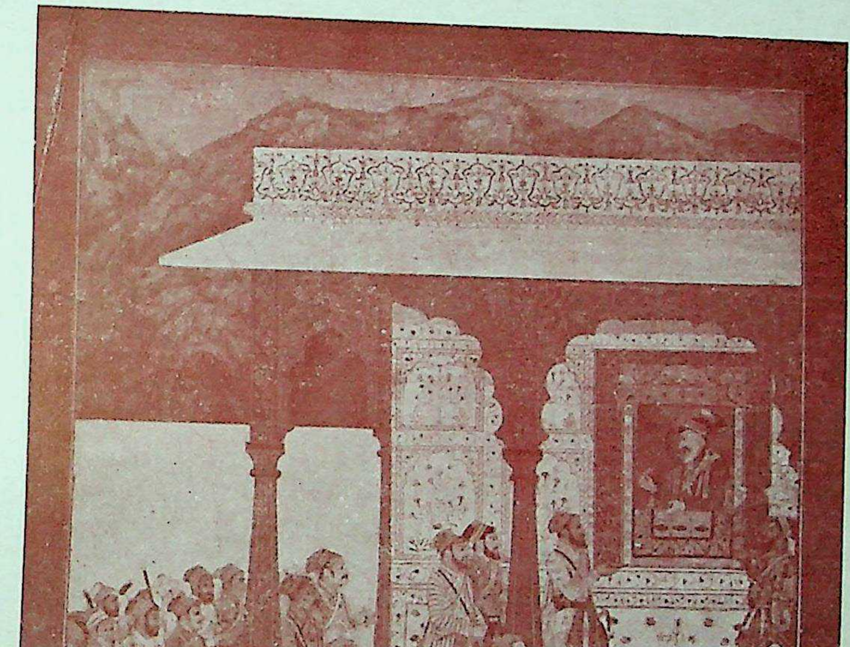

शाहजहाँ का दरबार

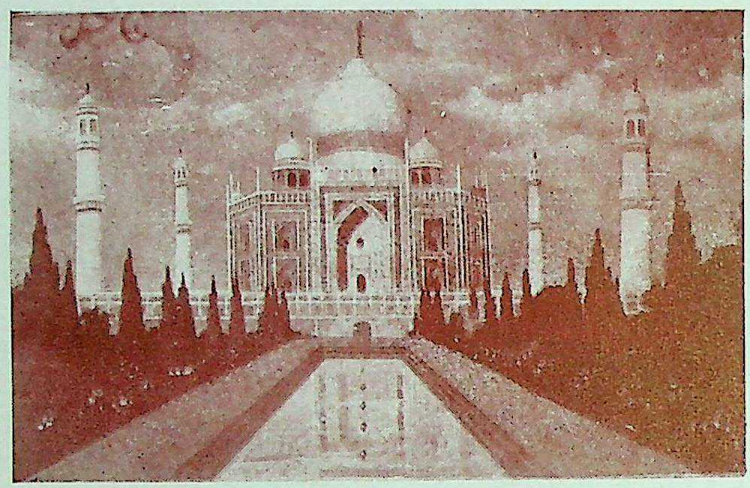

ताजमहल

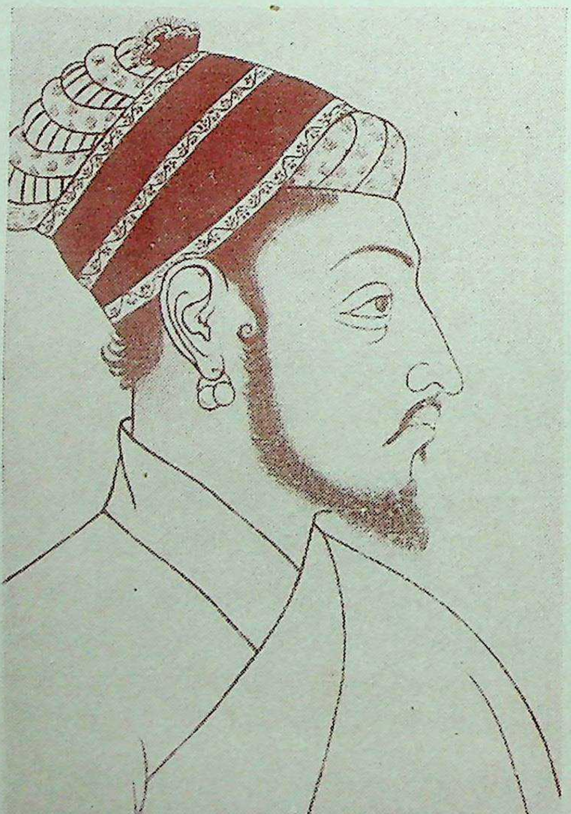

दारा शिकोह

तख्त ताऊस—वह शाहजहाँ का सुप्रसिद्ध राजसिंहासन था। उसे नाँचते हुए मोरों की आकृति का बनाया गया था, इसीलिए उसका नाम 'तख्त ताऊस' (मयूर सिंहासन) रखा गया था। कहते हैं, उसके रूप की प्रेरणा जैन धर्म के एक आख्यान से प्राप्त की गई थी, जिसमें किसी प्राचीन राजा के 'मयूर यान' का उल्लेख हुआ है। शाहजहाँ जैसी शान-शौकत का बादशाह था, उसी के अनुरूप उसने अपना तख्त भी बनवाया था। बादशाही शान ताज और तख्त से ही तो है! विगत सुलतानों और बादशाहों द्वारा लूट तथा भेंट में प्राप्त अपार स्वर्ण एवं अगणित बहुमूल्य रत्नों से शाहजहाँ का जो राजकोश भर गया था, उसका उपयोग उसने उस तख्त के निर्माण में किया था! उसके भव्य रूप का जो आश्चर्यजनक वर्णन मिलता है, उसका सारांश यहाँ दिया गया है।

वह तख्त ३॥ गज लंबा, २ गज चौड़ा और ५ गज ऊँचा था। उसके २-२ गज ऊँचाई के ६ पाये थे, जो ठोस सोने के बनाये गये थे और जिन पर हीरा-जवाहरात जड़े थे। तख्त की छत गोलाकार थी, जिसकी महरावों पर नाना रंगों के रत्न बड़े कलात्मक ढंग से लगाये गये थे। उसमें भीतर और बाहर सभी जगह अद्भुत मीनाकारी और पच्चीकारी की गई थी। मध्यवर्ती महराव के बीचोंबीच जवाहरात का एक वृक्ष बनाया गया था, जिसके पत्ते, फूल और फल विभिन्न रंगों के रत्नों से निर्मित थे। वृक्ष के दोनों ओर दो नाँचते हुए मोर बनाये गये थे; जिनके पंखों में नीलम, पन्ना और लाल जड़े हुए थे। उनकी चोंच में बेशक़ीमती मोतियों की मालाएँ थीं। तख्त के चारों ओर, ऊपर और नीचे तथा अंदर की ओर बहुमूल्य मोतियों की लड़ियाँ लटकाई गई थीं। उसके गद्दी-तकिया भी रत्नजटित थे। बड़े तकिया के बीच में एक चमकदार लाल लगाया गया था, जिसकी किरणें चकाचोंध करती थीं। उस पर चढ़ने की जो तीन सीड़ियाँ थीं, वे भी सोने की बनाई गई थीं। उक्त तख्त को इस प्रकार बनाया गया था कि आवश्यकता पड़ने पर उसके कई खंड किये जा सकते थे और फिर उन्हें सरलता से जोड़ा जा सकता था।

उसके निर्माण में जो विविध प्रकार के बहुमूल्य रत्न और सच्चे मोती लगे थे, उनका वज़न ६ मन २० सेर २ छटाँक था! उसमें लगे हुए सोने का वजन ३१ मन २० सेर था! उस समय का मन आजकल के हिसाब से चौदह सेर का होता था। उस काल में उसके रत्नों का मूल्य ८६ लाख रुपया तथा सोने का मूल्य १४ लाख रुपया समझा गया था। कहते हैं, उसको ५ हज़ार कारीगरों ने ७ वर्ष में बनाया था! उन सबकी मज़दूरी तथा स्वर्ण और रत्नों के मूल्य की कुल लागत उस काल में २ करोड़ १४ लाख ५० हज़ार के लगभग आई थी! उसके निर्माण के निरीक्षक प्रधान सुनार का नाम बेबदलखाँ बतलाया गया है। ऐसा अद्भुत तख्त शाहजहाँ से पहिले संसार के किसी राजा-महाराजा ने शायद ही बनवाया हो। परियों की कहानियों में जैसी अद्भुत वस्तुओं का कथन होता है, उनसे भी अधिक विचित्र वह तख्त था।

उसका निर्माण कार्य सं० १६९१ (सन् १६६४) में पूरा हुआ था। शाही ज्योतिषियों ने उस पर बैठने का जो मुहूर्त्त निश्चित किया था, वह ईसवी सन् की गणना के अनुसार ३ फरवरी सन् १६३४ शुक्रवार दिन के ठीक १२ बजे का था। उस पर बैठने के मुहूर्त्त के दिन आगरा के किले में एक बड़ा दरबार किया गया था। उस अवसर पर दरबारियों ने बादशाह को बहुमूल्य भेंट दी थीं और कवियों तथा शायरों ने शाह एवं तख्त की प्रशंसा में कविता और नज़्म पढ़ी थीं।

वह दरबार १० दिनों तक निरंतर होने वाले राग–रंग के बाद समाप्त हुआ था। उस समय बादशाह ने सब दरबारियों को यथा योग्य मनसबें, औहदे, सनदें और तोहफ़े दिये थे तथा दिल खोल कर खूब धन लुटाया था। वह तख़्त शाहजहाँ के काल में सं० १६९१ से लेकर महम्मदशाह के काल में सं० १७९६ तक मुगल सम्राटों के दरबार की शोभा बढ़ाता रहा था। सं०१७९६ में जब नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया था, तब वह मुगल दरबार की अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ 'तख़्त ताऊस' को भी उठा कर ईरान ले गया था। उसके बाद उस तख़्त का क्या हुआ, इसका उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता है।

कलाभिरुचि—शाहजहाँ को स्थापत्य कला के प्रति जितनी अभिरुचि थी, उतनी अन्य कलाओं के प्रति नहीं थी। फिर भी उसके द्वारा विभिन्न कलाओं और विद्याओं को प्रोत्साहन मिला था। अकबर और जहाँगीर के काल में जिन कलाओं का विकास हुआ था, वे शाहजहाँ के काल में भी प्रगति करती रही थीं। उस काल में संगीत की उन्नति के संबंध में एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया गया कि सुप्रसिद्ध गायक बख़्शू के उपलब्ध ध्रुपदों को एकत्र करा कर उन्हें संपादित रूप में 'सहस रस' नामक ग्रंथ में संकलित किया गया था। वह ग्रंथ आजकल भारत में नहीं मिलता है। उसकी एक हस्त-प्रति इंगलेंड की आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी के किंग्स कालेज पुस्तकालय में है[१]।

उस काल में कलाकारों के साथ ही साथ कतिपय साहित्यकारों को भी राजकीय प्रश्रय प्रदान किया गया था। शाहजहाँ के दरबार में फारसी के अतिरिक्त संस्कृत और ब्रजभाषा के भी कई विख्यात कवि थे। उनमें 'रस गंगाधर' और 'गंगा लहरी' के रचयिता सुप्रसिद्ध पंडितराज जगन्नाथ तथा ब्रजभाषा के रीति कालीन कवि चिंतामणि और सुंदर के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजधानी का स्थानान्तरण—सुलतानों के काल में उनके साम्राज्य की राजधानी दिल्ली थी। उनके पश्चात् सूर पठानों तथा मुगल सम्राटों की राजधानी आगरा रही थी। बाबर से लेकर शाहजहाँ के आरंभिक काल तक आगरा को ही भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। सं० १७०५ में शाहजहाँ ने अपनी राजधानी आगरा से हटा कर दिल्ली में क़ायम की थी। उस समय मुगल दरबार का समस्त वैभव दिल्ली में स्थानान्तरित हो गया था। शाहजहाँ का सुप्रसिद्ध तख़्त ताऊस आगरा के क़िले से हटा कर दिल्ली के लाल किले में स्थापित किया गया था। जहाँगीर के आगरा में कम रहने के कारण वहाँ की प्रगति में पहिले से ही शिथिलता आ गई थी। अब राजधानी के स्थानान्तरण से आगरा की प्रगति रुक गई थी, जिसका प्रतिकूल प्रभाव ब्रज की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर भी पड़ा था।

धार्मिक नीति—मुगल सम्राट अकबर ने जिस उदार धार्मिक नीति के कारण अपने शासन में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी, वह कहने को जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में भी जारी रही थी; किंतु उन दोनों में उक्त नीति के प्रति अकबर की सी आस्था नहीं थी। शाहजहाँ में तो इस्लाम के लिए कट्टरता और कुछ हद तक धर्मान्धता भी थी। वह मुसलमानों में सुन्नियों का पक्षपाती और शियाओं के लिए अनुदार था। ऐसी स्थिति में उससे हिंदू धर्म के प्रति सहिष्णु और उदार होने की आशा नहीं की जा सकती थी। उसने एक बार मंदिरों के पुनरुद्धार पर रोक

---

(१) तासी कृत 'हिंदुई साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १३६

लगाने की आज्ञा दी थी, जिससे हिंदुओं में बड़ी खलबली मच गई थी। फिर बड़े–बड़े हिंदू दरबारियों के प्रभाव के कारण उस आज्ञा के पालन पर ज़ोर नहीं दिया गया था। इस प्रकार शाहजराँ ने चाहें खुले–आम हिंदू धर्म के प्रति विरोध भाव प्रकट नहीं किया था; तथापि उसकी धार्मिक नीति ने उसके उत्तराधिकारी औरंगज़ेब के मज़हबी उन्माद के लिए पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत कर दी थी।

ब्रज की स्थिति—शाहजहाँ के काल में ब्रज की स्थिति संतोषप्रद नहीं रही थी। राजधानी का आगरा से स्थानान्तरण और सम्राट की हिंदू धर्म के प्रति अनुदारता ये दो बातें ऐसी थीं, जिन्होंने ब्रज की प्रगति में ही बाधा ही उपस्थित नहीं की, वरन् बिगाड़ का भी सूत्रपात कर दिया था। उस काल में ब्रज के विविध संप्रदायों में कोई ऐसा प्रभावशाली धर्माचार्य नहीं हुआ, जो यहाँ की स्थिति को सुधारने में समर्थ होता। पुष्टि संप्रदाय में श्री गोकुलनाथ के पश्चात् श्री हरिराय जी एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व का विकास शाहजहाँ के काल में ही हो गया था; किंतु उनका कर्तृत्व बाद में औरंगज़ेब के काल में दिखलाई दिया था।

राजकीय प्रशासन की दृष्टि से ब्रज की स्थिति में कोई अंतर नहीं आया था। जिस प्रकार अकबर के काल में यहाँ का प्रशासन एक फौजदार द्वारा होता था, उसी प्रकार शाहजहाँ के काल में भी होता रहा था। उस काल में यहाँ जो फौजदार रहे थे, उनके नाम क्रमशः ईसातार खाँ (सं० १६८६–१६९३), मुर्शिदकुली खाँ (सं० १६९३–१६९६), अल्लावर्दी खाँ (सं० १६९६–१६९८), आज़म खाँ (सं० १६९९–१७०२), मकरावत खाँ (सं० १७०२–१७१०), जफ़र खाँ (सं० १७१५) और कासिम खाँ मिलते हैं। उनमें से ईसातार खाँ ने यमुना पार का ईसापुर गाँव बसाया था, जो बाद में जाटों के काल में हंसगंज कहलाता था। आजिम खाँ का दूसरा नाम मीरमुहम्मद बाकिर अथवा इरादत खाँ भी था। उसने कोसी में 'सराय आज़माबाद' बनवाई थी तथा आज़मपुर और बाकिरपुर गाँव बसाये थे। कुछ लोग सराय आज़माबाद को औरंगज़ेब के पुत्र आज़मशाह द्वारा बनवाई हुई समझते हैं; किंतु यह उनकी भूल है।

दारा शिकोह—शाहजहाँ के चार पुत्र थे, जिनमें दारा शिकोह सबसे बड़ा था। उससे छोटे क्रमशः शुजा, औरंगजेब और मुराद थे। दारा बड़ा होने के कारण राज्य का उत्तराधिकारी था। उसे शाहजहाँ सदैव अपने साथ रखता था और उसी को अपने पश्चात् बादशाह बनाना चाहता था। शुजा, औरंगजेब और मुराद को उसने क्रमशः बंगाल, दक्षिण और गुजरात की सूबेदारी दी थी। दारा प्रायः राजधानी में रहता था और शासन कार्य में अपने पिता को सहयोग देता था। सं० १७११ के बाद से उसका शासन में अधिक हाथ रहा था; इसलिए उस काल में राज्य की धार्मिक नीति में भी कुछ परिवर्तन हुआ था।

दारा उदार प्रकृति का धार्मिक विद्वान था। उसे सूफियों और वेदांतियों से बड़ा प्रेम था। उसने हिंदू धर्म का अच्छा अध्ययन किया था और वह हिंदुओं के प्रति बड़ी सहानुभूति रखता था। उसका दरबार हिंदू पंडितों, कवियों और विद्वानों से भरा रहता था। वह स्वयं भी सूफी विचारों का था। मथुरा का परगना उसकी जागीर में था; अतः उसकी उदार नीति के कारण उस काल में ब्रज की स्थिति में कुछ सुधार दिखलाई दिया था। उसने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर बने हुए श्री केशवराय जी के मंदिर के लिए एक संगीन कटहरा भेंट किया था, जो उसके नाम

से वहाँ लगा दिया गया था। उन्हीं सब कारणों से वह अपने पूर्वज अकबर की तरह ब्रज के हिंदुओं में बड़ा लोकप्रिय हो गया था। यदि वह शाहजहाँ के पश्चात् मुगल सम्राट हो जाता, तो उसके द्वारा ब्रज का बहुत उपकार होता; किंतु दुर्भाग्य से वैसा नहीं हुआ।

शाहजहाँ की बीमारी और उसके पुत्रों का संघर्ष—सं० १७१४ में शाहजहाँ बहुत बीमार हो गया था। उस समय उसके जीने की आशा नहीं रही थी, अतः उसने दारा को अपना विधिवत् उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। दारा भी राजधानी में रह कर अपने पिता की सेवा-सुश्रुषा और शासन कार्य की देख-भाल करने लगा। शाहजहाँ के शेष तीनों पुत्र भी राज्य प्राप्ति के इच्छुक थे। वे अपने पिता की असाध्य बीमारी का समाचार सुन कर अपने-अपने सूबों से सेनाएँ लेकर राजधानी की ओर चल पड़े, ताकि वे राज्य प्राप्ति के संघर्ष में अपने-अपने भाग्य की परीक्षा कर सकें। दारा ने उनका सामना करने के लिए सेना भेज दी। औरंगजेब ने छलपूर्वक मुराद को अपनी ओर मिला लिया और उन दोनों की सम्मिलित फौज ने दारा की सेना को पराजित कर दिया था। फिर उन्होंने शुजा को भी भागने के लिए बाध्य किया। उसके बाद औरंगजेब ने मुराद को धोखे से तेज़ शराब पिला कर उसे बेहोशी की दशा में कैद कर लिया और बीमार पिता को गद्दी से हटा कर स्वयं बादशाह बनने के लिए दिल्ली की ओर चल पड़ा।

दारा का शोचनीय अंत—दारा हताश होकर राजधानी से भाग गया; किंतु उसे शीघ्र ही पकड़ कर औरंगजेब के सन्मुख लाया गया। उसके दोनों बेटे सुलेमान और सिपहर भी गिरफ्तार कर कैदी बना लिये गये थे। इस प्रकार भाग्य के फेर और औरंगजेब की छल-फरेब भरी कुटिल नीति के कारण दारा शिकोह गद्दी से ही वंचित नहीं हुआ, वरन् अपने पुत्रों सहित मार डाला गया। उसे मारने से पहिले बड़ा अपमानित किया गया था! वह और उसके बेटे को हथकड़ी-बेड़ी से जकड़ कर तथा गंदे कपड़े पहिना कर एक बिना हौदे की एवं धूल से सनी हुई हथिनी पर बैठाया गया और फिर उन्हें दिल्ली के बाज़ारों में घुमाया गया! उसके बाद उन्हें कैदखाने में डाल दिया गया। लोगों ने उन अभागों की दुर्दशा पर आँसू बहाये थे; किंतु किसी को कुछ कहने या करने का साहस नहीं हुआ था!

दारा का सबसे बड़ा अपराध यह था कि वह उदार धार्मिक विचारों का था; इसलिए वह 'काफ़िर' था और काफ़िर की सज़ा मौत होती है! फलतः उसे क़त्ल किया गया और उसका सिर काट कर औरंगजेब की सेवा में भेज दिया गया। औरंगजेब ने हुक्म दिया कि इस अभागे को हुमायू के मकबरे में दफ़ना दो। दारा के दोनों पुत्र सुलेमान और सिपहर ग्वालियर के क़िले में कैद कर दिये गये, जहाँ अफीम का पानी पिला कर उन्हें धीरे-धीरे मरने को बाध्य किया गया। वही दशा मुराद की भी हुई थी। शुजा भागता हुआ बंगाल में मारा गया था। इस प्रकार औरंगजेब एक ओर अपने भाई-भतीजों से बेफ़िक्र हुआ और दूसरी ओर उसने वृद्ध एवं बीमार पिता को उसके शानदार तख़्त ताऊस से हटा कर आगरा के किले में कैद कर दिया और आप सं० १७१५ में मुगल सम्राट बन बैठा।

शाहजहाँ का अंतिम काल और मृत्यु—शाहजहाँ प्रायः ८ वर्ष तक आगरा क़िले के शाहबुर्ज़ में क़ैद रहा था। उसका अंतिम काल बड़े दुःख और मानसिक क्लेश में बीता था। उस समय उसकी प्रिय पुत्री जहानआरा उसकी सेवा के लिए साथ रही थी। शाहजहाँ ने उन वर्षों

को अपने वैभवपूर्ण विगत जीवन के स्मरण करने के साथ 'तख्त ताऊस' की याद करते हुए और 'ताजमहल' को अश्रुपूरित नेत्रों से देखते हुए बिताए थे। अंत में सं० १७२३ (जनवरी, सन् १६६६) में उसका देहांत हो गया। उस समय उसकी आयु ७४ वर्ष की थी। उसे उसकी प्रिय वेगम के पार्श्व में ताजमहल में ही दफ़नाया गया था।

औरंगज़ेब (शासन काल सं० १७१५ से सं० १७६४ तक)—

आरंभिक जीवन और राज्याधिकार—औरंगज़ेब का जन्म सं० १६७५ (३ नवंबर, सन् १६१८) में मालवा में हुआ और वह अपने पिता की विद्यमानता में सं० १७१५ में गद्दी पर बैठा था। वह आरंभ से ही बड़ा धूर्त, स्वार्थी और निर्दयी था। उसे बचपन में अरबी–फारसी की शिक्षा दी गई थी, जिससे उसे कुरान और हदीस जैसी मुसलमानी मजहब की पुस्तकों का अच्छा ज्ञान हो गया था; किंतु फिर भी उसके हृदय में उच्च धार्मिक भावना का उदय नहीं हुआ था। वह बेहद तअस्सुबी एवं कट्टर धर्मान्ध था और ग़ैर मुस्लिमों से बड़ी घृणा करता था। इस प्रकार वह अकबर की नीति का कट्टर विरोधी था। उसकी वह दूषित नीति ही मुगल साम्राज्य के पतन का कारण हुई थी।

वह अपने पिता से विद्रोह कर उसके जीते जी सम्राट बना था। इस प्रकार उसने तुर्कों की क्रूर प्रकृति और अपने पूर्वजों की दूषित परंपरा का ही अनुसरण नहीं किया, वरन् वह उनसे भी चार क़दम आगे बढ़ गया था! हुमायू के विरुद्ध उसके भाई कामरान ने, अकबर के विरुद्ध उसके पुत्र सलीम ने और सलीम (जहाँगीर) के विरुद्ध उसके पुत्र खुसरो ने विद्रोह किया था; किंतु उनके व्यवहार में आत्मीय स्नेह का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। जहाँगीर के बाद खुर्रम (शाहजहाँ) ने और फिर उसके बाद औरंगजेब ने आत्मीय स्नेह के उस दुर्बल सूत्र को भी तोड़ डाला था! औरंगजेब ने अपने वृद्ध पिता को उसकी मृत्यु तक कैद में रखा और अपने सभी भाई–भतीजों को निर्दयता पूर्वक मरवा डाला था। इस प्रकार अपने आत्मीय जनों के खून से रँगे हुए नापाक हाथों से उसने मुगल सल्तनत की बागडोर सँभाली थी!

प्रशासनिक नीति—औरंगजेब ने शासन–सूत्र सँभालते ही अकबर के समय से प्रचलित प्रशासनिक नीति में परिवर्तन कर दिया। उसने धार्मिक उदारता और सहिष्णुता के स्थान पर मज़हबी तअस्सुब को अपनाया और वह मुगल साम्राज्य को एक कट्टर इस्लामी सल्तनत बनाने की पूरी चेष्टा करने लगा। अपनी असहिष्णुता से उसने हिंदुओं का ही विरोध नहीं किया, वरन् सुन्नियों के अतिरिक्त मुसलमानों के अन्य फ़िरकों जैसे शियाओं और सूफ़ियों को भी बेहद परेशान किया था। नई प्रशासनिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए उसने शासन के समस्त पदों से उन हाकिमों और कर्मचारियों को हटा दिया, जिनमें थोड़ी भी धार्मिक उदारता थी अथवा जिन्हें हिंदुओं से कुछ भी सहानुभूति थी। उनके स्थान पर उसने चुन–चुन ऐसे व्यक्ति नियुक्त किये, जो गैर मुस्लिमों को सताना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझते थे!

जिन राजपूत राजाओं की वीरता और स्वामि–भक्ति के कारण मुगल साम्राज्य इतना विस्तृत और समृद्धिशाली बना था, उन्हें वह सदा संदेह की दृष्टि से देखा करता था। उसे जब भी अवसर मिला, तब ही उसने उनका सफाया करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। जिस समय वह मुगल सम्राट बना था, उस समय शासन और सेना के कितने ही बड़े–बड़े पदों पर राजपूत

राजागण नियुक्त थे। वह उनसे हार्दिक घृणा करता था और अंदर ही अंदर उनका अहित करने का कुचक्र रचता रहता था। अपनी हिंदू विरोधी नीति की सफलता में उसे जिन हिंदू राजाओं की ओर से बाधा जान पड़ती थी, उनमें जोधपुर के महाराज यशवंतसिंह और आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह प्रमुख थे। उन दोनों का मुगल सम्राटों से पारिवारिक संबंध होने के कारण राज्य में बड़ा प्रभाव था। इसलिए औरंगजेब को प्रत्यक्ष रूप में उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने का साहस नहीं होता था; किंतु वह उनका अहित करने की नित्य नई चालें चलता रहता था। औरंगजेब की कुटिल प्रशासनिक नीति के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ पर महाराज यशवंतसिंह और मिर्जा राजा जयसिंह के संक्षिप्त वृत्तांत दिये जाते हैं।

महाराज यशवंतसिंह—जोधपुर के राठौड़ राजा गजसिंह के दो पुत्र थे—१. अमरसिंह और २. यशवंतसिंह। अमरसिंह बड़ा होने से राज्य का उत्तराधिकारी था; किंतु वह अपने उद्धत स्वभाव के कारण अपने पिता द्वारा राज्याधिकार से वंचित कर दिया गया था। फलतः वह शाहजहाँ के दरबार में एक सामंत के रूप में रहता था। एक बार कुछ अपमानित होने से उसने भरे दरबार में सम्राट के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, जिससे वह आगरा के किले में लड़ता हुआ मारा गया था। उसी स्मृति में किले का दक्षिणी द्वार 'अमरसिंह दरवाजा' कहलाता है। यशवंतसिंह का जन्म सं० १६८३ में हुआ था। वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सं० १६९५ में जोधपुर का राजा हुआ था। उसने शाहजहाँ और औरंगजेब के शासन–काल में बड़े–बड़े युद्धों में भाग लिया था तथा प्रशासन के सर्वोच्च पदों को सँभाला था। शाहजहाँ ने उसे 'महाराज' की पदवी दी थी, जो उस समय तक किसी भी दरबारी को प्राप्त नहीं हुई थी।

जब औरंगजेब मुगल सम्राट हुआ था, तब दक्षिण में मरहठा वीर शिवाजी के रूप में एक नवीन शक्ति का उदय हुआ था। उससे चौकन्ना होकर वह उसके मूलोच्छेदन के लिए अपनी कुटिल नीति का जाल फैलाने लगा। उसने महाराज यशवंतसिंह को दक्षिणी कमान का प्रधान सेनापति बना कर उसे शिवाजी का दमन करने का आदेश दिया। इससे वह 'एक पंथ दो काज' की नीति को कार्यान्वित करना चाहता था। एक ओर उसका उद्देश्य यशवंतसिंह के प्रभाव को कम करने के लिए उसे राजधानी से बहुत दूर रखना था और दूसरी ओर उसका अभिप्राय हिंदू से हिंदू को भिड़ा कर 'काँटे से काँटे को निकालना' था! यशवंतसिंह औरंगजेब की इच्छानुसार शिवाजी को पराजित नहीं कर सका, अतः उसे दक्षिण से वापिस बुला कर सुदूर उत्तर में काबुल का सूबेदार बना कर भेज दिया गया था।

काबुल के सूबे में उन दिनों पठानों ने बड़ा उपद्रव मचा रखा था। उनसे संघर्ष करते हुए मुगलों के कई सूदेदार मारे जा चुके थे। यशवंतसिंह औरंगजेब की धूर्त्तता को समझता था और अपनी वृद्धावस्था में उस कठिन अभियान के लिए सुदूर उत्तर में नहीं जाना चाहता था; किंतु फिर भी वह चला गया। सं० १७२८ से सं० १७३६ तक के ८ वर्षों में वह काबुल में ही रहा था। उस काल में उसने पठान उपद्रवियों को दबा कर वहाँ शांति और व्यवस्था क़ायम कर दी थी। अंत में सं० १७३६ में उसका काबुल में ही देहांत हो गया था। ऐसा कहा जाता है, उसका शव काबुल से आगरा लाया गया था और यमुना के किनारे उसका दाह संस्कार हुआ था। उस काल में शव का काबुल से आगरा लाना संभव नहीं मालूम होता है। ऐसा जान पड़ता है,

यशवंतसिंह की दाह–क्रिया काबुल में ही हुई थी और उसके अस्थि–अवशेष आगरा लाये गये थे। यहाँ पर उसकी ६ रानियाँ सती हुई थीं।

महाराज यशवंतसिंह चतुर राजनीतिज्ञ, कुशल सेनानी और वीर योद्धा होने के साथ ही साथ कवि, साहित्याचार्य और तत्वज्ञानी भी था तथा वह साहित्यकारों एवं विद्वानों का आश्रयदाता था। हिंदी साहित्य में उसकी प्रसिद्धि काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में है। उसका रचा हुआ 'भाषाभूषण' ग्रंथ अलंकार शास्त्र की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त उसके कई ग्रंथ तत्वज्ञान से संबंधित हैं, जिनके नाम अपरोक्ष सिद्धांत, अनुभव प्रकाश, आनंद विलास, सिद्धांत बोध, सिद्धांत सार और प्रबोध चंद्रोदय नाटक हैं। ये सब ग्रंथ पद्य में हैं और इनसे उसका तत्वज्ञान विषयक पांडित्य प्रकट होता है। हिंदी साहित्य में इन ग्रंथों की अपेक्षा उसका 'भाषाभूषण' ग्रंथ ही अधिक प्रसिद्ध रहा है।

यशवंतसिंह की छतरी—आगरा में यमुना के किनारे लाल पत्थर की एक राजपूती इमारत है, जिसे 'यशवंतसिंह की छतरी' कहा जाता है। इसे महाराज यशवंतसिंह की रानियों के सती होने की स्मृति में औरंगजेब के शासन काल में ही बनाया गया था। यह छतरी यमुना के किनारे एक बाग में बनी हुई है। आजकल इस छतरी पर नाथद्वारा के मंदिर का अधिकार है। जोधपुर के राजाओं ने इसे उक्त मंदिर की भेंट कर दिया था। नाथद्वारा के पुजारी आश्विन मास में दशहरा के अवसर पर आगरा आकर छतरी में पूजा करते हैं और चढ़ावा लेते हैं। सती का स्थान होने से आसपास के गाँव वाले दशहरा के दिन नव विवाहिता वधुओं को लाकर वहाँ सुहाग की वस्तुओं का चढ़ावा चढ़ाते हैं और सतियों से उनके चिर सुहाग की कामना करते हैं।

मिर्ज़ा राजा जयसिंह—वह जहाँगीर के शासन–काल में सं० १६७८ में आमेर का राजा हुआ था। उस समय उसकी आयु कम थी; किंतु तभी से उसने अपनी योग्यता और वीरता का भली भाँति परिचय दिया था। बाद में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया था। उस काल में मुगल दरबार में उसकी प्रायः वैसी ही प्रतिष्ठा थी, जैसी अकबर के काल में उसके पूर्वज राजा भगवानदास और राजा मानसिंह की थी। औरंगजेब उसके प्रभाव और दबदबा से बड़ा शंकित रहता था। वह उससे आंतरिक द्वेष रखता हुआ उसका अहित करने की चालें चला करता था। जिस समय दक्षिण में शिवाजी के विजय–अभियानों की धूम थी और उससे युद्ध करने में अफज़लखाँ एवं शायस्ताखाँ की पराजय हुई थी तथा महाराज यशवंतसिंह को भी सफलता नहीं मिली थी; तब औरंगजेब ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को शिवाजी के दबाने के लिए भेजा था।

जयसिंह ने बड़ी बुद्धिमत्ता, वीरता और कूटनीति से शिवाजी को औरंगजेब से संधि करने के लिए राज़ी था। उसने औरंगजेब की इच्छानुसार शिवाजी को आगरा दरबार में उपस्थित होने को भी भेज दिया; किंतु वहाँ शिवाजी के साथ अनुचित व्यवहार हुआ और औरंगजेब की आज्ञा से उसे नज़रबंद कर लिया गया। बाद में शिवाजी किसी प्रकार औरंगजेब के चंगुल में से निकल कर सकुशल अपने राज्य को लौट गया था। इस प्रकार हाथ में आई हुई शिकार के निकल जाने से औरंगजेब बड़ा दुखी हुआ। उसने उन सभी लोगों को कड़ा दंड दिया, जिनकी असावधानी से शिवाजी को निकल भागने का अवसर मिल गया था।

जयसिंह और उसका पुत्र रामसिंह भी उसके लिए दोषी समझे गये, क्यों कि वे ही शिवाजी की आगरा में सुरक्षा के लिए अधिक चिंतित थे। वे दोनों पिता–पुत्र औरंगजेब की नजर से उतर गये। उसने रामसिंह का मनसब और जागीर छीन ली तथा जयसिंह को दक्षिण से वापिस आने का हुक्मनामा भेजा। जयसिंह अत्यंत निराश और दुखी होकर दक्षिण से वापिस लौटा था। उसे इस बात का बड़ा खेद था कि शिवाजी को आगरा भेजने में उसने जिस कूटनीतिज्ञता और कुशलता का परिचय दिया था, उसके बदले में उसे वृद्धावस्था में अपमान और लांछन सहना पड़ा था। उसी दुःख में वह अपनी यात्रा भी पूरी नहीं कर सका और मार्ग में बुरहानपुर नामक स्थान पर सं० १७२४ में उसकी मृत्यु हो गई। जयसिंह वीर सेनानायक और कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ साहित्य और कला का भी बड़ा प्रेमी था। उसी के प्रोत्साहन से कविवर बिहारीलाल ने अपनी सुप्रसिद्ध 'सतसई' की पूर्ति सं० १७१६ में की थी। जयसिंह की मृत्यु से औरंगजेब को बड़ी प्रसन्नता हुई थी। तभी उसे हिंदू धर्म के विरुद्ध अपना क्रूर अभियान आरंभ करने का साहस हुआ था और उसी काल में उसने हिंदुओं के मंदिर–देवालय नष्ट करने का आदेश दिया था।

शिवाजी—औरंगजेब को अपने सुदीर्घ शासन काल में जिन शत्रुओं से संघर्ष करते हुए सबसे अधिक परेशान होना पड़ा था, उनमें मरहठा वीर शिवाजी का नाम अत्यंत प्रसिद्ध है। वह महापुरुष जब तक जीवित रहा, तब तक मुगल सम्राट की प्रबल सैन्य–शक्ति से सफलता पूर्वक लोहा लेता रहा था। उसका साहस, रण–कौशल, धर्मानुराग और देश–प्रेम अपूर्व था। इसीलिए उसका स्थान राष्ट्रीय हिंदू वीरों की प्रथम पंक्ति में माना जाता है। उसका जन्म सं० १६८४ में हुआ था। उसी वर्ष जहाँगीर की मृत्यु हुई थी और शाहजहाँ मुगल सम्राट हुआ था। शिवाजी ने छोटी आयु में ही अद्भुत वीरता और रण-कुशलता का परिचय दिया था। जिस समय औरंगजेब शाहजहाँ की ओर से दक्षिण में सूबेदार था, उस समय शिवाजी बीजापुर के सुलतान की फौजों को पराजित कर उससे छीने हुए भू–भाग में हिंदू राज्य की स्थापना का आयोजन कर रहा था। औरंगजेब उसकी बढ़ती हुई शक्ति से पूरी तरह अवगत था; किंतु शाहजहाँ की असाध्य बीमारी का समाचार सुन कर वह मराठों से युद्ध में समय नष्ट करने की बजाय उत्तर में जाकर राजगद्दी के लिए संघर्ष करना आवश्यक समझता था। इसीलिए वह उस समय शिवाजी के विरुद्ध कोई बड़ा अभियान नहीं कर सका था।

जब औरंगजेब शाहजहाँ के जीते जी दिल्ली में मुगल सिंहासन पर बैठ गया, तब उसने दक्षिण के सूबेदार को शिवाजी का दमन करने के लिए हुक्मनामा भेजा। मुगल सेनापति अफजल खाँ ने शिवाजी पर आक्रमण किया; किंतु वह स्वयं शिवाजी के हाथों मारा गया और उसकी सेना बुरी तरह पराजित हुई। इस प्रकार गद्दी पर बैठने के केवल १५ महीने बाद ही औरंगजेब को शिवाजी से प्रथम पराजय का अपमान सहन करना पड़ा था। उसके बाद दक्षिण का सूबेदार शायस्ता खाँ और वहाँ का प्रधान सेनापति महाराज यशवंतसिंह भी चेष्टा करके हार गये; किंतु वे शिवाजी पर काबू नहीं पा सके थे। उसके बाद शिवाजी का साहस दिन पर दिन बढ़ता गया। वह कभी बीजापुर के सुलतान से और कभी मुगलों से संघर्ष करता हुआ अपने राज्य का विस्तार करता रहा था। महाराष्ट्र के बड़े-बड़े सुदृढ़ दुर्ग उसके अधिकार में आ गये थे। उसकी

सफलता का ओजस्वी वर्णन भूषण कवि की रचनाओं में मिलता है[1]। औरंगजेब उसकी सफलता और अपने बड़े–बड़े सेनापतियों की विफलता पर कुपित होता हुआ कुढ़ रहा था।

संवत् १७२२ में औरंगजेब ने अपने सबसे बड़े सेनापति मिर्जा राजा जयसिंह को पूर्ण अधिकार देकर दक्षिण भेजा और उसे आदेश दिया कि वह किसी भी प्रकार से शिवाजी को अधीन कर उसे उसके दरबार में उपस्थित करे। जयसिंह अपनी प्रबल सेना के साथ दक्षिण पहुँचा और वहाँ शिवाजी को अधीन करने का आयोजन करने लगा। उसने मरहठा राज्य के चारों ओर घेरा डाल कर उसके प्रमुख दुर्गों पर एक साथ आक्रमण कर दिया। शिवाजी की सैन्य शक्ति जयसिंह की तुलना में आटे में नमक बराबर भी नहीं थी; किंतु अपने अदम्य साहस और रण–कौशल से वह शत्रुओं के आक्रमणों को विफल करता रहा।

शिवाजी ने सोचा कि जयसिंह की अपार सेना का अधिक काल तक प्रतिरोध करना संभव नहीं है। फिर इस संघर्ष में व्यर्थ ही दोनों ओर के हिंदू वीरों का ही संहार हो रहा है; इसलिए उसने सन्मानपूर्ण संधि करने के लिए अपने दूत मिर्जा जयसिंह के पास भेजे और एक व्यक्तिगत पत्र भी राजा को देने के लिए उन्हें दिया। शिवाजी का वह पत्र हिंदू राजनीति का परिचायक एक ऐतिहासिक अभिलेख है[2]। उसकी भाषा ऐसी मर्मस्पर्शिनी और नीतिज्ञतापूर्ण है कि उसे पढ़ते ही जयसिंह ने शिवाजी से संधि कर ली। उसके अनुसार शिवाजी और उसके पुत्र शंभूजी को आगरा जाकर औरंगजेब के दरबार में उपस्थित होना था और वहाँ मुगल सम्राट द्वारा उनका यथोचित सन्मान किया जाना था। जयसिंह ने शिवाजी को आश्वासन दिया था कि उनकी सुरक्षा का पूरा प्रबंध किया जावेगा। जयसिंह का पुत्र रामसिंह स्वयं उनकी सुरक्षा का उत्तरदायी होगा और वही उन्हें पूरे सन्मान के साथ शाही दरबार में ले जावेगा।

जब से औरंगजेब ने राज्याधिकार प्राप्त किया था, तब से वह आगरा नहीं गया था। सं० १७२३ में जब शाहजहाँ की मृत्यु हो गई, तब उसने प्रथम बार आगरा जा कर वहाँ बड़े ठाट से दरबार करने का निश्चय किया था। उसी समय शिवाजी के साथ जयसिंह द्वारा की हुई संधि को भी स्वीकार किया गया। औरंगजेब ने शिवाजी के लिए शाही खिलअत के साथ एक पत्र भेज कर उसे दरबार में आने के लिए आमंत्रित किया था। ऐसा कहा जाता है, जब शिवाजी आगरा पहुँचा, तब सम्राट की ओर से उसके स्वागत-सत्कार का यथोचित प्रबंध नहीं किया गया था। जब वह रामसिंह के साथ दरबार में उपस्थित हुआ, तब उसे तीसरी श्रेणी के दरबारियों की पंक्ति में स्थान दिया गया। उस अपमान से शिवाजी क्रोध से तिलमिला उठा और रोषपूर्ण मुद्रा में दरबार से वापिस आ गया। भूषण कवि ने उस समय की स्थिति का बड़ा ओजपूर्ण कथन किया है[3]।

---

(१) दुग्ग पर दुग्ग जीते, सरजा सिवाजी गाजी, डग्ग नाँचे डग्ग पर, रुंड मुंड फरके।
'भूषन' भनत बाजे जीत के नगारे भारे, सारे करनाटी भूप सिंहल कों सरके॥
मारे सुनि सुभट, पनारे वारे उदभट, तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के।
बीजापुर वीरन के, गोलकुंडा धीरन के, दिल्ली उर मीरन के दाड़िम से दरके॥
—भूषण ग्रंथावली, पृष्ठ ८६

(२) वह पत्र 'त्रिवेणी' पत्रिका (जनवरी, सन् १९४८) के अंक में छपा है।

(३) भूषण ग्रंथावली, पृष्ठ ७९

शिवाजी का औरंगजेब के दरबार में आने का वर्णन उस काल के फारसी ग्रंथों में नहीं मिलता है। तत्संबंधी अनुश्रुतियों और भूषण आदि कवियों की रचनाओं से जो कुछ ज्ञात होता है, उसे पूर्णतया प्रामाणिक मानना कठिन है। इधर जयपुर के राजकीय अभिलेखागार में उस काल के कुछ कागज-पत्र मिले हैं। उन्हें आमेर राज्य के दूतावास के एक अधिकारी कल्याणदास ने अपनी नियमित रिपोर्ट के रूप में राजस्थानी भाषा में लिख कर भेजा था। उनमें शिवाजी के आगरा आने का विवरण भी है। उससे ज्ञात होता है, शिवाजी को आगरा के शाही दरबार में उपस्थित होने का अवसर नहीं मिला था; इसलिए उसे दरबारियों की तीसरी पंक्ति में खड़े करने और उसके क्रोधपूर्ण मुद्रा में वहाँ से वापिस आने की बात अप्रामाणिक है। उस दिन के शाही दरबार का समय प्रातःकाल का निश्चित किया गया था; किंतु शिवाजी कुछ देर से आगरा पहुँचा था। कल्याणदास का कथन है, औरंगजेब स्वयं शिवाजी से दरबार में नहीं मिलना चाहता था, अतः उसकी अड़चनों से ही शिवाजी को आगरा पहुँचने में विलंब हुआ था।

औरंगजेब और शिवाजी की भेंट दरबार के पश्चात् हुई थी, जिसमें शिवाजी के साथ उचित शिष्टाचार का व्यवहार नहीं किया गया था। जब तक शिवाजी आगरा में रहा, तब तक वह नज़रबंदी की सी स्थिति में था। उस पर कड़ी निगरानी रखी गई थी। फौलादखाँ नामक एक गुप्तचर अधिकारी शिवाजी की गति–विधि की देख–रेख के लिए नियुक्त था। शिवाजी को विश्वास हो गया कि औरंगजेब की नियत ठीक नहीं है और वह उसका अनिष्ट करने के अवसर की प्रतीक्षा में है। शिवाजी आगरा से जाना चाहता था; किंतु उसके लिए शाही आदेश नहीं मिला था। बिना आदेश प्राप्त किये चुपचाप चला जाना उस कड़ी निगरानी में संभव नहीं था। ऐसा कहा जाता है, वह अपने पुत्र सहित मिठाई के दो बड़े डलों में बैठ कर और गुप्तचरों की आँखों में धूल झोंक कर आगरा से निकल भागा था। किंतु जयपुर राज्य के तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि शिवाजी ने उस काल के भ्रष्ट मुगल शासन के बड़े–बड़े अधिकारियों को घूस देकर अपने जाने का जाली फरमान तैयार कराया था और उस पर शाही मुहर लगवायी थी। उस फरमान के द्वारा शिवाजी सं० १७२३ की भाद्रपद शु० १४ शनिवार को आगरा से निकल कर अपने राज्य में सकुशल पहुँच गया था।

जब औरंगजेब ने शिवाजी के इस प्रकार निकल जाने का समाचार सुना, तो वह क्रोध से दाँत पीसता और पश्चात्ताप से हाथ मलता हुआ रह गया। उसने शिवाजी को पकड़ने के लिए अनेक सैनिक दौड़ाये और बहुत से व्यक्तियों को उनकी असावधानी के लिए दंडित किया। किंतु उसके जाल से निकला हुआ पंछी फिर किसी भी प्रकार उसकी पकड़ में नहीं आ सका था। कई लेखकों ने लिखा है, शिवाजी आगरा से चल कर गुप्त रूप से विविध तीर्थों की यात्रा करता हुआ अपने राज्य में पहुँचा था। उनका यह कथन सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ यदुनाथ सरकार को स्वीकृत नहीं है। सरकार का मत है, शिवाजी मथुरा और प्रयाग होते हुए दक्षिण गया था; किंतु अन्य तीर्थों में उसके जाने की बात असंगत है, क्यों कि वह मुगल साम्राज्य की सीमाओं से निकल कर जल्दी से जल्दी अपने राज्य में पहुँचना चाहता था[1]।

---

(१) शिवाजी और उनका युग, पृष्ठ १५६–१५७

शिवाजी घर पहुँच कर अपने स्वास्थ्य और राज्य की व्यवस्था को ठीक करने में लग गया; इसलिए तीन वर्ष तक उसने मुगलों से कोई छेड़–छाड़ नहीं की थी। उसी बीच दक्षिण के सूबेदार राजकुमार मुअज्जम और सेनापति महाराज यशवंतसिंह की शिवाजी से संधि हो गई; जिसे औरंगजेब ने भी मान लिया था। पर वास्तव में हृदय से न तो शिवाजी और न औरंगजेब ही स्थायी संधि करना चाहते थे। शिवाजी अपने को शक्तिशाली बनाने के लिए समय चाहता था और औरंगजेब उसे फिर से अपने चंगुल में फँसाने के उपयुक्त अवसर की ताक में था। उस विषम परिस्थिति में संधि कैसे टिक सकती थी ! निदान फिर दोनों पक्षों में संघर्ष छिड़ गया। सं० १७३१ (६ जून, १६७४ ई०) में शिवाजी का रायगढ़ में बड़ी धूम--धाम से राज्याभिषेक हुआ, जिसमें हिंदू परंपरा और शास्त्रोक्त विधि का पूरी तरह पालन किया गया था। सं० १७३७ (४ अप्रेल, सन् १६८०) में उसका देहांत हो गया; किंतु वह ऐसे शक्तिशाली मरहठा राज्य की जड़ जमा गया, जो मुसलमानी शासन के लिए सदा ही सिर-दर्द रहा था। उसके लिए औरंगजेब मृत्यु पर्यंत अफसोस करता रहा और उसे अपने शासन काल के अंतिम २५ वर्ष मरहठों से संघर्ष करने में ही बिताने पड़े थे। औरंगजेब ने अपने उत्तराधिकारियों को हिदायत करते हुए एक वसीयतनामा लिखा था, जिसकी १२ वीं और अंतिम धारा इस प्रकार है,—"मुल्क की खबरों की अच्छी जानकारी रखना ही सल्तनत की बुनियाद है। एक लहमे की भी ग़फ़लत सालों के लिए बेइज्जती का बायस हो जाती है। मेरी लापरवाही की वजह से ही बदनसीब शिवा बच कर भाग सका। इसका नतीजा यह हुआ कि मुझे अपनी ज़िंदगी के आखिरी दिनों तक मरहठों के खिलाफ सख्त मेहनत करनी पड़ी[1]।"

हिंदुओं का दमन—औरंगजेबी शासन का प्रमुख आधार उसका मजहबी तास्सुब था और उसके लिए उसने गैर मुस्लिमों, विशेष कर हिंदुओं के दमन करने की नीति अपनायी थी। वह राज्याधिकार प्राप्त करते ही हिंदुओं के प्रधान केन्द्र ब्रज में दमनकारी शासन आरंभ करने के आयोजन में लग गया था। उसने सं० १७१६ में क़ासिम खाँ को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया; किंतु उसे साल भर में ही हटा दिया गया। शायद वह उसकी कट्टर नीति का पालन नहीं कर सका था। सं० १७१७ में कासिम खाँ के स्थान पर अब्दुलनबी को मथुरा का नया फौजदार बनाया गया। उसने औरंगजेब की नीति के अनुसार ही ब्रज पर शासन किया था।

अब्दुलनबी का कठोर शासन—अब्दुलनबी सं०१७१७ से १७२६ तक मथुरा का फौजदार रहा था। वह औरंगजेब की तरह ही बड़ा कट्टर और तआस्सुबी मुसलमान था। उसने ब्रज के हिंदुओं को विविध भाँति से परेशान कर उन्हें मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया और उनके मंदिर–देवालयों को अपवित्र करने का आयोजन किया। उसने शाही आज्ञा से कृष्ण–जन्मस्थान पर बने हुए श्री केशवराय जी के मंदिर का वह संगीन कटहरा तोड़वा दिया, जिसे कुछ समय पहिले दारा ने बनवाया था। सं० १७१८ में उसने मथुरा में एक विशाल 'जामा मसजिद' बनवाई, जो शहर के बीचोंबीच चौक बाजार में अब भी विद्यमान है। जिस स्थान पर मसजिद बनी हुई है, वहाँ पहिले एक हिंदू मंदिर था, जिसे सिकंदर लोदी ने नष्ट करा दिया था और जिसके निकट की

---

(१) 'धर्मयुग' में प्रकाशित श्री वैकुंठनाथ मेहरोत्रा का लेख

भूमि पर उसने कसाइयों को बसा कर मांस का बाजार लगवाया था। अब्दुलनबी ने कसाइयों से ही वह भूमि लेकर वहाँ मसजिद बनवाई थी। फिर उसने औरंगजेब के आदेशानुसार ब्रज के हिंदुओं पर दमन–चक्र चलाना आरंभ किया। उन पर नित्य नये अत्याचार किये जाने लगे। होली, दीवाली और दशहरा जैसे बड़े–बड़े हिंदू त्यौहारों का मनाना रोक दिया गया और धार्मिक संगीत पर पाबंदी लगा दी गई। हिंदू व्यापारियों पर नये कर लगाये गये और मुसलमानों को उनसे मुक्त किया गया, जिससे हिंदुओं का व्यौपार चौपट हो गया।

सं० १७२४ में जब मिर्ज़ा राजा जयसिंह की मृत्यु हो गई, तब औरंगजेब को अपनी हिंदू विरोधी नीति को और भी कड़ा करने का अवसर मिला था। उसने एक फरमान निकाल कर हिंदुओं के मंदिर–देवालय बनने बंद करा दिये और मूर्ति–पूजा पर पाबंदी लगा दी थी। फिर उसने मंदिर–देवालयों को नष्ट करने की आज्ञा प्रचारित की, जिससे ब्रज में कुहराम मच गया! उस समय के प्रभावशाली हिंदू राजाओं में केवल यशवंतसिंह ही औरंगजेबी अत्याचार का विरोध कर सकता था; किंतु वह वृद्ध और अकेला होने के कारण अपने को असमर्थ मानता था। उस समय उसने बड़े दुःख़ से मिर्ज़ा राजा जयसिंह का स्मरण करते हुए क़हा था—"घंट न बाजे देहरां, शंक न माने शाह। एकरणहां फिर आवज्यो, माहूरा जयशाह।।"

ब्रज में विद्रोह—औरंगजेबी दमन के फल स्वरूप अनेक स्थानों के हिंदुओं में विरोध की ज्वाला भड़क उठी; किंतु उसकी भयंकर लपट ब्रज में दिखलाई दी थी। महाबन के निकट निवास करने वाली ग्रामीण जनता ने सं० १७२६ में गोकुला जाट के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। औरंगजेबी अत्याचारों के विरुद्ध हिंदुओं का वह कदाचित प्रथम संगठित संघर्ष था। मथुरा का फौजदार अब्दुलनबी एक बड़ी सेना लेकर विद्रोहियों को दंड देने के लिए गया। महाबन परगना के सिहोरा गाँव में उसकी विद्रोहियों से मुठभेड़ हुई, जिसमें अब्दुलनबी मारा गया और मुसलमानी सेना बुरी तरह पराजित हो गई। उसके वाद विद्रोहियों ने सादावाद के समृद्धिशाली इलाके को लूटा और फिर आगरा तक लूट–मार करते रहे।

औरंगजेब ने उन्हें दबाने के लिए कई बार सेना भेजी; किंतु उसे सफलता नहीं मिली। उससे औरंगजेब की क्रोधाग्नि भीषण रूप से प्रज्वलित हो गई। वह सं० १७२७ (नवंबर, सन् १६६९) में स्वयं दल–बल सहित दिल्ली से मथुरा की ओर बढ़ा। उसने अपने एक सेनापति हसनअली को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया और उसे आदेश दिया कि वह हर संभव उपायों से विद्रोहियों को कुचल दे और ब्रज के हिंदुओं को बर्बाद कर दे! फलतः हसनअली ने विशाल शाही सेना के साथ गोकुला को उसके साथियों सहित घेर लिया और प्रवल वेग से उन पर आक्रमण कर दिया। गोकुला की सेना शाही सेना की तुलना में आटे में नमक बराबर भी नहीं थी; फिर भी उसने कड़ा मुकाबला किया। अंत में उसकी पराजय हुई। "उस भीषण युद्ध में ५००० विद्रोही मारे गये और ७००० कैद हुए, जिसमें गोकुला तथा उसके कुटंबी भी थे। कैदियों को आगरा ले जाया गया। वहाँ कोतवाली के सामने गोकुला के विभिन्न अंग एक–एक कर काटे गये, जिसके फल स्वरूप अंत में उसकी मृत्यु हुई। उसके कुटुंबियों को बल पूर्वक मुसलमान बनाया गया[1]।"

---

(१) ब्रज का इतिहास, (प्रथम भाग), पृष्ठ १६२

ब्रज के मंदिरों का ध्वंस—औरंगजेब ने ब्रज के मंदिरों को पूरी तरह नष्ट–भ्रष्ट करने का आदेश जारी किया था। उसके अनुसार मथुरा का केशवराय जी का विशाल मंदिर, वृंदाबन का गोविंददेव जी का कलापूर्ण मंदिर तथा गोबर्धन का श्रीनाथ जी का प्रसिद्ध मंदिर उसी काल में ध्वंस किये गये थे। उनके अतिरिक्त वृंदाबन के मदनमोहन जी, गोपीनाथ जी, जुगलकिशोर जी तथा राधाबल्लभ जी के मंदिरों को भी उसी समय नष्ट–भ्रष्ट किया गया था। मथुरा के श्री केशवराय जी के मंदिर को धराशायी कर उसकी विशाल कुर्सी के पूर्वी भाग में एक बड़ी मसजिद बनवाई गई, जो 'ईदगाह' कहलाती है। टूटे हुए मंदिर–देवालयों के स्थान पर सराय, मक़तब और कसाईखाने बनाये गये। निरपराध बच्चे, बूढ़े और जवानों का बध किया गया, स्त्रियों का अपहरण किया गया और लोगों को बल पूर्वक मुसलमान बनाया गया। ब्रज के मंदिरों की देव प्रतिमाएँ खंडित कर आगरा लाई गईं; जहाँ मसजिद की सीढ़ियों में उन्हें लगा दिया गया!

देव–मूर्तियों का स्थानान्तरण—जिस समय ब्रज के मंदिर–देवालय नष्ट–भ्रष्ट किये जा रहे थे, उस समय यहाँ के धर्माचार्यों को सबसे बड़ी चिंता अपनी उपास्य देव–मूर्तियों को बचाने की हुई थी। किंतु उस काल की भयावह स्थिति में मुसलमान अधिकारियों की दृष्टि से उनका बचाना बड़ा कठिन था। फिर भी ब्रज के अनेक धर्माचार्य जान–जोख़म उठा कर अपनी प्राणाधिक मूर्तियों को धर्म ग्रंथों तथा कुछ अत्यावश्यक सामान के साथ सुरक्षित स्थानों को ले जाने में सफल हुए थे। ऐसे धर्माचार्यों में बल्लभ संप्रदायी गोस्वामी गण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे गोवर्धन और गोकुल के प्रसिद्ध मंदिरों को छोड़ कर अपनी देव-–मूर्तियों के साथ हिंदू राज्यों में चले गये थे। बल्लभ संप्रदाय के परमोपास्य श्रीनाथ जी के देव स्वरूप को गोबर्धन–गिरिराज के मंदिर से सं० १७२६ की आश्विन शु० १५, शुक्रवार को हटाया गया और फिर बड़ी कठिनाइयों के बाद उन्हें मेवाड़ राज्य के सिंहाड़ नामक स्थान में विराजमान किया गया था। श्रीनाथ जी के कारण ही वह अप्रसिद्ध स्थान अब 'श्रीनाथद्वारा' के नाम से समस्त भारतवर्ष में विख्यात है। उसी काल में गोकुल के बल्लभ संप्रदायी मंदिरों की प्रायः समस्त और वृंदाबन के चैतन्य संप्रदायी मंदिरों की अधिकांश मूर्तियाँ भी हटा कर हिंदू राज्यों में ले जाई गई थीं; जो अभी तक वहीं विराजमान हैं। उन मूर्तियों के साथ अनेक धर्माचार्य अपने कुटुंब–परिवार, शिष्य–सेवक और परिकर के साथ ब्रज से चले गये थे। बल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध श्री हरिराय जी भी अपनी ८० वर्ष की वृद्धावस्था में उसी काल में गोकुल छोड़ कर मेवाड़ राज्य में गये थे। उन धर्माचार्यों का इस प्रकार ब्रज से निष्क्रमण करना औरंगजेबी अत्याचार का अत्यंत शोचनीय प्रसंग है। वह ब्रज के इतिहास की ऐसी दुःखद घटना है, जिसने गोबर्धन, गोकुल तथा वृंदाबन के हरे–भरे धार्मिक क्षेत्रों को उजाड़ दिया और ब्रज की अत्यंत समृद्ध संस्कृति का सर्वनाश कर दिया था।

ज़ज़िया कर का पुनर्प्रचलन—जो लोग मुसलमान नहीं होना चाहते थे, उनसे मुसलमानी शासन में 'ज़ज़िया' नामक एक कर वसूल किया जाता था। वह कर अकबर के शासन–काल में हटा दिया गया था। तब से लेकर औरंगजेबी शासन के आरंभिक काल तक भी वह बंद रहा था। जब मिर्ज़ा राजा जयसिंह के बाद महाराज यशवंतसिंह का भी देहांत हो गया, तब औरंगजेब ने निरंकुश होकर सं० १७३६ में फिर से उस कर को चालू किया। उस अपमानपूर्ण कर का हिंदुओं द्वारा प्रबल विरोध किया गया था। मेवाड़ के वृद्ध राणा राजसिंह ने उसके विरोध में औरंगजेब को उपालंभ देते हुए एक पत्र लिखा था, जिसका उल्लेख टाड कृत 'राजस्थान' नामक

प्रसिद्ध ग्रंथ में हुआ है। यहाँ तक कि औरंगजेब के वेतनभोगी कविवर वृंद ने भी निर्भय होकर उसकी आलोचना करते हुए कहा था,—"ए हो साह औरंग ! कहावत हो पातसाह, आप ही विचारो यह कैसी सुवहानगी।...जब जसवंत सुरपुर को सिधाए, तव तेग बाँध आए, यह कैसी मरदानगी[1] ?" किंतु आलोचना, उपालंभ और विरोध सभी अरण्य-रोदन के समान व्यर्थ सिद्ध हुए और हिंदू जनता औरंगजेबी अत्याचारों की चक्की में पिसती रही !

ब्रज के नामों का परिवर्तन—औरंगजेब ने ब्रज में हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को नष्ट कर उसके स्थान पर इस्लामी मज़हव और तहज़ीब को प्रचलित करने की बड़ी चेष्टा की थी। उसके लिए जो उपाय काम में लाये गये, उनमें ब्रज के नामों का मुसलमानीकरण भी था। उसके अनुसार मथुरा का नाम बदल कर 'इस्लामाबाद' या 'इस्लामपुर' किया गया, वृंदाबन को 'मोमिनाबाद' और परासोली-चंद्रसरोवर को 'मुहम्मदपुर' बनाया गया। किंतु वे बदले हुए नाम मुसलमानी शासन काल में सरकारी कागजों में ही रहे आये; जनता में वे कभी प्रचलित नहीं हुए थे।

साहित्य, संगीत और कला संबंधी दृष्टिकोण—प्रशासनिक नीति और धार्मिक उदारता की तरह साहित्य, संगीत और कला के संबंध में भी औरंगजेब का दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती मुगल सम्राटों से भिन्न था। उसने अपने मज़हबी तआस्सुब के चश्मे से साहित्य-संगीतादि को भी देखा था, अतः उसके द्वारा उनका संरक्षण अथवा प्रोत्साहन किया जाना संभव नहीं था। यह प्रसिद्ध बात है कि उसने अपने दरबार के इतिहास-लेखकों, गुणियों और कलाकारों में से बहुतों को हटा दिया था। वे लोग दिल्ली छोड़ कर हिंदू राजाओं के राज्यों में चले गये थे। जो नहीं जा सके, वे निराश्रित होकर भूखों मरने लगे थे। उस काल के कलाकारों में सबसे अधिक हानि संगीतज्ञों की हुई थी। औरंगजेब के मतानुसार एक इस्लामी राज्य में गवैयों की आवश्यकता नहीं थी ! फलतः उसने संगीत का निषेध कर संगीतज्ञों को निरुत्साहित किया था।

कुछ विद्वानों का मत है, औरंगजेब जितना कला विरोधी और अरसिक प्रसिद्ध है, उतना वह नहीं था। आचार्य चंद्रवली पांडे ने लिखा है,—"औरंगजेब संगीत का द्रोही नहीं, राग-रंग अथवा भ्रष्ट और अश्लील गानों का शत्रु था[2]।" आचार्य वृहस्पति का कथन है,—"पीर, फ़कीर या संत के रूप में अपने आपको प्रसिद्ध करने का औरंगजेब का प्रयत्न राजनीतिक था और उसी झोंक में उसने अपने दरबार में संगीत का निषेध किया था; परंतु उसके अंतःपुर की बात और थी। वहाँ राग-रंग और संगीत की धूम रहती थी[3]।"

औरंगजेब ने चाहें किसी भी कारण से संगीत का निषेध किया हो; किंतु उसके दरबार से उसका पूर्णतया वहिष्कार नहीं हुआ था। उसका काश्मीरी सूवेदार फकीरुल्ला कट्टर मुसलमान और औरंगजेब के मज़हबी तआस्सुब की नीति का समर्थक होते हुए भी संगीत का बड़ा प्रेमी था। उसका रचा हुआ 'राग दर्पण' ग्रंथ प्रसिद्ध है। उससे ज्ञात होता है कि औरंगजेब के दरबार में खुशहाल खाँ, सरससेन, सुखीसेन, करबाई आदि संगीतज्ञ थे[4]। स्वयं औरंगजेब द्वारा रचे हुए भी

---

(१) **सतसई सप्तक** (प्रस्तावना) पृष्ठ १६

(२) **मुगल बादशाहों की हिंदी**, पृष्ठ ४६

(३) **औरंगजेब का संगीत-प्रेम** (धर्मयुग, २५ अक्टूबर १६५६ ई०)

(४) **मानसिंह और मानकुतूहल**, पृष्ठ १४३

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

कुछ ध्रुपद मिलते हैं[1], जिससे संगीत और ब्रज साहित्य के प्रति उसकी अभिरुचि प्रकट होती है। संभव है, वे स्वयं औरंगजेब की रचना न हों और उन्हें उसके दरबारी कवियों अथवा संगीतज्ञों ने उसके नाम से रच दिया हो; जैसा कि उस काल में प्रायः होता था। फिर भी वे रचनाएँ यदि औरंगजेब को पसंद न होतीं, तो वह उन्हें अपने नाम से प्रचारित ही क्यों होने देता ! यह दूसरी बात है कि वे रचनाएँ उसके आरंभिक जीवन की हों, अथवा तख्त पर बैठने के आठ–दस साल के अंदर की हों, जब कि उसके मज़हबी उन्माद ने अधिक ज़ोर नहीं पकड़ा था।

औरंगजेब के पूर्ववर्ती प्रायः सभी मुगल सम्राट स्थापत्य कला के प्रेमी और आश्रयदाता थे। उनके द्वारा बड़े–बड़े निर्माण कार्य किये गये थे; किंतु औरंगजेब ने दो–एक मसजिदें बनवाने के अतिरिक्त इस कला की प्रगति में कोई योग नहीं दिया था। उसने आगरा के किले में 'नगीना मसजिद' बनवाई थी तथा उसकी पुत्री जेबुन्निसा ने दिल्ली में दरियागंज वाली मसजिद का निर्माण कराया था।

औरंगजेब की मृत्यु और उसकी नीति का दुष्परिणाम—सं० १७४० में औरंगजेब दक्षिण की अशांति को दबाने के लिए स्वयं दल–बल के साथ गया था। वह राजधानी से दूर रहता हुआ अपने शासन–काल के प्रायः अंतिम २५ वर्ष तक उसी अभियान में उलझा रहा था। अंत में ५० वर्ष तक शासन करने के बाद दक्षिण के अहमदनगर में उसकी मृत्यु सं० १७६४ (२० फरवरी, सन् १७०७) में हो गई। उसकी दूषित नीति ने सर्वत्र उसके विरोधी पैदा कर दिये थे और पिछले मुगल सम्राटों के प्रयत्नों पर पानी फेर दिया था। उसके अत्याचारों के कारण जनता में रोष का ऐसा तूफ़ान उठा कि उसने मुगल साम्राज्य के दुर्ग को ही ढाह दिया था।

वर्तमान काल के अनेक विद्वानों ने औरंगजेब की दूषित नीति की कटु आलोचना करते हुए उसके दुष्परिणामों का उल्लेख किया है। प्रो० कादरी ने लिखा है,—"बाबर ने मुगल राज्य के भवन के लिए मैदान साफ किया, हुमायू ने उसकी नींव डाली, अकबर ने उस पर सुंदर भवन खड़ा किया, जहाँगीर ने उसे सजाया–सँभारा, शाहजहाँ ने उसमें निवास कर आनंद किया; किंतु औरंगजेब ने उसे विध्वंस कर दिया था।" डा० रामधारीसिंह का कथन है,—"बाबर से लेकर शाहजहाँ तक मुगलों ने भारत की जिस सामासिक संस्कृति को पाल–पोस कर खड़ा किया था, उसे औरंगजेब ने एक ही झटके से तोड़ डाला और साथ ही साम्राज्य की कमर भी तोड़ दी ! वह हिंदुओं का ही नहीं, सूफियों का भी दुश्मन था और सरमद जैसे संत को उसने शूली पर चढ़ा दिया[2]।"

औरंगजेब की दूषित नीति की बड़ी व्यापक और प्रभावशाली प्रतिक्रिया हुई थी। उसके कारण ही ब्रज के कृषिजीवी जाटों की एक लड़ाकू जाति बन गई थी और पंजाब के सिक्खों का धार्मिक समुदाय कृपाण लेकर लड़ने को खड़ा हो गया था। जिन राजपूतों ने अपने रक्त से सींच कर मुगल साम्राज्य का बट वृक्ष खड़ा किया, वही उस पर कुठाराघात करने को तैयार हो गये और दक्षिण के सीधे–सादे मरहठे कुशल सैनिकों के रूप में मुगल साम्राज्य को नष्ट करने के लिए सबसे अधिक सचेष्ट दिखलाई दिये।

---

(१) संगीत रागकल्पद्रुम (प्रथम भाग)

(२) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३१७

परवर्ती मुगल सम्राट (शासन काल सं० १७६४–१८०५ तक)—

राज्याधिकार के लिए संघर्ष—औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में राज्याधिकार के लिए संघर्ष छिड़ गया। बड़ा बेटा मुअज्जम धुर उत्तर के जमरूद नामक मुकाम पर था और छोटा बेटा आज़म दक्षिण के अहमदनगर में था। दोनों ही अपनी–अपनी सेनाएँ लेकर दिल्ली-आगरा की ओर चल दिये। वे दोनों ही मुगल सिहासन पर अधिकार करने के इच्छुक थे। उनकी सेनाएँ जाजऊ नामक स्थान पर एक दूसरी से भिड़ गईं। जाजऊ वृहत्तर ब्रजमंडल का एक छोटा सा गाँव है, जो आगरा से धौलपुर जाने वाली सड़क के समीप उटंगन नदी के बायें किनारे पर स्थित है। उक्त स्थान पर जो युद्ध हुआ, उसमें आज़म पराजित होकर मारा गया और मुअज़्ज़म बहादुरशाह के नाम से मुगल सम्राट हो गया।

आज़मशाह—वह ब्रजभाषा साहित्य का प्रेमी और पोषक था। उसने ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मीरजा खाँ नामक एक विद्वान से फारसी भाषा में ग्रंथ लिखवाया था, जिसका नाम 'तोहफतुल–हिंद' है। यह ब्रजभाषा साहित्य का ऐसा विश्वकोश है, जिसमें पिंगल, रस, अलंकार, शृंगार रस, नायिकाभेद, संगीत, सामुद्रिक, कोष, व्याकरण आदि अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है। आज़म ने निवाज कवि को भी आश्रय प्रदान कर उससे कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक का ब्रजभाषा में अनुवाद कराया था। उसी की आज्ञा से बिहारी सतसई का क्रमबद्ध संपादन हुआ, जो 'आजमशाही क्रम' के नाम से प्रसिद्ध है[1]। ब्रज साहित्य के विख्यात विद्वान पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत है कि सतसई का आजमशाही क्रम दिल्ली के आजमशाह के नाम पर नहीं, बल्कि आजमगढ़ के आजमखाँ के नाम पर प्रसिद्ध हुआ है। जौनपुर के हरिजू नामक कवि ने सतसई का यह क्रम उक्त आजमखाँ के अनुरोध पर निश्चित किया था[2]।

बहादुरशाह (शासन काल सं० १७६४–१७६९)—जिस समय मुअज़्जम अपने छोटे भाई आज़म को पराजित कर बहादुरशाह के नाम से मुगल सम्राट हुआ था, उस समय उसकी आयु प्रायः ६४ की थी। वह शरीर से अशक्त होने के साथ ही साथ स्वभाव से भी दुर्बल था; अतः वह शासन व्यवस्था पर नियंत्रण रखने में असमर्थ सिद्ध हुआ। वह केवल ५ वर्ष तक शासन कर सका था। उसके बाद सं० १७६९ (२७ फरवरी, सन् १७१२) में उसकी मृत्यु हो गई। उसे दिल्ली में दफनाया गया था।

बहादुरशाह के पश्चात् उसका पुत्र जहाँदार शाह ५१ वर्ष की आयु में बादशाह हुआ था। वह बड़ा विलासी और अयोग्य शासक था। वह एक वर्ष भी शासन नहीं कर पाया कि अपने भतीजे फर्रुखसियर द्वारा मार डाला गया। सं० १७७० में फर्रुखसियर बादशाह हुआ। वह भी अयोग्य शासक था और उसे सं० १७७५ में अत्यंत निर्दयतापूर्वक मार दिया गया था। उसके बाद थोड़े काल में कई बादशाह हुए; किंतु वे सब अपने मंत्रियों के हाथ की कठपुतली थे।

---

(१) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ५२१

(२) बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ २७२

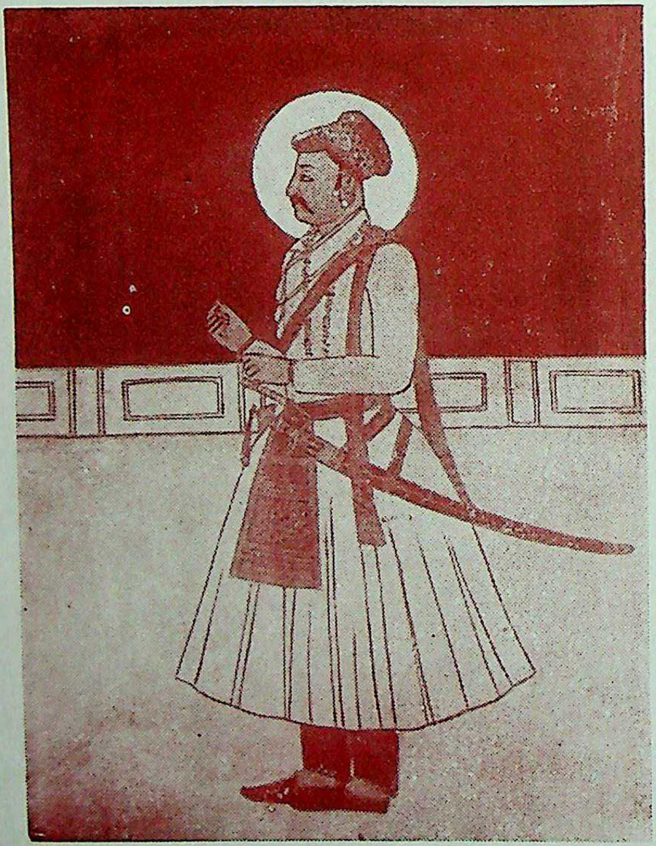

मिर्ज़ा राजा जयसिंह

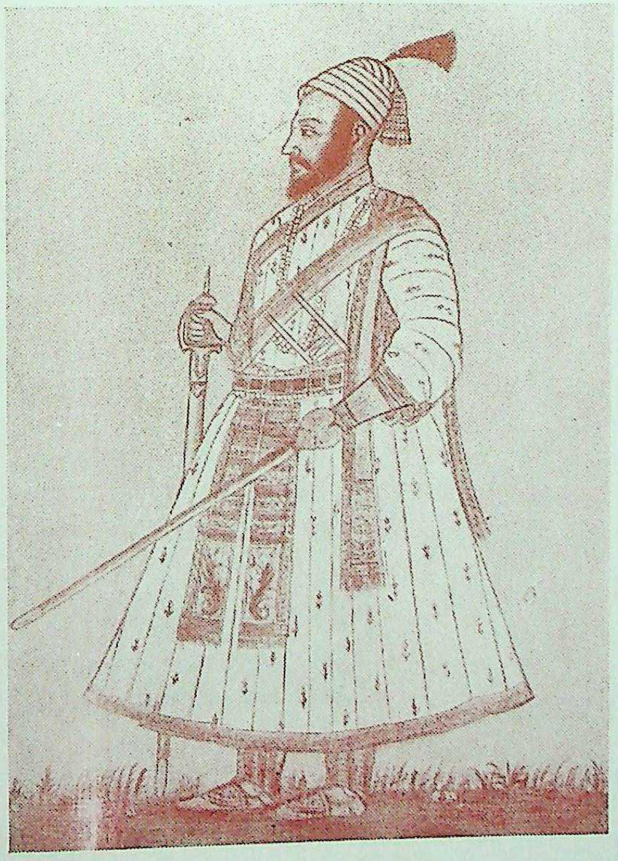

छत्रपति शिवाजी

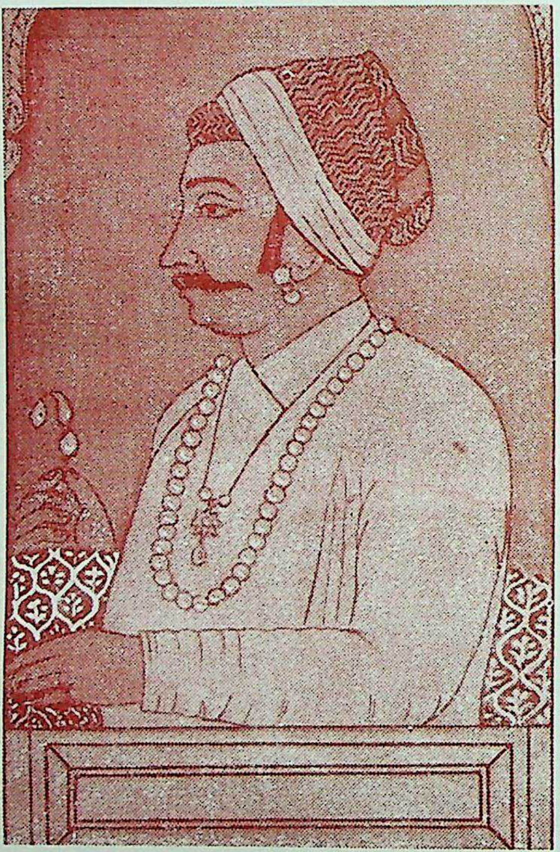

सवाई राजा जयसिंह

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

उस समय दो सैयद भाइयों के हाथों में मुगल शासन की बागडोर थी। वे जिसे चाहते, उसे बादशाह बनाते और जब चाहते, तब उसे गद्दी से उतार देते थे। उस काल में दक्षिण के मरहठों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। राजस्थान में राजपूत राजा और ब्रज प्रदेश में जाट सरदार अपनी–अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। उत्तर में सिक्खों और रुहेलों का ज़ोर बढ़ रहा था। उन सबके कारण मुगल सम्राट के प्रभाव और उसकी प्रतिष्ठा में बड़ी कमी हो गई थी। उस काल में मुगलों के प्रताप का सूर्य निरंतर अस्ताचल की ओर जा रहा था।

मुहम्मदशाह (शासन काल सं० १७७६–१८०५)—वह आरामतलब, विलासी एवं शक्तिहीन होने के कारण शासन कार्य के सर्वथा अयोग्य था; किंतु राग–रंग और गायन–वादन का बड़ा प्रेमी एवं प्रोत्साहनकर्त्ता था। उसने शासन का समस्त दायित्व और राज्याधिकार अपने मंत्रियों तथा सेनापतियों को सोंप दिया था और वह स्वयं दिन–रात गायन–वादन में ही लगा रहता था। वह राग–रंग का इतना शौक़ीन था कि उसके आनंद की तुलना में उसे अपने ताज–तख़्त की बिलकुल चिंता नहीं थी। इसीलिए वह मुहम्मदशाह 'रंगीला' के नाम से प्रसिद्ध है। औरंगजेब के काल से जो संगीत कला ह्रासोन्मुखी हो रही थी, वह उसके काल में पुनः प्रगति के पथ पर अग्रसर हो गई। उसके प्रोत्साहन से उसके दरबारी गायक और वीणावादक सदारंग–अदारंग ने 'ख्याल' की गायकी का व्यापक प्रचार किया था। स्वयं उसके रचे हुए भी ख्याल के अनेक गीत उपलब्ध हैं, जिनमें 'मुहम्मदशा' अथवा 'सदा रंगीले मुहम्मदशा' की नाम-छाप मिलती है।

उसके शासन काल में राज्य प्रबंध की शिथिलता के कारण अनेक स्थानों में उपद्रव होने लगे थे। आगरा के आस–पास के क्षेत्र में जाटों की विद्रोहात्मक हलचलें बहुत बढ़ गई थीं, जिनसे आगरा का तत्कालीन सूबेदार बड़ा परेशान था। मुहम्मदशाह ने अपने राज्य की प्रबंध–व्यवस्था को ठीक करने के लिए आमेर के तत्कालीन राजा जयसिंह का सहयोग प्राप्त किया और उसे आगरा का सूबेदार बना दिया। जयसिंह ने जाटों को दबाने के लिए उनके प्रसिद्ध केन्द्र 'थूण' के गढ़ पर आक्रमण किया और सं० १७७९ में उस पर विजय प्राप्त की। उससे प्रसन्न होकर मुहम्मदशाह ने जयसिंह को 'राजराजेश्वर सवाई महाराज' की पदवी प्रदान की थी। जहाँ उसका पूर्वज जयसिंह 'मिर्ज़ा राजा' कहलाता था, वहाँ वह 'सवाई राजा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी सूबेदारी का काल ब्रज की सांस्कृतिक हलचलों के लिए बड़ा प्रसिद्ध है, अतः यहाँ उसका विस्तार से उल्लेख किया जाता है।

सवाई राजा जयसिंह—वह सं० १७७७ से सं०१७८३ तक आगरा का सूबेदार रहा था। उस काल में मथुरा–वृंदाबन सहित समस्त ब्रजमंडल उसके प्रशासन और प्रभाव क्षेत्र में था। ब्रज में उसकी सैनिक छावनी मथुरा नगर से प्रायः दो मील दूर वृंदाबन की सड़क पर उस स्थान पर थी, जिसे अब 'जयसिंहपुरा' कहते हैं। वृंदाबन में उसकी कचहरी का स्थान 'जयसिंह का घेरा' कहलाता है। उसके पूर्वज राजा मानसिंह ने मथुरा में जो दुर्ग बनवाया था, वह उसके काल में जीर्ण हो गया था। जयसिंह ने उसकी मरम्मत करा कर उसमें ज्योतिष की एक 'बेधशाला' बनवाई थी। उसने अपनी पुत्री का विवाह भी सं० १७८० में श्री कृष्ण–जन्माष्टमी के शुभ अवसर पर मथुरा में ही किया था।

सवाई जयसिंह ने जहाँ मुगल साम्राज्य की राजकीय व्यवस्था को ठीक किया था, वहाँ हिंदुओं की शोचनीय स्थिति को सुधारने के लिए मुहम्मदशाह से अनेक सुविधाएँ भी प्राप्त की थीं। औरंगजेब ने ग़ैर मुस्लिमों पर जो 'ज़ज़िया' कर लगाया था, उसे मुहम्मदशाह ने जयसिंह के प्रभाव के कारण ही सं० १७८० में हटा दिया था। अकबर के काल में महाभारत का फ़ारसी अनुवाद 'रज़मनामा' के नाम से किया गया था और उसे अनेक कलात्मक चित्रों से सजाया गया था। उस अमूल्य ग्रंथ की जिल्दें मुहम्मदशाह ने सवाई राजा जयसिंह को भेंट कर दी थीं, जो अभी तक जयपुर के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस प्रकार मुगल कला की वह बहुमूल्य निधि बाद में होने वाली नादिरशाही लूट से बच गई थी।

सवाई जयसिंह हिंदू धर्म और संस्कृति का प्रबल पक्षपाती एक धर्मप्राण राजा था; किंतु फिर भी उसके द्वारा वृंदावन के वैष्णव संप्रदायों को धर्म-संकट सहन करना पड़ा था। उसका कारण यह था कि कुछ वैष्णव विरोधी लोगों ने राजा को यह कह कर भड़का दिया था कि वृंदावन के भक्ति संप्रदाय वैदिक विधि-निषेध को नहीं मानते हैं। सवाई जयसिंह स्मार्त्त धर्म और वैदिक विधि-विधान का सुदृढ़ समर्थक था। उसे यह सहन नहीं हुआ कि वैष्णव धर्म का कोई संप्रदाय 'लोक' के साथ 'वेद' की भी उपेक्षा करे! फलतः उसने वृंदाबन के भक्ति संप्रदायों को अपनी मान्यताओं की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए विवश किया था। उसके लिए सं० १७८० के लगभग आमेर में एक वृहत् धर्म संमेलन का आयोजन किया गया। राजा का आदेश था कि वृंदाबन के सभी भक्ति संप्रदाय अपने प्रतिनिधि भेज कर वहाँ अपने संप्रदायों की प्रामाणिकता सिद्ध करें। भक्ति संप्रदायी महानुभाव प्रेमा भक्ति के एकांत उपासक थे। वे धार्मिक विवाद और शास्त्रार्थ के झंझट में नहीं पड़ना चाहते थे। किंतु राजा के आदेश की अवहेलना करना भी संभव नहीं था। उस काल में जिन भक्ति संप्रदायों ने उक्त संमेलन में भाग लेकर अपने सिद्धांतों की प्रामाणिकता सिद्ध की थी, वे सवाई राजा द्वारा पुरस्कृत हुए थे। जो वहाँ नहीं जा सके, वे राजा के कोप से बचने के लिए वृंदाबन ही छोड़ कर चले गये थे। इस प्रकार निष्क्रमण करने वालों में उस काल के राधावल्लभीय धर्माचार्य गण प्रमुख थे। उन्हें कई वर्ष तक वृंदाबन से बाहर रहना पड़ा था और राजा के देहावसान होने के बाद ही वे अपने घरों को वापिस लौट सके थे।

सं० १७८४ में सवाई जयसिंह आगरा की सूबेदारी से अवकाश लेकर अपने आमेर राज्य में चला गया, जहाँ वह सं० १७८९ तक रहा था। उस काल में उसने जयपुर नगर का निर्माण किया, ज्योतिष की अनेक बेधशालाएँ बनवाईं और अपने राज्य की श्री-वृद्धि की थी। उसने 'अश्वमेध यज्ञ' भी किया, जो पिछले हज़ार-बारहसौ वर्षों से भारत में नहीं हुआ था। सं० १७८९ में मुहम्मदशाह ने फिर उसे मालवा का सूबेदार बनाया था, ताकि वह मरहठों को उत्तर की ओर बढ़ने से रोक सके। सं० १७९१ में उसकी बाजीराव पेशवा से संधि हो गई थी, अतः वह मालवा से जयपुर लौट गया और अपने राज्य को समृद्ध करने में लग गया था।

सवाई जयसिंह प्रतिष्ठा और प्रभाव में अपने पूर्वज राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, मिर्ज़ा जयसिंह की परंपरा में था; किंतु विद्वत्ता में उन सबसे बढ़ा हुआ था। वह संस्कृत का ज्ञाता तथा ज्योतिष और वास्तु कला का विशिष्ट विद्वान था। उसने लैटिन भाषा के गणित ग्रंथों का तथा रेखा गणित की प्रसिद्ध रचना 'यूकलिड' का संस्कृत में अनुवाद कराया था। उसने अपने

राज्य को विद्या, कला और वाणिज्य का केन्द्र बनाने के लिए भारत के विभिन्न स्थानों से बड़े-बड़े विद्वानों, कलाकारों और व्यापारियों को बुलाया और उन्हें सम्मान पूर्वक जयपुर में बसाया था। यही कारण है कि आज जयपुर नगर विविध विद्याओं एवं कलाओं का प्रमुख केन्द्र है और उद्योग-वाणिज्य की भी बड़ी मंडी है। जयपुर राज्य की श्री–वृद्धि में सवाई राजा जयसिंह का बहुत बड़ा योग था। उसका देहावसान सं० १८०० में हुआ था।

राजा जयसिंह के अनुकरण पर उसके उच्च पदाधिकारियों ने भी धर्म, साहित्य और कला का संरक्षण किया था। उसका मंत्री राजा आयामल्ल साहित्य का प्रेमी और कवियों का आश्रयदाता था। उसके प्रोत्साहन से ही मथुरा के कृष्ण कवि ने विहारी सतसई की सुप्रसिद्ध टीका की थी। इस टीका की एक सचित्र प्रति भी उपलब्ध है। इसमें विहारी के प्रत्येक दोहा के भाव को गद्य-पद्यात्मक टीका के साथ ही साथ कलात्मक चित्रों द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। इसके चित्र आयामल्ल के आश्रित किसी चित्रकार ने बनाये थे और इसकी पूर्ति सं० १७८८ में हुई थी[१]। आयामल्ल का देहांत सं० १८०४ में हुआ था[२]। जयसिंह के एक दूसरे पदाधिकारी हरीसिंह के आश्रय में जैन कवि भूधरदास ने सं० १७८१ में 'जैन शतक' की रचना की थी[3]।

नादिरशाह का आक्रमण—मुहम्मदशाह के शासन-काल की एक अत्यंत दुःखांत घटना नादिरशाह का आक्रमण थी। मुगल शासन के आरंभ से अब तक किसी बाहरी शत्रु का इस देश पर आक्रमण नहीं हुआ था; किंतु उस काल में दिल्ली की शासन-सत्ता इतनी दुर्बल हो गई थी, कि ईरान के एक महत्वाकांक्षी लुटेरे शासक नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण करने का साहस किया था। उसने मुगल सम्राट द्वारा शासित काबुल-कंधार के प्रदेश पर अधिकार कर पेशावर स्थित मुगल सेना का विध्वंस कर डाला। जब मुहम्मदशाह को नादिरशाह के आक्रमण की बात बतलाई गई, तो उसने उसे हँसी में उड़ा दिया। उसकी आँखें तब खुलीं जब नादिर की सेना पंजाब को रोंधती हुई करनाल तक आ पहुँचीं थी। मुहम्मदशाह ने अपनी सेना उसके विरुद्ध भेजी; किंतु सं० १७९६ (२४ फरवरी, १७३९) में उसकी पराजय हो गई। नादिर ने पहिले २ करोड़ रुपया हर्जाना देने की माँग की थी, किंतु उसके स्वीकार होने पर वह २० करोड़ माँगने लगा!

मुगलों का कारूं का सा खजाना भी उस काल में खाली हो गया था, अतः २० करोड़ कैसे दिया जा सकता था। फलतः नादिर ने दिल्ली को लूटने और वहाँ नर-संहार करने की आज्ञा प्रदान कर दी! उसके बर्बर सैनिक राजधानी में घुस पड़े और उन्होंने लूट-मार का बाजार गर्म कर दिया। उसके कारण दिल्ली के हज़ारों नागरिक मारे गये और वहाँ बुरी तरह लूट की गई। दिल्ली की लूट में उस ईरानी को २० की बजाय ३० करोड़ रुपया नकद मिला था और उसके अतिरिक्त बेशुमार जवाहरात, बेगमों के बहुमूल्य वस्त्राभूषण, सोने-चाँदी के बर्तन, किमख्वाब एवं अतलश की बर्दियाँ तथा तोपों के साथ ही साथ तख्त ताऊस और कोहनूर हीरा भी उसके हाथ लगा था। शाही हरम की सुंदर स्त्रियों के साथ मुहम्मदशाह की पुत्री शहनाज़ बानू भी उसके हाथ पड़ गई, जिसका विवाह उसने अपने पुत्र नसरुल्ला खाँ से कर दिया था।

---

(१) **भारतीय चित्र कला** (मेहता), पृष्ठ ८४

(२) **फाल आफ मुगल एम्पायर** (सरकार), भाग १, पृष्ठ २९६

(३) **मिश्रबंधु विनोद, द्वितीय खंड,** पृष्ठ ६५१

नादिरशाह प्रायः दो महीने तक दिल्ली में लूट-मार करता रहा । उसके कारण मुगलों की राजधानी उजाड़ और बर्बाद सी हो गई थी । जब वह यहाँ से जाने लगा, तब करोड़ों की संपदा के साथ ही साथ वह "१००० हाथी, ७,००० घोड़े, १०,००० ऊँट, १०० खोजे, १३० लेखक, २०० संगतराश, १०० राज और २०० बढ़ई भी अपने साथ ले गया था[1] ।" उसने मुगल साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी काबुल-कंधार के सूबे को भी अपने राज्य में मिला लिया था । ईरान पहुँच कर उसने तख़्त ताऊस पर बैठ कर बड़ा शानदार दरबार किया । भारत पर आक्रमण करने से पहिले उसने अपने सैनिकों से वायदा किया था कि वह लूट के माल को उनमें बराबर-बराबर बाँट देगा; मगर ईरान पर पहुँच कर वह अपने वचन से फिर गया । उसके कारण उसके सैनिकों में बड़ा असंतोष फैल गया था । उसके फल स्वरूप उसके सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और फिर सुयोग मिलते ही उसका वध कर डाला । नादिरशाह की मृत्यु सं० १८०४ में हुई थी ।

नादिरशाही और ब्रज—नादिरशाही का तांडव नृत्य दिल्ली तक ही सीमित रहा था, वह आगे नहीं बढ़ा था । दिल्ली से जो लोग माल-मता लेकर भागे थे, उनका पीछा करते हुए नादिर के कुछ सैनिक थोड़ा आगे भी बढ़े थे; किंतु उन्होंने मथुरा-वृंदावन में लूट-मार की हो, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है । श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने लिखा है कि नादिरशाह के सिपाहियों ने मथुरा-वृंदावन में भी लूट-मार की थी । उसी में ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि घनआनंद की मृत्यु हुई थी[2]। श्री वाजपेयी जी का उक्त कथन ठीक नहीं है । घनआनंद नादिरशाह के आक्रमण के बाद भी जीवित रहा था, अतः नादिशाही में उसका मारा जाना अप्रामाणिक है । उसकी मृत्यु बाद में अहमदशाह के आक्रमण-काल में हुई थी । फिर भी मथुरा-वृंदावन में नादिरशाह के भीषण आक्रमण से बड़ा भय और आतंक छा गया था । उसकी अभिव्यक्ति ब्रज के लोक गीतों में हुई थी । भयभीत नारियों द्वारा गाये हुए गीतों की ध्वनि—"नादिरशाह डरी तेरे हौले तें" वर्षों तक ब्रज के वातावरण में गूँजती रही थी ।

मुहम्मदशाह की मृत्यु—नादिरशाह के आक्रमण के बाद भी मुहम्मदशाह कई वर्ष तक जीवित रहा था, किंतु उसका शासन दिल्ली के ओर-पास के भाग तक ही सीमित रह गया था । साम्राज्य के अधिकांश सूबे स्वतंत्र हो गये और विभिन्न स्थानों में साम्राज्य विरोधी शक्तियों का उदय हो गया था । मुहम्मदशाह उन्हें दबाने में असमर्थ था । वह स्वयं अपने मंत्रियों और सेनापतियों की दया पर निर्भर था । उसकी मृत्यु सं० १८०५ (२६ अप्रेल, सन् १७४८) में हुई थी । इस प्रकार उसने ३० वर्ष तक शासन किया था । वह किसी तरह अपने शासन काल को पूरा तो कर गया, किंतु मुगल साम्राज्य को सर्वनाश के कगार पर खड़ा कर गया था ।

अंतिम मुगल सम्राट—मुहम्मदशाह के बाद भी दिल्ली में कई मुगल सम्राट हुए, किंतु वे नाम मात्र के सम्राट या बादशाह थे । उनके नाम क्रमशः अहमदशाह (सं० १८०५–१८११), आलमगीर द्वितीय (सं० १८११–१८१६), शाहआलम (सं० १८१६–१८६३), मुहम्मद अकबर (सं० १८६३–१८९४) और बहादुरशाह (सं० १८९४–१९१५) मिलते हैं । उनके काल में जाट–मरहठा अत्यंत शक्तिशाली हो गये थे और ब्रज के अधिकांश भाग पर जाटों का अधिकार हो गया था । इस प्रकार चाहें मुगल साम्राज्य का अस्तित्व बहादुरशाह के काल तक बना रहा, किंतु ब्रज की राजनैतिक हलचलों की दृष्टि से मुहम्मदशाह को ही अंतिम मुगल सम्राट माना जा सकता है ।

---

(१) **मुगल कालीन भारत** (भाग २), पृष्ठ १५४ (२) **ब्रज का इतिहास** (प्रथमभाग), १८१ पृष्ठ

३. जाट–मरहठा काल

[विक्रम सं० १८०५ से सं० १८८३ तक]

जाट–मरहठा राज–शक्तियाँ—मुगल काल में जिन नवीन राज–शक्तियों का उदय हुआ था और मुगल शासन के शिथिल होते ही जिन्होंने ब्रज के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी, उनमें जाटों और मरहठों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जाट जाति का इतिहास काफ़ी पुराना है और मुसलमानी शासन के आरंभिक काल में ही इसका आक्रमण-कारियों से संघर्ष होता रहा है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, जाट जाति मूलतः कृषि जीवी है; किंतु मुसलमानी शासन की असहिष्णुता, विशेष कर औरंगजेबी काल से अत्याचारों ने उसे एक शक्तिशाली सैनिक शक्ति बना दिया था[1]। मरहठों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है; किंतु उन्होंने शिवाजी के नेतृत्व में औरंगजेबी काल में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। बाद में पेशवाओं और उनके सैनिक सरदारों ने मरहठा शक्ति का इतना विस्तार किया कि उसका भारतव्यापी महत्व हो गया था। मुगल शासन के अंतिम काल से लेकर अंगरेज़ी शासन के आरंभिक काल तक ब्रज में जाटों और मरहठों की समानान्तर हलचलें होती रही थीं और उन दोनों राज–शक्तियों ने यहाँ के राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन को बड़ा प्रभावित किया था, अतः वह 'जाट–मरहठा काल' के नाम से ब्रज के इतिहास में अपना विशिष्ट महत्व रखता है।

जाटों का राजनैतिक महत्व—यद्यपि प्रस्तुत काल में मरहठों ने अपनी प्रबल सैनिक शक्ति से समस्त देश को प्रभावित किया था, तथापि ब्रज की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति पर मरहठों की अपेक्षा जाटों का अधिक प्रभाव रहा था। जाट जाति के नेताओं ने इसी काल में ब्रज के विविध स्थान जैसे सिनसिनी, थूण, डीग, भरतपुर, मुरसान और हाथरस आदि में कई छोटे–बड़े राज्यों की स्थापना की थी और उनका संचालन किया था। उक्त राज्यों के शासकों में डीग-भरतपुर के राजाओं का अधिक महत्व है। उन्होंने ब्रज की गौरव–वृद्धि के लिए बड़ा प्रयत्न किया था, इसीलिए उन्हें 'ब्रजेन्द्र' अथवा 'ब्रजराज' कहा जाता था। ब्रज के लंबे इतिहास में कृष्णकालीन यादवों के पश्चात् जिन थोड़े से हिंदू राजवंशों ने यहाँ शासन किया था, उनमें डीग–भरतपुर के राजा गण अन्यतम थे। उन्होंने प्रायः एक शताब्दी तक ब्रज के बड़े भाग पर स्वतंत्र शासन किया था, अतः उनका 'ब्रजेन्द्र' अथवा 'ब्रजराज' विरुद सार्थक ही था। उनके सैनिक संघर्ष और राज्य संचालन के कारण ही जाटों को उस काल में बड़ा राजनैतिक महत्व प्राप्त हुआ था।

जाट शासन की पृष्ठभूमि—मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन में ही ब्रज के हिंदुओं के साथ असहिष्णुता और अत्याचार का सूत्रपात हो गया था। उसके शासन काल में मथुरा के एक फौजदार मुर्शिदकुली खाँ (सं० १६९३–१६९६) ने अपनी कामुकता से ब्रज में बड़ा अंधेर मचा दिया था। 'मासिर-उल-उमरा' के आधार पर श्री यदुनाथ सरकार ने उसके अत्याचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है,—"मुर्शिदकुली खाँ ब्रज के गाँवों में सुंदरियों की तलाश में धावा किया करता था। उसकी एक बुरी आदत यह थी कि हिंदू उत्सव–त्यौहारों के अवसर पर वह हिंदुओं ती तरह तिलक लगा कर और धोती पहिन कर उनकी भीड़ में मिल जाता था। जब वह

---

(१) **ब्रज संस्कृति की भूमिका**, पृष्ठ ७०–७४

किसी चंद्रमुखी को देखता, तो भेड़िया की तरह झपट कर उसे ले भागता था। उसके आदमी पहिले से ही यमुना के किनारे नाव लेकर तैयार रहते थे[1] ।'' उसके अत्याचारों से तंग आकर ब्रज की रुष्ट जनता ने उसका बध कर दिया था।

शाहजहाँ के उत्तर काल में सं० १७११ के बाद से ब्रज प्रदेश पर दारा का नियंत्रण रहा था। उसकी उदार धार्मिक नीति के कारण ब्रज की स्थिति में कुछ सुधार हुआ था। जब औरंगजेब द्वारा दारा की पराजय हुई, तब उसके सैनिक ब्रज से भाग गये थे। उस समय यहाँ फिर अशांति और अव्यवस्था फैल गई थी। उस काल में मथुरा और कोल (अलीगढ़) के परगनों में बसने वाली जाट जाति के एक नेता नंदराम का उदय हुआ था। उसने कुछ इलाके पर अधिकार भी कर लिया, किंतु मुगल सेना ने उसे दबा कर पुनः उस क्षेत्र पर आधिपत्य कायम कर लिया था! उसके बाद औरंगजेब के फौजदार अब्दुलनवी का ब्रज पर अत्याचारी शासन आरंभ हुआ, जिसके प्रतिकार में ब्रज की ग्रामीण जनता ने सं० १७२६ में विद्रोह कर दिया था। उस विद्रोह का नेता तिलपट का ज़िमीदार गोकुला जाट था। उसने शक्तिशाली मुगल सेना के छक्के छुड़ा दिये थे; किंतु अंत में उसे पकड़ कर आगरा ले जाया गया, जहाँ उसका निर्दयता पूर्वक बध किया गया था।

राजाराम की हलचलें--गोकुला की मृत्यु के अनंतर सं० १७४२ में जाटों ने फिर विद्रोह किया था। उस समय उनका नेता सिनसिनी का राजाराम था। उस काल में औरंगजेब दल-बल सहित दक्षिण में था और वहाँ वह लंबे युद्धों में उलझा हुआ था। दिल्ली से दक्षिण को जो सैन्य सामग्री और रसद जाती थी, उसका मार्ग ब्रज प्रदेश में होकर था। राजाराम अपने जाट सैनिकों के साथ शाही सेना पर अचानक छापा मारा करता था। वह शाही खजाना, अस्त्र-शस्त्र और खाद्यान्न को लूट कर ले जाता था। उस समय जाटों ने अपनी सुरक्षा के लिए कई स्थानों में छोटे दुर्गों के रूप में 'गढ़ी' बना ली थीं। उनमें 'थूण' और 'सिनसिनी' के नाम उल्लेखनीय हैं। सिनसिनी ब्रज का एक छोटा सा गाँव है, जो डीग से कुछ दक्षिण में और भरतपुर से १६ मील उत्तर-पश्चिम की ओर है। भरतपुर के जाट राजाओं के पूर्वज उसी गाँव के थे, इसीलिए वह राज घराना 'सिनसिनवार' कहलाता था।

राजाराम और उसके साथियों की हलचलों का क्षेत्र सिनसिनी से धौलपुर तक और मथुरा से आमेर राज्य की सीमा तक विस्तृत था। उस काल में शाही रसद और खजाने को लूटने के लिए जाटों के दल के दल घूमते रहते थे। वहाँ के राजमार्गों पर मुगल शासन का कोई प्रभाव नहीं रह गया था। जो व्यापारी और यात्री निर्विघ्नता पूर्वक यात्रा करना चाहते थे, उन्हें जाट नेताओं को धन देकर अनुमति-पत्र प्राप्त करने पड़ते थे[2] । जो ऐसा नहीं करते थे, वे प्रायः मार्ग में लुट जाते थे। उस काल में मुगल शासन के स्थानीय कर्मचारी इतने भ्रष्ट हो गये थे कि वे अपने क्षेत्र की अराजकता को दबाने की बजाय जाटों से स्वयं मिले रहते थे, ताकि उन्हें लूट में हिस्सा मिल सके! उसके लिए शाही सूचना-पत्र के विवरण का एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। आगरा के हाकिम फाज़िल खाँ को बादशाह का फरमान मिला था कि वह शाही खज़ाने को कड़े पहरे में

---

(१) **हिस्ट्री आफ औरंगजेब, भाग ३,** पृष्ठ ३३२

(२) **हिस्ट्री आफ दि जाट्स** (परिशिष्ट 'सी') पृष्ठ ३४२,

चम्बल नदी तक पहुँचाने की व्यवस्था करे। उसका प्रबंध करने से पहिले ही उसने उसकी गुप्त सूचना जाटों को भेज दी थी। उस समय वहाँ के जाटों के पास गोली-बारूद का इतना सामान नहीं था कि वे शाही पहरे के सिपाहियों को पराजित कर ख़जाने को लूट सकें। फ़ाज़िल खाँ ने गुप्त रूप से उनके पास गोली-बारूद भी भेजने का प्रबंध कर दिया! फलतः जाटों ने ख़जाना लूट लिया और उसमें से फाज़िल खाँ को भी हिस्सा मिला था[1]।

औरंगजेब ने दक्षिण स्थित सदर मुकाम से अपने नाती वेदारवख्त को आदेश दिया कि वह एक बड़ी मुगल सेना के साथ जाटों की आतंककारी हलचलें बंद करने के लिए प्रस्थान करे। उसके पहुँचने से पहिले ही राजाराम ने और भी कई साहसपूर्ण अभियान कर डाले थे। उसने आगरा में सिकंदरा के निकट पडाव डालने वाली मुगल सेना पर धावा कर दिया और सम्राट अकबर के मकबरा को लूट लिया[2]! सं० १७४५ (२८ मार्च, सन् १६८८) में उक्त मकबरा के प्रबंधक मीर अहमद ने औरंगजेब को सूचना भेजी कि राजाराम के एक शक्तिशाली जाट-दल ने मकबरा पर छापा मारा था। वे वहाँ की कीमती क़ालीनें, सोने-चाँदी के वर्तन, शमादान और सजावट का दूसरा सामान लूट कर ले गये। दूसरी सूचना इस आशय की भेजी गई कि शाहजहाँ के मकबरा के व्यय के लिए जो आठ गाँव लगाये गये थे, उन पर भी राजाराम ने अधिकार कर लिया।

इटालियन यात्री मनूची ने लिखा है, जब जाटों ने मक़बरा पर छापा मारा था, तब उन्होंने सम्राट अकबर की क़ब्र भी खोद डाली थी। उन्होंने उस क़ब्र में से अस्थि अवशेषों को निकाल कर उनका दाह-संस्कार किया था। इस घटना का उल्लेख उस काल के शाही काग़ज-पत्रों में नहीं मिलता है; इसलिए उसकी सत्यता में कुछ विद्वानों ने संदेह प्रकट किया है। इस पर श्री कानूनगो का मत है कि वह घटना संभवतः सत्य है। कारण यह है, औरंगजेब जाटों की हलचलों से इतना कुपित हो गया था कि उसने उनका कत्ले-आम करने के लिए बार-बार हुक्मनामे भेजे थे, जिनसे जाटों में प्रतिहिंसा की अग्नि प्रज्वलित हो गई थी[3]। उस घटना के कुछ समय पश्चात् सं० १७४५ (४ जुलाई, सन् १६८८) में एक दूसरे अभियान में राजाराम की अचानक मृत्यु हो गई थी।

जाट-मुगल संघर्ष—राजाराम की मृत्यु के पश्चात् भी जाटों की हलचलों में कोई कमी नहीं हुई। वे राजाराम के वृद्ध पिता भज्जासिंह के नेतृत्व में मुगलों से निरंतर संघर्ष करते रहे। औरंगजेब उनसे बड़ा परेशान था। उसने आमेर के कछवाहा राजा विशनसिंह को ब्रज का हाकिम नियुक्त कर उसे आदेश दिया कि वह जाटों का सर्वनाश कर उनकी सिनसिनी गढ़ी को अपने अधिकार में कर ले। राजा विशनसिंह की ओर से दिल्ली के आमेर दूतालय में केशौराय नामक एक राजकीय प्रतिनिधि था। वह शाही आदेशों की नियमित सूचनाएँ अपने राजा को भेजा करता था। दूतालय के वे सूचना-पत्र 'अखबारात-दरबारे मुअल्ला' कहे गये हैं। उनमें मुगल सम्राट द्वारा जाटों को 'जाटे बदज़ात' लिखा गया है। इसी से ज्ञात होता है कि औरंगजेबी शासन का जाटों के प्रति कितना तीव्र रोष था।

---

(१) **हिस्ट्री आफ दि जाट्स** (परिशिष्ट 'सी'), पृष्ठ ३४१

(२) ,, **वही** ,, पृष्ठ ४२

(३) ,, **वही** ,, (परिशिष्ट 'सी'), पृष्ठ ३४२

सं० १७४७ में राजा विशनसिंह और शाहज़ादा बेदारबख्त की सम्मिलित सेना ने सिनसिनी पर आक्रमण कर दिया। उस समय राजाराम के पुत्र जोरावर ने बड़ा कड़ा मुकाबला किया था। राजा विशनसिंह का सेनापति हरीसिंह घायल हो गया ; किंतु शाही सेना गढ़ी को घेरे पड़ी रही। जाट बड़ी वीरतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे, किंतु गढ़ी के अंदर सामान की कमी पड़ जाने से वे बाहर निकल कर मुगल सेना से भिड़ गये। दोनों में बड़ा भीषण युद्ध हुआ, जिसमें सैकड़ों सैनिक दोनों पक्ष के मारे गये थे। मुगलों की विशाल सेना ने सिनसिनी की गढ़ी पर अधिकार कर लिया और जोरावर को पकड़ कर उसे निर्दयता पूर्वक मार डाला था।

राजाराम, जोरावर और भज्जा की मृत्यु के पश्चात् जाटों का नया नेता चूड़ामन हुआ था। वह राजाराम का भतीजा था। वह भी मुगल सेना से बराबर टक्कर लेता रहा; किंतु औरंगजेब के जीवन काल में उसका प्रभाव नहीं बढ़ सका था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब उसके दोनों पुत्र राज्याधिकार के लिए आपस में युद्ध कर रहे थे, तब चूड़ामन ने दोनों की सेनाओं को अच्छी तरह लूटा था। उस लूट में उसे अपार सम्पत्ति और सैंन्य सामग्री प्राप्त हुई, जिसका उपयोग उसने जाटों की शक्ति बढ़ाने में किया था। औरंगजेब के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम जब बहादुरशाह के नाम से मुगल सम्राट हो गया, तब उसने चूड़ामन से संधि कर ली और उसे मुगल दरबार में एक मनसबदार बना दिया था। तभी से जाटों ने लूट-मार की अपेक्षा अपने अधिकृत क्षेत्र के शासन पर अधिक ध्यान दिया था।

चूड़ामन द्वारा जाटों का संगठन—चूड़ामन वीर योद्धा और अत्यंत कुशल सेनानायक था। उसमें योग्य संगठनकर्त्ता के भी गुण थे। उसने विखरी हुई जाट जाति को एक सूत्र में बाँध कर उसे एक सुदृढ़ सेना के रूप में संगठित किया था। अपने सुरक्षित निवास के लिए उसने मथुरा के दक्षिण–पश्चिम और आगरा के पश्चिमवर्ती एक नीची दलदली और सघन बनखंड से घिरी हुई भूमि पर एक कच्चा गढ़ बनवाया, जो बाद में भरतपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। सं० १७६९ में बहादुरशाह की मृत्यु होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र जहाँदारशाह दिल्ली के तख़्त पर बैठा था। वह ऐश–आराम में दिन बिताने लगा। उस समय मुगल साम्राज्य में सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता बढ़ गई थी। उस स्थिति का लाभ उठा कर चूड़ामन ने अपनी शक्ति को और भी सुदृढ़ कर लिया था। तब उसके अधिकार में थूण और सिनसिनी के पुराने जाट गढ़ भी आ गये थे।

जहाँदार शाह केवल ९ महीनों तक मुगल सम्राट रहा था। उसके उपरांत उसके भतीजे फर्रुख़सियर ने दिल्ली के तख़्त पर अधिकार कर लिया। उसने भी चूड़ामन की सत्ता को स्वीकार किया था। जाटों की लूट–मार से मुगल साम्राज्य को बचाने के लिए उसने दिल्ली से चंबल तक के पूरे मार्ग की रक्षा का भार चूड़ामन को सोंप दिया था। इस प्रकार वह ब्रज प्रदेश के अधिकांश भाग का बिना छत्र का राजा बन गया था। उसकी मृत्यु सं० १७७८ में हुई थी। चूड़ामन योग्य और प्रभावशाली जाट सरदार था, किंतु उसने ब्रज में व्यवस्थित रूप से जाट राज्य की स्थापना का प्रयास नहीं किया था। वह शासन करने की अपेक्षा लूट–मार द्वारा मुगलों को परेशान करने में ही अपनी सफलता समझता था। फिर भी उसके द्वारा जाटों का जो संगठन हुआ, उससे जाट–शासन की सुदृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण हो गया था।

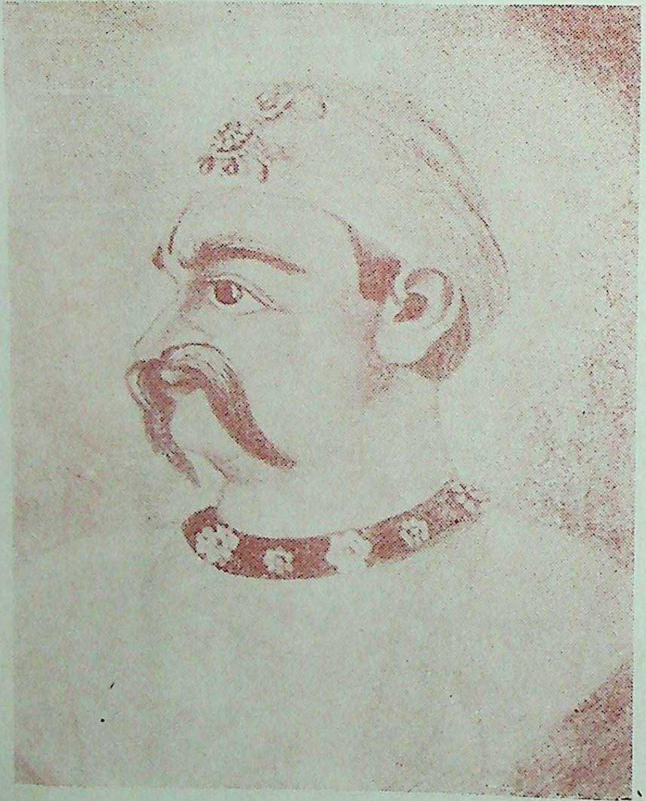

चूड़ामन

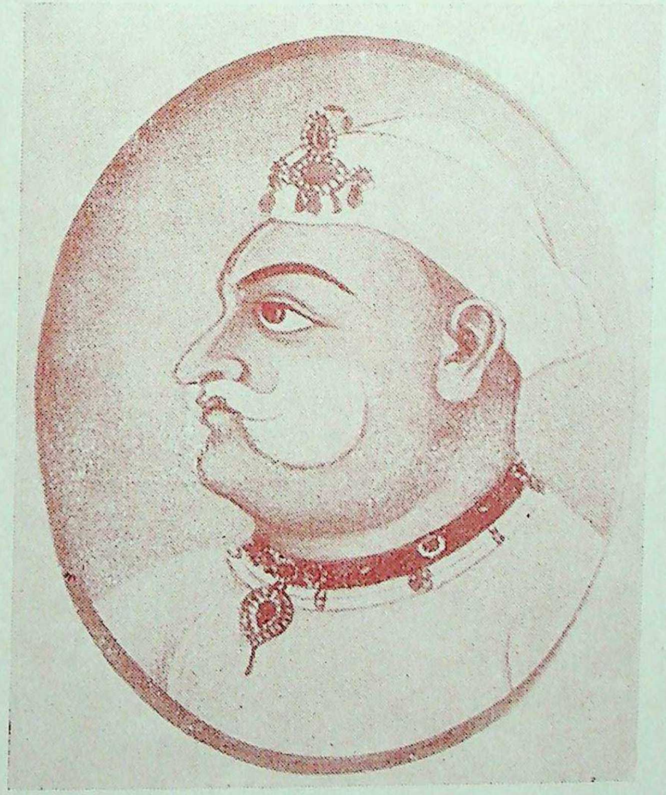

बदनसिंह

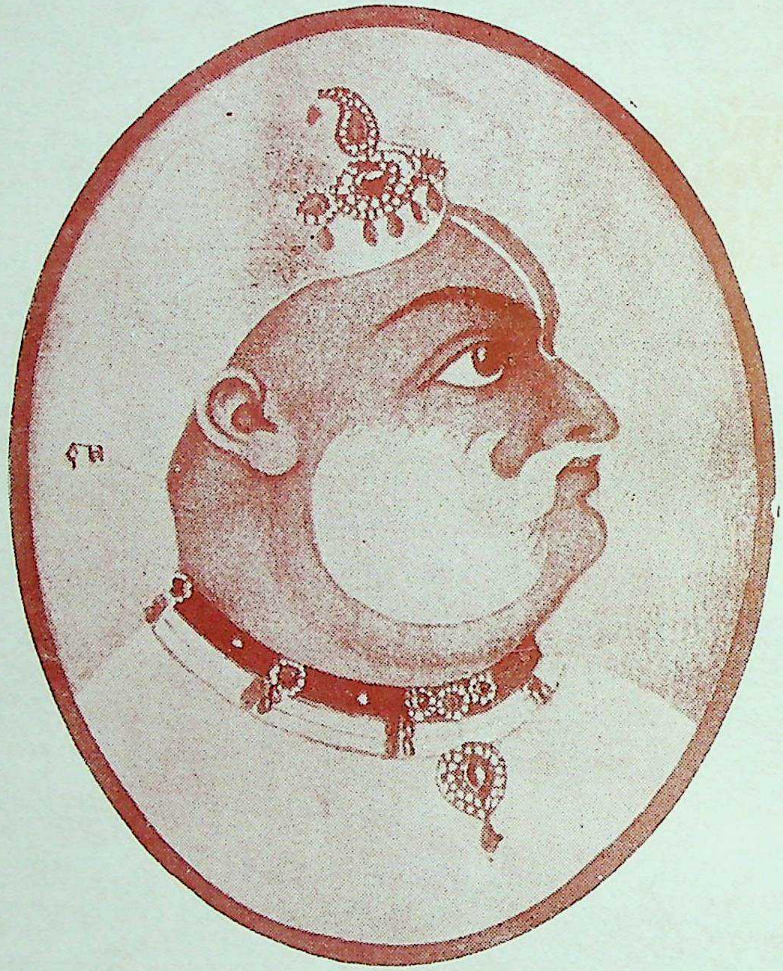

सूरजमल

भरतपुर का किला

बदनसिंह (शासन सं० १७७९-१८१२)—राजाराम और चूड़ामन आदि सरदारों की सैनिक हलचलों से ब्रज में जाट शासन की जो पृष्ठभूमि निर्मित हुई थी, उस पर व्यवस्थित रूप से जाट राज्य की स्थापना करने का श्रेय बदनसिंह को है। बदनसिंह चूड़ामन का भतीजा था, किंतु पारिवारिक कलह के कारण उसे चूड़ामन ने कारागार में बंद कर दिया था। उसी काल में फर्रुखशियर के बाद मुहम्मदशाह मुगल बादशाह हुआ था। उसने अपने साम्राज्य की अव्यवस्था को ठीक करने और शासन में सहयोग देने के लिए आमेर के राजा जयसिंह को आगरा सूबे का राज्यपाल नियुक्त किया था। उसके कारण समस्त ब्रजमंडल भी जयसिंह के प्रभाव क्षेत्र में आ गया था। उसने इस भू-भाग में शांति और व्यवस्था कायम करने के लिए जाटों की हलचलों पर अंकुश लगाना आवश्यक समझा। फलतः उसने जाटों के प्रमुख केन्द्र थूण के गढ़ पर आक्रमण कर दिया। चूड़ामन के पुत्र मोहकम ने गढ़ की रक्षा के लिए बड़ा संघर्ष किया था, किंतु उसकी पराजय हो गई। उसी काल में बदनसिंह कारागार से भाग कर जयसिंह के पास पहुँच गया था और वह उसकी सेना के साथ मोहकम के विरुद्ध लड़ा था। उसके फलस्वरूप थूण की विजय के उपरांत सं० १७७९ में बदनसिंह को जाटों का नया नेता मान लिया गया था।

बदनसिंह वीर सेनानायक होने के साथ ही साथ व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ भी था। उसमें एक सुयोग्य शासक के सभी गुण थे। उसने थूण और सिनसिनी के पुराने गढ़ों की ओर से ध्यान हटा कर डीग और कुम्हेर के जाट क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और वहाँ सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण कराया। वह ठाकुर कहा जाने लगा। इस प्रकार उसने सं० १७७९-८० में जाट राज्य की आधार-शिला रखी और डीग को अपनी राजधानी बनाया। उसने मुगल सम्राट मुहम्मदशाह और उसके प्रभावशाली सहायक जयसिंह से अच्छे संबंध बनाये रख कर अपने राज्याधिकार को सुरक्षित रखा था। उसने सं० १७७९ से सं० १८१२ तक के सुदीर्घ ३३ वर्षों तक शासन किया था। अपने जीवन काल में ही उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल उपनाम सुजानसिंह को राज्याधिकार सौंप दिया था और कनिष्ट पुत्र प्रतापसिंह को वयर के नये दुर्ग सहित वहाँ की जागीर प्रदान की थी। उसने अपना अंतिम जीवन ब्रज के सहार नामक स्थान में साहित्य-चर्चा और काव्य-रचना करते हुए बिताया था।

वह एक सुयोग्य शासक होने के साथ ही साथ साहित्य और कला का प्रेमी एवं प्रोत्साहन कर्ता था। वह कवि और कवियों का आश्रयदाता था। उसके रचे हुए कुछ स्फुट छंद मिलते हैं, जिनमें 'बदन' अथवा 'बदनेश' की छाप है। उसने डीग और वयर में किले बनवा कर उनमें भवन और बाटिका का निर्माण कराया था तथा सहार और कामर नामक स्थानों में हवेलियाँ बनवाई थीं। उनके अतिरिक्त वृंदाबन के धीरसमीर घाट पर उसने एक मंदिर भी बनवाया था। उसका देहावसान सं० १८१२ की ज्येष्ठ शु० १० को हुआ था।

सूरजमल (शासन सं० १८१२-१८२०)—ठाकुर बदनसिंह के चार पुत्रों में सूरजमल उपनाम सुजानसिंह सबसे बड़ा और सबसे अधिक योग्य था। बदनसिंह के अन्य पुत्रों के नाम प्रतापसिंह, शोभाराम और वीर नारायण थे। ऐसा कहा जाता है, सूरजमल बदनसिंह की औरस संतान नहीं था, बल्कि उसका पालित पुत्र था[1], किंतु उसने अपने पिता के नाम को ही उजागर

---

(१) भरतपुर कवि कुसुमांजलि, पृष्ठ २१

नहीं किया, बल्कि ब्रज में एक स्वतंत्र हिंदू राज्य के योग्यतापूर्वक संचालन करने का गौरव भी प्राप्त किया था। उसका शासन–काल सं० १८१२ से सं० १८२० तक है। वैसे सं० १८१२ से कई वर्ष पहिले से अपने पिता बदनसिंह के काल में ही वह शासन का समस्त कार्य करता रहा था।

उसके दरबारी कवि सूदन ने उसकी प्रशंसा में 'सुजान चरित्र' नामक काव्य ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ में उससे संबंधित घटनाओं का, विशेष कर उसके युद्धों का, आँखों देखा वर्णन किया गया है। इसमें सं० १८०२ से १८१० तक के काल में लड़े गये उसके ७ 'जंगों' का बड़ा ओजपूर्ण कथन है। उन युद्धों में सूदन ने भी भाग लिया था, अतः उसका कथन विश्वसनीय माना जा सकता है। उक्त ग्रंथ में आमेर के सवाई राजा जयसिंह की मृत्यु के अनंतर उसके ज्येष्ठ पुत्र ईश्वरीसिंह के पक्ष में मरहठों के विरुद्ध लड़ा गया सं० १८०४ का युद्ध, आगरा–अजमेर के सूबेदार सलावत खाँ के विरुद्ध लड़ा गया सं० १८०५ का युद्ध और सं० १८१० में की गई दिल्ली की लूट के वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसा कहा जाता है, यह ग्रंथ पूर्ण नहीं है; क्यों कि इसमें सूरजमल से संबंधित १८१० के बाद की घटनाओं का उल्लेख नहीं हुआ है। सूदन की मृत्यु कदाचित सं० १८१० के कुछ समय बाद ही हो गई थी, इसीलिए उसमें बाद की घटनाएँ नहीं लिखी जा सकी थीं। इस ग्रंथ में वर्णित दिल्ली की तथाकथित लूट कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, अतः उसका यहाँ कुछ विस्तार से वर्णन किया जाता है।

दिल्ली की लूट—सल्तनत काल से मुगल काल तक के छहसौ वर्षों में ब्रज में जितने भी संकट आये, उन सबका कारण दिल्ली का मुसलमानी शासन था। इसलिए उसके प्रति समस्त ब्रज-मंडल में अत्यंत रोष और प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत हो गई थी, जो समय–समय पर यहाँ के विद्रोहों द्वारा व्यक्त हुई थी। अब तक दिल्ली शासन के अधिकारी ही अपने मजहवी तआस्सुब के कारण ब्रज में लूट–मार किया करते थे; जिसका बदला लेना तो दूर, उससे जान बचाना भी ब्रज-वासियों के लिए कठिन हुआ करता था। किंतु सूरजमल के शासन काल में स्थिति बदल गई थी। उस समय यहाँ के वीर पुरुष किसी आक्रमणकारी से आत्म–रक्षा करने में ही नहीं, वरन् उस पर जवाबी हमला करने के लिए भी अपने को समर्थ समझने लगे थे। उनकी उस सामर्थ्य का प्रदर्शन सूरजमल द्वारा की गई तथाकथित 'दिल्ली की लूट' में हुआ था। वह सूरजमल का अत्यंत साहसपूर्ण सामरिक अभियान था, जिसका वर्णन उसके दरबारी कवि सूदन कृत 'सुजान चरित्र' में हुआ है।

सूदन ने लिखा है, जाट राजा सूरजमल ने अपने विजयोन्मत्त सैनिकों के दल के साथ सं० १८१० के वैशाख माह में दिल्ली की ओर प्रस्थान किया था। वह मुगल सम्राट की विशाल सेना से कई माह तक संघर्ष करता रहा और फिर उसे पराजित कर कार्तिक के महीने में राजधानी में प्रविष्ट हुआ था। उस समय उसने दिल्ली को लूट कर मुसलमानी शासन के विगत अत्याचारों का अपने ढंग से बदला लिया था! उस लूट में उसे जो अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई थी, उसका काव्यात्मक कथन 'सुजान चरित्र' में इस प्रकार हुआ है—

देस देस तजि लच्छमी, दिल्ली कियौ निवास।
अति अधर्म लखि लूट मिस, चली करन ब्रज–वास।।

अथवा—कलि के आदि क्रूर मघवा ने, ब्रज पर कोप जनायौ है।
वही अकस धरि श्री ब्रजेश-सुत, इंद्रपुरहि लुटवायौ है।।

सूरजमल का दिल्ली ग्रभियान केवल जाटों की कारगुज़ारी तक ही सीमित नहीं था; वरन् वह व्रज के समस्त उत्साही वीरों का सामूहिक प्रयास था। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जाट, गोसाईं ग्रादि के साथ गूजर, मैना ग्रौर ग्रहीरों ने भी बड़े उल्लास पूर्वक भाग लिया था। सूदन ने लिखा है—

गूजर गरूर गाढ़े गरज्जि। मैना मलूक मदमत्त धीर।
बे पीर वीर चाले ग्रहीर ।।

सूदन कवि ने दिल्ली ग्रभियान में सम्मिलित होने वाले जिन प्रमुख वीरों के नाम गिनाये हैं, उनमें ग्रनूपसिंह, सुखराम, शंभू, चमूपति, कृपाराम महंत, रामकृष्ण कटारा, कुशलराम कटारा, घमंडीराम पुरोहित, हरनारायण, गंगाराम, हरजी गूजर, दल्ला मेव, बहादुर गड़रिया, लालजी गूजर, ठाकुरदास सेंगर ग्रौर मोहकमसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। उस युद्ध में गोसाईं राजेन्द्र गिरि ग्रौर उमराव गिरि ने भी ग्रपने नागा सैनिकों के साथ भाग लिया था। दिल्ली ग्रभियान के पश्चात् सूरजमल ने गोवर्धन में ग्राकर श्री गिरिराज जी की पूजा की थी ग्रौर मानसी गंगा पर दीपावली उत्सव मनाया था। दिल्ली से वह जो ग्रपार सम्पत्ति लाया था, उसका उपयोग उसने विभिन्न स्थानों के निर्माण कार्यों में किया था।

सूरजमल के उक्त साहसिक ग्रभियान से जहाँ शताब्दियों से दबी हुई ग्रौर ग्रातंकित हिंदू जनता में स्वाभिमान ग्रौर वीरत्व की भावना का उदय हुग्रा था, वहाँ मुसलमानी शासन के कर्मचारियों की हिम्मत पस्त हुई थी। वे लोग उस ग्रभियान को 'जाटगर्दी' कह कर ग्रति काल तक ग्रातंकित होते रहे थे। उनको ऐसा जान पड़ने लगा कि उनकी पिछली ज्यादतियों के कारण ही खुदा की मर्ज़ी से उन्हें यह सब सहना पड़ा है; क्यों कि ग्रब हिंदुग्रों का समय बदला है ग्रौर तुर्कों का ज़माना लद गया है! उनकी उक्त मनोदशा का वर्णन करते हुए सूदन कवि ने कहा है,—"रब की रज़ा है, हमें सहना ही बजा है, वख्त हिंदू का गजा है, ग्राया ग्रोर तुरकानी का!"

मरहठों की हलचलें—जिस समय व्रज ग्रौर उसके निकटस्थ भाग में सूरजमल के वीरत्व का डंका बज रहा था, उसी समय मरहठे पेशवाग्रों की सैनिक हलचलें भी इस ग्रोर बड़ी तीव्र गति से होने लगी थीं। उनकी ग्रदम्य शक्ति का विस्तार दक्षिण से दिल्ली तक हो गया था, जिससे मुगल सम्राट भी भयभीत रहता था। सूरजमल की स्थिति उस समय बड़ी विचित्र थी। उसे ग्रपने ग्रधिकार की सुरक्षा के लिए राजपूतों ग्रौर मुगलों के साथ ही साथ मरहठों से भी संघर्ष करना पड़ता था; जिससे उसकी बढ़ी हुई शक्ति क्षीण हो रही थी। उसी काल में ग्रहमदशाह ग्रब्दाली के इस देश पर ग्राक्रमण हो रहे थे; किंतु मरहठे सरदार उधर ध्यान न देकर जाटों ग्रौर राजपूतों से संघर्ष करने में ही ग्रपनी शक्ति का ग्रपव्यय करते रहे। इस प्रकार मरहठों की हलचलों ने जहाँ राजपूतों ग्रौर जाटों को कमज़ोर किया, वहाँ ग्रहमदशाह ग्रब्दाली को ग्रपने ग्राक्रमणों के विस्तार करने का भी ग्रवसर प्रदान किया था।

ग्रब्दाली के ग्राक्रमण—ग्रहमदशाह ग्रब्दाली सं० १८०४ में नादिरशाह की मृत्यु के पश्चात् ग्रफगानिस्तान का शासक हुग्रा था। उसने सं० १८०५ से १८१५ तक के काल में कई बार भारत पर ग्राक्रमण किया था। वह हर बार पंजाब से दिल्ली तक के किसी भाग में लूट-मार कर वहाँ ग्रपना ग्रधिकार क़ायम करता रहा था। उसका सबसे बड़ा ग्राक्रमण सं० १८१४ (जनवरी,

सन् १७५७) में दिल्ली पर हुआ था। उस समय मुगल सम्राट आलमगीर (द्वितीय) दिल्ली के तख़्त पर आसीन था। वह एक शक्तिहीन और निकम्मा शासक था। उसने अहमदशाह के आक्रमण का प्रतिरोध करने की अपेक्षा उससे अपमानपूर्ण संधि कर ली थी। संधि की शर्तों के अनुसार आलमगीर ने अपनी शाहजादी का विवाह अहमदशाह के पुत्र से कर दिया और दहेज में उसे दिल्ली लूटने को कह दिया ! अहमदशाह एक माह तक दिल्ली में ठहर कर लूट–मार करता रहा था, जिसमें उसे कई करोड़ रुपये की संपदा हाथ लगी थी। उसके अतिरिक्त उसने मुगलों के हरम की खूबसूरत बेगमों और शाहजादियों को भी अपने अधिकार में कर लिया था।

अब्दाली द्वारा ब्रज की भीषण लूट—अहमदशाह अब्दाली की तृष्णा दिल्ली लूटने के बाद और भी बढ़ गई थी। उसने दिल्ली से आगे चल कर लगे हाथ जाटों के अधिकृत क्षेत्र को भी लूटने का विचार किया। उस समय ब्रज प्रदेश के स्वामित्व के लिए जाटों और मरहठों में वैमनस्य और विवाद चल रहा था। उसके कारण इस क्षेत्र की सुरक्षा के लिए दोनों पक्षों में से कोई भी अपने को पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं समझता था। उस विषम स्थिति का लाभ अहमदशाह को अनायास मिल गया। उसने पठानों की प्रबल सेना के साथ दिल्ली से कूँच कर दिया। उस समय रुहेले अफ़ग़ानों का सरदार नजीबुद्दोला और मुगल बादशाह का वज़ीर इमदाद खाँ भी अपनी–अपनी सेनाओं सहित उसके साथ थे।

दिल्ली से कूँच करने के बाद अब्दाली की उस विशाल सेना की पहिली मुठभेड़ जाटों के साथ बल्लभगढ़ में हुई थी। वहाँ सूरजमल के ज्येष्ठ पुत्र जवाहरसिंह के नेतृत्व में जाट सेना की एक छोटी टुकड़ी थी। उन थोड़े से जवानों ने दो दिन तक बड़ी वीरता पूर्वक गढ़ की रक्षा की; किंतु अंत में उन्हें मुसलमानों की बहु संख्यक सेना से पराजित होना पड़ा था। आक्रमणकारियों ने बल्लभगढ़ और उसके निकटवर्ती इलाके को अच्छी तरह लूटा और वहाँ व्यापक जन–संहार किया था। उसके बाद अहमदशाह ने अपने दो सरदारों के नेतृत्व में २० हजार पठान सैनिकों को मथुरा नगर के लूटने के लिए आगे बढ़ा दिया। उसने उन्हें आदेश दिया था,—"मथुरा नगर हिंदुओं का पवित्र स्थान है। उसे पूरी तरह नेस्तनाबूद कर दो। आगरा तक एक भी इमारत खड़ी न दिखाई पड़े। जहाँ कहीं पहुँचो, कत्ले–आम करो और लूटो। लूट में जिसको जो मिलेगा, वह उसी का होगा। सिपाही लोग काफिरों के सिर काट कर लावें और प्रधान सरदार के खेमे के सामने डालते जाँय। सरकारी ख़जाने से प्रत्येक सिर के लिए पाँच रुपया इनाम दिया जायगा[1]।"

अब्दाली की आज्ञानुसार अफगानी सेना जिहाद का झंडा उठाती हुई मथुरा की ओर चल पड़ी। मार्ग में मथुरा से ८ मील पहले चौमुहाँ नामक स्थान पर जाट सेना की एक दूसरी छोटी टुकड़ी के साथ उसका मुकाबला हुआ। जाटों ने वहाँ भी बड़ी वीरता पूर्वक लोहा लिया; किंतु शत्रुओं की बहुसंख्यक सेना से उन्हें पराजित होना पड़ा। उसके बाद विजयोन्मत्त पठानों ने मथुरा के अरक्षित नगर में प्रवेश किया। वे लोग वर्तमान भरतपुर दरवाज़ा और महोली की पौर के मार्गों से नगर में घुस कर सर्वत्र मार–काट और लूट–खसोंट करने लगे। "उस समय फालगुन का मास था। होली का हर्षबर्धक त्यौहार अति समीप था। आबाल–वृद्ध नर–नारी नाँच–गान,

---

(१) **ब्रज का इतिहास,** (प्रथम भाग) पृष्ठ १८७ तथा हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ ९९

आमोद–प्रमोद में मस्त हो रहे थे। माथुरों के मुहल्लों में बड़ी चहल–पहल थी। पुरुष लोग गलियों में, सड़क पर ढोल–ढप के साथ तानें उड़ा रहे थे। स्त्रियाँ छत्त व छज्जों पर बैठी हुई उक्त नाँच-रंग को देख कर प्रसन्न हो रही थीं। सभी अपने-अपने राग में मस्त थे…वह क्रूर सेना माथुरों के मेले में अकस्मात आ धमकी और लगी अपनी पैशाचिक प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करने। तीन दिवस तक निरंतर नर हत्याओं का वीभत्स व्यापार चलता रहा। दिन भर लूट–मार होती थी, रात्रि को घरों में आग लगाई जाती थी… सर्वत्र गली सड़क चौराहों पर, मकानों के ऊपर–नीचे नर–मुंडों के ढेर लग गये। रंग की होली के स्थान पर खून की होली मनाई गई[1] !"

"भरतपुर दरवाजे के समीप सीतला घाटी की एक गली में मथुरा देवी के मंदिर के अंदर एक गुफा थी। पास का जन समूह उस गुफा को सुरक्षित समझ कर उसी में जा घुसा। सैनिकों को उसका भी पता लग गया। सब लोग वहीं भस्मीभूत करके गोलोक पठा दिये गये। …उस जन संहार में बुदौआ और जौनमाने अल्ल वाले माथुरों का बहुत वध हुआ था। उनके वंशज अब तक फाल्गुन शुक्ला ११, १२, १३ को उनकी स्मृति में श्राद्ध करते हैं[2] ।" मथुरा के छता बाजार की नागर गली के सिरे पर बड़े चौवों का पुराना मकान है। उसमें उस समय अनेक नर–नारी और बाल–बच्चे एकत्र थे। यवनों ने उन सबको मार डाला और मकान को तोड़ कर उसमें आग लगा दी। उस भग्न भवन का एक भाग लाल पत्थर के कलात्मक बुर्ज के रूप में अभी तक विद्यमान है, जो अब्दाली के अफगान सैनिकों की क्रूरता पर आँसू बहा रहा है ! इस प्रकार अब्दाली के सैनिकों ने उस वर्ष मथुरा में खून की होली खेली और नगर के अधिकांश भाग को एक विशाल होली की तरह जला डाला था ! "एक प्रत्यक्षदर्शी मुसलमान ने लिखा है—"सड़कों और बाजारों में सर्वत्र हलाल किये हुए लोगों के धड़ पड़े हुए थे और सारा शहर जल रहा था। कितनी ही इमारतें धराशायी कर दी गई थीं। यमुना नदी का पानी नर–संहार के बाद सात दिनों तक लगातार लाल रंग का बहने लगा। नदी के किनारे पर बैरागियों और संन्यासियों की बहुत सी झोंपड़ियाँ थीं। उनमें से हर झोंपड़ी में साधु के सिर के मुँह से लगा कर रखा हुआ गाय का कटा सिर दिखाई पड़ता था[3] ।"

उस अवसर पर अफगानी सेना तीन दिन तक मथुरा नगर में मार–काट और लूट–खसोंट का भयंकर कांड करती रही थी। उसने वहाँ के मंदिरों को नष्ट–भ्रष्ट कर मूर्तियों को तोड़ डाला, पंडा–पुजारियों को मौत के घाट उतारा। पठान सैनिक मथुरा निवासियों के घरों में घुस जाते थे और उन्हें अपना गढ़ा हुआ धन खोद कर निकालने के लिए बाध्य करते थे। उनकी स्त्रियों की इज्जत खराब करते थे। उनके अत्याचारों से बचने के लिए अनेक लज्जाशीला नारियाँ कूओं में अथवा यमुना नदी में डूब कर मर गईं। जो बचीं, उनमें से बहुतों को वे लोग पकड़ कर ले गये।

मथुरा में अपनी पैशाचिक लीला करने के उपरांत अब्दाली के सैनिक वृंदाबन गये। वहाँ पर उन्होंने मंदिर–देवालयों एवं घरों को लूटा और उन्हें नष्ट–भ्रष्ट किया। फिर वे वहाँ के वैष्णव भक्तों का कत्ले–आम करने लगे। उनकी मार–काट से वहाँ भी बड़ा वीभत्स दृश्य उपस्थित

---

(१) और (२) मथुरा महिमा, पृष्ठ ९२–९५

(३) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ १८८

हो गया था। एक प्रत्यक्षदर्शी मुसलमान ने लिखा है,—"वृंदाबन में जिधर नज़र जाती, मुर्दों के ढेर के ढेर दिखाई पड़ते थे। सड़कों से निकलना तक मुश्किल हो गया था। लाशों से ऐसी दुर्गंध ग्राती थी कि साँस लेना भी दूभर हो गया था[१]।"

जिस काल में वृंदाबन पर ग्रब्दाली के सैनिकों ने ग्राक्रमरग किया था, उस समय ब्रज के भक्त-कवि चाचा वृंदाबनदास विद्यमान थे। वे किसी प्रकार बच कर वृंदाबन से भरतपुर चले गये थे। उन्होंने जाट राजा सूरजमल के उस नवीन दुर्ग में ही ग्रपनी एक काव्य कृति 'हरि कला बेली' की रचना की थी। उसमें वृंदाबन पर यवनों के ग्राक्रमरग ग्रौर उसमें हुई भीषरग क्षति का मर्मस्पर्शी कथन किया है। उन्होंने उसका ग्रारंभ करते हुए लिखा है—"ग्रठारह सौ तेरह बरस, हरि ऐसी करी। जमन बिगोयौ देस, बिपति गाढ़ी परी।।" उक्त रचना में तीन कलाएँ (खंड) हैं। प्रथम कला में उन्होंने ग्रौरंगजेब के समय में हुए वृंदाबन के ग्राक्रमरग का उल्लेख किया है, जिसमें राधावल्लभ जी के मंदिर सहित ग्रनेक प्रसिद्ध मंदिर-देवालय नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे। दूसरी कला में ग्रब्दाली के ग्राक्रमरग का वर्रगन है। उसमें बतलाया गया है कि उस समय वृंदाबन में जो वैष्रगव भक्त मारे गये थे, उनमें कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—गो० मुकुंदलाल (चाचा वृंदाबनदास के गुरु गो० रूपलाल के बड़े भाई), बाबा प्रेमदास (हितचतुरासी के सुप्रसिद्ध टीकाकार), कृष्रगदास भावक, जादौदास (मीराबाई के शिष्य), घनानंद (शाह ग्रालम के मीर मुंशी), जुगलदास (ग्रवधूत साधु), पुजारी कृष्रगदास ग्रौर भगवानदास ग्रादि[२]। उक्त उल्लेख से सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा के विख्यात कवि घनानंद जी ग्रब्दाली के उक्त ग्राक्रमरग में मारे गये थे, न कि नादिरशाह के ग्राक्रमरग में, जैसा कुछ विद्वानों ने लिखा है[३]। नादिरशाह का ग्राक्रमरग ग्रधिकतर दिल्ली तक ही सीमित रहा था, जैसा पहिले लिखा जा चुका है।

ग्रफगान सैनिकों द्वारा मथुरा-वृंदाबन में लूट-मार ग्रौर बर्बादी किये जाने के तत्काल पश्चात् ग्रहमदशाह ग्रब्दाली स्वयं भी ग्रपनी शेष सेना के साथ मथुरा ग्रा पहुँचा था। उसका लक्ष्य ग्रब ब्रज के तीसरे प्रमुख केन्द्र गोकुल में लूट-मार कर वहाँ से ग्रागरा जाना था। उसने मथुरा से यमुना नदी पार कर पहिले महावन को लूटा ग्रौर फिर वह गोकुल की ग्रोर बढ़ा। वहाँ पर सशस्त्र नागा साधुग्रों के एक बड़े दल ने यवन सेना का जम कर सामना किया था। उसी समय ग्रब्दाली की फौज में हैज़ा फैल गया, जिससे ग्रफगान सैनिक बड़ी संख्या में मरने लगे। उसके काररग ग्रब्दाली वहाँ से वापिस लौट गया। इस प्रकार नागाग्रों की ग्रद्भुत वीरता ग्रौर ग्राकस्मिक दैवी सहायता से गोकुल उसकी क्रूरता का शिकार होने से बच गया था। ऐसा उल्लेख मिलता है, गोकुल-महावन से लौटते समय ग्रब्दाली ने फिर वृंदाबन को लूटा था। मथुरा-वृंदाबन की लूट में ही ग्रब्दाली को "लगभग १२ करोड़ रुपये की धन-राशि प्राप्त हुई, जिसे वह तीस हजार घोड़ों, खच्चरों ग्रौर ऊँटों पर लाद कर ले गया। उसके ग्रतिरिक्त वह कितनी ही स्त्रियों को भी वहाँ से ग्रफगानिस्तान ले गया था[४]।"

---

(१) **ब्रज का इतिहास** (प्रथम भाग), पृष्ठ १८८

(२) **राधाबल्लभ** संप्रदाय : **सिद्धांत ग्रौर साहित्य**, पृष्ठ ५१८

(३) **ब्रज का इतिहास** (प्रथम भाग), पृष्ठ १८१ (४) **वही**, पृष्ठ १८६

अहमदशाह अब्दाली के उस आक्रमण का उल्लेख उस काल की मराठी पुस्तिका 'भाऊ साहब ची बखर' में भी मिलता है। उसका लेखक इंद्रप्रस्थ प्रवासी कृष्णाजी श्यामराव नामक एक मरहठा विद्वान था। उसके विवरण की अधिकांश बातें प्रामाणिक हैं; किंतु उसमें कुछ भ्रमात्मक उल्लेख भी हो गया है। उदाहरणार्थ उसका यह कथन ठीक नहीं है,—"जब अब्दाली ने मथुरा पर आक्रमण किया था, तब २००० वैरागियों ने वृंदाबन में उसके विरुद्ध शस्त्र धारण किया और वे युद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त हुए थे। अब्दाली ने गोकुल में निवास करने वाले अनेक धार्मिक वैरागियों का भी क़त्ले-आम किया था। (पृष्ठ ३२)।" वास्तव में वैरागियों ने गोकुल में संघर्ष किया था और भक्तजनों का क़त्ले-आम वृंदाबन में हुआ था। इसका उल्लेख तत्कालीन फारसी ग्रंथों के अतिरिक्त उस समय लिखे गये पत्रों में भी मिलता है[1]।

अब्दाली की सेना ब्रज के धार्मिक स्थलों को लूटती और बर्बाद करती हुई तथा मार्ग में धूँआधार मचाती हुई आगरा गई। उसने वहाँ के किले पर आक्रमण कर उसे लूटा और नगर में मार-काट की। उसी समय वहाँ भी उसकी सेना में हैज़ा फैल गया था, जिसके कारण उसे शीघ्र ही वापिस लौटना पड़ा। उसके बाद वह अपार धन-दौलत तथा लूट की प्रचुर सामग्री के साथ अपने देश अफगानिस्तान को चला गया। मुसलमान लेखकों ने लिखा है—"अब्दाली द्वारा ऐसा भारी विध्वंस किया गया था कि आगरा-दिल्ली सड़क पर झोंपड़ी भी ऐसी नहीं बची थी, जिसमें एक आदमी भी जीवित रहा हो। अब्दाली की सेना के आवागमन के मार्ग में सभी स्थान ऐसे बर्बाद हुए कि वहाँ दो सेर अन्न या चारा तक मिलना कठिन हो गया था[2]।"

ब्रज की लूट के पश्चात्—अब्दाली की वह भीषण लूट-मार सं० १८१३-१४ में हुई थी। दुर्भाग्य की बात यह है कि जाट-मरहठा विवाद के कारण किसी ने कहीं भी लुटेरों का जम कर प्रतिरोध नहीं किया और वे एक ही झपाटे में दिल्ली से आगरा तक के समृद्धिशाली भू-भाग को चौपट कर गये। औरंगजेब के क्रूर प्रहार से सिसकता हुआ ब्रज प्रदेश तो ऐसा मरणासन्न हुआ कि फिर वह उठ ही नहीं सका! उस काल के प्रबल मरहठा सरदार कन्नी काट गये और सूरजमल अपने गढ़ में आँख छिपा कर पड़ा रहा! अहमदशाह अब्दाली ने उसके बाद भी कई बार आक्रमण किये, जिनमें उसे सदैव सफलता मिलती रही थी। ऐसा मालूम होता है, अब्दाली के उन सफल अभियानों ने मरहठा और जाट दोनों की आँखें खोल दी थीं और उसके दुष्परिणाम से शिक्षा लेकर उन्होंने आपस में संधि कर ली थी। किंतु उसके लिए बहुत विलंब हो चुका था, जिसका कुफल इस देश को पानीपत के मैदान में भोगना पड़ा!

पानीपत का युद्ध—सं० १८१८ में पानीपत का वह इतिहास-प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ, जिसमें राजपूत-जाट-मरहठा जैसी प्रबल हिंदू शक्तियों के होते हुए भी इस देश को विदेशियों से पराजित होना पड़ा था। उसका कारण हिंदुओं की आपसी फूट थी। छत्रपति शिवाजी ने 'हिंदू पातशाही' के महान् उद्देश्य को लेकर मरहठा राज्य की स्थापना की थी; किंतु उसके उत्तराधिकारी पेशवाओं ने अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति और स्वार्थपूर्ण नीति के कारण उस उद्देश्य को भुला दिया

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ ३५४

(२) फाल आफ दि मुगल एम्पायर (यदुनाथ सरकार), पृष्ठ १२०--१२४

था। उन्होंने अपनी प्रबल शक्ति का उपयोग विदेशी शासन से भी अधिक राजपूतों और जाटों को दबाने में किया था। उसके कारण उस काल की तीनों हिंदू शक्तियों में बड़ा वैमनस्य था, जिसका लाभ अहमदशाह अब्दाली और रुहेले सरदारों ने उठाया था। अहमदशाह अब्दाली के बर्बर आक्रमणों से शिक्षा लेकर मरहठों ने जाटों से संधि कर ली थी; किंतु वे राजपूतों से सुलह–सफाई करने में सफल नहीं हुए थे। फिर भी वे अपने बल पर ही अब्दाली के आतंक को सदा के लिए समाप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प थे।

उस युद्ध से पहिले मरहठा सरदारों ने जाट और राजपूत राजाओं का सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया था। उसके जवाब में सूरजमल अपनी जाट सेना के साथ मरहठा शिविर में पहुँच गया; किंतु राजपूत राजाओं ने साफ इंकार कर दिया था। मरहठा और जाट सेनाएँ मरहठा सरदार सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में पानीपत के मैदान में एकत्र हो गईं और वे अहमदशाह अब्दाली से मोर्चा लेने की तैयारी करने लगीं। उसी समय रण-नीति के संबंध में सूरजमल और भाऊ में मतभेद हो गया। भाऊ ने सूरजमल की उचित मंत्रणा की ही उपेक्षा नहीं की, वरन् उसके साथ अपमानपूर्ण वार्ता भी की थी। उससे रुष्ट होकर सूरजमल अपनी समस्त सेना के साथ रण के मैदान से वापिस चला गया। मरहठा सरदार को अपनी शक्ति पर इतना भरोसा था कि उसने जाटों के चले जाने की क़तई परवा नहीं की थी।

जब युद्ध आरंभ हुआ, तब एक ओर अब्दाली के अफगान सैनिक और भारत के मुसलमान रुहेले थे, जिनकी संख्या ६२ हज़ार थी। दूसरी ओर अकेले मरहठा जवान थे, जिनकी संख्या ४५ हज़ार थी। दोनों ओर की सेनाओं में बड़ा भीषण संघर्ष हुआ था। उसमें मरहठाओं ने बड़ी वीरता दिखलाई थी; किंतु सैन्य संख्या की कमी और प्रबंध की शिथिलता के कारण उनकी पराजय हो गई। उस महायुद्ध में मरहठा सैनिक बहुत बड़ी संख्या में हताहत हुए थे। उनकी ऐसी भीषण हानि हुई थी कि 'हिंदू पातशाही' का उनका स्वप्न सदा के लिए समाप्त हो गया। यदि मरहठा अपनी वीरता के मद में मत्त न होकर सभी हिंदू शक्तियों का सहयोग प्राप्त करते; अथवा कम से कम सदाशिवराव भाऊ जाट राजा सूरजमल उपनाम सुजानसिंह की सम्मति को अस्वीकार कर जाटों को असंतुष्ट न करता, तब भी उस युद्ध का परिणाम निश्चय ही दूसरा होता। किंतु देश के दुर्भाग्य से वैसा नहीं हो सका था। भरतपुर के 'मथुरेश' कवि ने उस स्थिति पर खेद प्रकट करते हुए ठीक ही कहा है—"नाँच उठी भारत की भावी सदाशिव शीश, औंधी हुई बुद्धि, उस जनरल महान् की। होती न हीन दशा हिंदी-हिंद-हिंदुओं की, मानता जो भाऊ, कहीं सम्मति सुजान की॥" पानीपत के युद्ध में पराजित होकर जो मरहठा सैनिक थके–मांदे और घायल अवस्था में जाटों के इलाके में होकर वापिस लौटे थे; उनके खान–पान, उनकी सेवा–शुश्रुषा और दवा–दारू की यथोचित व्यवस्था सूरजमल की ओर से कर दी गई थी।

जाटों की शक्ति का विस्तार—पानीपत के रणक्षेत्र में अफगानी पठानों और उनके साथी रुहेलों की विजय अवश्य हुई थी; किंतु उन्हें हानि भी पराजित मरहठों से कम नहीं उठानी पड़ी थी। अहमदशाह अब्दाली अपनी थकी हुई पठान सेना को विश्राम देने के लिए अफगानिस्तान लौट गया था, जहाँ से उसके जल्दी वापिस आने की संभावना नहीं थी। रुहेले इतने क्षतिग्रस्त हुए थे कि वे भी शीघ्र ही कोई प्रभावशाली क़दम उठाने में असमर्थ थे। पराजित मरहठों की तो

उस युद्ध में मानो कमर ही टूट गई थी। यद्यपि वे अपनी अनुपम कर्मठता से युद्ध की क्षति को शीघ्र ही पूरी कर पुनः बलशाली हो गये थे, तथापि निज़ाम आदि दक्षिणी शक्तियों का दमन करने में व्यस्त हो जाने के कारण वे कुछ समय तक उत्तर की ओर मुँह उठाने की स्थिति में नहीं थे। वह परिस्थिति सूरजमल जैसे कुशल राजनीतिज्ञ को अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए बड़ी अनुकूल ज्ञात हुई थी। फिर पानीपत से बिना लड़े ही वापिस आने के कारण उसकी शक्ति पहले ही अक्षुण्ण थी।

सूरजमल ने उस अवसर का लाभ उठा कर यमुना से चंबल तक के विस्तृत जाट क्षेत्र में से मुस्लिम प्रभाव को पूरी तरह समाप्त करने का आयोजन किया। उसने सब से पहिले मुगलों की पुरानी राजधानी और उनके साम्राज्य के दूसरे बड़े नगर आगरा को अच्छी तरह लूटा और फिर उस पर अधिकार कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। उसके बाद उसकी दृष्टि हरियाना के उस धन–धान्य पूर्ण इलाके पर गई, जो जाटों की अधिक आबादी का होते हुए भी शक्तिशाली मुसलमान जागीरदारों के अधिकार में था। उसने वहाँ के बलूची शासक मुसव्वीखाँ पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और उसे कैद कर भरतपुर भेज दिया। उसकी राजधानी फर्रुखनगर को उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र जवाहरसिंह को सौंप कर उस मेवाती क्षेत्र का उसे स्वामी बना दिया था। इस प्रकार आगरा से लेकर दिल्ली के निकटवर्ती भू–भाग तक में सूरजमल की तूती बोलने लगी। अब उसे अपने अधिकृत क्षेत्र की प्रभु–सत्ता को दिल्ली के मुगल सम्राट द्वारा स्वीकृत कराना शेष था। उसके लिए सूरजमल ने तत्कालीन सम्राट शाहआलम से माँग की कि वह दिल्ली के समीपस्थ उस इलाके के राजस्व और फौजदारी संबंधी समस्त अधिकार उसे प्रदान कर दे। उस काल के शक्तिहीन मुगल सम्राट का संरक्षक उसका शक्तिशाली रुहेला वज़ीर नजीबुद्दोला था, जिसे अहमदशाह अब्दाली का भी समर्थन प्राप्त था। वह जाटों का कट्टर बैरी था। उसने मुगल सम्राट की ओर से जाट राजा की उस माँग को ठुकरा दिया था।

सूरजमल ने शक्ति द्वारा अपने अधिकार को स्वीकृत कराने के उद्देश्य से अपनी सेना को दिल्ली की ओर कूँच करने का आदेश दिया। रुहेला वज़ीर भी सतर्कता पूर्वक जाटों का सामना करने की तैयारी करने लगा। उसने जाटों के उस अभियान का समाचार अहमदशाह अब्दाली और अन्य रुहेले सरदारों के पास भेज कर उन्हें शीघ्र ही उसकी सहायतार्थ दिल्ली आने का निमंत्रण भेजा। फिर उसने राजधानी के चारों ओर के फाटक बंद करा कर उसकी समुचित रक्षा के लिए समस्त शाही सेना को तैनात कर दिया। जाट सेना ने दिल्ली के निकट पहुँच कर उसे चारों ओर से घेर लिया और वह शाही सेना से मुठभेड़ करने की प्रतीक्षा करने लगी।

सूरजमल का अंतिम युद्ध और उसकी मृत्यु—रुहेला वज़ीर उस युद्ध को अब्दाली की सेना के आने तक टालना चाहता था; किंतु सूरजमल उसे वह समय देने को तैयार न था। उस समय जाटों की सेना का मुख्य भाग दिल्ली के निकट यमुना और हिंडन नदियों के दोआब में एकत्र था और शाही सेना अधिकतर दिल्ली नगर की चारदीवारी के अंदर थी। सूरजमल की सेना की एक टुकड़ी ने दिल्ली पर गोलाबारी आरंभ कर दी। उसका जवाब देने के लिए शाही सेना को भी बाहर आकर मोर्चा जमाना पड़ा; किंतु वह जाटों की विकट मार के कारण पीछे हटने को बाध्य हो गई। उसी समय सूरजमल ने केवल ३० घुड़सवारों के साथ शत्रुओं की सेना में घुस कर उसे

पराजित करने की दुस्साहसपूर्ण मूर्खता कर डाली, जिसके कारण उस अद्वितीय वीर पुरुष को व्यर्थ में ही अपनी जान गँवानी पड़ी थी !

सूरजमल की मृत्यु ऐसे अचानक और अप्रत्याशित ढंग से हुई थी कि उसका यथार्थ कारण किसी को भी ज्ञात नहीं हो सका। इसीलिए उसके संबंध में कई प्रकार के विरोधी विवरण मिलते हैं। एक विवरण के अनुसार सूरजमल अपने कुछ घुड़सवारों के साथ युद्ध स्थल का निरीक्षण कर रहा था कि अचानक ही वह शत्रु सेना से घिर गया। उसने अपने मुट्ठी भर सैनिकों के साथ शत्रुओं की बड़ी सेना का सामना किया; किंतु वह वीरता पूर्वक युद्ध करता हुआ मारा गया[1]। अन्य विवरणों के अनुसार वह शत्रु क्षेत्र में अकेला आखेट कर रहा था, अथवा कुछ साथियों के साथ निश्चिंत होकर चौपड़ खेल रहा था कि उसी समय उसे रुहेलों की एक सेना ने घेर कर मार डाला था। उसकी मृत्यु का समाचार दो दिन बाद सबको मिल सका था[2]।

ब्रज के उस महान् वीर पुरुष की शोचनीय मृत्यु सं० १८२० (रविवार, २५ दिसंबर, सन् १७६३) में हुई थी। उस समय उसकी आयु ५५ वर्ष की थी। उसके देहावसान के बाद की स्थिति के उल्लेख (सियार, ४-३२) में कहा गया है,—"जाट सेना का अनुशासन ऐसा प्रशंसनीय था कि सूरजमल की मृत्यु का समाचार मिलने पर भी जाट सैनिक तनिक भी विचलित नहीं हुए थे। वे सब अपने मोर्चों पर ऐसे जमे रहे, मानो कुछ हुआ ही नहीं था; जब कि मुसलमानी सेना भविष्यत् संकट की आशंका से भयभीत होकर भाग खड़ी हुई थी और अपने शिविरों में जा कर छिप गई थी ! उसके बाद जाट सेना ने विजयी की भाँति रणक्षेत्र से प्रस्थान किया था[3]।" रुहेला वज़ीर नजीबुद्दोला सूरजमल की मृत्यु के बाद काफ़ी दिनों तक बड़ा सतर्क रहा था; क्यों कि वह उस कहावत से परिचित था,—"जाट मरा तब जानिये, जब चालीसा होय !" सूरजमल की समाधि गोवर्धन के निकट कुसुम सरोवर पर बनी हुई है। उसके पुत्र जवाहरसिंह ने उसकी स्मृति में वहाँ एक कलापूर्ण छतरी बनवाई थी, जो ब्रज की वास्तु कला का अनुपम उदाहरण है।

सूरजमल का महत्व और मूल्यांकन—ब्रज के जाट राजाओं में सूरजमल सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक, कुशल सेनानी और सफल राजनीतिज्ञ था। उसने जाटों में सबसे पहिले 'राजा' की पदवी धारण की थी और एक शक्तिशाली हिंदू राज्य का संचालन किया था। उसका राज्य काफी विस्तृत था, जिसमें डीग-भरतपुर के अतिरिक्त मथुरा, आगरा, धौलपुर, हाथरस, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, गुड़गाँवा, रोहतक, रेवाड़ी, फर्रुखनगर और मेरठ के ज़िले थे। इस प्रकार यमुना से एक ओर गंगा तक और दूसरी ओर चंबल तक का सारा प्रदेश उसके राज्य में सम्मिलित था। दिल्ली के निकटवर्ती बल्लभगढ़ से लेकर ग्वालियर के समीपवर्ती गोहद तक का 'जटवाड़ा' क्षेत्र उसके प्रभाव में था। 'जटवाड़ा' नाम उस समय के मरहठा राज्य के दरबारी कागज-पत्रों में मिलता है। सूरजमल की सेना भी अत्यंत विशाल थी। "उसमें ६० हाथी, ५०० घोड़े, १५०० अश्वारोही, २५००० पैदल तथा ३०० तोपें थीं। अपनी मृत्यु के समय उसने लगभग दस करोड़ रुपया राजकोश में छोड़ा था[4]।"

---

(१) **हिस्ट्री आफ दि जाट्स**, पृष्ठ १५५
(२) वही ,, , पृष्ठ १५७
(३) वही ,, , पृष्ठ १५२ (४) **ब्रज भारती**, वर्ष १३ अंक २

वह लंबे क़द, पुष्ट शरीर और श्याम वर्ण का बड़ा रौबीला राजा था। यद्यपि वह पढ़ा-लिखा नहीं था, तथापि साहित्य और कला का अत्यंत प्रेमी था। उसके दरबार में अनेक कवियों को आश्रय प्राप्त हुआ था, जिसमें सूदन कवि का नाम अधिक प्रसिद्ध है। उसने डीग और कुम्हेर के दुर्गों को सुदृढ़ किया था और भरतपुर के कच्चे किले को पक्का कर उसे सैनिक दृष्टि से एक अजय दुर्ग बना दिया था; जहाँ कालांतर में उसने अपनी राजधानी भी क़ायम की थी। उसके निर्माण कार्यों में उक्त दुर्गों के अतिरिक्त कई सुंदर महल भी हैं, जिनमें डीग के 'भवन' अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उसकी रानी किशोरी ने गोवर्धन में मानसी गंगा के तट पर एक महल और श्री किशोरीश्याम का मंदिर बनवाया था तथा वृंदावन में यमुना के किनारे 'कुंज' और किशोरीघाट का निर्माण कराया था। उसके पुरोहित रूपराम कटारा ने ब्रज के बरसाना नामक धार्मिक स्थल में कई मंदिर, भवन, बाग और छतरियों के अतिरिक्त लाड़िली जी के पुराने मंदिर की सीढ़ियाँ और वहाँ के बाज़ार का निर्माण कराया था। उक्त निर्माण कार्यों से बरसाना उस काल में एक सुंदर कस्बा बन गया था।

सूरजमल की कई रानियाँ थीं, जिनमें हंसा रानी का नाम अधिक प्रसिद्ध है। वह होडल के प्रभावशाली जाट सरदार काशी चौधरी की पुत्री और बड़ी सूझ--बूझ की प्रतिभाशालिनी महिला थी। उसने अपने पति के महत्वपूर्ण कार्यों में उचित मंत्रणा देकर एक सुयोग्य सहचरी की समुचित भूमिका प्रस्तुत की थी। मथुरा नगर के सामने यमुना पार का एक घाट, गंज और बाग उसी के नाम पर क्रमशः हंसिया घाट, हंसगंज और हंसिया रानी का बाग कहलाते थे। वे सभी अब भग्नावस्था में पड़े हैं। जब तक मथुरा-वृंदावन मार्ग पर स्थित कृष्णगंगा का पुल और वहाँ की पक्की सड़क नहीं बनी थी, तब तक मथुरा से वृंदावन का मार्ग हंसगंज होकर जाता था। उसके कारण वह स्थान एक मंडी के रूप में प्रसिद्ध था। मथुरा-वृंदावन की नई सड़क बन जाने पर हंसगंज उजड़ गया। उसके निकट का बड़ा बाग अब से कुछ समय पूर्व तक विद्यमान था; किंतु यमुना नदी की पिछली बड़ी बाढ़ में वह नष्ट हो गया था। हंसगंज में दो पक्के बुर्ज भी बने हुए थे, जो यमुना नदी को मथुरा के घाटों पर प्रवाहित कराने में सहायक थे। उक्त बाढ़ ने उन्हें भी नष्ट कर दिया था, जिससे यमुना नदी द्वारा मथुरा के घाटों को छोड़ने की सदैव आशंका बनी रहती है।

सूरजमल के पाँच पुत्र थे, जिनके नाम क्रमशः जवाहरसिंह, रतनसिंह, नवलसिंह, रणजीतसिंह और नाहरसिंह थे। उनमें जवाहरसिंह सबसे बड़ा और अत्यंत वीर था। सूरजमल की किशोरी रानी के कोई पुत्र नहीं हुआ था, अतः उसने जवाहरसिंह को गोद ले लिया था। वह बड़े उद्धत स्वभाव का युवक था, अतः अपने माता-पिता का प्रीति-भाजन नहीं हो सका था; किंतु सूरजमल की आकस्मिक मृत्यु होने के उपरांत वही अपनी शूरवीरता और निर्भयता के कारण जाटों का राजा हुआ था।

जवाहरसिंह—(शासन सं० १८२०-१८२५) वह जाटों के यशस्वी राजा सूरजमल का प्रतापी पुत्र था। यद्यपि वह अपने बाप-दादा के समान ही वीर और साहसी था; तथापि वह नीति-निपुण और विनम्र नहीं था। उसके उद्धत स्वभाव और उग्र व्यवहार से प्रमुख जाट सरदार उससे असंतुष्ट थे; यहाँ तक कि उसका पिता सूरजमल भी उससे अप्रसन्न रहता था। एक बार जवाहरसिंह ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर डीग पर आधिपत्य करने का उपक्रम किया था।

उस समय सूरजमल को बाध्य होकर उसके विरुद्ध कार्यवाही करनी पड़ी थी ! उस गृह युद्ध में जवाहरसिंह घायल और लंगड़ा हो गया था। उसके बाद वह अपने माता-पिता से अलग होकर हरियाना के फर्रुखनगर में रहने लगा था। सूरजमल ने उसके स्थान पर अपने छोटे पुत्र नाहरसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय किया था।

जिस समय दिल्ली अभियान में सूरजमल की अचानक मृत्यु हुई थी, उस समय जवाहरसिंह फर्रुखनगर में था। बलराम, मोहनदास आदि प्रमुख जाट सरदार सूरजमल की इच्छानुसार नाहरसिंह को जाटों की राजगद्दी पर बैठाने का आयोजन करने लगे। उस समाचार को सुन कर जवाहरसिंह ने उनके पास संदेशा भेजा कि राजगद्दी का आयोजन करने से पहिले हत्यारे रुहेलों से स्वर्गीय राजा की मृत्यु का बदला लेना चाहिए; जिसकी व्यवस्था के लिए वह स्वयं डीग आ रहा है। जाट सरदारों ने राजगद्दी का आयोजन रोक दिया और वे रुहेलों से युद्ध करने की तैयारी करने लगे। इस प्रकार हवा का रुख बदल जाने से नाहरसिंह हताश हो गया। वह स्वभावतः ही डरपोक और कायर था; अतः युद्ध स्थल में जाने की बजाय वह रातों-रात अपने परिवार और धन-संपत्ति के साथ धौलपुर चला गया। वह इलाका सूरजमल के समय से ही उसकी निजी जागीर में था।

जवाहरसिंह ने डीग आकर राजा रहित राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार अनायास राज-सत्ता उसके हाथ में जाते देख कर जाट सरदारों को बड़ी बेचैनी होने लगी। वे युद्ध अभियान में सहयोग देने की अपेक्षा जवाहरसिंह से असहयोग करते हुए डीग से खिसकने लगे। पुराने जाट सरदारों में सबसे प्रभावशाली बलराम जाट था, जो हंसिया रानी का भाई होने के साथ ही साथ सूरजमल की घुड़सवार सेना का सेनापति और भरतपुर का राज्यपाल था। उस काल में राजकोश भी भरतपुर के सुरक्षित दुर्ग में उसी के अधिकार में रखा गया था। उसने भरतपुर आकर किले के दरबाज़े बंद करा दिये और राजकोश में से धन देना अस्वीकार कर दिया[1]। दूसरा प्रभावशाली सरदार मोहनदास था, जो तोपखाने का सेनापति था। वह भी जवाहरसिंह के साहस को तोड़ने वाली बातें करने लगा। प्रमुख जाट सरदारों के विरोध करने पर भी जवाहरसिंह अपने पक्ष को सुदृढ़ करने में लग गया। उसने दिल्ली-अभियान के लिए जाटों की एक शक्तिशाली सेना भी संगठित कर ली थी। उसके अतिरिक्त उसने मरहठों और सिक्खों की सेनाएँ भी भाड़े पर प्राप्त करने का प्रबंध किया था। अब उसे युद्ध-व्यय के लिए केवल धन की आवश्यकता थी, जिसका प्रबंध करने की वह चेष्टा करने लगा।

एक दिन जवाहरसिंह डीग के राजमहलों में अपनी माता को प्रणाम करने के लिए गया था। उस समय उसके सिर पर शानदार पगड़ी बँधी हुई थी। उस पगड़ी को देख कर राजमाता ने रोते हुए कहा—"बेटा, तेरे बाप की पगड़ी तो दिल्ली में पड़ी हुई मुगलों की ठोकर खा रही है, और तू यह शानदार पगड़ी बाँधे हुए है ! इसकी शोभा तो तब रहेगी, जब तू अपने बाप की मृत्यु का बदला दिल्ली के शासकों से चुका लेगा[2]।" माता के उन मार्मिक वचनों को सुनते ही

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७२-१७३

(२) पड़ी बाप की पगड़ी दिल्ली, रही मुगल की ठोकर खाय।
दिल्ली सर कर इन हाथन तें, छत्रिन की लेउ लाज बचाय ।।

जवाहरसिंह का खून खौलने लगा । उसने माता के चरण छू कर प्रतिज्ञा की, कि वह शीघ्र ही उस अपमान का बदला लेने के लिए दिल्ली प्रस्थान कर देगा । बस, केवल कुछ धन का प्रबंध करना बाकी है । कहते हैं, राजमाता ने अपने निजी कोश से उस युद्ध अभियान के लिए आवश्यक धन की पूरी व्यवस्था कर दी थी[1] ।

दिल्ली अभियान—सं० १८२१ (अक्टूबर, सन् १७६४) में जवाहरसिंह ने विशाल और सुसज्जित सेना के साथ दिल्ली की ओर कूँच कर दिया । उसके साथ ६० हज़ार जवान और १०० तोपें जाट सेना की थीं, २५ हज़ार मरहठों की सेना मल्हारराव होल्कर के कमान में थी, और १५ हज़ार सिक्ख सेना थी[2] । जवाहरसिंह का उद्देश्य दिल्ली के नवाब वज़ीर नजीबुद्दोला रुहेले से सूरजमल के खून का बदला लेना था और उसके साथ ही पानीपत में हार जाने से हिंदुओं के स्वाभिमान को जो ठेस पहुँची थी, उसका परिष्कार करना भी था ।

जब रुहेला वज़ीर ने जाटों के उस प्रतिहिंसात्मक भीषण युद्ध अभियान का समाचार सुना, तो उसने अपनी सहायता के लिए अहमदशाह अब्दाली के पास विशेष दूत भेज कर उसे तत्काल आने के लिए कहलाया और दूसरे रुहेले सरदारों को भी बुलाने के लिए दूत भेजे । फिर उसने शाही खजाने और स्त्री–बच्चों को सुरक्षित स्थान पर भेजने का प्रबंध किया । उसके बाद दिल्ली नगर के चारों ओर नाकेबंदी करा कर वह एक दीर्घकालीन संघर्ष के लिए तैयार हो गया । यह सब करने पर भी उसका साहस जाटों से खुले आम युद्ध करने का नहीं हुआ, वरन् वह दिल्ली नगर के चारों ओर के फाटकों को बंद करा कर केवल आत्म–रक्षा की व्यवस्था करने लगा था । जाट सेना ने चारों ओर से दिल्ली नगर को घेर लिया और उस पर गोलाबारी आरंभ कर दी । उस गोलाबारी को विफल करने के लिए शाही सेना के कई दलों ने जाटों से संघर्ष किया; किंतु उन्हें सदैव पीछे हटना पड़ा । उसी समय जवाहरसिंह ने दिल्ली के निकटवर्ती शाहदरा नगर को लूट लिया और वहाँ से दिल्ली के क़िले पर प्रभावशाली गोलाबारी करने के लिए अपना तोपखाना जमा दिया । तोपों के गोले दिल्ली नगर की सीमा में गिर कर धुँआधार करने लगे, जिससे वहाँ भीषण बर्बादी होने लगी[3] ।

इस प्रकार घेराबंदी और गोलाबारी में तीन महीने निकल गये । दिल्ली नगर की जनता को उस काल में बड़ी कठिनाइयाँ और परेशानियाँ उठानी पड़ी थीं; यहाँ तक कि खाद्य वस्तुओं के अभाव में लोगों के भूखे मरने तक की नौबत आ गई ! नजीबुद्दोला उस संकट काल में अहमदशाह अब्दाली के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था । उसने दिल्ली निवासियों को समझाने–बुझाने की बहुत चेष्टा की; किंतु भूखी जनता नगर के फाटकों को तोड़ कर बाहर निकल पड़ी और जाट सेना के शिविर में जा कर अनाज की भीख माँगने लगी ! उस समय जवाहरसिंह के आदेशानुसार प्रचुर खाद्यान्न का वितरण किया गया था । उस विषम स्थिति से घबड़ा कर रुहेला वज़ीर नजीबुद्दोला ने जाटों से संधि करने का प्रस्ताव किया; किंतु जवाहरसिंह अपने पिता सूरजमल की मृत्यु

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७३

(२) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७४

(३) ,, वही ,, , पृष्ठ १७५

के बदले में पूरा मुआवज़ा लेकर और दिल्ली शासन पर से नजीब का प्रभाव समाप्त करने पर ही संधि करना चाहता था। उस पर रुहेला वज़ीर ने एक चाल चली। उसने मरहठों के सेनापति मल्हारराव होलकर को प्रचुर भेट देकर अपनी ओर मिला लिया और उसे संधि करने के लिए राज़ी कर लिया। जो जाट सरदार जवाहरसिंह से ईर्ष्या रखते थे, वे भी मरहठा सेनापति का समर्थन करने लगे। इस प्रकार जब नजीबुद्दोला पूरी तरह हार मानने की स्थिति में था, तब अपने सेनापतियों और सरदारों के षड़यंत्र से जवाहरसिंह को बाध्य होकर उससे संधि करनी पड़ी थी। किंतु वह उससे इतना असंतुष्ट था कि नजीब से बिना मिले ही वह वापिस लौट गया था[1]।

ब्रज की अनुश्रुतियों और लोक–कविताओं से ज्ञात होता है कि उस अभियान में जवाहरसिंह ने नजीबुद्दोला की सेना को पूरी तरह पराजित किया था और फिर उसने दिल्ली नगर में प्रवेश कर उसे खूब लूटा था! इस प्रकार रुहेलों से उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया, और दिल्ली की लूट में अपार संपदा प्राप्त की थी। किंतु उस काल के उल्लेखों में वैसा विवरण नहीं मिलता है। उनके अनुसार जाटों ने शाहदरा को अवश्य लूटा था; किंतु दिल्ली में उनका प्रवेश नहीं हुआ था। एक फ्रांसीसी लेखक फ़ादर विंडैल ने तो यहाँ तक लिखा है,—"उस युद्ध में जवाहरसिंह को एक करोड़ साठ लाख रुपया खर्च करना पड़ा था; किंतु उससे उसे कोई खास लाभ नहीं हुआ था। यदि कुछ लाभ हुआ भी तो वह यह था कि उस युद्ध के पश्चात् उसके अधीनस्थ सरदार और सैनिक उसका अधिक सन्मान करने लगे थे[2]।" किंतु दिल्ली की लूट के संबंध में ब्रज की अनुश्रुतियों और लोक–रचनाओं में ऐसी ज़ोरदारी से कहा जाता रहा है कि उसे सर्वथा असत्य नहीं माना जा सकता।

ऐसा मालूम होता है, जिस समय जवाहरसिंह की घेरावंदी और गोलाबारी से तंग आकर दिल्ली की जनता अनुशासन हीन होकर नगर से बाहर निकल पड़ी थी, उसी समय जाट सेना ने दिल्ली को लूटा था। उस अवसर पर जवाहरसिंह ने दिल्ली के किले पर लगे हुए अष्टधातु के उन किवाड़ों को भी उतरवा लिया था, जिन्हें मुगल सम्राट अकबर के काल में चित्तौड़ को जीत कर वहाँ से लाया गया था। राजपूती गौरव के प्रतीक उन ऐतिहासिक किवाड़ों को जवाहरसिंह ने भरतपुर किले के उत्तरी सिंहद्वार पर लगवाया था, जो अभी तक वहाँ लगे हुए हैं और जाट वीरों के गौरव की साक्षी दे रहे हैं। जवाहरसिंह अपार सम्पत्ति और चित्तौड़ के ऐतिहासिक किंवाड़ों के साथ अपनी विजय का डंका बजाता हुआ दिल्ली से वापिस लौटा था।

जाट राज्य की गौरव-वृद्धि—दिल्ली अभियान के पश्चात् जवाहरसिंह ने पूरी तरह शासन-सत्ता सँभाल ली थी। उसने अपने विरोधी जाट सरदारों को समाप्त कर अपनी सेना का नये ढंग से संगठन किया था। उसके लिए उसने नई युद्ध-शैली के विशेषज्ञ यूरोपियन सेनानायकों को विशेष रूप से नियुक्त किया था। फ्रांसीसी सेनापति कप्तान मैडक पहिले से ही जाट सेना में ऊँचे पद पर था। उसके बाद जर्मन कप्तान समरू भी उसकी सेवा में आ गया था। उन दोनों यूरोपियन सेनानायकों ने सं०१८२२के बाद के जाट-युद्धों में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। इस प्रकार अपनी सेना को सुदृढ़

---

[1] हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७८

[2] ,, वही ,, , पृष्ठ १७९

कर जवाहरसिंह ने कई बड़े-बड़े युद्ध किये थे और उन सबमें सफलता प्राप्त की थी। उसके अपूर्व साहस, रण-कौशल और पराक्रम की दुंदभी चारों ओर बजने लगी थी। उसके बाप-दादा तो 'राजा' और 'ब्रजेन्द्र' ही कहलाते थे; किंतु उसने 'महाराजा सवाई भारतेन्द्र' की पदवी धारण की थी ! उसका यश, वैभव और शौर्य चरम सीमा पर पहुँच गया, जिससे वह बड़ा अभिमानी और दुस्साहसी हो गया था। वही दुर्गुण बाद में उसके पतन के कारण हुए थे।

दिल्ली के युद्ध में मल्हारराव होलकर ने रुहेला वज़ीर नजीबुद्दोला से मिल कर जो चाल चली थी, उसके कारण जवाहरसिंह मरहठों का कट्टर दुश्मन हो गया था। उधर मरहठा भी पानीपत की पराजय के कलंक को धोने के लिए उत्तर भारत में अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे, अतः उनका जाटों से संघर्ष होना अनिवार्य था। फलतः जवाहरसिंह और मरहठा सरदारों में कई बार संघर्ष हुए, जिनमें दोनों पक्ष की पर्याप्त हानि हुई थी। रुहेले अफगानों से जाटों के संघर्ष होते ही रहते थे, जिनमें भी उनकी शक्ति क्षीण हो रही थी। ये सब होते हुए भी जवाहरसिंह राजपूतों से नया विवाद छेड़ बैठा, जो उसकी अवनति का मुख्य कारण हुआ था। अपनी वीरता के मद में मत्त होकर उसने पुष्कर-यात्रा के बहाने राजस्थान के क्षत्रिय राजाओं पर अपना रौब जमाने का विचार किया। वह जाटों को राजपूतों से कम नहीं समझता था। यदि राजपूत सूर्यवंश और चंद्रवंश के क्षत्रिय होने का दावा करते हैं, तो जाट भी अपने को प्राचीन यादवों की परंपरा में मानते हैं।

पुष्कर यात्रा और मृत्यु—जवाहरसिंह ने अपने वीरत्व की जुंग में जाटों की प्रबल सेना के साथ पुष्कर-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। वह जयपुर के राजा माधवसिंह को सूचित किये बिना ही उसके राज्य की सीमा में होकर जाटों की पताका फहराता और धोंसा बजाता हुआ पुष्कर पहुँच गया। उस समय जयपुर की सेना को उसे रोकने का साहस नहीं हुआ; किंतु जब वह वहाँ से वापिस आया, तब दोनों में युद्ध छिड़ गया। जवाहरसिंह अपनी जाट सेना के साथ राजपूतों से वीरतापूर्वक मुठभेड़ करता हुआ जयपुर राज्य की सीमा को पार कर सकुशल आगरा आ गया; किंतु उसे बड़ी हानि उठानी पड़ी थी। उस युद्ध में राजपूतों के साथ ही साथ जाटों के भी अनेक योद्धा मारे गये थे। उसके बाद जयपुर नरेश और जवाहरसिंह में कटुता और विद्वेष की निरंतर वृद्धि होती रही, जिससे दोनों की शक्ति क्षीण हुई थी। सं० १८२५ में किसी अज्ञात सैनिक ने आगरा में जवाहरसिंह का धोखे से बध कर डाला था। ऐसा कहा जाता है, वह एक गुप्त षडयंत्र था, जिसमें विशेष रूप से जयपुर नरेश का हाथ था।

जवाहरसिंह का मूल्यांकन—जवाहरसिंह सं० १८२० से सं० १८२५ तक के थोड़े वर्षों तक ही भरतपुर की राजगद्दी पर रहा था; किंतु उसी काल में वह अपने अद्भुत साहस और अनुपम शौर्य से जहाँ अपना नाम अमर कर गया, वहाँ उसने जाट राज्य के गौरव को भी चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। जाट राजवंश में चूड़ामन से लेकर अब तक जो अनेक वीर पुरुष हुए थे, उनमें जवाहरसिंह किसी से कम नहीं था। यदि वीरता और साहस के साथ ही साथ उसमें गंभीरता, नीतिज्ञता और व्यवहार-कुशलता भी होती, तो वह ब्रज के इतिहास को एक नया मोड़ दे सकता था। किंतु उसने अपनी शक्ति को व्यर्थ के युद्धों में नष्ट कर दिया, जिसके कारण उसके बाद ही जाट राज्य का महत्व कम होकर उसका ह्रास होने लगा था।

जवाहरसिंह एक साहसी योद्धा होने के साथ ही साथ साहित्य और कला का प्रेमी तथा प्रोत्साहनकर्त्ता भी था। उसके आश्रित कवियों में भूधर, रंगलाल और मोतीराम के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्रजभाषा का विख्यात महाकवि देव भी अपनी वृद्धावस्था में उसके दरबार में उपस्थित हुआ था। उस समय उसने प्रतापसिंह की प्रशंसा में दो कवित्त सुनाये थे, जिनके लिए उसे पाँच हज़ार रुपया का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। जवाहरसिंह ने दिल्ली की लूट में जो विपुल धन प्राप्त किया था, उससे उसने डीग, गोबर्धन और भरतपुर में अनेक निर्माण कार्य कराये थे। उनमें गोवर्धन–राधाकुंड की सड़क पर स्थित ब्रज का रमणीक 'कुसुम सरोवर' मुख्य है। उसने वहाँ सूरजमल और उसकी रानी की कलात्मक छतरियाँ बनवा कर उसे अपने पिता–माता के भव्य स्मारक का रूप दिया था। यह सरोवर उसकी वास्तु कला प्रियता का ज्वलंत उदाहरण है। उसके अतिरिक्त उसने गोवर्धन के चंद्रसरोवर नामक कुंड को भी अष्टदल कमल के सुंदर आकार में पक्का बनवाया था।

जाट राज्य का ह्रास—(सं १८२५–सं० १८३२)—जवाहरसिंह के काल तक जाट राज्य की निरंतर उन्नति होती रही थी। उसके बाद उसके ह्रास का युग आरंभ हुआ! जवाहरसिंह की मृत्यु के अनंतर उसका छोटा भाई रत्नसिंह जाटों का राजा हुआ था। वह दुर्भाग्यवश बहुत थोड़े काल तक ही राजगद्दी पर रह सका था। राजा होने के कुछ समय बाद ही वह वृंदाबन गया और वहाँ नृत्य–गान कराने में तल्लीन हो गया था। वहाँ के गोसाईं रूपानंद नामक एक मायावी तांत्रिक ने अद्‌भुत चमत्कार दिखाने के भुलावे में डाल कर उसे सं० १८२६ (८ अप्रेल, सन् १७६९) में मार डाला था। ऐसा समझा जाता है, उसकी मृत्यु भी संभवतः उसी षडयंत्र का परिणाम थी, जिसका शिकार उसका बड़ा भाई जवाहरसिंह हुआ था। वृंदाबन में श्री मदनमोहन जी के मंदिर के समीप एक भग्न छतरी विद्यमान है, जो उसी दुर्घटना की स्मृति में बनाई हुई कही जाती है।

रत्नसिंह के पश्चात् उसके पुत्र केहरीसिंह को राजा बनाने का विचार किया जाने लगा। चूंकि वह छोटा बालक था, अतः उसके संरक्षक बन कर राज्याधिकार का उपभोग करने के लिए उसके दोनों चाचा नवलसिंह और रणजीतसिंह में प्रतिद्वंदिता होने लगी। उसके परिणाम स्वरूप गृह–कलह का सूत्रपात हुआ और राज्य के प्रमुख जाट सरदार दो गुटों में विभाजित हो गये। पानीपत में पराजित मरहठे माधवराव पेशवा के नेतृत्व में पुनः शक्तिशाली हो गये थे। वे उत्तर भारत में अपना प्रभाव बढ़ा कर गंगा–यमुना के दोआब पर फिर से अधिकार करना चाहते थे। उसके लिए उन्हें पहिले जाट शक्ति पर काबू पाना आवश्यक था। कूटनीतिज्ञ पेशवा ने जाटों के गृह–कलह से लाभ उठाने की चेष्टा की। उसने सं० १८२६ के अंत में एक बड़ी मरहठा फौज ब्रज की ओर भेजी, जिसके सेनापति तुकोजीराव होलकर और माधव जी (महादजी) सिंधिया जैसे सुयोग्य सरदार थे।

जाटों के बालक राजा केहरीसिंह का संरक्षक उसका बड़ा चाचा नवलसिंह था, जिसके अधिकार में अधिकांश जाट सेना थी। छोटे चाचा रणजीतसिंह के साथ भी कुछ जाट सैनिक थे। उनके अतिरिक्त मरहठों ने भी उसके पक्ष को पुष्ट करने के लिए अपनी सहायता देने का वचन दिया था। रणजीतसिंह ने मरहठों की सहायता से सं० १८२७ में कुम्हेर के दुर्ग पर घेरा डाल

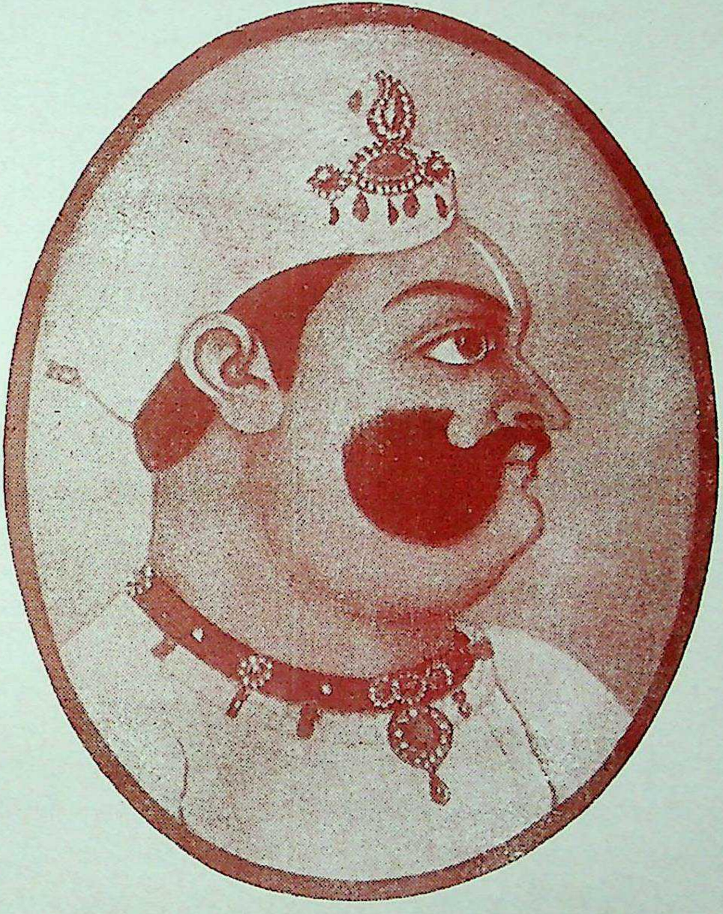

जवाहरसिंह

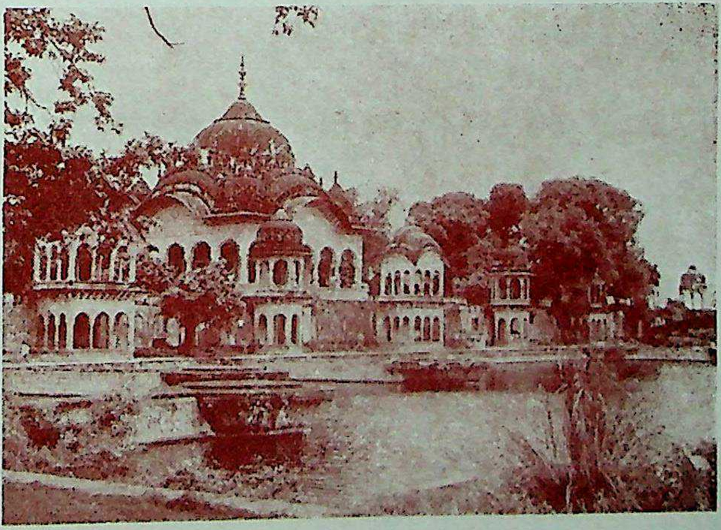

जवाहरसिंह द्वारा निर्मित कुसुम सरोवर पर सूरजमल की छतरी

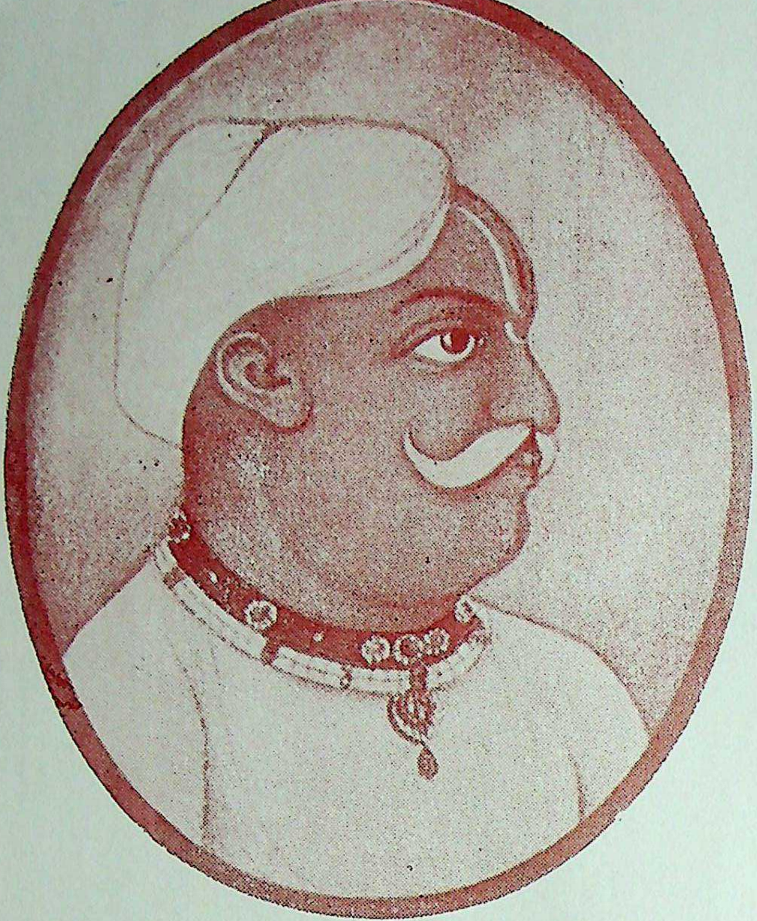

रणजीतसिंह

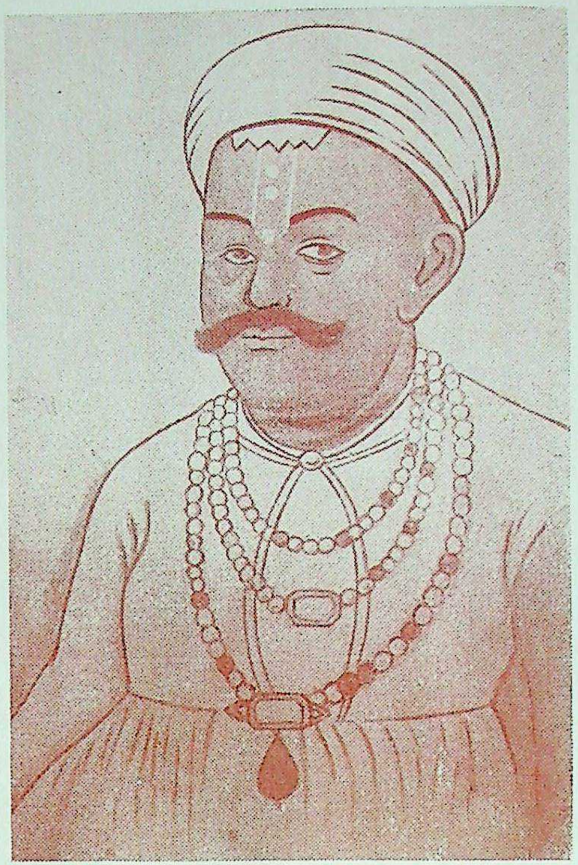

माधवजी (महादजी) सिंधिया

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दिया । नवलसिंह उस समय डीग में था । मरहठा फौज का एक बड़ा भाग तुकोजीराव होलकर के नेतृत्व में नवलसिंह की गति–विधि पर दृष्टि रखने को आगे बढ़ा । उसने मथुरा में अपना पड़ाव डाल दिया । उधर नवलसिंह जाट सेना के साथ डीग से निकल कर मथुरा की ओर बढ़ा । सोंख और अड़ींग में मरहठों तथा जाटों में घमासान युद्ध हुआ, जिसमें नवलसिंह की पराजय हुई । वह डीग की ओर भाग गया । उक्त विजय से मरहठा शक्ति का प्रभाव दोआब के भू–भाग में स्थापित हो गया था । सं० १८२८ में उन्होंने दिल्ली दरबार पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और वे तत्कालीन मुगल सम्राट शाहआलम के संरक्षक बन गये थे ।

जाट–मुगल संघर्ष—सं० १८३० में माधवराव पेशवा की मृत्यु हो गई थी । उसके उत्तराधिकार के लिए मरहठा सरदारों में विवाद होने लगा, जिसके कारण उनका ध्यान उत्तर भारत की गति–विधियों से हट गया था । उधर जाटों की राज्य शक्ति आपसी मतभेद के कारण पहिले ही क्षीण हो गई थी । उस स्थिति का लाभ उठाने के लिए मुगल सम्राट शाहआलम की ओर से उसके वज़ीर मिर्ज़ा नजफ़खाँ ने उस क्षेत्र में शाही प्रभाव की पुनर्स्थापना करने का विचार किया; फलतः उसने मुगल सेना को जाटों के अधिकृत क्षेत्र में भेज दिया । सं० १८३० में मुगलों और जाटों का शाहदरा, बल्लभगढ़ और कोटबन आदि कई स्थानों में संघर्ष हुआ, जिनमें जाट सेना को बराबर पीछे हटना पड़ा था । सं० १८३१ में जाटों ने ब्रज के बरसाना नामक स्थान में अपना मोर्चा जमा लिया और वहाँ से वे बढ़ती हुई मुगल सेना का जम कर मुकाबला करने लगे । दोनों पक्ष की सेनाओं में बड़ा घमासान युद्ध हुआ, जिसमें जाटों ने बड़ी वीरता दिखलाई थी । यद्यपि मुगलों के सैनिक जाटों की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में हताहत हुए थे, तब भी अंत में जाटों की पराजय और मुगलों की जीत हुई थी । उसके बाद मुगलों ने जाट सेना के शिविर के साथ ही साथ बरसाना कस्बा को भी बुरी तरह लूटा, जिसके फलस्वरूप उन्हें अपार सैनिक सामग्री और प्रचुर संपत्ति प्राप्त हुई थी । उनकी बर्बरता से रूपराम कटारा की सुंदर इमारतों को बहुत क्षति पहुँची और बरसाना का समृद्धिशाली कस्बा बर्बाद हो गया । उसके उपरांत वजीर नजफखाँ की सेना आगरा की ओर बढ़ी । मुगल शासन के उस प्रमुख केन्द्र पर सं० १८१८ में सूरजमल ने अधिकार कर लिया था, तब से वह जाट राज्य के अंतर्गत था । नजफखाँ ने उसे भी जाटों से छीन लिया । इस प्रकार सं० १८३१ के अंत तक जाट राज्य का काफी बड़ा भाग छिन्न–भिन्न हो गया था और नवलसिंह की शासन–सत्ता सीमित क्षेत्र में ही रह गई थी ।

रणजीतसिंह (शासन सं० १८३२–१८६२)—सं० १८३२ में नवलसिंह की मृत्यु हो गई । उस समय उसका छोटा भाई रणजीतसिंह कुम्हेर में था । वहाँ से वह डीग पहुँच कर जाट राज्य का निर्विरोध स्वामी बन गया । शासन सँभालते ही उसे मुगलों के आक्रमण का सामना करना पड़ा था । सं० १८३३ में वज़ीर नजफ़खाँ ने डीग पर आक्रमण कर दिया । उसने वहाँ के किले पर घेरा डाल कर डीग से कामा और कुम्हेर जाने वाली सड़कों पर भी नाकाबंदी कर दी थी । उसके कारण जाट राज्य के अन्य स्थानों से डीग को सहायता पहुँचना बंद हो गया । उससे वहाँ के दुर्ग में खाद्य सामग्री की बड़ी कमी हो गई । मुगलों ने दुर्ग पर आक्रमण कर भीषण मार–काट आरंभ कर दी थी । फलतः जाट सैनिक भारी संख्या में मारे गये और अनेक जाट स्त्रियों ने मुगलों से बचने के लिए आत्म–घात कर लिया । इस प्रकार जाट राज्य के प्रसिद्ध केन्द्र डीग और

कामाँ का भी पतन हुआ और वे मुगलों के अधिकार में चले गये। रणजीतसिंह वहाँ से भाग कर भरतपुर चला गया। अब उसका अधिकार केवल भरतपुर के किले पर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र तक ही सीमित रह गया था और उसकी वार्षिक आय केवल ९ लाख रुपया थी।

ब्रज की दुर्दशा—जाटों की पराजय से ब्रज की स्थिति बड़ी संकटग्रस्त हो गई थी। उस काल में इस पावन प्रदेश के सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थलों का कोई धनी–धोरी नहीं रहा था। मुगल और रुहेले सैनिक जब चाहें यहाँ आकर लूट–मार मचा देते थे। ब्रज में निवास करने वाले भक्त-गण अनिच्छा पूर्वक ब्रज को छोड़ कर इधर–उधर भागते फिरते थे। वृंदाबन के भक्त–कवि चाचा वृंदाबनदास उसी समय वृंदावन से कृष्णगढ़ गये थे। उन्होंने अपनी एक रचना 'श्रीकृष्ण विवाह बेलि' में सं० १८३१ के संकट का वर्णन करते हुए लिखा है—

"जमन कछू संका दई, ब्रज जन भये उदास। ता समयै चलि तहाँ तें, कियौ कृष्णगढ़ बास ।।"

सं० १८१४ से १८३२ तक ब्रज प्रदेश पर यवन सेना के बार–बार आक्रमण हुए थे, जिससे वह प्राय: दो दशाब्दी का काल ब्रज के लिए भीषण संकट का रहा था। ब्रज के निरुपाय भक्त जन हताश होकर भक्त–भयहारी भगवान् से सहायता की प्रार्थना करते थे; पर भगवान् भी उस काल में शायद शेष–शैया पर लंबी तान कर सो गये थे! चाचा वृंदाबनदास ने उस काल की दुर्वस्था का कथन करते हुए लिखा है—

"जमन कि जम की जातना, भुगताई इह देह। अब अपने अपनाइ लेउ, बास रावरे गेह ।।
काँपत कपिला गाय ज्यों, कहत मरत हौं लाज। कलि केहरि तें अब करौ, रच्छा सुत ब्रजराज ।।
अजू बरस दस–बीस तें, खुले विपति भंडार। या ब्रज गरुवे सुखनि की, विदित दुरी हटतार[1] ।।"

रणजीतसिंह के शासन काल की आरंभिक पराजयों से ब्रज में संकट और भी बढ़ गया था। उस समय भी ब्रजवासी भक्त गण ब्रज छोड़ कर इधर–उधर भटकने को बाध्य हो रहे थे। चाचा वृंदाबनदास उस काल में कृष्णगढ़ में ही थे; किंतु उनका मन वृंदाबन के वियोग, अपनी वृद्धावस्था और उस समय के संकट से बड़ा खिन्न रहता था। वे आर्त्तनादपूर्वक उसके निवारण के लिए भगवान् से प्रार्थना किया करते थे। सं० १८३५ में उन्होंने अपनी 'आरति पत्रिका' की रचना कृष्णगढ़ में ही की थी। उसमें अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"एक धाम बिछुरन जु दुख दूवर है जु शरीर। तीजै निर अपराध दुख देत नीच बेपीर[2] ।।"

ब्रज की वैसी दुर्दशा करने वाले और जाटों के प्रबल शत्रु मुगल दरबार के वजीर मिर्ज़ा नज़फखाँ की मृत्यु सं० १८३९ में हो गई थी। उसके स्थान पर मुगल सम्राट ने नज़फ़ के सहकारी अफरासियाब को नियुक्त किया था। चूँकि वह अयोग्य सिद्ध हुआ, अत: उसे साल भर के अंदर ही अपने पद से हटा दिया गया था। उससे मुगल दरबार में बड़ी गड़बड़ मच गई थी और साम्राज्य में सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई थी। उस काल में उत्तर भारत में मरहठों का प्रभाव पुन: बढ़ गया था और वे वहाँ की राजनीति में प्रभावशाली भूमिका प्रस्तुत कर रहे थे। तत्कालीन

---

(१) **राधाबल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य**, पृष्ठ ५१६
(२) **वही** ,, , पृष्ठ ५५०

सम्राट शाहग्रालम को ग्रपने राज्य की ग्रव्यवस्था दूर करने के लिए मरहठों की सहायता लेने को बाध्य होना पड़ा था। उसने सुयोग्य मरहठा सरदार माधव जी (महादजी) सिंधिया को ग्रपने मुख्य मंत्री (मीर बख्शी) ग्रौर प्रधान सेनापति के पदों पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार मरहठों का मुगल शासन पर प्रभाव बढ़ जाने से ब्रजवासियों ने संतोष की साँस ली थी ग्रौर वे ग्रपने दीर्घ कालीन संकट के समाप्त होने की ग्राशा करने लगे थे।

माधवजी (महादजी) सिंधिया—रणजीतसिंह के शासन–काल में ब्रज की राजनैतिक गति–विधि के प्रमुख संचालकों में मरहठों के सरदार माधव जी सिंधिया का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसका जन्म मरहठों की एक नीची जाति में ग्रौर एक निम्न परिवार में हुग्रा था। उसका पिता रानोजी ग्रारंभ में पेशवा का एक साधारण सेवक था ग्रौर उसके जूतों की देख–भाल किया करता था। उसकी स्वामि–भक्ति ग्रौर बुद्धिमत्ता से प्रसन्न होकर पेशवा ने उसे सेना में भर्ती कर लिया, जहाँ वह उन्नति करता हुग्रा सेनानायक के पद पर पहुँच गया था। उसके पुत्र माधव जी ने ग्रपनी वीरता, बुद्धिमत्ता ग्रौर नीति–निपुणता से ग्रौर भी ग्रधिक शीघ्रता पूर्वक उन्नति की ग्रौर वह मरहठा सेना के योग्यतम सेनानायकों में गिना जाने लगा। पानीपत के युद्ध में ग्रन्य मरहठा सरदारों की भाँति वह भी सम्मिलित था; किंतु शत्रुग्रों से लड़ता हुग्रा घायल ग्रौर लंगड़ा हो गया था। उसके बाद उत्तर भारत में ग्राश्चर्यजनक शीघ्रता से मरहठा शक्ति के विस्तार करने का श्रेय जिन सरदारों को है, उनमें माधवजी का नाम सबसे पहिले लिया जाता है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका, दिल्ली दरबार के वज़ीर मिर्ज़ा नजफ़खाँ की सं० १८३९ में मृत्यु होने के बाद मुगल साम्राज्य में सर्वत्र ग्रव्यवस्था फैल गई थी, जिसे दूर करने के लिए तत्कालीन मुगल सम्राट शाहग्रालम ने माधव जी सिंधिया को ग्रपना मुख्य मंत्री (मीर बख्शी) बनाया था। उस काल में पेशवा की ग्रोर से उत्तर भारत में जो मरहठा सेना थी, उसके सेनापतियों में माधव जी ही सबसे ग्रधिक योग्य था। उसने मुगल साम्राज्य की ग्रव्यवस्था दूर कर मुगल दरबार के उपद्रवी रुहेले सरदारों को दबा दिया ग्रौर जयपुर राज्य से बकाया कर वसूल किया। फिर डीग, ग्रागरा, ग्रलीगढ़, मथुरा ग्रादि प्रमुख स्थानों पर ग्रधिकार कर उसने ग्रपनी योग्यता, शक्ति ग्रौर सत्ता की धाक जमा दी थी। वह मुगल साम्राज्य का मुख्य मंत्री होने के साथ ही साथ प्रधान सेनापति ग्रौर सम्राट का संरक्षक (वकील मुत्तलक) भी था। इसलिए वह सम्राट शाहग्रालम के नाम पर शासन करने लगा। उसके कारण मरहठों का प्रभाव उत्तर भारत में बहुत बढ़ गया था ग्रौर तब मरहठों की भगवा पताका दिल्ली के लाल किले पर फहराने लगी थी!

सं० १८४४ में माधवजी को ग्रपनी सेना के पुनर्गठन के लिए मालवा जाना पड़ा था। उसकी ग्रनुपस्थिति में गुलाम कादिर रुहेला ने दिल्ली पर ग्रौर इस्मायल बेग ने ग्रागरा पर ग्रधिकार कर लिया। उन दोनों ग्राततायी यवन तानाशाहों ने क्रमशः दिल्ली ग्रौर ब्रज में ग्रत्याचार करना ग्रारंभ कर दिया था। गुलामकादिर ने शाहग्रालम, उसकी बेगमों ग्रौर परिवार वालों पर ऐसे ग्रमानुषिक ग्रत्याचार किये, जैसे शाननारूढ़ मुगल सम्राटों में से किसी को कभी सहन नहीं करने पड़े थे। उसने बादशाह की ग्राँखें निकलवा कर उसे ग्रंधा कर दिया ग्रौर उसकी स्त्रियों की बेइज्जती की! उस समय ग्रंधे बादशाह ने माधवजी के पास खबर भेजी कि वह उसकी दयनीय दशा में सहायता करने को शीघ्र ही दिल्ली ग्रावे। उसने माधवजी को ग्रपने प्रिय पुत्र की तरह

संबोधन करते हुए (माधौजी सिंधिया फर्ज़न्दे जिगरबंदे मनग्रस्त) एक मार्मिक कविता लिखी थी। उसमें कहा गया था—"मेरे राज्य को दुःख की आँधी ने छिन्न–भिन्न कर दिया है। जो राज्य सूर्य की तरह प्रकाशित था, उसे गुलामकादिर ने तिमिरावृत कर दिया। अल्लाह मदद करे, मेरा प्रिय पुत्र माधवजी सिंधिया मेरी अवश्य रक्षा करेगा और मेरे अपमान का बदला लेगा।"

बादशाह की उस दुःखभरी पुकार को सुन कर माधवजी ने रानाखाँ और जिव्बादादा के नेतृत्व में एक शक्तिशाली मरहठा सेना दिल्ली भेजी, जिसने गुलामकादिर को पराजित कर उसे दिल्ली से भागने के लिए बाध्य किया। सं० १८४५ में मरहठों का अधिकार पुनः दिल्ली के किले और नगर पर हो गया। उस समय माधवजी भी वहाँ पहुँच गया था और उसने मथुरा में डेरे डाले हुए थे। दिल्ली से भागते हुए गुलामकादिर को मरहठा सेना ने मेरठ के पास पकड़ लिया था और उसे मथुरा में माधवजी के सन्मुख उपस्थित किया। शाहआलम ने माधवजी से आग्रह किया कि गुलामकादिर के साथ भी वही सलूक किया जावे, जो उसने मेरे साथ किया था और फिर उसे कत्ल कर दिया जावे। बादशाह की इच्छानुसार गुलामकादिर के नृशंस अत्याचारों के दंड स्वरूप उसकी आँखें निकलवाई गईं और उसे अंग–भंग किया गया। उसका काला मुँह करके उसे गधे पर चढ़ा कर नगर में घुमाया गया और फिर उसे मार दिया गया।

सं० १८४६ के आरंभ में माधवजी मथुरा में असाध्य रूप से बीमार हो गया था। उसके चिकित्सक रोग का निदान नहीं कर सके और उसकी दशा दिन पर दिन बिगड़ने लगी थी। कुछ विशेषज्ञों ने बतलाया कि उस पर किसी तांत्रिक ने मारक मंत्र का प्रयोग किया है। खोज करने पर पता चला कि वृंदाबन के गोसाईं हिम्मतबहादुर ने माधवजी से शत्रुता के कारण एक तांत्रिक महिला द्वारा वह प्रयोग कराया था। उस महिला को प्रचुर पुरस्कार दिये जाने पर उसने अपने मंत्र से माधवजी को मुक्त कर दिया और फिर उसका रोग भी जाता रहा! माधवजी की सफलता और उसके प्रभाव के कारण कुछ मरहठे सरदार भी उससे ईर्ष्या करने लगे थे। होलकर उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वंदी और विरोधी था। पेशवा के दरबार में भी उसके विरुद्ध षड़यंत्र होने लगा था। उन समस्याओं के समाधान के लिए माधव जी को पूना जाना आवश्यक हो गया। वहाँ पहुँच कर उसने पेशवा के समक्ष उसी प्रकार दीनता प्रदर्शित की, जिस प्रकार उसके पूर्वज किया करते थे; किंतु उसका पूना दरबार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। फलतः मरहठा सरदारों की गृह-कलह भी दूर नहीं हो सकी। सं० १८५२ (१२ फरवरी, सन् १७९५) में माधवजी का देहांत हो गया।

माधवजी की महत्ता और ब्रज को देन—माधवजी सिंधिया एक युगांतरकारी महापुरुष था। उसकी वीरता, नीतिज्ञता और दूरदर्शिता अनुपम थी। उसने अपने पुरुषार्थ से मरहठों की ध्वजा दिल्ली के किले पर फहराई थी और उत्तर भारत में मरहठों की शक्ति, सत्ता और प्रभुता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। उसकी ब्रज को देन भी बड़ी महत्वपूर्ण थी। जाट राज्य का ह्रास होने से ब्रज में जो भीषण संकट पैदा हुआ था, वह माधवजी के कारण दूर हो गया था। मरहठा हिंदू धर्म के प्रबल समर्थक थे, अतः उनके प्रभाव से ब्रज में हिंदू धर्म और संस्कृति की एक बार पुनः प्रगति हुई थी। माधवजी का मुगल सम्राट पर जो प्रभाव था, उसका सदुपयोग उसने हिंदू धर्म की दुर्वस्था दूर करने में किया था। उसने मुगल दरबार की ओर से गोबध बंद किये

जाने का फरमान जारी कराया और हिंदू धर्म विरोधी उन सभी आदेशों को रद्द करा दिया, जो पिछले बादशाहों द्वारा प्रचलित किये गये थे।

माधवजी भगवान् श्री कृष्ण का अनन्य भक्त और ब्रज का बड़ा प्रेमी था। उसे जब अवकाश मिलता, तभी वह मथुरा–वृंदाबन में निवास कर कृष्ण–भक्ति में रम जाता था। सं० १८४२ में वह ८ महीने तक लगातार मथुरा और उसके निकटवर्ती ब्रज के रमणीक स्थानों में रहा था। ब्रज का सुरम्य स्थल चीरघाट उसे अधिक प्रिय था। वहाँ भी वह काफी समय तक रहता था। उसने ब्रज के मंदिरों को उदारतापूर्वक दान दिया था और यहाँ के तीर्थ स्थलों का जीर्णोद्धार एवं घाटों का पुनर्निर्माण कराया था। उसके निर्माण कार्यों में मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान का विशाल पोतराकुंड उल्लेखनीय है। स्थापत्य कला की दृष्टि से यह एक दर्शनीय इमारत है, जिसका निर्माण सं० १८३९ में हुआ था। वह कृष्ण–जन्मभूमि पर एक विशाल मंदिर भी बनवाना चाहता था; किंतु स्थान के संबंध में पंडितों में मतभेद होने और फिर राजनैतिक झंझटों में फँस जाने के कारण वह अपनी मनोभिलाषा को पूरा नहीं कर सका था। उसका खेद उसे मृत्यु पर्यंत रहा था। कालांतर में सिंधिया राज्य के खजांची गोकुलदास पारिख ने मथुरा में श्री द्वारिकाधीश जी का मंदिर बनवा कर माधव जी की उस अभिलाषा को किसी अंश में पूरा किया था।

वह वृंदाबन के धर्माचार्यों और विशेष कर हरिदासी संप्रदाय के विरक्त संतों के प्रति बड़ी श्रद्धा रखता था। टट्टी संस्थान और श्री रसिकबिहारी मंदिर के तत्कालीन महंत ललितमोहिनी जी और गोबर्धनदास जी उसके आदरणीय जन थे। वह जब वृंदाबन में होता था, तब वहाँ रासलीला भी कराया करता था, जिसमें वहाँ के सभी प्रमुख भक्त जन उपस्थित होते थे। इसका उल्लेख 'ललित प्रकाश' में हुआ है[1]। वह ब्रज साहित्य और संगीत का बड़ा प्रेमी तथा मर्मज्ञ था। उसने स्वयं भी ब्रजभाषा में पदों की रचना की थी, जिन्हें वह भक्ति भाव से ब्रज के पुण्य स्थलों में गाया करता था। उसकी रचनाओं का संकलन 'माधव विलास' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसका रचना काल सं० १८२८ से १८५२ तक माना जा सकता है।

हिम्मतबहादुर—वह माधवजी सिंधिया का समकालीन एक नागा गोसाईं था और एक वीर, साहसी एवं कुशल सेनानायक के रूप में प्रसिद्ध था। उसके अधिकार में नागा संन्यासियों की सशस्त्र सेना थी, जिसके द्वारा वह उस काल की सामरिक और राजनैतिक हलचलों में सक्रिय भाग लेता था। ब्रज की तत्कालीन राजनीति से भी उसका घनिष्ट संबंध रहा था, अतः उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है। वह कुलपहाड़ का निवासी सनाढ्य ब्राह्मण था और बचपन में ही संन्यासी होकर राजेन्द्र गिरि का शिष्य हो गया था। तब उसका नाम अनूपगिरि रखा गया था। उसकी रुचि सैनिक कार्यों में अधिक थी, अतः वह लखनऊ के नवाब शुजाउद्दौला की घुड़सवार सेना में भर्ती हो गया था। वहाँ उसने वीरता में बड़ा नाम पैदा किया, जिसके कारण नवाब ने उसे 'हिम्मतबहादुर' की पदवी और जागीर प्रदान की थी। बाद में वह अनूपगिरि के

---

(१) नाम महाजी सिंधिया, वृंदाबन बिच आय।
श्री गुपाल लीला करी, परम प्रीत दरसाय॥ (निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ६५५)

बजाय हिम्मतबहादुर के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था। उसने युद्ध को अपनी जीविका का साधन बनाया था। उसे जिस व्यक्ति से धन मिलता, उसी के पक्ष में वह सेना लेकर युद्ध किया करता था। इस प्रकार उसने अवध के नवाब, बुंदेलखंड के राजा, दिल्ली के मुगल सम्राट, मरहठे और अंगरेज सभी के पक्ष में अनेक युद्ध किये थे। इस संबंध में उसका न कोई सिद्धांत था और न कोई नीति। उसने रुपये के लिए मुसलमान और अंगरेज जैसे विधर्मी और विदेशी आक्रमणकारियों का साथ देकर वीर धर्म को ही कलंकित नहीं किया, बल्कि देशद्रोह का भी परिचय दिया था।

फिर भी अपने समय में उसकी वीरता की बड़ी धाक थी। मुगल दरबार का साथ देकर उसने माधवजी सिंधिया को नीचा दिखाना चाहा था, किंतु उसमें वह सफल नहीं हुआ। वह माधवजी को सदा परेशान करता रहा था। माधवजी ने उसकी जागीर का बड़ा भाग छीन लिया था और उसके अधिकार में केवल मोंठ और वृंदाबन की जागीरें रहने दी थीं। वह वृंदाबन में राजाओं की भाँति बड़ी शान से रहता था और माधवजी से शत्रुता रखने के कारण सदैव उसके विरुद्ध चालें चला करता था। उसने सैनिक दाव-पेच और कूटनीति के अतिरिक्त मंत्र-तंत्र का प्रयोग भी किया था। उसी की प्रेरणा से माधवजी पर मारक मंत्र का प्रयोग किया गया था, जिसके कारण वह असाध्य रूप से बीमार हो गया था।

उस काल में पेशवा की ओर से उत्तर भारत में जो मरहठा सेना थी, उसका एक सेनानायक अलीबहादुर नामक मरहठा सरदार था। वह बाजीराव पेशवा की मुस्लिम उपपत्नी मस्तानी का पौत्र था। पेशवा का वंशज होने से मरहठा राज्य में उसका बड़ा प्रभाव था और उसकी गणना बड़े सरदारों में होती थी। पेशवा की तरफ से अलीबहादुर को आदेश दिया गया था कि वह उत्तर भारत में मरहठों की शक्ति का विस्तार करे। हिम्मतबहादुर ने अलीबहादुर से मिल कर माधवजी और उसके बीच वैमनस्य पैदा कर दिया, जिसके कारण मरहठों में गृह-कलह होने लगा। सं० १८६१ में हिम्मतबहादुर का देहांत हो गया था। वह कुशल सेनानायक और कूटनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ कवि, काव्य-प्रेमी तथा कवियों का आश्रयदाता भी था। ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि पद्माकर ने उसी के आश्रय में अपने एक मात्र वीर काव्य 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' की रचना की थी। उसने वृंदाबन में घाट, कचहरी और बाटिका आदि का निर्माण कराया था।

ब्रज की अव्यवस्था और अंगरेजों की सैनिक हलचलें—माधव जी सिंधिया की मृत्यु के कुछ समय बाद ही मरहठा राज्य के सर्वोच्च शासक पेशवा का तथा अहिल्याबाई होलकर का देहावसान हुआ था। उन बड़े-बड़े स्तंभों के अभाव में मरहठों की प्रबल राज्य शक्ति डगमगाने लगी और उनकी शासन-नीति में अनेक उलट-फेर होने लगे थे। माधव जी का उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया हुआ तथा अहिल्याबाई का उत्तराधिकारी तुकोजीराव और उसकी मृत्यु होने पर यशवंतराव होलकर हुआ था। उत्तर भारत में सत्ता और प्रभुत्व की प्रतियोगिता में सिंधिया और होलकर का वैमनस्य इतना बढ़ गया कि उनमें निरंतर संघर्ष होने लगा। उसके कारण मरहठा, जाट और मुसलमानों में भी नित्य नये झगड़े होने लगे थे। कभी सिंधिया और होलकर आपस में लड़ते, कभी उनमें से एक पक्ष वाले जाटों से मिलकर मुसलमानों को दबाते, तो दूसरे पक्ष वाले मुसलमानों को साथ लेकर जाटों के दुर्ग पर हमला करते और कभी जाट और मुसलमान मिल कर मरहठों को खदेड़ते थे। उन सिद्धांतहीन और मूर्खतापूर्ण संघर्षों के कारण ब्रजमंडल और उसके

B.

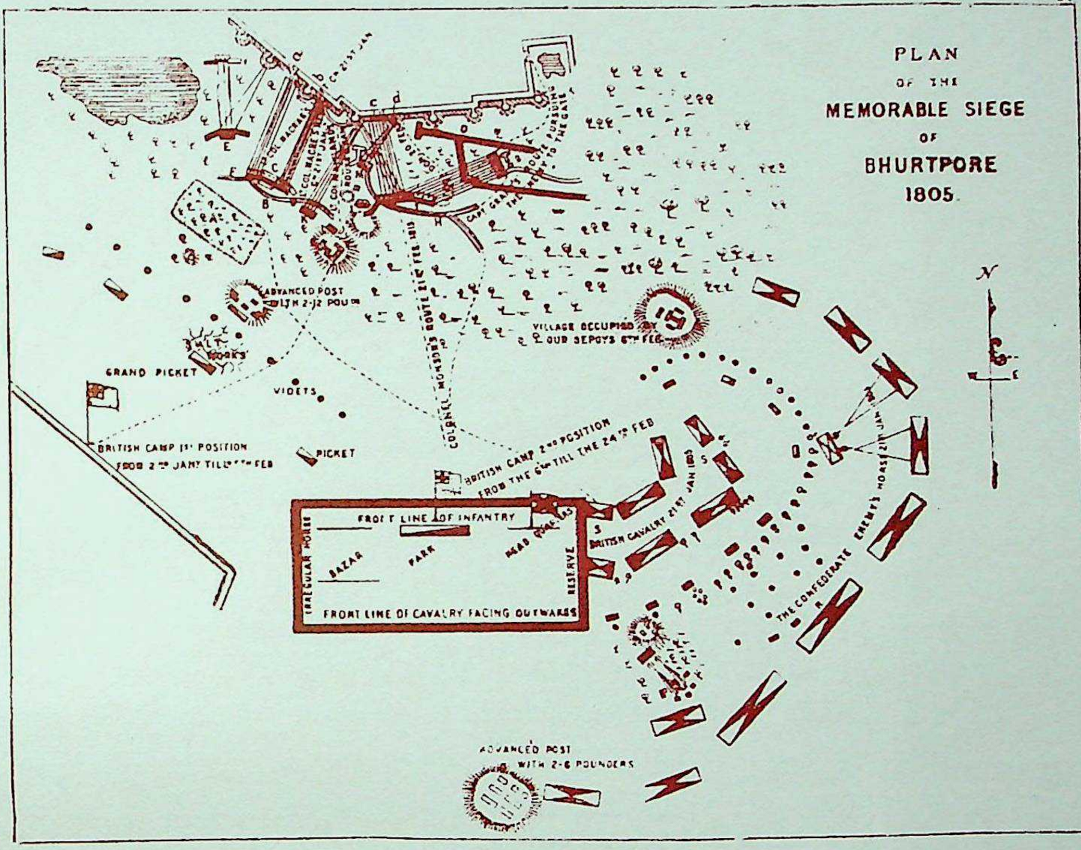
PLAN
OF THE
MEMORABLE SIEGE
OF
BHURTPORE
1805.
N
E
a
b
c
d
B
C
D
E
F
H
S
COL. MACRAE'S
COL. MACRAE'S 21ST JAN
COL. MAITLAND
CAPT. GRANT'S ROUTE PURSUING THE ENEMY TO THE GATE
ADVANCED POST WITH 2-12 POUNDERS
VILLAGE OCCUPIED BY OUR SEPOYS 6TH FEB
COLONEL MONSON'S ROUTE 21ST FEB
GRAND PICKET
VIDETS
PICKET
BRITISH CAMP 1ST POSITION FROM 2ND JANY TILL 6TH FEB
BRITISH CAMP 2ND POSITION FROM THE 6TH TILL THE 24TH FEB
FRONT LINE OF INFANTRY
IRREGULAR HORSE
BAZAR
PARK
HEAD QUARTERS
RESERVE
FRONT LINE OF CAVALRY FACING OUTWARDS
BRITISH CAVALRY 21ST JAN 1805
THE CONFEDERATE ENEMY'S HORSE 21ST JAN
ADVANCED POST WITH 2-6 POUNDERS

भरतपुर के किले पर अंगरेजों की मोर्चाबंदी

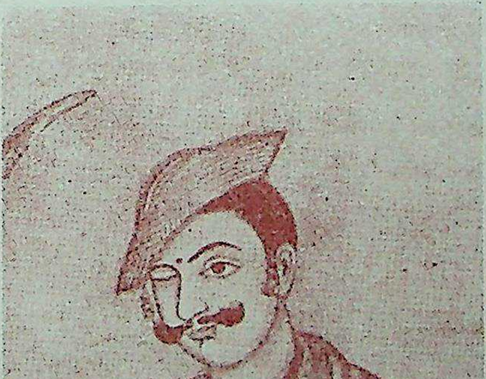

यशवंतराव होल्कर

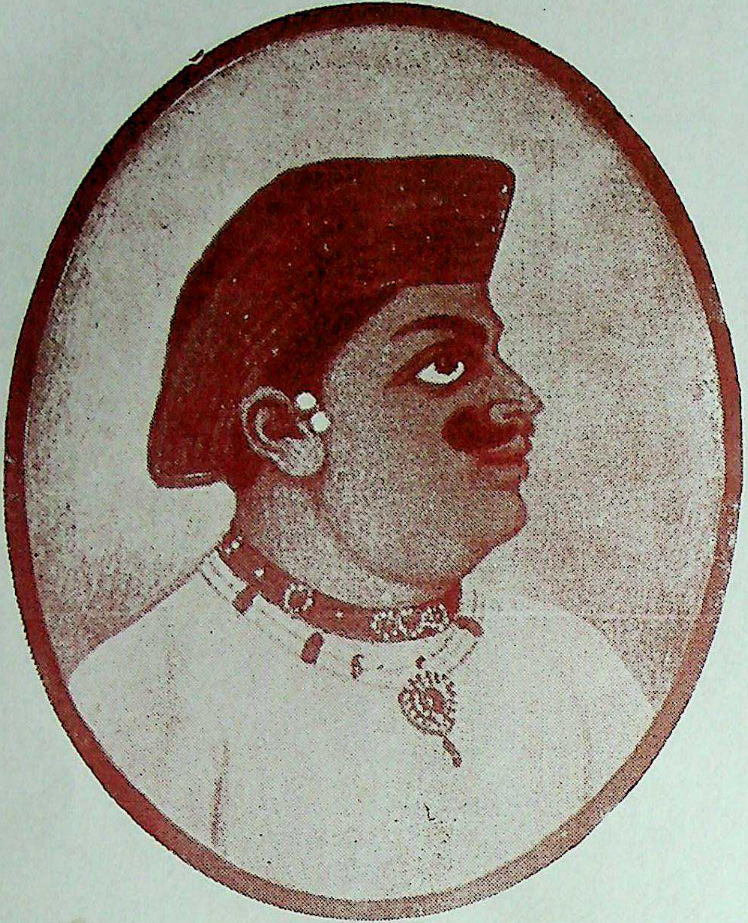

रणधीरसिंह

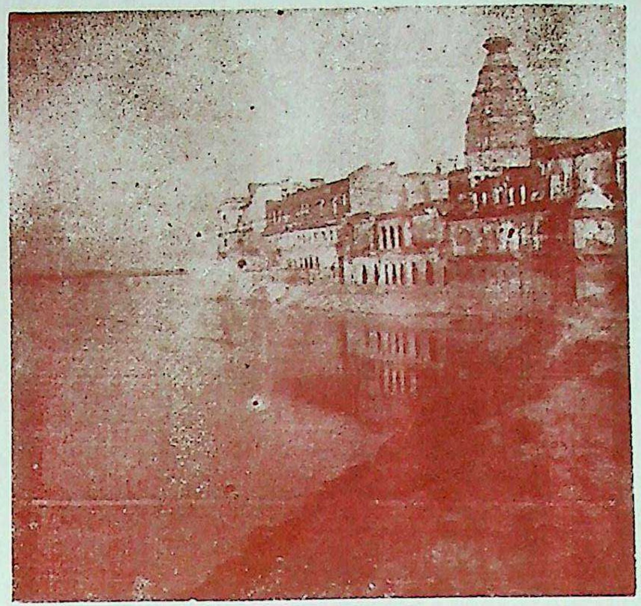

रणधीरसिंह की रानी लक्ष्मी द्वारा निर्मित
लक्ष्मीघाट और लक्ष्मीरानी कुंज

निकटवर्ती भू–भाग में बड़ी अव्यवस्था फैल गई थी। उसका लाभ अंगरेजों ने उठा कर भारत के अन्य भागों की तरह ब्रजमंडल को भी अपनी सैनिक हलचलों से झकझोर दिया था।

जाट–अंगरेज युद्ध—सं० १८६० में अंगरेजी सेना ने दौलतराव सिंधिया के विरुद्ध सफल अभियान करने के अनंतर मथुरा पर अधिकार कर लिया था। उधर जनरल लेक के कमान की अंगरेजी सेना यशवंतराव होलकर का पीछा कर रही थी। होलकर ने भाग कर भरतपुर में शरण ली थी। उस समय भरतपुर में जाट राजा रणजीतसिंह का शासन था। जनरल लेक ने भरतपुर नरेश से माँग की, कि वह होलकर को अंगरेजों के सुपुर्द कर दे। रणजीतसिंह ने उक्त माँग को स्वीकार नहीं किया। फलतः अंगरेजों ने भरतपुर पर आक्रमण कर दिया। उस समय जाटों ने ऐसी वीरता से अंगरेजी सेना का मुकाबला किया कि उसे पीछे हटना पड़ा। जनरल लेक जैसे वीर सेनापति की अध्यक्षता में अंगरेजों ने चार बार भरतपुर पर आक्रमण किया था; किंतु हर वार उन्हें मुँह की खानी पड़ी। उससे भरतपुर किले की अजयता, जाटों की वीरता और रणजीतसिंह की प्रबंध–कुशलता की सर्वत्र ख्याति हो गई थी। रणजीतसिंह की आरंभिक पराजयों के कारण जाटों की जो अप्रतिष्ठा हुई थी, वह अंगरेजों से सफलतापूर्वक युद्ध करने के कारण बहुत–कुछ दूर हो गई थी। जाट राज्य के इतिहास में सूरजमल और जवाहरसिंह द्वारा दिल्ली में की गई लूट की भाँति रणजीतसिंह द्वारा अंगरेजों से सफल संघर्ष करने की घटना भी बड़ी प्रसिद्ध है। ब्रज के अनेक कवियों और लोक गायकों ने भरतपुर पर अंगरेजों की चढ़ाई, जाटों की वीरता और अंगरेजों की पराजय का अत्यंत ओजपूर्ण कथन किया है। इस प्रकार की रचनाओं के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते है—

१–चढ़े हैं फिरंगी भयौ भारत भरतपुर में, तोपन तरपि कैं, हलान पै हलान की।
कालो करी तृपत, फिरंगी सो कुरंगी भए, एक हू कला न चली, पथरकलान की॥ **(प्रेमकवि)**
२–मच्यौ घमासान, कोस तीन लगि लोथ परीं, मर गये सूर साँचे, मौहरा अगाह तें।
कहै 'जसराम' अंगरेज जंग हार गये, जीते जदुवंशी सूर, लड़त उछाह तें॥ **(जसराम)**
३–तेरे तेज तत्ता तें, चकत्ता में रही न सत्ता, लत्ता से उड़ाये, सब गोरे कलकत्ता के। **(भागमल्ल)**
४–फिरका फिरंगिन के फारिकै फतूह करे, जीत के नगारे रनजीत के बजत हैं। **(गंगाधर)**
५–भेजौ फोरि पटक-पछार खात खंभन सों, लेडी अंगरेजन की रोवें कलकत्ता में। **(प्रसिद्ध कवि)**

रणजीतसिंह के उत्तराधिकारी—रणजीतसिंह की मृत्यु सं० १८६२ में हुई थी। उसके चार पुत्र १. रणधीरसिंह, २. बलदेवसिंह, ३. हरिदेवसिंह और ४. लक्ष्मणसिंह थे। रणजीतसिंह के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र रणधीरसिंह भरतपुर का राजा हुआ था। उसने सं० १८६२ से १८७९ तक शासन किया। उसके शासन काल में इस भू–भाग में कोई ऐसी घटना नहीं हुई, जिसने जाट राज्य की शांति को भंग किया हो। फलतः रणधीरसिंह अपने सीमित अधिकृत क्षेत्र पर बिना झगड़े–झंझट के शासन करता हुआ अपना राज्य काल पूरा कर गया। रणधीरसिंह की रानी लक्ष्मी धार्मिक प्रवृत्ति और कलाभिरुचि की महिला थी। उसने वृंदाबन के केशीघाट पर एक दर्शनीय इमारत बनवाई थी, जो 'लक्ष्मी रानी की कुंज' कहलाती है। उसके अतिरिक्त उसने सोंख के निकटवर्ती गुनसार नामक स्थान में एक सुंदर तालाब भी बनवाया था।

रणधीरसिंह के पश्चात् उसका छोटा भाई बलदेवसिंह सं० १८७९ में भरतपुर का राजा हुआ था। उसने केवल १८ माह तक शासन किया। उसकी मृत्यु सं० १८८१ में हो गई। रणधीर सिंह और बलदेवसिंह दोनों की सुंदर छतरियाँ गोबर्धन में मानसी गंगा के निकट बनी हुई हैं। ये छतरियाँ ब्रज की आधुनिक वास्तु कला के सुंदर नमूने हैं। बलदेवसिंह और उसकी रानी अमृत-कौर दोनों ही कवि थे। उनकी ब्रजभाषा रचनाएँ उपलब्ध हैं।

भरतपुर की पराजय और ब्रज पर अंगरेजों का अधिकार—राजा बलदेवसिंह की मृत्यु के समय उसका पुत्र बलवंतसिंह केवल ६ साल का बालक था। नियमानुसार वही राजा होने का अधिकारी था। अंगरेजों ने भी उसे स्वीकार कर लिया था, किंतु उसका चचेरा भाई दुर्जनशाल स्वयं राजा होना चाहता था। उसका समर्थन राज्य के अनेक जाट सरदार कर रहे थे। दुर्जनशाल ने अपने को राजा घोषित कर बलवंतसिंह को नजरबंद कर दिया था। दिल्ली के अंगरेज रेजीडेंट सर डेविड आक्टर लोनी ने बलवंतसिंह को राज्याधिकार दिलाने के लिए सेना सहित प्रस्थान किया; किंतु उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट ने उसे रोक दिया; क्यों कि उसकी नीति भारतीय राजाओं के घरेलू मामलों में दखल देने की नहीं थी। दुर्जनशाल ने पड़ौसी राजपूत राजाओं से और उत्तर भारत के मरहठा सरदारों से सहायता प्राप्त करने की चेष्टा की और वह स्वयं भी भारी सैनिक तैयारी करने लगा। उस समय की राजनैतिक स्थिति के कारण गवर्नर जनरल को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा; अतः उसने अंगरेजी सेना को भरतपुर पर आक्रमण करने की आज्ञा प्रदान कर दी। भरतपुर के विरुद्ध पहिले युद्धों में विफलता मिलने से अंगरेजों की बड़ी अपकीर्ति हुई थी। उसे दूर करने के लिए भी वे उस पर अधिकार कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहते थे। संयोग से उन्हें उसके लिए बहाना मिल गया था। उन्होंने कंवरमियर की कमान में विशाल फौज और भारी तोपखाने के साथ भरतपुर पर आक्रमण कर दिया। अंगरेजी सेना ६ सप्ताह तक दुर्ग पर गोलाबारी करती रही। जाटों ने उस वार भी बड़ा कड़ा प्रतिरोध किया था, किंतु घरेलू झगड़े के कारण उन्हें पराजित होना पड़ा।

सं० १८८३ (१८ जनवरी, सन् १८२६ ई०) में अंगरेजी सेना ने भरतपुर के दुर्ग में प्रवेश किया। दुर्जनशाल को गिरफ्तार कर इलाहाबाद भेज दिया गया और बालक बलवंतसिंह को राजा बनाया गया। राजमाता अमृतकौर उसकी अभिभाविका हुई। वह अंगरेज पोलीटिकल एजेण्ट के नियंत्रण में राज-काज देखने लगी। गोबर्धन का परगना जाट राज्य से प्रथक कर अंगरेजी राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार ब्रज प्रदेश पर अंगरेजों का पूरी तरह आधिपत्य हो गया था। उसके वाद भरतपुर में स्थायी रूप से शांति स्थापित हो गई, जिससे वहाँ के शासकों को राज्य में सांस्कृतिक उन्नति करने का सुयोग मिला था। बलवंतसिंह के माता-पिता दोनों ही ब्रज साहित्य के प्रेमी और कवि थे, अतः उसे जन्म-घुटी में ही साहित्यानुराग का रस प्राप्त हुआ था। उसका दरवार ब्रजभाषा कवियों से भरा रहता था और वह स्वयं भी काव्य-रचना में दत्तचित्त रहता था। बलवंतसिंह के समय में भरतपुर राज्य ब्रज साहित्य का प्रमुख केन्द्र बन गया था। उसकी मृत्यु सं० १९१० में हुई थी।

परवर्ती जाट राजा—बलवंतसिंह के बाद उसका पुत्र यशवंतसिंह भरतपुर का राजा हुआ था। उसके शासन काल में अंगरेजों के विरुद्ध सैनिक विद्रोह हुआ था, जिसमें इस देश की जनता ने भी आंशिक रूप से भाग लिया था। उसके फलस्वरूप अंगरेजी कंपनी का अधिकार समाप्त

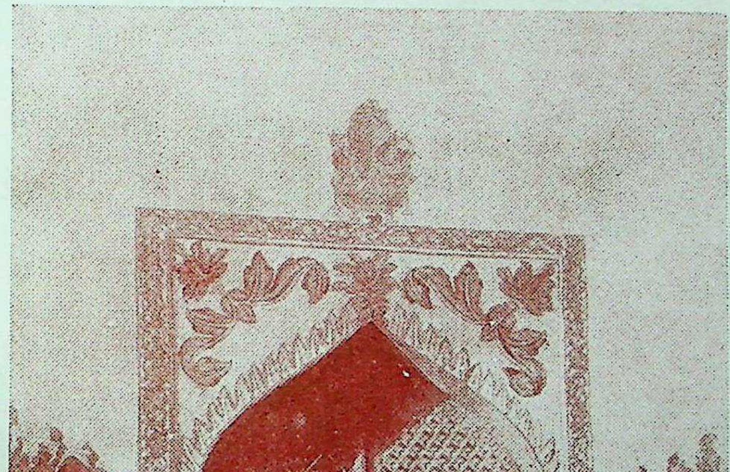

भरतपुर किले का द्वार

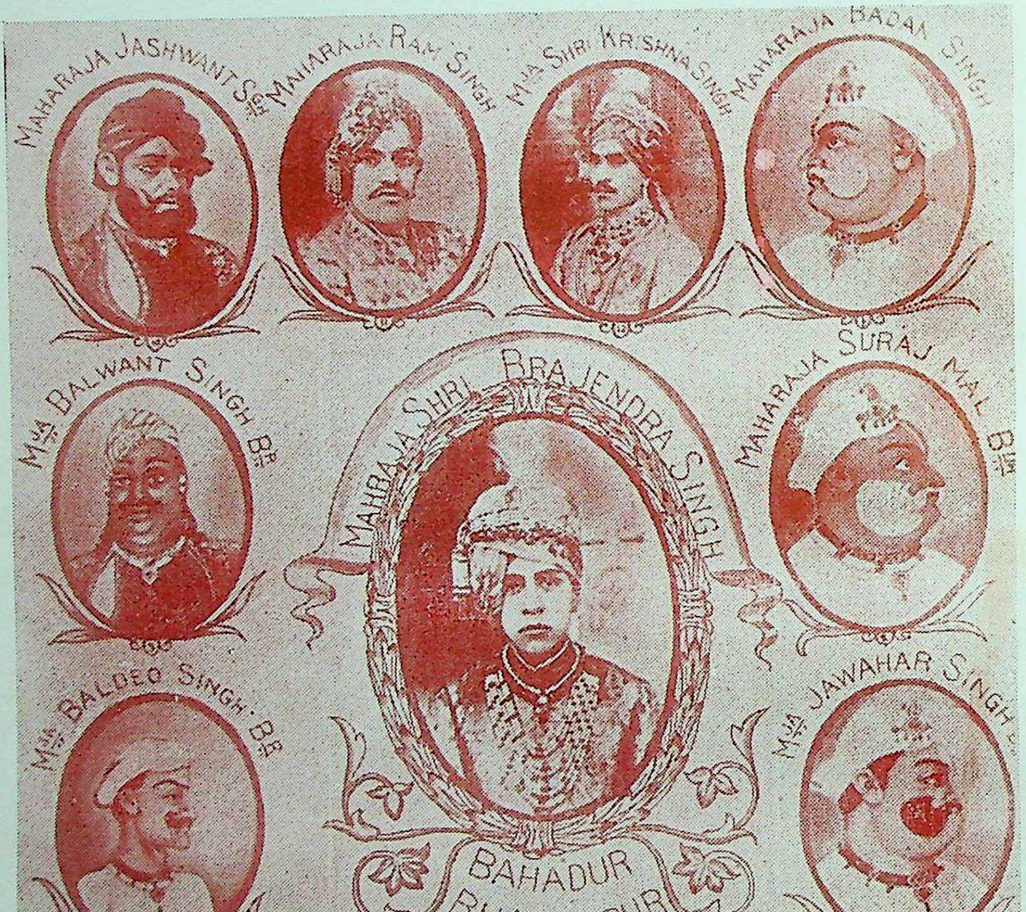
MAHARAJA JASHWANT SINGH
MAHARAJA RAM SINGH
M. SHRI KRISHNA SINGH
MAHARAJA BADAN SINGH
M. BALWANT SINGH B.
MAHARAJA SHRI BRAJENDRA SINGH
BAHADUR
BHARATPUR
MAHARAJA SURAJ MAL B.
M. BALDEO SINGH B.
M. JAWAHAR SINGH
M. RANDHIR SINGH B.
M. RANJIT SINGH B.
M. KEHARI SINGH B.
MAHARAJA RATAN SINGH
BHARATPUR
BHARATPUR
BHARATPUR
BAHADUR

जाट राजाओं का सम्मिलित चित्र

हो गया और इंगलेण्ड की महारानी विक्टोरिया ने इस देश की शासन सत्ता सँभाल ली थी। उस समय समस्त भारत पर अंगरेजी राज्य दृढ़ता पूर्वक क़ायम हो गया। यहाँ के अन्य राजा-महाराजाओं की तरह जाट राजाओं का भी तब कोई खास महत्व नहीं रह गया था। वे नाम को अपने राज्य के स्वामी थे, किंतु वास्तव में अंगरेजों के आधीन थे। यशवंतसिंह के पश्चात् रामसिंह राजा हुआ, किंतु उसकी अव्यवस्था से असंतुष्ट होकर अंगरेज सरकार ने उसे सं० १९५७ में गद्दी से हटा दिया था। तब उसका पुत्र कृष्णसिंह राजा हुआ। उसने बड़े उत्साह पूर्वक भरतपुर राज्य को नये साँचे में ढालने की चेष्टा की थी। उसने बिजली, टेलीफोन तथा उच्च शिक्षा की व्यवस्था की और उर्दू के स्थान पर हिंदी को राजभाषा बनाया था। उसके काल में भरतपुर में हिंदी साहित्य सम्मेलन का सुप्रसिद्ध अधिवेशन हुआ था, जिसमें महामना मदनमोहन मालवीय और विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे राष्ट्रीय नेता उपस्थित हुए थे। कृष्णसिंह स्वतंत्र प्रकृति और राष्ट्रीय विचारों का राजा था। उसके प्रगतिशील कार्य-कलाप उस काल के अंगरेज़ शासकों को आपत्तिजनक ज्ञात हुए थे। फलतः उसे भी गद्दी से हटा दिया गया। तत्पश्चात् उसके पुत्र ब्रजेन्द्रसिंह का शासन हुआ; जो अंगरेजी राज्य के अंत होने पर स्वाधीन भारतीय संघ में राज्यों का विलय हो जाने के कारण समाप्त हो गया था।

जाट राजाओं का वंशवृक्ष

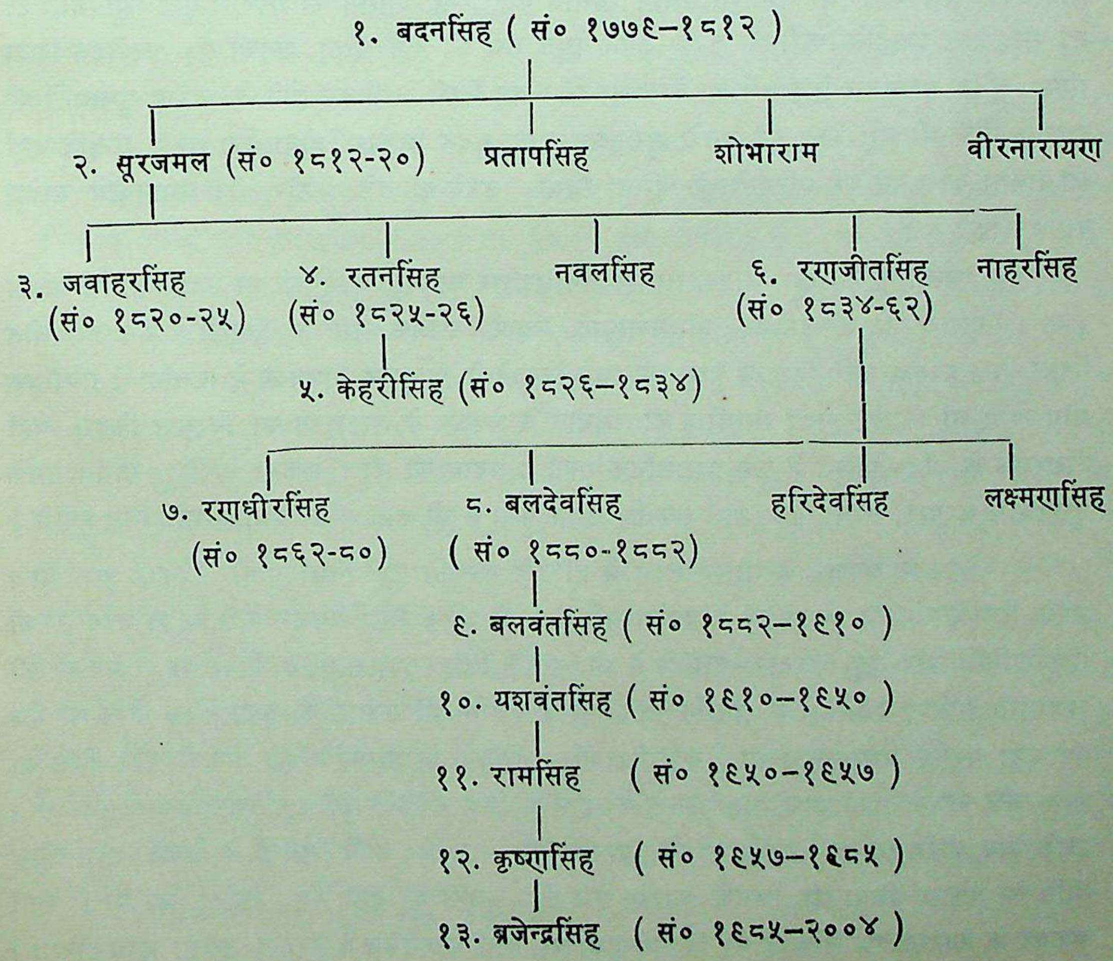
१. बदनसिंह (सं० १७७९-१८१२)
२. सूरजमल (सं० १८१२-२०)
प्रतापसिंह
शोभाराम
वीरनारायण
३. जवाहरसिंह (सं० १८२०-२५)
४. रतनसिंह (सं० १८२५-२६)
नवलसिंह
६. रणजीतसिंह (सं० १८३४-६२)
नाहरसिंह
५. केहरीसिंह (सं० १८२६-१८३४)
७. रणधीरसिंह (सं० १८६२-८०)
८. बलदेवसिंह (सं० १८८०-१८८२)
हरिदेवसिंह
लक्ष्मणसिंह
९. बलवंतसिंह (सं० १८८२-१९१०)
१०. यशवंतसिंह (सं० १९१०-१९५०)
११. रामसिंह (सं० १९५०-१९५७)
१२. कृष्णसिंह (सं० १९५७-१९८५)
१३. ब्रजेन्द्रसिंह (सं० १९८५-२००४)

उपलब्धियाँ और अभाव

इस काल का महत्व—ब्रज संस्कृति के इतिहास का यह 'उत्तर मध्य काल' अपने पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध 'मध्य काल' के समान ही छै शताब्दियों से कुछ अधिक का है; किंतु इसका महत्व उससे भी कहीं ज्यादा है। बल्कि यह कहना चाहिए कि यह इतिहास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल है। क्या राजनैतिक, क्या धार्मिक, क्या कला विषयक और क्या साहित्य संबंधी किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय, इसकी तुलना का कोई दूसरा काल नहीं मिलेगा। ब्रज संस्कृति का जो स्वरूप आजकल मान्य है, उसका निर्माण, विकास और साथ ही साथ ह्रास भी इसी काल में हुआ था। इसीलिए इस काल का इतना अधिक महत्व है।

राजनैतिक स्थिति का सिंहावलोकन—जिन विदेशी मुसलमानों ने अपने मज़हबी जोश से इस देश पर आक्रमण किया था, उन्होंने अपने सुदृढ़ सैनिक संगठन, प्रचंड कर्त्तृत्व और छल–बल की रण–नीति से विश्रृंखल एवं असंगठित हिंदू राजाओं को पराजित कर यहाँ की हिंदू जनता पर अपना कठोर मज़हबी शासन लाद दिया था। उन्होंने दिल्ली में अपनी राजधानी क़ायम कर सुलतानों के नाम से राज्य का संचालन करना आरंभ किया। उनका शासन सैनिक और मज़हबी था, जिसका लक्ष्य प्रजा-पालन की अपेक्षा इस्लाम का प्रचार करना अधिक था। उनके छल–बल और लोभ–लालच से जो लोग मुसलमान बनाये गये, उन्हें शासन की ओर से कुछ सुविधाएँ दी गई थीं; किंतु जिन्होंने किसी भी तरह अपने पैतृक धर्म को नहीं छोड़ा, उनका खूब उत्पीड़न किया गया। चूँकि ब्रजमंडल हिंदू धर्म का केन्द्र था और वह दिल्ली के निकट होने के कारण सुलतानों की नाक के नीचे भी था; अतः इसे उनके क्रूर प्रहार का सदैव शिकार होना पड़ा था। उन्होंने यहाँ की जनता को अपने धर्म-परिवर्तन के लिए विवश करने को बड़े कठोर और अमानवीय आदेश प्रचलित किये थे।

सुलतानों का क्रूर शासन समाप्त होने पर सूर पठानों एवं मुगलों का उदार शासन आरंभ हुआ। मुगल सम्राट अकबर की बुद्धिमत्तापूर्ण उदार धार्मिक नीति ने हिंदुओं के मन को जीत लिया था। उसका यह परिणाम हुआ कि स्वयं हिंदुओं ने ही मुगल साम्राज्य के निर्माण में सर्वाधिक योग दिया था। जहाँ राजा मानसिंह की तलबार ने अकबर के साम्राज्य का विस्तार किया, वहाँ टोडरमल के बुद्धि–कौशल ने उसे प्रशासनिक सुदृढ़ता प्रदान की थी। अकबर के हिंदू सामंत उसके मुसलमान सरदारों से बढ़ कर, यहाँ तक कि उसके पुत्रों से भी कहीं अधिक स्वामि-भक्त सिद्ध हुए थे!

सम्राट अकबर के शासन काल में ही ब्रज संस्कृति का निर्माण और विकास हुआ था। उसके लिए उसने सब प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी थीं। स्वयं अकबर के साथ ही साथ उसकी हिंदू रानियों और हिंदू सरदार–सामंतों ने भी उसके लिए पूरा सहयोग दिया था। अकबर की राजधानी आगरा ब्रजमंडल के अंतर्गत थी। उसके कारण भी सम्राट की प्रशासनिक नीति का ब्रज पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा था। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन में भी अकबर की नीति का बहुत–कुछ पालन किया गया, अतः उनके काल में भी ब्रज संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास हुआ था। उसके बाद औरंगजेब का कठोर शासन आरंभ हुआ। उसने अपने पूर्वजों के विरुद्ध प्रशासनिक नीति का प्रचलन किया था, जिसके कारण ब्रज की जनता को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था। जहाँ अकबर के कारण ब्रज संस्कृति का विकास हुआ था, वहाँ औरंगजेब के कारण उसका ह्रास होगया।

मुगल साम्राज्य की समृद्धि और सुख–सुविधाओं की प्रतिक्रिया इस देश के निवासियों पर बड़ी व्यापक रूप में हुई थी। जो मुसलमान घराने अपने अभावग्रस्त मूल निवास स्थानों को छोड़ कर भारत में आये थे, वे इस धन–धान्यपूर्ण समृद्ध देश के शासक बन कर ऐश–आराम और शराबखोरी में ऐसे मस्त हुए कि उनमें वीरत्व और कष्ट–सहन की सैनिक भावना का लोप हो गया था। उनके साथ रहने से यहाँ के राजपूत सरदार भी अपनी स्वाभाविक वीरता को भुला कर मुसलमानों की तरह ही काहिल और सुस्त हो गये थे। औरंगजेब के क्रूर शासन में भी राजपूत राजाओं को अपने कर्त्तव्य का बोध नहीं हुआ। उनके स्थान की पूर्ति जाट, मरहठा और सिक्ख जैसे नये हिंदू संगठनों ने की, जिन्होंने औरंगजेबी शासन को झकझोर दिया और फिर मुसलमानी राज्य को उखाड़ फेंका था। औरंगजेब के बाद की ब्रज की राजनैतिक स्थिति पर जाटों और मरहठों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। यद्यपि जाटों ने ब्रज के मुसलमानी शासन से सदैव विद्रोह किया था, तब भी उनका दृष्टिकोण संकुचित होने से उदात्त भावना से रहित था। उनके विरुद्ध छत्रपति शिवाजी ने हिंदू राज्य की स्थापना के व्यापक दृष्टिकोण से मरहठों का संगठन किया था।

शिवाजी हिंदू जाति का महान् नेता और मार्ग–दर्शक था। उसने अपने समय के प्रबलतम मुसलमानी राज्य से लोहा लेकर एक शक्तिशाली हिंदू राज्य की नींव डाली थी। उसके संबंध में श्री यदुनाथ सरकार ने लिखा है,—"शिवाजी प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने बीजापुर और दिल्ली को चुनौती दी और इस प्रकार अपने देश वासियों को सिखाया कि वे युद्ध में स्वतंत्र रूप से नेतृत्व कर सकते हैं। फिर उन्होंने एक राज्य स्थापित किया और अपने आदमियों को सिखाया कि उनमें राज्य के सभी विभागों में प्रशासन करने की क्षमता है। उन्होंने अपने ही उदाहरण द्वारा अपने लोगों को सिखाया कि हिंदू जाति एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती है, एक राज्य की नींव डाल सकती है और बैरियों को हटा सकती है। हिंदू अपनी प्रतिरक्षा स्वयं कर सकते हैं और वे साहित्य, कला, वाणिज्य तथा उद्यम का संरक्षण एवं उन्नयन कर सकते हैं[1]।" शिवाजी के महान् उद्देश्य का पता उस पत्र से लगता है, जो उसने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को उस समय लिखा था, जब वह औरंगजेब के आदेशानुसार शिवाजी की सैनिक हलचलों को दबाने के लिए दक्षिण गया था।

शिवाजी के उस ऐतिहासिक पत्र का कुछ अंश इस प्रकार है,—"मैंने सुना है, तू मुझ पर आक्रमण करने (एवं) दक्षिण–प्रांत को विजय करने आया है। हिंदुओं के हृदय तथा आँखों के रक्त से तू संसार में लाल मुँह वाला (यशस्वी) हुआ चाहता है। पर तू यह नहीं जानता कि यह (तेरे मुँह पर) कालिख लग रही है, क्यों कि इससे देश तथा धर्म पर आफत आ गई है।··· यदि तू (अपनी ओर से) स्वयं दक्षिण–विजय करने आता (तो) मेरे सिर और आँख तेरे रास्ते के बिछौने बन जाते। मैं तेरे हमरकाब (घोड़े के साथ) बड़ी सेना लेकर चलता (और) एक सिरे से दूसरे सिरे तक (भूमि) तुझे सौंप देता (विजय कर देता); पर तू तो औरंगजेब की ओर से (उस) भद्रजनों के धोखा देने वाले के बहकावे में पड़ कर आया है। अब मैं नहीं जानता कि तेरे साथ कौन खेल खेलूँ। (अब) यदि मैं तुझ से मिल जाऊँ, तो यह पुरुषत्व नहीं है, क्यों कि पुरुष लोग समय की सेवा नहीं करते; सिंह लोमड़ीपना नहीं करते। और यदि मैं तलवार तथा कुठार से काम लेता हूं, तो दोनों ओर हिंदुओं को ही हानि पहुँचती है। बड़ा खेद तो

---

(१) शिवाजी और उनका युग, पृष्ठ ३८०

यह है कि मुसलमानों के खून पीने के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य के निमित्त मेरी तलवार को म्यान से निकलना पड़े। यदि इस लड़ाई के लिये तुर्क आये होते, तो (हम) शेर-मर्दों के निमित्त (घर बैठे) शिकार होते। पर वह न्याय तथा धर्म से वंचित पापी जो कि मनुष्य के रूप में राक्षस है, अफजलखाँ से कोई श्रेष्टता न प्रगट हुई, (और) न शाइस्ताखाँ की कोई योग्यता देखी तो तुझ को हमारे युद्ध के निमित्त नियत करता है; क्यों कि वह स्वयं तो हमारे आक्रमण को सहने की योग्यता रखता नहीं। (वह) चाहता है कि हिंदुओं के दल में कोई बलशाली संसार में न रह जाए, सिंहगण आपस में ही (लड़-भिड़ कर) घायल तथा श्रान्त हो जाएँ, जिससे कि गीदड़ जंगल के सिंह बन बैठें। यह गुप्त भेद तेरे मस्तक में क्यों नहीं बैठता! प्रतीत होता है कि उसका जादू तुझे बहकाये रहता है!......यदि तेरी काटने वाली तलवार में पानी है, यदि तेरे कूदने वाले घोड़े में दम है, तो तुझ को चाहिये कि धर्म के शत्रु पर आक्रमण करे (एवं) इस्लाम की जड़–मूल खोद डाले! ...वह तो अपने इष्ट साधन के लिए भाई के रक्त (तथा) बाप के प्राणों से भी नहीं डरता है।

...यह अवसर हम लोगों के आपस में लड़ने का नहीं है, क्यों कि हिंदुओं पर (इस समय) बड़ा कठिन कार्य आ पड़ा है। हमारे देश, धन, बाल–बच्चे तथा पवित्र देवालय इन सब पर उसके काम से आफत पड़ रही है, (तथा) उनका दुःख सीमा तक पहुँच गया है। यदि कुछ दिन उसका काम ऐसा ही चलता रहा (तो) हम लोगों का कोई चिह्न (भी) पृथ्वी पर न रह जायेगा! बड़े आश्चर्य की बात है कि मुट्ठी भर मुसलमान हमारे (इतने) बड़े इस देश पर प्रभुता जमावें। यह प्रबलता (कुछ) पुरुषार्थ के कारण नहीं है। यदि तुझको समझ की आँखें हैं तो देख (कि) वह हमारे साथ कैसी धोखे की चालें चलता है और अपने मुँह पर कैसा २ रंग रँगता है। हमारे पाँवों को हमारी ही सांकलों से जकड़ता है (तथा) हमारे सिरों को हमारी ही तलवार से काटता है! हम लोगों को (इस समय) हिंदू, हिंदुस्थान तथा हिंदू–धर्म (की रक्षा) के निमित्त अत्यधिक प्रयत्न करना चाहिये। हमको चाहिये कि हम तुर्की का जवाब तुर्की में दें। यदि तू जसवंतसिंह से मिल जाय और हृदय से उस कपट कलेवर के पैंड़े पड़ जाय (तथा) राणा से भी तू एकता का व्यवहार करले, तो आशा है कि बड़ा काम निकल जाये। चारों तरफ से धावा करके तुम लोग युद्ध करो। उस साँप के सिर को पत्थर के नीचे दबालो (कुचल डालो) कि कुछ दिनों तक वह अपने ही परिणाम के सोच में पड़ा रहे (और) दक्षिण प्रांत की ओर अपना जाल न फैलावे (और) मैं इस ओर भाला चलाने वाले वीरों के साथ इन दोनों बादशाहों का भेजा निकाल डालूं! मेघों की भाँति गरजने वाली सेना से मुसलमानों पर तलवार का पानी बरसाऊँ।...हम लोग अपनी सेनाओं की तरंगों को दिल्ली में उस जर्जरीभूत घर में पहुँचादें। उसके नाम में न तो 'औरंग' (राज सिंहासन) रह जाये और न 'ज़ेब' (शोभा); न उसकी अत्याचारी तलवार (रह जाय) और न कपट का जाल। हम लोग शुद्ध रक्त से भरी हुई एक नदी बहादें (और उससे) अपने पितरों की आत्माओं का तर्पण करें! न्यायपरायण प्राणों के उत्पन्न करने वाले (ईश्वर) की सहायता से हम लोग उसका स्थान पृथ्वी के नीचे (कब्र में) बनादें। यह काम (कुछ) कठिन नहीं है। (केवल यथोचित) हृदय, हाथ तथा आँख की आवश्यकता है। दो हृदय (यदि) एक हो जायें तो पहाड़ को तोड़ सकते हैं, (तथा) समूह के समूह को तितर बितर कर सकते हैं[1]।...

---

(१) त्रिवेणी, जनवरी सन् १९४८

शिवाजी के परवर्ती मरहठा सरदारों ने अपनी प्रबल सैनिक शक्ति से मुसलमानी शासन को समाप्त करने में सबसे अधिक योग दिया था; किंतु वे उस काल की अन्य हिंदू शक्तियों को संगठित करने की अपेक्षा उनके विघटन में ही सहायक हुए थे। शिवाजी के महान् उद्देश्य के विपरीत उन्होंने विदेशी मुसलमानों के साथ ही साथ इस देश के राजपूतों और जाटों पर भी हाथ साफ किया था ! उस काल के राजपूत राजाओं में सवाई जयसिंह के अतिरिक्त किसी दूसरे का कोई महत्वपूर्ण कार्य दिखलाई नहीं देता। जाटों में सूरजमल और जवाहरसिंह जैसे योग्य सेनानी और वीर योद्धा भी मरहठों की नीति के कारण ब्रज में स्थायी हिंदू राज्य की स्थापना नहीं कर सके थे। यदि मरहठा सरदार राजपूतों और जाटों को अपने साथ रखते, तो वे शिवाजी के उद्देश्य के अनुसार 'हिंदू पातशाही' की स्थापना करने में अवश्य ही सफल होते। अंतिम मरहठा सरदारों का दृष्टिकोण और भी अधिक संकीर्ण हो गया था। वे राजपूतों और जाटों के साथ ही साथ अपने सहयोगी और साथियों से भी लड़ने–झगड़ने लगे थे। उस काल के महान् मरहठा सरदार माधवजी सिंधिया ने यद्यपि मुगल सम्राट को अपने संरक्षण में लेकर दिल्ली के लाल किले पर अपना भगवा ध्वज फहरा दिया था, तथापि प्रतिद्वंदी सरदारों के ईर्ष्या-द्वेष के कारण उसके प्रयत्न का कोई स्थायी परिणाम नहीं निकला। सिंधिया और होलकर जैसे उस काल के प्रबलतम मरहठा सरदारों की प्रतिद्वंदिता ने मरहठा शक्ति को ही क्षीण नहीं किया, वरन् इस देश को अंगरेजों की दासता के बंधन में ही जकड़ दिया था ! इस प्रकार मुसलमानी राज्य को समाप्त करने के बाद भी हिंदू राज्य की स्थापना का उनका सुख स्वप्न स्वयं उनके दोष के कारण ही पूरा नहीं हो सका था।

धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति की समीक्षा—मुसलमानी राज्य की स्थापना होने पर दिल्ली के सुलतानों ने अपने मजहबी जोश में भारतीय धर्म और संस्कृति पर बड़ा कठोर प्रहार किया था। 'इस्लाम' का शाब्दिक अर्थ 'शांति में प्रवेश करना' है[1]; किंतु सुलतानों ने इस्लाम के प्रचार के नाम पर ही यहाँ घोर अशांति का वातावरण बना दिया था। उनके कारण यहाँ के पुरातन धर्म और संस्कृति का वैसा ही लोप जाता, जैसा संसार के अन्य देशों में हुआ था; किंतु इस देश के सौभाग्य से उस काल के धर्माचार्यों और संत–महात्माओं ने वैसा नहीं होने दिया था। उस महान् कार्य में ब्रज में निवास करने वाले धार्मिक महानुभावों ने सर्वाधिक योग दिया था। दिल्ली के सुलतानों ने उनके प्रयत्न को विफल करने के लिए बड़े बर्बरतापूर्ण आदेश जारी किये थे। उन्होंने तीर्थ कर और जज़िया कर जैसे अमानवीय करों का प्रचलन किया, मंदिर–देवालयों को नष्ट किया और पूजा–उपासना को रोक दिया था; गो–बध को खुले–आम होने दिया और गैर मुस्लिमों को बलात् मुसलमान बनाया था ! ऐसी विषम परिस्थिति में भी ब्रज के धर्माचार्यों और संत–महात्माओं ने यहाँ से पलायन नहीं किया; बल्कि वे साहसपूर्वक अपने प्रयत्न में लगे रहे। यद्यपि उन्होंने यहाँ की हिंदू जनता को सुलतानों के विरुद्ध शस्त्र धारण करने का उपदेश नहीं दिया; तथापि अपने आत्म बल और नैतिक प्रभाव से उन्होंने एक ओर शासकों से सैद्धांतिक संघर्ष किया, और दूसरी ओर जनता के मनोबल को बनाये रखा। उसका यह परिणाम हुआ कि ब्रज के निवासी नाना प्रकार की कठिनाइयों को सहन करते हुए भी अपने धर्म पर डटे रहे थे।

मुगल सम्राट अकबर के शासन काल में ब्रज की धार्मिक स्थिति ने अभूतपूर्व ऐतिहासिक मोड़ लिया था। उस महान् सम्राट ने अपनी उदार धार्मिक नीति से ब्रज संस्कृति के निर्माण और

---

(१) रिलीजन आफ इस्लाम (मुहम्मद अली)

विकास में जो महत्वपूर्ण योग दिया, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है । उसने तीर्थ कर एवं जज़िया कर हटा दिये, मंदिर-निर्माण और सेवा-पूजा पर लगी हुई रोक को रद्द कर दिया, तथा गो–बध बंद करने का आदेश जारी किया । ब्रज के धर्माचार्यों एवं संत-महात्माओं का उसने सन्मान किया और उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ देने की चेष्टा की । अकबर के उस सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण ही ब्रज में धार्मिक महानुभावों का एक बड़ा समुदाय एकत्र हो गया और यहाँ कई शताब्दियों के बाद बड़े–बड़े मंदिर–देवालय बनाये गये । गो० विट्ठलनाथ जी ने सम्राट से सुविधाएँ प्राप्त कर जहाँ बल्लभ संप्रदाय की बड़ी उन्नति की थी, वहाँ ब्रज संस्कृति के निर्माण में भी महत्वपूर्ण योग दिया था । ब्रज के जिन धर्माचार्यों और संत–महात्माओं ने अपनी अतिशय त्याग वृत्ति के कारण सम्राट की आदर पूर्वक दी हुई सुविधाओं की उपेक्षा की थी, उनमें स्वामी हरिदास, कुंभनदास और सूरदास के नाम उल्लेखनीय हैं । यदि उनका वह दृष्टिकोण न होता, तो चाहें उनकी अंतर्मुखी साधना और उनके एकांत भजन में कुछ बाधा आती; किंतु उनके द्वारा ब्रज संस्कृति की प्रगति तथा जन कल्याण के कार्य में और भी अधिक योग मिल सकता था । तानसेन ने संगीत के क्षेत्र में जो युगांतरकारी कार्य किया था, वह अकबर के प्रोत्साहन से ही संभव हो सका था । फिर भी ब्रज के धार्मिक महानुभावों के सात्विक जीवन एवं त्याग–तप तथा उनकी उपासना और कला–साधना का उस काल में बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा था । उनसे राजा से रंक तक और हिंदुओं के साथ सहृदय मुसलमान तक प्रभावित हुए थे । ताजबीबी, पीरज़ादी, रसखान, अलीखान और रहीम जैसे ब्रज संस्कृति के प्रेमी मुसलमान स्त्री-पुरुष उस काल में हुए थे, वैसे फिर नहीं हो सके ।

ब्रज की धार्मिक उन्नति और सांस्कृतिक प्रगति का वह स्वर्ण काल पूरो एक शताब्दी तक भी नहीं रहा था । उसके बाद औरंगजेब के शासन काल में वे सभी बातें पलट गई थीं । उस तआस्सुबी सम्राट की मज़हबी कट्टरता और गैर मुस्लिमों के प्रति उसको कठोर नीति ने ब्रज की उच्च कोटि की धर्मोन्नति और समृद्ध संस्कृति का सर्वनाश कर दिया था । यहाँ के अनेक धर्माचार्य अपने उपास्य देव–स्वरूपों तथा धार्मिक और कला–कोविद शिष्य–सेवकों के साथ ब्रज को छोड़ कर अन्यत्र सुरक्षित स्थानों में चले गये थे । फलतः यहाँ के अनेक मंदिर–देवालय सूने हो गये और गोकुल तथा गोवर्धन जैसे विख्यात सांस्कृतिक केन्द्र उजड़ गये थे । ब्रज में ऐसा सांस्कृतिक अंधकार हुआ कि फिर वह पूरी तरह कभी दूर नहीं हो सका था । यदि औरंगजेब के स्थान पर उसका बड़ा भाई दारा मुगल सम्राट हुआ होता, तो वह बुरा समय नहीं आता; किंतु विधि के विधान को कौन बदल सकता है !

मुगल शासन के अंतिम काल में ब्रज में पहिले सवाई जयसिंह और बाद में माधव जी सिंधिया जैसे धर्म और संस्कृति के प्रेमी राजकोय महापुरुषों का बड़ा प्रभाव रहा था । जयसिंह ने मुगल सम्राट मुहम्मदशाह से और माधव जी ने शाहआलम से अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर ब्रज की बिगड़ी हुई धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति को सुधारने की चेष्टा की थी; किंतु उनके प्रयत्नों का थोड़ा ही सुखद परिणाम निकला था । उस काल में ब्रज में बदनसिंह, सूरजमल और जवाहरसिंह जैसे विख्यात जाट वीर हुए थे और उन्होंने यहाँ के बड़े भू–भाग पर शासन भी किया था । यद्यपि वे ब्रज की धर्मोपासना के प्रति निष्ठावान और ब्रज संस्कृति के बड़े प्रेमी थे; तथापि उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक और उदात्त भावना से प्रेरित नहीं था। इसीलिए वे कुछ अच्छी इमारतें बनवाने के अतिरिक्त यहाँ की धर्मोपासना और संस्कृति की प्रगति में कोई बड़ा योग-दान नहीं कर सके थे ।

पंचम अध्याय

आधुनिक काल

[विक्रम सं० १८८३ से सं० २०२२ तक]

अंगरेजी कंपनी का शासन—

भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना—इंगलेंड के अंगरेज व्यापारियों ने 'ईस्ट इंडिया कंपनी' नामक एक व्यापारिक संस्था भारतवर्ष के साथ व्यापार करने के लिए बनाई थी। उसके कर्मचारी भारत में इसी उद्देश्य से आये थे; किंतु वे व्यापार के साथ ही साथ यहाँ की राजनीति में भी भाग लेने लगे थे। उन्होंने अपनी व्यापारिक कोठियों की रक्षा के लिए अनेक सैनिक रख छोड़े थे। उनके द्वारा वे इस देश के राजा–महाराजाओं के घरेलू झगड़ों में कभी एक पक्ष का साथ देते थे और कभी दूसरे पक्ष की सहायता करते थे। उसके एवज में वे उन राजा–महाराजाओं से ऐसी शर्तें मनवा लेते थे, जिनसे उनके व्यापार का विस्तार होने के साथ ही साथ उन्हें कुछ राज्याधिकार भी प्राप्त हो जाता था। वह क्रम पर्याप्त समय तक चलता रहा था। उसके फल स्वरूप एक दिन ऐसा आया, जब वे अंगरेज व्यापारी यहाँ के व्यापार पर ही हावी नहीं हुए; बल्कि वे इस देश के भी स्वामी बन गये थे!

थोड़े से विदेशी व्यापारियों ने सात समुद्र पार से आकर इस लंबे–चौड़े पुरातन देश के सैकड़ों राजा–महाराजाओं को उनके परंपरागत राज्याधिकार से वंचित कर दिया और आप यहाँ के एक छत्र राजा बन बैठे! यह बात पढ़ने–सुनने में बड़ी अजीब लगती है; किंतु उस समय यहाँ की राज्य शक्तियों ने आपस में लड़ कर इस देश की जैसी अरक्षित दशा कर दी थी, उसके कारण वैसी स्थिति का हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। कूटनीतिज्ञ अंगरेजों ने अपने बुद्धि-कौशल और भारतीय सैनिकों की तलवार के बल पर यहाँ के कलहप्रिय राजाओं को एक–एक कर पराजित कर दिया और वे यहाँ अंगरेजी राज्य की स्थापना करने में सफल हो गये थे।

ब्रज पर अंगरेजों का अधिकार—अंगरेजों ने भारत के दक्षिणी और पूर्वी भागों पर बहुत पहिले ही अधिकार कर लिया था; किंतु उत्तरी भारत में अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए उन्हें मरहठों से अति काल तक संघर्ष करना पड़ा। जब तक माधव जी सिंधिया जीवित रहा, तब तक अंगरेजों के पाँव ब्रजमंडल और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में नहीं जम सके थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् इधर मरहठा सरदारों में गृह–कलह होने लगा, उधर उनका केन्द्रीय नेतृत्व दुर्बल हो गया था। उन कारणों से अंगरेजों को ब्रज पर अधिकार करने में सुविधा हो गई थी। उन्होंने सेनापति लेक के नेतृत्व में सं० १८६० में पहिले अलीगढ़ किले पर और फिर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था। उसके प्रायः एक महीना बाद मथुरा पर और फिर आगरा पर भी अंगरेजी सेना का अधिकार हो गया। तत्पश्चात् भरतपुर के जाट राजा रणजीतसिंह से अंगरेजों की जो संधि हुई थी, उसमें सोंख, सोंसा, सहार आदि परगने भी अंगरेजों के अधिकार में आ गये थे। इस प्रकार सं० १८६१ के अंत तक ब्रज प्रदेश के आधे भाग से अधिक पर अंगरेजों का आधिपत्य हो गया था और आधे से कम पर भरतपुर के जाट राजा का अधिकार था। उस समय ब्रज का जितना भाग अंगरेजी राज्य में था, उसके शासन केन्द्र आगरा, अलीगढ़ और सादाबाद थे। मथुरा का उस काल में कोई राजनैतिक महत्व नहीं था।

सं० १८८३ में जब अंगरेजी सेना ने भरतपुर के सुदृढ़ दुर्ग पर अधिकार कर जाट राज्य की स्वतंत्र सत्ता समाप्त करदी थी, तब समस्त ब्रज प्रदेश पर अंगरेजों का आधिपत्य हो गया था । उसके बाद उन्होंने बलवंतसिंह को अपने आश्रय में लेकर उसे भरतपुर का राजा बना दिया था । उसके राज्य में भरतपुर, डीग, कुम्हेर, कामा आदि के परगने रखे गये; किंतु गोबर्धन का परगना अंगरेजी राज्य में मिला लिया गया । इस प्रकार ब्रज प्रदेश के दो राजनैतिक भाग हो गये— बड़ा भाग अंगरेजी राज्य में था और छोटा भाग भरतपुर राज्य में । ब्रज का जितना भाग अंगरेजी राज्य में था, वह आगरा कमिश्नरी में रखा गया; जिसे प्रशासन के लिए आगरा, अलीगढ़, मथुरा आदि जिलों में विभाजित कर दिया । वर्तमान मथुरा जिला कई बार के उलट–फेर से बना है ।

जैसा लिखा जा चुका है, सं० १८६० (२ अक्टूवर, सन् १८०३) में मथुरा नगर पर अंगरेजों का सर्व प्रथम अधिकार हुआ था । उसके कुछ समय बाद जब आगरा भी उनके अधिकार में आ गया, तब प्रशासन की दृष्टि से इस क्षेत्र के दो केन्द्र आगरा और सादाबाद थे । सं० १८८३ में जाटों को पराजित कर जब अंगरेजों ने गोबर्धन के परगने को अपने अधिकार में लिया था, तब भी मथुरा जिले का केन्द्र सादाबाद ही था । सं० १८८९ में मथुरा जिले का नया ढाँचा बनाया गया था । तब उसमें अड़ींग, सहार, कोसी, मांट, नोहझील, महाबन, सादाबाद और जलेसर की ८ तहसीलें थीं । उस समय मथुरा नगर को राजनैतिक महत्व देते हुए उसे सर्व प्रथम इस जिले का सदर मुकाम बनाया गया था ।

सं० १८८३ से सं० १९१४ तक के काल में ब्रज के अंगरेजी शासन में प्रबंध व्यवस्था और तहसील–परगनों की सीमा में परिवर्तन के अतिरिक्त कोई अन्य उल्लेखनीय घटना नहीं हुई थी । उस काल में अंगरेज इस प्रदेश के एक मात्र अधिकारी थे और उनका विरोध करने वाली कोई शक्ति नहीं थी । कंपनी सरकार का ध्येय शासन–व्यवस्था को सुदृढ़ बना कर अपने व्यापार के विस्तार द्वारा इस देश का शोषण करना था । इसके लिए अंगरेजों ने ऐसे कड़े कानून बनाये थे, जो भारतीय व्यापार को समाप्त कर उसमें लगे हुए व्यक्तियों को कंपनी सरकार की दासता करने को बाध्य करते थे । जिन राजा–महाराजाओं के राज्यों को उन्होंने छल–बल से छीना था, उनके प्रति भी उनका बड़ा दुर्व्यवहार रहा था; अतः वे भी कंपनी सरकार से असंतुष्ट थे । इस प्रकार सं० १९१४ में राजा से प्रजा तक अधिकांश भारतवासी कंपनी सरकार के विरोधी बन गये थे ।

अंगरेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह—मुसलमानी राज्य का प्रभाव समाप्त होने के पश्चात् और अंगरेजी राज्य कायम होने से पहिले ब्रज पर जिन जाट और मरहठा शासकों का अधिकार था, वे भारतीय संस्कृति के प्रेमी और हिंदू धर्म के अनुयायी होने के कारण ब्रज की प्रगति में सहायक हुए थे । उन्होंने यहाँ सुंदर इमारतें बनवाई थीं और संस्कृत एवं ब्रजभाषा को प्रोत्साहन दिया था । उनके विरुद्ध अंगरेजों ने ईसाई धर्म के प्रचारक पादरियों को सुविधाएँ प्रदान की थीं और अंगरेजी भाषा प्रचलित करने की योजना बनाई थी । यहाँ के लोगों ने समझा जिस प्रकार मुसलमान शासकों ने उन्हें मुसलमान बनाने की चेष्टा की थी, उसी प्रकार अंगरेज उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं । उनकी व्यापारिक और कूटनीतिक चालों से भी यहाँ के लोग असंतुष्ट हो गये थे । उनके सामूहिक असंतोष का यह परिणाम हुआ कि इस देश की जनता कंपनी शासन के प्रति विद्रोह करने को तैयार हो गई । उसका नेतृत्व अंगरेजों द्वारा पदच्युत किये गये शासकों ने

किया था। मुगल साम्राज्य का अंतिम अवशेष दिल्ली राज्य तब भी विद्यमान था। उसका अधिपति बहादुरशाह नाम मात्र का बादशाह था, जिसे अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी। उसने विद्रोह की हलचलों का संचालन किया था। विद्रोही नेताओं ने सम्राट बहादुर शाह के नाम से एक ज़ोरदार अपील तैयार की और उसे दूतों द्वारा गुप्त रीति से सभी राज्यों में भेज दिया। उनकी योजना थी कि ३१ मई १८५७ के दिन सभी स्थानों में एक साथ विद्रोह कर अंगरेजी सेना पर धावा बोल दिया जावे और उसे पराजित कर देश को अंगरेजों के प्रभाव से मुक्त किया जावे।

उस योजना के परिपक्व होने से पहिले ही मेरठ की छावनी में १० मई को भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया था। उन्होंने अंगरेज अफसरों को मार कर अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी। इस प्रकार पूरी तैयारी के अभाव में सामूहिक विद्रोह के क्रियान्वित होने में बाधा उपस्थित हो गई थी। फिर भी ३१ मई सन् १८५७ के निश्चित दिवस पर उत्तर भारत के अनेक स्थानों में भारतीय सैनिकों तथा नागरिकों ने अंगरेजी सत्ता के विरुद्ध स्वतंत्रता युद्ध का आरंभ कर दिया था। उस स्वातंत्र्य–अभियान के प्रमुख नेता नाना साहब, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, दिल्ली का बादशाह बहादुरशाह और लखनऊ–बांदा के नवाब आदि थे। मेरठ के विद्रोही सैनिक वहाँ पर अपना अधिकार कायम कर दिल्ली की ओर बढ़े, जहाँ अनेक लोगों ने उनका साथ दिया। उन्होंने दिल्ली के लाल किले पर अधिकार कर वहाँ के अंग्रेजी शस्त्रागार को लूट लिया और अंगरेज सैनिकों को मार कर भगा दिया। इस प्रकार एक सप्ताह के अंदर ही अंदर दिल्ली से अंगरेजी सत्ता समाप्त कर दी गई। वहाँ पर बहादुरशाह के नेतृत्व में विद्रोहियों की स्वतंत्र सरकार क़ायम हो गई, जो प्रायः तीन महीनों तक रही थी।

ब्रज में विद्रोही हलचलें—मेरठ-दिल्ली की विद्रोहात्मक हलचलों का समाचार मथुरा में १६ मई को पहुँचा था। उस समय थार्नहिल नामक एक अंगरेज मथुरा का कलक्टर था और यहाँ के खजाने में सवा छै लाख रुपये थे। कलक्टर ने अपनी रक्षा के लिए और खजाने को सुरक्षित स्थान पर भेजने के लिए भरतपुर से सहायता माँगी। वहाँ कप्तान निक्सन की कमान में अंगरेजी सेना थी। उसके तीन हजार सैनिक मथुरा आ गये। उन सैनिकों में अधिकांश भारतीय थे। कलक्टर ने उन्हें आदेश दिया कि वे ख़जाने को आगरा ले जावें; किंतु भारतीय सैनिकों ने आज्ञा का उल्लंघन किया। उन्होंने ख़जाने को लूट कर सैनिक अफसर वर्ल्टन को मार डाला। फिर उन्होंने जेल को तोड़ कर कैदियों को मुक्त कर दिया। इस प्रकार मथुरा में भी विद्रोह का वातावरण बन गया था।

उस काल में यहाँ मथुरा के सेठों का बड़ा प्रभाव था। उन्होंने एक ओर अंगरेज अफसरों की सहायता की तथा दूसरी ओर विद्रोहियों से नगर को बचाकर वहाँ शांति–भंग नहीं होने दी थी। विद्रोहियों के लिए भी मथुरा का धार्मिक महत्व मान्य था, अतः उन्होंने यहाँ पर कोई उपद्रव करने की चेष्टा नहीं की थी। वे लोग शीघ्र ही मथुरा से दिल्ली की ओर चले गये। मार्ग की ग्रामीण जनता ने विद्रोहियों का साथ दिया था। वहाँ के जाट, ठाकुर और गूजरों ने क्रांति में विशेष रूप से भाग लिया। उन्होंने तहसील के अधिकारियों और पटवारियों को तथा अंगरेजों के समर्थक ज़िमीदारों एवं बौहरों को लूट लिया था। जिन्होंने उनका विरोध किया, उनको उन्होंने मार डाला। उन्होंने सरकारी ख़जाने को लूट कर हवालात से कैदियों को मुक्त कर दिया था। इस

प्रकार कोसी, छाता, कोटबन, शेरगढ़ और उनके निकटस्थ स्थानों से प्रायः छै माह तक अंगरेजी सत्ता समाप्त सी हो गई थी। बाद में मथुरा के सेठों की सहायता से अंगरेजों ने व्यवस्था कायम कर ली थी और फिर सभी काम पूर्ववत् होने लगे थे।

जुलाई में आगरा, अलीगढ़ आदि स्थानों में फिर से विद्रोही सैनिकों की हलचलें बढ़ गई थीं। नीमच, नसीराबाद और मुरार की अंगरेजी सेनाओं के भारतीय सैनिकों ने भीषण विद्रोह कर दिया था। वे लोग भारी संख्या में आगरा और मथुरा भी आये थे। उस समय ब्रज की जनता ने भी उनका साथ दिया। इस प्रकार यहाँ की स्थिति फिर गंभीर हो गई थी। उस समय सेठ घराने के प्रमुख व्यक्ति अपने बाल–बच्चों और खजाने को लेकर भरतपुर चले गये थे। उनके मुनीम मंगीलाल ने बड़ी युक्ति पूर्वक विद्रोहियों से नगर को बचाया था। उस समय नगर निवासियों की ओर से विद्रोहियों के खान–पान की यथोचित व्यवस्था की गई थी। वृंदाबन के शाह कुंदनलाल उपनाम 'ललित किशोरी' ने भी विद्रोहियों की कुछ सहायता की थी। विद्रोहियों का नेता सूबेदार हीरासिंह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसने मथुरा–वृंदाबन में लूट–मार नहीं होने दी थी। इस प्रकार ब्रज के रईस और जनता की सामयिक सूझ–बूझ से तथा विद्रोही सैनिकों की धार्मिक भावना के कारण मथुरा–वृंदावन में कोई खास उपद्रव नहीं हुआ था।

वह विद्रोह कुछ महीनों में ही शांत हो गया था। यद्यपि भारतीय सैनिक और जनता ने बड़े उत्साह से विद्रोह का झंडा उठाया था, तथापि सुनियोजित व्यवस्था और योग्य नेतृत्व के अभाव में अंगरेजी सत्ता के विरुद्ध भारतीयों का वह प्रथम स्वतंत्रता युद्ध सफल नहीं हो सका था। उस युद्ध में काफी अंगरेज मारे गये थे और उस काल में उन्हें अनेक संकट भी सहने पड़े थे, किंतु भारतीय राजाओं और रईसों के सहयोग से उन्होंने सर्वत्र शांति और व्यवस्था क़ायम कर अपने अधिकार को पुनः स्थापित कर लिया था। सं० १९१५ में सभी जगह शांति हो गई थी। उसके पश्चात् अंगरेजों ने विद्रोहियों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया था। सैकड़ों–हजारों लोगों को मृत्यु दंड दिया गया तथा उनकी ज़मीन-जायदादें जब्त की गईं। जिन लोगों ने अंगरेजों का साथ दिया था, उन्हें पुरस्कृत किया गया। मथुरा के सेठ परिवार ने तथा हाथरस के राजा गोविंदसिंह ने अंगरेजों की सहायता की थी और व्यवस्था क़ायम करने में उन्हें पूरा सहयोग दिया था। उसके उपलक्ष में अंगरेजों ने उन्हें खिताब दिये तथा जागीरें प्रदान की थीं। वृंदाबन के शाह कुंदनलाल पर आरोप लगाया गया था कि उन्होंने विद्रोहियों को सहायता दी थी, किंतु वह आरोप प्रमाणित नहीं हो सका था।

कंपनी शासन की समाप्ति—अंगरेजी शासन–सत्ता के विरुद्ध भारतीयों का वह प्रथम विद्रोह तो सफल नहीं हो सका, किंतु उसका यह परिणाम अवश्य हुआ कि भारत में अंगरेजी कंपनी का अत्याचारपूर्ण कठोर शासन समाप्त हो गया। इंगलेंड की तत्कालीन महारानी विक्टोरिया ने भारतीय राज्य को बृटिश सरकार के सीधे नियंत्रण में ले लिया था। इस प्रकार सं० १९१५ से भारत देश इंगलैंड के शासन की अधीनता में आ गया और वहाँ की महारानी विक्टोरिया भारतवर्ष की साम्राज्ञी घोषित की गई। उसकी ओर से इस देश में एक वायसराय रहने लगा, जो यहाँ का सर्वोच्च प्रशासक और सेनाधिकारी था।

१. बृटिश काल

(विक्रम सं० १९१५ से सं० २००४ तक)

बृटिश शासन में ब्रज की स्थिति—

प्रशासनिक परिवर्तन—उस काल में भारत में सर्वत्र प्रशासनिक परिवर्तन हुए थे, जिनके कारण सूबों और जिलों की सीमाओं में उलट-फेर किया गया था। तदनुसार मथुरा जिले की सीमाओं में भी परिवर्तन हुआ। सं० १९१७ में नोहझील को मांट तहसील के साथ मिला दिया गया। सं० १९२५ में अड़ींग की तहसील तोड़ कर मथुरा की नई तहसील बनाई गई और सं० १९३१ में जलेसर तहसील को मथुरा जिला से अलग कर दिया गया; क्यों कि वह सदर मुकाम मथुरा से दूर पड़ती थी। उसे पहिले आगरा जिले में सम्मिलित किया था। सं० १९२३ में जब एटा का नया ज़िला बना था, तब जलेसर को आगरा से अलग कर एटा ज़िले में मिला दिया गया। सं० १९३६ में आगरा ज़िला से ८४ गाँव पृथक् कर फरह का परगना बनाया गया, और उसे मथुरा ज़िला में सम्मिलित कर दिया गया। इस समय मथुरा ज़िला में ४ तहसीलें हैं, जिनके नाम मथुरा, छाता, मांट और सादाबाद हैं।

जन-जीवन पर भला-बुरा प्रभाव—बृटिश शासन में ब्रज में जो अनेक युगांतरकारी परिवर्तन हुए थे, उनका यहाँ के जन-जीवन पर भला-बुरा प्रभाव पड़ा था। उस काल में यहाँ रेल, तार, डाक, टेलीफोन आदि की व्यवस्था की गई; सड़कों का निर्माण किया गया और अस्पताल खोले गये। शिक्षा के प्रसार के लिए स्कूल-कालेजों की व्यवस्था की गई तथा खेती की उन्नति के लिए नहर-बम्बों का निर्माण किया गया। मुद्रण यंत्रालय खोले गये और समाचार पत्रों का प्रचलन हुआ, जिनके कारण जनता में साक्षरता और ज्ञान-विज्ञान का प्रसार होने में सुविधा हुई। बृटिश शासन द्वारा वे सब कार्य जनता की भलाई करने से भी अधिक अपने अधिकार को दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने के उद्देश्य से किये गये थे। फिर भी उनसे जनता को बड़ा लाभ हुआ, इसमें कोई संदेह नहीं है। बृटिश काल में संपूर्ण भारतवर्ष एक सुदृढ़ और व्यवस्थित शासन के अंतर्गत रहा था; जिसके कारण इस विशाल देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक रहने वाले करोड़ों भारतीय एक-दूसरे के निकटतम संपर्क में आये थे। वह इस देश को सबसे बड़ा लाभ हुआ था। उसका श्रेय निश्चय ही बृटिश शासन को ही है।

उक्त लाभों की तुलना में ब्रिटिश शासन से जो हानियाँ हुईं, वे भी कम नहीं हैं। सबसे पहिली हानि तो आर्थिक हुई है। इस संबंध में बृटिश शासन का उद्देश्य भी अपने पूर्ववर्ती कंपनी शासन के सदृश ही था। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा इस देश का आर्थिक शोषण जहाँ भद्दे और फूहड़ ढंग से किया गया था, वहाँ बृटिश शासकों ने उसके लिए व्यवस्थित और सुनियोजित उपायों को अपनाया था। उनके कारण भारतीय व्यापार-वाणिज्य और गृह उद्योग नष्ट प्राय: हो गये और यह देश सभी आवश्यक वस्तुओं के लिए अंगरेज व्यापारियों का मुहताज हो गया। बृटिश शासन की उस आर्थिक नीति का कुप्रभाव ब्रज के उद्योग-धंधों पर भी पड़ा था। यहाँ पर नमक, नील और काग़ज के जो उद्योग मुसलमानी काल से ही उन्नत अवस्था में चल रहे थे, वे बृटिश काल में समाप्त हो गये। उनके अतिरिक्त दूसरे घरेलू धंधों को भी बड़ी हानि पहुँची थी। ब्रज का सबसे बड़ा महत्व उसकी धार्मिक और सांस्कृतिक परंपरा के कारण है। इसके लिए बृटिश शासन ने कुछ नहीं किया; बल्कि एक प्रकार से उसका बिगाड़ ही किया था।

धार्मिक दुर्दशा और सांस्कृतिक अवनति—बृटिश शासकों को ब्रज की धार्मिक भावना तथा सांस्कृतिक महत्ता का न तो ज्ञान था और न उनके प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति ही थी। उन्होंने विगत काल के तआस्सुबी मुसलमान शासकों की भाँति उन्हें बलात् नष्ट करने की चेष्टा तो नहीं की; किंतु शासन की उपेक्षा और असहानुभूति से उनकी स्वतः अवनति होने लगी। जाट–मरहठा काल में ब्रज का जो थोड़ा सा सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ था, वह बृटिश काल में समाप्त होने लगा। उस काल में यहाँ के धर्माचार्यों एवं विद्वानों का सन्मान जाता रहा और कवियों तथा कलाकारों को हतोत्साह होना पड़ा। संस्कृत और ब्रजभाषा के विद्वान एवं कवि प्रोत्साहन के अभाव में मारे–मारे फिरने लगे। ब्रज के जो धर्माचार्य बड़े--बड़े राजा–महाराजाओं के श्रद्धा-भाजन थे, वे बृटिश शासन के मामूली अफसरों की चाटुकारी और जी-हुजूरी करने लगे! ब्रज की उस धार्मिक दुर्दशा और सांस्कृतिक अवनति को रोकने में उस काल के अनेक धर्मप्राण समृद्ध व्यक्तियों, विद्वानों और मनीषियों ने बड़ा काम किया था। ब्रज संस्कृति के उन सहायक महानुभावों में से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

ब्रज संस्कृति के सहायक महानुभाव

मथुरा का सेठ घराना—

अंगरेजों के शासन काल में ब्रज की बिगड़ी हुई धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति को यथा संभव सुधारने के कार्य में जिन महानुभावों ने अपना योग दिया था, उनमें मथुरा के सेठों का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने ब्रज संस्कृति के विविध क्षेत्रों में अपने अपार वैभव का विनियोग करते हुए बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। उनके द्वारा निर्मित मथुरा का श्री द्वारकाधीश का मंदिर और वृंदावन का श्री रंगजी का मंदिर ब्रज की धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। सेठ घराने के प्रमुख व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

गोकुलदास पारिख—माधव जी सिंधिया के उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया के शासन काल में ग्वालियर में गोकुलदास पारिख नामक एक गुजराती वैश्य सज्जन था[1]। वह पहिले एक सामान्य कर्मचारी था, किंतु अपनी प्रतिभा और कर्तव्यपरायणता से सिंधिया नरेश का विश्वासपात्र पदाधिकारी और राज्य का खजांची हो गया था। उस काल में उज्जैन के नागा संन्यासियों ने बड़ा उपद्रव कर रखा था। सिंधिया सरकार की ओर से कई अधिकारियों ने उन्हें दबाने का प्रयत्न किया, किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली थी। अंत में दौलतराव सिंधिया ने नागाओं का दमन करने के लिए पारिख जी को राजकीय सैनिकों के साथ उज्जैन भेजा था। पारिख जी ने अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित नागा संन्यासियों पर धावा बोल दिया। दोनों पक्षों में जम कर लड़ाई हुई। पारिख जी के चातुर्य और रण–कौशल से नागाओं की पूरी तरह पराजय हो गई। उस संघर्ष में अनेक नागा मारे गये थे; जो शेष रहे, वे अपने मठ को छोड़कर भाग गये। उस मठ में नागा साधुओं द्वारा अनेक वर्षों से संचित करोड़ों की धन–राशि थी, जिस पर पारिख जी का अधिकार हो गया था। वह उस सम्पत्ति को लेकर ग्वालियर वापिस आ गया। उसके अभियान

---

(१) मथुरा मेमोअर (पृष्ठ १४) में पारिख जी को भ्रमवश गुजराती ब्राह्मण लिखा गया है।

की सफलता के लिए सिंधिया नरेश ने उसका बड़ा सन्मान किया था। पारिख जी ने उस सम्पत्ति को राज्य के ख़जाने में जमा करना चाहा, किंतु धर्मभीरु सिंधिया नरेश ने साधुओं की सम्पत्ति को राजकीय कोष में रखना उचित नहीं समझा। फलतः वह पारिख जी के संरक्षण में अलहदा रखवा दी गई।

पारिख जी की ग्वालियर राज्य में बड़ी उन्नति हुई थी। राजकीय प्रतिष्ठा के साथ ही साथ उसका धन–वैभव भी बढ़ गया था। जिस स्थान पर वह रहता था, वह 'पारिख जी का बाड़ा' कहा जाता था। वह स्थान अब भी लश्कर में उसी नाम से प्रसिद्ध है। पारिख जी बल्लभ संप्रदाय का अनुयायी था। उसने अपने निवास स्थान पर श्री द्वारकाधीश जी का एक मंदिर बनवाया था। उसके अधीनस्थ कर्मचारियों में दो मुनीम भी थे, जिनमें एक का नाम मनीराम और दूसरे का चम्पाराम था। मनीराम अत्यंत चतुर और विश्वासपात्र मुनीम था। पारिख जी के कोई संतान नहीं थी और निकट संबंधियों से उसकी अनबन रहती थी। ऐसी दशा में मनीराम मुनीम उसका सहकारी ही नहीं, बल्कि उत्तराधिकारी भी समझा जाता था।

जब गोकुलदास पारिख ने वृद्ध होने पर राजकीय सेवा से छुट्टी ली, तब वह ब्रज–वास करने के विचार से ग्वालियर से चल दिया। उस समय सिंधिया नरेश ने नागा संन्यासियों से प्राप्त सम्पत्ति भी उसे इस आदेश के साथ सोंप दी थी कि उसे वह अपनी इच्छानुसार धार्मिक कार्यों में व्यय कर दे। वह उस विपुल संपदा को अनेक छकड़ों में लाद कर चल दिया। उसके साथ उसके उपास्य श्री द्वारकाधीश जी का देव–विग्रह, मनीराम मुनीम सहित अनेक कर्मचारी तथा सैकड़ों सैनिक थे। वह अपने दल के साथ सं० १८७० में ब्रज में आ गया और मथुरा–वृंदावन के बीच 'भतरोड़' के निकट उसने डेरा डाले। वहाँ उसने एक बाग में श्री द्वारकाधीश जी की सेवा–पूजा की अस्थायी व्यवस्था की थी। वह बाग 'श्री द्वारकाधीश जी का बाग' कहलाता है। उसके बाद उसने मथुरा के असिकुंडा घाट के निकट श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर बनवाया और सं० १८७१ की आषाढ़ कृ० ८ को उसमें उन्हें विराजमान कर दिया। उस मंदिर के बनवाने और ठाकुर जी की सेवा–पूजा की आवश्यक व्यवस्था करने में मनीराम मुनीम का बड़ा सहयोग रहा था।

जैसा पहिले कहा जा चुका है, पारिख जी के कोई संतान नहीं थी और मुनीम मनीराम ही उसका उत्तराधिकारी माना जाता था। पारिख जी गुजराती वैश्य और बल्लभ संप्रदायी वैष्णव था, जब कि मनीराम खंडेलवाल वैश्य और श्रावकी जैन था। इस प्रकार जाति और धर्म में भिन्नता होते हुए भी पारिख जी ने मनीराम के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचंद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके बाद उसने लिखा–पढ़ी कर अपनी समस्त संपत्ति मनीराम को सोंप दी। सं० १८८३ में पारिख जी का देहांत हो गया। उसकी मृत्यु एक ऐसे विषैले फोड़ा के हो जाने से हुई, जिसमें कृमि पड़ गये थे।

श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर—पारिख जी द्वारा निर्मित यह मंदिर मथुरा के वर्तमान मंदिरों में सबसे बड़ा और सबसे अधिक वैभवशाली है। इसका निर्माण सं० १८७१ की आषाढ़ कृ० ८ को हुआ था। इसमें ठाकुर जी की सेवा–पूजा बल्लभ संप्रदाय के अनुसार बड़े ठाट-बाट और राजकीय वैभव के साथ होती है। इसका भेंटनामा कांकरौली के बल्लभ संप्रदायी गोस्वामी जी के नाम किया गया है। इसकी समस्त सम्पत्ति एक करोड़ के लगभग की समझी जाती है।

सेठ मनीराम—वह जयपुर राज्यांतर्गत मालपुरा ग्राम का निवासी एक जैनी खंडेलवाल वैश्य था। घर की दरिद्रता के कारण वह अपने जन्म-स्थान को छोड़ कर ग्वालियर आ गया था और वहाँ पारिख जी की सेवा में रहने लगा था। अपनी चतुरता तथा योग्यता के कारण वह पारिख जी का अत्यंत विश्वासपात्र मुनीम हो गया। पारिख जी की उन्नति के साथ ही साथ उसकी उन्नति भी होती गई थी। जब पारिख जी ने ब्रज में आकर निवास किया, तब वह भी उसके साथ यहाँ आ गया था। उसके तीन पुत्र थे—१. लक्ष्मीचंद, २. राधाकृष्ण, और ३. गोविंददास।

जैसा पहिले लिखा गया है, पारिख जी ने अपनी मृत्यु से पहिले लक्ष्मीचंद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर अपनी समस्त सम्पत्ति मनीराम को सोंप दी थी। पारिख जी की मृत्यु होने पर उसके भाई—भतीजों ने अपने अधिकार के लिए मनीराम—लक्ष्मीचंद के विरुद्ध मुकदमा दायर किया था। वह मुकदमा कई वर्ष तक चलता रहा था। अंत में उसका निर्णय मनीराम—लक्ष्मीचंद के पक्ष में ही हुआ था।

मनीराम ने पारिख जी की विपुल सम्पत्ति को धर्मादि में लगाने के साथ ही साथ कार-बार में भी लगाया था। उसने 'मनीराम लक्ष्मीचंद' के नाम से एक व्यापारिक प्रतिष्ठान की स्थापना कर उसके द्वारा लेन-देन का कार-बार आरंभ किया, जिससे वह सम्पत्ति दिन—रात बढ़ने लगी। उसके प्रतिष्ठान की बड़ी भारी साख थी और वह इस क्षेत्र का सबसे अधिक धनी माना जाता था। ग्वालियर नरेश दौलतराव सिंधिया के देहावसान के पश्चात् रानी बायजाबाई ने सेठ मनीराम को ग्वालियर राज्य का खजांची नियुक्त किया था। वहाँ के सरकारी कागजों से ज्ञात होता है कि उस काल में मनीराम का ग्वालियर राज्य में बड़ा प्रभाव था[1]। उसके धार्मिक कार्यों में उसके द्वारा निर्मित चौरासी का जैन मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका देहांत सं० १८९३ में हुआ था। मनीराम और गोकुलदास पारिख की सुंदर छतरियाँ मथुरा के 'यमुना बाग' में बनी हुई हैं।

चौरासी का जैन मंदिर—मथुरा के चौरासी नामक प्राचीन सिद्ध क्षेत्र में मनीराम द्वारा निर्मित यह एक दिगंबर जैन मंदिर है। इसमें पहिले श्री चंद्रप्रभु की और बाद में श्री अजितनाथ की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई थीं। ब्रजमंडल में जैन धर्म का यह सबसे प्रसिद्ध केन्द्र है।

सेठ लक्ष्मीचंद—वह मनीराम का ज्येष्ठ पुत्र और पारिख जी का उत्तराधिकारी था। उसने भाग्यवश अपनी बाल्यावस्था में पारिख जी की विपुल सम्पत्ति प्राप्त की थी। मनीराम के जीवन-काल में ही वह अपने कार-बार को देखने लगा था और उसने अपने व्यापारिक प्रतिष्ठान की बड़ी उन्नति की थी। मनीराम के पश्चात् उसके कार-बार, धन—वैभव और यश की इतनी वृद्धि हुई

---

(१) रानी बायजाबाई सिंधिया के सरकारी कागज—पत्र सं० ६९ का कुछ अंश इस प्रकार है—"सिंधिया दरबार के मुख्य खजांची गोकुल पारिख थे। जब वे (दौलतराव) सन् १८२७ ई० (संवत् १८८४) में मर गये, तब उनकी जगह पर बायजाबाई ने जयपुर निवासी मनीराम सेठ को अपना खजांची नियत किया। पहिले यह बहुत गरीब थे, परंतु आगे वे बड़े धनाढ्य हो गये। सिंधिया दरबार में उस समय ये अव्वल दर्जे के मालदार गिने जाते थे। इनका उस समय इतना प्रभाव था कि उनकी सलाह लिये बिना कोई सरकार को एक पैसा तक कर्जा नहीं देता था। उनकी दूकान का नाम 'मनीचंद लक्ष्मीचंद' करके मशहूर था।"—कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ३३

कि उसका नाम समस्त उत्तर भारत में प्रसिद्ध हो गया था। वह 'नगर सेठ' कहलाता था और उसके प्रतिष्ठान 'मनीराम लक्ष्मीचंद' की व्यापारिक साख उस काल में सर्वत्र व्याप्त थी। उसके संबंध में श्री ग्राउस ने लिखा है—

"पिछले अनेक वर्षों तक मथुरा ज़िले का सर्वाधिक प्रभावशाली पुरुष 'मनीराम लक्ष्मीचंद' की बड़ी गद्दी का मुखिया रहा है। इस गद्दी की व्यापक और प्रचुर प्रतिष्ठा इस प्रांत के किसी अन्य व्यापारिक संस्थान से अधिक ही नहीं है, वरन् समस्त भारत में भी उसके समान शायद ही कोई दूसरी गद्दी हो। इसकी शाखाएँ दिल्ली, कलकत्ता, बंबई के साथ ही साथ अन्य बड़े व्यापारिक केन्द्रों में भी हैं, जहाँ सर्वत्र उनकी प्रसिद्धि है। हिमालय से कन्याकुमारी तक कहीं भी मथुरा के सेठों की कितनी ही बड़ी हुंडी का भुगतान वैसी ही साख से होता है, जैसा इंगलैंड के बैंक नोट का लंदन या पेरिस में किया जाता है[1]।"

सांस्कृतिक और जनोपयोगी कार्य—सेठ लक्ष्मीचंद ने अपने यश-वैभव की वृद्धि करने के साथ ही साथ ब्रज के सांस्कृतिक और जनोपयोगी कार्यों की प्रगति में बड़ा योग दिया था। उस काल में यहाँ इस प्रकार के जितने कार्य किये गये, उनमें प्रमुख प्रेरणा सेठ लक्ष्मीचंद की थी। क्या धार्मिक, क्या सांस्कृतिक, क्या राजनैतिक सभी क्षेत्रों में उसकी उदारता की धूम थी।

श्री रंगजी का मंदिर—सेठ लक्ष्मीचंद के दो छोटे भाई राधाकृष्ण और गोविंददास थे। जहाँ लक्ष्मीचंद अपने पिता की तरह जैन धर्म में आस्था रखता था, वहाँ उसके दोनों छोटे भाई वैष्णव धर्म में रामानुज संप्रदाय के अनुयायी हो गये थे। उन दिनों ब्रज में रामानुज संप्रदाय की प्रधान गद्दी गोबर्धन में थी, जिसके अध्यक्ष श्री रंगाचार्य नामक एक विद्वान और तपस्वी धर्माचार्य थे। सेठ राधाकृष्ण और सेठ गोविंददास ने अपने ज्येष्ठ भ्राता सेठ लक्ष्मीचंद से छिपाकर वृंदाबन में रामानुज संप्रदाय का एक विशाल मंदिर निर्माण कराने की योजना बनाई थी। पहिले उन्होंने वहाँ पर श्री लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर बनवा कर उसे रंगाचार्य जी की भेंट कर दिया। बाद में सं० १९०२ में उन्होंने श्री रंगजी का विशाल मंदिर बनवाना आरंभ किया, किंतु धन की यथेष्ट व्यवस्था न होने से उसका निर्माण कार्य रोक देना पड़ा। जब सेठ लक्ष्मीचंद को उसका ज्ञान हुआ, तब उसने स्वयं उसे पूरा किया था। इस प्रकार यह मंदिर ४५ लाख रुपये की लागत से सं० १९०८ में बनकर पूरा हुआ था। यह ब्रज का सबसे विशाल एवं सर्वाधिक वैभव सम्पन्न देव-स्थान है और रामानुज संप्रदाय का सबसे बड़ा केन्द्र है। इसमें चैत्र के महीने में 'ब्रह्मोत्सव' का बड़ा धार्मिक समारोह होता है, जो दस दिनों तक चलता है। इसकी सम्पत्ति एक करोड़ से भी अधिक की मानी जाती है।

हवेली और उद्यान—सेठ लक्ष्मीचंद के निर्माण कार्यों में उसकी विशाल हवेली और सुरम्य उद्यान भी उल्लेखनीय हैं। हवेली मथुरा के असिकुंडा बाज़ार में श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर के सामने बनी हुई है और 'सेठ जी की हवेली' कहलाती है। इसका विस्तार असिकुंडा घाट से लेकर विश्राम घाट तक है। यह हवेली सं० १९०२ में बनी थी और इसके निर्माण में उस समय प्रायः एक लाख रुपये की लागत आई थी।

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण), पृष्ठ १४

उसका उद्यान मथुरा के सदर बाज़ार के समीप यमुना के किनारे बना हुआ है और 'यमुना बाग' कहलाता है । इसमें दुर्लभ जाति के पेड–पौधे, सुंदर इमारतें और रमणीक कुंज हैं । इसकी विशेष उन्नति लक्ष्मीचंद के वंशज राजा लक्ष्मणदास के काल में हुई थी ।

विविध कार्य—सं० १९१४ में जब अंगरेजी शासन के विरुद्ध जन–विद्रोह हुआ था, तब मथुरा नगर में भी उपद्रव होने की आशंका हो गई थी । उस समय सेठ लक्ष्मीचंद ने अपने प्रभाव से यहाँ शांति और व्यवस्था कायम करने में बड़ा काम किया था । एक ओर उसने विद्रोहियों को आर्थिक सहायता से संतुष्ट कर नगर की रक्षा की थी, तो दूसरी ओर उसने अंगरेजों की भी बड़ी सहायता की थी । जब विद्रोहियों ने छावनी को जला कर अंगरेजों पर हमला किया था, तब उसने स्थानीय कलक्टर मि० थोर्नहिल तथा उसके साथियों को कई दिनों तक अपने मकान में छिपाये रखा था । उसने सरकारी ख़जाने की रक्षा की थी और नगर को क्षति से बचा लिया था । जब तक विद्रोह शांत नहीं हुआ, तब तक दीन दुखियों और ज़रूरतमंदों को उसकी ओर से सब प्रकार की सहायता मिलती रही थी । इसमें उसका प्रचुर धन व्यय हुआ था । उसके उपलक्ष में अंगरेज़ों ने उसे 'रावबहादुर' की पदवी तथा खिलअत और माफी की भूमि प्रदान की थी ।

उसने अकाल पीड़ित लोगों की सहायता करने तथा शिक्षालय बनाने के लिए भी प्रचुर धन दिया था । जब मथुरा से हाथरस तक रेल बनाने का प्रश्न उठा, तब रेल कंपनी ने उसे इस शर्त पर बनाना स्वीकार किया कि उसके निर्माण–व्यय का कुछ भाग मथुरा के निवासी भी उठावें । तब सेठों ने प्रायः डेढ़ लाख रुपये के शेयर लिये थे और पुल बनवाने का समस्त व्यय–भार भी उठाया था[1] । यहाँ तक कि उन्होंने सदर के ईसाई गिर्जाघर के निर्माणार्थ भी ११००) प्रदान किये थे ।

लक्ष्मीचंद के उत्तराधिकारी—सेठ लक्ष्मीचंद की मृत्यु सं० १९२३ में हुई थी । उससे पहिले उसके अनुज सेठ राधाकृष्ण का देहांत सं० १९१६ में हो चुका था । सेठ लक्ष्मीचंद का एक मात्र पुत्र रघुनाथदास विशेष प्रतिभाशाली नहीं था और राधाकृष्ण का पुत्र लक्ष्मणदास छोटा बालक था; अतः सेठों का समस्त कार-बार सेठ गोविंददास की देख–रेख में चलता रहा । उस समय भी सेठों की प्रतिष्ठा ख़ूब बढ़ी हुई थी । बृटिश शासन में सेठ गोविंददास को सं० १९३४ (१ जनवरी, सन् १८७७) में C. S. I. का खिताब दिया था । उसकी मृत्यु सं० १९३५ में हुई थी । मृत्यु से पहिले उसने श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर को सं० १९३० में कांकरौली के गोस्वामी गिरिधरलाल जी की भेंट कर दिया था । सेठ गोविंददास के कोई संतान नहीं थी । सेठ लक्ष्मीचंद के पुत्र रघुनाथदास के भी कोई संतान नहीं हुई थी; इसलिए सेठ राधाकृष्ण का पुत्र लक्ष्मणदास सेठों की गद्दी, जायदाद और सम्पत्ति का एक मात्र स्वत्वाधिकारी हुआ था ।

राजा लक्ष्मणदास—उसने अपनी शान–शौकत और रईसी ठाठ–बाट से सेठ घराने की प्रतिष्ठा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था । गुणियों, कलाकारों और दीन-दुखियों को उदारता पूर्वक दान देने के साथ ही साथ वह भोग–विलास में भी बड़ा व्यय करता था । बृटिश सरकार के बड़े–बड़े अधिकारी जब उससे मिलने आते थे, तब वह उनके स्वागत–सत्कार में ख़ूब खर्च किया करता था । बृटिश शासन की ओर से उसे 'राजा' और C. S. I. के खिताब दिये गये थे ।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण), पृष्ठ १६

उसने अपने कार-बार की ओर बिलकुल ध्यान न देकर अपना सारा समय इसी प्रकार के भले–बुरे कामों में लगाया था। उसका यह परिणाम हुआ कि एक ओर उसकी समस्त कोठियों में अव्यवस्था बढ़ जाने से घाटा पड़ने लगा और दूसरी ओर उसके अपरिमित व्यय के कारण उसका कोश भी खाली होने लगा। उसके अंतिम काल में ऐसी स्थिति आ गई कि जहाँ सेठों की ओर से दूसरों को लाखों रुपया कर्ज़ दिया जाता था, वहाँ स्वयं उसे नवाब रामपुर से भारी ऋण लेना था। अंत में परिस्थिति इतनी बिगड़ गई कि उसे अपना देशव्यापी व्यवसाय समाप्त करना पड़ा और अपनी सभी कोठियाँ बंद कर देनी पड़ीं। उस समय अनेक नगरों की उसकी बड़ी–बड़ी जायदादें पानी के मोल बिक गईं और सेठों की सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। राजा लक्ष्मणदास ने अपने जीवन-काल में उत्थान–पतन, सुख-दुःख और मान–अपमान के जैसे भले–बुरे दृश्य देखे थे, वैसे बहुत कम लोगों ने देखे होंगे। उसका देहावसान सं० १९५७ में हुआ था।

लक्ष्मणदास के वंशज—राजा लक्ष्मणदास के दो पुत्र द्वारकादास और दामोदरदास थे। उन दोनों की युवावस्था में ही मृत्यु हो गई और उनके कोई संतान भी नहीं थी; इसलिए उनकी विधवाओं ने अपनी जाति के बालकों को गोद लिया था। दुर्भाग्य से वे भी निःसंतान रहे और उनकी छोटी आयु में ही मृत्यु हो गई थी। उनकी विधवाओं ने फिर गोद लिया। इस समय सेठ घराने के वर्तमान प्रतिनिधि सेठ भगवानदास और उसकी संतान हैं।

मुनीम मंगीलाल—वह मथुरा का माहेश्वरी वैश्य और सेठ लक्ष्मीचंद का प्रधान मुनीम था। सेठ घराने के अभूतपूर्व यश-वैभव की वृद्धि का बहुत-कुछ श्रेय उसी की कुशलता और कर्त्तव्य-परायणता को है। सेठों के समस्त कार्य उसी की देख–रेख में सम्पन्न होते थे। उसकी चतुरता और सूझ–बूझ से ही जन–विद्रोह के काल में सेठों के जान–माल की रक्षा हुई और मथुरा नगर की भी कोई क्षति नहीं हो सकी थी। राजा लक्ष्मणदास के अंतिम काल में वह अत्यंत वृद्ध हो गया था। उस समय उसे लक्ष्मणदास के अपरिमित व्यय को रोकने और सेठ घराने के सन्मान की रक्षा करने में सफलता नहीं मिली थी। मंगीलाल के पुत्र नारायणदास और श्रीनिवासदास उससे भी अधिक यशस्वी हुए थे।

लाला नारायणदास—वह अपने पिता मंगीलाल के साथ सेठों की सेवा में रहता था। मंगीलाल के वृद्ध हो जाने पर उसी ने प्रधान मुनीम का पद सँभाला था। सेठ लक्ष्मीचंद की मृत्यु के पश्चात् सेठ गोविंददास के काल में उसकी बड़ी ख्याति हुई थी। जहाँ मंगीलाल जीवन भर 'मुनीम' ही कहलाता रहा, वहाँ नारायणदास को 'सेठ' कहा जाने लगा था। बृटिश सरकार ने सं० १९३७ के दरबार में उसे सेठ घराने के प्रतिनिधि के रूप में सन्मानित किया था। उसका कोई पुत्र नहीं था; अतः उसने अपनी सम्पत्ति को धर्मार्थ अर्पित कर उसकी व्यवस्था के लिए ट्रस्ट बना दिया था। उस ट्रस्ट के द्वारा मथुरा में चामुंडा के पास एक बड़े उद्यान में धर्मशाला बनवाई गई और एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की गई। इस विद्यालय के छात्रों को संस्कृत की निःशुल्क शिक्षा दी जाती है और उनके रहन–सहन एवं खान-पान की भी व्यवस्था की जाती है।

लाला श्रीनिवासदास—वह मुनीम मंगीलाल का दूसरा पुत्र और सेठों के व्यापारिक प्रतिष्ठान की सुप्रसिद्ध दिल्ली कोठी का प्रधान मुनीम था। उसका जन्म सं० १९०७ में और देहावसान सं० १९४४ में हुआ था। इस प्रकार वह केवल ३७–३८ वर्ष की आयु तक ही जीवित रहा था; किंतु उसी अल्प काल में उसने विविध क्षेत्रों में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। डा० श्रीकृष्ण लाल ने

लिखा है,—"ला० श्रीनिवासदास बचपन से ही बड़े मेधावी और कार्य–कुशल थे । इन्होंने घर पर ही हिंदी, उर्दू, संस्कृत, फारसी और अंगरेजी की शिक्षा प्राप्त की और १८ वर्ष की अवस्था में ही महाजनी कार-बार और व्यापार में इतने दक्ष हो गये कि उन्हें दिल्ली की कोठी का सारा भार सोंप दिया गया । इनकी योग्यता देख कर पंजाब सरकार ने इन्हें म्युनिसिपल कमिश्नर और आनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाया और अनेक पत्रों ने सं० १९४० में इनका नाम लेजिसलेटिव कौंसिल के लिए भी प्रस्तावित किया । अपनी योग्यता और कार्य–कुशलता के कारण ये वैश्य समाज और राजकीय शासकों द्वारा समान रूप से आदृत थे[1] ।"

हिंदी साहित्य में श्रीनिवासदास का नाम भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समकालीन और सहयोगी प्रमुख लेखकों में गिना जाता है । उसके रचे हुए ४ नाटक और १ उपन्यास हैं । इनमें 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक तथा 'परीक्षा गुरु' उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हैं । इनकी रचना क्रमशः सं० १९३५ और सं० १९३६ में हुई थी । 'रणधीर और प्रेममोहिनी' हिंदी का प्रथम दुःखान्त नाटक और 'परीक्षा गुरु' हिंदी का प्रथम उपन्यास माना गया है । भारतेन्दु हरिश्चंद्र इन रचनाओं के बड़े प्रशंसक थे । उन्होंने 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक की स्वयं प्रस्तावना लिखी थी और उसका अभिनय कराया था । भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों की रचनाओं के विशेषज्ञ विद्वान श्री ब्रजरत्नदास ने लाला श्रीनिवासदास के विषय में लिखा है—"नाटककार के रूप में भारतेन्दु युग में भारतेन्दु के समकक्ष केवल इन्हीं को रखा जा सकता है और उपन्यास–लेखक के रूप में तो ये १९ वीं शताब्दी में अद्वितीय हैं[2] ।" डा० श्रीकृष्णलाल का कथन है,—"लाला श्रीनिवासदास को भारतेन्दु के साथ आधुनिक युग का अग्रदूत माना जा सकता है[3] ।"

सेठ घराने का वंश-वृक्ष

- गोकुलदास पारिख (मृत्यु सं० १८८३)
  - मनीराम मुनीम (मृत्यु सं० १८९३)
    - सेठ लक्ष्मीचंद (मृत्यु सं० १९२३)
    - सेठ राधाकृष्ण (मृत्यु सं० १९१६)
      - राजा लक्ष्मणदास (मृत्यु सं० १९५७)
        - सेठ द्वारकादास
          - सेठ गोपालदास (गोद)
            - सेठ भगवानदास (गोद) (विद्यमान)
        - सेठ दामोदरदास
          - सेठ मथुरादास (गोद) (दिवंगत)
    - सेठ गोविंददास (मृत्यु सं० १९३५)

---

(१) **श्रीनिवास ग्रंथावली** (भूमिका), पृष्ठ ५

(२) **भारतेन्दु मंडल,** पृष्ठ ४६

(३) **श्रीनिवास ग्रंथावली** (भूमिका), पृष्ठ ४

ब्रज के समृद्धिशाली भक्त जन—

कृष्णचंद्र सिंह (लाला बाबू)—ब्रज के समृद्ध भक्तजनों में बंगाल के धनी-मानी कायस्थ कृष्णचंद्र सिंह का नाम उल्लेखनीय है । वह यहाँ 'लाला बाबू' के नाम से अधिक प्रसिद्ध था । उसने युवावस्था में ही अपने राजसी वैभव से विरक्त होकर सं० १८७० के लगभग ब्रज-वास किया था और यहाँ की धार्मिक समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया था । सब प्रकार से सम्पन्न होते हुए भी वह यहाँ भिक्षुक के वेश में बड़ी दीनता पूर्वक रहा करता था । उसके पूर्वज बंगाल के मुर्शिदाबाद ज़िले के निवासी थे । उन्होंने वहाँ के नवाबों की सेवा में रह कर तथा उस काल के अंगरेज शासकों के सहयोग से प्रचुर संपत्ति उपार्जित की थी । वे धनोपार्जन करने के साथ ही साथ अपने धन को धर्मार्थ लगाने में भी प्रसिद्ध थे । उन्होंने नदिया तथा अन्य स्थानों में धर्मशाला, मंदिर, संस्कृत विद्यालय आदि बनवाने में अपने द्रव्य का सदुपयोग किया था ।

लाला बाबू ने युवावस्था में बंगाल और उड़ीसा के अपने कार-बार को बहुत बढ़ाया था और लाखों रुपया पैदा किया था । उसके बाद वह विरक्त होकर बंगाल से ब्रज में आ गया और वृंदाबन आदि धार्मिक स्थलों में निवास करने लगा । जिस समय उसने घर–बार छोड़ा था, उस समय उसकी आयु केवल ३० वर्ष की थी । वह यहाँ विरक्त भक्त के रूप में निवास करता था । उसका देहांत केवल ४० वर्ष की आयु में हुआ था । इस प्रकार वह १० वर्ष तक यहाँ रहा था । अपने जीवन के अंतिम दो वर्षों में वह भिक्षुक के वेश में ब्रज के बनों में विचरण किया करता था और ब्रजवासियों के घरों से भिक्षा माँग कर उससे जीवन–यापन करता था ।

जिस समय लाला बाबू ब्रज में आया था, उस समय गोबर्धन के गौड़ीय महात्मा कृष्णदास (सिद्ध बाबा) की भक्ति–साधना की बड़ी प्रसिद्धि थी । लाला बाबू ने सिद्ध बाबा से भक्ति मार्ग की दीक्षा ली थी और वह अपने गुरु की सेवा के लिए प्रायः गोबर्धन में रहा करता था । मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मनीराम लक्ष्मीचंद से उसका बड़ा स्नेह संबंध था । ऐसा कहा जाता है, किसी भूमि के संबंध में लाला बाबू और सेठों में कुछ मनोमालिन्य हो गया था, जिसके कारण दोनों में बोल–चाल भी बंद हो गई थी । जब वह बात सिद्ध बाबा को ज्ञात हुई, तो उन्हें बड़ा खेद हुआ । उन्होंने लाला बाबू से कहा,—"तुम ब्रज में भक्ति–साधना के लिए आये हो, या ईर्ष्या–द्वेष करने के लिए ? भक्त जन के लिए तो अपने को तृण से भी अधिक तुच्छ मानना चाहिए । तुम्हें सेठों से दीनता पूर्वक क्षमा माँगना उचित है ।" अपने गुरु के आदेशानुसार लाला बाबू एक दिन अकस्मात भिक्षुक के वेश में सेठों के निवास पर पहुँच गया और उनसे भिक्षा माँगने लगा ! उसकी वह दीनता देख कर वे उसके पैरों में गिर पड़े । इस प्रकार उन धार्मिक महापुरुषों का क्षणिक मनोमालिन्य पूर्ववत् स्नेह में परिवर्तित हो गया था ।

उसने सं० १८६७ में भगवान् श्री कृष्ण का एक विशाल मंदिर वृंदाबन में बनवाया था, जो 'लाला बाबू का मंदिर' कहलाता है । मंदिर के साथ धर्मशाला और धर्मार्थ अन्नक्षेत्र भी हैं । राधाकुंड के पक्के घाट बनवाने और वहाँ के अन्य कुंड–सरोवरों को ठीक कराने में भी उसने प्रचुर धन व्यय किया था । मंदिर, धर्मशाला और धर्मादि की व्यवस्था के लिए उसने ब्रज में बड़ी ज़िमीदारी खरीदी थी । श्री ग्राउस ने लिखा है, लाला बाबू ने ब्रज के मंदिर और ज़िमीदारी आदि में २५ लाख रुपया व्यय किया था । उस ज़िमीदारी से २२ हज़ार रुपया सालाना की आय

होती थी[1]। उसने जो गाँव खरीदे थे, वे ब्रज के प्रमुख तीर्थ स्थान और धार्मिक स्थल हैं। ब्रजवासियों ने उन्हें बहुत सस्ते दामों में लाला बाबू को इसलिए बेच दिया था कि वह उनका उपयोग धर्मार्थ कार्यों में करना चाहता था। लाला बाबू कहा करता था कि उसका उद्देश्य इस ज़िमीदारी द्वारा साधु-सेवा, मोर-बंदरों को चारा, अनाथ भिक्षुकों को अन्नदान तथा मंदिर-धर्मशाला आदि के व्यय की व्यवस्था करना है। इसीलिए उसने ब्रज के कई प्रमुख गाँव कौड़ियों के मोल में प्राप्त किये थे। उसके द्वारा ख़रीदे हुए गाँवों में जाब, नंदगाँव, बरसाना, संकेत, करहला, गढ़ी, हाथिया, जैत, महोली, नबीपुर, गुलालपुर और मथुरा का कुछ भाग उल्लेखनीय हैं। श्री ग्राउस ने लिखा है, लाला बाबू ने नंदगाँव के लिए केवल ९००), बरसाना के लिए ६००), संकेत के लिए ८००) तथा करहला के लिए ५००) दिये थे[2] और उनका भुगतान भी उसने 'वृंदाबनी रुपया' में किया था[3]।

लाला बाबू की मृत्यु गोबर्धन में एक घोड़े की अकस्मात लात लग जाने की चोट से हुई थी। मथुरा के गोकुलदास पारिख की मृत्यु एक ऐसे विषैले फोड़ा के कारण हुई थी, जिसमें कृमि पड़ गये थे। उन दोनों धार्मिक महा पुरुषों के शोचनीय अंत को विधि का अद्भुत विधान ही माना जा सकता है[4]। उसकी अंतिम इच्छा के अनुसार उसका शब गोबर्धन से वृंदाबन ले जाया गया, और वहाँ हरिनाम-कीर्तन के साथ उसे रज में घुमाते हुए यमुना में प्रवाहित किया गया था।

नंदकुमार वसु—वह बंगाल का एक समृद्धिशाली भक्त जन और चैतन्य मत का अनुयायी था। जब वह तीर्थ-यात्रा के लिए वृंदाबन आया, तब उसने यहाँ के मंदिर-देवालयों की बड़ी दुर्दशा देखी थी। औरंगजेब के काल में जो प्रसिद्ध मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे, वे उस समय अत्यंत जीर्णावस्था में पड़े हुए थे। उनकी प्राचीन देव-प्रतिमाएँ ब्रज से बाहर ले जाकर जयपुर आदि कई राज्यों में विराजमान कर दी गई थीं। वृंदाबन आने वाले भक्त जनों को यहाँ मंदिर—

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण), पृष्ठ २५७-२५९

(२) मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण), पृष्ठ १२३

(३) मरहठों के काल में वृंदाबन में उस स्थान पर एक टकसाल थी, जिसे अब 'टकसाल वाली गली' कहा जाता है। जब यहाँ जाट राजाओं का शासन हुआ, तब वह टकसाल वृंदाबन से हटा कर भरतपुर में लगाई गई थी। उस टकसाल में जो रुपया ढलता था, वह 'वृंदाबनी रुपया' कहलाता था और गोल मोटे आकार का चाँदी का होता था। अंगरेजी राज्य क़ायम होने पर उस रुपया का चलन कम हो गया और उसका बाजार भाव भी अंगरेजी रुपया की तुलना में रुपया में बारह आना रह गया। वह रुपया अधिकतर विवाहादि के अवसर पर लेन-देन के काम में आता था। उस समय उसका भाव भी बढ़ कर तेरह-चौदह आना तक हो जाया करता था। बाद में बहुत दिनों तक उसका स्थायी भाव आठ आना रहा था और फिर उसका चलन बिलकुल बंद हो गया।

(४) लाला बाबू और पारिख जी के दुखद अंत से संबंधित ब्रज की एक ग्रामीण कहावत को श्री ग्राउस ने इस प्रकार लिखा है—

लाला बाबू मर गये, घोड़ा दोष लगाय।
पारिख के कीड़ा पड़े, विधि सों कहा बसाय॥

—मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृ० सं०) पृष्ठ २५८ की पाद-टिप्पणी।

मूर्तियों का अभाव बड़ा दु:खदायी ज्ञात होता था। उस काल में नंदकुमार वसु ने यहाँ के पुराने गौड़ीय मंदिरों के निकट दूसरे नये मंदिर बनवा कर और उनमें प्राचीन प्रतिमाओं के प्रतिभू विग्रह स्थापित कर गौड़ीय भक्तों का बड़ा उपकार किया था। इस प्रकार श्री गोविंददेव जी, श्री मदन-मोहन जी और श्री गोपीनाथ जी के नये मंदिर सं० १८७७ में बनाये गये थे। वही मंदिर इस समय भी वृंदाबन के पूजनीय देव स्थान हैं। भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने पुराने मंदिरों को अपने नियंत्रण में लेकर उन्हें संवैधानिक रूप में 'सुरक्षित' घोषित कर दिया है।

शाह कुंदनलाल (ललित किशोरी)—वृंदाबन के अत्यंत कलात्मक 'शाहजी मंदिर' का निर्माता कुंदनलाल ब्रज में 'शाहजी' के नाम से और भक्ति–साहित्य में 'ललित किशोरी' के काव्योपनाम से प्रसिद्ध है। उसका जन्म सं० १८८२ की कार्तिक कृ० २ को लखनऊ में हुआ था। उसके पूर्वज नवाब के जौहरी और लखनऊ के सर्वाधिक धनाढ्य रईसों में से थे। सं० १९०६ में जब वह २४ वर्ष का युवक था, तब उसे प्रथम बार ब्रज में आने का सुयोग मिला था। तभी उसका मन वृंदाबन की रस–माधुरी में रम गया और वह स्थायी रूप से ब्रज–वास करने को लालायित हुआ था। किंतु तब उसका यहाँ रहना संभव नहीं था। बाद में अपने पारिवारिक झंझटों से मुक्त हो कर वह सं० १९१३ की वैशाख कृ० १३ को प्रचुर संपत्ति, परिवार और सेवकों सहित वृंदाबन में आकर बस गया था। उसके साथ उसका छोटा भाई शाह फुंदनलाल काव्योपनाम 'ललित माधुरी' भी अपनी संपत्ति और परिवार सहित आया था। वे दोनों भाई गौड़ीय संप्रदाय के गोस्वामी राधा-गोविंद जी के शिष्य हुए और श्री राधारमण जी की अनन्य भाव से सेवा करने लगे। उनकी वृंदाबन-निष्ठा बड़ी विलक्षण और अपूर्व थी। वे यहाँ जूता–चट्टी नहीं पहनते थे, सदैव नंगे पाँव चलते थे और ब्रज में मल–मूत्र का विसर्जन तक नहीं करते थे! वे पहिले हुक्का पिया करते थे, किंतु ब्रज की सीमा में प्रवेश करते ही उन्होंने हुक्का फेंक दिया और फिर जीवन पर्यन्त उसे छुआ तक नहीं था।

वृंदाबन आते ही उन्हें सं० १९१४ के गदर का सामना करना पड़ा था। उन्होंने विद्रोहियों से युक्ति पूर्वक वृंदाबन की रक्षा की थी। शांति हो जाने पर अंगरेजी सरकार ने शाह कुंदनलाल पर मुकद्दमा चलाया था। उस समय आशंका होने लगी कि कदाचित उसे कठोर दंड दिया जावेगा। भगवत् कृपा से वैसा अवसर नहीं आया और उसका अपराध प्रमाणित नहीं हो सका। उसने वृंदाबन में श्री राधारमण जी का मंदिर बनवाया था! उसकी अधिक प्रसिद्धि उसके द्वारा निर्मित उस सुंदर देव–स्थान के कारण है, जिसे 'शाहजी का मंदिर' कहा जाता है। वह ब्रजभाषा का रस-सिद्ध कवि, कला–मर्मज्ञ, साधक भक्त और भजनानंदी महात्मा था। उसका छोटा भाई शाह फुंदनलाल भी सब बातों में उसके अनुरूप था। उनकी भक्ति–रचनाएँ 'ललित माधुरी' के काव्योपनाम से उपलब्ध हैं। शाह कुंदनलाल का देहांत सं० १९४२ में हुआ था।

शाहजी का मंदिर—वृंदाबन का यह कलात्मक मंदिर संगमरमर का बना हुआ है और रूप–रंग तथा सज–धज में यहाँ के सभी मंदिरों में निराला है। इसकी निर्माण-शैली और पच्चीकारी दर्शनीय है। इसमें बसंत पंचमी और श्रावण के झूलनोत्सव पर सुंदर दर्शन तथा 'बसंती कमरा' की भव्य झांकी होती है। यह मंदिर सं० १९२५ में बन कर तैयार हुआ था। इसके निर्माण और इससे संबंधित जायदाद तथा साज–सज्जा आदि में प्राय: १० लाख रुपया की लागत आई थी।

राजा पटनीमल—वह ऐरण्य गोत्रीय अग्रवाल वैश्य था। उसके पूर्वज मूलतः दिल्ली निवासी थे और महाजनी का कार–बार करते थे। उन्हें दिल्ली के मुगल दरबार से 'राय' की वंश परंपरागत पदवी प्राप्त हुई थी। पटनीमल का जन्म सं० १८२७ में हुआ था। वह एक कुशल महाजन होने के साथ ही साथ अनुपम सूझ–बूझ का चतुर राजनयिक भी था। उसने मुगल दरबार के प्रतिनिधि होकर ईस्ट इंडिया कंपनी से कई संधियाँ और समझौते कराये थे, जिनके लिए सं० १८६० में मुगल सम्राट अकबर सानी ने उसे 'राजा' की पदवी और पंचहजारी का मनसब प्रदान किया था। सं० १८६५ के लगभग वह राजनयिक जीवन से विरत होकर काशी में जाकर बस गया था। वहाँ पर उसने महाजनी और जिमीदारी द्वारा प्रभूत सम्पत्ति अर्जित की थी। वह काशी के अतिरिक्त दिल्ली, आगरा और मथुरा में भी रहा करता था। उन सभी स्थानों में उसने कोठी, भवन, मंदिर, तालाबादि बनवाये थे और विविध धार्मिक कार्यों में उदारता पूर्वक अपने धन का सदुपयोग किया था। उसकी रुचि तीर्थों के प्राचीन धार्मिक स्थानों का महत्व क़ायम करने की ओर अधिक रहती थी। फलतः उसने काशी, हरिद्वार और गया के अतिरिक्त मथुरा के भी कई प्राचीन धार्मिक और सांस्कृतिक स्थलों का पुनरुद्धार किया था।

मथुरा में उसका निवास स्थान नक्कारची टीले पर था, जहाँ बाद में नारमल स्कूल क़ायम कर दिया गया था। उसने यहाँ के प्राचीन शिव स्थल पर 'शिवताल' का निर्माण कराया तथा दीर्घविष्णु और वीरभद्र के मंदिर बनवाये थे। उसने यहाँ सोने का तुला–दान भी किया था। वह श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर श्री केशवदेव जी का विशाल मंदिर भी बनवाना चाहता था। उसके लिए उसने अंगरेज सरकार से कटरा की भूमि खरीद ली थी, किंतु वह अपनी मनोभिलाषा पूरी नहीं कर सका था। श्री ग्राउस ने उसका कारण कटरा के मुसलमान निवासियों द्वारा विरोध किया जाना बतलाया है। ग्राउस ने उसके संबंध में एक मनोरंजक किंवदंती का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि वह इतना कम खाता था कि मथुरा के भोजनभट्ट प्रातःकाल उसका नाम लेने में इसलिए संकोच करते थे कि उस दिन उन्हें कहीं व्रत न रखना पड़े[१]!

वह धनी और दानी होने के साथ ही साथ विद्वान और विद्या–व्यसनी भी था। उसके पास हिंदी, संस्कृत, फारसी और अंगरेजी ग्रंथों का विशाल संग्रह था, जो उसके बाद नष्टप्राय हो गया था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने उसकी प्राचीन सामग्री के आधार पर ही अपनी 'पुरावृत्त संग्रह' नामक ऐतिहासिक लेख–माला लिखी थी। उसका देहावसान सं० १९०१ में हुआ था। उसने प्रचुर सम्पत्ति, विशाल परिवार, प्रभूत प्रतिष्ठा और अनुपम कीर्ति छोड़ कर अपना नश्वर शरीर त्यागा था।

शिवताल—यह मथुरा की परिक्रमा के मार्ग का एक प्राचीन कुंड है। राजा साहब ने सं० १८६४ में इसका जीर्णोद्धार किया और इसके चारों ओर पक्के घाट, संगीन सीढ़ियाँ, सुंदर बुर्जियाँ एवं ऊँचा परकोटा बनवा कर इसे भव्य रूप प्रदान किया था। इसमें सदैव अथाह जल रहता है। यह ब्रज के सुंदरतम तालाबों में से है; किंतु आजकल यह उपेक्षित अवस्था में होने के कारण शोभाहीन हो रहा है। इसकी दीवारों की सुंदर चित्रकारी अब धुँधली पड़ गई है।

वीरभद्र का मंदिर—मथुरा में छत्ता बाज़ार के चौबच्चा मुहल्ला का यह एक प्राचीन शैव स्थान है, जो वीर भद्रेश्वर महादेव के नाम से प्रसिद्ध है। राजा साहब ने इसका जीर्णोद्धार करा कर यहाँ एक शिवालय बनवाया था। यह स्थान आजकल जीर्ण और शोचनीय अवस्था में है।

---

[१] **मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर** (तृतीय संस्करण), पृष्ठ १३७

दीर्घविष्णु का मंदिर—मथुरा में भरतपुर दरवाजे के निकटवर्ती मनोहरपुरा नामक मुहल्ला में यह भगवान् विष्णु का सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। इसका प्राचीन विष्णु मंदिर मुसलमानों के आक्रमण-काल में नष्ट हो गया था, किंतु इसका धार्मिक महत्व बना रहा था। सुलतानों और सूरियों के शासन काल में यहाँ पर रामानंदी संप्रदाय की गद्दी होने का उल्लेख मिलता है। संवत् १६०९ में उस गद्दी का महंत द्वारकादास नामक कोई संत था, जो स्वामी रामानंद की शिष्य परम्परा में ५ वीं पीढ़ी में हुआ था। इसका उल्लेख उक्त द्वारकादास के एक शिष्य सासदास कृत 'भगति भावती' नामक रचना में हुआ है[1]।

उक्त उल्लेख में जहाँ दीर्घविष्णु के मंदिर की चार शताब्दियों से भी अधिक की प्राचीन परम्परा मिलती है, वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा का मनोहरपुरा मुहल्ला उस काल में भी इसी नाम से प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त मथुरा में केशव भगवान् का मंदिर भी किसी रूप में विद्यमान था। मुगल सम्राट अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल में इस स्थान पर रामानंदी गद्दी और विष्णु मंदिर की विद्यमानता रही होगी। बाद में औरंगजेब के शासन काल में मथुरा मंडल के अन्य देव स्थानों की भाँति इसे भी नष्ट कर दिया गया था। अंत में सं० १८६४ में राजा पटनीमल ने इस प्राचीन स्थान का पुनरुद्धार करते हुए यहाँ जो मंदिर बनवाया था, वह अभी तक विद्यमान है; किंतु इसकी दशा भी अच्छी नहीं है।

पोद्दार परिवार—मथुरा के पोद्दार परिवार ने भी ब्रज की सांस्कृतिक और धार्मिक उन्नति में बड़ा योग दिया था। इस घराने के पूर्व पुरुष राजस्थान के चुरू–रामगढ़ के निवासी थे। उन्होंने व्यापार–वाणिज्य में प्रचुर धनोपार्जन कर विविध धार्मिक कार्यों में उसका सदुपयोग किया था। इस घराने के सेठ गुरुसहायमल अपने पुत्र घनश्यामदास के साथ सं० १९०० में ब्रज की यात्रा करने आये थे। अपनी धार्मिक भावना के कारण उन्होंने मथुरा में निवास करने का निश्चय किया और उसके लिए स्वामीघाट के निकट की भूमि खरीद कर यहाँ अपनी विशाल हवेली बनवाई थी। उन्होंने 'गुरुसहायमल घनश्यामदास' के नाम से अपने यहाँ व्यापारिक प्रतिष्ठान की गद्दी भी स्थापित की थी। सेठ घनश्यामदास के पाँच पुत्र हुए थे—पहिली पत्नी से जयनारायण और लक्ष्मीनारायण तथा दूसरी से राधाकृष्ण, केशवदेव और मुरलीधर। सेठ गुरुसहायमल का देहावसान सं० १९२४ में और सेठ घनश्यामदास का सं० १९४० में हुआ था। मथुरा के जिस स्थान पर इनका निवास है, वह इनके नाम पर 'चूड़ू वालों का मुहल्ला' कहलाता है।

सेठ जयनारायण–लक्ष्मीनारायण—वे सेठ घनश्यामदास के ज्येष्ठ पुत्र और अपने पिता के समान ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। सेठ जयनारायण का जन्म सं० १९०६ में हुआ था और उनकी मृत्यु अपने पिता से केवल ५ दिन पहले सं० १९४० में हुई थी। जयनारायण जी के ज्येष्ठ पुत्र सेठ कन्हैयालाल थे, जो हिंदी साहित्य शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य माने गये हैं। सेठ घनश्यामदास ने मथुरा में श्री गोविंददेव जी का मंदिर बनवाया था और सेठ लक्ष्मीनारायण ने बरसाना के निकट प्रेम सरोवर पर एक सुंदर देवालय का निर्माण कराया था।

---

(१) **मथुरा में रचित तीन हिंदी ग्रंथ** (ब्रज भारती, वर्ष १३ अंक ३)

गोविंददेव जी का मंदिर—यह मंदिर मथुरा में स्वामीघाट के निकटवर्ती 'चूड़ूवाला मुहल्ला' में बना हुआ है। इसका निर्माण सं० १९०५ में हुआ था। इसके भोग–राग की स्थायी व्यवस्था के लिए सेठ घनश्यामदास ने कई लाख रुपये की स्थावर और जंगम सम्पत्ति समर्पित की थी। इस मंदिर में विविध धार्मिक समारोह होते रहते हैं और श्रावण के महीने में सुंदर झाँकियाँ होती हैं। मंदिर के साथ एक धर्मार्थ अन्नसत्र (सदाव्रत) की भी व्यवस्था है।

प्रेम सरोवर का मंदिर—सेठ लक्ष्मीनारायण द्वारा बनवाया हुआ यह मंदिर नंदगाँव और बरसाना के मध्यवर्ती प्रेम सरोवर के तट पर स्थित है। एक रमणीक उद्यान में इस भव्य मंदिर का निर्माण कराया गया है। इसके साथ एक धर्मशाला, धर्मार्थ अन्न क्षेत्र और निःशुल्क संस्कृत विद्यालय है। यहाँ का वातावरण ब्रज के अनुरूप बड़ा सुहावना है, जो दर्शनार्थियों को आनंद प्रदान करता है। इसके व्यय के लिए सेठ लक्ष्मीनारायण ने प्रचुर सम्पत्ति अर्पित कर एक ट्रस्ट बना दिया था। यहाँ भाद्रपद शुक्ला ११ को बड़ा मेला लगता है। उस समय ठाकुर जी की सवारी मंदिर से 'प्रेम सरोवर' पर जाती है और वहाँ नाव में जल–विहार का दर्शनीय उत्सव होता है। उसके अनंतर रासलीला होती है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार—वे सेठ जयनारायण जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सं० १९२८ में मथुरा में हुआ था। वे अपने यशस्वी पूर्वजों के अनुरूप धार्मिक प्रवृत्ति के सुसंस्कृत व्यक्ति थे। हिंदी जगत् में वे खड़ी बोली और ब्रजभाषा के कवि, काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान और लेखक तथा साहित्य के मूर्धन्य आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं। ब्रज की धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति के लिए उनकी देन बड़ी महत्वपूर्ण है। उन्होंने ब्रज साहित्य मंडल की स्थापना और उसके संचालन में बड़ा योग दिया था। उनके ग्रंथों में अलंकार प्रकाश, हिंदी मेघदूत विमर्श, संस्कृत साहित्य का इतिहास, काव्य कल्पद्रुम, अलंकार मंजरी और रस मंजरी उल्लेखनीय हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की पदवी प्रदान की थी और ब्रज साहित्य मंडल ने उनका अभिनंदन समारोह कर उन्हें ताम्रपत्र और अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया था। उनका देहावसान सुदीर्घ आयु में सं० २०१३ में हुआ था। उनके पुत्रों में सर्वश्री रामनिवास, नारायण प्रसाद और मदनगोपाल अपनी सांस्कृतिक अभिरुचि के लिए प्रसिद्ध हैं।

ब्रज के सांस्कृतिक और धार्मिक महापुरुष—

ज्योतिषी बाबा परिवार—ब्रज के जिन महापुरुषों पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की समान कृपा रही थी, उनमें मथुरा के ज्योतिषी बाबा परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है। यह परिवार औदीच्य ब्राह्मणों का है। इसके मूल पुरुष कृपाशंकर जी जयपुर राज्यांतर्गत सवाई माधोपुर के निवासी थे। उनका जन्म सं० १८०० में हुआ था। वे अपनी युवावस्था में ही ज्योतिष विद्या का प्रकांड ज्ञानोपार्जन कर उसके द्वारा पेशवा, होल्कर और सिंधिया जैसे मरहठा सरदारों से सन्मानित हुए थे और उनसे उन्होंने प्रचुर सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वे ज्योतिष के साथ धर्मशास्त्र के भी बड़े विद्वान थे और उन्होंने उन विषयों से संबंधित कई ग्रंथों की रचना भी की थी। वे अपने उत्तर जीवन में ब्रज–वास करने के विचार से मथुरा आ गये थे। उन्होंने स्वामीघाट के निकट भूमि लेकर यहाँ अपनी विशाल हवेली बनवाई थी, जो 'ज्योतिषी बाबा की हवेली' के

नाम से प्रसिद्ध है । वे प्रति दिन अनेक औदीच्य ब्राह्मणों और दंडी संन्यासियों को भोजन कराने के अनंतर ही अन्न ग्रहण करते थे । उनका वह नियम उनके वंशज भी निवाहते रहे थे । कृपाशंकर जी का देहावसान सं० १८५१ में हुआ था । उनके पुत्र गोविंदलाल जी (सं० १८२३—सं० १८८५) और पौत्र कुंजलाल जी (सं० १८६२—सं० १९०६) भी अपनी पारिवारिक परंपरा के अनुसार विद्या, वैभव और उदारता के लिए विख्यात थे । कुंजलाल जी के पुत्र अमरलाल जी ने इस परिवार की प्रतिष्ठा को और भी बढ़ाया था ।

ज्यो० अमरलाल—उनका जन्म सं० १८९७ में हुआ था । वे सात्विक प्रकृति के प्रतिष्ठित विद्वान, उदारचेता और भगवान् श्री कृष्ण के परम भक्त थे । वे भी अपने पूर्वजों की परंपरा के अनुसार प्रति दिन अनेक ब्राह्मणों और साधु-संन्यासिथों को भोजन कराया करते थे । उनके काल में स्वामी दयानंद जी मथुरा आकर रहे थे और उन्होंने दंडी विरजानंद जी से व्याकरण की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी । उस समय अमरलाल जी ने स्वामी जी के भोजन और निवास की ब्यवस्था कर उनके अध्ययन में बड़ी सहायता प्रदान की थी । उसके लिए स्वामी जी जीवन पर्यन्त उनका उपकार मानते रहे थे । इस संबंध में उन्होंने स्वयं अपने आत्म चरित में लिखा है—"आहार और गृह आदि की मुक्त हस्त सहायता करने के कारण मैं अमरलाल का नितान्त आभारी हूँ । भोजन के संबंध में वह इतने यत्न पर रहते थे कि जब तक मेरे भोजन का प्रबंध न हो जाता था, तब तक स्वयं भोजन न करते थे । वस्तुतः अमरलाल एक महदन्तःकरण के मनुष्य थे, इसमें कोई भी संदेह नहीं है[१] ।" अमरलाल जी स्वामी जी के घनिष्ट मित्रों में से थे । यह संयोग की बात है कि उनका देहावसान भी स्वामी दयानंद के निर्वाण संवत् १९४० में ही हुआ था । अमरलाल जी के पुत्रों में सर्वश्री माधवलाल जी, विभाकरलाल जी और शिवप्रकाश जी बड़े प्रसिद्ध हुए थे ।

ज्यो० माधवलाल—वे ज्यो० अमरलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र थे । उनका जन्म संवत् १९१७ में हुआ था । वे बड़े विद्वान, समाज-सेवी और धार्मिक नेता थे । उनका राजा और प्रजा में समान रूप से आदर था । बृटिश शासन की ओर से उन्हें आनरेरी मजिस्ट्रेट बना कर सन्मानित किया गया था । उन्होंने मथुरा के गो० गोपाललाल जी के साथ उस काल के स्वदेशी आंदोलन का नेतृत्व कर विदेशी खांड़ का बहिष्कार कराया था । वे गोरक्षा के प्रचारक, सनातनधर्म के नेता और भारत धर्म महामंडल तथा सहस्रौदीच्य महासभा के संस्थापकों में से थे । उनके द्वारा ब्रज की सांस्कृतिक और धार्मिक प्रगति में बड़ा योग मिला था । उनका देहावसान ४६ वर्ष की आयु में सं० १९६३ में हुआ था । उनके तीन पुत्र हुए—नटवरलाल जी, उमाशंकर जी और राधेश्याम जी । इस समय श्री राधेश्याम जी विद्यमान हैं, जो ब्रज की सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक और राजनैतिक प्रवृत्तियों में प्रमुख भाग लेते रहे हैं ।

ज्यो० शिवप्रकाश—वे ज्यो० अमरलाल जी के सबसे छोटे पुत्र और ज्योतिषी माधवलाल जी के कनिष्ट भ्राता थे । उनका जन्म सं० १९२९ में हुआ था । वे संस्कृत और हिंदी के बड़े विद्वान तथा उर्दू और अंगरेजी के ज्ञाता थे । उन्होंने अपने कुल की ज्योतिष विद्या का प्रकांड ज्ञान प्राप्त किया था और वे धर्म शास्त्र, तंत्र शास्त्र तथा पुराणादि के मर्मज्ञ थे । उनके द्वारा ब्रज

---

(१) **महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन चरित्र (भाग १), पृष्ठ ६१**

की साँझी कला की बड़ी प्रगति हुई थी और उन्होंने ज्योतिष के कई अपूर्व यंत्रों का आविष्कार किया था । वे हिंदी और संस्कृत के लेखक और कवि, कई पत्रों के संपादक तथा धार्मिक और जातीय संस्थाओं के संचालक थे । इस प्रकार वे विद्या और कला की साधना तथा जन–सेवा में जीवन पर्यन्त लगे रहे और उनके लिए उन्होंने अपने धन को लुटाने में कभी संकोच नहीं किया । उसका यह परिणाम हुआ कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र की तरह उन्हें भी अपने अंतिम काल में आर्थिक कष्ट सहन करना पड़ा था । ब्रज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में उनका स्थान अग्रगण्य था और अपनी विद्वत्ता, सेवा एवं साधना के कारण वे राजा और प्रजा सबके आदरणीय थे ।

ब्रज की साँझी कला में उनकी इतनी विशेषज्ञता थी कि आठ-आठ रंगों तक के साँचे एवं खाके स्वयं तैयार करते थे और उन पर सूखे रंग छिड़क कर बड़ी सुंदर साँझी बनाते थे । उनकी साँझी देखने के लिए सैकड़ों व्यक्तियों की भीड़ लग जाती थी । सं० १९७८ में जब इंगलैंड का युवराज भारत आया था, तब उस काल के अंगरेज शासकों ने उन्हें आगरा किला में साँझी कला का प्रदर्शन करने के लिए आमंत्रित किया था । उनके द्वारा आविष्कृत ज्योतिष यंत्रों में सार्वदेशिक धूप घड़ी, लग्नबोधक घड़ी, वृहत् गोलार्ध, यष्टियंत्र, ध्रुवभित्ति, तुरीय, मर्कटी आदि उल्लेखनीय हैं । वे यंत्र उन्होंने अपनी सूझ–बूझ से ब्रज के कारीगरों द्वारा ही तैयार कराये थे । उन्होंने अपने शिवाश्रम नामक उद्यान में एक 'बेध शाला' की स्थापना कर उसमें वे सभी ज्योतिष यंत्र प्रदर्शनार्थ रखे थे । खेद की बात है, देश की पराधीनता के कारण उस काल में उनकी आविष्कारक प्रतिभा का कोई सदुपयोग नहीं किया जा सका और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी की अज्ञानता के कारण वे अद्भुत यंत्र अस्त–व्यस्त हो गये थे । उनका देहावसान ६१ वर्ष की आयु में सं० १९९० में हुआ था ।

दंडी विरजानंद—वे पंजाब के सारस्वत ब्राह्मण थे और उनका जन्म सं० १८३५ में हुआ था । वे बाल्यावस्था में ही नेत्रहीन हो गये थे; किंतु अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति और अपूर्व मेधा के कारण उन्होंने संस्कृत का प्रकांड ज्ञान प्राप्त किया था । वे युवावस्था में ही संन्यासी हो गये थे; उस समय उनका नाम विरजानंद रखा गया था; किंतु वे 'दंडी स्वामी' अथवा 'प्रज्ञाचक्षु' के नामों से अधिक प्रसिद्ध थे । हरिद्वार, काशी, गया, सोरों आदि धार्मिक स्थानों की यात्रा तथा अलवर, मुरसान, भरतपुर आदि राज्यों में कुछ काल तक निवास करने के अनंतर वे सं० १९०३ के लगभग मथुरा आये थे । यहाँ पर उन्होंने एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना कर अपने अंतिम काल तक निवास किया था । वह विद्यालय कंसखार बाज़ार में एक छोटे दोमंजिला मकान में था; जहाँ अब उनका स्मारक भवन बनाया गया है । ब्रज में संस्कृत विद्या के प्रचार करने में दंडी विरजानंद जी के उस विद्यालय का बड़ा महत्व है । उसमें शिक्षा प्राप्त करने वाले अनेक छात्र उस काल में संस्कृत के बड़े विद्वान हुए थे और उन्होंने अपनी विद्वत्ता की पताका फहराई थी । आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद ने उसी विद्यालय में विद्याध्ययन कर दंडी स्वामी द्वारा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की प्रेरणा प्राप्त की थी । इस प्रकार ब्रज संस्कृति के साथ ही साथ आर्य समाज के इतिहास में भी उस विद्यालय का नाम सदा अमर रहेगा ।

दंडी विरजानंद जी एक अनुभवी एवं कुशल अध्यापक थे और उनके अध्यापन की शैली अपूर्व थी । उन्हें अनेक शास्त्र कंठस्थ थे, अतः उनकी नेत्रहीनता उनके अध्यापन कार्य में बाधक नहीं हुई थी । वे छात्रों को बड़ी सुगमता पूर्वक विविध शास्त्रों का बोध करा देते थे । पहिले वे अनेक

विषय पढ़ाया करते थे, किंतु बाद में उन्होंने अपना लक्ष्य व्याकरण की उच्च शिक्षा देने तक ही सीमित कर दिया था। वे ग्रार्ष ग्रंथों के प्रचार ग्रौर ग्रनार्ष ग्रंथों के बहिष्कार के प्रबल आग्रही थे। इसलिए वे सिद्धांत कौमुदी, मनोरमा ग्रौर शेखर जैसे व्याकरण ग्रंथों की ग्रपेक्षा पाणिनीय ग्रष्टाध्यायी सूत्रों को पढ़ाने के पक्षपाती थे। वे ग्रपने छात्रों को निःशुल्क शिक्षा देते थे ग्रौर निर्धन विद्यार्थियों को पुस्तकों की भी व्यवस्था करा देते थे। उनके जीवन–निर्वाह तथा विद्यालय के संचालन का समस्त व्यय ग्रलवर, भरतपुर ग्रौर जयपुर के राजाओं की सहायता से चलता था।

दंडी विरजानंद जी वैदिक विद्या ग्रौर आर्ष ग्रंथों के व्यापक प्रचार के बड़े इच्छुक थे। उसके लिए उन्होंने एक सार्वभौम सभा के ग्रायोजनार्थ उस काल के कई राजा--महाराजाग्रों ग्रौर सरकारी ग्रधिकारियों को प्रेरित किया था। सं० १९१६ में जब ग्रागरा में लार्ड कैनिंग का दरबार हुग्रा था, तब उसमें ग्रनेक राजा-महाराजा एवं विद्वत् जन उपस्थित हुए थे। उस ग्रवसर पर दंडी जी स्वयं ग्रागरा गये ग्रौर वहाँ जयपुर के महाराजा रामसिंह को उन्होंने उक्त सार्वभौम सभा का आयोजन करने के लिए कहा था। वे उस सभा में शास्त्रार्थ द्वारा ग्रार्ष ग्रंथों का मंडन और अनार्ष ग्रंथों का खंडन करना चाहते थे। दुर्भाग्य से उनके जीवन–काल में उनकी इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकी; किंतु कालांतर में उनसे प्रेरणा प्राप्त कर स्वामी दयानंद ने उनके उद्देश्य की पूर्ति का भारी प्रयत्न किया था। दंडी विरजानंद का देहावसान ८९ वर्ष की परिपक्व ग्रायु में सं० १९२५ की ग्राश्विन कृ० १३ को हुग्रा था। उनके कारण मथुरा में वैदिक विद्या ग्रौर संस्कृत ब्याकरण की जो ज्योति प्रज्वलित हुई थी, वह स्वामी दयानंद ग्रौर उनके ग्रन्य शिष्यों द्वारा जगमगाती रही थी।

स्वामी दयानंद—उनका जन्म सं० १८८१ में काठियाबाड़ प्रदेशांतर्गत मोरबी राज्य के टंकारा ग्राम में हुग्रा था। वे सामवेदी ग्रौदीच्य ब्राह्मण थे। उनका ग्रारंभिक नाम मूल जी था, किंतु संन्यासी होने पर वे दयानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका पिता करसन जो तिवाड़ी मूर्ति पूजक कट्टर शैव था; किंतु दयानंद को शिव रात्रि की एक घटना के कारण मूर्ति–पूजा के प्रति ग्रश्रद्धा हो गई थी। वे युवावस्था में ही सांसारिक विषयों से उदासीन होकर विरक्त जीवन बिताने का विचार करने लगे। उनकी वह दशा देख कर उनके माता–पिता ने उन्हें वैवाहिक बंधन में बाँधना चाहा; किंतु वे सं० १९०२ में एक दिन बिना किसी से कहे--सुने ग्रकेले ही घर से निकल भागे ग्रौर दो वर्ष तक ब्रह्मचारी का वेश धारण कर ज्ञानार्चन के उद्देश्य से इधर–उधर घूमते रहे। सं० १९०४ में उन्होंने नर्मदा के तट पर पूर्णानंद सरस्वती से संन्यासाश्रम की दीक्षा ली थी।

संन्यासी होने के पश्चात् वे प्रायः १२ वर्ष तक ज्ञानियों ग्रौर योगियों से संस्कृत भाषा ग्रौर यौगिक क्रियाग्रों का उच्च ज्ञान प्राप्त करते रहे; किंतु उनके मन को शांति नहीं मिली थी। वे किसी सच्चे साधु ग्रौर धुरंधर विद्वान से प्राचीन ऋषि–मुनियों के वैदिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। उन्होंने दंडी विरजानंद के प्रकांड ज्ञान की बड़ी ख्याति सुनी थी; ग्रतः वे उनसे विद्याध्ययन करने के विचार से सं० १९१६ में मथुरा ग्रा गये। उस समय वे संन्यासी के वेश में थे ग्रौर गेरुग्रा वस्त्र पहिने हुए थे। उनके पास दैनिक उपयोग की दो–एक वस्तुग्रों ग्रौर कुछ पुस्तकों के ग्रतिरिक्त ग्रौर कोई सामान नहीं था। वे पहिले मथुरा नगर के बाहर रंगेश्वर महादेव के निकट की एक बगीची में ठहरे ग्रौर बाद में विश्रामघाट पर लक्ष्मीनारायण जी के मंदिर के पास की एक छोटी कोठरी में रहने लगे थे। ग्रपने भोजन के लिए उन्होंने पहिले मथुरा के दुर्गाप्रसाद खत्री से

चने प्राप्त करने की अस्थायी व्यवस्था की थी। बाद में मथुरा के विख्यात ज्योतिषी बाबा अमरलाल जी ने उनके भोजन और निवास का स्थायी प्रबंध कर दिया था। उन को रात में रोशनी के लिए छत्ता बाज़ार के खेतामल सर्राफ़ की दूकान से ४ आना मासिक और दूध के लिए भरतपुर दरवाज़ा के हरदेव पत्थर वाले की दूकान से २) रु० मासिक की सहायता प्राप्त होती थी। पाठ्य पुस्तकों के लिए उन्हें विविध दानियों ने ३१) रु० प्रदान किये थे। इस प्रकार मथुरा निवासियों ने स्वामी जी के विद्याध्ययन के लिए सब प्रकार की आवश्यक सुविधा और सहायता दी थी।

स्वामी दयानंद ने सं० १९१६ से सं० १९२० तक की अवधि में प्रायः ४ वर्ष तक मथुरा में निवास कर दंडी विरजानंद जी के विद्यालय में अध्ययन किया था। उनकी गुरु–भक्ति अपूर्व थी और उनका रहन–सहन एवं आचार–व्यवहार आदर्श थे। वे दिन में एक बार भोजन करते थे और प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त गुरु–सेवा तथा अध्ययन-अनुशीलन में लगे रहते थे। उन्होंने विरजानंद जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। उसके साथ ही उन्होंने निरुक्तादि वेदांग भी उनसे विधि पूर्वक पढ़े थे। जब वे अपना अध्ययन पूरा कर मथुरा से जाने लगे, तब गुरु-दक्षिणा में देने के लिए उनके पास कुछ नहीं था। वे थोड़ी सी लोंग लेकर दंडी जी की सेवा में उपस्थित हुए और उस तुच्छ भेंट को उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक रखते हुए उनसे विदा माँगने लगे। दंडी जी ने उन्हें स्नेह पूर्वक आशीर्वाद देते हुए विदा किया और आदेश दिया कि वे अनार्ष ग्रंथों तथा मिथ्या मत–मतांतरों का बहिष्कार कर आर्ष ग्रंथों के प्रचार एवं वैदिक धर्म के पुनरुद्धार द्वारा देशोपकार करने में अपना जीवन लगावें।

स्वामी जी ने दंडी जी के आदेश का भली भाँति पालन किया था। उन्होंने उक्त कार्य में अपने जीवन के अंतिम २० वर्ष लगाये थे। पहिले १० वर्षों में उन्होंने विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर अपने मत का प्रचार और विरोधियों के मतों का शास्त्रार्थ द्वारा खंडन किया था। दूसरे १० वर्षों में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना और अपने महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। पहिले १० वर्षों की अवधि में वे दो बार मथुरा आये थे। प्रथम बार सं० १९२३ में जब वे आगरा होते हुए यहाँ आये, तब उन्होंने दंडी जी की सेवा में उपस्थित होकर उन्हें अपने कार्यों से अवगत किया था। दंडी जी को उससे बड़ा संतोष और आनंद प्राप्त हुआ। द्वितीय वार वे सं० १९३० में आये थे। उस समय उनकी यात्रा का उद्देश्य वृंदाबनस्थ श्री रंग मंदिर के अध्यक्ष रंगाचार्य जी से मूर्ति-पूजा विषयक शास्त्रार्थ करना था। उस समय तक दंडी जी का देहावसान हो चुका था; किंतु उनके अनेक शिष्य, जिनमें से कई स्वामी जी के सहपाठी थे, मथुरा में विद्यमान थे। ऐसा ज्ञात होता है, स्वामी जी के मूर्ति–पूजा विरोधी विचारों के कारण उस बार मथुरा में उनका यथोचित स्वागत–सत्कार नहीं हो सका था। उनके सहपाठियों ने भी उनके प्रति विरक्ति ही नहीं, वरन् विरोध का भाव प्रकट किया था।

स्वामी जी मथुरा आते ही रंगाचार्य जी से शास्त्रार्थ करने के लिये वृंदाबन चले गये। जब कई दिनों तक प्रतीक्षा करने पर भी रंगाचार्य जी शास्त्रार्थ करने को तैयार नहीं हुए, तब वे मथुरा वापिस आ गये। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है, मथुरा में स्वामी जी गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल के आतिथ्य में उनके बलदेव बाग में ठहरे थे[1]। गो० पुरुषोत्तमलाल जी स्वामी

---

(१) **महर्षि दयानंद का जीवन चरित, (प्रथम भाग) पृष्ठ २६६**

दयानंद जी के सहपाठी गो० रमणलाल जी के पिता थे। बलदेव बाग को अब 'बहू जी का बाग' कहते हैं, जो बंगालीघाट पर रेलवे पुल के पास है। यह उल्लेखनीय बात है, जब स्वामी जी के अधिकांश सहपाठी उनका विरोध कर रहे थे, तब बल्लभ संप्रदाय के एक गोस्वामी ने उन्हें आश्रय प्रदान कर अपनी उदारता का परिचय दिया था। मथुरा में जो थोड़े से व्यक्ति स्वामी जी से मिल कर उनके विचारों से प्रभावित हुए थे, उनमें श्री दयाशंकर दुवे नामक एक गुजराती सज्जन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने स्वामी जी से प्रेरणा प्राप्त कर मथुरा में आर्य समाज की स्थापना और उसके प्रारंभिक प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। उस बार स्वामी जी केवल ५ दिन तक मथुरा में रहे थे, किंतु उस अवधि में ही उन्होंने अपने आगामी कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार कर ली थी। पहले वे संस्कृत में भाषण किया करते थे, जिससे केवल पंडितों और विद्वानों पर ही उनके कथन का प्रभाव पड़ता था, किंतु साधारण जनता उनके विचारों से लाभान्वित नहीं हो पाती थी। ब्रह्म-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री केशवचंद्र सेन ने स्वामी जी को सुझाव दिया कि वे हिंदी भाषा में भाषण और ग्रंथ-रचना करें; ताकि जन-साधारण में उनके विचारों का व्यापक प्रचार हो सके। स्वामी जी ने उस उपयोगी सुझाव को स्वीकार कर हिंदी भाषा के माध्यम से ही अपने मत को प्रचलित किया और उसमें अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। उनके द्वारा हिंदी भाषा का देशव्यापी प्रचार होने में बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी।

स्वामी जी के अंतिम १० वर्षों में उनके समस्त महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना और आर्य समाज की स्थापना हुई थी। उन्होंने सं० १९३२-३३ में 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'संस्कार विधि' की रचना की थी। सं० १९३४-३९ में उनके महान् ग्रंथ 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका,' 'ऋग्वेद भाष्य' और 'यजुर्वेद भाष्य' की रचना हुई थी। उनका देहावसान सं० १९४० में हुआ था। इस प्रकार वे अपने महान् कार्यों से दंडी विरजानंद जी के आदेश का पालन कर स्वयं गुरु-ऋण से मुक्त हो गये, और समस्त भारतवर्ष को सदा के लिए अपना ऋणी बना गये थे।

उन्होंने वैदिक संस्कृति, वेदोक्त धर्म, गुरुकुल प्रणाली, वर्णाश्रम व्यवस्था, स्त्री शिक्षा, अछूतोद्धार, संस्कृत एवं हिंदी के पठन-पाठन, स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग और सादा रहन-सहन का प्रचलन कर भारत के नव निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया था। उन्होंने अपने युगांतरकारी कार्यों से उन लोगों को सन्मार्ग दिखलाया था, जो पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में भटकने लगे थे। उनके भाषणों और लेखों द्वारा उस काल में जो राष्ट्रोद्धार एवं समाज-सुधार की भावना का प्रसार हुआ, उससे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं और समाज-सेवियों को बड़ी प्रेरणा मिली थी। स्वामी जी की मातृ भाषा गुजराती थी और वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान होने के कारण उक्त भाषा में लिखने तथा भाषण करने के अभ्यासी थे; फिर भी उन्होंने हिंदी को अपना कर राष्ट्रभाषा के प्रयोग का आदर्श प्रस्तुत किया था। वे हिंदी भाषा को 'आर्य भाषा' का नाम देकर इसे समस्त आर्यावर्त की सामान्य भाषा बनाने के बड़े इच्छुक थे। इसीलिए उन्होंने अपने समस्त महत्वपूर्ण ग्रंथ हिंदी भाषा में ही लिखे थे। ब्रज के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि स्वामी जी को अपने देशोपकारी कार्यों की प्रेरणा यहाँ पर ही प्राप्त हुई थी। उनका मथुरा नगर से जो महत्वपूर्ण संबंध था, उसी के कारण यहाँ सं० १९८१ में उनकी जन्म-शताब्दी और सं० २०१६ में दीक्षा-शताब्दी के विशाल समारोह किये गये; जिनमें समस्त भारत के कई लाख व्यक्तियों ने योग दिया था।

दंडी जी के अन्य शिष्य—स्वामी दयानंद जी के अतिरिक्त दंडी विरजानंद जी के जो अनेक शिष्य थे, उनमें उदयप्रकाश जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । वे गौड़ ब्राह्मण और मथुरा की मंडी रामदास के निवासी थे । उनकी परंपरा में मथुरा के अनेक प्रसिद्ध विद्वान और संस्कृत के अध्यापक हुए हैं । उनके पुत्र मुकुंददेव जी तथा शिष्य ब्रजमोहन जी और श्रीवर जी सुप्रसिद्ध संस्कृत अध्यापक थे । उनके अन्य सुयोग्य शिष्यों में दयाशंकर जी पाठक, कीर्तिचंद जी (बड़े चौबे), नारायण पंडित और हलधर भट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं । दंडी जी के दूसरे शिष्यों में गंगादत्त जी, रंगदत्त जी, वासुदेव जी, नंदन जी, रमणलाल जी गोस्वामी और बनमाली जी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं । गंगादत्त जी व्याकरण तथा तंत्र शास्त्र के बड़े विद्वान थे और ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि नवनीत चतुर्वेदी के गुरु थे । वासुदेव जी और नंदन जी माथुर चतुर्वेदियों की गुरु–गद्दियों के अध्यक्ष थे, रमणलाल जी बल्लभ संप्रदाय की छटी गद्दी के आचार्य और मथुरा के छोटे मदनमोहन जी के मंदिर के गोस्वामी थे तथा बनमाली जी प्रसिद्ध कथा–वाचक थे । उन सब विद्वानों ने दंडी जी के नाम को उजागर किया है ।

श्री ग्राउस—ब्रज संस्कृति के उन्नायकों में श्री ग्राउस का नाम सदा स्मरणीय रहेगा । वह अंगरेजी शासन काल में सं० १९२९ से १९३४ (सन् १८७२ से १८८७) तक मथुरा का ज़िलाधीश रहा था । उससे पहिले वह ज़िलाधीश हार्डिंग के काल में यहाँ ज्वाइंट मजिस्ट्रेट रह चुका था । उस सहृदय अंगरेज ने प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी ब्रज के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए जो महत्वपूर्ण देन दी है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है । उसने ब्रज की स्थापत्य कला के संरक्षण के लिए वृंदाबन के सुप्रसिद्ध श्री गोविंददेव जी के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था तथा वहाँ के पुराने मंदिरों और घाटों की मरम्मत–सफाई की सुव्यवस्था की थी । उसने गोकुल की पुरानी धार्मिक बस्ती के गली–बाज़ारों की भी मरम्मत कराई थी । मथुरा में उसने सदर में गिरजाघर बनवाया था और चौक बाज़ार की जामा मसजिद की मरम्मत कराई थी ।

उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य ब्रज के पुरातत्व का संरक्षण और ब्रज का अन्वेषण करना था । उस काल में ब्रज के प्राचीन पुरातात्विक अवशेष इधर–उधर बिखरे पड़े थे, जिनकी सुरक्षा और देख–रेख की कोई व्यवस्था नहीं थी । उसने उन ऐतिहासिक कला–कृतियों को बड़ी संख्या में एकत्र करा कर तथा खुदाई द्वारा पुरातत्त्व की महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कर यहाँ एक संग्रहालय का आयोजन किया था । उसी के प्रयत्न से सं० १८७४ में कचहरी के पास की एक कलापूर्ण इमारत में मथुरा के उस संग्रहालय की स्थापना की गई; जो अब भारत के सुप्रसिद्ध कला भंडारों में गिना जाता है । उसने बड़े मनोयोग पूर्वक ब्रज का सांस्कृतिक अन्वेषण किया था । इस संबंध में उसने जो महत्वपूर्ण तथ्य संकलित किये, उन्हें अपने विख्यात ग्रंथ 'मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर' में उसने प्रकाशित किया है । यदि यह ग्रंथ न होता, तो आज ब्रज के संबंध की अनेक बातें अज्ञात ही रह जातीं । इस ग्रंथ के तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । प्रथम संस्करण सन् १८७४ में प्रकाशित हुआ था, जब ग्राउस मथुरा में ज़िलाधीश था । दूसरा संस्करण सन् १८८० में और तीसरा संस्करण सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ था । तृतीय संस्करण में कुछ संशोधन और परिवर्तन किया गया था और वह सरकारी मुद्रणालय में छपा था । उस समय ग्राउस बुलंदशहर में ज़िलाधीश था । यद्यपि इस ग्रंथ की बहुत सी बातें अब नये अन्वेषण से अपूर्ण और भ्रमात्मक सिद्ध हुई हैं, तब भी उनका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है ।

नारायण स्वामी—वे पंजाबी सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका जन्म सं० १८८५ में रावलपिंडी में हुआ था। कृष्ण-भक्ति से आकर्षित होकर वे सं० १९१६ में ब्रज में आ गये थे। वे विरक्त संन्यासी होते हुए भी माधुर्य भक्ति के उपासक और रासलीला के बड़े प्रेमी थे। उनकी भक्तिपूर्ण रचनाएँ 'ब्रज विहार' नामक ग्रंथ में संकलित हैं। उनका देहावसान सं० १९५७ में गोबर्धन स्थित कुसुम सरोवर के निकटवर्ती उद्धव जी के मंदिर में हुआ था।

बलवंतराव सिंधिया—वे ग्वालियर नरेश जयाजीराव सिंधिया (शासन सं० १९००-१९४३) के पुत्र थे, जो उनकी परम सुंदरी उपपत्नी से उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म सं० १९११ में लश्कर (ग्वालियर) में हुआ था। युवराज माधवराव के साथ उनकी शिक्षा-दीक्षा की यथोचित व्यवस्था की गई थी। वे हिंदी, मराठी और अंगरेजी के ज्ञाता, काव्य एवं संगीतादि कई कलाओं के मर्मज्ञ, भक्त-कवि और धार्मिक महापुरुष थे। माधवराव सिंधिया के भाई होने के कारण वे 'भैया बलवंतराव' के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। ग्वालियर राज्य के प्रथम श्रेणी के सरदार एवं राजपुरुष होते हुए भी वे भक्त-हृदय और विरक्त महात्मा थे। उनका मन शासन-कार्य की अपेक्षा सत्संग, शास्त्रानुशीलन, भगवद्भजन, भक्तिपूर्ण गायन और भक्ति-काव्य की रचना में अधिक रमता था। वे भगवान् श्री कृष्ण के अनन्य भक्त और ब्रज के परमोपासक थे, अतः वे अधिकतर गोबर्धन-वृंदाबन आदि ब्रज की धार्मिक स्थलों में निवास किया करते थे। उन्होंने महात्मा हरिचरणदास से चैतन्य मत की दीक्षा ली थी। उनका हरि-कीर्तन अत्यंत हृदयग्राही होता था। उनके रचे हुए ग्रंथों में दशमस्कंध भाषा, पद माल, स्मरण मंगल भाषा, धर्म संदर्भ और ऊषा नाटक उल्लेखनीय हैं। उन्होंने ब्रज में धार्मिक प्रगति और साधु-सेवा के लिए कई लाख की संपत्ति धर्मार्थ लगा कर दो ट्रस्ट बनाये थे। पहिला मथुरा का 'श्री राधा-माधव भंडार ट्रस्ट' है, जिससे १३५ भजनानंदी विरक्त साधुओं को स्थायी मासिक अनुदान दिया जाता है। दूसरा गोबर्धन का 'कृष्ण चैतन्यालय ट्रस्ट' है, जिससे उनके द्वारा निर्मित मंदिर के व्यय की व्यवस्था की जाती है। यह मंदिर गोबर्धन-राधाकुंड के मध्य मार्ग में कुसुम सरोवर के निकट बना हुआ है और 'ग्वालियर वाला मंदिर' कहलाता है। चैतन्य संप्रदायी साहित्य के प्रसिद्ध प्रकाशक बाबा कृष्णदास आजकल इस मंदिर के महंत हैं। भैया बलवंतराव का देहांत सं० १९८१ की पौष कृ० ११ को हुआ था।

गणपतिराव सिंधिया—भैया बलवंतराव का छोटा भाई गणपतिराव सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ, हारमोनियम का कुशल वादक और ठुमरी शैली का विख्यात गायक था। उस काल में ठुमरी का गायन प्रायः वेश्याएँ किया करती थीं, अतः बलवंतराव जैसे भक्त-हृदय महात्मा को अपने भाई का ठुमरी गान पसंद नहीं था। किंतु भैया गणपतिराव ने अपने संगीत-कौशल से ठुमरी को भी गंभीर शास्त्रीय गायन का रूप प्रदान किया था। उसके अनुकरण पर ही उस काल में शास्त्रीय संगीत के कलाकारों ने ठुमरी को अपनाया था। मथुरा के संगीतज्ञों से गणपतिराव का बड़ा स्नेह था और वह उनकी संगीत-मंडली में संगत करने के लिए प्रायः यहाँ पर ही रहा करता था। उसका देहांत सं० १९७६ के लगभग दतिया में हुआ था।

मधुसूदन गोस्वामी—वे चैतन्य मत के आचार्य और वृंदाबनस्थ श्री राधारमण मंदिर के गोस्वामी थे। उनका जन्म सं० १९१३ में हुआ था। उन्होंने अपने सहयोगी आचार्य राधाचरण गोस्वामी और शोभन गोस्वामी के सहयोग से उस काल में वृंदाबन में धार्मिक,

सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति के लिए बड़ा प्रयत्न किया था । उन लोगों ने ब्रजभाषा काव्य के प्रोत्साहन के लिए सं० १९३२ में 'कवि कुल कौमुदी' और धर्म–प्रचार के लिए सं० १९३९ में 'वैष्णव धर्म प्रचारिणी सभा' नामक संस्थाओं की स्थापना की थी । वे सांप्रदायिक विद्वान, वैष्णव धर्म के प्रबल प्रचारक और ब्रजभाषा के कवि थे ।

राधाचरण गोस्वामी—वे चैतन्य मत के प्रसिद्ध आचार्य और वृंदाबनस्थ श्री राधारमण मंदिर के गोस्वामी थे । उनका जन्म सं० १९१५ की फाल्गुन कृ० ५ को हुआ था । वे वृंदाबन के धर्माचार्य और भक्त–कवि गल्लू जी गोस्वामी उपनाम 'गुणमंजरी दास' के पुत्र थे । उन्हें बचपन में अपनी कुल–परंपरा के अनुसार संस्कृत भाषा और धर्म ग्रंथों की शिक्षा दी गई थी । उनके पिताजी उन्हें अपने अनुरूप पुराने विचारों का रूढ़िवादी वैष्णव बनाना चाहते थे, किंतु वे उनसे छिपा कर अंगरेजी शिक्षा, समाज–सुधार और राष्ट्रीय आंदोलन में रुचि लेने लगे थे । वे संकीर्ण सांप्रदायिक विचारों के विरोधी और उदार समाज–सुधारक थे । उन्होंने उस काल में विदेश–यात्रा और विधवा–विवाह का समर्थन कर गोस्वामी समाज में बड़ी हलचल मचा दी थी । वे कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्त्ता, उदार वैष्णव धर्म के प्रचारक और जनता के सच्चे सेवक थे ।

उनकी अधिक प्रसिद्धि हिंदी प्रचारक, साहित्यिक विद्वान, कवि और लेखक होने के कारण है । वे भारतेन्दु मंडल के एक उज्ज्वल नक्षत्र थे, अत: वे वर्तमान हिंदी साहित्य के निर्माताओं और उन्नायकों में माने जाते हैं । वे भारतेन्दु हरिश्चंद्र के परम भक्त और उनके आदर्श पर चलने वाले कर्मठ हिंदी–सेवी थे । उन्होंने अपनी युवावस्था में 'कवि कुल कौमुदी' और 'वैष्णव धर्म प्रचारिणी' जैसी संस्थाओं की स्थापना एवं संचालन में सहयोग दिया था । सं० १९४१ में उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाम पर 'भारतेन्दु' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र वृंदाबन से निकाला था । वह पत्र बड़े उत्साह से चलाया गया, किंतु ३।। वर्ष बाद अर्थाभाव के कारण उसे बंद कर देना पड़ा था । उन्होंने काव्य, नाटक, उपन्यास, हास्य, व्यंग और समाज–सुधार से संबंधित अनेक रचनाएँ की थीं, जिनकी उस काल में बड़ी ख्याति हुई थी । उनका देहावसान सं० १९८२ में हुआ था ।

गोपाललाल गोस्वामी—वे बल्लभ संप्रदाय की छटी गद्दी के अंतर्गत द्वितीय उपगृह के आचार्य और मथुरा के सुप्रसिद्ध श्री मदनमोहनजी – दाऊजी मंदिर के गोस्वामी थे । उनका जन्म सं० १९१७ में हुआ था । उनके पूर्वज श्री पुरुषोत्तम जी (जन्म सं० १८०५) ने ब्रज-यात्रा और ब्रज के लोक काव्य की उन्नति में बड़ा योग दिया था । वे अपनी लोक रचनाओं के कारण ब्रज में 'ख्याल वारे' के नाम से प्रसिद्ध थे । गोपाललाल जी धार्मिक महापुरुष होने के साथ ही साथ सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न एक उच्च कोटि के कलाकार भी थे । वे ठाकुर जी के उत्सवों में बड़ी कलात्मकता का प्रदर्शन करते थे और सख्य भाव से ठाकुर जी को लाड़ लड़ाते थे । उनके द्वारा संचालित ब्रज–यात्रा, रासलीला और उत्सवों में ब्रज संस्कृति के भव्य रूप की झाँकी मिलती थी । वे काव्य, संगीत और नृत्य कलाओं में बड़े कुशल थे । यदि उन्हें ब्रज संस्कृति का अंतिम प्रतिनिधि कहा जाय, तो इसमें कोई अयुक्ति नहीं होगी । उनके काल में अंगरेजों ने विदेशी चीनी का बड़े परिमाण में आयात किया था । मोरिशस टापुओं की उपज होने के कारण वह 'मोरस खांड़' कही जाती थी । गोपाललाल जी ने उसका बहिष्कार कर मंदिरों में उसके प्रवेश का निषेध कर दिया था, जिससे उस काल में ब्रज में उसका प्रचार नहीं हो सका था ।

सेठ हरप्रसाद (डीग वाला)—ब्रज के सांस्कृतिक और धार्मिक परिवारों में डीग वाले सेठों की भी गणना की जाती है। वे जाट राज्य के प्रमुख केन्द्र डीग के रहने वाले थे, जहाँ उन्होंने कई मंदिर, धर्मशाला और कुंडादि बनवाये थे। उनके द्वारा वहाँ के जन-हितकारी और लोकोपयोगी कार्यों में उदारता पूर्वक दान दिया जाता था। उनके व्यापारिक प्रतिष्ठान 'महाराम मुरारीलाल' की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उस परिवार का सेठ हरप्रसाद जाट राजा यशवंतसिंह के शासन काल में विद्यमान था। जब सं० १९३४ में ब्रज में भीषण अकाल पड़ा, तब डीग में बड़ी भुखमरी फैल गई थी। उस समय राजा यशवंतसिंह ने सेठ हरप्रसाद से डीग के निवासियों को धर्मार्थ अन्न वितरण करने का आदेश दिया। सेठ हरप्रसाद उसके लिए तैयार हो गया; किंतु उसने राजा से भी प्रजा का लगान माफ कर देने के लिए कहा। इस पर राजा चुप्प हो गया, किंतु उसकी मुखाकृति से ऐसा जान पड़ा कि वह सेठ की माँग से नाराज हो गया है। उस काल के स्वेच्छाचारी राजा को नाराज़ कर देने का अर्थ किसी भी व्यक्ति को अपनी बर्बादी का निमंत्रण देना होता था। ऐसी स्थिति में सेठ हरप्रसाद ने एक ओर भीषण अकाल और दूसरी ओर राजा की नाराज़ी से बचने के लिए जल्दी से जल्दी जाट राज्य से हट कर अन्यत्र निवास करना ही उचित समझा था। फलतः वह अपने बाल–बच्चों और धन–सम्पत्ति के साथ डीग को छोड़ कर मथुरा में आकर रहने लगा। मथुरा में उसने महाजनी एवं व्यापार-वाणिज्य का कारोवार किया और उसमें खूब रुपया पैदा किया। वह मथुरा का प्रतिष्ठित सेठ और यहाँ के अग्रवाल समाज का सरपंच माना जाता था। उसने मथुरा में यमुना के कृष्णगंगा तीर्थ पर एक कलापूर्ण सुंदर घाट का निर्माण कराया और गोबर्धन में एक बड़ी धर्मशाला बनवाईथी। उनके अतिरिक्त अनेक जन-हितकारी कार्यों में भी उसने उदारता पूर्वक दान दिया था। उसका देहांत सं० १९५० में हुआ था। उसके दो पुत्र सेठ केशवदेव और सेठ बदरीप्रसाद थे। सेठ केशवदेव ने अपने पिता के कारोवार को सँभाला था और सेठ बदरीप्रसाद ने अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर राजकीय प्रतिष्ठित पदों पर काम किया था। सेठ केशवदेव को व्यापार में घाटा पड़ जाने बड़ी आर्थिक हानि हुई, जिसके कारण बाद में उसे अपना कारोबार बंद कर देना पड़ा था। सेठ बदरीप्रसाद के कई लड़के हुए। वे भी राजकीय पदों पर निपुक्त हैं। उनका छोटा पुत्र श्री ओमप्रकाश एरन मथुरा नगर पालिका का एक्जीक्यूटिव आफीसर है।

बनमाली बाबू (तराश वाला)—तराश जिला पबना (पूर्वी पाकिस्तान) के धनाढ्य जिमीदार बनमाली बाबू का जन्म सं० १९२१ में हुआ था। वह धार्मिक प्रवृत्ति का अत्यंत उदार सज्जन था। उसने अपने जन्म स्थान में धर्मशाला, कूएँ, घाट, औषधालय और विद्यालय आदि अनेक जनोपयोगी कार्यों में अपने धन का सदुपयोग किया था। सं० १९५२ में उसने समस्त सम्पत्ति अपने उपास्य देव ठाकुर राधाविनोद जी के नाम कर दी। फिर वह अपने परिवार और ठाकुर को लेकर ब्रज में आकर रहने लगा। आरंभ में वह ब्रज के राधाकुंड नामक स्थान में रहता था, जहाँ उसने एक मंदिर सं० १९५६ में बनवाया था। उस मंदिर में ठाकुर राधाविनोद जी सं० १९६१ तक विराजमान रहे थे। उसके बाद बनमाली बाबू वृंदाबन में निवास करने लगा। वहीं पर उसने ठाकुर राधाविनोद जी का मंदिर बनवाया तथा विद्यालय, औषधालय, धर्मशाला, अन्नक्षेत्र आदि जनोपयोगी कार्यों की व्यवस्था की। वह अपने उपास्य देव के प्रति दामाद की सी भावना रखकर उन्हें 'जमाई ठाकुर' कहा करता था।

उसके द्वारा संपादित अनेक कार्यों में धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन अत्यंत महत्वपूर्ण है। उसने अष्ट टीका सहित श्रीमद् भागवत, वृहद् भागवतामृत, श्री गोपाल चम्पू, श्री कृष्ण भावनामृत, श्री जगन्नाथ वल्लभ नाटक आदि अनेक भक्ति ग्रंथों का प्रकाशन करा कर उन्हें निःशुल्क वितरण कराया था। उसके सभी कार्यों में उसके सचिव कामिनीकुमार घोष का बड़ा महत्वपूर्ण योग रहा था। बनमाली बाबू का देहांत सं० १९७२ में वृंदाबन में हुआ था।

ब्रज के कतिपय भक्त जन—

ब्रज के अनुपम धार्मिक महत्व के कारण यहाँ भक्त जनों की सदैव विद्यमानता रही है। वे भक्त जन ब्रज के मूल निवासियों से भी अधिक अन्य स्थानों से आये हुए महानुभाव थे। उनका संबंध ब्रज के किसी न किसी धर्म-संप्रदाय से रहा था। ऐसे भक्त-जनों का विस्तृत वृत्तांत धर्म खंड में लिखा गया है। यहाँ प्रसंग वश कुछ का उल्लेख कर दिया गया है—

श्यामदास जी—उनके जन्म-स्थान, जन्म-संवत और बाल्यकाल के विषय में कुछ पता नहीं है। ऐसा कहा जाता है, अपने आरंभिक जीवन में वे सलेमाबाद गद्दी के निंवार्क-पीठाधीश श्री निंवार्कशरण जी के शिष्य और वहाँ के अधिकारी थे। वहाँ से विरक्त भाव में वे ब्रज-वास करने को चले आये थे। ब्रज में आकर उन्होंने दोमिल बन, श्यामढाक और गह्वर बन आदि धार्मिक स्थलों में एकांत वास करते हुए भजन-ध्यान किया था। अपने अंतिम काल में वे कुसुम-सरोवर के निकटवर्ती बन में भजन-ध्यान में लीन रहा करते थे। वे बड़े भजनानंदी और तपस्वी महात्मा थे। उन्होंने ब्रज में रास के प्रसार-प्रचार के लिए बहुत प्रयास किया था। उन्हीं की प्रेरणा से करहला के रासधारी बिहारीलाल जी अपनी रास मंडली का संगठन कर ब्रज की लुप्तप्राय रासलीला का पुनः प्रचलन करने में प्रयत्नशील हुए थे। बाबा श्यामदास जी का देहावसान कुसुम-सरोवर के निकटवर्ती उनकी कुटी में सं० १९३१ में हुआ था। यह कुटी उनके नाम से 'श्यामकुटी' कहलाती है। यहाँ पर उनकी समाधि और चरणचिह्न हैं।

रामदास जी (काठिया बाबा)—उनका जन्म पंजाब में हुआ था। अपने आरंभिक जीवन में ही वे भक्ति-मार्ग की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होंने विरक्त भाव से चारों धामों की यात्रा की थी। फिर वे ब्रज में आकर निवास करने लगे थे। वे विख्यात भक्त और आदर्श महात्मा थे। उनकी भक्ति, त्याग-वृत्ति और साधु-सेवा के कारण उन्हें 'ब्रज-विदेही महंत' की पदवी प्रदान की गई थी। उन्होंने वृंदाबन में निंवार्क संप्रदाय की प्रगति में बड़ा योग दिया था। उनका देहांत सं० १९६७ में हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें बाबा संतदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

संतदास जी (काठिया बाबा)—उनका जन्म सं० १९१७ में असम राज्य के श्रीहट्ट (सिलहट) जिलांर्गत वामई गाँव में एक समृद्ध ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे अंगरेजी की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे। उसी समय वे ब्रह्म-समाजी हो गये थे और उसका बड़े उत्साह से प्रचार-प्रसार किया करते थे। सं० १९६३ में वे कुंभ स्नान के लिए प्रयाग गये थे। वहाँ उन्हें निंवार्क संप्रदायी महात्मा रामदास जी 'काठिया बाबा' से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उनके सत्संग और उपदेश से ऐसे प्रभावित हुए कि उनसे दीक्षा लेकर निंवार्क संप्रदायी वैष्णव हो गये थे। जब उनके गुरु का देहांत हो गया, तब उनका उत्तराधिकारी घोषित कर उन्हें 'ब्रज-विदेही महंत' बनाया गया। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, कई आश्रमों की स्थापना की और निंवार्कसंप्रदाय की उन्नतिमें बड़ा योग दिया था। उनका देहांत १९९२ में हुआ।

ग्वारिया बाबा—वे ब्रज में निवास करने वाले एक संत-संगीताचार्य थे। उन्होंने अपने आरंभिक जीवन की ठीक-ठीक जानकारी किसी को नहीं दी थी। उनके निकट संपर्क में रहने वाले व्यक्तियों का अनुमान था कि उनका जन्म सं० १९०० के लगभग दतिया राज्य के किसी ब्राह्मण कुल में हुआ था। दतिया का राजा भवानीसिंह उनका बड़ा सन्मान करता था। उन्होंने अपने आरंभिक जीवन में बुंदेलखंड की एक पहाड़ी गुफा में किसी दंडी संन्यासी से संगीत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। फिर अनेक वर्षों की कठिन साधना के अनंतर वे संगीत के सैद्धांतिक और व्यावहारिक ज्ञान में निष्णात हो गये थे। वे एक बार अपने गुरु दंडी जी के साथ ब्रज-यात्रा करने आये थे। यात्रा के अनंतर दंडी जी हिमालय की ओर चले गये और वे ब्रज में रहने लगे।

ब्रज में उन्हें वृंदाबन-निवास अधिक प्रिय था। यहाँ पर वे एक ग्रामीण ग्वाले के वेश में रहा करते थे और अपने को 'ब्रजराज का ग्वारिया सखा' कहते थे। इस प्रकार वे 'ग्वारिया बाबा' के नाम से ब्रज में प्रसिद्ध हो गये। वे सदैव ब्रजभाषा बोलते थे और उसी में लिखते थे। अपने गौर वर्ण, देदीप्यमान मुखमंडल, श्वेत-धवल केश, विचित्र वेश-भूषा और अद्भुत रहन-सहन से वे प्रत्यक्ष ही संत ज्ञात होते थे; यद्यपि उनके कार्य-कलाप एक अलमस्त फक्कड़ जैसे ही नहीं, वरन् कभी-कभी एक विक्षिप्त व्यक्ति के समान हुआ करते थे! उनके अद्भुत चरित्रों के बीसों किस्से ब्रज में प्रचलित हैं। उनकी कथनी और करनी बड़ी विचित्र और रहस्यमयी थी। उनकी विचित्र बातों को जो सुनता और उनके ऊटपटांग कामों को जो देखता, वह हैरत में पड़ जाता था। असल में वे अपने आपे को छिपाये हुए एक सिद्ध कोटि के महात्मा थे। उनकी बातों का वास्तविक रहस्य किसी ने कभी नहीं जाना था।

वे अधिकतर वृंदाबन में रहते थे; किंतु उनका कोई निश्चित ठौर-ठिकाना नहीं था — जहाँ जी चाहा रह गये और जब मन हुआ उठ कर चल दिये। उनके खाने-पीने, सोने-बैठने की कोई निश्चित जगह नहीं थी। वे कतिपय मंदिरों में दर्शनार्थ जाते थे और वहाँ रास देखने में तल्लीन होजाते थे। कभी-कभी वे ब्रज के एकांत बन-खंडों में भ्रमण करने को निकल जाते थे और वहाँ रात-रात भर घूमा करते थे। कभी मथुरा भी आ जाते थे और यहाँ के छत्ता बाज़ार स्थित लक्ष्मी-नारायण जी के मंदिर में प्रायः ठहरते थे। मंदिर के प्रबंधक श्री रामचंद्र शर्मा 'मूंगा जी' पर उनकी बड़ी कृपा थी। एक बार मूंगा जी की प्रार्थना पर वे कुछ समय तक जम कर मथुरा में रहे थे। तब उन्होंने मूंगा जी को संगीत के अनेक रहस्य बतलाये थे और उन्हें ग्रंथ रूप में भी लिखवाया था। अलमस्ती और फक्कड़पन में रहते हुए भी उनके लिखाये हुए ग्रंथ बड़े गंभीर हैं और संगीत के क्षेत्र में उनका महत्व निर्विवाद है।

उन्होंने अपने देहावसान की सूचना अपनी विचित्र भाषा में पर्चा छपवा कर पहिले से ही जनता को दे दी थी। निश्चित दिन पर वे वृंदाबन में रमणरेती पर जा बैठे और सब के देखते-देखते अपने प्यारे ब्रजराज सखा के सान्निध्य में चले गये। उनका नश्वर शरीर ब्रज के पंचतत्व में मिल गया। इस प्रकार उनका देहावसान सं० १९९५ में हुआ था। उन्होंने अपने फोटो खिंचवाने का सदैव निषेध किया था। उनके भक्तों ने बड़ी चेष्टा पूर्वक एक फोटो उनके देहावसान से कुछ समय पहिले लिया था और दूसरा उनकी मृत्यु के बाद लिया गया था। वे दोनों चित्र ही उनकी स्मृति को मूर्तिमान किये हुए हैं। संगीत विद्या में उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें मथुरा के श्री रामचंद्र शर्मा 'मूंगा जी' प्रमुख हैं।

अवधदास जी—उनका जन्म सं० १९०३ में जनकपुर में हुआ था; किंतु वे युवावस्था में ही वृंदाबन में आकर भजन करने लगे थे। वे प्रसिद्ध गौड़ीय विद्वान, भागवत के सुंदर व्याख्याता और कीर्तन के बड़े अनुरागी थे। उनका देहावसान सं० १९१४ में हुआ था।

बाबा रामकृष्णदास जी—वे ब्रज के आधुनिक गौड़ीय महात्माओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। उनका जन्म १९१४ में जयपुर जिला के एक गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे किशोरावस्था में ही वृंदाबन आ गये थे और उन्होंने बाबा नित्यानंददास से गौड़ीय संप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान, भक्ति-ग्रंथों के बड़े ज्ञाता और भजन-कीर्तन में अहर्निश लगे रहने वाले उच्चकोटि के महात्मा थे। वे बरसाना, वृंदाबन, गोबर्धन आदि ब्रज के विभिन्न स्थानों में निवास करते हुए भजन-कीर्तनादि में लीन रहा करते थे। बड़े-बड़े विद्वान और भक्त-जन उनके सत्संग का लाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहते थे। राजर्षि भैया बलवंत राव सिंधिया, बनमाली बाबू, मणीन्द्रचंद्र नंदी, गौरांगदास जी, प्रियाशरणदास जी आदि महानुभावों ने उनके सत्संग, प्रवचन और कीर्तन का लाभ प्राप्त कर अपने को धन्य माना था। उनका देहावसान सं० १९९७ में वृंदाबन में हुआ था। वे गौड़ीय संप्रदाय के अंतिम 'सिद्ध बाबा' माने जाते हैं।

आनंदीबाई जी—वे वृंदाबन में निवास करने वाली विख्यात महिला भक्त थीं। उनका जन्म अमृतसर के एक काश्मीरी ब्राह्मण कुल में सं० १९१२ में हुआ था। वे बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई थीं, अतः उनके माता-पिता ने उन्हें भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित किया था। वे दिन-रात ठाकुर-सेवा, हरि-कथा और सत्संग में तल्लीन रहने लगीं। उन्होंने पं० बंशीधर जी से श्री संप्रदाय की दीक्षा प्राप्त कर सं० १९४० में अमृतसर में एक मंदिर का निर्माण कराया और उसमें अपने उपास्य ठाकुर श्री राधा-आनंदवल्लभ जी को विराजमान किया था। बाद में वे अपने ठाकुर जी को लेकर ब्रज में आ गई थीं। यहाँ आने पर वे कुछ काल तक कामबन में रहीं और फिर सं० १९६३ से वृंदाबन में निवास करने लगीं। यहाँ पर श्री राधावल्लभ जी के घेरे में उन्होंने एक मंदिर बनवा कर श्री राधा–आनंदवल्लभ जी को उसमें विराजमान किया था।

वे वात्सल्य भाव से ठाकुर सेवा करती थीं और विविध प्रकार के व्यंजन, शृंगार, भजन-कीर्तन एवं उत्सवों के आयोजन द्वारा अपने उपास्य देव को लाड़ लड़ाया करती थीं। उनके मंदिर में साधु-सेवा, गायन-वादन और उत्सव-समारोहों की सदैव धूम रहा करती थी। उनका देहावसान सं० १९९३ की मार्गशीर्ष पूर्णिमा को वृंदाबन में हुआ था।

उड़िया बाबा—उनका नाम वासुदेव ब्रह्मचारी था; किंतु उड़ीसा प्रदेश के निवासी होने के कारण वे 'उड़िया बाबा' के नाम से प्रसिद्ध थे। उनका जन्म जगन्नाथपुरी के राजगुरु परिवार में सं० १९३२ में हुआ था और उन्होंने संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वे आरंभ से ही विरक्त होकर भजन-ध्यान में लीन रहा करते थे और उन्होंने जीवन पर्यंत नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया था। वे उच्च कोटि के महात्मा थे और उन्हें वाक्-सिद्धि प्राप्त थी। उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। अंत में वे वृंदाबन में आकर रहने लगे थे। उनके अनेक भक्त थे, जिन्होंने उनका विशाल आश्रम बनवाया था। उनके आश्रम में साधु-सेवा, भजन-कीर्तन, कथा–वार्ता और रासादि धार्मिक आयोजन सदैव हुआ करते थे। उनके देहावसान के पश्चात् हरि बाबा जी और अखंडानंद जी उनके आश्रम की देख-भाल करते रहे हैं।

ब्रज के कतिपय विद्वत् जन—

ब्रज में भक्त जनों के साथ ही साथ विद्वत् जनों की भी सदैव विद्यमानता रही है। वे विद्वत् जन अधिकतर धार्मिक व्यक्ति थे और उनका संबंध ब्रज के किसी न किसी धर्म-संप्रदाय से था। उक्त विद्वानों का विस्तृत वृत्तांत भी धर्म खंड में लिखा गया है। यहाँ प्रसंग वश कुछ का उल्लेख कर दिया गया है—

पं० कृष्ण शास्त्री—वे मथुरा के विख्यात विद्वान और न्याय-व्याकरणादि के प्रकांड पंडित थे। रामानुज संप्रदाय के आचार्य श्री रंगदेशिक स्वामी ने भी कुछ समय तक उनसे शिक्षा प्राप्त की थी। मथुरा के सेठ राधाकृष्ण-गोविंददास उक्त रंगदेशिक स्वामी जी के शिष्य थे। उस नाते वे कृष्ण शास्त्री के प्रति अत्यंत श्रद्धा रखते थे। मथुरा के लक्ष्मण ज्योतिषी और मुड़मुड़िया पंड्या सेठ घराने के क्रमशः ज्योतिषी और श्री द्वारकाधीश मंदिर के कार्यकर्ता थे; अतः वे दोनों भी सेठों के आश्रित होने से कृष्ण शास्त्री को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखते थे। उस समय कोई ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ कि मथुरा के वैयाकरण विद्वान दंडी विरजानंद जी और कृष्ण शास्त्री में शास्त्रार्थ होने की नौबत आगई। विरजानद जी उसके लिए तैयार थे, किंतु सेठ राधाकृष्ण ने कृष्ण शास्त्री के स्थान पर लक्ष्मण ज्योतिषी और मुड़मुड़िया पंड्या को विरजानंद जी से शास्त्रार्थ करने को भेज दिया। जब विरजानंद जी को ज्ञात हुआ कि कृष्ण शास्त्री स्वयं शास्त्रार्थ करने नहीं आये हैं, तब उन्होंने भी अपने दो शिष्य रंगदत्त और गंगादत्त को लक्ष्मण ज्योतिषी और मुड़मुड़िया पंड्या से शास्त्रार्थ करने के लिए नियुक्त किया। वह शास्त्रार्थ नहीं हुआ और सेठ राधाकृष्ण की चतुरता से मथुरा के दो वयोवृद्ध विद्वानों को एक-दूसरे से भिड़ने का अवसर नहीं आया। कृष्ण शास्त्री उद्भट विद्वान होने के साथ ही साथ उच्च कोटि के धार्मिक महानुभाव भी थे।

पं० दुर्गादत्त जी—उनके पूर्वज पहिले वृंदाबन के निकटवर्ती राजापुर ग्राम में और फिर मथुरा जिला के राया नामक कस्वा में निवास करते थे। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका जन्म सं० १९१३ में हुआ था। उनकी आरंभिक शिक्षा राया में ही हुई थी। उसके बाद वह वृंदाबन में आकर रहने लगे थे। वे संस्कृत और हिंदी के बड़े विद्वान, आशु कवि, धारावाहक वक्ता, प्रकांड शास्त्रार्थी और धुरंधर लेखक थे। उन्होंने विविध विषयों पर संस्कृत और हिंदी में शताधिक ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें से अनेक प्रकाशित हो चुके हैं। उनका देहावसान सं० १९७५ में हुआ था।

दुलारेप्रसाद जी शास्त्री—उनका जन्म कानपुर जिला में सं० १९२० में हुआ था। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उन्होंने काशी के विद्वानों से संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। वे धुरंधर विद्वान होने के साथ ही साथ परम भक्त भी थे। सं० १९५२ में उन्हें वृंदाबन आने का सुयोग मिला था। उस समय वे यहाँ की रस-माधुरी में इतने निमग्न हुए कि फिर स्थायी रूप से यहीं पर निवास करने लगे थे। उन्होंने राजर्षि बनमाली बाबू द्वारा प्रकाशित अष्ट टीका युक्त श्रीमद्भागवत के संपादन में योग दिया था और अनेक ग्रंथों की रचना की थी। वे निंबार्क संप्रदाय के भक्त कवियों की 'वाणी' के भी मार्मिक विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता और भक्ति-भावना से आकृष्ट होकर जिन अनेक समृद्धिशाली जनों ने निंबार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी, उनमें सेठ जानकीप्रसाद जी, रामजीलाल जी, जयलाल जी, हरगूलाल जी और रतनलाल जी के नाम उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान सं० १९८९ में वृंदाबन में हुआ था।

किशोरीलाल गोस्वामी--उनकी गणना खड़ी बोली हिंदी साहित्य के निर्माताओं में की जाती है। उनका जन्म सं० १९२२ में हुआ था। उनके पितामह केदारनाथ गोस्वामी तथा पिता वासुदेवशरण गोस्वामी वृंदाबन के प्रसिद्ध विद्वान थे और उनके नाना कृष्णचैतन्य गोस्वामी काशी के प्रतिष्ठित विद्वान एवं कवि थे। इस प्रकार उन्हें पितृ कुल और मातृ कुल दोनों की परंपरा में साहित्य-सृजन का दाय प्राप्त हुआ; जिसका उन्होंने यथेष्ट संबर्धन किया था।

वे अधिकतर काशी में रहा करते थे और उनका समस्त जीवन हिंदी साहित्य के विविध विषयों की ग्रंथ–रचना में बीता था। वे नागरी प्रचारणी सभा के प्रमुख कार्यकर्त्ता और 'सरस्वती' के आरंभिक संपादक थे। सं० १९७० में उन्होंने वृंदाबन में 'श्री सुदर्शन प्रेस' की स्थापना कर उसके द्वारा अपने ग्रंथों का प्रकाशन किया था। उनके रचे हुए काव्य, संगीत, धर्म, जीवनचरित्र, नाटक–रूपक और उपन्यासादि विषयों के छोटे-बड़े प्राय: २०० ग्रंथ हैं; जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुके हैं। उन्होंने बंगला के अनेक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया था तथा हिंदी, उर्दू, ब्रजभाषा और संस्कृत में गद्य-पद्य दोनों विषयों की रचनाएँ की थीं। उस काल के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। इस प्रकार उनका समस्त जीवन साहित्य-साधना से ओत-प्रोत रहा था। उनके पुत्र छबीलेलाल गोस्वामी भी अच्छे लेखक, प्रभावशाली वक्ता, राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता और वृंदाबन के प्रतिष्ठित नेता थे।

अमोलकराम जी शास्त्री—उनका जन्म हरियाना प्रांत के गौड़ ब्राह्मण कुल में सं० १९२९ में हुआ था। वे संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान और व्याकरण, न्याय, वेदांतादि के उद्भट ज्ञाता थे। उन्होंने वृंदाबन में आकर हरिदासी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत श्री स्वामिनीशरण जी से दीक्षा ली थी। उनके प्रौढ़ पांडित्य के कारण उन्हें श्री रंग जी के मंदिर स्थित संस्कृत विद्यालय का प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया था। उन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रंथों और उपनिषदों को विद्वत्तापूर्ण भाष्य एवं टीका-टिप्पणी सहित प्रकाशित कराया था। वे सरल स्वभाव और सादा रहन-सहन के अद्वितीय विद्वान थे। उनका देहावसान वृंदाबन में हुआ था।

पं० किशोरदास जी—उनका जन्म काठियावाड़ राज्य में सं० १९३० में हुआ था। वे युवावस्था में ही विरक्त होकर वृंदाबन आ गये थे। उन्होंने श्री स्वभू देवाचार्य जी की परंपरा के आचार्य गोपीदास जी से निंवार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान और निंवार्क संप्रदायी सिद्धांत ग्रंथों के उद्भट ज्ञाता थे। उन्होंने निंवार्क संप्रदाय के अनेक ग्रंथों का संपादन किया और उन्हें विद्वत्तापूर्ण टीका–टिप्पणी सहित प्रकाशित कराया था। वे वृंदाबन में निंवार्क संप्रदायी साहित्य के प्रमुख प्रचारक थे। उन्होंने सं० १९७२ में श्री निंवार्क विद्यालय की स्थापना की थी। उनके अनेक शिष्य थे। अपने अंतिम काल में वे बंशीवट पर एकांत वास करते थे। उनका देहावसान वृंदाबन में हुआ था।

सुदर्शनाचार्य जी--वे श्री रंगदेशिक स्वामी जी के शिष्य और रामानुज संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान थे। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की थी और वे दर्शन शास्त्र के प्रकांड ज्ञाता थे।

धरणीधर जी—वे रामानुज संप्रदाय के अद्वितीय विद्वान थे। उनका जन्म बदायू जिला में हुआ था; किंतु वे युवावस्था में ही वृंदाबन में आकर रहने लगे थे। उनका देहावसान सं० १९९७ में हुआ था।

जन-जागरण और राष्ट्रीय आंदोलन—

नव जागृति के अग्रदूत—वृटिश शासन के विरुद्ध सं० १९१४ में जो जन–विद्रोह हुआ था, वह सुनियोजित व्यवस्था, सुयोग्य नेतृत्व और सुदृढ़ संगठन के अभाव में विफल हो गया; तथापि भारतियों में विदेशी शासन से मुक्त होने की आकांक्षा बनी रही थी। उस आकांक्षा को भारत के धर्मप्राण महानुभावों और समाज-सुधारकों के साथ ही साथ अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अनेक देशभक्त भारतीयों से भी बड़ा बल मिला था। राजर्षि राममोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ के साथ दादाभाई नौरोजी, वंकिमचंद्र चटर्जी, राजेन्द्रलाल मित्र, बदरुद्दीन तैयब जी, विष्णु शास्त्री चिपलुणकर, महादेव गोविंद रानाडे और फीरोज़शाह मेहता प्रभृति मनीषियों ने जन–जागरण के लिए बड़ा काम किया था।

ब्रज में नव जागरण—उस समय ब्रज में दंडी स्वामी विरजानंद जी ने संस्कृत की शिक्षा द्वारा अपने शिष्यों में सांस्कृतिक उत्थान की नव चेतना जागृत की थी। उन्हीं की प्रेरणा से उनके वरिष्ट शिष्य स्वामी दयानंद ने मथुरा में जो महान् संकल्प किया था, उसके फल स्वरूप देश भर में समाज-सुधार, राष्ट्रीय भावना, स्वदेशी प्रचार, स्त्री शिक्षा, अछूतोद्धार आदि नव जागरण के कार्य-क्रमों की धूम मच गई थी। बाद में मथुरा के गोस्वामी गोपाललाल और ज्यो० माधवलाल ने विदेशी वहिष्कार और स्वदेशी प्रचार के आंदोलन में सक्रिय भाग लिया था तथा कालान्तर में वृंदाबन के राधाचरण गोस्वामी ने समाज–सुधार के कार्यों को बल प्रदान किया था।

नेशनल कांग्रेस की स्थापना और उसके आरंभिक अधिवेशन—उस काल की देशव्यापी जन-जागृति और नव चेतना की प्रबल धारा के बढ़ते हुए वेग को देखकर वृटिश शासकों को भय हुआ कि अब कहीं सं० १९१४ के जन–विद्रोह की पुनरावृत्ति हुई, तो उसे दबाना असंभव होगा। उसकी रोक–थाम के लिए इटावा के भूतपूर्व जिलाधीश मिस्टर ह्यूम के प्रयत्न से सं० १९४२ में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई। उसमें ब्रटिश शासकों की सहमति थी। वे चाहते थे कि उसके द्वारा अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय नेता गण जनता की आकांक्षाओं को शांतिपूर्ण तथा सवैधानिक रीति से शासकों के सन्मुख प्रस्तुत करें और इस प्रकार वे वृटिश शासन को स्थायी बनाने में अपना सहयोग प्रदान करें। कांग्रेस के आरंभिक अधिवेशन उसी रीति-नीति से हुए भी थे; जिनमें उमेशचंद्र बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैयब जी, फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय प्रभृति नेताओं ने जनता की आकांक्षाओं को वृटिश शासकों के सन्मुख रखा था; किंतु उनके प्रयत्न का कोई परिणाम नहीं निकला। उस काल के शासक गण अपनी निरंकुश राज-सत्ता और दंड-भेद की नीति से भारतीय जनता की आकांक्षाओं की अवहेलना करते हुए उसका मनमाने ढंग से शोषण करते रहे।

देश सेवकों की उग्र नीति और सरकारी दमन—वृटिश शासकों के उक्त दृष्टिकोण की जो प्रतिक्रिया हुई, उसने कांग्रेस के अंदर और बाहर एक ऐसे 'गर्म दल' की सृष्टि की, जिसने अंग्रेजी राज्य की जड़ को हिला दिया था। उस दल के प्रमुख नेता बाल गंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष, लाला लाजपति राय, एनी बेसेंट आदि को दबाने के लिए शासकों ने दमन-चक्र चलाया; किंतु जनता में असंतोष की ज्वाला और भी उग्रता से भड़क उठी। उसी समय अनेक क्रांतिकारी नवयुवक भी अपनी जान पर खेल कर अंग्रेजी शासकों के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाही करने लगे। उनसे चिढ़ कर शासकों ने बड़ी कठोरता पूर्वक दमन किया था।

महात्मा गांधी का नेतृत्व और बृटिश शासन की समाप्ति—ऐसे ही समय में देश को महात्मा गांधी का नेतृत्व प्राप्त हुआ। उन्होंने सत्याग्रह और असहयोग द्वारा निरंकुश सरकार के विरुद्ध अहिंसात्मक आंदोलन छेड़ दिया। सारे देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक राष्ट्रीय आंदोलन की लहर दौड़ गई। ब्रजमंडल में भी महात्मा गांधी के आंदोलन का व्यापक प्रभाव दिखलाई दिया। यहाँ के देशभक्तों ने मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये अनेक कष्ट सहे। इस प्रकार अनेक वर्षों के लंबे संघर्ष के पश्चात् महात्मा गांधी का आंदोलन सफल हुआ और सं० २००४ (१५ अगस्त सन् १९४७) में यह देश बृटिश शासन की पराधीनता से मुक्त होकर एक स्वाधीन राष्ट्र बन गया।

२. स्वाधीनता काल

(विक्रम सं० २००४ से सं० २०२२ तक)

स्वाधीनता-प्राप्ति की प्रतिक्रिया—

हर्ष और विषाद—सं० २००४ के शुभ दिन (१५ अगस्त सन् १९४७) को जब यह देश अपनी दीर्घकालीन पराधीनता से मुक्त होकर स्वाधीन हुआ था, तब यहाँ के निवासियों ने बड़ा हर्षोल्लास प्रकट किया। उस समय स्थान-स्थान पर अनेक अभूतपूर्व भव्य आयोजन किये गये और राष्ट्रीय झंडा फहराया गया। देश के अन्य भागों की तरह ब्रजमंडल में भी उस दिन ऐसा आनंद मनाया गया, जैसा यहाँ शायद शताब्दियों से नहीं मनाया था। श्री वाजपेयी जी ने ठीक ही लिखा है,—'ब्रज वासियों में १५ अगस्त को इतना अधिक आह्लाद था, जितना संभवतः कंस के उत्पीड़न से छुटकारा पाने के समय में भी न रहा होगा[1]।' किंतु उस समय के अनुपम हर्षोल्लास की पावन धारा के साथ जिस विषादात्मक गंदगी का भी कुयोग हो गया था, उसका कुप्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगा। बृटिश शासकों ने इस देश में भेद नीति की जो बारूद बिछायी थी, उसका विस्फोट वे चलते-चलते कर गये थे ! उसके फल स्वरूप देश का दुःखदायी विभाजन हुआ और अनेक स्थानों पर सांप्रदायिक झगड़ों की ज्वाला प्रज्वलित हो गई।

ब्रज में स्वाधीनता प्राप्ति से कुछ समय पहिले ही भरतपुर, अलबर और गुड़गाँवा में रहने वाले मेवों ने जो सांप्रदायिक झगड़े किये थे, वे भी बृटिश शासकों की भेद नीति के ही दुष्परिणाम थे। उस समय मुसलमान मेवों का हिंदू जाट, अहीर और गूजरों से काफी संघर्ष हुआ था, जिसके कारण मेवों को ब्रज के विविध स्थानों से हटना पड़ा था। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्नों से मेवों को फिर से उनके स्थानों पर बसाया गया था। इस प्रकार ब्रज में तो सांप्रदायिक शांति हो गई, किंतु उसकी उत्तरी सीमा के विविध स्थानों से लेकर दिल्ली तक सांप्रदायिक ज्वाला की चिनगारियाँ उठती रही थीं। उन्हीं की लपटों के कारण सं० २००५ के दुर्दिन (३० जनवरी सन् १९४८) में महात्मा गांधी जी का बलिदान हो गया ! वह एक ऐसी दुःखदायी घटना थी, जिसने समस्त देश को एक साथ ही हतसंज्ञक कर दिया; किंतु उससे विदेशी शासकों की भेद नीति की विष-बेल भी सदा के लिए सूख गई। उस समय प्रायः सर्वत्र सांप्रदायिक शांति हो गई थी, किंतु उसके लिए महात्मा गांधी के बलिदान के रूप में इस देश को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी।

---

[1] १. ब्रज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १३४

जिस समय राष्ट्र पिता महात्मा गांधी का दिल्ली में बलिदान हुआ, उस समय मथुरा में महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी के सन्मान में एक बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा हो रही थी। जैसे ही आकाशवाणी से महात्मा जी के निधन का आकस्मिक समाचार प्रसारित हुआ, वैसे ही मथुरा की उस सभा ने एक विराट् शोक सभा का रूप धारण कर लिया था। इस प्रकार संसार में कदाचित ब्रज में ही सबसे पहिले राष्ट्र पिता के निधन का हार्दिक शोक मनाया गया था। बाद में जब उनकी भस्मी यहाँ लाई गई, तब ब्रजवासियों ने बड़ी श्रद्धा पूर्वक यमुना की पावन धारा में उसका विसर्जन किया था।

शासन का संचालन और देश का निर्माण—

जटिल समस्याएँ और उनका समाधान—राष्ट्रीय सरकार को स्वाधीन भारत का शासन सँभालते ही अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा था। उनमें देश के विभाजन से उत्पन्न सांप्रदायिक उथल-पुथल, पाकिस्तान से निकाले गये लाखों हिंदुओं का बसाना, सैकड़ों देशी राज्यों को भारतीय राष्ट्र में मिलाना, नया संविधान बनाना और उसके अनुसार नया निर्वाचन करा कर नये ढंग से शासन चलाना, ज़िमीदारी प्रथा को समाप्त करना और पंचायतों का प्रचलन करना आदि प्रमुख थीं। राष्ट्रीय नेताओं ने जिस प्रकार त्याग, तपस्या और आत्म बलिदान से देश को स्वाधीन किया था; उसी प्रकार उन्होंने धैर्य, साहस और सूझ-बूझ से उन जटिल समस्याओं का समाधान करते हुए शासन को बड़ी कुशलता पूर्वक चलाया था।

सं० २००७ के शुभ दिन (२६ जनवरी सन् १६५०) को भारत में नया संविधान लागू हुआ, जिससे यह देश एक सर्वतंत्र संघीय गण राज्य बन गया। इसका लक्ष प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ समाजवादी ढंग की समाज-रचना निर्धारित किया गया। नये संविधान के अनुसार वयष्क मताधिकार के आधार पर जो निर्वाचन हुए, उनमें कांग्रेसी विचार-धारा के सदस्य प्रबल बहुमत से निर्वाचित हुए थे। फलतः केन्द्र और राज्यों में सर्वत्र काँग्रेसी मंत्री मंडल बन गये। डा० राजेन्द्रप्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति और पं० जवाहरलाल नेहरू प्रथम प्रधान मंत्री बनाये गये थे।

ब्रज की राजनैतिक स्थिति—देश के अन्य भागों की तरह ब्रजमंडल में भी पाकिस्तान से हजारों विस्थापित हिंदू आये थे, जिन्हें शासन और ब्रजवासियों ने बड़ी सद्भावना पूर्वक ब्रज के विविध स्थानों में बसाया था। अब वे लोग यहाँ के निवासियों के साथ घुल-मिल कर स्थायी ब्रजवासी जैसे हो गये हैं। नये निर्वाचनों में ब्रज से भी कांग्रेसी विचार धारा के सदस्य ही अधिक संख्या में केन्द्रीय और प्रांतीय धारा सभाओं के लिए निर्वाचित हुए थे। नये संविधान के अनुसार ब्रज में भी पंचायतों का प्रचलन और ज़िमीदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया।

पुरानी रियासतों को भारतीय संघ में मिलाने की योजना के अंतर्गत ब्रज के भरतपुर और धौलपुर राज्य पहिले अलवर और करौली राज्यों के साथ 'मत्स्य' प्रदेश में रखे गये और बाद में उन्हें वृहत् राजस्थान में मिला दिया गया। उस समय यह चर्चा चली थी कि ब्रज की रियासतों को राजस्थान की अपेक्षा उत्तर प्रदेश के साथ मिलाया जाय, ताकि समस्त ब्रजमंडल की एक राजनैतिक इकाई बन सके। चूँकि उत्तर प्रदेश पहले ही बहुत बड़ा राज्य था, अतः उसके साथ किसी और भू-भाग का मिलाया जाना संभव नहीं हुआ।

सं० २०११ में भारत सरकार ने भारतीय संघ के राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए एक आयोग की स्थापना की थी। उसके एक सदस्य सरदार पणिक्कर का सुझाव था कि उत्तर प्रदेश के पश्चिमी ज़िलों के साथ अन्य निकटवर्ती भू-भागों को मिला कर एक नया राज्य बनाया जाय। उक्त सुझाव का उद्देश्य ब्रजमंडल को एक राजनैतिक इकाई के रूप में संगठित करना नहीं था, वरन् उत्तर प्रदेश के वृहत् स्वरूप का विभाजन करना था। उससे वर्तमान उत्तर प्रदेश में जो प्राचीन 'मध्यदेश' की सांस्कृतिक परंपराएँ संरक्षित हैं, वे भी छिन्न-भिन्न हो जातीं। इसलिए ब्रज में ही उत्तर प्रदेश के विभाजन का विरोध किया गया। फलतः राज्यों के पुनर्गठन के समय ब्रज-मंडल का राजनैतिक एकीकरण नहीं हो सका था।

ब्रज का सांस्कृतिक पुर्नर्निर्माण—

देश के अन्य भागों की तरह इस समय ब्रज में भी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा पुर्नर्निर्माण के कार्य हो रहे हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य अधिकतर आर्थिक पुनर्निर्माण करना है। यद्यपि वर्तमान स्थिति में आर्थिक निर्माण को प्रमुखता देना आवश्यक है, तथापि उसके लिए सांस्कृतिक निर्माण की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। केवल आर्थिक समृद्धि से ही किसी देश के निर्माण का कार्य पूरा नहीं हो सकता है।

जहाँ तक ब्रजमंडल का संबंध है, इसका पुर्नर्निर्माण तो सांस्कृतिक निर्माण किये बिना संभव ही नहीं है। इसका कारण ब्रज की परंपरागत सांस्कृतिक महत्ता और ब्रज संस्कृति की विशेषता है। ब्रज संस्कृति में बनों और गायों को बड़ा महत्व दिया गया है। जहाँ बनों से गोचर-भूमि और अच्छी वर्षा के साथ ही साथ विविध प्रकार की बन-संपदा की उपलब्धि होती है, वहाँ गायों से दूध-दही-मक्खन के रूप में पौष्टिक आहार और बैलों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बन और गाय वर्तमान कालीन अर्थ-व्यवस्था के प्राण स्वरूप कृषि और उद्योग के भी आधार हैं। ब्रज संस्कृति में 'गो-बर्धन' की जो इतनी महिमा गाई गई है, उसका यही उद्देश्य है।

हमारे शासकों ने बनों को तो कुछ महत्व दिया है; किंतु गायों के प्रति उनकी उपेक्षा रही है। ब्रज संस्कृति में सदा से गाय को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पदार्थों की दाता माना गया है; किंतु वर्तमान युग में भी उसका धार्मिक और आर्थिक महत्व तो स्वयंसिद्ध है। हमारे शासक गाय को कदाचित केवल धर्म से ही संबंधित समझते हैं और इसीलिये वे 'धर्म निरपेक्ष' राज्य में उसकी उपेक्षा करते हैं! जिस प्रकार ब्रज में कृषि की उन्नति के लिये बनों का संरक्षण किया जा रहा है, उसी प्रकार आर्थिक समृद्धि के लिये गो-संबर्धन करना भी उचित है। इसके लिए गो-बध को कानून द्वारा बंद करना और गो-रक्षा को समुचित प्रोत्साहन देना अत्यंत आवश्यक है। यदि हमारे शासक ब्रज संस्कृति के यथार्थ महत्व को समझ कर उसके संरक्षण-संबर्धन और प्रचार-प्रसार का समुचित प्रयास करें, तो इससे देश के सर्वांगीण पुर्नर्निर्माण का कार्य बड़ी सरलता और सुविधा के साथ किया जा सकता है।

देश को स्वाधीन हुए अभी बहुत थोड़ा समय हुआ है और इस अल्प काल में भी हमारे शासकों को अनेक बड़ी-बड़ी जटिल समस्याओं से जूझना पड़ा है। हमको आशा रखनी चाहिए कि वे ब्रज संस्कृति के महत्व को समझ कर इसके प्रचार-प्रसार में योग देंगे। इससे यह देश निकट भविष्य में ही संसार के समृद्ध और विकसित राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकेगा।

●

अनुक्रमणिका

★

१. ब्रज संस्कृति की भूमिका

●

नामानुक्रमणिका

नाम पृष्ठांक

अंगिरा—७६
अंजनखोर—४२
अंबरीष—२२, १५८
अंबाला—३३
अंबिकाबन—३५, १५६
अकबर—४३, ५५, ७३, १०५, १०८, ११३, १२६, १४२. १४६, १५०, १८०, १९०, २३३, २६८
अक्रूर—८६, १३०
अक्रूर घाट—९३, १४१
अकोस—३४
अगरचंद नाहटा—९१, ९२, १७०
अगरोहा—७९
अगलस्सि—७९
अग्रबन—७, ४२
अग्रवाल—७८, ७९, ८०
अग्रसेन—७९
अर्जुन—६४, ६५, १६५, २७५
अडींग—५०, १०३, १५२
अड़ैल—१४६, १७७, १८५, १९४
अट्टणक—६३
अन्त्यज—८१
अनिरुद्ध—१४
अनूपशहर—१८
अभिनव गुप्त—१६३
अयोध्या—२२
अराट—४२, १०३
अरिष्टबन—४२, १०३

नाम पृष्ठांक

अलउत्वी—८
अलबेरुनी—२३३
अलकापुरी—६१
अलख गंगा—३६
अलमोड़ा—१८
अलबर—१८, ७६
अलाउद्दीन ख़िलज़ी—१५९
अलि भगवान्—१९३
अलीखान पठान—१४५
अलीगढ़—६, १५, १८, ३३, ३५
अवंतिका—२२
अष्टछाप—११४
अस्लौर—३१
अहमदशाह अब्दाली—८२
अहिवासी—७६, १४२, २३९
अहीर—६७, ६८, ६९
अहीरवाड़ा—६९
आगरा—७, ८, ११, १४, १५, १८, ३२, ३४, ४२, ४८, ५०, ५१, ७५, १८१, १९०, १९८, २३३, २४८
आग्रेय—७९
आज़मशाह—११
आझई—१३०
आदि बदरी—२३, ४२
आन्यौर—४२, ४९, ९३, ११०, १७८, २४०
आनंद—१५७
आनंदघन—२२३, २२६
आनर्त—६५, ६७, ६८, ७०

आभीर—६५, ६६, ६७, ७०, १६३
आभीरपल्लो –६५
आलम—५७
आलिका—६१
आशा – ३१
आसकरन—२१६
इंद्र—२७, २८, १०६, २७०
इंद्रप्रस्थ – २१
इगलास—३५, ५१
इटावा –१८, ३४, ४८, ७५
इतवार खाँ – १२६
उग्रसेन – २०, ६७
उज्जैन— १७७, १९५
उजागर चौवे—९५
उटंगन – ३५, ५०
उत्तम – ६१
उत्तमदास—१८७
उदयकरण—१२१, १७१, १७२, १७४, १८०, १८१, १९५, १९८
उद्धव—२४, ८६, १०४
उपगुप्त—१५६
उपहार बन—४, ६, १५
ऊँचागाँव—२१, १२१, २५७
ऊँमरी–रामपुर—२४०
ऋषभदेव—२०, २१
एटा—१८
एतमादपुर—३५
ओखला—३३, ५०
ओरछा—१०५
औरंगजेब—११, ७३, ७४, ७५, ८२, ९०, ९१, ९६, १०८, १३५, १३९, १४७, १५५, १७२, १८१, १९८, २३४
औरगाबाद—३४, १३३
औधखेड़ा—१४
कंकाली टीला—२९, १५४
कंस—१४, २०, ४०, ६५, ६७, १३०, २७३
कंस कगार—१४
कंस किला—१५८, २७३
कटरा केशवदेव—२९, ३१, ३२
कठ नदी—३३
करणविल —१४८
कदंब (कदम)—४५
कदंबखंडी—४३
कनिष्क ७
कनिंघम—८, ३२
कन्नौज—२८, १५५
कनौजी—१८
कमई— १२१, १९४, १९८
कमलाद— ३१
करनाल—३३
करबन - ३४, ३५, ५१
करमैती बाई—१३४
करहला—४२, १२१, १७१, १७३, १७५, १८०, १८१, १९४, १९५, १९८, २०५
करौली—१८, ६८, ७८, १३५, २४४
कल्याण—७७, १७१, १७३, १९५
कल्याण अहिवासी – १४२
कानपुर – १८
कामगिरि—२९
कामबन—३, ७, ९, १०, १६ २३, २९, ३७, ४०, ६८, ९३, ९८, ११६, ११८, १३०, १३३, १९४, १९५, १९८
कामबन की पहाड़ी—२६, २९, ५१, ११६
कामर—१२६
कार बेग— ३२
कारों—३५
काल्पी —३५
कालिकारंजन कानूनगो—७०
कालिदास—४१
कालिय—६४, ७६
कालियदह—७६, १७७
कार्ष्णि पंथ —१४४

काशी—२२
काशीप्रसाद जायसवाल - ६३
कांची—२२
किशनसिंह राजा—१७५, १८१
किशोरीदास · १९६
किशोरी रानी—१०७
किशोरीशरण 'अलि'—१८६, १८८, १९६
कीठम झील—३४, ३६
कुंजलाल गो०·—१८६, १९७
कुंडल (जि० रोहतक)—१८१
कुंदनलाल शाह (ललित किशोरी)—१३७, १४०
कुंभनदास—२८, २९, ३१, ५३, ६९, ११०, ११४, १७८, १८९, २१२, २१३
कुनबाड़ा—११२
कुबेर—६२, २६७
कुमुदबन—८, १०, ३९, ९८, १०२
कुरु जांगल प्रदेश—११६
कुरु प्रदेश—२३
कुसुम सरोवर—१०३, १०४, १०५
कूलचंद (कुलचंद्र)—८, ६८
कृष्ण—८, १३, १४, २०, २१, २३, २७,२८, ३०, ३३, ३४, ६१, ६५, ६६, ८४, ८६, १०६, १३०, १६१, १६५, १७६, २१३, २५५, २७२, २७५
कृष्ण गंगा—१४, २०, ३२, ३५, ३६
कृष्ण गंगा घाट—३२, १५८
कृष्णदत्त वाजपेयी—१८, १३३, १५७
कृष्णदास (अष्टछापी)—२४, ३१, १०९,१११, ११३, ११४, १७९, १८९, २१३, २१४
कृष्णदास (कुंभनदास का पुत्र)—५३
कृष्णदास कविराज—९३, १०४, १२३,१३७
कृष्णदास ब्रह्मचारी—१८२
कृष्णदास बाबा—५, ६, ९४,१८०,१८३,१८४
कृष्ण भट्ट—१७७, १९५
केन नदी—३५
केवला झील—३६
केशव काश्मीरी भट्ट—१५०, १५२
केशवजी दंडौती—८९, ९९
केशवदास—१६
केशवदेव मंदिर—३२, ९६, १४४, १५५,१७६
कोइला—१४८
कोकिला बन—४२
कोट बन—१२७
कोसी—१२६
कौरव बन—४२
क्षत्रिय - ७७

खड्गसेन—१९४
खड़ी बोली—१८
खदिर बन—९, ४०, १२४
खांडव बन—६४
खायरा—४०, १२४
खारी नदी—३५
खुर्जा—१४, ३३, ३५
खेमकरण—१२१, १७४, १७५, १८०, १८१, १९५, १९८
खेलन बन—४५
खैर—३३, ३५, ४१, ५१
खैरागढ़—१५, ३५
गंग ग्वाल—२६
गंगा—८, १८, २१, ३०, ५१, २४७, २७४
गंगाप्रसाद कमठान—३२
गंगाबाई—३४, ३५, २१६, २१७
गंभीर—३४, ३५
गर्दभ—६१, १५७
गदाधर भट्ट—१३७, २२६
गदाधर मिश्र—२१६, २१७
गरुड़ गोविंद—९८, १३०, २५३
गांठोली—९३. ११५
गांधी महात्मा—८४
गाज़ीपुर—१२२
गाय—५४, ५५

ग्राउस—४, ५, ६, १५, ३१, ४५, ७१, ८९, १०२, ११०, १११, १३३, १३६, १३९, १४१, १४४, १४७, १४८, १८४, १९८, १९९, २०१, २०५
ग्रियर्सन—१८
गिर्द—१८
गिरि—३१
गिरिधर ग्वाल—१९३
गिरिधर जी—१११, १७८
गिरिधारीदास ब्रह्मचारी—१४०
गिरिराज—१०६, ११०, ११२, ११९, २७०
गुजरात—७०
गुड़गाँवा—६, ७, १८, ३३, ५०
गुलाबराय—१८
गुलाल कुंड—११५
गूजर—६८, ६९, ७०
गूजरी—७०
गोकर्ण—१५७
गोकर्णेश्वर घाट—३५, २५३
गोकर्णेश्वर टीला—२९, १५७
गोकुल—२, ३३, ३४, ४१, ४२, ६५, ७७, ९८, १००, १४२, १४५, १४६, १७७, १७९, १९०, २३५, २५१, २५५, २५६, २७२
गोकुलदास पारिख—१५९
गोकुलनाथ गो०—७७, ८९, ९४, १४२, १७७, १७८
गोपाट—३४
गोपाल कवि—९६, १३३, १३८
गोपालदास जी—१४४
गोपालपुर—४२
गोपाल भट्ट गो०—१३७
गोपाललाल गो०—९१
गोपालसिंह राजा—१३५
गोपीनाथ गो०—८८, ८९, ९०, ९४
गोबर्धन—२०, ३७, ४०, ४२, ४८, ५४, ७८, ८६, ८७, ८८, ९३, ९८, १०६, ११४, ११६, १३०, १४६, १७७, १७९, १८९, १९०, १९८, २१३, २४९
गोबर्धन देव जी—१३८, २७०, २७१
गोबर्धन पहाड़ी—२०, २२, २७, २८, ३०, ३२, ४०, १२२, १३०, १५७, २५०
गोरखनाथ—७७
गोलोक—१०, ११
गोविद अलि—१९५
गोविदगढ़—१६
गोविददास सेठ—१३९
गोविददेव जी—१३३, १३५
गोविंददेव जी का मंदिर—१३५
गोविंदशरण—२२४
गोविंद स्वामी—३१, ११३, १४५, २१२, २१३, २१६
गौतम बुद्ध—(देखिये बुद्ध भगवान्)
गौर्ज्जरी—७०
ग्वालियर—८, १८, ६९
ग्वालियरी—१६
घनश्याम जी गो०—११८, १७८
घमंडी जी—१२१, १७१, १७२, १७५, १८०
घमंडदेव जी—१७५, १७९, १८१, १८२, १८३, १९१, १९५
घाटा—११६
घुमंतू—८२
चंदसखी—१७१, १७२, १७३, १९७, २११, २१९, २२०
चंदौस ३५
चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—१५५
चंद्र सरोवर—३६, ३७, १०९, १७७, १७८, १७९, १९५
चंबल—८, ३४
चक्रतीर्थ—१९
चतुर्भुज दास—२५, २७, ३१, ४५, ११०, ११३, १७७, १९५, २१३, २१६

चतुरानन नागा—८७, ८९, १११, १२५
चतुर्वेदी—७५
चमार—८२
चमेली बन—१२७
चरण गंगा—३६, १२५
चरण पहाड़ी—७, १०, २६, २९, ४०, ११८, १२५
चीर घाट—३२, १२८
चैतन्य महाप्रभु—८७, ८८, ९३, १०३, १०४, ११५, १२२, १२४, १३२, १३७, १४१, १४५, १८२
चैत्ररथ उद्यान—४१
चौबारा टीला—२९
चौबे—(देखिये चतुर्वेदी)
चौमुहा—१३०
छटीकरा—१३०
छबीलदास—१८६
छत्र कवि—१४
छाता—२९, ३३, ५०, ५१
छीत स्वामी—२८, ३१, १११, १५१, २१३, २१६
छोटी बठैन—२९
छोटी सिंघु—३५
जंबू स्वामी—२१
जखनगाँव—१०३
जगतनंद—२६, २७, ३६, ३७, ४५. ८९, ९०, ९५, ११८
जगतानंद—१४५
जगन्नाथ धाम—२३, २४८
जजिया कर—१९०
जतीपुरा—११०, १११, ११४, ११५, २४०
जनमेजय—६५
जन्हु बन—५, ७, ११, १५, १६
जिनविजय मुनि—१७०
जमुनावतौ—३२, ११०, ११४, १७८
जयदेव—८६
जयपुर—१८, १३५
जयमल—१९४
जय श्रीकृष्ण—१८६
जयसिंह मिर्ज़ा—१८१
जयसिंह सवाई—१२१, १३६, १५९, १७२, १७५, १८१, १९८
जरासंध—६७
जलेसर—१५, ३५
जवाहरसिंह—७४, १०५, १०९
जहाँगीर—५३, १३६, १५५, २३४, २६८
जहाँगीरपुर—१२९
जाजऊ—१६
जाट—७०, ७१, ७२, ७३, ७४
जाटव—८२
जानकीप्रसाद भट्ट—१८४
जाब—३७, १२५, २४०
ज़िझौती—८
जिनप्रभ सूरि—८६, ९२
जिनसेन—२१
जीव गोस्वामी—१२९, १३७, १३८
जीवाजीराव सिंधिया—१४०
जेबर—१४, १५, १६, ३३
जेम्स टाड—१९८, १९९, २०३
जेल टीला—२९
जैत—१३०
टट्टी संस्थान—१३८
टप्पल—४१
टाम ड्रूएट ब्रोटन—१९८, १९९, २०४
टेवर्नियर—३१
टोडरमल—१९०
टोड़ का घना—११५
टोंस—३१
डीग—३, १६, ४०, ७४, ११५
ढूसर—७६
तक्षक—६४, ६५
तरौली—२७६

ताजबीबी — ११३
ताजमहल — ३४
तानसेन — ४३
तारसी — ३६, १०२
तारासिंह—१०२
तालबन — ६, १०, ३६, ६८, १०२
तिमिसिका — ६१
तीर्थयात्री कर — १६०
तेमूर — ७३
दंडौती परिक्रमा — ६६
दधिबन — ३७
दयानंद सरस्वती — २६८
दहगाँव — ४२, १२६
दामोदरचंद्र गो० — १८८, १६५, १६६, २२२
दामोदरदास हरसानी — १४८
दामोदर स्वामी — २१२, २१६
द्वारका — २२, २३, ६५, ६६. ६८, १६४,१६५
द्वारकादास परीख — ६४, १७७
द्वारकाधीशजी — २३, १५६, २३५, २५०,२५५
दिल्ली—३३, ३४, ७४. १६०
दीनदयाल गुप्त — ६, ११
दीपावली — ६२
देवकरण — १७५, १८१
देवकी — ६७
देवकुल—१५७
देवबन — १८५
देहरा — ५१
दौलतराव सिंधिया — १६६
धनंजय — १६३
धन्वन्तरि — १६६
धीरेन्द्र वर्मा — १८
धूर कोट — १५२
धूसर—देखिये ढूसर
धूसी—७६
धौलपुर — ८, १८
धौंधी — २१६, २१७
ध्रुव — १६, ३६, ६१, १०१, १५२
ध्रुव टीला — ८७, १५२
ध्रुवदास -- १३४, १७१, १८२, १८३, १६१, २२१
नंदकुमार वसु — १३५, १३६
नंदगाँव—२८, २६, ३२, ३७, ४०, ४२, ६८, ११६; ११६, १२२, १३०, २३५, २३७, २३८
नंदगाँव की पहाड़ी — २६, २८. ४०
नंददास—१६, २५, ३१ १०६, ११४, २१२, २१३, २१४
नंदराय — २८, ११६, १२८
नंदराय जी का मंदिर—२६
नंदलाल दे — ७
नंदीश्वर — २८, २६
नरवाहन जी — १३४, १८७, १८६,१६०,१६१
नरसी मेहता — २०३
नरहरिदास जी — १३८, २२५
नरी-सेंमरी—१३०, २४४
नरोत्तमदास ठाकुर—१३७
नवलदास—७६
नाग—६३, १५७, १५८, २५३
नागरीदास — २२५
नागरीदास नेही — १२०, २२१
नागरीदास राजा — २५, १७२, २२४, २३६
नागसेन — ७
नागा जी — (देखिये चतुरानन नागा)
नाथद्वारा — १६८
नाभा जी — ८६,६६, १८२, १८३, १६२,१६३
नारद मुनि — १६, १०४, १५२, १६५
नारनौल — ७६
नारविन हईन हवेन — १६८, २०६
नारायण भट्ट—५ ६, १४, १५, २६, ४२, ८७, ८८, ८६, ६४, ६५, ६७, ६८, १०३, १२१, १२२, १३५, १७१, १७३, १८०, १८२, १८३, १८५, १६०, १६५, २५७

नारायण स्वामी—२२८
नाहरमल—१८७
निंब्र ग्राम—८६, ८७, १०९, १५२
निंबार्काचार्य—८६, १०९, १२२, १५२, १७१, २२३
नित्यानंद प्रभु—१०४, १२८, १३४
निधुबन (निधिबन)—४३, १३४, १३८
नीम गाँव—८६, १०९
नील गाय—५१, ५२, ५८
नेमिनाथ—२१
नैनीताल—१८
नौनकरन—१३६
नौहझील—३५, ३६, ४१
पंचाल प्रदेश—२३
पंजाब—७
पटनीमल राजा—१५४
पटवाह—३५
पदमखेड़ा—१४
पद्मावती ६३
परखम—६२
परमदरा—४२
परमानंददास—२४, २८, २९, ३१, ४५, ४६, ५३, १११,११४,१८९,२१२, २१३, २१४
परासोली—३२, ३७, ४२, १०९
परीक्षित—६५, २००
पलवल—१८, ३३
पर्वत बन—१४, १६
पहाड़ी गाँव—१६
पांडव गंगा—३९
पाणिनि—६०
पान सरोवर—३६, ३७
पानीगाँव—४१, १४१
पार्श्वनाथ—२१, ३४
पिंगल—१६
पिपासा बन—४४
पिसायौ—४२, ४४, १९४, १९८, २०५
पीतांवरदास—९५
पीलीभीत—१८
पुरुषोत्तम गो०—९१, ९६
पूछरी—४९, १११, ११४
पूरनमल खत्री—११२
पैगाँव—१२७
पैंठा—११०
पृथ्वीराज (पृथ्वीसिंह)—१५०
प्रतिष्ठानपुर—२१
प्रतीतराय लक्ष्मणसिंह—९६
प्रद्युम्न—१४
प्रबोधानंद—१३३, १९१, १९२
प्रयाग—३४, ३५
प्रयागदास—१९३
प्राणनाथ—१८८
प्राणनाथ शास्त्री—१६०
प्रियादास—८९, १८२, १८३, १९२, १९३
फतेहाबाद—३४, ३५, ५०
फरह—३४
फर्रुखाबाद—१८
फालेन—१२७, २३९
फाहियान—८६, ९१
फीरोजाबाद—३४, ३५
फुंदनलाल शाह (ललितमाधुरी)—१३७, १४०
फुंदाराम जाट—१०३
फ़ैज़ाबाद—३१, ३३
बंगाल—७
बंदर—५३, ५४, ५८
बंध बारेठा—४४
बंशीबट—१७८
बच्छबन—४२, १२८, २७४
बटेश्वर—५, ६, ७, ११, १४, १५, १६, २१, ३४, ३५, २७४
बड़ी बठैन—१२५, २४०
बड़ी यात्रा—९९
बदायू—१८

बदनसिंह—११५
बनचंद्र गो०—१३४, १३८, १९१
बनयात्रा—९, ९७
बयाना—६८
बरसाना—२९, ३१, ३७, ४०, ९८, ११६, ११८, ११९, १३०, १४८ १९० २३५, २३७, २५७
बरसाना की पहाड़ी—२६, २९, ११९
बरहद—४, ५, ६, ३५
बरेली—१८
बलदेव—१०, ३७, ४१, ७७, ९८, १३०, १४२. २३५, २३९, २५३, २५६, २७५
बलराम—३९, ६४, ८६, १०२, १२५, १२८ १६५, २७२
बलवंतराव सिंधिया—१०६
बल्लभ रसिक—१७३, २२७
बल्लभाचार्य—३४, ८७. ८८, ९०, ९२, ११०, ११२ १२५, १४६, १४८, १५०. १७१, १७६, १७९, १८०, १८३, १८९, १९८ २००, २१३, २५४
बहुलाबन--९, ४०, ९८, ११२
बाजना—३५, ४१
बाटी--४०. १०३
बानगंगा—३५
बाबर—५३, ७३, १८९
बालकृष्ण तुलाराम—१७२, १९७
बालकृष्ण स्वामी- १९७
बाह—११
बिजनौर—१८
बिलछूबन--११४
बिहारिनदास जी—२२४
बिहारीलाल--२५
बिहारीलाल राजा—१५०
बिहारीलाल रासधारी--१७१, १७३, १७४, १९८
बिहारीशरण—१८०
बुंदेलखंड—१८, २१९
बुंदेली—१८
बुद्ध भगवान्—७, २१, ६१, ६४, १५७, २४७, २६६
बुलंदशहर १४, १८, ३३, ३५
बेतवा—३५
बेंदा—६१, ६२. १३२
बेलबन—९, ४१, ४२, १२९
ब्रज—१, २, ३, ४, ५. ७, ८, ९, १६, १९, २१ २३, २४. २६. २८, ३३, ३८ ४२, ४४, ४८, ५३, ६०, ८६, ११९, १६२, १८९, १९०. १९८, १९९, २१९, २३७, २४२, २५७
ब्रज कमल—१०, ११
ब्रजनाथ गो०—९१, ९६
ब्रजबल्लभ नर्तक—१७१, १७३, १८३, १९०, १९५
ब्रजभाषा—१६, १८
ब्रजभूषण—१९६
ब्रजमंडल—२ ३, ४, ८, ११, १६, १९, ३०, ६१, ६५, ६८, ७०, ७२, ८०, ८२, ८६, ९५, ११८, २५०
ब्रज यात्रा—३, ९, ८५, ८६, ८८, ९१, ९७, १८४; १९९, २५७
ब्रजराज—७४
ब्रजवासीदास—२२८
ब्रज संस्कृति—८३, ८४, ८५
ब्रजेन्द्र—७४
ब्रह्मगिरि—२९
ब्रह्मर्षि देश—१९, २३
ब्राह्मण—७४
भंडारकर—६६, ७०
भंडीर—६१, ६२
भगवत रसिक--२२५

भगवानदास तँवर--१९३
भगवानदास राजा—१०७, १०८
भगवानदास स्वर्णाकार—१३४, १९१
भतरौड—१४१
भदावर—१४, ७८
भदौरिया—७६
भद्रबन—९, ४१, १२९
भरतपुर—६, ७, ८, १८, ३५, ३६, ४०, ४४, ५१, ७४, ११५
भरत मुनि—१६३, १६४
भवानीसिंह—९६
भांडीरबन—९, ४१, ६१, ९८, १२९
भाखा (भाषा)—१६
भार्गव—७६
भारशिव नाग—६३
भिंड—१८
भीष्म—२०
भुवनबन—५, ६, १५
भूगर्भ गोस्वामी—८८, १२४
भूतेश्वर टीला—२९
भूषण बन—५, ६
भैगाँव—१९, १९४
भोंरा—५९
भ्रगु ऋषि—७६
भ्रमर—(देखिये भोंरा)
मंदसौर—३४
मघा—६१
मत्स्य—२३
मथुरा—१, २, ३, ७, ८, १०, १८, २०, २१, २२, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३९, ४२, ५८, ५०, ६१, ६५, ६८, ७५, ८६, ९१, ९२, ९९, १००, १०१, १३०, १४९, १६४, १७६, १७९, १९०, १९९, २३४, २३५, २४१, २५०, २५१, २५५, २५६, २५७, २७२, २७३, २७६
मथुरा (माथुर) मंडल—४, ५, ६, ८, १४, १५. १९, २०, २२, ६५, ६६, ९२, १३०, १८४
मथुरा राज्य—७, ८, १६, ६३
मदनमोहन जी—१३५
मदनमोहन जी का मंदिर—१३५
मध्यदेश—१९
मधु—२०, ६५, १०१
मधु गोस्वामी—१३४, १३६
मधुपुरी—३, २०, २१
मधुबन—३, ९, १९, २०, २१, ३९, ४२, ६१, ६५, ९८, १०१, २५३
मधुमती ६५
मधुरा—२०, २१, १०१
मधु विद्या—१९
मनसा देवी—१०९
मनु—२३
मलूकदास—१३९
महादजी (माधवजी) सिंधिया—१५४, १९९, २०४
मसकर्रा—३३
महमूद गजनबी—८, ६८, ८२, १५५
महाबन—८, ९, ३४, ४१, ४२, १४२, १४५, २५५, २७२
महावीर स्वामी—२१, ६२, २४५, २६७
महोली—३९, १०१
माँट—१०, ३३, ३५, ४१, ५१, १२९
माणिभद्र—६१, ६२
माध्वेन्द्रपुरी—८७, ८८ ९८, १११
माधव स्वामी—१९८
माधुरी जी—२२७
माधुरीदास—१९६
मान्धाता—७६
मान सरोवर—३६, ३७, ४२, १४१, २३६
मानसिंह राजा—१०७ १३५, १५८, १९०
मानसी गंगा—१०६, १०७, १०९, २४९

माया—२२
मिरजा खाँ—११
मीराबाई—१३८
मुखराई—१०५
मुजफ्फरनगर—३३
मुरैना—१८
मुसलमान—८२
मुहम्मद गोरी—७९
मुहम्मदपुर—१०९
मुहम्मदशाह—१८१, १९८
मेरठ—८, ३५
मैथिल—७७
मैनपुरी—१८, ७५
मोती झील—३६
मोर—५७
मोहनदास—१८, १६५, १९६
यक्ष—६१, ६२, १०३, १३२, २६७, २७६
यक्षिणी—६१, १३२, २६६
यदु—६५, ६७
यदुनाथ गोस्वामी—९२
यदुवंशी—६७
यम—२२, ३०, २७२
यमी—२२
यमुना—१९, २०, २१, २२, २६, २७, २८, ३०, ३१, ४०, ५०, १०१, १०६, १२२, १३०, १७७, २४५, २५०, २५८, २७२, २७४
यमुनोत्तरी पर्वत—३१
ययाति—६७
यादव ६७, ७७, १६३
यायावर—१४, १५
युगलदास—१९६
रंगजी का मंदिर—१३९, २४१
रंगदेशिक स्वामी (रंगाचार्य)—१०८, १३९
रघुनाथ जी गो०—११७
रघुनाथदास गो०—१०४, १३७
रनकौली—२९
रसखान—२५, ५४, १४५
रसिकदास जी—१३८
राजस्थान—२१९, २४२
राजस्थानी—१८
राजाराम—१७३
राधा—२९, ६५, ११८, १३१, १४८, २५७
राधाकुंड—१४, २३, ३७, ४०, ४८, ८८, ९३, ९४, ९८, १०३, १३०, २६६
राधाकृष्ण सेठ—१३९
राधाकृष्ण रासधारी—१७१, १७४, १७५, १८१, १९४, १९८
रामघाट—१२८
रामदास—२१६
रामदास कपूर—१३५
रामदास चौहान—१११
रामरयन राजा—१९३
रामराय—१७१, १७३, १९५, २२६
रामेश्वर धाम—२३
राय रामानंद—१८२
रायसेन—१३६
रावल—४१, १४८, २५७
रास—१३४, १६१, १६२, १७६, १७७, १७९, १८५, १९३, १९९, २००, २१३, २५९
रास-मंडल—१३४, १७७, १७९, १८५, १८६ १८७, १९०
रास-लीला—८५, १६१, १६२, १७७, १७९, १८२, १८४, १८५, १८९, १९०, १९२, १९४, १९८, १९९, २०३
रासौली—१२६
राहुल सांकृत्यायन—२६६
रीढ़ा—७७, १४२
रुद्र गिरि—२८, १२२
रुनकुता—३४
रूप गोस्वामी—१४, १५, २६, ३०, ८७, ८८, १२९, १३२, १३५, १३७, १९२

रूप रसिक—२२३
रूपराम कटारा—१२२, १२५
रूपलाल गो०—२२२
रूपसिंह जाट—१२३
रेवाड़ी—७६
रोहतक—८
लक्ष्मीचंद सेठ—१३६
लक्ष्मीनारायण पोद्दार—१२२
ललितकिशोरी (शाह कुंदनलाल)— ५, १४०, २२७
ललित किशोरीजी (हरिदासी आचार्य)—४३, १३८
ललितमोहिनी जी—१३८
ललिता (वीणा वादिका)—११५
ललिताचरण गो०—१६३, १८५
लवणासुर—२०, ३६, १०१
लाट (लाड़)—७०
लाड़िली जी का मंदिर—२६, १४८
लाड़िलीशरण (रासधारी)—१७४,१७५,१७७, १८१, १९८
लाला बाबू (कृष्णचंद्र सिंह)—१३९
लोकनाथ चक्रवर्ती—८८, १२४, १३७
लोहबन—९, १०, ३७, ४१, ९८, १४१
वंशी अलि—२२२
वज्र (नाभ)—२, २३, ८६, १०४
वदरी—३१
वदरीनाथ—२३
वदियर—३१
वसु—१५५
वसुदेव—६७
वहज—६
वात्सायन—२३३, २६७, २६९
वासुदेव गो०—१८८
वासुदेवशरण अग्रवाल—२३, ६०, ६२ १५३
विक्रम—१७१, १८१, १९८
विजयपाल देव—६८, १५५
विजय सखी—२११, २२०
विजयेन्द्र स्नातक—१८३, १८५, १८८, २०१
विट्ठलदास—१८७, १९३
विट्ठलनाथ गो०—८७, ८८,८९, ९०, ९४, ९५, १०९, ११२, १४६, १७७, १७८ १८५, १९०, १९२, १९४, २४८
विट्ठल विपुल—१७१, १७३, १९१. १९२
विल्व मंगल—८६
विलासगढ—१२०
विश्वनाथ चक्रवर्ती—१३७
विष्णुदास—२१६
विष्णु स्वामी—१७१
वीरबल—१९०
वीरसिंह देव—१०५, ११०, ११९, १२२,१२५ १२९ १३३, १३५, १४४, १५५
वेरंज (वेरंभ)—१, २
वैश्य—७८
व्यास जी (हरिराम व्यास)—१३४, १३६,१७१, १७३, १७४, १७९, १८०, १८६, १८७, १९१, २१२, २१८, २२४
व्यास महर्षि—२०, १५८, २१३, २४९
वृंदा—११७, १३१, १३२, १३३
वृंदाबन—९, २४, २६, ३२, ३३, ३४, ३७, ४०, ४१, ४२, ४३, ६२, ७६, ९८, ११६, ११८, १२२, १३०, १३१, १३२, १३३, १३७, १४१, १७६, १७८, १७९, १८५, १९०, १९८, १९९, २२४, २३५, २३६, २४१, २४८, २५१, २५३, २५५, २५७, २७५
वृंदाबनदास—१८२
वृंदाबनदास (चाचा जी)—१७२, १९१, १९४, १९६, १९७, २११, २२०
वृंदाबन देव—२२३
वृहदबन—४१, १४२
वृषभानु—२९, ११८, ११९

शत्रुघ्न—२०, ३१, ३९, १०१, २५१
शांडिल्य—१, २३
शांतनु—२०
शांतनुकुंड—२०, ४२, १०२
शाहजहाँ—७३, २६८
शाहजहाँपुर—१८
शाहपुर—३३
शिकोहाबाद—३५
शीलचंद्र—१५६
शुकदेव जी—२००
शूद्र—८०
शूर (शूरसेन)—१४, २०, ३४, ६७
शूरसेन का गाँव—४, ५, ११
शूरसेन प्रदेश—३, ७, १४, १६, १९, २०, २१
  २३, ६४, ६७, १६२, १६३
शेरगढ़—५, ३३, १२७
शेरशाह—७६, १९०
शेषशायी—६, १०, ४२, १८७
शोडास—१८५
शौरपुर—१४, २१, ३४
शौरसेनी—१६
श्याम (पखावजी)—११५
श्यामचरण दास—१७२
श्यामानंद जी—१३७
श्रीधर स्वामी—२०२
श्रीनाथ जी—२२ ८७, ९३, ९६, ११०, ११२
  ११५, १७८, १८९, १९८, २१३, २१४
श्रीनिवासाचार्य—१०८
श्रीप्रस्थ—६८
श्रीभट्ट जी—१५२, १८०, २२३
संकेत—३२, ४२, १२२
सखी गिरि—२९
सत्यनारायण—५७, ५८
सत्यवती—२०
सत्वत—२०
सतोहा—२०, ३७, ४२, १०२, २५३
सद्दू पांडे—११०
सनातन गोस्वामी—८७. ८८, १०४, १२३,
  १३५, १३७, १९२, २४९
सप्तर्षि टीला—२९
सप्त-समुद्री कूप—१५३
सबी नदी—३३
समाज—१३४, २३६, २३७, २३८, २५७
समुद्र गुप्त—७
सम्राट दीक्षित—१५६
सरस्वती नदी—३२, ३५, १५६, १५८
सरस्वती संगम घाट—३२, १५८
सरसदास—२२५
सहचरिशरण—१९९
सहस्रार्जुन—६७
सहारनपुर—३१, ३३
सांमईखेड़ा—६
सांझी—२५९, २६०
सादाबाद—३४, ५१
सायण—१३४
सिकंदर (यूनानी सम्राट)—७९
सिकंदर लोदी—८२, १५०, १५५. १७६, १९०
सिकंदराराऊ—१५
सिरमौर—३१
सिरसा नदी—३५
सुंदरलाल कायस्थ १३७
सुंदर वट—१९७
सुपार्श्वनाथ—२१, ६४
सुबल श्याम—९३
सुरीर—४१
सुलखान—१९४
सुवाहु—२०
सूर्य—३०
सूर्यपत्तन बन—६, १५
सूरजमल चारण—१६
सूरजमल राजा—८, ७४, १०३, १०५, १०७,
  ११३, ११५, १२६, १४१

सूरदास—२, २४, २८, ३१, ३४, ३६, ३७, ४६, ५७, ६९, १०९, ११४, १४६, १७१, १७४, १७८, १८९, २१२, २१४, २१८, २२८

सूरदास बन—३४

सूरदास मदनमोहन—१३६, २२६

सेंगर नदी—३५

सेंमरी—१३०

सेई—१३०

सेमरख—७६

सेवक जी—१३४, १९१

सेवाकुंज—४३, १३३, १३४

सोन नदी—७

सोनहद—४, ५, ६

सोनहद बन—१५

सौभरि ऋषि—७६

सौराष्ट्र—६५, ६८, १६३

स्वायम्भुव मनु—१९, ६१, १५९

स्मिथ—७०

हंसरस बख्शी—२२०

हमीरपुर—३५

हर्यस्व—६५

हरदोई—१८

हरिदास स्वामी—४३, १३२, १३४, १३७, १३८, १७१, १७४, १७६, १७९, १८०, १८३, १८६, १८७, १८८, १९१, १९२, २२४, २५७

हरिजी गूजर—११३

हरिजीवन—२१६

हरिनाथ—१७२, १९६

हरिनामदास ज़ी—१४४

हरिराम व्यास—(देखिये व्यास जी)

हरिराय गो०—२५, ३१, ९५, २१६, २१७

हरिलाल गो०—१९७

हरिव्यास देव—१५२, २२३

हरिश्चंद्र भारतेंदु—२५, ५७, ७९

हल्लीशक—२०२

हर्ष—७, २३३

हसनगढ़—१५

हसायन—६, १५

हाथरस—३५, ५१

हास्य बन—६, १५

हिंडन नदी—३३

हित दामोदर—१७२

हित हरिवंश—३७, ४३, १३२, १३४, १४१, १७१, १७२, १७४, १७७, १७९, १८५ १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९६, २१७, २३६

हिसार—७९

हुएनसांग—७, १६, ४६, ५१, ८६, ९१

हुमायू—१८९, १९०

हुविष्क—१५७

हूण—७ १५३

हेमू (हेमचंद्र)—७६

होडल—७, १२६

ग्रंथानुक्रमणिका

अंगुत्तर निकाय—२१

अकबरी दरबार—७६

अखबारात दरबार-ए-मुअल्ला—७४

अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास—७९, ८०

अग्रवाल जाति का विकास—६३, ७९, ८०

अथर्ववेद—१, १९

अमरकोष—१

अष्टछाप—३२, ५३, १७८

अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय—५, ६, ७, ११

आईन अकबरी—२६८

आदि पुराण—४२, १०६

आदि वाणी—१८०

आवश्यक चूर्णी—६२

आश्चर्य रास प्रबंध—१९२

इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि—६०

उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—२१

ऋग्वेद—१, १९, ६०, ६३, १६४
ऐंश्येण्ट ज्यागरफ़ी आफ़ इंडिया—८
कल्पसूत्र —२६७, २६९
कामसूत्र—-२३३, २६७
कुंभनदास — ६९
कृष्ण कर्णामृत — १६८
केलिमाल—१७९
गर्ग संहिता—५, ६, १०, २०, २२, २७, ३०, १६८, २०३
गरुड़ पुराण—२२
ग़िलग़िट मैन्युस्क्रिप्ट्स—१३२
गीतगोविंद — १६८
गोपाल तापनी—२०
गोसाईं जी की निज वार्ता—१९४
घनानंद—१२३
चंदसखी का जीवन और साहित्य—१९७,१९८
चतुर्भुजदास — ५५
चैतन्य-चरितामृत—९३, ९४, १०४, १२३, १४५
चैतन्य भागवत—१८२
चैतन्य मत और ब्रज साहित्य—१४
चौरासी वैष्णवन की वार्ता—२, १७९, २१४
छंद प्रभाकर—१६
जंबूस्वामी रास—१६९
जगन्नाथ वल्लभ—१८२
जाठरोत्पत्ति—७०
तारीखे यमीनी — ८
तोफह–उल–हिंद—११
दशरत्न—१३९
दि एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान—१९९
दित्यावदान — १५७
देवी माहात्म्य—१५६, १५७
देशी नाममाला—२६७
दौसौ बावन वैष्णवन की वार्ता—२, ८९, ९५, १४५, १५०, १७७, १९५
धम्म पद—२३३
धर्मबुद्धि मंत्री रास—१६९
नंददास—५९
नागर समुच्चय—२२४
नाट्य शास्त्र— १६४, २०२
नारायण भट्ट चरितामृतम्—१८४
निंबार्क माधुरी— १८०
पद्मपुराण— ९, २०, २२, २८, ३०, ३९, ४०, ६३, ६४, ७१, १५४, १५६, १६६
परमानंदसागर—२, ४६, ५३, ५९, २१४
पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ—११, १९, २३, ३२, १९९, २०४, २०५, २०६
प्रबंध—१९७
बयालीस लीला—१८२
बल्लभीय सुधा—८९, ९४, १७७ १९४
बाल चरित्र—१६८
बीसलदेव रास—१६४
ब्रज और ब्रज यात्रा—९१, ९६, १४४
ब्रज का इतिहास— ५, १८, ६९, ७२, ७५
ब्रज ग्राम वर्णन—९५
ब्रज परिकमा— ९१, ९६
ब्रज भक्ति विलास—५, ६, १४, २६, ४२, ४४, ९४, ९७, ९८, १०३, १३३
ब्रज भारती— १७५, १७७, १८६, १८७ १९६, १९७, २०७
ब्रजभाषा व्याकरण—१८
ब्रजमंडल दर्शन —६
ब्रज मथुरा प्रकाश—९२
ब्रज यात्रा खंड —९२
ब्रज यात्रा श्लोक—९३
ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—५
ब्रज वस्तु वर्णन—२६, २७, ३६, ३७, ३८, ३९, ४२, ४३, ४५, ९५, ११८
ब्रज विलास—२११, २२८
ब्रज विहार—२२८
ब्रह्म पुराण—२८, ६८, १६६

ब्रह्मवैवर्त पुराण—१०, १३१, १३२, १६६, १६८, २१३
ब्रह्मांड पुराण—१४२
भक्त-कवि व्यास जी—१८८, १९२
भक्त-गाथा—१९५
भक्त-नामावली—१८२, १८३
भक्तमाल—८९, ९९, १३५, १८२, १८३, १९२, १९३, १९४, १९५, २०३, २१२
भक्त रस बोधिनी टीका—१५०, २०३
भगवत गीता—६१, ६३
भरतेश्वर वाहु वली रास—१६४
भविष्य पुराण—४२
भविष्योत्तर—९७, २३२
भागवत पुराण—१, ३. १४, १९, २० २४, २८, ३९, ४०, ६६, १०२, १४१, १४५, १४६, १६२, १६३, १६६, १७७, २००, २०२, २०३, २१२, २१३
भागवत माहात्म्य—२३, १०४, १५९, १६०
भारतीय साधना और सूर साहित्य—२०१
भावप्रकाश—१७८, १७९
भ्रमर दूत—१३२
मंजुश्री मूल कल्प—६३
मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमाअर—४, ५, ६, ३२, ४४, ७१, ७७, ८९, १३९, १४२, १४४, १८४, १९९, २०१, २०५
मथुरा कल्प—९२
मथुरा गजेटियर—१५८
मथुरा माहात्म्य (रूप गोस्वामी)—१४,२६,३०
मथुरा माहात्म्य (वाराह पुराण)—४, १४
मध्यप्रदेशीय भाषा (ग्वालियरी)—६९
मनुस्मृति—२३, ६८
मलफुजाते तिमूरी—७३
महापुराण—२१
महाभारत—१, १९, ६४, ६५, ७९
मालती माधव—२३३
मुकुट की लटक—१८०
यजुर्वेद—१
यमुना सहस्रनाम—३०
रघुवंश—४१
रत्नावली—२३३
रसखान रत्नावली—५५
रसिक अनन्य परिचावली—१७२, १९४, १९६, १९७
रसिक अनन्य माल—७६, १८६, १८७, १९३, १९४
राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास—७०
राधावल्लभ शृंगार रस सागर—२१२
राधावल्लभ संप्रदाय—१८४, १८५, १८८, १९६, २२१
रामायण—१, १९
रास कौ प्रसंग—२१७
रास छद्म विनोद—२२१
रास पंचाध्यायी (दामोदर स्वामी)—२१९
रास पंचाध्यायी (नंददास)—२१४, २१५
रास पंचाध्यायी (व्यास जी)—२१८
रासलीला : एक परिचय—२०१
रासलीलानुकरण और श्रीनारायण भट्ट—१८० १८३, १८४
रास सर्वस्व—१७०, १७१, १७४, १७६, १७९, १८०, १८६, १९४, २२०
रेवन्तिगिरि रास—१६९
ललित प्रकाश—१९९
लिंग पुराण—६७
लैटर्स रिटिन इन ए मरहठा कैंप ड्यूरिंग दी ईयर १८०९—१९९
लोकेन्द्र ब्रजोत्सव—९६
वार्ता साहित्य—९०
वायु पुराण—४, ६६, ६८
वाराह पुराण—४, २०, ४२, १३१, १४९, १५८, १५९, १६०, २४७, २४९
वाल्मीकि रामायण—३१, १०१, २५१

विजय मुक्तावली—१४
विनय पिटक—२१
विविध तीर्थ कल्प—२१
विष्णु पुराण—२०, २८, ३१, ४२, ६३, ६५, ७२, १०१, १६५, १६६
विष्णु यामल—९७
वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स—६६
वृंदावन धामानुरागावली—९६, १३३
वृंदाबन महिमामृत शतक—१९२
वृहत् कथा—१४२
वृहत् गौतमी तंत्र—४०
वृहत् ब्रज गुणोत्सव—१४, ९४
शत पथ ब्राह्मण—१९
शृंगार रस सागर—२२०
श्री कृष्ण-जन्मस्थान का इतिहास—१५५
श्री गुसाईं जी की बन-यात्रा ९५
श्री गुसाईं जी की ब्रज-यात्रा—८९, ९४
श्री बल्लभ दिग्विजय—९२
श्री राधाकृष्णोपदेश दीपिका—१३२
श्री राधिका महारास—२२२
श्री सुदर्शन—१८०
श्री हरिवंश चरित्र—१८७
श्री हित हरिवंश गोस्वामी—१६३, १८५, १८७, १८८, २२०
षट् संदर्भ—१२९
संगीत माधव—१९२
संमेलन पत्रिका—२६६
सहस्रनामावली—१२२
साहित्य-संदेश—१७०
सुधासार—१४
सुबोधिनी—१७७ २००
सूर सागर—२, ३, ४०, ४६, ५५, ५९, ६५, ६९, ७३, २१२, २१३
सूर-सारावली—१७८, २१३
स्कंद पुराण—१, २०, ४०, ४२, १०४, २४७
स्मृति सार—४२
हरिवंश—१, १९, २८, ६५, १६५, २०२, २०३
हर्ष चरित्—१६८
हर्ष चरित् : एक सांस्कृतिक अध्ययन—१५३
हस्तामलक—१८८
हिंदी नाटक : उद्भव और विकास—१६१
हिंदुस्तान (साप्ताहिक)—१८
हित चतुरासी—२१७
हिस्ट्री आफ दि जाट्स—७०, ७१, ७२, ७३

२. ब्रज का इतिहास

नामानुक्रमणिका

नाम पृष्ठांक
अंतलिकित—७५
अंधक—८, ९
अंबिका बन—३
अकबर—१२५, १४७, १४९, १५३, १५४, १५७, १६२, १६३, १६६, १६७, १६८, १६९, १७१, १७५, १७६, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९२, १९३, २०१, २०३, २०४, २०६, २१०, २१२, २१३, २३१, २४६, २५८, २६१, २६२,
अक्रूर—४१
अगरचंद नाहटा—२०४
अगस्त्य मुनि—५५, ५६
अग्निमित्र शुंग—७४
अग्रसेन—९६
अच्युतदास—१५५
अजयपाल—१३०
अजमेर—१३३, १३४, १४४, १८१
अर्जुन—११
अर्जुनदेव—१९५
अड़ैल—१८४
अतरंजी—२, ६३, ७३, ११६
अनंगपाल—१३३, १३४, १४३, १४४
अनिरुद्ध—४८, ५१
अफजलखाँ—२१५, २१६, २६०
अबुलफजल—१७०, १७९, १८०, १८९, १९३, १९४, २०३
अब्दुल्ला—१५३
अब्दुलनवी—२१९, २२०, २३०

नाम पृष्ठांक
अब्दुर्रहीम—(देखिये रहीम)
अमरलाल—२८१, २८४
अमरसिंह—२१४
अमृतकौर—२५६
अमृत वसंत पंड्या—४८
अमोलकराम—२९४
अयोध्या—७४, १०१
अरस्तू—१७५
अरिष्टनेमि—१३
अलउत्वी—७२, १२५, १२६, १२८, १३९
अलबेरुनी—१२१, १४१
अलमसूदी—१२१
अलाउद्दीन खिलजी—५६, १४५, १४९, १५२
अलीकुलीखाँ—१६३
अलीखान—१९२, २६२
अलीगढ़—६३, २६३, २६४
अलीबहादुर—२५४
अवंति—५७, ५९
अवंतिपुत्र—५८, ६९
अवधदास—२९३
अर्वली—२
अशोक—२, ६४, ७२, ७३, १०८, ११५, १३९
अश्वघोष—९२
अष्टछाप—१६४, १८४
असदबेग—१९१
असलम शाह—(देखिये इस्लाम शाह)
असीरिया—४९
अहमदशाह अब्दाली—२२८, २३५, २३६ २३७, २३८, २३९, २४०

अर्हद्दास—६९
अहिच्छत्रा (वर्तमान रामपुर)—६३
अहिल्याबाई होलकर—२५४
आंगिरस—१३, ४४
आगरा—२, ११६, ११७, १४३, १४७, १५५, १५९, १६८, १६९, १७१, १७६, १८०, १८१, १८८, १९०, १९१, १९३, १९५, १९७, २०५, २०७, २१०, २१२, २१४, २१५, २१७, २२०, २२१, २२५, २३८, २३९, २४१, २४७, २४९, २५८, २६३, २६४
आजमशाह—२२४
आजाद—१६२, १७४
आदिलशाह—१६१, १६२, १८०
आनंद—४, ६१, ६७, ७३
आनंदीबाई—२९२
आनर्त्त—५, ८
आभीर—३२, ३४, ५२
आर्य भट्ट—११
आयामल्ल—२२७
आलमगीर (द्वितीय)—२२८, २३६
आलवार—३३
आल्हा-ऊदल – १३५
आशीर्वादीलाल—१२४, १२७, १३७, १४९
आसकरन—१६०
इंद्रप्रस्थ—६२, १४३
इब्न बतूता—१४६
इब्राहीम लोदी—१४४, १४८, १५६, १५८, १५९
इमदाद खाँ—२३६
इल्तमश—९९, १४४, १४८
इस्लाम शाह—१६१, १६२
ईश्वरीसिंह राजा—२३४
ईशान वर्मन—१११
ईसा खाँ—२०८
ईसापुर—९४, २११
ईश्वरपुरी १६५
उग्रसेन—८, ९, ३५
उज्जयिनी—(उज्जैन) ८६, ९०, १०१, २०२, २६८
उड़िया बाबा—२९२
उत्तानपाद—३
उदयन—५८, ५९
उदयप्रकाश—२८६
उदिताचार्य—१०१
उदितोदय—६९
उपगुप्त—६१, ६४, ६९, ७३
उरुमुंड पर्वत—(देखिये रुरुमुंड पर्वत)
उषा—४८
ऋषभदेव—३, ४, ६८
एटा—६३, ७३
एमहर्स्ट—२५६
एरियन—१६, १७
ओरछा—२०३
औरंगजेब—१५६; १५७, १९०, २०५, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २३०, २३२, २५८, २५९, २६२, २७६
कंकाली टीला—६४
कंनौज़—६२, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, १३०, १३१, १३७, १३९, १४३, १४७, १४९, २०३
कंबोजिका—६७, ८७
कंस—८, ९, २९, ३५, ४१
कनिंघम—७२, ११६
कनिष्क—९२, ९४, ९७, ११५
कन्हैयालाल पोद्दार—९३, २७९, २८०
कर्मचंद—१८२
कँवरमियर—२५६

करौली—५७, १२६, १३०
कल्याणदास—२१८
कल्याण भट्ट—२०१
कल्हण—६४, ११६
कांतिपुरी—६६
कात्यायन—५८, ६६
कान्यकुब्ज—(देखिये कन्नोज)
कामबन—३७, १३०, १४८, २६४
कालयवन—४५
कालिदास—१०१, ११०
कालिय नाग—३८, ३६
काशी—१५१, १८४,
काशीपुत्र भागभद्र—७४, ७४
काशीप्रसाद जायसवाल—७८, ६७, १०३
कासिम खाँ—१६६
किशोरीदास—२६४
किशोरी रानी—२४३
किशोरीलाल गो०—२६४
कुंदनलाल शाह (ललित किशोरी)—२६६, २७७
कुंभनदास—१५५, १५६, १६४, १८६, १६०, २६२
कुम्हेर—२३३, २४८, २४६, २६४
कुजुल कडफाइसिस—६१
कुतुबुद्दीन एबक—६६, १३७, १३८, १४३, १४४, १४८
कुरु—२
कूलचंद (कुलचंद्र)—७२, १२६, १२७, १२८, १२६, १३०, १३६, १४८
कृपाशंकर—२८०, २८१
कृष्ण—४, ८, ६, १०, १२, १३, १४, १६, १७, २२, २६, २७, २८, ३२, ३४, ३५, ४०, ४१, ४८, ४६, ५२, ५४, ६८, १०६
कृष्ण कवि—२२६
कृष्ण गंगा—२८६
कृष्णचंद्र सिंह—(देखिये लाला बाबू)
कृष्णदत्त बाजपेयी—६, ६, ६४, ७२, १०५, १२२, २२८
कृष्णदास (अष्टछापी)—१६४
कृष्णदास कविराज—१६५
कृष्णदास (सिद्ध बाबा)—१७५
कृष्ण शास्त्री—२६३
कृष्णसिंह—२५७
केशव काश्मीरी भट्ट—१५०, १५१, १५२, १५४, १६६
केशवदास—१७७, १७८
केहरीसिंह—२४८
क्राइस्ट—२७
क्लीसीवोरा—७१, ७२
खनुआँ—१५६
खुर्रम—(देखिये शाहजहाँ)
खुशरू अमीर—१४५, १६०
खुशरो—१७१, १६३, १६४, १६५, १६६, २०६
गंग—१७८, १६०
गंगल भट्ट—१५०
गंडदेव—१३०, १३१
गर्ग मुनि—४५, ७८
ग़ज़नी—१२४, १३०, १३७
गढ़ा—१८५
गणपति नाग—६७
गणपतिराव सिंधिया—२८७
गर्दभिल्ल—८६
गदाधर भट्ट—३४
गयासुद्दीन बलबन—१४५
गिरिधर जी—२००
गुणभद्र—१४
गुनसार—२५५
गुरुसहाय मल—२७६
गुलाम कादिर—२५१, २५२
गोकर्णेश्वर—६५, ६६, ६१, ६७

गोकुल—३६, १६४, १७१, १७६, १८२, १८५, १८६, २०१, २०४, २३८, २६२
गोकुलदास पारिख—२५३, २६८, २६९, २७०, २७६
गोकुलनाथ गो०—२००, २०१, २०२, २११
गोकुला जाट—२२०, २३०
गोपालदास ब्यारा वाला—२०१
गोपाल नायक—१४५
गोपाल भट्ट—१६४
गोपाललाल गो०—२८१, २८८, २९५
गोपीनाथ गो०—१६४, १८४
गोपीनाथ जी—१७८
गोबर्धन—३७, ३९, ६४, ६५, १५०, १५६, १६३, १६७, १७१, १८३, १८४, २०४, २२१, २३५, २४२, २४३, २४७, २५६, २६२, २६४, २७५
गोविंदचंद्र—१३२
गोविंददास सेठ—२७०, २७१, २७२, २९३
गोविंद स्वामी—१६४, १८०, २०४
गौरांगदास—२९२
गौस मुहम्मद—१७९, १८०
ग्वारिया बाबा—२९१
ग्वालियर—१०५, १०६, ११६, १३८, १४७, १५८, १६१, १६८, १७९, १८०, २६९, २७०, २८७
ग्रह वर्मन—१११, ११२
ग्राउस—२०, २३, २७, ६४, ६५, ७२, ११७, १२६, १५३, २७६, २८६
घन आनंद—२२८, २३८
घनश्याम दास—२७९, २८०
चंगेज खाँ—१५७
चंड प्रद्योत—५९
चंद—१३३, १३५, १३७
चंदवार—१३८, १४२
चंद्रगुप्त (प्रथम)—९८
चंद्रगुप्त मौर्य—१२, १६, ७०, ७१, ७५, ७७, ७८, ८१, १०८
चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—९६, १००, १०१, १०२, १०३, १०७, १०९, ११५, १२८, १३३
चंपारण्य—१५१
चतुर्भुजदास—१६४
चतुर्भुज ब्राह्मण—१९०
चरणाट—१८४
चष्टन—९२
चाणक्य—७०, ७१, ७७, ७८, ८४, १०८, १७२
चिंतामणि—२१०
चित्रलेखा—४८
चूड़ामन—२३२
चैतन्य महाप्रभु—१४७, १५०, १५१, १५४, १६४, १६५
चौबारा टीला—२
चौमुहाँ—२३६
छीत स्वामी—१६४, १७६
जंबू स्वामी—६९
जगन्नाथ पंडितराज—२१०
जगन्नाथ पुरी—१५१
जगनिक (जगनायक)—१३५
जज्ज (यज्ञ)—१३२
जतीपुरा—१८६
जदरूप गो०—२०२
जनमेजय—५३
जयचंद्र—१३२, १३३, १३४, १३७, १३८, १४२, १४३, १५८, १६२
जयनारायण—२७९
जयपाल—१२४
जयसिंह मिर्ज़ा—२०८, २१४, २१५, २१६, २१७, २२०, २२१; २२६, २५९
जयसिंह सवाई—२२५, २२६, २२७. २३३. २६१, २६२

जयेन्द्रपाल (इंद्रपाल)—१२९, १३०
जरासंध—९, २९, ४५, ४७, ७०
जवाहरसिंह—२३६, २४१, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २५५, २६१, २६२
जहाँगीर—१५३, १५७, १६९, १८७, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०६, २१०, २५८
जहाँनारा बेगम—२०७, २१२
जाजऊ—२५४
जायसवाल—(देखिये काशीप्रसाद जायसवाल)
जायसी—१५४
जिभौती—३६
जनसेन—१४
जीव गोस्वामी—२४, १६५
जैसलमेर—१२३
जोधाबाई—१८७, १९६
जोरावर—२३२
टेवर्नियर—२०५
टोडरमल राजा—१७०, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७८, १८७, १९०, १९१, १९२, २५८
टोडर साहू—१७५, १८२
डीग—२२९, २३३, २४२, २४३, २४४, २४८, २४९, २६४, २६५
डेविड ग्राक्टर लोनी—२५६
तक्षक नाग—५३
तक्षशिला—५३, ६२, ७५, ८७, १०५
ताज बीबी—१७७, १८७, २६२
तानसेन—१६१, १६६, १७०, १७९
तुकोजीराव होल्कर—२४८, २४९, २५४
तुलसीदास गो०—१८७
तैमूर लंग—१४६, १५७
तोरमाण—१०४, १०५
थार्नहिल—२६५, २७२
थानेश्वर—१११, ११२, ११३, ११६, १३६, १३९
थूण—२२९, २३०
दयाकुशल—१८२
दयानंद स्वामी—२८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २९५
दयाशंकर दुबे—२८५
दामोदर दास—२७३
दारा—२११, २१२, २१९, २३०, २६२
दाहर—१२३
दृषद्वती—२
द्वारका—१२, ४६, ४७, ५१
द्वारकादास—२७३
दिल्ली—१०३, १३१, १३३, १३७, १४३, १४४, १४५, १४६, १५९, १६२, १६८, १९०, २०७, २१०, २२८, २३४, २३६, २४१, २४५, २४६, २५५, २५८, २६३, २६५, २६९
दुर्जनशाल—२५६
दुर्गादत्त—२९३
दुर्गावती—१८५
दुलारेप्रसाद—२९३
देवकी—९, १३, १४, ३५
देव गिरि—५६, १४५, १४६
देव गुप्त—११३
देबबन—१६५
दो प्याजा मुल्ला—१७०
दौलतराव सिंधिया—२५४, २५५, २६८, २७०
दोलतखाँ लोदी—१५८
धर—४७
धरणीधर—२९४
ध्रुव—३
धौलपुर—२४२, २४४
नंदकुमार वसु—२७६
नंदगांव—३७, १६४, २७६
नंद गोप—३६

नंददास—६४, ८७
नंदराम—२४०
नजफखाँ—२४९, २५०
नजीबुद्दोला—२३६, २४१, २४५, २४७
नरवर—११६
नरवाहन—१६५
नरहरि कवि—१८३, १९०
नल्ह कवि—१३२
नवद्वीप—१५१
नवलदास—१६२
नवलसिंह—२४३, २४९
नाग—९५
नाग भट्ट—१२०
नाग यज्ञ—५३
नागसेन—२१०, २२७, २६८
नादिरशाह—२१०, २२७, २२८
नाभा जी—१५१
नारायणदास—२७३
नारायण भट्ट—१६५
नारायण स्वामी—२८७
नालंदा—६२, १०३, १३८
नाहरसिंह—२४३, २४४
निंब ग्राम (नीमगांव) १५०
निंबार्क शरण—२९०
निंबार्काचार्य—१५०
निजामुद्दीन—१४८
नित्यानंददास—२९२
निवाज—२२४
नूरजहाँ—१६६, १९९, २००, २०६
पंचाल—२
पर्जन्यदामा—१४८
पटनीमल—२७८
पटियाली—१४५
पतंजलि—७४
पद्माकर—२५४
पद्मावती—९६, ९७, ९९
पद्मिनी—१४५
परमर्दि (परमाल) १३५, १४२
परमानंददास—१६४
पाटलिपुत्र—६२, ७४, ७५, ८४, ९४, १०१, ११०, ११४, १४३
पाढ़म—५३
पाणिनि—१३, ७४
पानीपत—१५८, १६३, २३९, २४०
पार्श्वनाथ—६८
पिलोशना—२, ६३, ६४, ७३
पीरजादी—१९२, २६२
पीराँ उस्ताद—२०८
पुंडरीक विट्ठल—१७१
पुरुषपुर (पेशावर) ९४
पुरुषोत्ताम जी—१८४
पुरुषोत्तमलाल गो०—२८४
पुष्कर—२४७
पुष्यमित्र शुंग—७४
पूरनमल खत्री—१५५, १६२
पृथ्वीराज—१३३, १३४, १३६, १३७, १४२ १४३, १४४, १६२
पृथ्वीराज (अकबर के दरबारी)—१८७, १९०
प्रतापसिंह—२३३
प्रतिष्ठान—६२
प्रतीतराय लक्ष्मणसिंह—२०४
प्रद्युम्न २५, ४८
प्रभाकर वर्धन—१११, ११२
प्रभावती गुप्ता—१००
प्रयाग—६२, ९९, ११४, १९५
प्रसिद्ध कवि—२०१, २५५
प्रियव्रत—३
प्रियादास—१५१
प्रियाशरण दास—२९२
फकीरुल्ला १४५, २२२
फतहपुर सीकरी—२, १६९, १७०, १८४, १८८, १९०

फरिश्ता—१२५, १२६, १२७, १४८, १५३, १६१
फर्रुख नगर—२४१, २४४
फर्रुखाबाद—९६
फर्रुखशियर—२३२, २३३
फाहियान—७२, १०१, ११६
फीरोज तुगलक—१४६, १४७, १४८, १४९
फुंदनलाल शाह (ललित माधुरी)—२३७
फैजी—१७०, १८९, १९०
बंगाल—१६४
बख्शू—२१०
बख्तियार खिलज़ी—१३८
बटेश्वर—८, ११, ७२
बदनसिंह—२३३, २६२
बदायूनी—१४८, १६१, १७६
बनमाली बाबू—२८९, २९२
बर्नियर—२०५
बनारसीदास—१९४
बयाना—२, ४८, १२९, १३० १३८, १५९
बरसाना—३७, १६४, २४३, २४६, २७६
बरहद—६३
बल्लभगढ़—२३६
बलदेवसिंह—२५५, २५६
बलबन—१४४
बलराम—८, ९, ३६, ५०, ५१
बलराम जाट—२४३, २४४
बलवंतराब सिंधिया—२८७, २९२
बलवंतसिंह—२५५, २५६, २६४
बल्लभाचार्य—१४७, १५०, १५१, १५४, १५५, १५६, १६४, १८४, २०४
बहादुरशाह—२२४, २३२, २६५
बाजीराव पेशवा—२२६, २५४
बादलसिंह—१६९
बाबर—१४८, १५७, १५८, १५९, १६८, १८०, १८१, १९२, २०३
बिहारीमल राजा—१६७
बिहारीलाल कवि—२१६
बिहारीलाल रासधारी—२९०
बुद्ध—२, ४, ५७, ५८, ६०, ६२, ६४, ६७
बुद्ध गुप्त—१०४
बुद्ध प्रकाश—१४२
बेदारबख्त—२३१, २३२
बेबदल खाँ—२०९
बैरम खाँ—१६२, १६३, १६७, १७७, १८१
ब्रज—२, २०, २४, १४८, १५१, १५९, १६४, १८२, २००, २०२, २१०, २११, २१२, २१९, २२०, २२१, २२२, २२८, २२९, २३०, २३२, २३३, २३४, २५०, २५२, २५५, २६१, २६२, २६५, २६७
ब्रजमंडल—१४८, १५९, १६३, १६९, १८२, १९१, १९९, २५४, २५५, २५८, २६३
ब्रजेन्द्रसिंह—२५७
ब्रह्म गुप्त—११
ब्रह्मर्षि प्रदेश—२
ब्रह्मावर्त प्रदेश—२
भंडारकर डा०—१८, १९, ३२
भागवत मुदित—१६२
भगवानदास राजा—१६८, १७०, १८३, १८७, १८९, १९०, १९४, २२६
भज्जासिंह—२३१
भरत—३, ७६
भरतपुर—२, २२९, २३२, २३८, २४१, २४२, २४३, २४४, २४७, २४८, २५०, २५५, २५७, २६३, २६४, २६५
भरतसिंह उपाध्याय—६३
भव नाग—९६
भवभूति—११९
भवानीसिंह राजा—२९१
भातखंडे—१४५

भानु गुप्त—१०४
भास—१३
भीमदेव— १३१
भूगर्भ—१६५
भूधरदास—२२७
भूषण कवि—२१७, २१८
भैंगाँव—१६५
भौमासुर—२९, ४८
मंगीलाल मुनीम—२६६, २७३
मणीन्द्रचंद्र नंदी—२९२
मत्स्य—२
मथुरा—२, ४, ६, ८, ९, ३३, ३५, ४४, ४५, ५३, ५४, ५५, ५८, ६०, ६२, ६३, ६४, ६७, ६८, ६९, ७१, ७२, ७४, ७५, ७७, ८५, ८७, ९०, ९४, ९६, ९७, ९९, १०५, ११६, १२६, १२७, १३३, १३९, १४०, १४५, १४६, १४७, १४८, १५०, १५१, १५४, १६३, १६६, १६९, १८१, १८२, १८५, १८६, १९०, १९१, १९२, १९५, १९९, २००, २०२, २०३, २०४, २०५, २११, २१९, २२१, २२५, २२८, २३६, २३७, २३८, २४३, २५२; २५५, २६३, २६४, २६५, २७२, २८५, २८९
मथुरा राज्य—८५, ८७, ९१, ९४, ९७,१०९, ११६, ११७, १२१, १३०, १३९, १४०, १४८
मघु—५, ७
मधुकर शाह—२०३
मधुबन—३, ५, ६, ८, ३५
मधुरा—६
मधुसूदन गो०—२८७, २८८
मनीराम—२६९, २७०
मनु—२
मनूची—२०५, २३१
मनोहर—१९०
मल्हार राव होलकर—२४५, २४६, २४७
मस्तानी—२५४
महमूद ग़जनवी—७२, ९३, १०६, १२३, १२४, १२५, १२६, १३०, १३५, १३६, १४०, १४८
महापद्मनंद—७०
महाबन—३७, ७२, १२६, १२७, १३०, १९१, २२०, २३८
महाभारत युद्ध—५०
महावीर स्वामी—५७, ६७, ६८
महिपाल—१२१
महेन्द्रपाल—१२१
महोली—६, ३५
मांट—९१, ९४
माध्यमिका—७५
माधव जी (महादजी) सिंधिया—२४८ २५१, २५२, २५३, २५४, २६१,२६२,२६३
माधवराव पेशवा—२४८, २४९
माधवलाल—२८१, २९५
माधवसिंह—१७१
माधवसिंह राजा—२४७
माधवेन्द्र पुरी—१५०, १५४, १५५, १६५
मान्धाता—७६
मानबाई—१९४, १९६
मानसिंह तोमर—१४७, १६८
मानसिंह महाराजा—१६८, १७०, १७१,१७२ १७६, १८३, १८७, १८९, १९३, १९४, २०८, २२५, २२६, २५८
माहिष्मती—५, ५९, ८१
मित्र मिश्र—२०४, २०५
मिन्हा जुस्सिराज—१२५
मिनेंडर—७५
मिहिरकुल—१०५, १०६, १०७
मिहिर भोज—१२१
मीरजा खाँ—२२४

मुचकुंद—४६
मुमताज महल—२०६, २०७
मुरसान—२२९
मुराद—२११, २१२
मुलतान—१३६
मुर्शिदकुली खाँ—२२९
मुस्तफ़ाबाद—११७
मुहम्मद कासिम हिंदू शाह—(देखिये फरिश्ता)
मुहम्मद गोरी—६३, १३३, १३५, १३६
    १३७, १३८, १३९, १४३, १४४
मुहम्मद तुगलक—१४६
मुहम्मद शाह—२१०, २२५, २२६, २२७,
    २२८, २२९, २६२
मेगस्थनीज—१२, १६, ७१, ८४
मेघनाद शाह—९२
मेरठ—१२६, १२७
मैनपुरी—११७
मोतीचंद्र डा०—६२
मोहकम—२३३
मोहनजोदड़ो—२
यक्ष—६१
यदु—५
यदुनाथ ग़ो०—१५२
यमुना—२, ६, ३५, ३७, ७२
यशवंतराव होलकर—२५४, २५५
यशवंतसिंह—२१४, २१५, २१६, २२०,
    २२१, २६०
यशवंतसिंह (जाट राजा)—२५६, २८९
यशोधर्मन—१०६, १०७, १११
यशोवर्मन—११९, १२३
रघुनाथदास गो०—१६५
रणजीतसिंह—२४३, २४८, २४९, २५०,
    २५१, २५५, २६३
रणधीरसिंह—२५५
रमणलाल गो०—२८५, २८६
रतनसिंह—२४३, २४८
रसखान—१७८, २६२
रहीम—१६७, १७०, १७१, १७७, १७८, १८७
    १९०, १९३, २६२
रांगेय राघव—२
राज्यपाल—१३०, १३१
राज्य बर्धन—११२, ११३
राज्यश्री—१११, ११२, ११३, ११४
राजगृह—६२, ६९, १११, १४३
राजशेखर—१२१
राजसिंह—२२१
राजाराम—२३०, २३१
राजुबुल—६७, ८७
राजुलमती (राजीमती)—१३
राधा—२२, २३, २४, ३२
राधाकुंड—१६५, २८९
राधाकृष्ण सेठ—२७०, २७१, २९३
राधाचरण गो०—२८७, २८८, २९५
रामकृष्णदास बाबा—२९२
रामगुप्त—१००
रामचंद्र राजा—१८०
रामदास (काठिया बाबा)—२९०
रासदास चौहान—१५५, १५६, १६४
रामदास बाबा—१६१
राम शाह—२०३
रामसिंह—२१६, २१७
रामसिंह—२५७
राय पिथौरा—(देखिये पृथ्वीराज)
रास—४०
राहुल सांकृत्यायन—१६२, १७२, १८७, १८८
रुद्रसेन द्वितीय—१००
रुरु (उरु) मुंड पर्वत—६१, ६४, ६५, ६६,
    ६७
रूप गोस्वामी—२३, २४, १६५
रूपराम कटारा—२४३, २४९

रूपानंद गो०—२४८
लक्ष्मण ज्योतिषी—२९३
लक्ष्मणदास—२७२, २७३
लक्ष्मण सेन—१३८, १४२
लक्ष्मीचंद—२६९, २७०, २७१, २७२
लक्ष्मीनारायण—२७९, २८०
लक्ष्मी रानी—२५५
ललितादित्य—११९
लवण—५, ६, ८
लाला बाबू—२७५
लेक—२५५, २६३
लोकनाथ—१६५
व्यास (कृष्ण द्वैपायन)—१७
वज्र गुप्त—१०४, १०६
वज्र (वज्रनाभ)—५१, ५४
वराह मिहिर—११
वसु—८७, १०९
वसुदेव—८, ९, १३, १४, ३५
वसु मित्र—९२
वाक्पति—११९
वाणभट्ट—३३, ११४, ११५
वाणासुर—४८
वाराणसी—६२
वासवदत्ता—५९
वासवदत्ता (मथुरा की गणिका)—७३
वासिष्क—९४
वासुदेव—९४, ९६, ९७
वासुदेवशरण अग्रवाल—६१
विक्टोरिया—२५७, २६६
विक्रम शिला—१३८
विक्रमाजीत—८८, ८९, ९०, १८०
विक्रमादित्य—१५८
विग्रहपाल (चतुर्थ)—१३४
विजयपाल (विजयचंद)—१३२, १३४, १४६, १४७, १४९, २०३
विजयपाल यादव—५७, १२९
विट्ठलनाथ गो०—३७, १६४, १७६, १७७, १८०, १८२, १८४, १८५, १८६, १९२, २००, २०१, २०४, २६२
विदिशा—७४, ७५, ९५, १०१
विनायक चिंतामणि वैद्य—१९, २७, १००
विम तक्षम—९१, ९२, ९४, ९७
विरजानंद दडी—२८२, २९३, २९५
विशनसिंह राजा—२३१, २३२
विशाखदत्त—१००
विषमशील—९०, १०७
वीरबल—१७०, १७३, १७५, १७६, १८३, १८७, १८९, १९०, १९३
वीरसिंहदेव—२०३, २०४
वीरसेन नाग—९६, ९७
वेरंज (वेरभ)—६०, ६१, ६२, ६६
वैर (वयर)—२, २३३
वैराट—११६
वैशाली—६७
वृंद कवि—२२२
वृंदाबन—३७, ४१, ७२, १२८, १६४, १६५, १७१, १८६, १९०, २०४, २२१, २२५, २२८, २३३, २३७, २३८, २४३, २४८, २५०, २५५, २७६, २७७, २८९
वृंदाबनदास (चाचा)—३४, २३८, २५०
शंकर बालकृष्ण दीक्षित—१०
शत्रुघ्न—६, ८, ३५
शर्व नाग—९७, ९९
शशांक—११३
शशिभूषणदास गुप्त—२५
शहरयार—२०६
शाँडिल्य—५४, ७८
शाणक वासी—६७, ७३
शायस्ता खाँ—२१५, २१६, २६०
शालिवाहन—९३, १०७

शाह आलम—२२८, २४१, २४९, २५१ २६२
शाहजहाँ—१४३, १५७, १६९, १९०, १९५, १९९, २०२, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २२९, २३०, २५८
शिकोहाबाद—११७
शिवाजी—२१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २३९, २५९, २६१
शिवप्रकाश—२८१, २८२
शुजा—२११, २१२
शूर—८
शूरसेन—२, ४, ६, ७, १६, ४५, ४७, ५३, ५४, ५५, ५७, ६८, ७१, ७३, ७४, ७७, ८५
शेख सलीम चिश्ती—१६९
शेर अफगन—२०६
शेरशाह—१६०, १६२, १६६, १६८, १८१, २०३
शोडास—८७, १०९
शोणितपुर—४८
शोभावती—१७७
शौर (शौरी) पुर—८, ९, १३, ५५
श्यामदास—२९०
श्यौपुरी—११६
श्रावस्ती—६०, ६१, ६२, ११३
श्रीनाथ जी—१५१, १५४, १५५, १५६, १६३ १६४, १८३, १८४, २०४, २२१
श्रीनिवासदास—२७३, २७४
श्रीभट्ट जी—१६६
संकाश्य—६२, ७४
संघदास—गणिवाचक—१४
संतदास (काठिया बाबा)—२९०
संयोगिता—१३४, १३६
सत्यप्रकाश—७९
सदारंग-अदारंग—२२५
सदाशिवराव भाऊ—२४०
सद्दू पांडेय—१५५, १५६
सनातन गोस्वामी—२३, २४, १६५
समुद्र गुप्त—९४, ९७, ९८, १०२, १०७, १११, १३३, १४४
समुद्र विजय—१३
सरस्वती—२, ३
सलीम—(देखिये जहाँगीर)
सलेमाबाद—२९०
सहार—२३३
सांगा (संग्रामसिंह)—१५८, १५९
सांव—४९
सांदीपनि—४४
सातवाहन—३३
सादाबाद—२६३, २६४
सासदास—२०४, २७९
सिकंदर—७०, ७५, ७६, ७७
सिकंदर लोदी—१४७, १४९, १५१, १५२, १५३, १५४, १५६, १६४, १६८, १७४, २०३, २९९
सिकंदर शाह सूर—१६२
सिकंदराराऊ—६३
सिंघु—२
सिनसिनी—२२९, २३०, २३२
सीही—५३
सीकरी—(देखिये फ़तहपुर सीकरी)
सुंदर कवि—२१०
सुंदरदास—१७८
सुदर्शनाचार्य—२९४
सुघर्मा स्वामी—६९
सुपार्श्वनाथ—४, ६८
सुबुक्तगीन—१२३
सुवाहु—५५, ५८
सूदन—२३४, २४३
सूरजमल (सुजानसिंह)—२३३, २३४, २३५. २३८, २३९, २४०. २४१, २४२, २४३, २४४, २५५, २६१, २६२

सूरदास—३४, १६४, १८६, १९०, २६२
सूरदास मदनमोहन—१९०
सोमनाथ—१३१
सोमेश्वर—१३४
सोरों—६२, ६३, २०१
स्कंद गुप्त—९७, ९९, १०४, १०५, १०७
स्कंदल—९७
स्वयंभू—१४
स्वायंभुव मनु—३
हंसा रानी—२४३
हड़प्पा—२
हमीदाबानु १८१, १८५
हरपाल—१३०
हरप्रसाद सेठ—२८९
हरिदत्त—१३०
हरिदास स्वामी—१६६, १७९, १८६, १९० २६२
हरिराज—१४२
हरिराय गो०—२११, २२१
हरिव्यास देव—१६६
हरिश्चंद्र भारतेन्दु—२७४, २८२, २८८
हरिशेष—९९
हरीसिंह—२२७
हर्षवर्धन—१११, ११२, ११४, ११५, ११७ १३९
हसनअली—२२०
हाथरस—२२९
हाल सातवाहन—९३
हित हरिवंश—१६५, १७८, २०४
हिम्मतबहादुर गो०—२५२, २५३, २५४
हरिविजय सूरि—१८४
हीरामन—१५५
हीरासिंह—२६६
हुएनसांग—२, ६१, ६३, ६४, ६५, ७२, ७३, १०६, १११, ११३, ११४, ११५, ११६
हुमाम हकीम—१७०
हुमायू—१६०, १६२, १६५, १६६, १६८, १८०, १८१, २०३
हुविष्क—९४
हेमू (हेमचंद्र)—१६०, १६२, १६३
होलियोदोर—७५

ग्रंथानुक्रमणिका

अंगुत्तर निकाय—४, ५७, ६०, ६१
अंधकार युगीन भारत—९५
अकबर—१६२, १७०, १७२, १८२, १८३ १८७, १८८, १८९, १९१, १९२
अकबरनामा—१६७, १७९, १८०
अकबरी दरबार—१६१, १६२, १७२, १७४, १७५
अकबरी दरबार के हिंदी कवि—१७४, १७५, १७७
अखबारात-दरबारे मुअल्ला—२३१
अग्निपुराण—२१
अथर्ववेद—७७
अर्द्ध कथानक—१९४
अलंकार प्रकाश—२९०
अलंकार मंजरी—२८०
अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया—८१
अवेस्ता—७
अष्टछाप—१७६
अष्टछाप परिचय—१५४, १५६, १८६, २०१
आईने अकबरी—६४, १७१, १७३, १९०
आचार्य परंपरा परिचय—१५०, १५२
आज—७८, ७९
आनंदकंद चम्पू—२०४, २०५
आन युवानच्वांग्स ट्रेवल्स इन इंडिया—६१, ६५
आरक्योलोजीकल रिपोर्ट—६

आरति पत्रिका—२५०
आल्हखंड—१३५
इंडिका—१६, १७, ७१
इतिहास राजस्थान—१२४
उज्जयिनी दर्शन—२०२
उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—४, ६२, ७७
ऋग्वेद—८, १२, ७८
ऋग्वेद भाष्य—२८५
ऋग्वेद भाष्य भूमिका—२८५
ऐंशिएण्ट इंडियन हिस्टोरीकल ट्रेडीशन—१
ऐंशिएण्ट ज्यागरफी आफ़ इंडिया—११६,११७
ऐतरेय ब्राह्मण—५५
ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह—१६८
ओड़छा स्टेट गजेटियर—२०३, २०४, २०५
कवि विनोद—१८४
कथा सरित्सागर—८९
कल्याण (कृष्णांक)—२८, ३०
कल्लोल—२०१
कांकरौली का इतिहास—१८६
काव्य कल्पद्रुम—२८०
किताब-उल-यमीनी—१२५
कुंभनदास—१५६
कूर्म पुराण—२१, ११३
कौटिलीय अर्थशास्त्र—७१
खज़ाने इसरार—१७४
खुद्दक निकाय—१४
गंगा लहरी—२१०
गर्ग संहिता—२४, २६, ३०, ३४, ५५, ५८
गाहा सत्तसई—३३, ८९
गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स—६१
गुप्त इंसक्रिप्संस—९७
गोपालतापनी उपनिषद्—२४
गौड़वहो—११९
घट जातक—१६, ६५
चैतन्य चरितामृत—१५०, १६५
चौरासी वैष्णवन की वार्ता—१७५, २०४
छांदोग्योपनिषद्—१०, १३
जगन्नाथ वल्लभ नाटक—२९०
जहाँगीर का आत्मचरित—१९६, १९७,१९८, १९९, २००, २०२
ज्ञाता सूत्र—४७
टाइम्स आफ इंडिया (विशेषांक)—८१
टोडरानंद—१७४
डायनेस्टीज आफ दि कलि एज—५४
तबकाते अकबरी—१५३
तबकाते नासिरी—१२५
तारीख–उल–हिंद—१२५
तारीखे फ़रिश्ता—१२५, १५३
तारीखे दाऊदी—१५३
तारीखे यमीनी—१२६
तुजुके जहाँगीरी—१९८
तैत्तिरीय आरण्यक—१३
तोहफतुल हिंद—२२४
त्रिवेणी—२१७, २६०
दिल्ली या इन्द्रप्रस्थ—६२
दिल्ली सल्तनत—१२४, १२८, १३८, १४९
दिव्यावदान—६१, ६७
दी वैदिक एज—५५
देवी चंद्रगुप्तम्—१००
देवी भागवत—२४
देशबंधु—३४
दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता—१७६, १८० १८६, १९२, २०४
धर्मयुग—२१९, २२२
नगर शोभा—१७८
नागानंद—११४
नागरी प्रचारिणी पत्रिका—१०२, १०३, १४२
नारद पुराण—२१
निंबार्क माधुरी—१५२, २५३

पद्मपुराण—२१, २४, ६५, ६६
परीक्षा गुरु—२७४
पालि साहित्य का इतिहास—१४
पुराण टेक्स्ट आफ़ दि डाइनेस्टीज़ आफ दि कलि एज—१
पुष्टिमार्ग नो इतिहास—२०१
पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ—२, ४७, २०५
प्रबंध कोश—१
प्राचीन भारत का इतिहास- ९२
प्रियदर्शिका—११४
पृथ्वीराज रासो—१३३, १३४, १३५
पृथ्वीराज रासो (लघु संस्करण)—१३४
फाल आफ मुगल एम्पायर—२२७, २३९
बरवा नायिका—१७८
बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल—५९, ६१, ६२, ६३, ६४
ब्रज का इतिहास—६, ९, ६२, ६४, ७२, ९१, १००, १०५, १२२, २२०, २२८, २३६, २३७, २३८
ब्रज भारती—४६, ४९, ६४, ६९, १२९, १८२, २०४, २४२, २७९
ब्रह्म पुराण—१४, २६
ब्रह्मवैवर्त पुराण—२१, २२, २४, २६, ३४
बल्लभ दिग्विजय—१५२
भक्तमाल—१५०, १५१, १५२, १५३
भगत भावती—२०४, २७९
भगवत् गीता—२८
भरतपुर कवि कुसुमांजलि—२३३
भागवत—३, १२, १७, २१, २२, २४, ५३, २८०
भागवत संप्रदाय—५५, ५६, १५२
भारत (साप्ताहिक)—२०८
भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री—९१, १०२
भारतीय चित्रकला—२२७
भारतीय ज्योतिष शास्त्र—११
भारतीय व्यापार का इतिहास—६२
भारतीय साधना और सूर साहित्य—२१, ३२
भारतेन्दु मंडल—२७४
भावसिंधु—१७६, १७७, १८७
भाषा भूषण—२१५
भूषण ग्रंथावली—२१७
मंजुश्री मूल कल्प—१११
मज्झिम निकाय—५९
मत्स्य पुराण—२४, ८१, १११
मथुरापुरी कल्प—४, ६८
मथुरा–महिमा—२३७
मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर—२०, २३, २७, ६४, ६५, ६६, ७२, ११७, १२६, १२७, १२८, १५३, २०५, २६८, २७१, २७२, २७६, २७८, २८६
मनुस्मृति—२, ४, ७४
गजेटियर—१९२
मदनाष्टक—१७८
मुंतखबुत्तवारीख—१२८
मुगलकालीन भारत—२२८
महर्षि दयानंद का जीवन चरित्र—२८४
महापुराण ४, १४, २६, ३२
महाभाष्य—७४
महाभारत—३, ११, १२, १७, १९, २६, २७, ३०, ४७, ७४, ७९, ८२
महाभारत मीमांसा—१९
माधव विलास—२५३
मानव धर्म (श्रीकृष्ण विशेषांक)—१०
मानसिंह और मान कुतूहल—२२२
मालोद्धार—२०१
माधव विलास—२५३
मिलिंद पन्ह—७५
मुगल बादशाहों की हिन्दी—११२

मिश्रबंधु विनोद—१०
मैत्र्युपनिषद्—२२७
मौन्युमेन्टल क्रिस्टीयनिटी—१७
यजुर्वेद—८०
यजुर्वेद भाष्य—१८५
युग पुराण—७५
युगल शतक—१५२
रघुवंश—७
रणधीर और प्रेममोहिनी—२७४
रत्नावली—११४
रस गंगाधर—२१०
रस मंजरी—२८०
रसिक अनन्यमाल—१६२, १६५, १४८
राग दर्पण—२२२
राग माला—१८०
राज तरंगिणी—९४, ११९
राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास—११३
राजस्थान—२२१
राधार क्रम विकास—३२, ३३
राधावल्लभ संप्रदाय—२३८, २५०
रामायण—७४, ७९
रिट्टनेमि चरित्र—१४
रिलीजन आफ इस्लाम—२६१
ललित प्रकाश—२५३
ललित विस्तर—१, ५८
लिंग पुराण—७, २१, ११३
वड्ड कहा—८९
वसुदेव हिंडि—१४
वार्ता साहित्य—१५३, १५६, १८५, १८६, २०१, २०२
वायु पुराण—३, २१, ३२
वाल्मीकि रामायण—५, ६, ७, १०३
विक्रमोत्सव ग्रंथ—९३
विनय पिटक—४, ६७
विमान वत्थु—६१
विष्णु पुराण—६, १७, २१, २६, ३२, ३९, ७०
वीर विनोद—१५९
वृहद् भागवतामृत २९०
वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास—२०१
वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स्—१३, १९
शतपथ ब्राह्मण—१०
शिवसिंह सरोज—१७२, १७९
शिवाजी और उनका युग—२१८, २५९
श्रमण भगवान् महावीर—६
श्री कृष्ण चरित्र—३०
श्री कृष्ण जन्मभूमि या कटरा केशवदेव—१०१
श्री कृष्ण जन्मस्थान का इतिहास—२०४
श्री गोपाल चम्पू—२९०
श्री कृष्ण विवाह बेली—२५०
श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता—१५२ १५४, १५५, १५६
श्री कृष्ण भावनामृत—२९०
श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य—१५५, १५६
श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव—२०३, २०४, २०५
श्री सर्वेश्वर (वृंदाबनांक)—१७५
श्रीनिवास ग्रंथावली—२७४
संगीत राग कल्पद्रुम—१६१, २२३
संगीत सम्राट तानसेन—१७९, १८०
संगीत सार—१८०
संगीताचार्य बैजू और गोपाल—१४५
संमेलन पत्रिका—१७९
संस्कृत साहित्य का इतिहास—२८०
संस्कृति के चार अध्याय—१८१, १८७, २२३
संस्कार विधि—२८५
सत्यार्थ प्रकाश—२८५
सतसई सप्तक—२२२
समिति वाणी—२०१
महस रस—२१०
सुर्जन चरित्—१३४

सुजान चरित्र—२३४
सूर निर्णय—१८६
सूर सागर—३०, ३४, ३५
सैनिक—१४९
हम्मीर महाकाव्य—१३४
हरिकला बेली—२३८
हरिवंश—८, १७, १९, २०, २६, २७, ३२, ३९, ४५, ४७
हरिवंश पुराण (जैन)—४, १४
हर्ष चरित्—३३, ११४
हिंदी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा अंक)—२३
हिंदी मेघदूत विमर्श—२८०
हिंदुई साहित्य का इतिहास—२१०
हिम्मत बहादुर विरुदावली—२५४
हिस्ट्री आफ इंडिया—९७
हिस्ट्री आफ ऐंशियेंट इंडिया—१०२
हिस्ट्री आफ औरंगजेब—२३०
हिस्ट्री आफ कन्नौज—११७
हिस्ट्री आफ दि जाट्स—२३०, २३१, २३९, २४२, २४४, २४५, २४६
हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि मुहम्मडन पावर—१२५, १२७, १५३
हुएनसांग का भारत भ्रमण—६३, ६४
हुएनसांग्स ट्रेवल्स इन इंडिया—११६, ११७

●

संशोधन की सूचना

ग्रंथ को शुद्ध छापने की पूरी सावधानी करने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। पाठक उन्हें शुद्ध कर लेने की कृपा करें, विशेष रूप से निम्न लिखित अशुद्धियों को—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
'ब्रज संस्कृति की भूमिका' खंड में—			
५८	२४	गाय	नीलगाय
७६	४	भृगु	च्यवन
१६१	शीर्षक	षष्टम	षष्ट
'ब्रज का इतिहास' खंड में—			
११	२	सप्तर्षिचार और कृत्तिका के संबंध में ज्योतिष के विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि सप्तर्षि सदैव मघा नक्षत्र पर ही रहते हैं और वे गतिमान् नहीं हैं।	
६५ और ७२	पाद-टिप्पणी	मथुरा का इतिहास	ब्रज का इतिहास
१३८	२२	सं० १०६०	सं० १२६०
१५२	२५	न 'वार्ता' में	'वार्ता' में सिकंदर लोदी का नाम है।
२४३	१३	हंसा रानी	किशोरी रानी
२४८	४	प्रतापसिंह	जवाहरसिंह
२४९ और २५० में रणजीतसिंह का शासनकाल सं० १८३२ और १८३३ के स्थान पर १८३४ होना चाहिए।			
२५५	२९	सं० १८७९	सं० १८८०

●

सहायक ग्रंथ

सं० नाम लेखक–प्रकाशक

(संस्कृत)

१. ऋग्वेद—(वैदिक संशोधन मंडल)
२. छान्दोग्य उपनिषद्–(आनंदाश्रम सीरीज)
३. वाल्मीकि रामायण–(साहित्य रत्नाकर प्रेस)
४. मनुस्मृति—(काशी संस्कृत सीरीज)
५. महाभारत—(गीता प्रेस)
६. भगवत गीता— ,,
७. हरिवंश— ,,
८. ब्रह्म पुराण—(आनंदाश्रम सीरीज़)
९. विष्णु पुराण—(वेंकटेश्वर प्रेस)
१०. पद्म पुराण—(आनंदाश्रम सीरीज)
११. वाराह पुराण–(बंगाल एशियाटिक सो०)
१२. भागवत पुराण—(गीता प्रेस)
१३. ब्रह्मवैवर्त पुराण— ,,
१४. देवी भागवत— ,,
१५. गोपाल तापनी—(वेंकटेश्वर प्रेस)
१६. गर्ग संहिता— ,,
१७. कृष्ण कर्णामृत—विल्वमंगल
१८. गीत गोविंद—जयदेव
१९. संगीत माधव—प्रबोधानंद
२०. मथुरा माहात्म्य—(वाराह पुराण)
२१. मथुरा माहात्म्य—रूप गोस्वामी
२२. ब्रज भक्ति विलास—नारायण भट्ट
२३. नारायण भट्ट चरितामृत—
जानकीप्रसाद भट्ट

(बंगला)

२४. श्री चैतन्य भागवत—वृंदाबनदास
२५. श्री चैतन्य चरितामृत–कृष्णदास कविराज

(गुजराती)

२६. वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास—
दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री

(अंगरेज़ी)

२७. ऐंशियेण्ट ज्यागरफी आफ इंडिया–कनिंघम
२८. ऐंशियेण्ट इंडियन हिस्टोटिकल ट्रेडीशन—
पार्जीटर
२९. ऐंशियेण्ट इंडिया एज़ नोन टु मेगस्थनीज़
एण्ड एरियन—मैक्क्रिंडल
३०. हिस्ट्री आफ ऐंश्येण्ट इंडिया–रमाशंकरत्रि०
३१. पोलीटिकल हिस्ट्री आफ इंडिया–रायचौधरी
३२. हिस्ट्री आफ इंडिया–काशीप्रसाद जायसवाल
३३. दी गुप्त एम्पायर—राधाकुमुद मुकर्जी
३४. पुरान टेक्स्ट्स आफ दि डायनेस्टीज़
आफ दि कलि एज—पार्जीटर
३५. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर
रिलीजस सिस्टम्स—भंडारकर
३६. ट्रेविल्स आफ फाहियान—बील
३७. आन हुएनसांग्स ट्रेविल्स इन इंडिया–वाटर्स
३८. अलबेरुनीज़ इंडिया—साचौ
३९. ट्रेविल्स इन इंडिया बाई टेवर्नियर–वाल
४०. आईन-ए-अकबरी—ब्लोचमैन
४१. फाल आफ मुगल एम्पायर–यदुनाथसरकार
४२. हिस्ट्रीआफदि जाट्स–कालकारंजन कानूनगो
४३. मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमाअर—ग्राउस
४४. डिस्ट्रक्ट गजेटियर आफ मथुरा–ब्लाकमैन
४५–४६. डिस्ट्रक्ट गजेटियर्स आफ आगरा,
अलीगढ़, एटा, मैनपुरी—

(हिंदी)

४७. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ–वासुदेवशरण अ०
४८. ब्रज का इतिहास,भाग १–कृष्णदत्तवाजपेयी
४९. ब्रज का इतिहास, भाग २— ,,
५०. ब्रज वस्तु वर्णन—जगतनंद
५१. ब्रज ग्राम वर्णन— ,,
५२. ब्रज मंडल दर्शन—कृष्णदास बाबा
५३. ब्रज और ब्रज-यात्रा—गोविंददास सेठ
५४. ब्रज परिक्रमा—ब्रजनाथ गोस्वामी
५५. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—सत्येन्द्र
५६. लोकेन्द्र ब्रजोत्सव–प्रतीतिराय लक्ष्मणसिंह
५७. मथुरा महिमा—युगलकिशोर चतुर्वेदी

५८. मथुरा परिचय—कृष्णदत्त वाजपेयी
५९. वृंदाबनधामानुरागावली—गोपाल कवि
६०. उज्जयिनी दर्शन—सूर्यनारायण व्यास
६१. रास पंचाध्यायी—नंददास
६२ ,, हरिराम व्यास
६३. ,, दामोदरदास
६४. रास सर्वस्व—राधाकृष्ण
६५. रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट
--कृष्णदास बाबा
६६. रासलीला : एक परिचय-गोविंददास सेठ
६७. हिंदी नाटक : उद्भव और विकास--
दशरथ ओझा
६८. राधा का क्रम विकास-शशिभूषण दासगुप्त
६९. भागवत संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय
७०. आचार्य परंपरा परिचय—किशोरदास
७१. युगल शतक--श्रीभट्टाचार्य
७२ महावाणी—हरिव्यास देव
७३. निंबार्क माधुरी—बिहारीशरण
७४. श्री माधवेन्द्रपुरी एवं बल्लभाचार्य—
राधेश्याम बागची
७५. श्री गोवर्धनाथ जी के प्राकट्य की वार्ता
—हरिराय गोस्वामी
७६. चौरासी वैष्णवनकी वार्ता—गोकुलनाथ गो.
७७. दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता ,,
७८. भावसिंधु—(बजरंग पुस्तकालय)
७९. मालोद्धार—गोपालदास
८०. कांकरौली का इतिहास—कंठमणि शास्त्री
८१. वार्ता साहित्य : एक अध्ययन—
हरिहरनाथ टंडन
८२. भक्तमाल और भक्तिरस बोधिनी—
नाभा जी और प्रियदास
८३. भक्तमाल—(सर्वेश्वर कार्यालय)
८४. भक्त नामावली—ध्रुवदास
८५. ब्रजविलास—ब्रजवासीदास
८६. ब्रजबिहार—नारायण स्वामी
८७. मुकुट की लटक—बिहारीशरण
८८. सूरसागर—(नागरी प्रचारिणी सभा)
८९. सूर निर्णय—परीख और मीतल
९०. भारतीय साधना और सूर साहित्य—
मुंशीराम शर्मा
९१. अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा
९२. अष्टछाप—कंठमणि शास्त्री
९३. अष्टछाप-परिचय—प्रभुदयाल मीतल
९४. अष्टछाप व बल्लभ संप्रदाय-दीनदयाल गुप्त
९५. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन
—मायारानी टंडन
९६. कुंभनदास—(विद्याविभाग कांकरौली)
९७. परमानंद सागर— ,, ,,
९८. चतुर्भुजदास— ,, ,,
९९. नंददास—उमाशंकर शुक्ल
१००. रसखान रत्नावली-भवानीशंकर याज्ञिक
१०१. चैतन्यमत और ब्रज साहित्य—
प्रभुदयाल मीतल
१०२. हित चतुरासी—हित हरिवंश जी
१०३. राधाबल्लभ संप्रदाय—विजयेन्द्र स्नातक
१०४. हितहरिवंश गोस्वामी-ललिताचरण गो.
१०५. भक्त कवि व्यास जी—वासुदेव गोस्वामी
१०६. बयालीस लीला—ध्रुवदास
१०७. चंदसखी का जीवन और साहित्य
—प्रभुदयाल मीतल
१०८. रसिक अनन्यमाल—भगवतमुदित
१०९. रसिक अनन्य परिचावली—
चाचा वृंदाबनदास
११०. राधाबल्लभ शृंगार रस सागर—
तुलसीदास बाबा
१११. केलिमाल—स्वामी हरिदास
११२. भूषण ग्रंथावली—ब्रजरत्न दास
११३. घनानंद—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
११४. नागर समुच्चय—नागरीदास
११५. ललित प्रकाश—सहचरि शरण
११६. संगीत रागकल्पद्रुम—कृष्णानंद व्यास
११७, हिंदुई साहित्य का इतिहास—तासी
११८. शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर
११९. मिश्रबंधु विनोद—मिश्र बंधु

१२०. महाभारत मीमांसा—विनायक चिंतामणि
१२१. कथा सरित्सागर—सोमदेव
१२२. कौटिलीय अर्थशास्त्र—देवदत्त शास्त्री
१२३. भारतीय व्यापार का इतिहास—कृष्णदत्त वाजपेयी
१२४. संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय
१२५. पालि साहित्य और इतिहास - भरतसिंह उपाध्याय
१२६. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल—,,
१२७. घट जातक—भदंत आनंद कौसल्यायन
१२८. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—नलिनाक्ष दत्त
१२९. विक्रमोत्सव ग्रंथ—(ब्रजसाहित्य मंडल)
१३०. हिंदू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी
१३१. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह 'दिनकर'
१३२. श्रीकृष्ण जन्मभूमि या कटरा केशवदेव—वासुदेवशरण अग्रवाल
१३३. भारतवर्ष के इतिहास की सामग्री—गौरीशंकर हीराचंद ओझा
१३४. पूर्व मध्यकालीन भारत—वासुदेव उपाध्याय
१३५. हर्ष चरित् : एक सांस्कृतिक अध्ययन—वासुदेवशरण अग्रवाल
१३६. हर्षवर्धन—गौरीशंकर चटर्जी
१३७. हुएनसांग का भारत भ्रमण—ठाकुरप्रसाद शर्मा
१३८. राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास—विनायक चिंतामणि वैद्य
१३९. इतिहास राजस्थान—देवीप्रसाद मुंशी
१४०. पृथ्वीराज रासो (लघु संस्करण)—वी० पी० शर्मा
१४१. दिल्ली या इंद्रप्रस्थ—दत्तात्रेय बलवंत पारसनीस
१४२. दिल्ली सल्तनत—आशीर्वादी लाल
१४३ मानसिंह और मानकुतूहल—हरिहरनिवास
१४४. मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)— ,,
१४५. संगीताचार्य बैजू और गोपाल—प्रभुदयाल मीतल
१४६. अकबर—राहुल सांकृत्यायन
१४७. अकबरी दरबार—मुहम्मद हुसेन आज़ाद
१४८. अकबरी दरबार के हिंदी कवि—सरयूप्रसाद अग्रवाल
१४९. संगीत सम्राट तानसेन—प्रभुदयाल मीतल
१५०. अर्ध कथानक—बनारसीदास
१५१. जहाँगीर नामा—ब्रजरत्न दास
१५२. मुगल कालीन भारत—आशीर्वादी लाल
१५३ मुगल बादशाहों की हिंदी चंद्रबली पांडे
१५४ शिवाजी और उनका युग—यदुनाथ सरकार
१५५. सुजान चरित्र—सूदन कवि
१५६ भरतपुर कवि कुसुमांजलि—कुंजविहारी लाल गुप्त
१५७. भारत में अंगरेजी राज्य—सुंदरलाल
१५८. श्रीनिवास ग्रंथावली—श्रीकृष्ण लाल
१५९. दंडी विरजानंद और स्वामी दयानंद की शिक्षा-दीक्षा—प्रभुदयाल मीतल
१६०. महर्षि दयानंद का जीवनचरित्र—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

(पत्र-पत्रिकाएँ)

१६१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका - (त्रैमासिक)
१६२. सम्मेलन पत्रिका— ,,
१६३. हिंदी अनुशीलन— ,,
१६४. ब्रज भारती— ,,
१६५. बल्लभीय सुधा— ,,
१६६. समिति वाणी— ,,
१६७. कल्याण – (मासिक)
१६८. सरस्वती— ,,
१६९. साहित्य संदेश— ,,
१७०. मानव धर्म— ,,
१७१. श्री सर्वेश्वर— ,,
१७२. देशबंधु— ,,
१७३ औदीच्य बंधु— ,,
१७४. त्रिवेणी— ,,
१७५. हिन्दुस्तान-- (साप्ताहिक)
१७६. धर्मयुग— ,,
१७७. आज— (दैनिक)
१७८. भारत— ,,
१७९. सैनिक— ,,
१८०. अमर उजाला— ,,

ब्रज साहित्य और संस्कृति संबंधी

लेखक की कुछ अन्य रचनाएँ

★

१.	चैतन्य मत और ब्रज साहित्य	१०)
२.	स्वामी हरिदास जी : जीवनी और वाणी	३)
३.	गो० हरिराय जी का पद साहित्य	५)
४.	चंदसखी का जीवन और साहित्य	५)
५.	अष्टछाप-परिचय	५)
६.	सूर-निर्णय	६)
७.	सूर-सारावली	३)५०
८.	साहित्य-लहरी	६)
९.	सूरदास की वार्ता	१)५०
१०.	सूरसागर के सौ रत्न	२)
११.	ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य	४)
१२.	सूरदास मदनमोहन	२)
१३.	संगीत-सम्राट तानसेन	३)
१४.	संगीताचार्य बैजू और गोपाल	१)५०
१५.	ग्वाल कवि : जीवन और काव्य	३)

साहित्य संस्थान
मथुरा

द्वितीय खंड

ब्रज का इतिहास